यजुर्वेद संहिता
भाषा-भाष्य
भाग १

ओ३म्

यजुर्वेद-संहिता

भाषा-भाष्य

(प्रथम खण्ड)

भाष्यकार—

श्री पं० जयदेवजी शर्म्मा,
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

द्वितीयावृत्ति १००० | संवत् १९९६ विक्रमाब्द सन् १९४० ई० | मूल्य ३)

प्रकाशक—
आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड्,
अजमेर.

मुद्रक—
बा० मथुराप्रसाद शिवहरे,
दी फ़ाइन आर्ट प्रिन्टिंग प्रेस, अजमेर.

भूमिका

(१) यजुर्वेद की उत्पत्ति और स्वरूप

(१) यजुर्वेद 'सर्वहुत् यज्ञ' अर्थात् सर्वप्रद और सर्वोपास्य से उत्पन्न हुए । जैसा लिखा है—

तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाᳫंसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ ❀

ऋ० १० । ९० । ९ ॥ यजु० ३१ । ७ ॥

उस 'सर्वहुत् यज्ञ' से ऋचाएं, और सामगण, पैदा हुए । उससे छन्द पैदा हुए और उससे 'यजुः' पैदा हुआ ।

(२) इसी प्रकार अथर्ववेद में 'स्कम्भ' के वर्णन में लिखा है—

यस्मादृचोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।

अथर्व० १० । ७ । २० ॥

जिससे ऋचें प्राप्त की और जिससे यजुः प्राप्त किया वह 'स्कम्भ' है ।

(३) यजुर्वेद (१२।४) में 'गरुत्मान् सुपर्ण' के वर्णन में—

०छन्दाᳫंसि अंगानि यजूᳫंषि नाम'०

उस 'गरुत्मान् सुपर्ण' के 'छन्दः' अंग है और उसका नाम 'यजु': है ।

(४) यजुर्वेद (अ० १८।६७) में प्रजापति का दर्शन है—

ऋचो नामास्मि यजूᳫंषि नामास्मि सामानि नामास्मि ।

मैं ऋचें हूं । मैं यजुर्गण हूं । मैं सामगण हूं ।

(५) इसी प्रकार अथर्ववेद में 'वेद विद्वान्' का वर्णन किया है ।

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे ॥

जो उरे, बीच में और पुराण रूप से 'वेद विद्वान्' का वर्णन करते हैं वे सब 'आदित्य' का ही वर्णन करते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद में व्रात्य प्रजापति की आसन्दी का वर्णन है।

"ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥" अथर्व० १५।३।६॥

ऋचाएं ताना के तन्तु हैं और यजुर्वेद बाना के तन्तु हैं। इन सब भिन्न २ नामों का एक ओर ही निर्देश है। सर्वहुत् यज्ञ, स्कम्भ, आदित्य, गरुत्मान्-सुपर्ण और ब्रह्म आदि ये सब परमेश्वर के नाम हैं। इसी प्रकार—

कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥ अथर्व० १९। ५४। ३ ॥

काल से ऋचाएं उत्पन्न हुईं और काल से 'यजुः' उत्पन्न हुआ। वह काल परमेश्वर ही है। तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म च अनुव्य चलन्। (अथर्व० १५।६।८) उस व्रात्य प्रजापति के पीछे ऋचाएं, साम, यजुर्गण और ब्रह्म अर्थात् चारों वेद चले। इस स्थल पर व्रात्य प्रजापति भी वही परमेश्वर है। उससे चारों वेद उत्पन्न हुए यह वेद भगवान् का आशय है।

उस यज्ञमय परमेश्वर का स्वरूप क्या है? वर्त्तमान में प्रचलित यज्ञ कैसे हैं वह बतलाना बहुत अधिक स्थान की अपेक्षा करता है। कर्मकाण्ड-मय यज्ञ उस महान् विराट् यज्ञपुरुष के प्रतिनिधि या उसके स्वरूप निद-र्शक मात्र हैं। जैसे ये वेद उस महान् यज्ञ का वर्णन करते हैं उसी प्रकार ये इन यज्ञों का भी प्रतिपादन करते हैं। यजुर्वेद में लिखा है।

सुपर्णोऽसि गरुत्मांस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम। साम ते तनूर्वाम-देव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णोसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत।

तू सुपर्ण गरुत्मान् है, तेरा शिर त्रिवृत् स्तोम है। आंख गायत्र साम है, बृहत् और रथन्तर दोनों पक्ष हैं। स्तोम आत्मा है। छन्द (अथर्व-

वेद) अंग हैं, यजुर्गण नाम हैं। वामदेव्य साम तनु है। यज्ञायज्ञिय साम पुच्छ है। धिष्ण्य अग्निएं शफ (चरण) हैं। इसप्रकार 'सुपर्ण गरुत्मान्' में चारों वेदों का वर्णन है। इस मन्त्र से श्येनाकार वेदि में होने वाले यज्ञ का वर्णन स्पष्ट है। 'सुर्पण' परमेश्वर का वर्णन वेद स्वयं करता है—

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

ऋ० १०।७।४।४॥

विद्वान् पुरुष स्तुतियों द्वारा एक सुपर्ण की बहुत प्रकार से कल्पना करते हैं। इस 'सुपर्ण' नाम यज्ञ का कितना विस्तार है इस विषय में ऋग्वेद का मन्त्र है।

षट्त्रिंशांश्चतुरः कल्पयन्तश्छन्दांसि च दधत आ द्वादशम्।
यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्त्तयन्ति॥ ६॥

ऋ० १०।११४।६॥

उपांशु और अन्तर्याम, इन्द्रवायव्य आदि द्विदैवत्य तीन ग्रह, शुक्रामन्थियों के दो ग्रह, आग्रयण, उक्थ, और ध्रुव ये तीन, १२ ऋतु-ग्रह, ऐन्द्राग्न, और सावित्र दो, वैश्वदेव दो, मारुत्वतीय तीन, माहेन्द्र एक, आदित्य और सावित्र दो, वैश्वदेव, पात्नीवत और हारियोजन ये तीन, इस प्रकार ये ३६ ग्रह या यज्ञांग और इसके साथ, अत्यग्निष्टोम में अंशु, अदाभ्य, दधिग्रह और षोडशी ये चार मिलकर कुल ४० ग्रह या यज्ञांगों को और प्रउग आदि १२ शस्त्रों तक गायत्री आदि समस्त छंदों को धारण करते हुए विद्वान् लोग यज्ञ का विविध प्रकार से ज्ञानपूर्वक निर्माण करके 'रथ' अर्थात् रमण करने योग्य रस स्वरूप परमेश्वर के स्वरूप को ही ऋक् और साम दोनों द्वारा दो अश्वों से रथ के समान यज्ञरूप में विधान करते हैं।

इस प्रकार कर्मकाण्ड रूप यज्ञ का वर्णन करके अध्यात्म यज्ञ का वर्णन भी वेद (ऋ० १०।११४।८) स्वयं करता है।

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।

पञ्चदश उक्थ सहस्रों प्रकार के देहों में सहस्रों रूप होकर विराजते हैं। जितना विस्तार द्यौ और पृथिवी का है वहां तक उसी ब्रह्म का विस्तार है। उसके महान् समार्थ्य भी सहस्रों प्रकार के हैं, जितना ब्रह्म का स्वरूप विशेष २ प्रकार से स्थित है उतनी ही वाणी भी विस्तृत है। इस देह में १५ अंग या उक्थ हैं ये चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय और ५ भूत।

परन्तु क्योंकि ब्रह्म अनन्त है, इससे वाक्, वेदवाणी भी अनन्त ज्ञानवती है। प्रतिदेह में वही यज्ञ का स्वरूप है। वेदिगत यज्ञ तो उसका प्रतिनिधि मात्र है। यजुर्वेद द्वारा उन अंगों के समस्त कार्य और व्यवस्था का वर्णन किया जाता है। जैसा स्वयं श्रुति कहती है—

'यजुर्भिराप्यन्ते ग्रहाः ॥ यजु० १९। २८ ॥
सत्यं यज्ञेन यज्ञो यजुर्भिः। यजु० २०। १२ ॥

फलतः, हम इस परिणाम पर पहुंच गये कि यजुर्वेद में अंग, अंगी और इनके कार्य्यों का वर्णन होना चाहिये। 'यज्ञ' स्वयं एक प्रजापति है। समस्त विश्व में परमेश्वर, राज्य में राजा, गृह में गृहपति, कुल में आचार्य और देह में आत्मा या मुख्य प्राण ये सभी 'प्रजापति' के स्वरूप हैं। ये सब अंग स्वयं एक 'अंगी' या एक सुव्यवस्थित जीवित शरीर (body) की रचना करते हैं। अंग, घटक अवयव मुख्य अंगी के आधार होकर उसी के अधीन हैं। वे 'ग्रह' कहाते हैं। उनका वर्णन यजुर्वेद में किया गया है।

संहिताओं की उपनिषद्

हमारा विचार है कि यजुर्वेद के मन्त्रों की योजना या व्याख्या मुख्य

पांच दृष्टियों से होती है। पांच ही वेद-संहिताओं के व्याख्या प्रकार माने गये हैं। जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है।

अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकम्। अधिज्योतिषम्। अधिविद्यम्। अधिप्रजम्। अध्यात्मम्। ता महासंहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः। वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्। अथाधिज्योतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः संधिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्योतिषम्। अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः। प्रवचनं संधानम्। इत्यधिविद्यम्। अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पिता उत्तररूपम्। प्रजासंधिः। प्रजननं संधानम्। इत्यधिप्रजम्। अथाध्यात्मम्। अधरा-हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् संधिः। जिह्वा संधानम् इतीमा महासंहिताः॥

संहिता की उपनिषद् यह है कि पांच अधिकरणों में एक ही संहिता की पांच प्रकार से व्याख्या होने से पांच महासंहिताएं बनती हैं।

अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्य, अधिप्रज, और अध्यात्म। अधि-लोक में पृथिवी, सूर्य, आकाश और वायु का विशेष वर्णन होगा। अधिज्योतिष में अग्नि, आदित्य, जल, और विद्युत् का। अधिविद्य में आचार्य, अन्तेवासी, विद्या और प्रवचन इनका वर्णन होगा। अधिप्रज में पिता, माता, प्रजा और प्रजनन इनका वर्णन होगा। इसमें भी समष्टि व्यष्टि भेद से राजा पृथिवी, प्रजा, प्रजापालन आदि का वर्णन भी सम्मि-लित हो जाता है।

इन पांचों अधिकरणों की यथावत् पृथक् व्याख्या कर देना यह बड़े भारी ज्ञान और प्रतिभा का कार्य है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने से यजुर्वेद के मन्त्रों की व्याख्या इन पाचों रूपों से हो जाती है जिनका दिग्दर्शन

हमने भाष्य में स्थान १ पर किया है। हमने मुख्य रूप से राजा प्रजा एवं प्रजा-पालन के कार्यों पर ही अधिक प्रकाश डाला है। पाठक उसी दृष्टि से इस भाष्य का स्वाध्याय करेंगे।

इसके अतिरिक्त यजुर्वेद के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों के लेख भी विशेष विचारणीय हैं।

(१) यजुषा ह वै देवा अग्रे यज्ञं तेनिरे ऋचाऽथ साम्ना।
तदिदमप्येतर्हि यजुषा एवाग्रे यज्ञं तन्वतेऽथर्चाऽथ साम्ना।

यजो ह वै नाम एतत् यद् यजुरिति। शत० ४। ६। ७। १३॥

विद्वान् लोगों ने पहले 'यजुः' से ही प्रथम यज्ञ किया फिर ऋग् से और फिर साम से। 'यजुः' भी यज्ञ के साधन होने से ही 'यजुः' कहाते हैं।

(२) ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः। यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्। सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः। पूर्वे पूर्वेभ्यो वचः एतदूचुः॥ तै० ब्रा० ३। १२। ९॥

ऋग्वेद के मन्त्रों से वैश्य वर्ण, और वैश्योचित वृत्तियों और उनके सम्बन्ध के नाना शिल्पों की उत्पत्ति हुई है। यजुर्वेद क्षत्रिय अर्थात् क्षात्र बल के कार्य करने वाले के उचित कर्त्तव्यों का उपदेश करता है। सामवेद ब्राह्मणोचित स्तुति उपासना आदि का मूल कारण है। पूर्व के विद्वान् पूर्व के शिष्यों को ऐसा ही उपदेश करते थे।

(३) यमो वैवस्वतो राजा इत्याह। तस्य पितरो विशः। त इमे समासत इति स्थविरा उपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति यजूंषि वेदः। शतपथ ब्राह्मण। का० १३। ४। ३। २॥

यम वैवस्वत राजा है। उसकी प्रजाएं पितृगण, पालक जन हैं। वे ये लोग हैं। स्थविर, वृद्ध जन उपस्थित होते हैं। उनका वेद यजुर्वेद है।

यह उद्धारण भी यजुर्वेद को राजा प्रजा के राष्ट्र पालन के कर्त्तव्यों का उपदेश करने वाला वेद निश्चय कराते हैं।

यजुर्वेद के शाखा भेद

शौनकीय चरणव्यूह * के अनुसार—

(१) यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदा भवन्ति। तत्र चरका नाम द्वादश भेदा भवन्ति। चरका आह्वरकाः, कठाः, प्राच्याः, प्राच्यकठाः, कपिष्ठलकठाः, चारायणीयाः, वारायणीयाः, वार्त्तान्तवीयाः, श्वेताश्वतरा, औपमन्यवः, पातण्डिनीयाः, मैत्रायणीयाश्च।

(२) तत्र मैत्राणीया नाम षड् भेदाः भवन्ति। मानवाः वाराहा दुन्दुभाश्च्छागलेया हारिद्रवीयाः श्यामायनीयाश्चेति।

(३) तत्र तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति। औखेयाः। खाण्डिकेयाश्चेति। तत्र खाण्डिकेयाः पञ्च भेदा भवन्ति कालेता शाठ्यायनी हैरण्यकेशी भारद्वाजी आपस्तम्बी चेति।

(४) तत्र प्रच्योदीच्यनैर्ऋत्यवाजसनेया नाम पञ्चदश भेदा भवन्ति, जाबाला, बोधायनाः, काण्वाः, माध्यंदिनेयाः, शाफेयास्तापनीयाः, कपोलाः, पौण्डरवत्साः, आवटिकाः, परमावाटिकाः, पाराशरा, वैणेया अद्धा बौधेयाः॥

अर्थ—यजुर्वेद के ८६ भेद होते हैं। उनमें चरकों के १२ भेद होते हैं (१) चरक (२) आह्वरक (३) कठ (४) प्राच्य, (५) प्राच्यकठ,

---

* यजुर्वेदीय चरणव्यूह में—(१) तत्र मैत्रायणीयाः नाम सप्त भेदाः भवन्ति। मानवा दुन्दुभा श्चैकेया वाराहा हारिद्रवेयाः श्यामाः श्यामायनीयाश्च।

(२) तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति। औख्याः खाण्डिकेयाश्चेतितत्र खाण्डिकेया नाम पञ्चभेदा भवन्ति। आपस्तम्बाः, बौधायनाः, सत्याषाढ़ाः, हैरण्यकेशाः, काठ्यायनाश्चेति। तत्र कठानमुपगानविशेषाश्चतुश्चत्वारिंशदुपग्रन्थाः।

(३) वाजसनेया नाम सप्तदशभेदाः भवन्ति। जाबाला बौधेयाः काण्वा माध्यन्दिनाः शपेया स्तापायनीयाः कापालाः पौण्ड्रवत्सा आवटिकाः परमावटिका वारायणीया वैधेया वैनेया औघेया गालवा वैजयाः कात्य।

(६) कपिष्ठलकठ, (७) चारायणीय. (८) वारायणीय, (९) वार्त्तान्तवीय, (१०) श्वेताश्वतर (११) औपमन्यव, (१२) पातण्डिनीय (१३) मैत्रायणीय। मैत्रायणीय के फिर छः भेद होते हैं (१) मानव, (२) वाराह, (३) दुन्दुभ, (४) छागलेय, (५) हारिद्रवीय, (६) श्यामायनीय। तैत्तिरीयों के मुख्य दो भेद हैं। औखेय और खाण्डिकेय। खाण्डिकेयों के पांच भेद कालेत, शाट्यायनी, हैरण्यकेशी, भारद्वाजी, आपस्तम्बी।

उनमें भी प्राच्य, उदीच्य, नैऋत्य इन दिशा के वासी वाजसनेय शाखा के मानने वाले विद्वानों के भी १५ भेद होते हैं। वाजसनेय, जाबाल, बोधायन काण्व, मांध्यन्दिनेय, शाफेय, तापनीय, कपोल, आवटिक, परमावटिक, पाराशर, वैणेय, अद्ध और बौधेय।

इस प्रकार ८६ पहली और १५ ये सब मिलकर १०१ यजुर्वेद की शाखाएं हो जाती हैं। जैसा महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—एकशतमध्वर्युशाखाः ॥" अर्थात् १०१ शाखा यजुर्वेद की हैं, यह वचन पूर्ण हो जाता है।

यजुर्वेदीय चरणव्यूह में ❀—मैत्रायणीय के ७ भेद लिखे हैं। उसमें 'छागलेय' न पढ़कर श्याम और चैकेय दो शाखाओं को विशेष कहा है।

और तैत्तिरीय खाण्डिकेय शाखा के आपस्तम्ब, बोधायन, सत्याषाढ़, हैरण्यकेश, और काट्यायन ये पांच भेद लिखे हैं।

और वाजसनेयों के १७ भेद माने हैं। जिनमें बौधेय शापीय तापायनीय, औवेय, पौण्ड्रवत्स, वैधेय, वैनेय, आदि कुछ नाम अक्षरभेद से आये हैं और औधेय, गालव, वैजय, कात्यायनीय ये नाम विशेष हैं।

परन्तु चरणव्यूह परिशिष्ट में भी १०१ शाखाओं को नहीं गिनाया गया है। जब इसकी तुलना अन्य चरण व्यूहों से करते हैं तो शाखाओं के

नामों में और भी अधिक भेद प्रतीत होता है। अथर्ववेद के परिशिष्टों में विद्यमान चरणव्यूह में इस प्रकार लिखा है—

तत्र यजुर्वेदस्य चतुर्विंशतिर्भेदा भवन्ति। तद्यथा काण्वाः। माध्यंदिनाः। जाबालाः। शापेयाः। श्वेताः। श्वेततराः। ताम्रायणीयाः। पौर्णवत्साः। आवटिकाः। परमावटिकाः। होष्याः। धौष्याः। खाडिकाः। आह्वरकाः। चरकाः। मैत्राः। मैत्रायणीयाः। हारीतकर्णाः। शालायनीयाः। मर्चकठाः। प्राच्यकठाः। कपिष्ठलकठाः। उपलाः। तैत्तिरीयाश्चेति।

जब इन तीनों चरणव्यूहों की तुलना करते हैं तो उनमें परस्पर बड़ा भेद है। अथर्व परिशिष्ट चरणव्यूह में १२ भेद ही गिना कर छोड़ दिये हैं। इन नामों में से कुछ नाम शुक्ल शाखा के हैं और कुछ नाम कृष्ण शाखा के हैं। इससे कुछ निर्णय नहीं हो सकता कि ये शाखा भेद किस प्रकार हुए। शौनकीय चरणव्यूह परिशिष्ट के टीकाकार पण्डित महिदास ने 'नृसिंह पराशर' नाम ग्रन्थ का ऊद्धरण उठाकर कुछ अन्य शाखाओं का भी उल्लेख किया है जैसे—याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, मूलघट, बाणस, सहवास, गोत्र-पण्डित, समानुज, गयाबल, त्रिदण्ड आदि, देश और ग्राम भेद से नाना नाम हो गये। अग्निपुराण बतलाता है कि—

"एक कम दो सहस्र यजुर्वेद में मन्त्र हैं तथा ८६ शाखाएं हैं, १००० ब्राह्मण हैं। काण्व, माध्यंन्दिनी माध्यकठी, मैत्रायणी, तैत्तिरीया, वैशम्पायनी इत्यादि यजुर्वेद की नाना शाखाएं हैं।"

विष्णु-भागवत पुराण में लिखा है—

पराशर से सत्यवती में अंशांशकला से भगवान् ने व्यास रूप में उत्पन्न होकर वेद को चार प्रकार का किया। उसने चार शिष्यों में से पैल को 'बह्वृच्' नामक ऋग्वेद, वैशम्पायन को 'निगद' नाम यजुर्वेद, जैमिनी सामों की छंदोग संहिता को और अपने शिष्य सुमन्तु को अथर्वाङ्गिरसी नामक संहिता दी। यजुर्वेद के विषय में लिखा है—

वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन् ।
यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांहःक्षपणं स्वगुरोर्व्रतम् ॥

वैशम्पायन का नाम 'चरक' था, उसके शिष्य 'चरकाध्वर्यु' थे। जिन्होंने अपने गुरु के लिये ब्रह्महत्या के पाप के निमित्त प्रायश्चित्त का आचरण किया वे 'चरकाध्वर्यु' कहाये। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी पुराणों में इस कथा को इस प्रकार से वर्णन किया है कि ब्रह्महत्या के निमित्त वैशम्पायन के शिष्य याज्ञवल्क्य ने अहंकार पूर्वक कहा कि मैं ही समस्त व्रताचरण कर लूंगा और ये शिष्य तो 'अल्पसार' हैं इस पर गुरु वैशम्पायन ने क्रुद्ध होकर अपनी पढ़ायी समस्त विद्या मांग ली। याज्ञवल्क्य ने वह सब वमन कर दी। और उसके अन्य शिष्य मुनियों ने तित्तिरपक्षी बनकर, लोलुप होकर उस वमन को खा लिया। याज्ञवल्क्य ने उसके पश्चात् आदित्य की उपासना करके यजुर्गण को प्राप्त किया। इस सम्बन्ध में भागवत (का० १२ अ० ६। ७३, ७४ ॥) में लिखा है—

एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः।
यजुर्भिरकरोच्छाखाः दश पञ्च शतैर्विभुः।
जगृहुर्वाजसंन्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः॥

इस प्रकार स्तुति करने से प्रसन्न होकर 'वाजि' रूप धर कर हरि (सूर्य) ने याज्ञवल्क्य मुनि को 'अयातयाम यजुर्गण' प्रदान किये। सैकड़ों यजुषों से उस विद्वान् ने १५ शाखाएं कीं। 'वाज' अर्थात् केसरों या रश्मियों या वेग या वाणी द्वारा प्रदान की गई उन शाखाओं को कण्व, मध्यन्दिन आदि विद्वानों ने ग्रहण किया।

भागवत के इस लेख के समान ही प्रायः अन्य पुराणों के भी लेख हैं याज्ञवल्क्य का गुरु से पृथक् होकर सूर्य से यजुर्वेद को प्राप्त करने की कथा प्रायः सर्वत्र समान है। इससे कुछ पुराणों के अनुसार ये परिणाम

निकल सकते हैं। (१) याज्ञवल्क्य द्वारा प्राप्त यह यजुर्वेद व्यास द्वारा व्यस्त यजुर्वेद से अवश्य पृथक् हो। अर्थात् वैशम्पायन को व्यास ने वह यजुर्वेद न पढ़ाया हो। (२) व्यास और वैशम्पायन के पूर्व भी यजुर्वेद स्यतन्त्र रूप से शुद्ध विद्यमान हो। और (३) व्यास के अतिरिक्त भी यजुर्वेद अन्य विद्वानों के पास विद्यमान हो।

पुराणों की कथा से यजुर्वेद इस चमकते रवि की उपासना से प्राप्त हुआ यह अन्ध विश्वास बहुत प्रबल है। हमें यह बुद्धि विरुद्ध प्रतीत होता है। इस अन्ध विश्वास को अन्य पुराणों ने भी विचित्र २ प्रकार से पुष्ट किया है। जैसे वायु और ब्रह्माण्ड पुराण (अ० ६१) में लिखा है—

ततः स ध्यानमास्थाय सूर्यमाराधयद् द्विजः।
सूर्यब्रह्म यदुच्छिन्नं खं गत्वा प्रतितिष्ठति॥
ततो यानि गतान्यूर्ध्वं यजूंष्यादित्यमण्डले।
तानि तस्मै ददौ तुष्टः सूर्यो वै ब्रह्मरातये॥

याज्ञवल्क्य ने ध्यान लगा कर सूर्य की आराधना की। वह यजु उस समय लुप्त होकर केवल आकाश में ही विद्यमान था, उनमें से जो यजुः ऊपर सूर्य में चले गये थे वे ही सूर्य ने प्रसन्न होकर ब्रह्मराति अर्थात् याज्ञवल्क्य को प्रदान किये।

यह कल्पना केवल इस शंका को निवारण करने के लिये की गई है कि जड़ सूर्य में से यजुर्गण कैसे निकले और वहां आये कहां से? इस पर भी एक शंका उठती है कि सूर्य ने याज्ञवल्क्य को किस प्रकार उपदेश किया। इसके समाधान के लिए पुराणकारों ने यह कल्पना की है कि सूर्य ने स्वयं अश्व का रूप होकर याज्ञवल्क्य को वेद का उपदेश कर दिया। जैसा स्वा० श्रीधर ने भागवत के 'जगृहुर्वाजसंन्यस्ताः' पद के व्याख्यान में लिखा है—**जगृहुः अधीतवन्तः रविणा अश्वरूपेण वाजेभ्यः केसरेभ्यः वाजेन बलेन वा संन्यस्ताः त्यक्ताः शाखा वाजसनी**

संज्ञास्ताः शाखा इति वा । अर्थात् अश्व रूप रवि ने वाजों या केसरों से त्याग कीं, वे शाखा 'वाजसंन्यस्त' है, अथवा 'वाजसनी' नाम की उन शाखाओं को काण्व माध्यन्दिन आदि ने ग्रहण किया । इस प्रकार भागवत का लेख संदिग्ध सा ही रहा ।

विष्णुपुराण में स्पष्ट लिख दिया है कि—

इत्येवमादिभिस्तेन स्तूयमानः स वै रविः ।
वाजिरूपधरः प्राह व्रीयतामभिवाञ्छितम् ॥
याज्ञवल्क्यस्तदा प्राह प्रणिपत्य दिवाकरम् ।
यजूंषि तानि मे देहि यानि सन्ति न मे गुरौ ॥
एवमुक्तो ददौ तस्मै यजूंषि भगवान् रविः ॥
अयातयामसंज्ञानि यानि वेत्ति न तद्गुरुः ॥
यजूंषि यैरधीतानि तानि विप्रैर्द्विजोत्तमाः
कण्वाद्याः सुमहाभागाः याज्ञवल्क्याः प्रकीर्त्तिताः ॥

याज्ञवल्क्य की स्तुति से प्रसन्न होकर वाजि, अश्व के रूप में सूर्य ने कहा 'प्रसन्न हूं, वर मांग ।' याज्ञवल्क्य ने विनय कर कहा-मुझे वे यजुर्गण दीजिए जिनको मेरा गुरु नहीं जानता । तब प्रसन्न होकर सूर्य ने 'अयातयाम' नामक यजुर्गण दिये । उनको उसके गुरु वैशम्पायन नहीं जानते थे । जिन्होंने इनका अध्ययन किया वे भी वाजी (अश्व) कहाये । क्योंकि सूर्य भी अश्व ही था । उन के १५ काण्व आदि शाखा हैं वे याज्ञवल्क्य शाखा ही कहाती हैं ।

इससे विपरीत लेख वायु पुराण और ब्रह्माण्ड में है—

तानि तस्मै ददौ तुष्टः सूर्यो वै ब्रह्मरातये ।
अश्वरूपाय मार्त्तण्डो याज्ञवल्क्याय धीमते ॥
यजूंष्यधीयन्ते यानि ब्राह्मणाः येन केनचित् ।
अश्वरूपाय दत्तानि ततस्ते वाजिनोऽभवन् ॥

सूर्य ने प्रसन्न होकर अश्वरूप याज्ञवल्क्य को यजुर्गण दिये। क्योंकि अश्वरूप याज्ञवल्क्य को दिये इसलिये जिन्होंने उनको पढ़ा वे भी 'वाजी' कहाये। यहां याज्ञवल्क्य अश्व रूप बना। यह पूर्व लेखों से विपरीत है। इसलिये हमें पुराणों की ये सब कल्पनाएं असंगत एवं असत्य प्रतीत होती हैं। ये सब पुराणकार गप्पें गढ़ लेने में बड़े चतुर मालूम होते हैं। इन्होंने सत्य को भ्रष्ट करने और छिपा देने और वाजि आदि नामों के आधार पर जितनी भी असत्य कल्पना की जासकीं कर लीं। हमने यह सब केवल इसलिए ही उद्धृत किया क्योंकि प्रायः नये गवेषक भी पुराणों के ही इन वचनों से बहुत २ परिणाम निकालने लगते हैं। यहां तक कि चरणव्यूह परिशिष्ट के टीकाकार पं० महिदास ने भी इन पुराणों के श्लोक उद्धृत करके ही सत्यतत्त्व को बिगाड़ डाला है। क्योंकि कोई भी अपने गुरु की विद्याओं को रुधिर सहित वमन के रूप में उगल नहीं सकता फिर औरों का 'तित्तिरि' पक्षी होकर वमन को खा जाना यह बड़ा घृणाजनक तथा सृष्टिक्रम के विपरीत, गढ़ा हुआ गपोड़ा मालूम होता है।

सत्य बात यह है कि यजुर्वेद की शुद्ध संहिता उस समय पठन-पाठन क्रम से उसी प्रकार लुप्त हो रही थी जैसे महर्षि दयानन्द के काल में पाणिनीय व्याकरण लुप्तप्राय था। जैसे सभी विद्वान् भट्टोजी दीक्षित के बनाये प्रक्रियाक्रम से व्याकरण पढ़ने लगे थे। परन्तु तो भी दण्डी स्वामी श्री विरजानन्दजी पाणिनिक्रम को ही श्रेयस्कर मानते थे। महर्षि दयानन्द ने दण्डीजी से ही जाकर पाणिनीय क्रम से व्याकरण पढ़ा। उसी प्रकार सम्भवतः वैशम्पायन के शिष्यों में ब्राह्मण-मिश्रित संहिता का चलन हो चला जैसा प्रायः सब कृष्ण-शाखी यजुर्वेद संहिताओं में है। और इस क्रम से वेद का शुद्ध 'निगद' स्वरूप नष्ट हो गया हो, समस्त ऋषियों के सामने यह समस्या उपस्थित हुई कि पुनः इस दोष को कैसे हटाया जाय। योगी याज्ञवल्क्य ने पुनः शुद्ध संहिता प्राप्त करने का भगीरथ प्रयत्न किया हो

इस मतभेद से ही उसने कदाचित् वैशम्पायन कुल को छोड़कर वाजसनेय ऋषि के कुल में दीक्षा ली हो।

कृष्ण और शुक्ल

अब तक जितनी भी शाखाएं यजुर्वेद की उपलब्ध होती हैं वे दो पक्षों में बंटी हैं। कुछ कृष्ण शाखा हैं और कुछ शुक्ल शाखा हैं। इन दो नाम होने का क्या कारण है कुछ स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। पुराणकारों के मत से तो याज्ञवल्क्य ने उनको वमन कर दिया इसलिये घृणा योग्य होने से 'कृष्ण' हैं। और दूसरी सूर्य प्रोक्त होने से 'शुक्ल' हैं। परन्तु यह कल्पना किसी मूल्य की नहीं है। क्योंकि यही आधार कृष्ण शाखा का 'तैत्तिरीय' नाम होने का भी है, क्योंकि वमन किये यजुर्गण को शिष्यों ने तित्तिर पक्षी होकर ग्रहण किया। यह कल्पना इसलिये असत्य है क्योंकि तैत्तिरीय शाखा का नाम 'तित्तिरि' आचार्य के नाम से पड़ा है। जैसा पाणिनि ने स्पष्ट लिखा है—

तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् ॥ पा० ४। ३। १०२ ॥

तित्तिरि आदि शब्दों से 'तेन प्रोक्तम् अधीयते' इस अर्थ में 'छण्' प्रत्यय होता है। तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते तैत्तिरीयाः। 'तित्तिरि' आचार्य से कहे प्रवचन को पढ़ने वाले छात्र 'तैत्तिरीय' कहाये और वह प्रवचन 'तैत्तिरीय' कहाया। इसी प्रकार पाणिनि ने अन्य भी कई आचार्यों का पता दिया है। जैसे—शौनकादिभ्यश्छन्दसि पा० ४। ३। ९३ इस सूत्र के शौनकादिगण में शौनक, वाजसनेय (साङ्गरव) शार्ङ्गरव, शापेय, (सावेय) शोष्पेय शाखेय, खाडायन, स्तम्भ (स्कन्ध) देवदर्शन (देवदत्तशठ) रज्जुभार, रज्जुकण्ठ कठशाठ (कशाय) कषाय, तल (तलवकार), तण्ड, पुरुषासक (परुषासक), अश्वपेज (अश्वपेय) * ये नाम भी परिगणित हैं। इनमें 'वाजसनेय' ऋषि का नाम है। उसके शिष्य

* कोष्ठगत नाम काशिकाभिमत हैं। और साथ के दीक्षिताभिमत है।

वाजसनेयी कहाते हैं। इससे अश्वरूप सूर्य से याज्ञवल्क्य ने यजुषों को ग्रहण किया इत्यादि कल्पना 'वाजसनेय' होने में असत्य प्रतीत होती हैं। शापेय, खाडायन, तलवकार आदि शाखाकारों के नाम भी स्पष्ट हैं।

पाणिनीय सम्प्रदाय में प्रसिद्ध यह बात है कि—

(१) वैशम्पायन के ९ शिष्य थे आलम्बि, पलङ्ग या फलिंग, कमल ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, कठ, कलापी।

(२) कलापि के चार शिष्य थे हरिद्रु, छगली, उलप, और तुम्बुरु।

(३) चरक वैशम्पायन का ही नाम था।

इन नामों में याज्ञवल्क्य का नाम नहीं आता। याज्ञवल्क्य और याज्ञवल्क्य प्रोक्त शतपथ ब्राह्मण भी अति प्राचीन है। चाहे काशिकाकार ने याज्ञवल्क्य को अर्वाचीन माना है। परन्तु महाभाष्यकार ने याज्ञवल्क्य को प्राचीन ब्राह्मणकार के तुल्यकाल ही माना है। फलतः शुक्ल और कृष्ण नाम होने का कोई अन्य ही कारण है।

सर मोनियर विलियम ने अपने प्रसिद्ध कोष में लिखा है कि कृष्ण यजुर्वेद ब्राह्मण भागों से मिश्रित होने से 'कृष्ण' हैं और शुक्ल यजुर्वेद में शुद्ध मन्त्र संहिता है अतः 'शुक्ल' है। इस कथन में भी बहुत गहराई नहीं है। एक यह भी विचार है कि वेदव्यास "कृष्ण' द्वैपायन कहाते थे। उनका नाम 'कृष्ण' था, उस नाम से ही कदाचित् उनकी शिष्यपरम्परा में प्रचलित वेदशाखा कृष्ण शाखा है और इससे इतर वाजसनेय शिष्य परम्परा में प्रसिद्ध वेद 'शुक्ल' शाखा हैं। पुराणों ने जो लिखा है कि याज्ञ-वल्क्य ने सूर्य से उन यजुर्गण को प्राप्त किया 'यानि वेत्ति न तद् गुरुः' जिनको उनका गुरु नहीं जानता था महिदास पण्डित ने इसका भी यही भाव लिया है कि तेषां व्यासेनानुपदिष्टत्वात् इति भावः। अर्थात् उनको व्यास ने उपदेश नहीं किया। उक्त पण्डित ने शुक्ल और कृष्ण होने का एक कारण यह भी बतलाया है।

वैदोपक्रमणे चतुर्दशीपौर्णिमाग्रहणात् शुक्लयजुः ।
प्रतिपदायुक्तपौर्णिमाग्रहणात्कृष्णयजुः ॥

अर्थात् वेदोपक्रम कार्य में चतुर्दशी को पूनम मानने से वे शुक्ल यजु कहाये और प्रतिपत् से युक्त पूनम मान लेने से दूसरों के कृष्ण यजु कहाये। परन्तु यह कारण तुच्छ एवं एकदेशी है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'शुक्ल' और 'कृष्ण' सम्बन्ध में लिखा है।

(१) तद् यच्छुक्लं तद् वाचो रूपम्। ऋचो अग्नेर्मृत्योः। सा या सा वाग् ऋक् सा। अथ योऽग्निर्मृत्युः सः। अथ यत्कृष्णं तदपां रूपम् अन्नस्य मनसः यजुषः ॥ तद्यास्ता आपोऽन्नं तत्। अथ यन्मनो यजुस्तत्। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण १।२५॥

जो शुक्ल है वह वाणी का रूप है। ऋक् अग्नि और मृत्यु का भी श्वेत रूप हैं। वाणी ही ऋक् है। अग्नि मृत्यु है। कृष्ण रूप जलों का, अन्न और मन का है। आपः भी अन्न हैं, मन यजु है। यह 'कृष्ण' और 'शुक्ल' का आध्यात्मिक विवरण है। अध्यात्म में वाणी शुक्ल है और मानस संकल्प कृष्ण है। 'आपः' ये अन्न हैं, अर्थात् जिस प्रकार शरीर में मानस बल ही अन्न के बने शरीर में क्रियाऽऽधान करता है उसी प्रकार वेदवाणियों को यजुर्वेद ही कर्मकाण्ड में नियुक्त करता है।

(२) यज्ञो हि कृष्णः। स यः स यज्ञः। तत्कृष्णाजिनम् ॥ शत० ॥ यज्ञ ही कृष्ण है। यज्ञ कृष्णाजिन हैं। इस संकेत से भी कदाचित् यज्ञ में विनियुक्त यजुर्वेद को 'कृष्ण यजुर्वेद' कहा गया हो। और यजुर्वेद की शुद्ध संहिता को 'शुक्ल' कहा गया हो।

(२) असौ वा आदित्यः शुक्रः। श० ९।४।२।२१॥ एष वै शुक्रो यः एष तपति। शत० ४।३।१।२६॥ आदित्य ही शुक्र है। शुक्र वह है जो यह तप रहा है।

(३) तत्र ह्यादित्यः शुक्रश्चरति। आदित्य शुक्र रूप होकर

विचरता है। इससे आदित्य 'शुक्र' होने से आदित्य से प्राप्त यजुर्गण शु या 'शुक्ल यजुः' कहाये।

आदित्य को परमेश्वर का वेदमयस्वरूप हम पहले लिख आये हैं। शुद्ध यजुर्वेद परमेश्वर से ही प्राप्त हुआ है इस कारण इस का नाम 'वाजसनेय' संहिता है। इस विषय पर प्रकाश डालने वाली नीचे लिखी ऋचा ऋग्वेद और अथर्व वेद दोनों में समान रूप से है।

यदा वाजमसनद् विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराभि सद्म ॥
बृहस्पतिं वृषभं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा ॥

ऋ० १० । ९७ । १० ॥

जब बृहस्पति विद्वान्, वेदज्ञ पुरुष 'विश्वरूप वाज' अर्थात् परमेश्वर के विश्वमय ज्ञान, वेद को प्राप्त करता है और वह तेजोमय मोक्ष या उत्कृष्ट पदों को प्राप्त करता है तब उस पर मेघ के समान ज्ञान के प्रदान करने वाले उस 'बृहस्पति' विद्वान् पुरुष की महिमा को (आसा ज्योतिर्बिभ्रतः) मुख से ज्ञानरूप ज्योति को धारण करते हुए नाना विद्वान् पुरुष (वर्धयन्तः) बढ़ाते हैं। यहां बृहस्पति शब्द आचार्य और परमेश्वर दोनों का वाचक हो सकता है।

इस मन्त्र में विद्वान् आचार्य एवं परमेश्वर का उच्च पदपर विराजना और उससे ज्ञान प्राप्त करने वाले विद्वानों का उसकी विद्या को फैलाने का वर्णन प्रतीत होता है। पूर्ण वेदमय ज्ञान को 'विश्वरूप वाज' शब्द से कहा प्रतीत होता है। जो विद्वान् उस वाज को स्वयं प्राप्त करे और दूसरों को प्रदान करे वह विद्वान् वेद के अनुसार 'वाजसन' कहावेगा, उसके शिष्य 'वाजसनेय' कहावेंगे। इस समाख्या से गुरुपरम्परा से परमेश्वर (आदित्य) से प्राप्त शुद्ध यजुर्वेद यह 'शुक्ल यजुर्वेद' है इसमें सन्देह नहीं है। यज्ञ क्रियाओं में विनियुक्त हो जाने पर ब्राह्मणादि प्रवचनों से संयुक्त अन्य शाखा यज्ञमय होने से 'कृष्ण' अर्थात् यज्ञमय कहाई ऐसा प्रतीत होता है। अभी

यह विषय और भी अधिक अनुशीलन चाहता है । महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला ।

शाखा-नामों की तुलना से भी हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि परस्पर में नामों का कोई मेल नहीं है, शुद्ध नाम भी नहीं मिलते । इन शब्दों के शुद्ध रूपों की आशा केवल व्याकरण तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में आये नामों से हो सकती है । परन्तु सबके वर्णन में एकता नहीं है । चरणव्यूहों तक में भेद है । एक चरणव्यूह में वाजसनेय शाखा के १५ भेद हैं तो दूसरे में १७ भेद हैं । इसी प्रकार अन्यों में भी भेद हैं ।

"कठों की विशेष शाखाएं

कठों की भिन्न २ शाखाओं का उल्लेख नहीं हैं । तो भी इतना संकेत मिलता है कि—

"कठानां पुनर्यान्याहुः चत्वारिंशच्चतुर्युतान् ॥"

अर्थात् कठों के ४४ उपग्रन्थ कहे हैं। उनका कुछ पता नहीं चलता इसी सम्बन्ध में वेदों के विज्ञ श्रीपाद दामोदर जी सांतबलेकर ने स्वप्रकाशित यजुर्वेद की भूमिका में 'तत्र कठानां चतुश्चत्वारिंशदुपग्रन्थाः' इस चरण व्यूह के लेख से इनको भी शाखा समझा है । और उनका लेखन न हाने से उनको गणनाके अयोग्य बतलाया है । परन्तु पण्डित श्री महिदास ने कठों के ४४ उपग्रन्थों को ४४ अध्याय स्वीकार किया है । कापिष्ठल कठसंहिता में ४८ अध्याय उपलब्ध हैं । फलतः उनके यजुः संहिता में ४४ अध्याय थे ऐसा प्रतीत होता है । अब तो यजुर्वेद की केवल पांच संहिताएं ही प्राप्त होती हैं ।

(१) काठक संहिता, (२) मैत्रायणी संहिता । (३) तैत्तिरीय संहिता । (४) वाजसनेय माध्यंदिन संहिता । और (५) काण्व संहिता । इन पांचों में से पहली तीनों की रचना समान है । तीनों ब्राह्मण भाग से युक्त हैं । शेष काण्व और माध्यंदिन दोनों बहुत अधिक समान हैं परन्तु तो भी इन

दोनों में मन्त्रों की न्यूनाधिकता पाठ, क्रम, प्रवचन आदि में भेद हैं। इसी प्रकार वाजसनेय संहिता के माध्यंदिनी और काण्व शाखाओं में भेद है। परन्तु बहुत भेद नहीं हैं। दोनों पर एक ही सर्वानुक्रम सूत्र है। दोनों का एक ही शतपथ ब्राह्मण है। शाखा भेद से ब्राह्मण-संहिताओं में भी यत्किञ्चित् भेद है।

निगद और अयातयाम

अब प्रश्न यह है कि क्या वैशम्पायन को महर्षि व्यास ने जिस यजुर्वेद का उपदेश किया वह भिन्न था और याज्ञवल्क्य ने जो यजुर्गण आदित्य से प्राप्त किये वे भिन्न थे? यदि दोनों में भेद था तो दो यजुर्वेद सिद्ध होते हैं। परन्तु वेद ईश्वरोक्त होने से उनको दो नहीं माना जा सकता। हमारे विचार में दोनों यजुर्वेद एक थे। कथाकारों ने स्पष्ट लिखा है।

वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम् ॥

अर्थात् व्यास देव ने वैशम्पायन को 'निगद' नाम यजुर्वेद दिया। 'निगद' का अर्थ शुद्ध 'मन्त्रपाठ' है। यास्क को जहां मन्त्र की विशेष व्याख्या नहीं लिखनी होती वहां वह 'निगदेनैव व्याख्याता' लिखकर छोड़ देता है। महाभाष्यकर भी 'निगद' शब्द को केवल मन्त्र पाठ के लिये प्रत्युक्त करते हैं।

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। पात० महा० पस्पशे ॥

पूर्व विवेचना से भी स्पष्ट है कि 'चरक' वैशम्पायन का नाम था, उसको व्यासदेव द्वैपायन कृष्ण ने शुद्ध यजुर्मन्त्रों का उपदेश किया यज्ञ में विनियुक्त करके ब्राह्मण से संवलित हो जाने पर वही 'कृष्ण' द्वैपायनप्रोक्त मन्त्रपाठ शुद्ध संहिता नहीं रहा। याज्ञवल्क्य की गुरुपरम्परा में वह शुद्धपाठयुक्त यजुर्वेद संहिता बाद में भी बराबर शुद्ध रहा। महर्षि दयानन्द ने भी उसी शाखा को शुद्ध यजुर्वेद स्वीकार किया है।

याज्ञवल्क्य ने 'अयातयाम' यजु को प्राप्त किया तात्पर्य यह है कि

'यजुष्' इतने शुद्ध थे कि जिनको अभी प्रहर भी न बीता हो। अर्थात् 'सदा से रहनेवाले', जो कभी पुरातन न हों, ऐसे सनातन सारवान् जिनका ज्ञानरस कभी क्षीण न हो।

भागवत के भाष्यकार श्रीधर स्वामी ने 'अयातयामानि' का अर्थ 'अयथावदविज्ञातानि' किया है, अर्थात् जिनका अन्य विद्वानों ने उस समय ठीक प्रकार से ज्ञान नहीं किया था।

वाजसनेय शाखानामों की तुलना

वाजसनेयों के शाखा-नामों में बड़ा भेद है। जाबाल सर्वत्र है। बौद्धायन, बौधायन, बौद्धक, बौधायनीय इतने नाम भेद हैं। जिनमें शुद्ध नाम बोधायन, प्राप्त होता है। इसके श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र भी मिलते हैं। काण्वशाखा भी सर्वत्र समान है इस शाखा, की संहिता, सर्वानुक्रम, तथा ब्राह्मण भी प्राप्त है। शांपीय शाफेय, शापेय, शापेयी ये नाम उपलब्ध होते हैं। शौनकादिगण में 'शापेय' और 'सावेय' दोनों नाम उपलब्ध होते हैं। तापायनीय, तापनीय दोनों नाम हैं। कपालाः, कपोलाः दोनों नाम प्राप्त हैं। सम्भवतः ये कलापी की प्रोक्त कालाप शाखा है जिसके अध्येता 'कालाप' कहाते थे। कलापी की वैशम्पायन के शिष्यों में गणना है। आवटिक, और आटविक और अटवी तीनों नाम प्राप्त हैं 'रसारविक' यह विकृत नाम भी मिलता है। इसी प्रकार परमावटिक परमारविक दोनों नाम मिलते हैं। सम्भवतः परमाटविक नाम शुद्ध हैं। अटवी का अर्थ अरण्य है। स्यात् आरण्यकाध्यायी आटविक परमाटविक कहाते हों। 'ट' और 'र' के लेखसाम्य से पाठ भेदहोकर परमारविक भी कहे गये हों। पराशर सर्वत्र समान हैं। अद्ध और 'ऋद्ध' दोनों में अ और ऋ वर्णलिपि की समानता से बदले दीखते हैं। बौधेय, बोधेय, वैधेय भी इसी प्रकार हैं। गालव केवल एक चरणव्यूह और ब्रह्माण्ड और वायु पुराण में मिलते हैं। 'वैजव' केवल एक चरणव्यूह में है शुद्ध नाम

'वैजवाप' है। औधेय और कात्यायन भी एक ही में हैं। कात्यायनीय श्रौत और गृह्यसूत्र मिलते हैं। 'ताम्रायणीय' भी तीन स्थानों पर प्राप्त हैं। 'केवल' शाखा एक स्थान में वत्स और वात्स्य ब्रह्माण्ड और वायु पुराण में ही है। शालीन, विदिग्ध, उद्दल, शैषिरीपर्णी, वीरणी, परायण, और अप्य ये केवल वायु पु० में मिलते हैं। जिनमें 'उद्दल' उद्दालकोक्त शाखा प्रतीत होती हैं। वंश ब्राह्मण में उद्दालक अरुण का शिष्य है। 'शिरीष' कुमुदादिगण और वराहादिगण (पा०४।२।८०) में पठित है। विदग्ध या विजग्ध भी वराहादिगण में पठित हैं। शैरिषी और शैषिरी एक ही हैं, वर्णव्यत्यय हो गया है। शिशिर शब्द का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। पर्णी, और वरणा दोनों शब्द वरणादिगण (पा० ४।२।॥) में पढ़े हैं। हेमाद्रिप्रोक्त ऋद्ध्य अयोध्य, अयोधेय, शब्द हैं इनमें से भी यौधेयादि गण में यौधेय शब्द पठित हैं इस गणपाठ से यद्यपि हम विशेष कोई परिणाम नहीं निकाल सकते परन्तु क्योंकि इनमें बहुत से प्राचीन आर्ष नाम भी पढ़े हैं इस सहयोग से सम्भवतः ये शब्द शाखाकारों के मूल नाम हों। यही विकृत होकर स्थान २ पर दीखते हैं ऐसा विचार उत्पन्न होता है। अगले गवेषणाचतुर विद्वान् इससे कोई विशेष स्थिर परिणाम प्राप्त करें।

अभी तक शुक्ल शाखाओं के विषय में विचार प्रायः देखने में आता है कि याज्ञवल्क्य के ही १५ शिष्यों ने १५ शाखाएं चलादी हैं। परन्तु हमें यह विचार बहुत अधिक महत्त्व का नहीं जंचता है। हमारे विचार में इन समस्त शाखाकारों का याज्ञवल्क्य से कोई सीधा साक्षात् सम्बन्ध नहीं हैं। वे कदाचित् उसके एककालिक शिष्य भी नहीं थे। क्योंकि शतपथ के वंशब्राह्मण में बहुत से शाखाकारों के नाम आते हैं जैसे याज्ञवल्क्य जिसका दूसरा नाम 'वाजसनेय' भी कहा जाता है वह स्वयं उद्दालक का शिष्य है। उसका शिष्य आसुरि है। उदालक की प्रवर्त्तित शाखा का उल्लेख 'उद्दल' नाम से वायु पुराण में प्राप्त है। याज्ञवल्क्य से ६ पीढ़ी पूर्व 'वाजश्रवा' नाम गुरु हैं। कदाचित् उनका दूसरा 'वाजसन' नाम हो, इससे

भी इस शाखा का नाम वाजसनेय चलना सम्भव हैं। इस वंश के सबसे प्रथम गुरु 'आदित्य' का नाम हैं इससे ये 'आदित्य' से प्राप्त यजुर्वेद कहे जाते हैं। शिष्य परम्परा से अनन्त शिष्यों के पास पहुंच कर भी उनका ज्ञान-रस वैसा का वैसा ही सारिष्ठ रहा इससे 'अयातयाम' कहाये। 'पाराशर' एक शाखाध्यायी हैं। परन्तु वंशब्राह्मण में पाराशरीपुत्र वार्कारुणीपुत्र के शिष्य और भारद्वाजीपुत्र के गुरु हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्डपुराण में 'वत्स' और वायु पु० में वात्स्य शाखा का नाम मिलता है भारद्वाजीपुत्र का शिष्य वात्सीपुत्र था। इसी प्रकार द्वितीय वंशब्राह्मण में शाण्डिल्य का शिष्य वात्स्य है। और जातुकर्ण्य का पाराशर्य है। चरणव्यूह, ब्रह्माण्ड और वायु ने गालव शाखा का नाम लिखा है। वंश ब्राह्मण में विदर्भी कौण्डिन्य का शिष्य गालव है। बौद्धायन, बौधायन, आदि का प्रायः सभी ने उल्लेख किया है। वंशब्राह्मण (१) में शालंकायनी पुत्र का शिष्य बोधीपुत्र है। इसी प्रकार यदि सभी अन्य शिष्य-परम्पराओं का पता लग जाय तो और शाखाओं के प्रवर्त्तकों का विवरण भी स्पष्ट हो सकता है।

मैत्रायणीयों के ७ भेद

मानव, वराह, दुन्दुभ हारिद्रवीय, श्यामायनीय, ये शाखा सर्वत्र समान हैं। छागलेय का दूसरा नाम छागेय है। छगलिनो ढिनुक्। पा० ४। ३। १०९॥ में 'छागलेयिनः' ऐसा पाणिनिसिद्ध प्रयोग शाखाध्यायी शिष्यों के लिये आता है। छगली, कलापी के चार शिष्यों में से एक है। श्यामायन वैशम्पायन के शिष्यों में है, उसके शिष्य 'श्यामायनी' कहाये हैं। हारिद्र वीयों का पूर्व भी लिख आये हैं। उसका ब्राह्मणों में वर्णन आता है। अथर्व चरणव्यूह में 'हारितकर्णः' लिखा है। यह वंश ब्राह्मण में भारद्वाजीपुत्र का शिष्य 'हारीतकर्णीपुत्र' है। श्याम शाखा का उल्लेख यजु० चरणव्यूह और विष्णु पु० ने किया है। चैकेय भी अज्ञात सा नाम है।

चरक शाखाओं के १२ भेद

इन नामों में बहुत कम भेद है। हेमाद्रि ने 'करकाः' लिखा है। पं० महीदास ने चरकाध्वर्युओं को वरकाध्वर्यु इस नामान्तर से भी लिखा है। हेमाद्रि ने नारायणीय नामान्तर दिया है। वरतन्तु से 'वारतन्तवीय' शब्द व्युत्पन्न होता है। चरणव्यूहों में यह शब्द विकृत कर दिया है। 'चारायण' आचार्य का नाम प्राचीन अर्थशास्त्रों में उपलब्ध होता हैं। कठ वैशम्पायन के साक्षात् शिष्य थे। पाणिनि सम्प्रदाय ने वैशम्पायन को ही चरक माना है। उसके ९ शिष्य माने हैं। आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन कठ और कलापी। प्रचलित इन १२ नामों में केवल कठ, चरक और ऋचाभ का पता चलता है। बाकी सब वैशम्पायन के साक्षात् शिष्य नहीं हैं। 'वरतन्तु' सम्प्रदाय का नाम चरकों में है परंतु वह न वैशम्पायन के शिष्यों में और न कलापी के शिष्यों में हैं। वे स्वतंत्र आचार्य प्रतीत होते हैं। वारायणीय को हेमाद्रि ने नारायणीय लिखा है। इस नाम से यजुर्वेद का पुरुष सूक्त (अ० ३१)और अगले अध्याय (३२) के द्रष्टा ऋषि नारायण हैं। और तैत्तिरीयारण्यक में नारायणोपनिषत् भी है। कदाचित् वही इस शाखा के प्रवर्त्तक हों। श्वेताश्वतर शाखा की इसी नाम से उपनिषद् प्राप्त है। निरुक्तकार यास्क ने औपमन्यव का उल्लेख किया है। पातण्डिनीय या पाताण्डनीय यह नाम विकृत हैं। वैशम्पायन के नव शिष्यों में ताण्ड्य का नाम हैं। इसके शिष्य ताण्डिन्' कहाते है। अग्नि पुराण ने एक वैशम्पायनी शाखा भी स्वीकार की है। 'मैत्रा-यणी' शाखा की संहिता उपलब्ध है। आह्वरक शाखा का पता नहीं चला। कठ वैशम्पायन के शिष्य प्रसिद्ध हैं। दिशा और देशभेद से प्राच्यकठ और कपिष्ठल कठों का भेद हुआ है। हरिद्रु कलापी का शिष्य है। उससे हारिद्रवीय शाखा चली, इसका उल्लेख हेमाद्रि ने किया है। ऋचाभ से आर्चाभ्य आम्नाय (वेद) प्रसिद्ध है, जिसका उल्लेख यास्काचार्य ने निरुक्त में किया है।

तैत्तिरीयों के शाखा-भेद

तैत्तिरीयों के मुख्य दो भेद हैं। औखेय और खाण्डिकेय। पाणिनि ने तित्तिरि, वरतन्तु, खण्डिक और उख इन चारों का नाम एक स्थान पर रखा है। तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण्। वे चारों स्वतन्त्र आचार्य प्रतीत होते हैं। तित्तिरि के शिष्य तैत्तिरीय, खण्डिक के शिष्य खाण्डिकीय और उख के शिष्य औखीय और वरतन्तु के 'वारतन्तवीय' कहाते हैं। तित्तिरि वैशम्पायन के शिष्य नहीं थे। फिर उनकी शाखा कृष्ण क्यों कहाई यह विचारणीय है, विश्वरूप त्रिशिरा त्वाष्ट्र के एक शिरच्छेद से 'तित्तिर' उत्पन्न हुए, वहां अलंकार से तीन शिर तीन वेद के वाचक हैं। यह विश्व-रूप के अध्यापित यजुर्वेदी कदाचित् तित्तिर नाम से विख्यात हुए हों। त्वाष्ट्र विश्वरूप शतपथ के द्वितीय वंश-ब्राह्मण में १४ वीं परम्परा में अश्वियों के शिष्य है।

खाण्डिकेयों के पांच भेद हैं आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ़, हिरण्य केश और काठ्यायन। आपस्तम्ब मुनिप्रोक्त धर्म, गृह्य और श्रौत्र सूत्र और यज्ञ परिभाषा सूत्र उपलब्ध है। परन्तु वाजसनयों में भी एक बौद्धावन और 'बौधेय' नाम आते हैं। वंश ब्राह्मण में सालंकायनीपुत्र का शिष्य बौधीपुत्र मिलता है। हिरण्यकेशी संहिता प्राप्त है। इस शाखा के मानने वाले मिलते हैं। मानव गृह्यसूत्र हिरण्यकेशीय शाखा के हैं। कदाचित् पूर्वोक्त मानव शाखा मैत्रायणीयों का भेद होकर भी हिरण्यकेशीयों में सम्मिलित हों। 'काठ्यायन' शाठ्यायन शब्द का अपभ्रष्ट स्वरूप प्रतीत होता है। शौनक चरणव्यूह में शाठ्यायन का नाम है। इस नाम का श्रौतसूत्र प्राप्त है। ब्राह्मणों में भी स्थान २ पर यह नाम आता है। भारद्वाज का गृह्यसूत्र प्राप्त है। इसका वंश ब्राह्मण में भी कई वार नाम आया हैं। सत्याषाढ़ों का श्रौतसूत्र उपलब्ध है। और शेष शाखा के भेदों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इन सब भेदों के अतिरिक्त अथर्व परिशिष्ट चरणव्यूह में 'उपल' शाखा का नाम है। शुद्ध शब्द

"उपल' प्रतीत होता है। वह कलापी के चार शिष्यों में से है। वहां ही ताम्रायणीय नाम भी है। शुद्ध शब्द 'तौम्बुराविणः' प्रतीत होता है। 'तुम्बुरु' कलापी के चार शिष्यों में हैं। वायुपुराण में 'आरुणि' और 'आलम्बि' दो नाम और मिलते हैं। अरुण उद्दालक के गुरु हैं। दूसरे, वैशम्पायन के नव शिष्यों में एक 'अरुण' है उसके शिष्य भी आरुणि कहाये। 'आलम्बी' वैशम्पायन के नव शिष्यों में एक हैं। और वंश ब्राह्मण में आलम्बायनीपुत्र का शिष्य आलम्बीपुत्र है।

इस प्रकार बहुत से नाम वंशब्राह्मणों में मिल जाते हैं और वेही नाम शिष्यों में भी मिलते हैं। अतः किससे शाखा नाम चला, नहीं कहा जा सकता। कदाचित् प्राचीन नामों को ही पीछे से किसी भी रूढि के वश शिष्यादि रूप से कल्पित कर लिया हो। या एक ही नाम के बहुत से हो गये हों इत्यादि सभी समस्याएं अन्धकार में हैं! स्वल्प स्थान में हमने बहुत से नामों का दिग्दर्शन मात्र करा दिया है। आगे निर्णय करना विद्वानों का कार्य है। शतपथ ब्राह्मण में दो वंश ब्राह्मण शतपथ (का० १०।६।५।९॥ और का० १४।५।१९-२२॥) तथा बृहदारण्यक उपनिषत् में एक वंश ब्राह्मण दिया गया है उनकी शिष्य परम्परा भी देखनेयोग्य है।

उपवेद

वेदों के उपवेदों के विषय में भी मत भेद है। महर्षि दयानन्द संस्कारविधि में लिखते हैं कि—"ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, जिसको वैद्यक शास्त्र कहते हैं, जिसमें धन्वन्तरिजी कृत सुश्रुत और निघण्टु तथा पतञ्जलि ऋषिकृत चरक आदि आर्षग्रन्थ हैं....यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद जिसको शस्त्रास्त्र विद्या कहते हैं। जिसमें अङ्गिरा आदि ऋषिकृत ग्रन्थ हैं जो इस समय बहुधा नहीं मिलते। पुनः सामदेव का उपवेद गान्धर्व वेद जिसमें नारद संहितादि ग्रन्थ हैं....अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद जिसको शिल्प शास्त्र कहते हैं जिसमें विश्वकर्मा त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं।" इसी लेखानुसार शौनकी चरणव्यूह परिशिष्ट में लिखा है—

ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो यजुर्वेदस्य धनुर्वेद उपवेदः साम-वेदस्य गान्धर्ववेदोऽथर्ववेदस्यार्थशास्त्रं चेत्याह भगवान्व्यासः स्कन्दो वा (ख० ४)

उसपर महीधरस पण्डित ने लिखा है—धनुर्वेदो युद्धशास्त्रम् । गान्धर्व-वेदः संगीतशास्त्रम् । अर्थशास्त्रं, नीतिशास्त्रं, शस्त्रशास्त्रं, विश्वकर्मादिप्रणीतं-शिल्पशास्त्रम् ।

सुश्रुत में लिखा है—'आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य ।' गोपथ ब्राह्मण में लिखा है—स दिशोऽन्वैक्षत....ताभ्यः पञ्च वेदा-न्निरमिमत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराण वेदमिति। प्राच्य एव दिशः सर्पवेदं निरमिमत दक्षिणस्याः पिशा-चवेदं प्रतीच्या असुरवेदमुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्चोर्ध्वा-याश्च पुराणवेदम् ।। गो० पू० १ । १० ।।

शतपथ (१३।४।३।३–१५) में लिखा है—(१) मनुर्वैवस्वतो राजा.... तस्य मनुष्या विशः ...अश्रोत्रियाः गृहमेधिनः.... ऋचो वेदः । (२) यमो वैवस्वतो राजा....तस्य पितरो विशः ...स्थाविराः....यजूंषि वदः । (३)वरुण आदित्यो राजा....तस्य गन्धर्वा विशः....युवानः शोभनाः....अथर्वाणो वेदः।(४) सोमो वैष्णवो राजा....तस्याप्सरसो विशः...युवतयः शोभनाः.... आङ्गिरसो वेदः । (५) अर्बुदः काद्रवेयो राजा .. तस्य सर्पा विशः.... सर्पाश्च सर्पविदश्च ...सर्पविद्या वेदः । (६) कुवेरो वैश्रवणो राजा रक्षांसि विशः....सेलगाः पापकृतः....देवजनविद्या वेदः....(७)धान्वो राजा.... तस्य आसुरा विशः....कुसीदिनः....मायावेदः । (८) मत्स्यः सांमदो राजा....तस्य उदकेचरा विशः....मत्स्याश्च मत्स्यहनश्च....इतिहासो वेदः । (९) तार्क्ष्यो वैपश्यतो राजा....वयांसि च वायोविद्यिकाश्च.... पुराणं वेदः । (१०) इन्द्रो राजा....देवा विशः श्रोत्रिया अप्रतिग्राहकाः....सामानि वेदः ।

इसी प्रकार आश्वलायन और शाङ्खायन श्रौतसूत्र में भी ४ वेद और

उपवेदों की गणना की है। और भी कतिपय उपवेद बने जिस प्रकार भरत मुनि का नाट्यवेद प्रसिद्ध है। वह उसको यजुर्वेद से निकाला स्वीकार करते हैं। चरणव्यूहोक्त यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के उपवेदों पर दृष्टि करें तो धनुर्वेद, और अर्थवेद एक दूसरे के सहयोगी हैं। धनुर्वेद युद्धशास्त्र है और अर्थवेद में नीति शास्त्र, शस्त्रास्त्र-शास्त्र और शिल्पशास्त्र तीनों सम्मिलित हैं। असुर वेद या मायावेद धनोपार्जन की विद्या है, वह अर्थवेद से भिन्न नहीं है। आंगिरस वेद, विषवेद या सर्पवेद, ये सभी आयुर्वेद में सम्मिलित हैं। उन ही अंग उपांग विद्याओं का अधिक विस्तार हो जाने से उनके पृथक् २ नाम हो गये हैं।

यजुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय

यजुर्वेद में राज्यशासन, शासन-विभाग. राष्ट्र-विजय, राज्याभिषेक, तथा युद्धादि का वर्णन पर्याप्त विद्यमान हैं। इसलिये उसकी मुख्य अंग-विद्या 'धनुर्वेद' सुतरां उपयुक्त है। इससे वैशम्पायन मुनिकृत नीतिप्रकाशिका और वसिष्ठ और विश्वामित्र कृत धनुर्वेद आदि उत्तम उपयोगी ग्रन्थ हैं।

राज्य विषयक रचनाओं आदि का स्थान २ पर जो हमने अपने भाष्य में वर्णन किया है वह अभी और भी बहुत विचारने योग्य है। यजुर्वेद का केवल राजनीति तथा राज्यपालन की दृष्टि से और भी उदात्त भाष्य होने की आवश्यकता है। तो भी यजुर्वेद में किस रीति से राजनीतिशास्त्र का कितना अधिक वर्णन है और उसी के गर्भ में राज्य के समान ही ब्रह्माण्ड के राजा परमेश्वर, गृह के राजा गृहपति और देह के राजा आत्मा एवं द्यौः, अन्तरिक्षं, और पृथिवी के राजा क्रम से सूर्य, वायु और अग्नि एवं प्रतिनिधि वाद से सोम, वरुण, आदि नामों से राजा आदि का वर्णन किस प्रकार किया है। भाष्य को धैर्य से और मननपूर्वक देखने से विदित हो जायेगा।

प्रस्तुत भाष्य

प्रस्तुत भाष्य में यह यत्न किया गया है कि जहां तक सम्भव हो सरल, बुद्धिगम्य प्रस्फुट अर्थ पाठकों को विदित हो। अन्य पक्षों को भी प्रस्तुत भाष्य में यथास्थान दर्शाया है। कर्मकाण्ड के प्रकरण की हमने उपेक्षा की है क्योंकि उसके विवरण के लिये सब्राह्मण मूलमन्त्र के व्याख्यान की आवश्यकता है। उसके लिये विशाल ग्रन्थ अपेक्षित हैं। जिन पक्षों पर महर्षि दयानन्द ने अपने आकर-भाष्य में प्रकाश डाला है उनको पिष्टपेषण जान कर विशेष रूप से नहीं दर्शाया गया है। महर्षि के पदार्थभाष्य की तुलना प्राचीन किसी भाष्य से भी नहीं की जा सकती। क्योंकि वे यज्ञपक्षीय हैं और महर्षि का पदार्थ-भाष्य सर्वतोभद्र है। भाषान्तरकार बहुत से स्थलों पर महर्षि के भावों को सुसंयत भाषा में स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं। बहुत से स्थलों पर भाव विकृत भी कर दिया है। पदार्थ भाष्य में महर्षि दयानन्द ने जितने पक्षों को दर्शाने का कौशल दर्शाया है भाषान्तरकारों ने उस पर विशेष विचार नहीं किया है। कुछ स्थल महर्षि के भाष्य में विचार योग्य हैं। उन पर मतभेद हो जाना स्वाभाविक है। महर्षि दयानन्द मार्गदर्शी गुरु हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

भूमिका में जितने अंशों को दर्शाया है उससे अतिरिक्त बहुत से विषय महर्षि दयानन्द ने स्वयं 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में दर्शा दिये हैं। उन को सर्व विदित जानकर यहां पिष्टपेषण नहीं किया गया।

द्वितीय संस्करण

प्रथम संस्करण माघ १९८६ विक्रमाब्द में दश वर्ष पूर्व छपा था। मुझे यह आशा न थी कि यजुर्वेद भाष्य का द्वितीय संस्करण मेरे जीवन-काल में हो सकेगा। परन्तु वेदप्रेमी जनता ने अभिरुचि दिखाई और द्वितीय संस्करण निकालना आवश्यक हुआ, इसमें कुछ विशेषता नहीं की। पूर्व

संस्करण में प्रेस, वा संशोधकों की त्रुटियों को यथासम्भव दूर किया गया, वेदाध्यायी जनता में छन्दों और देवता विषयक विवाद प्रवल रूप से उठ खड़ा हुआ था, इस कारण छन्द, और देवतानामों को विशेष रूप से संशोधन किया, और जिनके देवता छन्द आदि देने रह गये थे उनके भी देदिये। वेदगुरु ऋषिदयानन्द संमत देवता और छन्दों को ही इसमें प्रमुखता दी है, क्योंकि कर्मकाण्डपरक व्याख्या यहां अभीष्ट न थी इसलिये तत्परक यजुःसर्वानुक्रमणी को यहां महत्त्व नहीं दिया। मतभेद स्थान २ पर उद्धृत हैं। सर्वानुक्रमणी के लेख भी सर्वतोमुखेन ग्राह्य प्रतीत नहीं हुए, वे कहीं अपूर्ण, कहीं मौन भी हैं, अनन्तदेव याज्ञिक आदि टीकाकारों ने उस न्यूनता को पूर्ण भी किया है। प्रथम संस्करण में देवता सर्वानुक्रमणी और ऋषि दयानन्द दोनों के मिलाकर रखे थे। परन्तु इससे भ्रम उत्पन्न होता देखा गया, इसलिये इस संस्करण में केवल ऋषिसम्मत देवता साथ दिये हैं और सर्वानुक्रमणी के भिन्नमत को पादटिप्पणों में दिया है।

मैं मनुष्य हूं, निर्भ्रान्त नहीं हूं। सर्वज्ञ भी नहीं हूं, और किसी भी मनुष्यसीमा में स्थित व्यक्ति को सर्वज्ञ, निर्भ्रान्त, तथा एकान्त प्रमाण भी नहीं मानता हूं। सब पूर्वाचार्यों को और उनके वैदिक मार्ग में यथाशक्ति किये यत्न को वेद की रक्षा के निमित्त जान कर श्रद्धा, मान और आदर का पात्र समझता हूं। मत-भेद होने से कोई विद्वान् अशिष्टोचित अनादर का पात्र नहीं हो सकता। किसी पूर्वाचार्य ने भी अगलों के लिये वेद मार्ग पर विचार करने और स्वतन्त्र भाष्य बनाने का निषेध नहीं किया और न किया जा सकता है।

यह मेरा परिश्रम गुणग्राहियों के लिये है। दुर्भाव से भाष्य पर दुर्दृष्टि करने वालों के लिये मैंने कुछ नहीं किया है। इस में संदेह नहीं कि दोषदर्शन करने में निपुण खलों के लिये इसमें सहस्रों कल्पित दोष

दीखेंगे। परन्तु गुणग्राही सज्जनों को मेरे सहस्रों दोषों में से भी गुण दिखाई देगें। और वे उसको अपने स्वभाव के अनुसार हंस के समान अवश्य ग्रहण करेंगे।

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्-वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

अजमेर
माघ पूर्णिमा
१९९६ वैक्रमाब्द।

विद्वानों का अनुचर–
जयदेवशर्मा विद्यालंकार,
मीमांसातीर्थ।

विषय-सूची

प्रथमोऽध्यायः (पृ० १-३१)

मन्त्र (१) परमेश्वर से अन्न, बल की प्रार्थना। रोगरहित पशु सम्पत्ति की इच्छा। दुष्ट पुरुषों का नाश। (२) प्रभु से तेजोवृद्धि की प्रार्थना। (३) सहस्रधार और शतधार बसु। (४) विश्वकर्त्री और विश्वधात्री शक्ति। (५) व्रतपत्ति का आराधन। (६) सर्वनियोजक प्रभु। (७-९) दुष्टों का दमन। (१०) अन्न, ऐश्वर्य की प्राप्ति। (११) दुष्ट संतापक अग्नि रूप राजा, (१२) राजा और नेताओं के कर्त्तव्य। (१३) नेता का वरण, प्रोक्षण, दीक्षा, और त्रुटियों का दूर करना। (१४) राजा के दुष्टों के दमन कर्त्तव्यों का मुसल और पाषाण के दृष्टान्त उपदेश से। (१५) अन्न आदि की उत्पत्ति। (१६) दुष्टों का न्यायविभाग द्वारा अपराधविवेचन, दमन। (१७,१८) शत्रुवध। (१९) प्रजाओं की रक्षा। (२०) राष्ट्र के दीर्घ जीवन के लिये राष्ट्रपति की स्थापना। (२१) योग्यों से योग्यों के मिलने का उपदेश। (२२) पतिपत्नी के दृष्टान्त से राष्ट्र का वर्णन। (२३) राजा और पुरुष को कार्य्यकाल में निर्भय होने का उपदेश। (२४) विद्युत्-अस्त्र से शत्रुओं का नाश। (२५,२६) राजा का पृथ्वी के प्रति कर्त्तव्य। (२७) राष्ट्र के ब्रह्म क्षत्र, की वृद्धि। पृथ्वी का वर्णन। (२८) युद्ध-यज्ञ। (२९, ३०) दुष्टों के दमनार्थ सेना। (३१) आयुधों का स्वरूप।

द्वितीयोऽध्यायः (पृ० ३२-६३)

(१) प्रजावृद्धि के लिये राजा, यज्ञ, गृहस्थ का अभिषेक। (२) राजा आदि का स्वागत। (३) तेजस्वी विद्वान्, मित्र और वरुण और रोजा के कर्त्तव्य। (४) विद्वान् अग्रणी और परमेश्वर की स्तुति। (५) तेजस्वी राजा। (६) ब्रह्माण्ड और राष्ट्र की तीन बड़ी शक्तियां। राजा, अधिकारी

और प्रजाओं का अधिकार। (७) राजा का अभिषेक, राष्ट्र चालकों के वेतन स्वधा। (८) परमेश्वर और राजा की आज्ञा का पालन। (९) दूतस्थापन, सत्पुरुष रक्षा, ऐश्वर्य प्राप्ति। (१०) आत्मबल, सत्य आशीर्वाद, और ज्ञान की याचना। (११) उत्तम माता पिता की शिक्षा की प्राप्ति और उत्तम स्वास्थ्य। (१२) यज्ञपति की रक्षा। (१३) यज्ञ सम्पादन। (१४) अग्नि स्वरूप तेजस्वी पुरुष और उसके अधीनों की वृद्धि। (१५) विजय ऐश्वर्यवृद्धि, द्वेषी पुरुष का पराजय, युद्धोपयोगी सेनाबल। (१६) राजा का अभिषेक, उसकी रक्षा, राज्य की प्राप्ति। तथा आधिभौतिक यज्ञ। (१७) (१८) राष्ट्र की सीमा रक्षा। (१९) अग्नि और वायु दो अधिकारी। (२०) दुःख, अविद्या, पाप से रक्षा, सुख शान्ति, उत्तम ज्ञान की प्राप्ति। (२१) वेदमय देव। (२२,२३) आधिभौतिक यज्ञ और राष्ट्र। (२४) शुद्ध मनन शक्ति, तेज और ऐश्वर्यों और शुद्धि की प्रार्थना। (२५) राष्ट्र में व्यापक राजशक्ति। (२६) तेज और बल की प्रार्थना। (२७) उत्तम गृहस्थ। (२८) व्रत-पालन। (२९) उत्तमों का पालन और दुष्टों का दमन। (३०) नीच लोगों का निर्वासन। (३१,३२) वृद्धजनों की प्रसन्नता और आदर। ३३. उत्तम सन्तान लाभ, उत्तम पुरुष निर्माण। (३४) पिता, माता, वृद्ध जनों का तर्पण।

तृतीयोऽध्यायः (पृ० ६४–१०४)

(१,४) यज्ञ, अग्निचर्या और ईश्वर–उपासना। (५) अग्न्याधान, राज-स्थापन और गृहस्थ कर्म। (६-८) सूर्य और पृथ्वी। (९.१०) प्रातः सायं हवन में ईश्वरउपासना और भौतिक तत्व। (११) उत्तम मन्त्रोपदेश। (१२) सूर्य, राजा और परमेश्वर। (१३) विद्युत् अग्नि तथा राजा और सेनानायक। (१४) उच्चपद। (१५) राजा और विद्वानों का संग। (१६) शक्तियों का दोहन। (१७,१८) दीर्घ जीवन की प्राप्ति। (१९) तेज की प्राप्ति। (२०) उत्तम अन्न। (२१,२२) प्रजाओं और

पशुओं की सम्पदा । (२३) ईश्वर और राजा । (२४) परमेश्वर के समान प्रजा के प्रति पिता के तुल्य राजा । (२५) उसका कर्त्तव्य । (२६) ज्ञान, न्याय, दुष्टदमन । (२७) राजा का उत्तम संकल्प । (२८) योग्य की नियुक्ति । (२९) राजा के कर्त्तव्य । (३०) रक्षा की प्रार्थना । (३१) व्यवस्थित राष्ट्र । (३२) दमन का लक्ष्य । (३३) विद्वानों के लक्षण । (३४) राजा का कर्त्तव्य । (३५) पापनाशक परमेश्वर राजा । (३६) राजा का अपराजित रथ । (३७) प्रजा, पशु, अन्न की रक्षा । (३८) सम्राट् और (३९) गृहपति राजा के कर्त्तव्य, (४०) नेता विद्वान् का कर्त्तव्य, (४१,४२, ४३) गृहपति, गृहजनों, प्रजा और अधिकारी जनों का परस्पर सद्भाव, अभय होना । (४४) विद्वानों का आमन्त्रण, दुश्चरित्रत्याग । (४७) कर-व्यवस्था । (४७) श्रम, और वेतनों की व्यवस्था । (४८) राजा के कर्त्तव्य । (४६) वृद्धि । (४५) (५४) दीर्घजीवन के लिये ज्ञानवृद्धि । (५५) ज्ञान और दीर्घायु । (५६) ज्ञान, प्रजासम्पत्ति (५७) राजा के हाथ पांव श्रमी । (५८) दुःखनाशक उपाय । (५९) सब प्राणियों का सुख और रोगनाश । (६०) बन्धनमोचन । (६१) वीरों का कर्त्तव्य । (६२) त्रिगुण आयु । (६३) घातक कारणों से प्रजा की रक्षा ॥

चतुर्थोऽध्यायः (पृ० १०४-१४३)

(१) देवयजन की बाधाओं से रक्षा । (२) आप्त जनों के कर्त्तव्य, दीक्षा और तप, (३) राजा का कर्त्तव्य । (४) देव से पवित्रता की प्रार्थना । (५) आशीर्वाद की याचना । (६) यज्ञ का व्रत, पांच यज्ञ । (७) अध्यात्म, आधिभौतिक यज्ञ (८) ईश्वर और राजा का वरण, ऐश्वर्य की प्राप्ति । (९) यज्ञसमाप्ति तक रक्षा प्रार्थना । (१०) बल, शरण, कृषि । (११) व्रताचरण, प्रजा और दीर्घायु, रक्षा । (१२) वीर्यरक्षा, प्रजापालन । (१३) जलों के दृष्टान्त से आप्त पुरुष । (१४)

राजा की सावधानता। (१५) मन, आयु, प्राण, चक्षु आदि शक्तियों की प्राप्ति। (१६) स्तुत्य ईश्वर और राजा से ऐश्वर्य की याचना। (१७) मन और वाणी शक्ति से ईश्वरोपासना। (१८) वाणी की साधना। (१९) वाणी और विद्युत्। (२१) पृथ्वी, ब्रह्मशक्ति, विद्युत् और राष्ट्र शक्ति। (२२) राजा प्रजा के कर्त्तव्य। (२३) वेदवाणी, विद्युत्, और पत्नी। (२४) राजा को अधिकार। (२५) (२६) ईश्वरस्तुति। राजा के कर्त्तव्य। (२७) अष्टप्रकृति राज्यव्यवस्था। (२८) दुश्चरित-बाधन। (२९) उत्तम मार्गों का उपदेश। (३०) राजा के कर्त्तव्य। (३१) राजा के उपमान। (३२) राजा की सर्वप्रियता। (३३) प्राण और अपान तथा बैलों के समान दो धुरन्धरों की नियुक्ति। विजय, दुष्ट-दमन। (३५–३६) परमेश्वर तथा राजा। (३७) ईश्वर और राजा।

पञ्चमोऽध्यायः (पृ० १४४-१८८)

(१) योग्य पुरुष की पद पर नियुक्ति और अन्न का उपयोग। (२) अग्नि राजा और प्रजा की उत्पत्ति। (३) स्त्री पुरुषों को परस्पर प्रेम का उपदेश। (४) (५) अग्नि व राजा के कर्त्तव्य। (६) व्रत, दीक्षा (७) राष्ट्र और राजा, ब्रह्मरस और योगी। (८) राजा की शक्ति। (९) राजा। (१०) सेना और वाणी। (११) राष्ट्र की रक्षा। (१२) वाणी और राज्यव्यवस्था। (१३) राजा, यज्ञ और ईश्वर। (१४) योगाभ्यास। (१५ १६) परमेश्वर की महान् शक्ति। (१७–१८) स्त्री पुरुष। (१९–२०) व्यापक ईश्वर की शक्ति। (२१) ईश्वर और राजा। (२२) स्त्री तथा सेना के कर्त्तव्य। (२३) घातक प्रयोगों का निवारण (२४) राजा के अधिकार (२५–२६) दुष्टों और शत्रुओं का नाश। (२७–२८) राजा के कर्त्तव्य (२९) राजा का स्वत्व। (३०) इन्द्र पद। (३१, ३२, ३३) राजा के अधिकारसूचक पद। (३४) अधिकारी पुरुषों और (३५, ३८) राजा

और (३९) सेनापति, के कर्त्तव्य । (४०) (४३) गुरु शिष्य और राजा और प्रजा के परस्पर व्रत पालन की प्रतिज्ञा ।

षष्ठोऽध्यायः (पृ० १८८-२२७)

(१) शत्रुओं का नाश । (२) राजा, सभाध्यक्ष के कर्त्तव्य । (३) राजगृहों का वर्णन । (४,५) ईश्वर और राजा के कर्म । (६,७) राजा के अधिकार । (७) विद्वानों और राजा का सम्बन्ध । (८) समृद्ध प्रजा और राजा । (९) राजा का अभिषेक व्रत । (१०) दीक्षा । (११) स्त्री पुरुषों का कर्त्तव्य । (१२) सदाचार, शिष्टाचार । (१३) कन्याओं का पात्रों में प्रदान, उत्तम शासक का शासन । (१४) वाक्, प्राण, चक्षु आदि का व्रतदीक्षा में परिशोधन । (१५) मन आदि की शक्ति वृद्धि । (१६) दुष्टों और दुष्ट भावों का दूरीकरण । (१७) पाप, मल–परिशोधन । (१८) परस्पर प्रतिज्ञा, अन्न का स्वरूप, गुरु शिष्य और राजा प्रजा के सम्बन्ध । (१९) परम तेज का कारण, (२०) शरीर में प्राण के समान राजबल । (२१) ईश्वर से प्रार्थना, सेनापति को आदेश । (२२,२३) राजा प्रजाजन के प्रति कर्त्तव्य । (२४) स्वयंवर । प्रजाओं का स्वयं राजा का वरण । (२५) स्वयंवर के प्रयोजन । (२६) राजा की स्थिति और सेवा कार्य । (२७) प्रजाजनों के कर्त्तव्य । (२८) वैश्य प्रजा और गृहस्थ के कर्त्तव्य । (२९) योद्धाओं की वृत्ति । (३०) प्रजा का कर्त्तव्य । (३१) पांच योग्य शासक । (३२, ३४) राजा व प्रजा के कर्त्तव्य । (३५) राजा प्रजा का परस्पर अभय, (३६) परस्पर परिचय । (३७) राजा का स्वरूप, ईश्वर स्तुति ।

सप्तमोऽध्यायः (पृ० २२८–२७८)

(१) आज्ञापक और आज्ञापद और गुरु शिष्य का सम्बन्ध । (२) परस्पर आत्मसमर्पण । (३) राजा का सूर्यपद । (७) वायु–प्राण वत् राजा । (८) सेनापति और न्यायकर्त्ता । (९) मित्र और वरुण अध्यापक

और अध्येता । (१०) मित्र वरुण, ब्राह्मण और क्षत्रिय। (११) सूर्य चन्द्र-वत् राजा प्रजा के सप्रेम व्यवहार। (१२, १३) मदमत्तों के दमन योग्य अधिकारी—योगी। (१४) राजा की उच्च स्थिति, ईश्वर और आचार्य। (१५) राजा और उसके सहायक। (१६) बालकवत् राजा और चन्द्र (१७) आक्रामकों के नाशक पुरुष की नियुक्ति । (१९, २०, ३३) मुख्य पदों पर सर्वोच्च अधिकारी। (२१) सोम, राजा। (२२) इन्द्र पद। (२३) मित्र और वरुण पद। (२४) वैश्वानर सम्राट्। (२५) सम्राट् का अभिषेक। (२६) उच्चपद। (२८) शरीर के अंग और प्राण-वत् राज्यांग। (२९) अधिकारियों का राजा से परिचय। (३०) संवत्सर के ऋतुओं, मासों के समान राज्यपद विभाग। (३१, ३२) नायक और सेनापति के इन्द्र और अग्नि पद। (३३, ३४) विद्वान् पुरुषों की नियुक्ति। (३५, ३६, ३७, ३८) मरुत्वान् इन्द्र, सेनापति। (३९, ४०) महेन्द्र पद, (४१, ४२) जातवेदा, राजा और परमेश्वर और सूर्य। (४३) मार्गदर्शक विद्वान् और परमेश्वर। (४४) प्रजाओं और सेनाओं का विभाग, प्रजाओं का निरीक्षण और व्यवसाय। (४५) उत्तम पुरुष की नियुक्ति। (४६, ४७) अधीन पुरुषों को स्वर्णादि दान।

अष्टमोऽध्यायः (पृष्ठ २७८–३२८)

(१) राजा का नियन्त्रण तथा अधिकार। पक्षान्तर में विवाहित गृहस्थ। (२) राजा का वैश्यों पर अधिकार और गृहस्थ के कर्त्तव्य। (३) मेघ के समान राजा। चतुर्थाश्रमी गृहस्थ को उपदेश। (४, ५) विद्वान् और गृहस्थ पुरुषों के कर्त्तव्य। (६) उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति। (७) सावित्र पद। (८) विद्वानों पर योग्य पुरुष। पक्षान्तर में गृहस्थ। (९) प्रजा का कर्त्तव्य, राष्ट्र की ऐश्वर्यवृद्धि। पत्नी का कर्त्तव्य। (१०) राजा प्रजा तथा पति पत्नी का ऐश्वर्य भोग। (११) सारथि के समान संचालक पुरुष, राज्यतन्त्रवत् गृहस्थ तन्त्र। (१२) राजा के अधीन

प्रजा को राष्ट्र भोग । (१३) प्रजा के दोषों को दूर करना । (१४) उत्तम वैद्य । (१४) उत्तम नेता । (१५—१७) अधिकारियों और (१८, १९) प्रजाओं के कर्म । (२०) उत्तम पुरुष को उच्च पद । (२१,२२) राष्ट्रपति के कर्त्तव्य । (२३) ऋजु मार्ग । (२४) प्रत्येक गृह में विद्वान् की योजना । (२५) गृहपति, यज्ञपति, राष्ट्रपति का स्वागत । (२६) आप्त प्रजाओं और उत्तम गृहपत्नियों के कर्त्तव्य । (२७) प्रजा का दोष-परित्याग । (२८,२९) राजा की गर्भ से उपमा । (३०) वशा नाम राज्यशक्ति का वर्णन । नाना पदों वाली वेदवाणी । (३१) उत्तम रक्षक । (३२) राजा प्रजा और पति पत्नी । (३३, ३४, ३५ ३६,,) षोडशी इन्द्र । (३७) सम्राट् राजा । (३८) अग्नि, आचार्य, और नेता । (३७, ३९) इन्द्र पद पर बलवान् पुरुष । (४०) तेजस्वी सूर्य-वत् राजपद । (४१) पत्नी और पृथ्वी का योग्य पालक पति का धारण । (४२) गौ, स्त्री, पृथिवी के गुण । (४३,–४५) शत्रुमर्दक और विश्वकर्मा इन्द्र । (४७) राजा, इन्द्र । (४८) राजा, इन्द्र । (४८) राजा को भय-प्रदर्शन । (४६, ५०,) सावधान रहने योग्य राजपद । (५१) शासकों का कर्त्तव्य । दीर्घजीवन और मोक्ष का ध्येय । (५३) पर्वत और सूर्यवत् सेनापति । (५४, ५९) प्रजापति के भिन्न २ रूप । पक्षान्तर में सोमयाग । (६०, ६३) यज्ञ और राष्ट्र ।

नवमोऽध्यायः (पृष्ठ ३२६–३६६)

(१) राष्ट्रमय यज्ञ । (२, ३, ४,) इन्द्र की स्थापना । (५) विजयी पुरुष का सर्वोपरि पद । (६) जल-ओषधि के समान राजा । (७) वायु, मन, गन्धर्वों के समान वेगवान् अश्व, शिल्पयन्त्र । (९) वेगवान् सेनापति । (१०) उत्तम शासन में सुख । (११, १३) सैनिकों को उपदेश । उनका विजय में सहयोग । (१४, १७) अश्वा-रोहियों के कर्त्तव्य । आज्ञाश्रवण और संचालन । (१८) उत्तम मार्गों से

गमन और रक्षा। (१९) सैनिकों की पवित्र दीक्षा। (२०-२१) मासों के तुल्य प्रजापति के १२ स्वरूप। (२१) यज्ञ के आयु, प्राण आदि की प्राप्ति। (२२) ऐश्वर्य वृद्धि। माता पृथिवी का आदर, राष्ट्र-शक्ति के नियम और कृषि सम्पत्ति। (२३) प्रजा की सम्पत्ति और शासकों को अप्रमाद का उपदेश। (२४, २५) प्रजापालक का कर्त्तव्य। (२६, २७) मुख्य विद्वान् ब्राह्मण की सर्वोपरि स्थापना। (२८, २९) विजयी नेता और न्यायाधीश के कर्त्तव्य। (३०) राजा का अभिषेक। (३१-३४) १७ प्रकार के अक्षय बलों से राष्ट्र का वशीकार। (३४, ३६,) राजा और उसके नाना प्रकार के नायक। (३६) शत्रु विजय। (३८) दुष्ट वध। (३९, ४०,) इन्द्र आदि की स्थापना और सिंहासनारोहण।

दशमोऽध्यायः (पृष्ठ ३६५-३६८)

राज्याभिषेक (१) अभिषेक योग्य जलों की प्रजाओं से तुलना। (२-४) प्रजातुल्य जलों से राज्याभिषेक। सिंहासनारोहण। राजा की तेजस्विता। (६, ७,) राजोत्पादक प्रजाएं। (८) बालकवत् राजोत्पति। (९) गृहपति और राष्ट्रपति। (१०-१४) दुष्ट-नाश। राज-रक्षा। (१५) राजा की शोभा। (१६) सूर्योदयवत् मित्र और वरुण का उदय, सिंहासनारोहण। (१७) ऐश्वर्य और तेज से अभिषेक। (१८) राज्याभिषेक प्रस्ताव। (१९) अभिषेक वर्णन। (२०) अधिकार दान। (२१) योग्यता और अधिकार। (२२) राष्ट्र संयमन। (२३, २४,) राज-प्रतिष्ठा और स्तुति। (२५) ईश्वरार्पण। (२६) राजगद्दी। (२७) सम्राट् वरुण। (२८) उसके कर्त्तव्य। (२९) योग्य मध्यस्थ पुरुष। (३०) उन्नतपद। (३१) बल परिपाक का उपदेश। (३२) अन्न के दृष्टान्त से शत्रु नाश, और राष्ट्रसाधन। (३३) स्त्री-पुरुषों के कर्त्तव्य। (३४) राष्ट्र के व्यापक शक्तिमान् को मुख्याधिकार।

(एकादशोऽध्यायः (पृष्ठ ३९८–४६०)

अग्रणी नायक परमेश्वर, आदित्य योगी। सात्विक ज्ञानी राजा के कार्य। (२) योगद्वारा ज्ञान प्राप्ति। राजा का कर्त्तव्य। (३, ४) ज्ञानी पुरुष और राजा का कर्त्तव्य। (५) विद्वानों से ज्ञान का श्रवण। (६) नेता अग्रणी, परमेश्वर और राजा। (७) विद्वान् नेता और प्राण शक्ति। (८) क्षत्रपति। (९, १०) वज्र, नररत्न और वाणी का वर्णन। तेजस्वी होने का उपाय। (१२) उत्तम और न्यायकारी पद। (१३) दो उत्तम अधिकारियों की नियुक्ति। (१४) ऐश्वर्यवान् पुरुष को उच्च पद। (१५) गणपति पद की योजना। (१६) तेजस्वी, समृद्ध नेता। (१७) सूर्य और विद्वान्। (१८) विद्वान् नेता की योग्य अश्व से तुलना। (१९) वीर नेता। (२०) राजा का विराट् रूप। उसको आदेश। (२१) उत्तम नररत्नों की उत्पत्ति। (२२,२३) नेता का आदर। (२४) राजा को अग्नि के समान तेजस्वी बनाना। (२५) अग्नि सेनापति। (२६) वीर पुरुषों की नियुक्ति। (२७) अग्नि सेनापति। (२८) नेता का प्राप्त करना। (२९) नायक की समुद्र से तुलना (३०) राजा प्रजा का सम्बन्ध। (३१) गृहस्थ के समान राजा। (३२) नेता अग्नि। (३३) वृत्रहन्ता नेता। (३४) विजयार्थ उत्तेजना। (३५) योग्य पदाधिकारी। (३६) होतृ पदपर विद्वान्, उसके लक्षण और कर्त्तव्य। (३७) अग्नि नेता और राजा को उपदेश। (३८) प्रजाओं के कष्ट निवारण। (३९) विदुषी स्त्री, और प्रजा का कर्त्तव्य। (४०) राजकीय पोशाक प्राप्ति। (४१) आदरणीय उन्नत पद। (४२) सूर्यवत् राजा। (४३) गर्भगत बालकवत् नवाभिषिक्त राजा। अश्ववत् दृढ़, राजा, ऐश्वर्यवान्, आशु-कारी। (४५) राजा का प्रजाओं के लिये कल्याणकारी, कृपालु होना। (४६) तेजस्वी राजा की विद्युत् वाले मेघ से तुलना। (४७) राजा

सेनापति और वीर सैनिकों की वायु और ओषधियों से तुलना । (४८) (४८) ओषधि और प्रजा । (४९) प्रजा गृहपत्नी । (५०–५१,५२) आपः, जलों, विद्वानों और स्त्रियों के कर्त्तव्य । (५३) प्रजाओं के आरोग्य के लिये उत्तम विद्वान् की नियुक्ति । (५४) सूर्यरश्मियों से वीर सैनिकों और विद्वानों की तुलना । (५५, ५६,) सिनीवाली, स्त्री, प्रकृति, राजसभा और ब्रह्मशक्ति । (५७) हांडी के तुल्य पृथ्वी । मानवों की उत्पत्ति की भूमि और स्त्री (५८) वसु, रुद्र, आदित्य विद्वानों, निवासियों, शासकों, और व्यापारियों के कर्त्तव्य । (५९) विदुषी माता । (६०) वसु आदि विद्वानों का कर्त्तव्य । (६१) राजसभा, राजा और सभापति और विदुषी माताओं का कर्त्तव्य । (६२) प्रजा, पृथिवी, और स्त्री का अधिकार । (६३) योग्य पति और राष्ट्र-पति । (६४) पृथ्वी और स्त्री । (६५) विद्वानों का कर्त्तव्य । (६६) आत्मिक शक्ति और उनके प्रयोग । (६७) ऐश्वर्य के निमित्त ईश्वर और राजा का आश्रय । (६८) पतिपत्नी और राजा प्रजा का कर्त्तव्य । (६९) पृथिवी, उखा और आसुरी माया, स्त्री और राष्ट्रप्रजा । (७०) वीर्यवान् और तेजस्वी पुरुष । (७१) स्वयंवर का सिद्धान्त, राजा का निर्बलों की रक्षा का कर्त्तव्य । (७२) अग्नि, पति और राजा । (७३) दूरस्थ शत्रुओं की विजय । (७४) तुल्य उपजापकारिणी संस्था वम्री । (७५) अश्व के तुल्य राजा का पोषण । (७६) वेदि में अग्नि के समान पृथ्वी पर राजा का स्थापन और वर्धन । (७७) राजा का आग्नेय रूप । (७८, ७९) दांतों और दाढ़ों के दृष्टान्त से दुष्टों का दमन । (८०) शत्रु–नाश । (८१) ब्राह्म बल, क्षात्र बल की वृद्धि । (८२) उससे शत्रुबल विनाश ।

द्वादशोऽध्यायः (पृ० ४६१–५३१)

(१-३) सूर्य के समान तेजस्वी राजा । (२) बालक और सूर्यव्रत

राजा का पोषण । (४) श्येन के दृष्टान्त से राजा और राष्ट्र के अंग-प्रत्यंग । (५) राजा के नाना अधिकार और कर्त्तव्य । मेघ के तुल्य राजा । (६) राजा, गृहपति की नाना समृद्धि । (८) पुनः ऐश्वर्यप्राप्ति । (६,१०) देशान्तरों से ऐश्वर्य-आहरण । (११) ध्रुव पद पर राजा । (१२) पाशमोचक वरुण, श्रेष्ठ अधिकारी राजा । (१३) सूर्यवत् राजा का अभ्युदय । १४) उसके नाना पद और आदर । (१५) पुत्र-वत् पृथिवी माता के प्रति राजा की स्थिति । (१५) शत्रुदमनकारी परंतप राजा । (१७) सर्व कल्याणकारी होने का उपदेश । (१८) विद्वान्, नायक और सूर्य । (१६) उसके तीन प्रकार के तेज । (२०,२१) सूर्य के समान, दाता, पालक, बलवान्, तेजस्वी राजा । (२४) अग्नि के समान राजा । (२५) सूर्य के समान राजा का वर्णन । (२६) सेना-पति और राजा का सम्बन्ध । (२७) शत्रु-उच्छेद के लिये सेनापति-स्थापन । (२८) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष । (२९,३०,३१) उसके गुण और कर्त्तव्य । (३२) शत्रु पर प्रयाण और राजा की रक्षा । (३३,३४) विजयी राजा का आदर । (३५) स्वयंवर के समान योग्य राजा का वरण, उसकी शक्तिवृद्धि, स्त्रियों कां गर्भ धारण का कर्त्तव्य । (३६) गर्भोत्पत्ति के समान राजोत्पत्ति । (३७,३८) जीवात्मा और राजा । (३९) बालक के समान माता पृथिवी पर राजा की स्थिति । (५०) समृद्धि प्राप्ति, विजय । (४२) निन्दा और स्तुति में राजा का कर्त्तव्य । ज्ञानी पुरुष का कर्त्तव्य । (४३) सत्यासत्य का निर्णय, न्यायकारिता । (४४) विद्वानों का पुनः शक्ति-उत्तेजन । (४५) चरों का नियोजन । विद्वानों का आदेश । (४७) आश्रितों के कर्त्तव्य (४८) मुख्य विद्वान् । (४८) ज्ञानवान् पुरुष सूर्य के समान सर्वद्रष्टा । (४९) ज्ञानी पुरुष का शिक्षाकार्य । (५०) विद्वानों का प्रेमयुक्त, द्रोहरहित होकर रहना । (५१) विद्वान् पुरुष और अध्यापक का कर्त्तव्य (५२) ऐश्वर्य वृद्धि । (५३) चेतना के समान राजसभा और स्त्री का वर्णन ।

(५४) राजसभा और स्त्री । (५५) सूर्य की रश्मियों से प्रजाओं और स्त्रियों की तुलना और उनके कर्त्तव्य । (५६) वेद वाणियों के समान प्रजाओं का राजा को बढ़ाना, समुद्र से राजा की तुलना, (५७) दम्पती और राजा प्रजा और मित्रों को प्रेम पूर्वक रहने का उपदेश । (५८,५९) पुरोहित, अधिपति का कर्त्तव्य । (६०) दम्पति, मित्रों और युगलों का कर्त्तव्य । (६१) उखा, पृथ्वी, प्रजापति के कर्त्तव्य, पक्षान्तर में सूर्य पृथिवी । (६५) डाकुओं की दमनकारिणी दण्ड शक्ति निऋ्रति । पत्नी और अविद्या । (६६) सूर्य के समान साक्षी राजा परमेश्वर । (६७-७२) योगाभ्यास और कृषि (७३) योगियों का इन्द्रियजय, पशुपालन । (७४) पति पत्नी आदि के तुल्य प्रेम वर्त्ताव । (७५) ओषधियों के १०७ धाम । मर्मों का ज्ञान । (७६) ओषधि; प्रजाएं और वीर सैनिक उनके गुण, उनके व्यवहार, प्राप्ति, वा कर्त्तव्य । (१०१) परमेश्वर और राजा । (१०३) पृथ्वी और स्त्री, कृषि एवं सन्तानोत्पत्ति । (१०४) तेज और वीर्य का धारण । (१०५) अन्न और ज्ञान से आपत्तियों का नाश, (१०६–७) तेजस्वी विद्वान् । अन्यों को तेज और ज्ञान का प्रदान । तेजस्वी की सूर्य से तुलना । (१०८) राजा प्रजा का परस्पर पोषण । (१०९) प्रजा की पशु सम्पदा से वृद्धि । (११०,११७) राजा विद्वान् और गृहपति के कर्त्तव्य ।

त्रयोदशोऽध्यायः (पृ० ५३२–५७३)

(१) उत्तम विद्वानों के अधीन राजा । (१,३) ब्रह्म शक्ति । (४) प्रजापति । (५) शरीर गत प्राणों में वीर्य के समान तेजस्वी राजा । (६,८) सर्पण स्वभाव दुष्टों के दमन में गुप्तचरों का नियोजन । (९) बल से दुष्टों का दमन और मातङ्गबल से प्रयाण । राज्यवृद्धि और शत्रु का तीव्रास्त्रों से नाश । (१०) वीर सैनिकों और तीव्र अश्वारोहियों से नाश का धावा, अशनि नामक अस्त्र । (११) प्रजा के कष्ट का श्रवण, राजा का दूत प्रेषण और प्रजापालन । (१२) प्रजा के व्यथादायी शत्रुओं पर

आक्रमण और उनका निर्मूलनाश । (१३) दिव्यास्त्रों का निर्माण, तथा शत्रुओं की रसद पर रोक । (१४) सूर्य के समान राजा का करग्रहण । (१५) सूर्य के समान सेनापति । (१६) पृथ्वी, राजशक्ति और स्त्री की सुरक्षा । (१७, १८) नौका के दृष्टान्त से प्रजा, पृथ्वी, और स्त्री । (१९) उनके रक्षक पति । (२०, २१) दूर्वा के दृष्टान्त से राजशक्ति, पक्षान्तर में स्त्री । (२२, २३) सूर्यवत् प्रजा का अभिलाषापूरक । (२४) तेजस्वी राजा और प्रजा । (२५) वसन्तवत् राजा । (२६) अषाढ़ा, सेना और पत्नी । (२७–२९) वायु जल, ओषधि, दिन, रात्रि भूमि, सूर्य, वृक्ष, गौ आदि समृद्धि के मधुर होने की प्रार्थना । (३०) राजा का कर्त्तव्य प्रजा को सुखी रखना । (३१) पूर्व के सज्जनों का मार्गानुसरण । (३२, ३३) समद्धि, की वृद्धि व्यापक शक्तिमान् राजा । (३४) पृथ्वी की सम्पदा-वृद्धि । गार्हस्थ का महत्त्व । (३५) प्रजापति । प्रजापति और पत्नी का एक अन्न, बल, तेज, यश, की वृद्धि करना । सम्राट् और स्वराट् । (३६) राजा और विद्वान् योगी का अश्वों, योग्य पुरुषों और प्राणों पर वश । (३७) अश्वों के समान योग्य पुरुषों (३८) वाणियों, नदियों आत्मा, अग्नि और ज्ञान-धाराओं की घृत धाराओं से तुलना । यज्ञ और अध्यात्म । (३९) उत्तम विद्वान् पुरुष की उत्तम उद्देश्यों के लिये नियुक्ति । (४०) पुरुष की सूर्य और स्वर्ण से तुलना । (४१) सूर्य और मुख्य शिरोमणि । (४२) उसका कर्त्तव्य । (४३) संवत्सर के तुल्य राजसभा, सदस्यों व सभापति के कर्त्तव्य । (४४) परमेश्वरी शक्ति का आदेश । (४५) विद्वान् ज्ञानी की रक्षा, परमेश्वर की पूजा । (४६) सूर्य के तुल्य नेता और परमेश्वर । (४७–५१) पशु, मनुष्य, अश्व गौ, आदि दुधार पशु, भेड़, बकरी की रक्षा और हिंसकों का नाश । (५२) प्रजा के कष्टों का श्रवण, उनका त्राण । (५३) नाना पदों पर योग्य नेता । (५४–५८) दिशा, प्राण और ऋतुभेद से राजा, आत्मा और सूर्य संवत्सर, बलों, विद्वानों और यज्ञांगों के अनुरूप राष्ट्रांग ।

चतुर्दशोऽध्यायः (पृष्ठ ५७४–६०५)

(१) उखा, पृथिवी, स्त्री (२) और प्रजा की शिक्षा। (३) सुख, रण विजय एवं प्रजापालनार्थ राजा की स्थापना। पति के कर्त्तव्य। (४) पतिपत्नी और राजा और प्रजा का आदान-प्रतिदान। (५) राजशक्ति और गृहपत्नी। (६) ग्रीष्म के समान राजा। (७) राजा और शासकों का प्राणों के दृष्टान्त से वर्णन। गृहस्थ का स्थान। (८–१०) प्राणादि पालन। (९) वयस् और छन्दस् का दृष्टान्तों से स्पष्टीकरण। (११) राजा, सेनापति पुरोहितों के कर्त्तव्य। (१२) राजा, विश्वकर्मा, पति। (१३) राजशक्ति के दिशा भेद से नाना रूप, स्त्री के नाना गुण। (१४) राजा, विश्वकर्मा और पति। (१५, १६) वर्षा, शरद् के तुल्य राजा। (१७) आयु प्राण आदि की रक्षा। (१६) मा, प्रमा आदि शक्तियां। (२०) अग्नि आदि देवता। (२१, २२) नियामक राजशक्ति। (२३) राजा के नाना रूप। (२४, २६) राष्ट्र की नाना समृद्धियां। (२७) हेमन्तवत्, राजा। (२८–३१) नानाप्रकार की ब्रह्मशक्ति, और राष्ट्र व्यवस्थाओं का देह की व्यवस्थानुसार वर्णन।

पञ्चदशोऽध्यायः (पृष्ठ ६०६–६३६)

(१, २) सेनापति और राजा के कर्त्तव्य। शत्रु-पराजय, प्रजा का शिक्षण। (३) सुव्यवस्थित राष्ट्र और उत्तम राजा (४, ५) ईश्वर और राजा के नाना सामर्थ्य। (६, ७) नाना ऐश्वर्यों और कर्त्तव्यों पर वश करने का उपदेश। (८, ९) 'प्रतिपद्' आदि पदाधिकार। (१०, ११) दिशा और ऋतु-भेद से सूर्यवत् राजा का प्रताप। (२०) शरीर में प्राणवत् राजा। (२१) अग्रणी, नायक, सेनापति। (२२) राजा की उत्पत्ति। (२३) उसका स्वरूप। सूर्य के समान परन्तप राजा। (२५) वन्दनीय परमेश्वर और स्तुत्य राजा। (२६)

दावानल के समान उग्र राजा। (२७) सदा जागरणशील तेजस्वी राजा। (२८) अग्नि के समान शक्तिपुञ्ज राजा। (२९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६) तेजस्वी पुरुष। (३७) शत्रुनाश। (३८) कल्याणकारी होने का उपदेश। (३९, ४०) संग्राम विजय। (४१, ४२) सर्वाश्रय सर्वशरण राजा। (४३) शक्तिमान् सर्वाह्लादक राजा। (४४) यज्ञ रूप, प्रजापति। (४५) रथी के समान राष्ट्रसञ्चालक राजा। (४६) सेनाओं के स्वामी को सुचित्त होने का उपदेश। (४७, ४८) देदीप्यमान अग्नि के समान राजा की तेजस्विता। (४९) सर्वोच्च पदपर ज्ञानी अग्रणी नेता। (५०) उत्तम नेता का अनुसरण (५१) न्यायकर्त्ता का पद और सत्य कर्त्तव्य। (५२) प्रमादरहित नायक। (५३) मर्यादाओं का निर्माण। राजा का उत्तम आश्रय। (५४) राज्य सम्पादन और उत्तम कर्म। (५५) उत्तम मार्ग से प्रजा और गृह का चलाना। (५६) ऐश्वर्य वृद्धि। (५७) शिशिर से राजा की तुलना। (५८) राजा प्रजा और स्त्री पुरुष का उत्तम सम्बन्ध। (५९-६१) राजा के कर्त्तव्य। (६२) वीर सेनापति की अश्व और अग्नि से तुलना। (६३) राजशक्ति। (६४) परमपद, और राजशक्ति और राष्ट्र। (६२) राजा का स्वरूप।

षोडशोऽध्यायः (पृ० ६४०–६७६)

रुद्राध्याय। (१) राजा रुद्र के मन्यु, इषु और बाहुओं को 'नमः, (२, ३, ४) रुद्र की शिव तनु, शान्तिकारिणी राज्यव्यवस्था। (५) भिषक् के समान राजा। (६) तेजस्वी राजा, सेनापति, अधीन रुद्र, उग्र शासक या सैनिक। (७) सेनापति आत्मा और ईश्वर। (८) नीलग्रीव, सहस्राक्ष, सेनापति और वीर योद्धा। (९) धनुष से बाण प्रक्षेप। (१०) वीर का सशस्त्र रूप। (११) शस्त्रों से रक्षा की प्रार्थना। (१२) राजा के कर्त्तव्य। (१३, १४) शक्तिशाली की शक्तियों का आदर (१५, १६) प्रजा की अभय प्रार्थना (१७, ४६)

नाना रुद्रों की नियुक्ति, मानपद, अधिकार, नियन्त्रण । (४७) सेनापति से प्रार्थना । (४८) उसके अधीन सुख से सम्पन्न होकर रहने की प्रार्थना । उसका सर्व दुःखहर रूप । (५०) राजा का प्रजा पर पहरा । (५२) प्रजा की पीड़ा का नाश । (५३) सेनापति के सहस्रों आयुध । (५४) असंख्य रुद्रों के बलों का विस्तार । (५४, ६३) नाना रुद्र अधिकारी । (६४, ६६) उनका अधिकार मान, आदर ॥

सप्तदशोऽध्यायः (पृ० ६७७-७५०)

(१०) वैश्यों का कर्त्तव्य । प्रजा के प्रति राजा का मान्य भाव । मरुद्गण अश्मा । (२) कोटि २ प्रजा, पशु, सम्पदाओं की वृद्धि । (३) राष्ट्र के घटक अंगरूप कामधेनु प्रजाएं । (४, ५) सैवाल के दृष्टान्त से राजा की रक्षाशक्ति । मंडूकी प्रजा, राजा का अवतरण, उसका कर्त्तव्य । (७) राजा के राष्ट्र में सेनाकटक (छावनी) की स्थापना । (८) तेज, प्रभाव से शासन । (९) राष्ट्र का धारण । (१०) प्रजा को ज्ञानवान् करना, शत्रु विजय द्वारा राष्ट्र वृद्धि । (११, १२) राजा के तेज, बल और प्रभाव का आदर । उच्च, मान, आदर प्रदान । (१३) विद्वानों का उपहार और वेतन । (१४) ब्रह्मज्ञानी विद्वानों का पवित्र रूप । (१५) राजा और विद्वान् । (१६) अग्नि के समान तीक्ष्ण राजा । (१७) मुख्य राजा का अधीनों के प्रति कर्त्तव्य । पक्षान्तर में परमेश्वर का वर्णन । (१८) राष्ट्र या साम्राज्य की उत्पत्ति सृष्टि-उत्पत्ति मीमांसा । (१९) विराट्, सम्राट् परमेश्वर का विराट् रूप । (२०) राजाप्रजा की उत्पत्ति । पक्षान्तर में द्यौ, पृथिवी की उत्पत्ति । (२१) विश्वकर्मा राजा का अवरों को पदाधिकार और परमेश्वर । (२२) शत्रु पक्ष को मोह में डालने वाली नीति से राज्य शासन का उपदेश । परमेश्वर की अद्वितीय व्यवस्था । (२३) सर्वपालक, कल्याणकृत् विश्वकर्मा और ईश्वर । (२४) राजा का सेनापति नियोजन । (२५) विद्वान् राजा का राजवर्ग

और प्रजावर्ग दोनों का शासन। पक्षान्तर में परमेश्वर का वर्णन और पक्षान्तर में विद्वान् को स्त्री पुरुष को सम्बन्धित करना। (२६) विश्वकर्मा, सबका पोषक राष्ट्रनिर्माता। सात प्राणों के समान सातों प्रकृतियों का नियामक। (२७) पिता आदि पदपर एवं शासकों का एक राजा, समस्त देवों का एक नामधा परमेश्वर, अध्यात्म में आत्मा। (२८) राजा के उत्तम राज्य में प्रजाओं की उन्नति। (२९) सर्वोत्कृष्ट पद। (३०) सर्ववशकर्त्ता केन्द्रस्थ राजा। (३१) अवर्णनीय राजा। (३२) राजा के चार रूप। (३३) राजा का उग्ररूप सेनापति इन्द्र। (२८-३३) परमेश्वर। (३४) सैनिकों का सेनापति के सहयोग में विजय। (३५) विजयी, वशी राष्ट्रपति। (३६) महारथी। (३७, ३९) शत्रु बल का ज्ञान करके शत्रु पर आक्रमण। (४०) व्यूह-व्यवस्था। (४१, ४२) विजय-घोष। (४३) वीरों को उत्तेजना। (४४, ४५) भयंकर सेना का शत्रु पीड़न। (४६) उग्र अजेय सैनिक। (४७) शत्रु पर भ्रमोत्पादक प्रयोग। (४८) शस्त्रों के गिरते हुए सेवासमितियों के कर्त्तव्य। (४९) वर्म, अन्न ओषधि से रक्षा। (५० ५१) सेनापति का राजा के प्रति और अधीनों के प्रति कर्त्तव्य। (५२, ५३) राजा का कर्त्तव्य। (५४) यज्ञपति, राष्ट्रपति की रक्षा। पक्षान्तर में स्त्रियों का कर्त्तव्य। (५५, ५६) यज्ञ और युद्ध की तुलना। (५७) तुरीय यज्ञ। (५८) राजा और रमेश्वर। (५९) सूर्य और पक्षान्तर में राजा। (६०) राजा गृहपति और योगी। (६१) राजा की स्तुति, ईश्वर की महिमा। (६२) नायक के कर्त्तव्य भरण और पालन। (६३, ६४) राजा के निग्रह और अनुग्रह के कर्त्तव्य। (६५, ६६) सूर्य और नायक। (६७) स्वर्ज्योति। मोक्षप्राप्ति। (६८) उत्तम सम्राज्य, पक्षान्तर में मोक्ष लोक (६९, ७०) राजा और उत्तम अध्यात्म ज्ञानी। (७१) सहस्राक्ष राजा और परमेश्वर। (७२) उत्तम पालक राजा, सुपर्ण और गरुत्मान्। (७३, ७४) राजसभा। (७५) सभा सद्धा-

लन। इश्वरोपासना। (७३, ७७) तेजस्वी सभापति विद्वानों से युक्त विचारसभा। (७८) विचारक सदस्य। गुरु-उपासना, सत्य ज्ञान प्राप्ति। (८०) विद्वानों का वर्णन। (८१) ऋत आदि सात प्रकार की विवेचना। (८२) मुख्य सात सेना-विभाग के नायक। (८४) सात पालक। (८५) प्रजा के साथ मुख्य अंग। (८६) दैवी प्रजा। (८७) सम्राट् पद की प्राप्ति और राष्ट्र। (८८) तेजस्वी राजा की मेघ से तुलना। (८९) राजा, मेघ, परमेश्वर और गृहपति के पक्ष में मधुमान् ऊर्मि। (९०) चतुरंग बल से युक्त सेनापति। चतुर्वेदवित् विद्वान्। (९१) राजा, यज्ञ, आत्मा, शब्द और परमेश्वर पक्षों में महान् देव। (९२) त्रिविध घृत का दोहन। (९३) घृत की धाराओं का अध्यात्म, राज्य और जलधाराओं के पक्षों में योजना। (९६) घृत-धाराओं की उत्तम स्त्रियों से तुलना। (९७) उनकी कन्याओं से तुलना। (९८) यज्ञ और राष्ट्र। राजा और ईश्वर पक्ष में उत्तम राष्ट्र सुख, परमानन्द की प्राप्ति॥

॥ ओ३म् ॥

यजुर्वेदसंहिता *

प्रथमोऽध्यायः

† प्रजापतिः परमेष्ठी प्राजापत्यः, देवा वा प्राजापत्या ऋषयः।

॥ ओ३म् ॥ [1]इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं [2]प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥ १ ॥

सविता देवता । (१) स्वराड् बृहती । मध्यमः (२) ब्राह्मी उष्णिक् । ऋषभः स्वरः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (इषे) अन्न, उत्तम वृष्टि आदि पदार्थों की प्राप्ति और (ऊर्जे) सर्वोत्तम, पुष्टिकारक रस प्राप्त करने के लिये (भागं) सर्वोपास्य (त्वा त्वा) तेरी उपासना करते, तेरा आश्रय लेते हैं। ये प्राण और प्राणिगण ! (वायवः स्थ) सब वायु रूप हैं, वायु द्वारा प्राण धारण करते हैं। (वः) उन सब का (सविता) उत्पादक परमेश्वर ही (देवः) परम देव, सब सुखों और पदार्थों का प्रकाशक और प्रदान करने वाला है। वह (श्रेष्ठतमाय) अत्यन्त श्रेष्ठ, सब से उत्तम (कर्म्मणे) कर्म, निःश्रेयस, मोक्ष प्राप्ति के लिये (प्र अर्पयतु) पहुंचावे, प्रेरित करे। और

*—इषेत्वादि खं ब्रह्मान्तं विवस्वानपश्यत इति सर्वानु० ।

†—परमेष्ठी प्राजापत्यो दर्शपूर्णमासमन्त्राणामृषिः । देवा वा प्राजापत्याः । शाखावायुरिन्द्रश्च देवताः । सर्वा० । परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः ।

(अघ्न्याः) कभी न मारने योग्य, इन्द्रियस्थ प्राण गण, एवं यज्ञयोग्य गौएं और पृथिवी आदि लोक सब (आप्यायध्वम्) खूब परिपुष्ट हों। तुम (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् पुरुष या राजा वा परमैश्वर्य प्राप्ति के लिये (भागं) सेवन करने या प्राप्त करने योग्य भाग हो। प्रजाएं वा गौ आदि पशु गण ! सब (प्रजावतीः) प्रजा, वत्स, पुत्र आदि सहित, (अनमीवाः) रोगरहित, (अयक्ष्माः) राजयक्ष्मा से रहित रहें। (वः) उन पर (स्तेनः) चोर, डाकू आदि दुष्ट पुरुष (मा ईशत) स्वामित्व प्राप्त न करे। (अघ-शंसः) पाप की चर्चा करने वाला, दूसरों को पाप, हिंसा आदि करने की प्रेरणा करने वाला नीच पुरुष भी (वः मा ईशत) उन पर स्वामी न रहे। वे सब (गोपतौ) गौ अर्थात् गौओं और भूमियों के पालक राजा और रक्षक पुरुष के अधीन (ध्रुवाः) स्थिररूप से (बह्वीः) बहुत संख्या में (स्यात) बनी रहें। हे विद्वान् पुरुष ! तू भी (यजमानस्य) यज्ञ करने हारे, दान देने वाले आत्मा, और यज्ञकर्त्ता श्रेष्ठ पुरुष के (पशून् पाहि) पशुओं की पालना कर। शत० १। ७। १। १-७॥

वसोः॑ प॒वित्र॑मसि॒ द्यौर॑सि पृथि॒व्य॒सि मा॒तरि॑श्वनो घ॒र्मो॒सि वि॒श्वधा॑ असि। प॒र॒मेण॒ धाम्ना॒ दृꣳह॑स्व॒ मा ह्वा॒र्मा ते॑ य॒ज्ञप॑ति॒र्ह्वार्षी॑त॥२॥

यज्ञो देवता। स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे यज्ञमय पुरुष ! परमेश्वर ! तू (वसोः) सब संसार को बसाने हारा, सब में व्यापक रूप से बसने वाला है। और श्रेष्ठ कर्म, यज्ञ का (पवित्रम्) पवित्र, परम पावन स्वरूप है। (द्यौः असि) तू द्यौः सब का प्रकाशक है और सब का आश्रय है, तू (पृथिवी असि) पृथिवी के समान महान्, विख्यात एवं सब का आश्रय होने से 'पृथिवी' है। तू

२—वसोर्वायव्यं। द्यौर्मातारिश्वन उखा। सर्वा०। 'विश्वधाः परमेण' इति काण्वपाठः।

(मातरिश्वनः) अन्तरिक्ष में निरन्तर गति करने वाले वायु का (घर्मः असि) शोधक, तापक वा संचालन करने वाला है और इसी कारण (विश्वधाः असि) समस्त प्राणियों का पोषक या धारण करने हारा है। तू (परमेण धाम्ना) परम, सर्वश्रेष्ठ धाम, तेज, धारण सामर्थ्य से (दृहस्व) बढ़, वृद्धि को प्राप्त है। हे परमात्मन् ! तू (मा ह्वाः) हमें कभी मत त्याग । (यज्ञपतिः) यज्ञ का पालक, स्वामी, यजमान पुरुष भी (ते) तुझ से कभी (मा ह्वार्षीत्) वियुक्त न हो ॥ शत० १। ७। १। ९-११ ॥

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् । देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः ॥ ३ ॥

सविता देवता । भुरिग् जगती । निषादः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (वसोः) सब को बसाने हारे और श्रेष्ठ कर्म और सब में बसने वाले वसु आत्मा के (पवित्रम्) परम पवित्र करने वाले और उसको (शत-धारम्) सैकड़ों प्रकार से धारण पोषण करने वाले हो। हे परमेश्वर ! आप (वसोः) सब को बसाने वाले श्रेष्ठ कर्म और सब में बसने वाले आत्मा का (सहस्र-धारम्) सहस्रों प्रकार से धारण करने वाले होकर उसको (पवित्रम्) पवित्र करने वाले (असि) हैं। हे पुरुष ! (सविता देवः) सर्वोत्पादक, सर्व-प्रेरक, सर्वप्रद परमेश्वर (त्वा) तुझ को (शत-धारेण) सैकड़ों धारण शक्ति से या धारण पोषण करने वाले समर्थ्य से युक्त (सु-प्वा) उत्तम रीति से पवित्र करने वाले (पवित्रेण) पावन सामर्थ्य से (पुनातु) पवित्र करे। [प्रश्न] हे पुरुष ! तू (काम्) किस १ वेदवाणी या ईश्वर की परम पावनी किस २ शक्ति का (अधुक्षः) गौ के समान पुष्टि-प्रद

३—वसोर्वायव्यम् । देवस्त्वा पयः । कामधुक्षः प्रश्नः । सर्वा० ।

ज्ञान, रस वा बल प्राप्त किया करता है ? शत० १ । ७ । १ । १४–१७ ॥

सा विश्वायुः सा विश्वकर्म्मा सा विश्वधायाः।
इन्द्रस्य त्वा भागᳬं सोमेनातनच्मि विष्णो हव्यᳬं रक्ष ॥४॥

विष्णुर्देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—'काम् अधुक्षः' इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। (सा) वह परमेश्वरी शक्ति जिसका प्रकाश वेद द्वारा हुआ है वह (विश्व-आयुः) समस्त संसार का जीवन रूप है। (सा) वह परमेश्वरी शक्ति (विश्व-कर्मा) विश्व को रचने वाली, सब का निर्माण करने वाली है। (सा) वह परमेश्वरी शक्ति (विश्व-धायाः) समस्त जगत् को अपना परम रस पान कराने और सब को धारण-पोषण करने होरी है। हे यज्ञमय ! (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के (भागम्) भजन करने योग्य, सेवनीय स्वरूप (त्वा) तुझ को (सोमेन) सोम, सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक आनन्द रस से (आतनच्मि) दृढ़ करता हूं। हे (विष्णो) सर्वव्यापक परमेश्वर ! आप (हव्यम्) इस आत्मा के ग्रहण करने योग्य विज्ञान और समर्पण करने योग्य आत्मा की (रक्ष) रक्षा करो। शत० १। ७ । १ । १७–२१ ॥

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ ५ ॥

अग्निर्देवता । आर्ची त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानोत्पादक ! अग्रणी ! सब के नेता परमेश्वर हे (व्रतपते) सब सत्यभाषणादि व्रतों, शुभकर्मों के पालक स्वामिन् ! मैं (व्रतम्) व्रत, पवित्र सत्यभाषण, सत्य कर्म, सत्य ज्ञान का (चरि-

---

४—सा विश्वायुस्त्रीणि गव्यानि । इन्द्रस्यैन्द्रम् । विष्णोः पयः । सर्वा० 'सोमेनातनच्मि' इति काण्व० ।

५—अग्न इदमाग्नेयं । सर्वा० ॥

ष्यामि) आचरण करूंगा । (तत्) उसको पालन करने में मैं (शकेयम्) समर्थ होऊं। (मे) मेरा (तत्) वह सत्य व्रताचरण (राध्यताम्) पूर्ण हो, सफल हो। मैं (इदम्) यह व्रत धारण करता हूँ कि (अहम्) मैं (अनृतात्) असत्य, मिथ्याभाषण, मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण से और ऋत अर्थात् सत्यमय वेद के विपरीत अनृत से दूर रह कर (सत्यम्) सत्य वेदों, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों, सृष्टि क्रम और विद्वानों के संग, विचार, आत्म शुद्धि से प्राप्त भ्रमरहित सम्यक् परीक्षित निश्चित तत्त्व को (उपैमि) प्राप्त होऊं ॥ शत० १ । १ । १ । ११ ॥

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्तु कस्मै त्वा युनक्तु तस्मै त्वा युनक्तु । कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ ६ ॥

प्रजापतिर्देवता । आर्ची पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—[प्रश्न] हे पुरुष ! तू जानता है कि (त्वा) तुझको कार्यों में (कः) कौन (युनक्ति) प्रेरित करता है ? [उत्तर] हे पुरुष ! (त्वा) तुझको (सः) वह परमेश्वर ही (युनक्ति) उत्तम कार्य और सन्मार्ग में प्रेरित करता है । [प्र०] (त्वा) तुझको वह परमेश्वर (कस्मै) किस प्रयोजन के लिये (युनक्ति) नियुक्त करता है ? [उ०] (त्वा) तुझको वह परमेश्वर (तस्मै) उस उस, उत्तम २ कार्य सम्पादन के लिये (युनक्ति) नियुक्त करता है । हे स्त्रीपुरुषो ! और गुरुशिष्यो ! वह परमेश्वर (वाम्) तुम दोनों को (कर्मणे) उत्तम कर्म करने के लिये प्रेरित करता है । और वह (वाम्) तुम दोनों को (वेषाय) सर्व शुभगुणों व विद्या के प्राप्त करने और पूर्ण जीवन प्राप्त करने के लिये या सर्वव्यापक परमात्मा को प्राप्त करने के लिये (युनक्ति) नियुक्त करता है ॥ शत० १ । १ । १ । ११–१२ ॥ १ । १ । २ । १ ॥

६—कस्त्वा प्राजापत्यम् । कर्मणे स्रुक् शूर्पम । सर्वा० ।

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ७ ॥

ब्रह्मघ्नो देवता । प्राजापत्या जगती । निषादः स्वरः ॥

भा०—(रक्षः) विघ्नकारी दुष्ट स्वभाव के पुरुष को (प्रत्युष्टम्) भली प्रकार जांच करके संतप्त करो । (अरातयः) दानशीलता से रहित परद्रव्यापहारी, निर्दयी पुरुषों को (प्रत्युष्टाः) ठीक २ विवेचन करके अपराध के अनुसार सन्तापित व दण्डित करना चाहिये । (रक्षः) विघ्नकारी दुष्ट पुरुष (निःतप्तम्) खूब तप्त हो । और (अरातयः) निर्दय शत्रु भी (निः-तप्ताः) खूब सन्तप्त हों । इस प्रकार पृथिवी रूप समस्त यज्ञवेदि को दुष्ट, विघ्नकारियों से रहित करके पुनः मैं (ऊरु) विस्तृत, महान् (अन्तरिक्षम्) सुखसाधनार्थ अन्तरिक्ष प्रदेश को भी (अनु एमि) अपने वश करूं; और दुष्टों का पीछा कर उनका नाश करूं ॥ शत० १ । १ । २ । २-४ ॥

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः । देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥ ८ ॥

अग्निर्देवता । अतिजगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! वीर पुरुष ! तथा हे परमात्मन् ! तू (धूः असि) समस्त शत्रुओं का विनाशक एवं शकट के धुरा के समान समस्त प्रजा के भार को उठाने में समर्थ है । तू (धूर्वन्तं) हिंसा करने हारे को (धूर्व) विनाश कर । और (तम्) उसको (धूर्व) मार, दण्ड दे (यः) जो (अस्मान्) हमें (धूर्वति) पीड़ित करता है । और (तं धूर्व) उसका

७—रक्षोघ्नं ब्रह्म देवता इति सायणः काण्वभाष्य । रक्षः, लिंगादन्तरिक्षं देवतेति अनन्त० । प्रत्युष्टं द्वे राक्षसं । उरु ब्रह्म रक्षोघ्नं सर्वत्रेति सर्वा० ।

८—धूरसि धूः । देवानां विष्णुस्त्वा अनः सर्वा० । '०धूर्व तं यं०' इति काण्व० ।

नाशकर (यम्) जिसको (वयम्) हम विद्वान् जन (धूर्वामः) विनाश करें। हे वीर पुरुष ! हे परमात्मन् ! (देवानाम्) देव, विद्वान् पुरुषों को (वन्हितमम्) सबसे उत्तम, वहन करने वाला, उनका भार शकट को बैल के समान अपने ऊपर उठाने वाला, (सस्नितमम्) अग्नि वा जलवत् राष्ट्र को मलिन स्वभाव के दुष्ट पुरुषों से शुद्ध करने हारा, (पप्रितमम्) सब का सर्वोत्तम पालन करने हारा, (जुष्टतमम्) सब का सर्वोत्कृष्ट प्रेमपात्र (देवहूतमम्) विद्वान् पुरुषों को सर्वोत्तम उपदेश करने हारा, सब को प्रेम से अपने प्रति बुलाने हारा वा सर्वस्तुत्य है। हम तेरी नित्य उपासना करें। शत० १।१।२।।१०-१२॥

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳ रक्षो यच्छन्तां पञ्च ॥९॥

विष्णुर्देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे यज्ञ ! प्रजापते ! तू (अह्रुतम्) कुटिलता से रहित (हविर्धानम्) अन्न और ज्ञान का आधार और उसका आश्रयस्थान है। हे यजमान ! यज्ञशील पुरुष ! तू (दृंहस्व) ऐसे यज्ञ को सदा बढ़ा। (मा ह्वाः) तू उसको त्याग मत कर। हे यज्ञ ! (ते) तेरा (यज्ञपतिः) यज्ञ पालक, स्वामी पुरुष (मा ह्वार्षीत्) तुझे कभी त्याग न करे। हे यज्ञ ! (त्वा) तुझे (विष्णुः) व्यापक सूर्य या परमेश्वर (क्रमताम्) शासन करता, तुझे रचता और तुझ पर अधिष्ठाता रूप से विद्यमान है। वह इस ब्रह्माण्ड रूप शकट या महान् यज्ञ में शासक है। वह ही (उरु वाताय) महान् जीवनप्रद वायु और प्राणियों के प्राण-समष्टि के सञ्चालन करने के लिये विद्यमान है। (रक्षः) जीवन के विघ्न करने हारा दुष्ट हिंसक (उपहतम्) मार दिया जाय। (पंच) पांचों अंगुलियां जिस प्रकार किसी पदार्थ को पकड़ती हैं उसी प्रकार पांचों जन यज्ञ में एकत्र होकर

९—उरुह्वाविष्याः। अपहत रक्षः। यच्छन्तां ह्वाविष्याः। सर्वा०।

(यच्छन्ताम्) दुष्टों का निग्रह करें और जीवनोपयोगी सुखों का संग्रह करें। लोग अन्नसम्पादक यज्ञ को बढ़ावें, उसको कभी न त्यागें। व्यापक सूर्य सर्वत्र फैले; जिससे खूब वायु बहे और रक्षोगण, जीवनाशक पदार्थ नष्ट हों और पांचों जन मिल कर उन राक्षसों का दमन करें। शत० १। १। २। १२-१२ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥ १० ॥

सविता देवताः। भुरिग् बृहती। मध्यमः ॥

भा०—जो अन्न आदि ग्राह्य पदार्थ हैं (त्वा) उसको (देवस्य) सर्वप्रदाता (सवितुः) सर्वप्रेरक, सर्व दिव्य पदार्थों के उत्पादक परमेश्वर या राजा के (प्रसवे) उत्पन्न किये इस संसार में या उसकी आज्ञा में रहकर (अश्विनोः बाहुभ्याम्) अश्वियों, स्त्री पुरुषों या यज्ञसम्पादक विद्वानों या सूर्य और चन्द्र की बाहुओं अर्थात् ग्रहण करने वाले सामर्थ्यों द्वारा और (पूष्णः) पुष्टिकारक प्राण के (हस्ताभ्याम्) ग्रहण और विसर्जन करने के सामर्थ्यों द्वारा (अग्नये जुष्टम्) अग्नि अर्थात् जाठर अग्नि के सेवन करने योग्य और (अग्नि-सोमाभ्याम्) अग्नि और सोम, अग्नि और जल इन द्वारा (जुष्टम्) सेवित, या सेवन करने योग्य सुपक्व अन्न को (गृह्णामि) ग्रहण करूं।

राजा के पक्ष में—अग्नि = राजा या क्षात्र बल और सोम = ब्राह्मण इन दोनों के अभिमत अन्न आदि पदार्थों को दो अश्वी अर्थात् स्त्री पुरुषों या राजा, ब्राह्मण विद्वानों के बाहुबल और पूषा अर्थात् पुष्टिकर भागधुक् नामक करसंग्राहक अधिकारी के हस्तों, ग्रहण करने के सामर्थ्यों द्वारा सर्वप्रेरक ईश्वर के राज्य में ग्रहण करूं ॥ शत० १। १। २। १७ ॥

१०—देवस्य त्वासावित्रम। अग्नयेलिंगोक्ते सर्वा०।

भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषं दृᳫंहन्तां दुर्याः पृथिव्या मुर्वन्तरिक्षमन्वेमि । पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या उपस्थे ऽग्ने हव्यᳫं रक्ष ॥ ११ ॥

अग्निर्देवता । स्वराड् जगती । निषादः ॥

भा०—हे अन्न या अग्ने ! या हे राजन् ! मैं (त्वा) तुझको (भूताय) उत्पन्न प्राणियों के हित के लिये उत्पन्न करता हूं । (अरातये न) दान न देने के लिये, या किसी श्रेष्ठ कार्य में व्यय न होने के लिये नहीं, या शत्रु के हित के लिये नहीं, प्रत्युत सबके कल्याण के लिये स्थापित करता हूँ । मैं पुरुष (स्वः) सुखकारक परमात्मा के परम तेज को (अभि विख्येषम्) निरन्तर देखूं । मेरे (दुर्याः) घर और घर के समस्त प्राणी (पृथिवीम्) पृथिवी पर (दृंहन्ताम्) सदा बढ़ें, उन्नति करें और मैं (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष में भी (अनु एमि) जाऊं और उस पर भी वश करूं । हे (अग्ने) सब के अग्रणी, ज्ञानप्रकाशक पुरुष ! (त्वा) तुझको राजा के समान (पृथिव्याः) पृथिवी, पृथिवीवासी पुरुषों के (नाभौ) केन्द्र में, मध्य में सबको व्यवस्थासूत्र में बांधने के कार्य में और (अदित्याः) इस अविनाशी, अखण्डित राजसत्ता या पृथिवी के (उपस्थे) पृष्ठ पर (सादयामि) स्थापित करता हूं । हे अग्ने पर-सन्तापक ! तू (हव्यम्) हव्य, देने और ग्रहण करने योग्य, एवं ज्ञान योग्य समस्त अन्न आदि पदार्थों की (रक्ष) रक्षा कर । शत० १ । १ । २ । २०—२३ ॥

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः । देवीरापो अग्रेगुवो अग्रेपुवोऽग्र इममद्य

११—भूतायत्वाहविः । स्वः सूर्यः । दृंहन्तां गृहाः । पृथिव्यास्त्वा हव्यम् । सर्वा० । 'रक्षस्व०' इति काण्व० ।

यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम् ॥ १२ ॥

आपः सविता च देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—(पवित्रे स्थः) सूर्य और जल दोनों पवित्र करने हारे, मल आदि के शोधक हैं। उसी प्रकार प्राण और उदान ! इस देह में पवित्र, गति करने वाले हैं। वे दोनों (वैष्णव्यौ) इस संसार और देहमय यज्ञ में वर्त्तमान रहते हैं। जल ! और प्राण उदान और व्यान तीनों ! (वः) इन को (सवितुः) समस्त दिव्य पदार्थों के उत्पादक प्रेरक सूर्य और समस्त इन्द्रियों के प्रेरक आत्मा के (प्रसवे) शासन या प्रेरक बल पर (अच्छिद्रेण) छिद्ररहित, (पवित्रेण) शोधन करने वाले, छाज से जैसे अन्न स्वच्छ किया जाता है उसी प्रकार (सूर्यस्य रश्मिभिः) निरन्तर पृथ्वी तल पर पड़ने वाली रश्मियों, किरणों द्वारा (उत् पुनामि) ऊपर ले जाकर मैं और भी पवित्र करता हूँ, शुद्ध करता हूँ। तब वे (आपः) जल (देवीः) दिव्यगुण युक्त होकर (अग्रेगुवः) अग्र अर्थात् समुद्र = अन्तरिक्ष में व्यापक और (अग्रेपुवः) अन्तरिक्ष या वातावरण को ही पवित्र करने वाले हो जाते हैं। पवित्र जल (अद्य) अब, सदा (इमम् यज्ञम्) उस महान् ईश्वरनिर्मित ब्रह्माण्डमय यज्ञ को (अग्रे नयत) सब से श्रेष्ठ पद पर प्राप्त कराते हैं। और (सु-धातुम्) समस्त संसार को भली प्रकार धारण करने वाले उस (यज्ञ-पतिम्) यज्ञ के स्वामी परमेश्वर और (देव-युवम्) दिव्य पृथिवी आदि पदार्थों को बनाने और रचने हारे (यज्ञ-पतिम्) यज्ञपति परमेश्वर को (अग्रे नयत) सबसे उत्तम पद पर स्थापित करते हैं।

राजा के पक्ष में—(पवित्रे स्थः) हे राजा और प्रजा ! तुम दोनों ही राष्ट्र को परिशोध करने हारे (वैष्णव्यौ) व्यापक राज्यव्यवस्था के अंग हो। मैं पुरोहित (वः सवितुः प्रसवे उत्पुनामि) तुम प्रजाजनों को प्रेरक

१२—पवित्रेलिंगोक्तं। सवितुर्देवीः प्रोक्षिता आपानि। सर्वा०।

राजा की प्रेरणा और शासन द्वारा उन्नत करता हूं। (अच्छिद्रेण पवित्रेण) बिना छिद्र के छाज से जैसे अन्न शुद्ध किया जाता है और (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की रश्मियों से जिस प्रकार जल और वायु शुद्ध होते हैं। उसी प्रकार (अच्छिद्रेण) त्रुटि रहित, बिना छल-छिद्र के पवित्र व्यवहार और सूर्य के समान कान्तिमान् प्रतापी राजा के रश्मि अर्थात् प्रजाओं को बांधने वाली व्यवस्थापक रासों से राष्ट्र को शुद्ध करूं। (देवीः आपः) दिव्य गुणयुक्त, विद्वान् आप्तपुरुष (अग्रे-गुवः) सब कामों में अगुआ हों और (अग्रेपुवः) आगे सब के मार्गदर्शक हों। हे (आपः) आप्त पुरुषो! आप लोग (अद्य इमं यज्ञं अग्रे नयत) अब इस परस्पर संगत सुव्यवस्थित राष्ट्र को आगे उन्नति के मार्ग पर ले चलो। (सु-धातुं देवयुवम् यज्ञपतिम् अग्रे नयत) राष्ट्र के उत्तम रूप से धारक, पालक, पोषक विद्वानों के प्रिय, यज्ञपति राष्ट्रपति को आगे ले चलो॥ शत० १। १। ३। १—७॥

[1]युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिता स्थ। [2]अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। [3]दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि॥ १३॥

(१) इन्द्रो देवता। निचृदुष्णिक्॥ ऋषभः। (२) अग्निः विराट् गायत्री। षड्जः। (३) यज्ञः भुरिग् उष्णिक्। ऋषभः।

भा०—हे प्रजा के आप्त पुरुषो! (युष्मा) तुम लोगों को (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा, सूर्य जिस प्रकार मेघ के साथ संग्राम करने और उसको छेदन-भेदन करने के अवसर पर ग्रहण करता है उसी प्रकार (वृत्रतूर्ये) राष्ट्र पर आवरण या घेरा डालने हारे शत्रु के वध करने के संग्राम-कार्य में (अवृणीत) वरण करता है। और (वृत्रतूर्ये) घेरा डालने वाले या

१३—अग्नये लिंगोक्ते। अग्नीषोमाभ्यां त्वा। दैव्याय पात्राणि। सर्वा०।

राष्ट्र की सुख-सम्पत्ति के वारक दुष्ट पुरुष के साथ होने वाले संग्राम में ही (यूयम्) तुम लोग भी (इन्द्रम्) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रतापी पुरुष को अपना नेता, स्वामी (अवृणीध्वम्) वरण किया करो। आप सब आप्त जन (प्रोक्षिताः स्थ) वीर्य और धन आदि द्वारा उत्सिक्त, सम्पन्न, विशेष रूप से दीक्षित, जल से स्वच्छ, अभिषिक्त या युद्ध में निष्णात होकर रहो।

(२) हे वीर पुरुष ! (अग्नये जुष्टम्) अग्रणी नेता के प्रेमपात्र (त्वा) तुझ को (प्रोक्षामि) अभिषिक्त करता हूँ, दीक्षित करता हूँ, (अग्निषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम, क्षत्रिय और ब्राह्मण या राजा और प्रजा दोनों के हित के लिये या दोनों के बलों से (जुष्टम्) सम्पन्न (त्वा) तुझ वीर, उत्तम पुरुष को (प्रोक्षामि) जलों द्वारा अभिषिक्त करता हूँ।

(३) हे (आपः) आप्त पुरुषो ! आप सब लोग मिलकर इस उत्तम पुरुष को (दैव्याय कर्मणे) देवों से या देव, राजा द्वारा सम्पादन करने योग्य कर्म, राज्यव्यवहार के लिए (शुन्धध्वम्) शुद्ध करें, नाना जलों से अभिषिक्त करें। और (देवयज्यायै) देवों, विद्वानों द्वारा परस्पर संगत होकर करने योग्य व्यवस्था कार्य के लिये तुझे अभिषिक्त करें। राजा प्रजा के प्रति कहता है—हे प्रजाजनो ! आप्त पुरुषो ! (यद्) यदि (वः) तुम में से जो कोई लोग (अशुद्धाः) मलिन, अशुद्ध, त्रुटिपूर्ण होकर (परा जघ्नुः) शत्रुओं से पराजित होकर पछाड़ खा गये हैं तो (इदम्) यह मैं इस प्रकार (वः) आप लोगों को (तम्) उस त्रुटि के दूर करने के लिये (शुन्धामि) विशुद्ध, त्रुटिरहित करता हूँ।

राजा प्रजा के आप्त पुरुषों को संग्राम के निमित्त वरे। प्रजाएं राजा को वरें। राजा प्रजा के निमित्त भरती हुए वीरपुरुषों को भी दीक्षित करें, राजा राज्यकार्य को देवकार्य या ईश्वरीय सेवा जानकर शुद्ध चित्त होकर अभिषिक्त हों। और राजा अपने समस्त कार्यकर्त्ताओं को त्रुटिरहित करे। शत० १।१।३।८।१२॥

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु । अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ १४ ॥

यज्ञो देवता । स्वराड् जगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! (शर्म असि) जिस प्रकार घर सुखदायी होता है उसी प्रकार तू प्रजा के लिये सुखप्रद है । (रक्षः) तेरे द्वारा ही विघ्न-कारी राक्षसों को (अवधूतम्) नीचे दबा कर नष्ट किया जाता है । (अरातयः अवधूताः) हमारे अधिकार और संपत्ति को हमें न देने हारे अदानशील, दुष्ट पुरुष भी मार दिये जाते हैं । तू सचमुच (आदित्याः) इस खअण्ड अविनश्वर, अदिति पृथिवी की (त्वक् असि) त्वचा के समान रक्षक है । अर्थात् जिस प्रकार त्वचा देह की रक्षा करती है उसी प्रकार बाह्य आघातों से तू पृथिवी निवासी प्रजा की रक्षा करता है । (त्वा) तुझ को (अदितिः) यह पृथिवी वासी प्रजाजन (प्रति वेत्तु) प्रत्यक्ष रूप में जानें । हे राजन् तू ! (वानस्पत्यः) वनस्पति के बने (अद्रिः) कभी भी न टूटने वाले मूसल के समान दृढ़ है । अथवा (वानस्पत्यः) वनस्पतियों का हितकारी जिस प्रकार मेघ बरसता है उसी प्रकार तू प्रजा के प्रति सुखों का वर्षक (अद्रिः) और अभेद्य रक्षक है । (ग्रावा असि) जिस प्रकार दृढ़ शिला अन्न आदि पदार्थों को चूरा २ कर देती है उसी प्रकार तू भी शत्रुओं को चकनाचूर कर देता है । तू (पृथु-बुध्नः) विशाल मूल वाला, दृढ़ आधार वाला है । (अदित्याः) अदिति, पृथिवी और उसके ऊपर बसने वाली प्रजा के (त्वक्) त्वचा के समान संवरणकारी रक्षक लोग भी (त्वा) तुझे (प्रति वेत्तु) प्रत्यक्ष रूप में जानें ॥ शत० १ । १ । ४-७ ।

१४—शर्मास्यादित्याः कृष्णाजिनम् । अवधूतं राक्षसम् । अद्रिर्ग्रावौलूखले । सर्वा० ॥

[1]अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व। [2]हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि ॥ १५ ॥

यज्ञो देवता (१) निचृत् जगती निषादः (२) याजुषी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे प्रजा के पालक ! यज्ञमय प्रजापते ! राजन् ! तू (अग्नेः तनूः असि) अग्नि का स्वरूप है। अग्नि के समान साक्षात् अग्रणी और दुष्टों का तापकारी है। (वाचः विसर्जनम्) वेद आदि वाणियों और स्तुतियुक्त वाणियों के त्याग करने, भेंट करने का स्थान है। (त्वा) तुझ को हम प्रजाजन (देव-वीतये) देव, विद्वानों वा शुभगुणों के रक्षा वा प्राप्ति के निमित्त (गृह्णामि) स्वीकार करते हैं। तू (वानस्पत्यः) वनस्पति अर्थात् काष्ठ के बने मूसल के समान शत्रुनाशक और (बृहद्ग्रावा असि) बड़े भारी पाषाण के समान शत्रु के दलन करने वाला है। (इदम्) यह (देवेभ्यः) देव विद्वान् पुरुषों के उपकार के लिये (हविः) ग्रहण करने योग्य अन्न या भोग्य पदार्थ है। (सः) वह तू राजा उसको (शमीष्व) शान्तिदायक रूप में तैयार कर। (सुशमि) उत्तम रीति से दुःखशमन करने के लिये (शमीष्व) उसको उत्तम रीति से तैयार कर। हे (हविष्कृत्) अन्न आदि पदार्थों के तैयार करने वाले सत्पुरुष ! तू (एहि) आ। हे (हविष्कृत् एहि) अन्न आदि पदार्थों को तैयार करने वाले पुरुष ! तू आ ॥ शत० १ । १ । ४ । ८–१३ ॥

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद त्वया वयꣳ संघातꣳ संघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतꣳ रक्षः परापूता अरातयोपहतꣳ रक्षो वायुर्वो विविनक्तु [2]देवो वः

१५—अग्ने हविः । बृहत्सद्दभूमौसले । हविष्कृदाधिदैवतवाम्जाधि यज्ञपत्नी । सर्वा० । ०'बृहन्ग्रावासि'०, '०शमि इव्यं शमीष्व०' इति काण्व० । यज्ञो देवता । द० ।

सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ॥ १६ ॥

वायुः सविता च देवते (१) ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः, (२) विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे वीर राजन् ! तू (कुक्कुटः) चोर डाकुओं को नाश करने वाला और (मधुजिह्वः) मधुर जिह्वा वाला अर्थात् मधुर वाणी बोलने हारा (असि) है । तू हमें (इषम्) अन्न आदि भोग्य पदार्थ या प्रेरक आज्ञा वचन, (ऊर्जम्) परम विद्यादि पराक्रम तथा अन्यान्य बलकारी पदार्थों को प्राप्त करने का (आ वद) उपदेश कर । लोगों को अन्नादि उत्पन्न करने की आज्ञा दे । (त्वया) तुझ वीर, अग्रणी राजा के द्वारा (वयम्) हम (संघातं संघातम्) शत्रुओं को मार मार कर (जेष्म) विजय करें । (वर्षवृद्धम् असि) जिस प्रकार सूप की सीकें वर्षा से बढ़ी होने के कारण वह सूप वर्षवृद्ध है, उसी प्रकार हे ज्ञानी पुरुष ! तू भी वर्षों में अधिक आयु होने से वर्षवृद्ध है । (वर्षवृद्धं त्वा) उस वर्षों में बूढ़े, दीर्घायु, एवं वृद्ध अनुभवी तुझ पुरुष को (प्रति वेत्तु) प्रत्येक पुरुष जाने । जिस प्रकार सूप अन्न को फटक कर भूसी को पृथक् कर देता है उसी प्रकार हे ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध तुझ पुरुष के विवेक और युक्ति द्वारा (रक्षः) प्रजा में विघ्नकारी दुष्ट पुरुष (पराभूतम्) पराजित और दूर हो, और (अरातयः) शत्रुगण भी (परापूताः) पछोड़ २ कर दूर कर दिये जांय । इस प्रकार (रक्षः) विघ्नकारी दुष्ट पुरुष जब (अपहतम्) ताड़ित हों तब (वायुः) वायु जिस प्रकार छाज से गिराये अन्न में से भूसी को दूर उड़ा देता है और अन्न पृथक् हो जाता है उसी प्रकार हे प्रजागण ! आप्त पुरुषो ! (वः) तुम्हारे बीच में (वायुः) व्यापक,

---

१६—वाक्, शूर्पं, हविः, रक्षः, तण्डुलाश्च देवताः सर्वा० । 'संवाते सघाते०', ०'प्रतिपूता अरातयः०' ।', ० प्रतिगृह्णातु हिरण्यपाणिरच्छिद्रेण 'पाणि' इति काण्व० ॥

ज्ञानी पुरुष ही (विविनक्तु) धर्म अधर्म और बुरे भले का विवेक करे। जिस प्रकार पुनः सुवर्णादि से धनाढ्य पुरुष द्रव्य देकर अन्न को हाथों से भर कर उठा लेता है उसी प्रकार (हिरण्य-पाणिः) सुवर्ण-कंकण को हाथ में धारण करने हारा, तेजस्वी (सविता देवः) तुम्हारा प्रेरक, सूर्य के समान उज्ज्वल, प्रतापी राजा (वः) तुम सब प्रजाजनों को (अच्छिद्रेण पाणिना) छिद्र रहित हाथों से, त्रुटिरहित साधन से (प्रति गृभ्णातु) स्वीकार करे. रक्षा करे ॥ शत० १ । १ । ३ । १८—२४ ॥

धृष्टिरस्यपाऽग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादꣳ सेधा देवयजं वह । ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय ॥ १७ ॥

अग्निर्देवता । ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे धनुर्विद्या में विद्वान् राजन् ! वीर पुरुष ! राष्ट्र में समीप समीप के नाना स्थानों में छावनियें बना कर बैठने हारे ! तू (धृष्टिः असि) शत्रु को घर्षण करने, उसको पराजित करने में समर्थ है । अतः हे अग्ने ! शत्रु संतापक राजन् ! तू अपने से विपरीत (आमादम्) कच्चे, अपरिपक्व आयु वाले जीवों को खाने वाले, या कच्चे मांसखोर, संतापक पुरुष को या रोगादि ज्वर को (जहि) विनाश कर । और (क्रव्यादम्) जो अग्नि, क्रव्याद्, क्रव्यमांस को खाय, वह चिता आदि की अग्नि अर्थात् मृत्युकारक कारण और उसके समान अन्य अमंगलकारी, प्रजाघातक विपत्तिकारी संतापक जन्तु को भी (निः षेध) दूर कर । (देवयजं) देव, विद्वानों और वायु और जल आदि को परस्पर संगत करके सुख वर्धन करने वाले विद्वान् पुरुष को (वह) राष्ट्र में ला, बसा । तू (ध्रुवम् असि) ध्रुव, स्थिर है, इस कारण तू (पृथिवीं दृंह) पृथिवी को दृढ़ कर, पालन कर । (ब्रह्मवनि)

१७—उपवेशोऽग्निः, कपालानि च देवताः । सर्वा० । ०'उपदधामि द्विषतो वधाय' इति काण्व० ।

ब्राह्मणों को वृत्ति देने वाले, (क्षत्रवनि) क्षत्रियों को वृत्ति देने वाले और (सजातवनि) अपने समान वीर्यवान् पुरुषों को भी वृत्ति देने वाले तुझ अखिल ऐश्वर्य के स्वामी पुरुष को (भ्रातृव्यस्य) शत्रु के (वधाय) वध करने के लिये (उप दधामि) स्थापित करता हूँ।

[1]अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षन्दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। [2]धर्त्रमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। [3]विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि चित स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् ॥ १८ ॥

अग्निर्देवता (१) ब्राह्मी उष्णिक्। ऋषभः। (२) आर्ची त्रिष्टुप् धैवतः (३) आर्ची पंक्तिः। पंचमः।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! शत्रुसंतापक और प्रजा के अग्रणी नेता ! राजन् ! तू (ब्रह्म) वेद और वेदज्ञ पुरुष, ब्राह्मणों को (गृभ्णीष्व) अपने आश्रय में ले। और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और अन्तरिक्ष में स्थित वायु आदि पदार्थों और उसमें विचरने वाले प्राणियों और उसकी विद्या के वेत्ता पुरुषों, अथवा अन्तरिक्ष के समान शासक श्रेणी के प्रजाजन को (दृंह) उन्नत कर। (ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवनि उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय) इत्यादि पूर्ववत् ॥ (धर्त्रम् असि) तू राष्ट्र के धारण करने में समर्थ है। तू (दिवम् दृंह) द्यौलोक, उसमें स्थित, प्राणियों, दिव्य शक्तियों और द्यौलोक के समान उच्च कोटि के प्रजाजनों को उन्नत कर, (ब्रह्मवनि त्वा० इत्यादि) पूर्ववत्। हे राजन् ! (त्वा) तुझे (विश्वाभ्यः आशाभ्यः) समस्त दिशाओं और उनके वासी प्रजाओं के लिये (उपदधामि) स्थापित करता हूँ। हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग भी (चितः स्थ) प्रजा को

१८—०'द्विषता वधाय०' इति काण्व०।

ज्ञान देने हारे और स्वयं ज्ञानवान् हैं। अतएव आप लोग (ऊर्ध्वचितः स्थ) सबसे ऊपर रहकर सबको ज्ञानवान् करने में कुशल हो। आप लोग (भृगूणाम्) पाप और पापियों को भून डालने वाले, (अंगिरसाम्) अङ्गारों के समान जाज्वल्यमान, तेजस्वी पुरुषों वा प्राणों के (तपसा) तपश्चर्या विद्या वा तेज से (तप्यध्वम्) स्वयं तप करो, दुष्टों को पीड़ित करो ॥ शत० १ । २ । ५ । १०-१३ ॥

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु। धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिवः स्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु ॥ १६ ॥

अग्निर्देवता । निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राजन्! (शर्म असि) तू समस्त प्रजा का दुःखनाशक और सुख-दायक शरण है। (अवधूतं रक्षः) तेरे द्वारा राष्ट्र के विघ्नकारी राक्षसगण मार भगाये जांय। (अरातयः अवधूताः) शत्रुगण भी पछाड़े जांय। तू (अदित्याः) अखण्ड पृथिवी का (त्वक् असि) त्वचा वा ढाल के समान उसकी रक्षा करने हारा है। (त्वा) तुझे (अदितिः) यह समस्त पृथिवी (प्रति-वेत्तु) प्रत्यक्षरूप में अपना स्वामी स्वीकार करे। हे वेदवाणि ! या हे सेने ! तू (पर्वती) पालन करने के बल और ज्ञान से युक्त, (धिषणा) शत्रुओं का धर्षण और प्रजा को धारण करने में समर्थ (असि) है। (अदित्याः त्वक्) अदिति, पृथिवी की त्वचा, उसको संवरण, पालन करने वाली प्रभुशक्ति (त्वा प्रतिवेत्तु) तुझे प्राप्त करे और स्वीकार करे। हे प्रभुशक्ते! तू (दिवः स्कम्भनीः असि) द्यौलोक के समान प्रकाशवान् या सूर्य के समान प्रकाश युक्त तेजस्वी विद्वानों का आश्रयभूत (असि) है। तू भी (पार्व-तेयी) मेघ की कन्या बिजुली के समान अति बलवती या मेघ से उत्पन्न

१६—दृषद् शम्या, उपलाश्च सर्वा० ॥ 'दिवस्कम्भन्यसि' इति काण्व० ।

वृष्टि के समान सब का पालन करने वाली, सब सुखों की वर्षक, उत्तम फल प्राप्त कराने हारी है। (पर्वती) उत्तम फलदात्री पूर्वोक्त सेना (त्वा प्रतिवेत्तु) तुझे प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करे, स्वीकार करे ॥ शत० १।२। ५। १४-१७ ॥

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोऽसि ॥ २० ॥

सविता देवता। विराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—अन्न और घृत की उपमा से राज्यशक्ति का वर्णन करते हैं—(धान्यम् असि) हे राजन्! जिस प्रकार अन्न समस्त प्रजाओं का धारण पोषण करता है उसी प्रकार तू भी प्रजा को धारण पोषण करता है। इस लिये (देवान् धिनुहि) जिस प्रकार अन्न शरीर के प्राणों को तृप्त करता है इसी प्रकार तू देव अर्थात् शिल्पी, विद्वानों और सत्तावान् राजपुरुषों को तृप्त, प्रसन्न कर। (प्राणाय त्वा, उदानाय त्वा, व्यानाय त्वा) जिस प्रकार अन्न को प्राण शक्ति, उदान शक्ति और व्यान शक्ति की वृद्धि के लिये खाते हैं उसी प्रकार हे राजन्! तुझ को प्राण अर्थात् राष्ट्र के जीवन-धारण के हेतु, बल की प्राप्ति, उदान अर्थात् आक्रमण, चढ़ाई और पराक्रम के लिए और व्यान अर्थात् समस्त राष्ट्र में शुभ, अशुभ कर्मों और विद्याओं के फैलाने के लिए, और (दीर्घाम् प्रसितिम् अनु आयुषे धाम्) जिस प्रकार दीर्घ, विस्तृत. उत्तम कर्म-संतति के अनुकूल, उत्तम कर्म-बन्धन के अनुरूप, दीर्घ जीवन के लिये अन्न को खाते हैं उसी प्रकार हे राजन्! तुझको भी हम (दीर्घाम्) दीर्घ, अति विस्तृत (प्रसितिम्) उत्कृष्ट रूप

२०—हविराज्यञ्च। सर्वा०। '०देवान् धिनुहि यज्ञपति' धिनुहिमा यज्ञन्या प्राणाय०। प्रतिगृह्णात हिरण्यपाणिरच्छिद्रेण० इति काण्व०।

से प्रबन्ध करने वाली राज्य-व्यवस्था के (अनु) प्रति लक्ष्य करके राष्ट्र के (आयुषे) दीर्घ जीवन के लिए तुझ को राष्ट्रपति के पद पर हम स्थापित करते हैं। जिस प्रकार अन्नों को (हिरण्यपाणिः सविता देवः) सुवर्ण आदि धन को हाथ में लेने वाला धनाढ्य पुरुष (अच्छिद्रेण पाणिना) विना छिद्र के हाथ से अन्न को स्वीकार कर लेता है, संग्रह करता है, उसी प्रकार हे प्रजाजनो ! (वः) तुम्हारा (सविता) उत्पादक और प्रेरक शासक (हिरण्यपाणिः) सुवर्ण कंकण को हाथ में रखने वाला, सुवर्णालंकृत , धनैश्वर्यसम्पन्न राजा वा मोक्ष सुख का दाता ईश्वर तुमको (अच्छिद्रेण) छिद्ररहित, त्रुटिरहित, पूर्ण बलयुक्त (पाणिना) पाणि = हाथ से या सत्य व्यवहार से (प्रतिगृभ्णातु) स्वीकार करे, तुम्हें अपनावे और तुम्हारी रक्षा करे। और हे राजन ! जिस प्रकार अन्न को स्थिर जीवन धारण करने और चक्षु आदि इन्द्रियों को नित्य चेतन रखने के लिये स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार हम प्रजाजन (त्वा) तुझ को (चक्षुषे) प्रजा के समस्त व्यवहारों को देखने के लिये, निरीक्षक रूप से प्रजा में विवेक बनाये रखने के लिए नियुक्त करते हैं। और हे राजन् ! जिस प्रकार (महीनाम् पयः असि) घृत, गौवों के दुग्धों का भी पुष्टिकारक अंश है उसी प्रकार तू (महीनां) बड़ी शक्तिशालिनी, विशाल प्रजाओं का (पयः असि) पुष्टिकारक, स्वतः वीर्यमय अंश है ॥ शत० १। २। ४। १८–२२ ॥

[१]देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। [२]सं व॑पामि॒ समाप॒ऽओष॑धीभिः॒ समोष॑धयो॒ रसे॑न। सꣳ रे॒वती॒र्जग॑तीभिः पृच्यन्ता॒ꣳ सं मधु॑मती॒र्मधु॑मतीभिः पृच्यन्ताम् ॥२१॥

यज्ञो देवता। (१) गायत्री। ऋषभः। (२) विराट् पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—(देवस्य) देव (सवितुः) सर्वोत्पादक ईश्वर के (प्रसवे)

२१—हविरापश्चदेवताः। सर्वा०। 'जगतीभिः सं मधुमतीः०' इति काण्व०।

शासन में या उसके बनाये संसार में (अश्विनोः बाहुभ्याम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय या प्रजा और राजा की बाहुओं से और (पूष्णः) पुष्टिकारक, सर्व-पोषक वैश्यगण के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (त्वा) तुझको (सं वपामि) स्थापित करता हूं। राष्ट्ररूप यज्ञ में (आपः ओषधीभिः सम् पृच्यन्ताम्) जल जिस प्रकार ओषधियों से मिलाये जाते हैं उसी प्रकार दोषों के नाश करने वाले विद्वान् सदाचारी (आपः) आप्त, सत्य व्यवहार युक्त प्रजा-जन (सम् पृच्यन्ताम्) मिलें। (ओषधयः) ओषधियें जिस प्रकार (रसेन सम् पृच्यन्ताम्) वीर्यवान्, उत्तम रस से युक्त हों उसी प्रकार दोष दूर करने वाले पुरुष साररूप बल से युक्त किये जायें। (जगती-भिः रेवतीः सम्) और जिस प्रकार जगती अर्थात् ओषधियों के साथ रेवती अर्थात् शुद्ध जल मिल कर विशेष गुणकारी हो जाते हैं उसी प्रकार (जगतीभिः) निरन्तर गमन करने वाले, दूरगामी रथ आदि साधनों के साथ (रेवतीः) धनैश्वर्य सम्पन्न प्रजायें युक्त होकर रहें। वे यानों द्वारा बराबर व्यापार करें। और (मधुमतीः मधुमतीभिः सं पृच्यन्ताम्) जिस प्रकार मधुर रस वाली ओषधियां मधुर रस वाली ओषधियों से मिला दी जाती हैं उसी प्रकार (मधुमतीः) मधु = ज्ञान से समृद्ध प्रजायें मधु अर्थात् अध्यात्म आनन्द से सम्पन्न तत्व-ज्ञानी पुरुषों से मिलें और आनन्द लाभ करें॥ शत० १।२।३।२-९॥

इसी मंत्र में परस्पर विवाह सम्बन्ध करने के निमित्त भी प्रजाओं में गुणवान् पुरुष अपने समान गुण की स्त्रियों से सम्बन्ध करके उत्तम पुत्र लाभ करें, इसका भी उपदेश किया गया है। इसका सम्बन्ध आगे दर्शावेंगे।

[1]जन॑यत्यै त्वा सं यौमी॒दम॒ग्नेरि॒दम॒ग्नीषोम॑योरि॒षे त्वा॑ घ॒र्मो॑ऽसि वि॒श्वायु॑रु॒रुप्र॑था उ॒रु प्र॑थस्वो॒रु ते॑ य॒ज्ञप॑तिः प्रथताम् [2]अ॒ग्निष्टे

त्वचं मा हिंसीद् देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके ॥२२॥

(१) यज्ञो देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) प्रजापतिसवितारौ । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे यज्ञरूप प्रजापते ! पुरुष ! (त्वा) तुझको (जनयत्यै) नाना प्रकार के ऐश्वर्य और पुत्र आदि उत्पादन करने में समर्थ पृथ्वीरूप स्त्री के साथ (सं यौमि) मिलाता हूँ । गृहस्थ बन जाने पर दोनों का भोग्य सम्पत्ति में भाग है । उसमें से (इदम्) यह भाग (अग्नीषोमयोः) अग्नि और सोम, पुरुष और स्त्री दोनों का है । हे पुरुष ! तुझको (इषे त्वा) इच्छानुरूप वीर्य और अन्न आदि समृद्धि प्राप्त करने के लिए नियुक्त करता हूँ । हे पुरुष ! तू (घर्मः असि) तेजस्वी, वीर्य सेचन में समर्थ, साक्षात् यज्ञरूप प्रजापति है । तू (विश्वायुः) समस्त प्राणियों की आयु रूप या पूर्णायु हो । तू (उरुप्रथाः) बहुत विस्तृत होने में समर्थ हो । अतः (उरु प्रथस्व) खूब अधिक विस्तृत हो । अर्थात् हे गृहस्थरूप यज्ञ ! (ते यज्ञपतिः प्रथताम्) तेरा यज्ञपति, स्वामी, गृहस्थ पुरुष प्रजा द्वारा खूब फले । हे स्त्री ! (ते त्वचम्) तेरे शरीर के अंगों को (अग्निः) तेरा अग्रणी, पति, स्वामी (मा हिंसीत्) विनाश न करे, तुझे कष्ट न दे । (सविता देवः) प्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझे (वर्षिष्ठे) अति सम्पन्न (नाके) सुखमय लोक, गृह में (श्रपयतु) परिपक्व करे ॥ शत० १।२।६।३-४॥

उसी प्रकार यह मन्त्र यज्ञपति राजा और पृथिवी और राज्यलक्ष्मी के पक्ष में भी स्पष्ट है ।

मा भेर्मा संविक्था ऽअतमेरुर्युज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् त्रितायं त्वा द्वितायं त्वैकतायं त्वा ॥ २३ ॥

अग्निर्देवता । बृहती । मध्यमः ॥

२२—हविः, आज्यम्, पुरोडाशश्च दे० । सर्वा० । 'मा हिंसीदन्तरिक्षं रक्षोऽन्तरिता अरातयः । त्वा०' इति काण्व० ॥ २३—पुरोडाशः, त्रितद्वितैकता दे० । सर्वा० ॥

भा०—हे पुरुष ! (मा भेः) तू मत डर । (मा संविक्थाः) तू उद्विग्न मत हो । (यज्ञः) गृहस्थ रूप यज्ञ (अतमेरुः) सदा ग्लानिरहित, अनथक, सदा बलवान् रहे । और (यजमानस्य) यज्ञशील पुरुष की (प्रजा) प्रजा, सन्तान भी (अतमेरुः) कभी ग्लानियुक्त, मलिन, निर्बल न (भूयात्) हो । हे गृहपते ! (त्वा) तुझको मैं (त्रिताय) तीन वेदों में पारंगत और (द्विताय) दो वेदों में पारंगत और (एकताय) एक वेद में पारंगत पुरुष के लिए (संयौमि) नियुक्त करता हूँ अथवा त्रित = माता पिता और गुरु के निमित्त, द्वित = माता पिता और एकत = केवल परमात्मा की सेवा में नियुक्त करता हूँ । राजा को भी ऐसा ही उपदेश है । तू भय मत कर, उद्विग्न मत हो । राष्ट्रमय यज्ञ ग्लानिरहित हो । राजा, प्रजा ग्लानिरहित, सदा प्रसन्न रहें । त्रित अर्थात् शत्रु, मित्र और उदासीन तीनों के लिए, द्वित अर्थात् सन्धि, विग्रह और एकत अर्थात् एक चक्रवर्ती राज्य के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ । अथवा प्रजा में विद्यमान, त्रित अर्थात् उत्तम, मध्यम, अधम या तीन वर्ण के लिए द्वित अर्थात् स्त्री पुरुष, पति पत्नी, एकत अर्थात् एकान्त सेवी मोक्षार्थी लोगों के हित के लिए नियुक्त करता हूँ ॥ शत० १ । २ । ७ । १–५ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः । सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः ॥ २४ ॥

द्यौर्विद्युच्च देवते । स्वराड् ब्राह्मी पङ्क्तिः । पंचमः ॥

भा०—(देवस्य त्वा इत्यादि) पूर्ववत् [१ । २१] हे शस्त्र ! राजा प्रजा की बाहुवत् वीर पुरुष । पोषक राजा के हाथों वा सर्वप्रेरक सविता राजा के (प्रसवे) शासन में (आददे) तुझ को मैं ग्रहण करता

२४—सविता स्फ्यश्च देवता । सर्वा० ॥

हूँ। तू (देवेभ्यः) देव या विद्वानों के निमित्त (अध्वरकृतम्) राष्ट्रयज्ञ के सम्पादन के लिए या पराजित न होने के लिए ही बनाया गया है। तू (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् राजा का (दक्षिणः बाहुः असि) दायां हाथ है अर्थात् दायें हाथ के समान सबसे बड़ा सहायक है। विद्युत् का घोर अस्त्र ! (सहस्रभृष्टिः) हज़ारों को भून डालने में समर्थ है। (शततेजाः) सैकड़ों तेज और ज्वालाओं से दीप्त होता है। (वायुः असि) वायु के समान दूर तक फैलनेवाला, (तिग्मतेजाः) सूर्य के समान तीक्ष्ण, तेजस्वी और (द्विषतः वधः) शत्रु का नाश करने वाला परम हथियार है।

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलम्मा हिꣳसिषं व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २५ ॥

सविता देवता । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे पृथिवि ! हे (देवयजनि) देवगण, पृथिवी, तेज, वायु आदि के परस्पर संगत होने के आश्रयभूत ! एवं देव, विद्वानों और राजाओं के यज्ञ की स्थलि ! मैं (ते) तेरे ऊपर बसी (ओषध्याः) यव आदि ओषधियों के (मूलम्) वृद्धि के कारण रूप मूल को (मा हिंसिषम्) विनाश न करूं। इसी प्रकार (ओषध्याः मूलम्) ओषधिरूप प्रजा के मूल का नाश न करूं। हे पुरुष ! तू (गोष्ठानम्) गो-स्थान अर्थात् गौ आदि पशुओं के स्थान और (व्रजं) सत्पुरुषों के गमन करने के निवासस्थान को (गच्छ) प्राप्त हो अर्थात् पशुपालन के कार्य में लग, अथवा (व्रजं गच्छ) सज्जनों के जाने के योग्य मार्ग जा और (गोष्ठानं गच्छ) गो-लोक, भूलोक, वाणी के स्थान, अध्ययनाध्यापन आदि के कार्यों में लग। हे पृथिवि ! (ते)

२५—वेदिः पुरीषं । सर्वा० ॥ 'पृथिव्यै वमासि पृथिविदेवयजन्या०' इति काण्व०।

तेरे ऊपर (द्यौः) आकाश या द्यौलोक सूर्य प्रकाश से मेघ आदि (वर्षतु) निरन्तर उचित काल में वर्षा करे । हे (देव सवितः) सर्वप्रजापालक, शासक राजन् ! (परमस्यां पृथिव्याम्) परम, सर्वोत्कृष्ट पृथिवी में भी (यः) जो दुष्ट पुरुष (अस्मान् द्वेष्टि) हम से द्वेष करता है और (यं च) जिसके प्रति (वयम्) हम भी (द्विष्मः) द्वेष करते हैं, उस शत्रु को (शतेन पाशैः) सैकड़ों पाशों से (बधान) बाँध । (अतः) इस बंधन से (तम्) उसको (मा मौक्) कभी मत छोड़ । शत० १ । २ । २ । १६ ॥ परस्पर पृथिवी निवासी प्रजा का नाश न करें ॥ लोग कृषि और गोपालन करें । राजा दुष्टों का नाश करे, उनको क़ैद करे ।

[1]अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳬं शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् । [2]अररो दिवं मा पप्तो द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳬं शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २६ ॥

सविता देवता । (१) स्वराड् ब्राह्मी पंक्तिः, (२) भुरिक् ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(पृथिव्यै) इस पृथिवी वा पृथिवीवासिनी प्रजा के हित के लिये (अररुम्) दुष्ट, हिंसकस्वभाव शत्रु को (देवयजनात्) देव विद्वानों के यज्ञस्थान से (अप वध्यासम्) मैं क्षत्रिय पुरुष दूर मार भगाऊं । (व्रजं गच्छ० इत्यादि) पूर्ववत् । हे (अररो) प्रजापीड़क असुर पुरुष ! तू (दिवं) द्यौलोक, स्वर्ग या सुख को (मा पप्तः) मत प्राप्त कर । हे पृथिवि ! (ते) तेरा (द्रप्सः) उत्तम रस (द्याम्) आकाश की तरफ़

२६—असुरो वेदिश्च दे० । सर्वा० ।। 'अपाररुं वध्यासं पृथिव्यै देवयजनात् । व्रजं०' इति काण्व० ।

(मा स्कन्) मत जावे, शुष्क न हो। (व्रजं गोष्ठानं गच्छ०) पूर्ववत् ॥

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च २७

यज्ञो देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः स्वरः॥

भा०—हे यज्ञमय प्रजासंघ ! (त्वा) तुझ को (गायत्रेण छंदसा) गायत्री छन्द से अर्थात् ब्राह्मणों के ज्ञानकार्य से मैं (परिगृह्णामि) स्वीकार करूं, तुझे अपनाऊं। (त्वा) तुझ को (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप् छन्द से अर्थात् क्षत्रियों के क्षात्रकर्म से (परिगृह्णामि) स्वीकार करता हूं और (जागतेन छन्दसा) जगती छन्दसे अर्थात् वैश्य कर्म, व्यापार से (परिगृह्णामि) स्वीकार करता हूं, अपनाता हूँ। अर्थात् राजा को पृथ्वी के पालन रूप राष्ट्रमय यज्ञ-कार्य के लिये विद्वान् लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्गों के पुरुष प्रसन्नतापूर्वक अपना राजा स्वीकार करें। हे पृथिवी ! तू (सु-क्ष्मा च असि) उत्तम भूमि है। (शिवा च असि) कल्याणकारिणी, सुखकारिणी है। (स्योना च असि) तू सुखदायिनी है। (सु-सदा च असि) तू सुखपूर्वक बसने और बैठने योग्य है। (ऊर्जस्वती च असि) तू उत्तम अन्न रस से युक्त है। और तू (पयस्वती च)दूध और घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थों से युक्त है॥ शत० ९।१.३। ६—११॥

गायत्रच्छन्दा वै ब्राह्मणः। तै० १। १९। ६॥ ब्रह्म गायत्री। क्षत्रं त्रिष्टुप्। शत० १। ३। ५। ५॥ त्रैष्टुभो वै राजन्यः। ऐ० १। २८। ८। २॥ त्रिष्टुप्-छन्दा वै राजन्यः। तै० १। १। ९। ६॥ क्षत्रं त्रिष्टुप्। कौ० ३। ५॥ जागतो वै वैश्यः, ऐ० १। २८॥ जागताः पशवः। कौ ३०। १॥ जगतीछन्दा वै वैश्यः। तै० १। १। ९। ९॥

२७—विष्णुर्वेदिश्च देवते। सर्वा०।

इसके अतिरिक्त अध्यात्म में विष्णु रूप प्रजापति की उपासना के लिये उसके विराट् शरीर के तीन भाग करने चाहियें। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ। वे क्रम से गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्द नाम से कही जाती हैं।

या वै सा गायत्र्यासीदियं वै सा पृथिवी। श० १।४।१।३४॥ गायत्रोऽयं भूलोकः॥ कौ० ८।९॥ त्रैष्टुभमन्तरिक्षम्। श० ८।३।४।३१॥ जागतोऽसौ द्युलोकः। कौ० ८।९॥

आधिदैविक पक्ष में—गायत्रं वा अग्नेश्छन्दः। का० १।३।५।४॥ त्रैष्टुभो हि वायुः। श० ८।७।३।१२॥ जगती छन्द आदित्यो देवता। श० १०।३।२।६॥ जागतो वा एष य एष तपति। कौ० २५।४॥

अध्यात्मिक पक्ष में—इस शरीर के शिर, उरस् और जघन भाग उक्त तीन छन्द हैं। गायत्रं हि शिरः। श० ८।६।२।६॥ उरस्त्रिष्टुप्। श० २।३॥ श्रोणी जगत्यः। श० ८।६।२।८॥

विद्वत्पक्ष में—वसु, रुद्र और आदित्य रूप तीन छन्द हैं। गायत्री वसूनां पत्नी। गो० ३।२।९॥ त्रिष्टुब् रुद्राणां पत्नी। गो० ३०।२।९॥ जगत्यादित्यानां पत्नी। गो० उ०।२।९॥

शरीर में प्राण, अपान, व्यान तीन छन्द हैं। गायत्री वै प्राणः। श० १।३।५।१५॥ अपानस्त्रिष्टुप्। तां० ७।३।८॥ अयमवाङ् प्राण एष जगती। श० १०।३।९।९॥ प्रजननसंहिता में वीर्य, प्रजनन, स्त्रीप्रजनन ये तीन छन्द हैं। इत्यादि समस्त प्रकरणों में परमेश्वर, पुरुष, राजा, राष्ट्र, समाज, अधिभौतिक अन्नोत्पत्ति आदि सब यज्ञ शब्द से लिये जाते हैं। पृथिवी शब्द से पृथिवी, प्रजा, स्त्री, प्रकृति, चिति आदि पदार्थ लिये जाते हैं। इति दिक्॥

पुरा क्रूरस्य विसृपो विराप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्।

यामैरयँश्चन्द्रमासि स्वधाभिस्तामु धीरासो ऽअनुदिश्य यजन्ते। प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोऽसि ॥ २८ ॥

अवशंम ऋषिः । यज्ञो देवता । विराड् ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (विरप्शिन्) महापुरुष ! (क्रूरस्य) घोर (विसृपः) योद्धाओं की नाना चालों से युक्त युद्ध के (पुरा) पूर्व ही (जीवदानुम्) समस्त प्राणियों को जीवन प्रदान करने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी और पृथिवी निवासिनी प्रजा को (उद् आदाय) उठाकर, उन्नत करके (याम्) जिसको समस्त (धीरासः) धीर, बुद्धिमान् पुरुष (स्वधाभिः) स्वयं अपने श्रम से धारण उत्पादन करने योग्य या स्व अर्थात् आत्मा, शरीर को धारण पोषण करने में समर्थ अन्नों द्वारा (चन्द्रमसि) सब के आह्लादक, चन्द्र के समान, सर्वप्रिय राजा के अधीन (ऐरयन्) सौंप देते हैं (ताम् अनु दिश्य) उसको लक्ष्य करके, उसको ही परम वेदि मान कर (धीरासः) धीर पुरुष (यजन्ते) यज्ञ करते हैं या परस्पर संगति करते या संघ बना २ कर रहते हैं। हे राजन् ! तू (प्रोक्षणीः) उत्कृष्ट रूप से सेवन करने वाले सुख के साधनों और योग्य विद्वान् प्रजाओं को या शत्रु पर अग्निबाण आदि की वर्षा करने वाले शस्त्रास्त्रों को या (अपः) आप्त पुरुषों और जलों को तू (आ सादय) स्वीकार कर और पुनः शस्त्र लेकर तू (द्विषतः) शत्रुओं का (वधः) वध करने में समर्थ (असि) हो ॥ शत० २ । ३ । १८ । २२ ॥

[1]प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता ऽअरातयः । अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि । [2]प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ-

२८—(२८) चन्द्रमाः, मेघः, स्फ्यः, आभिचारिकं च । इति सर्वा० । द० । '०नां धीरासो०, '०यजन्त द्विषतो०' इति काण्व० ।

रक्षो निष्टप्ता ऽअरातयः । अनिशिताऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनीं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि ॥२६ ॥

यज्ञो देवता । (१) भुरिग्जगती । धैवतः ॥ (२) त्रिष्टुप् । षड्जः ॥

भा०—(प्रति-उष्टं रक्षः) राक्षस, विघ्नकारी लोग जो राज्यारोहण और राष्ट्रशासन के उत्तम कार्य में विघ्न करते हैं उनको एक एक करके दग्ध कर दिया जाय । (अरातयः प्रति-उष्टाः) शत्रु जो प्रजा को उचित अधिकार नहीं देते वे भी एक २ करके जला दिये जांय, पीड़ित किये जांय। (रक्षः निःतप्तम्) विघ्नकारियों में प्रत्येक को खूब संतप्त किया जाय और (अरातयः निःतप्ताः) दूसरों का उचित अधिकार आदि न देने हारे पुरुषों को खूब अच्छी प्रकार पीड़ित, दण्डित किया जाय । हे राजन् ! हे शस्त्रधारिन् ! और हे (सपत्नक्षित्) शत्रुओं के नाशक ! तू अभी (अनिशितः असि) तीक्ष्ण नहीं है । तुझ (वाजिनम्) बलवान्, अश्व के समान वेगवान्, संग्राम में शूर एवं घुड़सवार वीर को (वाजेध्यायै) वाज अर्थात् संग्राम के प्रदीप्त करने के लिये (सम् मार्जि) मांजता हूँ, तीक्ष्ण करता हूँ, उत्तेजित वा अभिषिक्त करता हूँ । (प्रत्युष्टं रक्षः० इत्यादि पूर्ववत्) । सेना के प्रति—हे सेने ! तू (सपत्नक्षित्) शत्रु को नाश करने हारी है, तो भी तू अभी (अनिशिताऽसि) तीक्ष्ण नहीं है । (त्वा वाजिनीम्) तुझ बलवती, संग्राम करने में चतुर सेना को (वाजेध्यायै सम् मार्ज्मि) संग्राम को प्रदीप्त करने के लिये उत्तेजित करता हूँ ।

यज्ञ में स्रुच्, स्रुव इन दो यज्ञपात्रों को मांजते हैं । इन दोनों का पतिपत्नी भाव है । इसी प्रकार संग्राम में शस्त्र, शस्त्रवान्, एवं सेना सेनापति का ग्रहण है ॥ शत० १ ॥ ३ । ४ । १–१० ॥

२६—द्विषत इत्याभिचारिकम् । स्रुः स्रुचश्च इति सर्वा० । '०सम्मार्ज्मि' इति काण्व० ।

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोऽस्यूर्जे त्वाऽदब्धेन त्वा चक्षुषा वपश्यामि अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे ॥ ३० ॥

यज्ञो देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे सेने ! तू (अदित्यै) अदिति, पृथिवी के (रास्ना) समस्त उत्तम पदार्थ, रूप रसों को ग्रहण करने वाली या उसको बांधने या वश करने वाली (असि) है । तू (वेष्यः असि) व्यापक प्रभु राजा की व्यापक विस्तृत बलरूप है । (त्वा) तुझ सेना को मैं सेनापति (अदब्धेन) हिंसा रहित (चक्षुषा) आंख से (अव पश्यामि) देखता हूँ । हे बल ! तू (अग्नेः) अग्नि, युद्धाग्नि या अग्रणी राजा की (जिह्वा) जीभ, ज्वाला के समान तीक्ष्ण है । (देवेभ्यः) देव, उत्तम पुरुषों, युद्ध क्रीड़ा करने वाले सुभटों के लिये (सुहूः) उत्तम रूप से आहुति देने वाली है । तू (मे) मेरे (धाम्ने धाम्ने) सर्व स्थानों, नामों और जन्मों तथा (यजुषे यजुषे) प्रत्येक यज्ञ या श्रेष्ठ कर्म या प्रत्येक युद्ध के लिये रक्षक हो ॥ शत० १ । २ । ४ । १२-१७ ॥

[१]सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः । सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः । [२]तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ॥ ३१ ॥

यज्ञो देवता (१) जगती । निषादः । (२) अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

३०—'०योक्त्रम्, आज्यम् दे०, इति सर्वा० । '०रास्नासीन्द्राण्यै संहननं । विष्णोर्वेष्पोस्यू ०' ०अग्ने जिह्वा सुभूर्देवेभ्य० इति काण्व० ।

३१—आपः आज्यं च दे० । सर्वा० । '०देवयजनम्' ॥ इति काण्व० । अतः परमेको मन्त्रोऽधिको 'यस्ते प्राण०' इत्यादि । काण्व० ।

भा०—आजि अर्थात् युद्ध के उपयोगी शस्त्रों के प्रति कहते हैं। जिस प्रकार निरन्तर गिरने वाली सूर्य की किरणों से अन्न आदि को शुद्ध किया जाता है उसी प्रकार शस्त्रास्त्रबल को (सवितुः प्रसवे) सर्व प्रेरक राजा के शासन में (अच्छिद्रेण पवित्रेण) विना छिद्र के शोधन करने हारे साधन से और सूर्य की रश्मियों से (उत्पुनामि) अच्छी प्रकार शुद्ध करता हूँ, चमकाता हूँ। अन्य अस्त्रों के प्रति भी (वः) उन सब को भी (सवितुः प्रसवे० इत्यादि) पूर्वोक्त प्रकार से स्वच्छ करता हूँ। पुनः वही बलयुक्त शस्त्र (तेजः असि) तेज है, (शुक्रम् असि) शुक्र, वीर्य है (अमृतम् असि) अमृत है। (धाम नाम असि) उसका नाम धाम, धारण करने वाला तेज है या राज्य का धारक और शत्रु को दबाने वाला है। वह (देवानां प्रियम्) देव अर्थात् युद्धविजयी राजाओं का प्रिय और (अनाधृष्टम्) कभी धर्षित या पराजित न होने वाला (देव-यजनम् असि) देवों अर्थात् युद्ध-यज्ञ करने वालों का साधन है ॥ शत० १ । २ । ४ । २४–२८ ॥ १ । ३ । ५ । १–१८ ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

[आद्ये ऋचश्चैकत्रिंशत्]

इति मीमांसातीर्थ-विद्यालंकारविरुदोपशोभितश्रीमत्पंडितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये प्रथमोध्यायः ॥

———

द्वितीयोऽध्यायः ।

१—३४ परमेष्ठी प्राजापत्यो देवाः प्राजापत्याः, प्रजापतिर्वा ऋषिः ॥

॥ ओ३म् ॥ कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ १ ॥

यज्ञो देवता । निचृत् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे यज्ञ ! यज्ञमय राष्ट्र या राजन् ! तू (कृष्णः असि) 'कृष्ण' अर्थात् सब प्रजाओं को अपने भीतर आकर्षित करने वाला और (आखरे-ष्ठः) चारों ओर से खोदी हुई खाई के बीच में स्थित दुर्ग के समान सुरक्षित है। अथवा क्षेत्र हलादि से कर्षित और कुदाल आदि से खोदे गये स्थान में है। (अग्नये) अग्रणी नेता के लिये (जुष्टम्) प्रेम से स्वीकृत (त्वा) तुझ को मैं (प्रोक्षामि) जल आदि से सींचता या अभिषिक्त करता हूं। यह पृथिवी (वेदिः असि) वेदी है। इस से ही सब पदार्थ और सुख प्राप्त होते हैं। (त्वा) उस को (बर्हिषे) कुश आदि ओषधि के लिये (जुष्टम्) उपयोगी जानकर (प्रोक्षामि) जल से सींचता हूँ। ये ओषधि आदि पदार्थ (बर्हिः असि) जीवनों और प्राणियों की वृद्धि करते हैं, अतः (स्रुग्भ्यः) प्राणियों वा प्राणों के निमित्त (जुष्टम्) सेवित, उपयुक्त (त्वा) उस पृथिवी को (प्रोक्षामि) सेचन करता हूँ।

हवन पक्ष में—(कृष्णः) अग्नि और वायु से छिन्न भिन्न और

१—इध्मवेदिबर्हिषो देवताः । सर्वा० । प्रजापतिः परमेष्ठी ऋषिः । द० ।

आकर्षित होकर खोदे हुए स्थान में यज्ञ किया जाता है। अग्नि के निमित्त घृत आदि से सेचन करता हूँ। वेदि को अन्तरिक्ष के लिये सिंचित करूं, जल को स्रुचादि के लिये प्रोक्षित करूं।

सुचः—इमे वे लोकाः स्रुचः॥ तै० ३। ३। १। २॥

गृहस्थ पक्ष में —(कृष्णः) आकर्षणशील यह गृहस्थाश्रम (आख-रेष्ठः) एक गहरे खने हुए गढ़े में वृक्ष के समान गड़ा है। उसमें उस यज्ञ को अग्नि पुरुष के लिये उपयुक्त, उसको पवित्र करता हूँ। यह स्त्री वेदि है। उसको (बर्हिषे) पुत्र प्राप्त करने या प्रजा वृद्धि के लिये अभिषिक्त करता हूँ। (बर्हिः) प्रजाएं अति वृद्धिशील हैं, उनको (स्रुभ्यः) लोक लोकान्तरों में बसने के लिये दीक्षित करूं। प्रजा वै बर्हिः। कौ० ५। ७॥ ओषधयो बर्हिः। ऐ० ५। २।

संवत्सररूप यज्ञ में—सूर्य कृष्ण है। 'आखर' आषाढ़ मास है। अग्नि = अग्नि। वेदि = पृथ्वी। बर्हि = शरत्। स्रुच = वायुएं या सूर्य किरण हैं। इसी प्रकार भिन्न भिन्न पक्षों में कृष्ण आदि शब्दों के यौगिक अर्थ लेने उचित हैं॥ शत० १। ३। ३। १–२।

अदि॑त्यै व्युन्द॑नमसि॒ विष्णो॑स्तुपो॒ऽस्यूर्ण॑म्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां॑ दे॒वेभ्यो॒ भुव॑पतये॒ स्वाहा॒ भुव॑नपतये॒ स्वाहा॑ भूता-नाम्पत॑ये॒ स्वाहा॑॥ २॥

यज्ञो देवता। स्वराड् जगती। निषादः॥

भा०—भूमि को छिड़क कर उस पर आसन बिछा कर राजा आदि का स्वागत करने का उपदेश करते हैं। हे पर्जन्यरूप प्रजापते! तू (अदित्यै) अदिति पृथिवी को (व्युन्दनम् असि) गीला करने वाला है। हे प्रस्तर, राजन्! क्षात्रबल! तु उस (विष्णोः) व्यापक विष्णुरूप यज्ञ या

२—आपः प्रस्तरो वेदिराग्निश्च देवताः। सर्वा०।

राष्ट्र की (स्तुपः) शिखा (असि) हो । हे पृथिवी ! (ऊर्ण-म्रदसम्) ऊन के समान कोमल (देवेभ्यः) देव, विद्वान् पुरुषों के लिये (स्वासस्थाम्) उत्तम रीति से बैठने और बरतने के योग्य (त्वा) तुझ को (स्तृणामि) आसन आदि से आच्छादित करता हूँ । हे प्रजापुरुषो ! (भुवपतये) भू अर्थात् पृथिवी के स्वामी, राजा, अग्रणी नेता के लिए (सु-आहा) उत्तम आदरपूर्वक वाणी कहकर उसका आतिथ्य करो । (भुवनपतये) भुवन, लोक के पालक पुरुष के लिए (स्वाहा) आदर वचनों का प्रयोग करो । (भूतानां पतये) भूत, उत्पन्न प्राणियों के पालक पुरुष के लिए (सु-आहा) उत्तम वाणी आदि से आदर करो । क्षत्रं वै प्रस्तरः ॥ श० १ । ३ । ४ । १० ॥

यज्ञपक्ष में—यज्ञ पृथिवी पर जल वर्षाता है, उलूखल आदि यज्ञ की शिखा है । वेदि पर विद्वान् बैठें । वे जीवोत्पादक, पृथिवी भुवनों और भूतों के पालक परमेश्वर की स्तुति करें ।

[1]गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः । [2]इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः । [3]मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तान्ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ऽईडितः ॥ ३ ॥

अग्निर्वा देवता । (१) भुरिग् आर्ची त्रिष्टुप् । (२) आर्ची पंक्तिः । (३) पंक्तिः । (२,३) पंचमः ॥

भा०—हे राष्ट्रमय यज्ञ ! (त्वा) तुझको (गन्धर्वः) गौ अर्थात् पृथिवी के समान गौ, वाणी को धारण करने वाला (विश्वावसुः) समस्त विश्व को बसाने हारा या समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी, सूर्य के समान विद्वान्,

३—परिधयो देवताः । सर्वा० ॥ 'अग्निरिड ईडितः इति' काण्व० ॥

(विश्वस्य अरिष्ट्यै) समस्त संसार के सुखों के लिए (परि दधातु) चारों ओर से तुझे पुष्ट करे, तेरी शक्ति की वृद्धि करे। हे विद्वन् ! सूर्य ! राजन् तू (यजमानस्य) यज्ञ करने हारे यज्ञपति की (परिधिः) चारों ओर से रक्षा और पोषण करने के कारण 'परिधि' (असि) है। हे विद्वन् ! तू (अग्निः) सूर्य के समान आगे मार्गप्रदर्शक और (इडः) स्तुति योग्य और (ईडितः) सब प्रजाओं द्वारा स्तुति किया गया है। तू (इन्द्रस्य) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा का भी (विश्वस्य) समस्त विश्व के (अरिष्ट्यै) कल्याण और रक्षा के लिये (दक्षिणः बाहुः असि) दायां, बलवान् बाहु अर्थात् सेनापति रूप में परम सहायक है (यजमानस्य परिधिः असि) तू यजमान, राष्ट्ररक्षक राजा का रक्षक है। तू भी (ईडितः असिः) स्तुति योग्य सर्वलोक से आदर-प्राप्त हो। हे राजन् (मित्रावरुणौ) मित्र, सबका स्नेही, हितैषी, न्यायकर्त्ता और वरुण, दुष्टों का नाशक, दण्ड का अधिकारी दोनों (त्वा) तेरी (ध्रुवेण धर्मणा) अपने ध्रुव, स्थिर, धर्म, कानून या धर्मशास्त्र द्वारा (विश्वस्य अरिष्ट्यै) समस्त लोक के सुख के लिए (परि धत्ताम्) रक्षा करें। (यजमानस्य परिधिरसि इत्यादि०) पूर्ववत् ॥ शत० । १ । ३ ७ १—५ ॥

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥४॥

विश्वावसुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (कवे) क्रान्तदर्शिन्, दीर्घदर्शिन् ! मेधाविन् ! विद्वन्! (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवान् अग्रणी ! (वीतिहोत्रम्) नाना यज्ञों में विविध प्रकार के ज्ञानों वा वाणियों से सम्पन्न (द्युमन्तम्) दीप्तिमान्, तेजस्वी, (अध्वरे) अहिंसामय अथवा अजेय, इस राष्ट्रपालनरूप यज्ञ में (बृहन्तम्) सबसे बड़े (त्वा) तुझको हम (सम् इधीमहि) भली प्रकार और भी प्रदीप्त, तेजस्वी और तेजःसम्पन्न करें।

ईश्वर के पक्ष में और भौतिक अग्नि के पक्ष में स्पष्ट है। हे क्रान्त-विज्ञान अग्ने! तुझ तेजोमय को हम यज्ञ में दीप्त करते हैं। हे ईश्वर! ज्ञानमय, तेजोमय तुझे ज्ञानयज्ञ में हम हृदय-वेदि में प्रदीप्त करते हैं।

स॒मिद॑सि॒ सूर्य॑स्त्वा पु॒रस्ता॑त् पातु॒ कस्या॑श्चि॒द॒भिश॑स्त्यै। स॒वि॒तुर्बा॒हू स्थ॒ ऽऊर्ण॑म्रदस॒न्त्वा स्तृ॒णा॒मि स्वा॒स॒स्थं दे॒वेभ्य॒ऽआ त्वा॒ वस॑वो रु॒द्रा ऽआ॑दि॒त्याः स॑दन्तु॒ ॥ ५ ॥

यज्ञो देवता । निचृद् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ।।

भा०—हे यज्ञ के स्वरूप प्रजापते! राजन्! या राष्ट्र! (सूर्यः) सूर्य जिस प्रकार इस महान् ब्रह्माण्डमय यज्ञ को प्राची दिशा से रक्षा करता है उसी प्रकार (त्वा) तुझको सूर्य के समान तेजस्वी ज्ञानी, मानी पुरुष (पुरस्तात्) आगे से (कस्याः चित्) किसी प्रकार के भी अर्थात् सब प्रकार के (अभिशस्त्यै) अपवाद से (पातु) बचावे। हे राजन्! (समित् असि) अग्नि के संयोग में आकर जिस प्रकार काठ, और सूर्य के संयोग में आकर जिस प्रकार वसन्त ऋतु चमक और खिल उठती है उसी प्रकार विद्वान् के योग से तू तेजस्वी हो जाता है। इसलिए तू 'समित्' है। आगे से रक्षा करने वाले सूर्य के समान विद्वान् (सवितुः) सर्व प्रेरक की तुम राजा और प्रजा दोनों (बाहू स्थः) दो बाहुओं के समान हो। हे आसन के समान सर्वाश्रय राजन्! (ऊर्णम्रदसं त्वा) ऊन के समान कोमल तुझको (स्तृणामि) फैलाता हूँ। तू (देवेभ्यः) देव, विद्वानों के लिए (सु-आसस्थम्) उत्तम रीति से बैठने, आश्रय लेने योग्य हो। (त्वा) तुझ पर (वसवः) वसु नामक विद्वान्, गृहस्थ (रुद्राः) दुष्टों को रुलाने में समर्थ अधिकारीगण, (आदित्याः) ४८ वर्ष के आदित्य ब्रह्मचारीगण, (आ सदन्तु) आकर विराजें।

५—अग्निसूर्यविधृतिप्रस्तरा देवताः । सर्वा० ।

ब्रह्माण्ड यज्ञ में बल, वीर्य दो सूर्य के बाहु हैं। यज्ञ में अग्नि आदि आठ वसु और ११ प्राण, १२ मास आकर विराजते, महान् यज्ञ का सम्पादन करते हैं। उसमें वसन्त समित् है। सूर्य उस महान् यज्ञ की प्राची दिशा से रक्षा करता है। तीन ओर से पूर्वोक्त ३ मन्त्र में कही तीन परिधि, तीन लोक रक्षक हैं ॥ शत० १। ३। ७। ७-१२ ॥

[1]घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद। [2]प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद। ध्रुवाऽअसदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम् ॥९॥

विष्णुर्देवता (१) ब्राह्मी त्रिष्टुप्। (२) निचृत् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—यज्ञ में तीन स्रुए होते हैं, जुहू, उपभृत् और ध्रुवा, ये तीनों ब्रह्माण्ड में तीन लोक द्यौः, अन्तरिक्ष और पृथिवी हैं। राष्ट्र में राजा भृत्य और प्रजा हैं। उनका वर्णन करते हैं। हे राजन्! तू (जुहूः) समस्त प्रजागण से शक्ति लेने वाला और सबको सुख प्रदान करने में समर्थ (घृताची असि) घृत अर्थात् तेजः और पराक्रम से युक्त है। (जुहूः नाम्ना) तेरा नाम 'जुहू' है (सा) वह राजशक्ति (इदम्) इस राजभवन और राज्यसिंहासन या पदरूप (प्रियं सदः) अपने प्रिय आश्रय-स्थान, गृह और आसन पर अपने (प्रियेण धाम्ना) प्रिय, अनुकूल धाम अर्थात् तेज से युक्त होकर (आसीद) विराजमान हो। हे राष्ट्र के अधिकारी वर्ग! तुम भी (घृताची असि) तेज से सम्पन्न हो। (नाम्ना उपभृत्) नाम से तुम 'उपभृत्' हो, क्योंकि राजा तुमको अपने समीप रख

९—जुहूपभृत्-ध्रुवा हविषश्च विष्णुर्वा देवता। सर्वा०। ०जुहूर्नाम०, ०प्रिये ॥ दासि सीद०, ०यज्ञन्यम् ॥ इति काण्व०।

कर भृति या वेतन द्वारा पोषण करता है। (सा) वह अधिकारीगण रूप प्रकृति भी (इदम्) इस अपने (प्रियम् सदः) प्रीतिकर, अनुकूल गृह और आसन पर (प्रियेण धाम्ना) अपने प्रीतिकर अनुकूल धाम, तेज से युक्त होकर (आसीद) विराजमान हो। हे प्रजागण ! तू भी (घृताची असि) घृत के समान पुष्टिकारक अन्न आदि पदार्थों ओर तेजोमय रत्न, सुवर्ण आदि पदार्थों को प्राप्त करने और कराने वाला तेजस्वी हो। (नाम्ना ध्रुवा) नाम से तुम ध्रुवा अर्थात् सदा पृथिवी के समान स्थिर हो। (सः) वह तू भी (इदं प्रियं सदः) अपने प्रिय अनुकूल भवनों और आसनों पर (प्रियेण धाम्ना) अपने प्रिय तेज सहित (आसीद) विराजमान हो। (प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद) सब कोई अपने अपने भवनों, आसनों और पदों पर अपने प्रिय अनुकूल तेज से विराजें। (ऋतस्य योनौ) ऋत अर्थात् सत्य ज्ञान के योनि अर्थात् आश्रयस्थान, सर्वाश्रय न्यायकारी ईश्वर के आश्रय पर (ता) वे तीनों और उनके आश्रित समस्त उपादेय पदार्थ भी (ध्रुवा असदन्) ध्रुव, स्थिर रहें। हे (विष्णो) व्यापक प्रभो ! (ता पाहि) तू उनकी रक्षा कर। (यज्ञं पाहि) तू यज्ञ की रक्षा कर। (यज्ञपतिम् पाहि) यज्ञ के पालक स्वामी की रक्षा कर। (मां यज्ञन्यम्) यज्ञ के नेता प्रवर्तक मेरी रक्षा कर ॥ शत० १। ३। ७। १४-१६ ॥

राजप्रकृति, अधिकारी-प्रकृति और प्रजाप्रकृति तीनों उचित आसनों पर विराजें और अपने २ अधिकारों का भोग करें ॥

अग्ने॑ वाजजिद्वाज॑न्त्वा सरि॒ष्यन्तं॑ वाज॒जित॒थ्ंसम्मा॑र्ज्मि।
नमो॑ दे॒वेभ्यः॑ स्व॒धा पि॒तृभ्यः॑ सु॒यमे॑ मे भूयास्तम् ॥ ७ ॥

अग्निर्देवता। भुरिक् पंक्तिः। पंचमः ॥

७—अग्निर्देवः पितरौ स्रुचौ च देवताः। सर्वा० ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ! राजन् ! तू (वाजजित्) वाज अर्थात् संग्राम का विजय करने हारा है। (वाजम्) संग्राम के प्रति (सरिष्यन्तम्) गमन करने की इच्छा करते हुए (वाजजितम्) युद्ध के विजय करने हारे (त्वा) तुझको मैं (सम् मार्ज्मि) सम्मार्जन करता हूँ, तुझे परिशुद्ध करता यां भली प्रकार अभिषिक्त करता हूँ। हे विद्वान् पुरुषो ! (देवेभ्यः) युद्ध क्रीड़ा करने वाले वीरों के लिये (नमः) अन्न हो। (पितृभ्यः स्वधा) पालक, राष्ट्र के अधिकारियों के लिये यह (स्वधा) उनके शरीर की रक्षार्थ वेतन आदि सामग्री उपस्थित है। राजप्रकृति और शासक अधिकारी प्रकृति दोनों (मे) मुझ राष्ट्र पुरोहित के अधीन (सुयमे) उत्तमरूप से राष्ट्र को नियन्त्रण करने में समर्थ, एवं सुखपूर्वक मेरे अधीन, मेरे द्वारा भरण पोषण करने योग्य, एवं सुव्यवस्थित, सुसंयत (भूयास्तम्) रहें ॥ शत० १।४।३।१५॥ तथा शत० १।५।१।१॥

अस्कन्नमद्य देवेभ्यऽआज्यꣳ संभ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं विष्णो स्थानमसीतऽइन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वरऽआस्थात् ॥ ८ ॥

विष्णुर्देवता। विराट् पंक्तिः। पंचमः॥

भा०—(अद्य) आज मैं (देवेभ्यः) देव, विद्वान् पुरुषों और अपने प्राणों के लिए (अस्कन्नम्) विक्षोभरहित, वीर्यसम्पन्न (आज्यम्) घी आदि पुष्टिप्रद पदार्थों या तेज को (सम् भ्रियासम्) संग्रह करूं। हे (विष्णो) विष्णो ! व्यापक परमेश्वर वा यज्ञ या राजन् ! (अंघ्रिणा) गमन करने के साधन था चरण द्वारा (त्वा मा अवक्रमिषम्) तेरा उल्लंघन न करूं अर्थात् तेरी आज्ञा का उल्लंघन न करूं। हे (अग्ने)

८—स्रुचौ विष्णुरग्निरिन्द्रश्च देवताः। सर्वा०। 'अस्कन्नमद्याज्यं देवेभ्यः सम्भ्रियासम्०' इति काण्व० ॥

ज्ञानवान् ! तेजस्विन् (ते) तेरी (छायाम्) प्रदान की छाया या आश्रयरूप (वसुमतीम्) वसु, वास करने वाले जीवों से पूर्ण और ऐश्वर्य से पूर्ण पृथिवी को (उपस्थेषम्) प्राप्त होऊं। हे यज्ञ ! राष्ट्र ! तू (विष्णोः स्थानम् असि) विष्णु व्यापक, पालक राजा का स्थान है। (इतः) इस यज्ञ के द्वारा ही (इन्द्रः) सूर्य, वायु और मेघ के समान प्रभु (वीर्यम्) बल का कार्य (अकृणोत्) करता है। वह (अध्वरः) हिंसारहित, अहिंसनीय, सबका पालक प्रभु (ऊर्ध्वः अस्थात्) सबके ऊपर विराजमान है।

राजा के पक्ष में—(अद्य देवेभ्यः) आज देवों, शासक अधिकारियों, विद्वानों और युद्धवीरों के लिये (अस्कन्नम्) विक्षोभ रहित, वीर्यसम्पन्न (आज्यम्) आजि, संग्राम की हितकारी सामग्री को मैं राजा (संभ्रियासम्) धारण करूं। हे (विष्णोः) राष्ट्र में शासन व्यवस्था द्वारा व्यापक राजन् ! मैं प्रजाजन (त्वा) तेरा (अंघ्रिणा) पैर से, गमन साधनों से (मा अवक्रमिषम्) कभी उल्लंघन न करूं, तेरा अपमान न करूं। हे (अग्ने) यज्ञ वेदि में अग्नि के समान पृथिवी में प्रदीप्त तेजस्विन् राजन् ! (ते वसुमतीम्) तेरे अधीन शासक होकर, वसु = विद्वानों, वसु = प्राणियों और वसु = ऐश्वर्यों से पूर्ण इस (छायाम्) आश्रयस्वरूप आच्छादकरूप पृथिवी या शरण को (उपस्थेषम्) प्राप्त करूं। हे पृथिवी ! तू इस यज्ञवेदि के समान (विष्णोः स्थानम्) व्यापक राजा का आश्रय स्थान (असि) है। (इतः) इस राष्ट्रशासन रूप यज्ञ के द्वारा ही (इन्द्रः) ऐश्वर्यमान् राजा (वीर्यम्) वीरोचित कार्य को (अकृणोत्) करता है। वह राजा ही (ऊर्ध्वः) सबसे ऊपर विराजमान रहकर (अध्वरः) किसी से भी हिंसित न होकर एवं अपने बल पराक्रम से सब शत्रुओं को कम्पायमान करता हुआ (अअस्थात्) सब पर शासक रूप से विराजता है॥ शत० १।५।१।२।३॥

अग्ने वेहोत्रं वेर्दूत्यमवतान्त्वान्द्यावापृथिवीऽअव त्वं द्यावापृथिवी

स्विष्टकृद्देवेभ्य ऽइन्द्र ऽआज्येन हविषा भूत्स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः ॥ ६ ॥

अग्निर्देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान दूरगामी, प्रकाशक, सर्व पदार्थों को अपने भीतर लेने हारे व्यापक राजन् ! तू (होत्रम्) अग्नि जिस प्रकार यज्ञ का सम्पादन और रक्षण करता है उस प्रकार तू (होत्रम्) सबको अपने भीतर लेने व राष्ट्र की सुव्यवस्था करके, संग्रह करने के कर्म की और (दूत्यम्) दूत के सन्धिविग्रह आदि कर्म की (वेः वेः) रक्षा कर । (द्यावा पृथिवी) द्यौ और पृथिवी जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के महान् यज्ञ की रक्षा करते हैं उसी प्रकार द्यौ और पृथिवी 'द्यौः' प्रकाशरूप, ज्ञानी न्याय विभाग और पृथिवी बड़ी राज्यसभा दोनों, अथवा स्त्री, पुरुष राजा प्रजायें दोनों (त्वाम्) तेरी (अवताम्) रक्षा करें । और (त्वम्) तू (द्यावा पृथिवी) पूर्व कहे द्यौ और पृथिवी दोनों की (अव) रक्षा कर । तू (देवेभ्यः) देव-विद्वानों के लिये (सु-इष्टकृत्) शोभन और उन के इच्छानुकूल उत्तम कार्य करने हारा हो । (आज्येन) जिस प्रकार 'आज्य' घृत आदि पुष्टिकारक तेजोमय पदार्थ (हविषा) अन्न आदि चरु से (इन्द्रः) वायु, अधिक गुणकारक (भूत्) हो जाता है उसी प्रकार (आज्येन हविषा) बलकारी, संग्रामोपयोगी (हविषा) अन्न और शस्त्रादि सामग्री से (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (भूत्) समर्थ होता है । (स्वाहा = सु आह) वेदवाणी इसका उपदेश करती है । (ज्योतिः) जितने ज्योतिर्मय, सुवर्ण आदि कान्तिमान् बल, पराक्रम के पदार्थ हों वे (ज्योतिषा) ज्योतिर्मय तेजस्वी राजा के साथ (सम्) संगत हों । रत्न आदि पदार्थ यशस्वी राजा को प्राप्त हों । अथवा (ज्योतिषा) तेजस्वी विद्वान्

६—इन्द्र आज्यं च देवते । सर्वा० । ०'अवतां त्वा द्यावा०' इति काण्व० ।

लोक समूह के साथ (ज्योतिः) प्रकाशवान् राजा सदा (सम्) संगत रहे ॥ शत० १ । ५ । १ । ४-७ ॥

मयीदमिन्द्र ऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकंᳯ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषऽउपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥ १० ॥

इन्द्रो देवता । उपेत्यस्य पृथिवी । भुरिग् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (मयि) मुझ में (इदम्) शुद्ध, ज्ञानरूप, प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होने योग्य (इन्द्रियम्) तेज और इन्द्र व आत्मा के सामर्थ्य, आत्मबल को (दधातु) धारण करावे। (अस्मान्) हमें (मघवानः) अति अधिक सुवर्ण, विद्या और बल आदि धनों से पूर्ण (रायः) अनेक ऐश्वर्य (सचन्ताम्) प्राप्त हों । (अस्माकम्) हमारी (आशिषः) सब कामनाएं और इच्छायें (सत्याः सन्तु) सत्य, सफल और धर्मयुक्त (सन्तु) हों । (पृथिवी माता) पृथिवी के समान विशाल अन्नदात्री, (माता) ज्ञानदात्री, पालन करने वाली माता (उपहूता) स्वयं आदर से युक्त हो । और (पृथिवी माता) यह विशाल सुखदात्री माता (माम्) मुझ को (उप ह्वयताम्) उपदेश करे और उसके पश्चात् (आग्नीध्रात्) अग्नि ज्ञानोपदेशक आचार्य के स्थान या पद से (अग्निः) ज्ञानी, उपदेष्टा मुझे (स्वाहा) उत्तम उपदेश करे ।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता मूर्त्तिः पृथिव्यास्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ मनु० ॥

शत० १ । ८ । १ । ४०—४२ ॥

१०—एषा वा आशीः जीवेयं, प्रजा मे स्यात्, श्रियं गच्छेयम् । शत० १ । ८ । १ । ३६ ॥ मयीदमाशीः प्रतिग्रहणम् उपहूता द्यावापृथिव्यम् । इति सर्वा० । मयीदं नः सन्त्वाशिषः इति काण्व० । इतः परं ३१ तमो मन्त्रः पठ्यते । कां० ।

उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा।
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि ॥ ११ ॥

द्यावापृथिव्यौ, देवस्येत्यस्य सविता, प्राशित्रं च देवताः । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(द्यौः पिता) अब जिस प्रकार आकाश वृष्टि या सूर्य आदि वर्षा करके समस्त प्राणि संसार का पालन करता है उसी प्रकार बालकों को सब प्रकार के सुख देने वाला पिता भी (उपहूतः) शिक्षित हो और मान और आदर का पात्र हो । (माम्) मुझ को (द्यौःपिता) वह सब सुखवर्षक पिता भी (उपह्वयताम्) शिक्षा प्रदान करे और उसके पश्चात् (आग्नीध्रात् अग्निः) आचार्य पद से आचार्य (सु-आहा) उत्तम ज्ञानोपदेश करे । अथवा (आग्नीध्रात् अग्निः सु-आहा) जिस प्रकार आग्नीध्र = जाठर अग्नि के स्थान से अग्नि अर्थात् जाठर अग्नि अन्न को उत्तम रीति से ग्रहण करता और उत्तम रस प्रदान करता है । उसी प्रकार आचार्य हमें उत्तम ज्ञानरस प्रदान करे । हे अन्ने ! (देवस्य सवितुः) सर्वोत्पादक, देव परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पादित इस जगत् में मैं (अश्विनोः) अश्वी, प्राण और अपान के (बाहुभ्याम्) बाहुओं से और (पूष्णः) पूषा, पोषक समान वायु के (हस्ताभ्याम्) शोधन करनेवाले, और सब अंगों में रस पहुंचा देने वाले के दोनों बलों से (त्वा) तुझ अन्न को (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करूं । और (त्वा) तुझ (अग्नेः) कभी मन्द न होने वाले जाठर-अग्नि के (आस्येन) मुख से (प्राश्नामि) अच्छी प्रकार भोजन करूं ॥ शत० १ । ७ ४ । १३—१५ ॥

११—अग्नेष्ट्वेत्यस्य प्राशित्रं । सर्वा० । बृहत्त्वं प्रतिष्ठान्तं बृहस्पतिरांगिरसोऽपश्यत् । अतः परमष्टौ मन्त्राः या अप्सु इत्यादयः काण्वशाखायामधिकाः पठ्यन्ते ॥

एतन्ते देव सवितर्य्ज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे। तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिन्तेन मामव ॥ १२ ॥

बृहस्पतिरांगिरस ऋषिः । सविता । भुरिग् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (देव सवितः) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक (देव) प्रकाशक, सर्वप्रद, परमेश्वर ! (ते) तेरे उपरोक्त (यज्ञम्) यज्ञ का (प्राहु) विद्वान् लोग नाना प्रकार से वर्णन करते हैं। यह यज्ञ (बृहस्पतये) बृहती वेदवाणी के पालक (ब्रह्मणे) ब्रह्म अर्थात् वेदज्ञान के ज्ञाता विद्वान् के लिये है। (तेन) उस ही महान् यज्ञ के द्वारा (यज्ञम्) मेरे इस यज्ञ की (अव) रक्षा कर। (तेन) उस महान् यज्ञ द्वारा (यज्ञपतिम् अव) यज्ञ के परिपालक स्वामी की भी रक्षा कर। (तेन माम् अव) और उससे मेरी भी रक्षा कर। शत० १ । ७ । ४ । २१ ॥

एते वै यज्ञमवन्ति ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानाः एते ह्येनं तन्वते, एनं जनयन्ति ॥ शत० १ । ८ । १ । २८ ॥ विद्वान् ब्राह्मण इस यज्ञ का सम्पादन करते हैं।

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमन्तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳ समिमन्दधातु। विश्वे देवास इह मादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ ॥ १३ ॥

बृहस्पतिरांगिरस ऋषिः । बृहस्पतिर्विश्वेदेवाश्च देवताः ॥

भा०—(जूतिः) अति वेगवान्, वेग से समस्त कार्यों में लगने वाला अथवा उत्तम ज्ञानयुक्त, सावधान (मनः) मन, ज्ञानसाधन, अन्तःकरण (आज्यस्य) आज्य, ज्ञान-यज्ञ के योग्य समस्त साधनों को (जुषताम्) सेवन करे, अभ्यास करे। (बृहस्पतिः) वेदवाणी का परिपालक या बृहत् महान् राष्ट्र का पालक विद्वान् (इमम् यज्ञम्) इस यज्ञ

१२—एतं त वैश्वदेवम् । सर्वा० ।

१३—एतं त वैश्वदेवं । सर्वा० । '०मनोज्योति०' इति काण्व० ।

को (तनोतु) सम्पादन करे। वही विद्वान् ब्रह्मवित् (इमम्) इस (अरिष्टम्) अहिंसित, हिंसारहित, एवं विघ्नरहित (यज्ञम्) यज्ञ को (सम् दधातु) उत्तम रीति से धारण करे, उसमें विघ्न और विच्छेद होने पर भी उसको भली प्रकार जोड़ दे। (इह) इस लोक में, राज्य में और यज्ञ में (विश्वे) समस्त (देवासः) देवगण, विद्वान् पुरुष (मादयन्ताम्) हर्षित हों, प्रसन्न रहें, आनन्द लाभ करें। (ओ३म्) हे ब्रह्मन्, विद्वन् ! (प्रतिष्ठ) तू प्रतिष्ठा को प्राप्त कर, उच्च, मान्य पद पर विराज अथवा (प्रति-स्थ) तू प्रस्थान कर, प्रयाण कर, विजय लाभ कर॥ शत० १।७।४।२२॥

[1]एषा तेऽअग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व। वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि। [2]अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवाꣳसं वाजजितꣳ संमार्ज्मि॥ १४॥

अग्निर्देवता। (१) अनुष्टुप्। गान्धारः। (२) निचृद् गायत्री। षड्जः।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्नि के समान प्रकाशक, शत्रुसंतापक, एवं अग्रणी ! जिस प्रकार आग को लकड़ी बहुत अधिक प्रकाशित करती है। (एषा) यह (ते) तेरे लिये (समित्) अच्छी प्रकार प्रदीप्त होने की विद्या या कला है (तया) उससे, अथवा (एषा) यह पृथिवी और प्रजा ही (ते समित्) तेरे प्रदीप्त और तेजस्वी होने का साधन है। (तया वर्धस्व) उससे तू बढ़। (आप्यायस्व च) और खूब पुष्ट हो। (वयम्) हम प्रजाजन भी तुझ से (वर्धिषीमहि) बढ़ें और (आप्यासिषीमहि च) सब प्रकार से वृद्धिशील, हृष्ट पुष्ट, समृद्ध हों। हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! सेनापते ! तू (वाजजित्) वाज अर्थात् ऐश्वर्य एवं संग्राम को जीतने हारा है। (वाजं ससृवांसम्) युद्ध में प्रयाण करने वाले और (वाजजितम्) युद्ध के विजयी तुझ को (सं मार्ज्मि) भली प्रकार अभिषिक्त करता हूँ। शत० १।८।२।४–६॥

[1]अ॒ग्नीषोम॑यो॒रुज्जि॑ति॒मनूज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। अ॒ग्नीषोमौ॒ तमप॑नुदतां॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्रस॒वेनापो॑हामि। इ॒न्द्रा॒ग्न्योरुज्जि॑ति॒मनूज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। [2]इ॒न्द्रा॒ग्नी तमप॑नुदतां॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्रस॒वेनापो॑हामि ॥ १५ ॥

अग्नीषोमौ च देवते। (१) ब्राह्मी बृहती। मध्यमः। (२) इन्द्राग्नी देवते अतिजगती। निषादः॥

भा०—(अग्निषोमयोः) अग्नि, शत्रुसंतापक, अग्रणी, सेनापति और सोम और चन्द्र के समान शान्तियुक्त, आह्लादकारी या सर्वप्रेरक आज्ञापक राजा दोनों के (उत्-जितिम्) उत्तम विजय के (अनु) साथ मैं भी (उत् जेषम्) उत्तम विजय लाभ करूं। मैं (माम्) अपने को (वाजस्य) युद्धोपयोगी (प्रसवेन) उत्कृष्ट सामग्रीयुक्त ऐश्वर्य से (प्र ऊहामि) और आगे बढ़ाऊं। (अग्नीषोमौ) पूर्वोक्त अग्नि और सोम (तम् अपनुदताम्) उसको दूर मार भगावें (यः अस्मान्) जो हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है और हम से प्रेम का व्यवहार नहीं करता। और (यं च) जिसको (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं। (वाजस्य प्रसवेन) युद्ध के सेना बल के उपयोग ऐश्वर्य से ही मैं उस शत्रु को (अप ऊहामि) दूर फेंक दूं, उखाड़ दूं। इसी प्रकार (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि, वायु और विद्युत् के समान कंपा देने और जड़मूल से पर्वतों को उखाड़ देने वाले, बलवान् अस्त्रों और अस्त्रज्ञों के (उज्जितिम् अनु) उत्कर्षलाभ के साथ साथ मैं राजा (उत् जेषम्) उत्कृष्ट विजय लाभ करूं। (वाजस्य प्रसवेन मा प्रोहामि) युद्ध के उपयोगी सेनाबल के ऐश्वर्य से मैं अपने को आगे बढ़ाऊं। (इन्द्राग्नी तम् अप नुदताम्) पूर्वोक्त इन्द्र और अग्नि उसको दूर मार भगावें (यः अस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः) जो हम से द्वेष करे और जिससे हम द्वेष करें। (एनम्) उस दुष्ट शत्रु को युद्ध

के योग्य (वाजस्य प्रसवेन) बल, वीर्य, उत्तम २ अस्त्र साधन से (अप ऊहामि) मैं दूर भगा दूं।

[1]वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा सञ्जानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्। [2]व्यन्तु वयोक्तꣳ रिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह। चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि ॥ १६ ॥

(१) द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ च देवताः। निचृदार्ची पंक्तिः पंचमः। (२) विराट् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—हे राजन्! (त्वा) तुझको (वसुभ्यः) वसु नामक राष्ट्र में बसने वाले वसुओं, प्रजाजनों, ब्राह्मणों (रुद्रेभ्योः) शत्रुओं को रुलाने वाले, बलवान्, शस्त्रास्त्र कुशल क्षत्रिय वीरों और (आदित्येभ्यः) आदान प्रतिदान करने वाले वैश्यों के लिये अथवा वसु, रुद्र, आदित्य, इन तीन प्रकार के ब्रह्मनिष्ठों के हित के लिये प्रजापति रूप से अभिषिक्त करता हूँ। (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों की प्रजायें (त्वा संजानाथाम्) तुझे अपनावें (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण, सूर्य और मेघ (त्वा) तुझे और तेरे राष्ट्र की (वृष्ट्या अवताम्) वृष्टि द्वारा रक्षा करें। (रिहाणाः) नाना प्रकार की स्तुति करने हारे विद्वान् जन (वयः) गान करने वाले पक्षियों के समान (अक्तम्) प्रकाशमान, प्रतापी, बलशाली तेरे पास, तेरी शरण में (व्यन्तु) आवें, तुझे प्राप्त हों। (मरुताम्) मरुत्, वायुओं के वेग से चलने वाले (पृषतीः) मेघ मालाओं के समान सेनाओं को तू प्राप्त हो। और हे राजन्! क्षत्रिय (वशा) अपने वशीभूत (पृश्निः)रसों का ग्रहण करने वाली भूमि के समान होकर तू (दिवं गच्छ) द्यौलोक को, उत्तम राज्य को प्राप्त हो। (ततः नः)

'मरुतां० आवह' इत्यस्यकपिर्ऋषिः। प्रस्तरो देवता। मरुतां कपिर्बृहतीप्रास्तरीम् सर्वा० "०व्यन्तु वयो रिप्तो रिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ०"। चक्षुष्पा असि० इति काण्व।

वहाँ से हमें (वृष्टिम्) ऐश्वर्य सुखों की वर्षा को (आवह) प्राप्त करा । हे (अग्ने) अग्ने ! तू (चक्षुःपाः असि) हमारी दर्शनशक्ति की रक्षा करने हारा है । (मे चक्षुः पाहि) मेरे देखने के साधन चक्षु और विद्वानों की रक्षा कर ॥ शत० १ । ८ । ३ । १२ १९ ॥

यज्ञपक्ष में—८ वसुओं, ११ रुद्रों और १२ आदित्य, १२ मासों के लिये मैं यज्ञ करता हूँ । सूर्य का प्रकाश और भूमियें दोनों उत्तम रीति से जानें । मित्र और वरुण, सर्वप्राण, बाह्य वायु और अन्तस्थ उदान वायु दोनों (वृष्ट्या) शुद्ध जल वर्षण द्वारा संसार की रक्षा करते हैं । जिस प्रकार पक्षी अपने स्थान को जाते हैं उसी प्रकार अर्चना करते हुए हम यज्ञ में आवें । (वशा पृश्निः) कामित आहुति अन्तरिक्ष में जाकर (मरुतां दिवं गच्छ) वायुओं के संग्रह से द्यौलोक में सूर्य के तेज से मिले । तब वह (वृष्टिम् आवह पृषतीः) वर्षा लावें, वह नदियों, नाड़ियों में बहे । (अग्निः) भौतिक अग्नि, दीपक जिस प्रकार आँख को अन्धकार से बचाता है उसी प्रकार सूर्य भी आँखों का रक्षक है, वह हमारी चक्षुओं की रक्षा करे ॥ शत० १ । २ । ३ । १२–१९ ॥

यं परिधिं पर्यधत्थाऽअग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः । तन्तऽएतमनुजोषं भराम्येष मेत्त्वदपचेतयाताऽअग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम् ॥ १७ ॥

देवल ऋषिः । अग्निर्देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी राजन् ! स्वयं (देवपणिभिः) विद्वानों और व्यवहार-कुशल व्यापारियों द्वारा (गुह्यमानः) सुरक्षित रहते हुए (यम्) जिस (परिधिभिः) राष्ट्र को चारों ओर के आक्रमण से बचानेवाले सेनानायक आदि शासक को (परि अधत्थाः) राष्ट्र की सीमाओं पर

१७—संवदस्व । श्रावय । श्रौषट् । स्वगा दैव्या होतृभ्यः । स्वस्तिर्मानुषेभ्यः । इत्याधिकानि यजूंषि इतः पूर्वं पठ्यन्ते । शत० (च०) 'नेत्वदप' इति पाठभेदः ।

नियुक्त करते हो (ते) तेरे द्वारा नियुक्त (तम्) उस (एतम्) इस 'परिधि' नामक सीमापाल को (जोषम्) प्रेमपूर्वक (अनु भरामि) तेरे अनुकूल बनाता हूँ। जिससे (एवं) वह (त्वत्) तुझसे (मा इत्) कभी भी न (अप चेतयातै) बिगड़े। तेरे विपरीत न हो। हे परिधि-नायको! हे दो सीमापालो! तुम दोनों भी (अग्नेः प्रियं पाथः) अग्नि, राजा के प्रिय, पान या पालन करने योग्य अन्न आदि, भोग्य पदार्थ या [राष्ट्र को (अपि इतम्) प्राप्त करो। शत० १। ८। ३। २२ ८

सं॒ꣳस्र॒वभा॑गा स्थे॒षा बृ॒हन्तः॑ प्रस्तरे॒ष्ठाः प॑रि॒धेया॑श्च दे॒वाः। इ॒मां वाच॑म॒भि विश्वे॑ गृ॒णन्त॑ आ॒सद्या॒स्मिन्ब॒र्हिषि॑ मादयध्व॒ꣳ स्वाहा॒ वाट् ॥ १८ ॥

सोमसूदमः सोमशुश्मो वा ऋषिः। विश्वेदेवाः देवताः। स्वराट् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे विद्वानो! बलशाली राजा के नियुक्त अधिकारी पुरुषो! आप लोग (इषा) ज्ञान, प्रेरक आज्ञा और शासन से (बृहन्तः) बड़े शक्तिशाली और (प्रस्तरेष्ठाः) उत्तम आसन और आस्तरणों या पदों पर अधिष्ठित होने वाले, (देवाः) युद्ध में चतुर, व्यवहारज्ञ, विद्वान्, तेजस्वी और (परिधेयाः च) रक्षा करने के लिये चारों ओर रखने योग्य हो। आप लोग (सं-स्रव भागाः स्थ) उत्तम ऐश्वर्य के भागी बनो। आप (विश्वे) सब लोग (इमाम्) इस प्रत्यक्ष (वाचम्) वेदमय न्यायवाणी को (अस्मिन् बर्हिषि) इस न्यायासन या ज्ञानयज्ञ में (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) हम सबको प्रसन्न करो और (वाट्) समस्त सुखों को प्राप्त करने वाली वाणी और क्रिया से (सु-आहा) उत्तम उपदेश करो और यश प्राप्त करो शत० १। २। २५॥

घृ॒ताची॑ स्थो॒ धुर्यौ॑ पातꣳ सु॒म्ने स्थः॑ सु॒म्ने मा॑ धत्तम्।

१८—परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः। द०। '०परिधयश्च देवाः' इति काण्व०।

यज्ञ नम॑श्च त॒ऽ उप॑ च य॒ज्ञस्य॑ शि॒वे सन्ति॑ष्ठस्व॒ स्वि॒ष्टे मे॒ सन्ति॑ष्ठस्व ॥ १९ ॥

शूर्प, यवमान्, ऋषिः, उद्‌बालवान्, धानान्तर्वान्, एते पञ्च ऋषयः।
अग्निवायू देवते । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे अग्नि और वायु ! अग्नि के समान शत्रुसंतापक और वायु के समान वेगवान्, एवं राष्ट्र के प्राणभूत राजपुरुषो ! आप दोनों (घृताची स्थः) घृत, तेज को धारण करने वाले हो । आप राष्ट्रशासन रूप यज्ञ में (धुर्यौ) अग्नि वायु के समान ही समस्त शासन भार के धुरा को उठाने में समर्थ हो । आप दोनों (पातम्) राष्ट्र का पालन करो । आप दोनों अग्नि और वायु के समान ही (सुम्ने = सुमने) उत्तम ज्ञानपूर्ण एवं सुखप्रद हो । (मा) मुझको (सुम्ने) सुख में या शुभ मति में (धत्ताम्) धारण करो, रखो । हे (यज्ञ) पूजनीय प्रभो ! (ते च नमः) तुझे हम नमस्कार करते हैं । और तू (उप च तिष्ठस्व) हमें प्राप्त हो । हे राजन् ! प्रभो ! आप (यज्ञस्य) यज्ञ के (शिवे) कल्याणकारी स्वरूप में (सं तिष्ठस्व) उत्तम रीति से स्थित हो । (मे) मेरे (सु-इष्टे) उत्तम इष्ट कार्य में (सं तिष्ठस्व) लगा रह ॥ शत० १।८।३।२५ ॥

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पा॒हि मा॑ दि॒द्योः पा॒हि प्रसि॑त्यै पाहि दुरि॑ष्ट्यै पा॒हि दु॑रद्म॒न्या ऽअ॑वि॒षन्नः॑ पि॒तुं कृ॑णु । सुषदा योनौ॒ स्वाहा॒ वाड॒ग्नये संवे॒शप॑तये॒ स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै यशोभ॒गिन्यै॒ स्वाहा॑ ॥ २० ॥

अग्निसरस्वत्यौ च देवते । भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

१९—उत्तरार्धस्य सूर्य पवमानः, ऋषिरुद्दालवान्, धनान्नवान् इत्येते ऋषय इत्युव्वटः । अस्य मन्त्रस्य शूर्पयवान्, कृषिरुद्दालवान् धानान्तर्वान् इति पंच ऋषयः । यज्ञो देवता इति महीधरः ॥ प्रजापतिः परमेष्ठी ऋषिः । द० । घृताची स्रुवौ यज्ञश्च देवता । सर्वा० ॥

२०—गार्हपत्योऽग्निः दक्षिणाग्निः सरस्वती च दे० । सर्वा० । अतः

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! हे (अदब्धायो) अनष्टजीवन ! अमृत ! प्रभो ! सुरक्षित जीवन वाले, या जीवनों की रक्षा करने हारे स्वामिन् ! हे (अशीतम) सर्वव्यापक ! सर्वत्र विद्यमान ! आप (मा) मुझको (दिद्योः) अति प्रदीप्त वज्र या कठोर दारुण दण्ड-रूप दुःख से (पाहि) रक्षा करो । (प्रसित्यै पाहि) भारी बन्धनकारिणी अविद्या या पाप-प्रवृत्ति से मेरी रक्षा करो । (दुरिष्टयै पाहि) दुष्ट जनों की संगति से बचाओ । (दुरद्मन्यै पाहि) दुष्ट अन्न के भोजन से रक्षा करो । (नः) हमारे (पितुम्) अन्न को (अविषम् कृणु) विष रहित करो । (योनौ) घर में (सुषदा) उत्तम रूप से विराजने योग्य भूमि हो । (अग्नये स्वाहा वाट्) उस ज्ञानवान्, अग्नि के समान प्रतापी स्वामी से यह उत्तम प्रार्थना है । वह हमें उत्तम फल प्राप्त करावे । (संवेशपतये स्वाहा) उत्तम रीति से बसने वाले पृथिवी आदि लोकों के पालक से यह उत्तम प्रार्थना है । (यशःभगिन्यै) यश, ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाली (सरस्वत्यै) वेदवाणी से (स्वाहा) हम उत्तम ज्ञान प्राप्त करें ॥ शत० १।७।२।२० ॥

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित मनसस्पतऽइमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः ॥ २१ ॥

मनसस्पतिर्ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । भुरिग् ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः।

भा०—हे (देव) सब शुभ पदार्थों वा गुणों के देने और उनका प्रकाशन करने हारे परमेश्वर ! (येन) जिस ज्ञान से (त्वं) तू (वेद) समस्त संसार

परं द्वौ मन्त्रावधिकौ काण्वशाखागतौ 'उलूखले'० इत्यादि ॥

२१—वेदो दे० । उत्तरार्धस्य मनसस्पतिर्ऋषिः । वातो देवता । सर्वा० । वामदेव ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । इति द० ।

के पदार्थों और विज्ञानों को स्वयं जानता और सब को जनाता है, इसी से तू (वेदः असि) स्वयं भी 'वेद' स्वरूप है। उसी कारण, उसी वेदमय ज्ञान रूप से तू (देवेभ्यः) ज्ञान प्रकाशक विद्वानों के लिये भी स्वयं (वेदः) वेद या ज्ञान प्रकाशक रूप से (अभवः) प्रकट होता है। (तेन) उसी ज्ञानमय रूप में हे परमेश्वर ! आप (मह्यम्) मेरे लिये (वेदः) 'वेदमय' ज्ञान-प्रद रूप से (भूयाः) प्रकट हों । (देवाः) देव, ज्ञान के प्रकाश करने हारे पुरुष (गातुविदः) पदार्थों के यथार्थ गुणों को जानने वाले, एवं गातु अर्थात् गमन करने योग्य मार्ग को जानने वाले होते हैं । हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (गातुम्) गातु, सब पदार्थों के यथार्थ स्वरूप या उत्तम भाग का ज्ञान करने वाले, मार्गोपदेशक वेद का (वित्त्वा) ज्ञान करके (गातुम्) उपदेश करने योग्य यज्ञ या संसार की सत् व्यवस्थाओं को (इत) प्राप्त होवो, उसको अपने वश करो । हे (मनसः पते) समस्त संकल्प विकल्प करने वाले समष्टि रूप मन के परिपालक प्रभो ! हे (देव) प्रकाशक ! (इमम्) इस संसार रूप यज्ञ को (वाते) वायु रूप महान् प्राण के आधार पर आप (धाः) धारण कर रहे हो। (सु-आहा) यही समस्त संसार का वायु रूप सूत्रात्मा तुझ में उत्तम आहुति अर्थात् कारण रूप से व्यवस्थित है ॥

अध्यात्म में—ज्ञानकर्ता, सब विषयों के ज्ञान का उपलब्धिकर्ता आत्मा 'वेद' है। देव इन्द्रियों को भी वही ज्ञान कराता है। गातु अर्थात् = ज्ञान या शरीर = मानसस्पति, आत्मा । बात = प्राण ! यज्ञ = मानस यज्ञ या शरीर। योजना स्पष्ट है ॥ शत० १।९।२।२३-२८ ॥

सं ब॒र्हिर॑ङ्क्ताᳪं ह॒विषा॑ घृ॒तेन॒ समा॑दि॒त्यैर्वसु॑भि॒: सम्म॒रुद्भि॑: । समिन्द्रो॑ वि॒श्वदे॑वेभिरङ्क्तां दि॒व्यं नभो॑ गच्छतु॒ यत् स्वाहा॑ ।२२

लिंगोक्ता इन्द्रो वा देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

२२—वामदेव ऋषिः । द० । लिंगोक्ताः सर्वा० ।

भा०—(बर्हिः) यह महान् अन्तरिक्ष (घृतेन) घृत के साथ और (हविषा) हवि, होम करने योग्य चरु के साथ (सम् अंक्ताम्) संयोग करें । (आदित्यैः) आदित्य सूर्य की किरणों से (वसुभिः) अग्नि, वायु आदि आठ जीवन संचारक तत्वों से और (मरुद्भिः) वायुओं, प्राणों से भी (सम् अंक्ताम्) भली प्रकार युक्त हो । (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आत्मा और परमेश्वर (विश्वदेवेभिः) समस्त इन्द्रियों और समस्त दिव्य पदार्थों से (सम अंक्ताम्) संयुक्त हो । (यत्) जब २ (स्वाहा) उत्तम आहुति हो तब २ (दिव्यं नभः) दिव्य जल (गच्छतु) बहे ॥

राष्ट्र पक्ष में—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (बर्हिः) बढ़नेवाले राष्ट्र को (घृतेन) तेजोमय, प्रदीप्त, दोषरहित अन्न से संयुक्त करे । उस को आदित्य, वसु, मरुत् अर्थात् वैश्यों, वसु = बसने हारे जीवों और मारणकर्मा, तीव्र योद्धाओं से सुसज्जित करे । इस राष्ट्र को (यत्) जब (विश्वदेवेभिः) सब विद्वान् अधिकारियों से युक्त करे तब (दिव्यं नभः गच्छतु) दिव्य परस्पर संगठन, संयमन या व्यवस्था को राष्ट्र प्राप्त हो । (सु-आहा) वह राष्ट्र उत्तम कहे जाने योग्य है ॥ शत० १।९।२।२३ ॥

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति । पोषाय रक्षसां भागोऽसि ॥ २३ ॥

प्रजापति देवता । निचृद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे यज्ञ ! यज्ञमय कर्मबन्धन ! (त्वा) तुझको (कः विमुञ्चति) कौन मुक्त करता है ? (त्वा सः विमुञ्चति) तुझको वह जिसने यज्ञ समाप्त कर लिया है, मुक्त करता है ? (कस्मै त्वा विमुञ्चति) तुझको वह किस प्रयोजन से मुक्त करता है (त्वा) तुझको वह (तस्मै)

२३—रक्षसां राक्षसम् । सर्वा० ।

उस लोकोत्तर ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने के लिये मुक्त करता है। हे यज्ञ से प्राप्त सत् अन्न! तू (पोषाय) आत्मा, शरीर को पुष्ट करने हारा है, और हे दुष्ट पापमय अन्न! तू (रक्षसां भागः असि) दुष्ट पुरुषों के सेवन करने योग्य है।

अथवा—[प्रश्न] हे पुरुष! (त्वा) तुझको कर्मबन्धन के दु:ख से (कः) कौन (विमुञ्चति) विशेष रूप से मुक्त करता है? (उत्तर) (सः) वह सर्वोत्तम परमेश्वर ही (त्वा) तुझको कर्मबन्धन से मुक्त करता है। [प्र०] (त्वा कस्मै विमुञ्चति) यह परमेश्वर तुझे किस कार्य के लिये या किस हेतु से मुक्त करता है। [उ०] (तस्मै त्वा विमुञ्चति) तुझे उस महान् मोक्ष प्राप्ति के लिये मुक्त करता है। [प्र०] ये सब संसार के उत्तम पदार्थ और कर्मसाधनाएं किसके लिये हैं? [उ०] ये समस्त कर्मसाधनाएं (पोषाय) आत्मा को पुष्ट करने के लिये हैं। [प्र०] तब ये कर्म फल, भोग-विलास आदि किसके लिये हैं? [उ०] हे विलासमय तुच्छ भोग! तू (रक्षसाम्) विघ्नकारी, मुक्तिमार्ग के बाधक लोगों के (भागः) सेवन करने योग्य अंश (असि) है॥ शत० १। ७। २। ३३॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥२४॥

त्वष्टा देवता। विराट् त्रिष्टुप्। धैवतः।

भा०—हम लोग (वर्चसा) तेज, (पयसा) पुष्टि, (तनूभिः) दृढ़ शरीरों और (शिवेन मनसा) कल्याणकारी शुद्ध चित्त या मनन शक्ति से (सम् ३ अगन्महि) भली प्रकार संयुक्त रहें। (सु-दत्रः) उत्तम २ पदार्थों का दाता (त्वष्टा) सर्वोत्पादक परमेश्वर हमें (रायः)

२४—'विर्लिष्टम्' इति शत०।

समस्त ऐश्वर्य (विदधातु) प्रदान करे और (तन्वः) हमारे शरीर में (यत्) जो कुछ (विलिष्टम्) विपरीत, अनिष्टजनक, प्राणोपघातक पदार्थ हों उसको (अनुमार्ष्टु) शुद्ध करे, दूर करे ॥ शत० १।९।३।६ ॥

[1]दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो[2]ऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। [3]पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया ऽअगन्म स्वः सं ज्योतिषाभूम ॥ २५ ॥

विष्णुर्देवता । (१) निचृदार्ची पंक्तिः । (२) आर्ची पंक्तिः । पंचमः । (३) जगती । निषादः ॥

भा०—(दिवि) द्यौ, महान् आकाश में (विष्णुः) विष्णु, व्यापक परमेश्वर (जागतेन छन्दसा) जागत छन्द से, जगतों की रचना करने वाले बल से (वि अक्रंस्त) नाना प्रकार से व्यापक है और (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (विष्णु) व्यापक परमेश्वर (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप छन्द अर्थात् तीनों लोकों के पालक व्यापार से (वि अक्रंस्त) व्यापक है। वहां वायु, मेघ, विद्युत् रूप से प्रकट है और (पृथिव्याम्) पृथिवी में विष्णु (गायत्रेण छन्दसा) गायत्र छन्द अर्थात् प्राणों की रक्षा करने वाले बल, अन्न आदि रूप से (व्यक्रंस्त) व्यापक है। इसी प्रकार उसी विष्णु, व्यापक, सर्व शक्तिमान् परमात्मा के अनुकरण में राजा, प्रजापति एवं समस्त यज्ञ भी द्योलोक में जागत छन्द से अर्थात् स्वर्ण रत्नादि ऐश्वर्य में वैश्यों के बल से और अन्तरिक्ष में त्रैष्टुभ छन्द से अर्थात् तीनों

२५—अस्माद्० भागः । अस्यै भूमिः । अगन्म देवम् । सं ज्योतिषां ऽऽह्वनीयः । सर्वा० ।

वर्णों की रक्षारूप क्षात्रबल से और पृथिवी निवासी जनता में गायत्र छन्द अर्थात् ब्राह्मणोचित बल से व्यापक रहे । सब पर अपना शासन रक्खे और हमारा शत्रु (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसको हम द्वेष करते हैं वह (ततः) उन २ लोकों से और उन २ स्थानों से (अस्मात् अन्नात्) इस उपभोग योग्य अक्षय अन्न आदि पदार्थ से और (अस्यै प्रतिष्ठायै) इस भूमि के ऊपर प्राप्त प्रतिष्ठा से (निर्भक्तः) सर्वथा भाग रहित करके निकाल दिया जाय । तब हम (स्वः) सुखमय लोक को (अगन्म) प्राप्त हों और ज्ञान समृद्धि को (सं अभूम) भली प्रकार प्राप्त हों ॥

अपने लक्ष्य भूत उद्देश्य के बाधकों को दूर करके यज्ञ द्वारा तीनों लोकों पर विजय करके सुख, समृद्धि-विद्या आदि प्राप्त करने का उपदेश है ॥ शत० १ । ७ । ३ । ११ । १४ ॥

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा ऽअसि वर्चो मे देहि । सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥ २६ ॥

ईश्वरो देवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (स्वयंभूः असि) किसी की अपेक्षा बिना किये, स्वतन्त्र, समस्त जगत् के उत्पादन, पालन और संहार में स्वयं समर्थ है । तू सब से (श्रेष्ठः) प्रशंसनीय, (रश्मिः) परम ज्योति अथवा रश्मि, सब को अपने वश में करने वाला है । तू (वर्चोदाः असि) सूर्य के समान तेज का देने हारा है । (मे वर्चः देहि) मुझे तेज प्रदान कर । मैं भी (सूर्यस्य) सूर्य के समान सब चराचर जगत् के प्रेरक उत्पादक परमेश्वर के (आवृतम्) उपदेश किये आचार या व्रत का (अनु आवर्त्ते) पालन करूं । अर्थात् जिस प्रकार सूर्य नियम से दिन रात

२६—ईश्वरो देवता । द० ।

सम्पादन करता है और सबको प्रकाश देता और तपता है उसी प्रकार मैं नियम से सोऊं, जागूं, तेजस्वी बनूं, तप करूं। सूर्य के व्रत का पालन करूं॥ शत० १।९।३।१६।१७॥

[1]अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासꣳ सुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः। [2]अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतꣳ हिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥ २७॥

अग्निर्देवता। (१) निचृत्पंक्तिः। पंचमः। (२) गायत्री। षड्जः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! ज्ञानवन्! परमेश्वर! नेतः! आचार्य! हे (गृहपते) गृहपालक! हे (अग्ने) अग्ने! (त्वया गृहपतिना) गृह के पति अर्थात् पालक रूप तेरे बल से (अहम्) मैं (सुगृहपतिः भूयासम्) उत्तम गृह का स्वामी हो जाऊं और (त्वं) तू (मया गृहपतिना) मुझ गृहपति के साथ, मेरे द्वारा (सुगृहपतिः भूयाः) उत्तम गृहपति हो। इस मन्त्र से गृहस्थ एक दूसरे के उत्तम गृहपति होने में सहायक हों, यह भी वेद ने उपदेश किया। हे परमेश्वर! (नौ) हम स्त्री और पुरुष (गार्हपत्यानि) गृहपति और गृहपत्नी दोनों के करने योग्य समस्त कर्त्तव्य (शतं हिमाः) सौ बरसों तक (अस्थूरि सन्तु) दोनों द्वारा मिल कर किये जाया करें। अर्थात् एक बैल से जुती गाड़ी चल नहीं सकती, यह 'स्थूरी' कहाती है। हमारे कार्य 'अस्थूरी' एक बैल से जुते शकट के समान विघ्नयुक्त न हों, प्रत्युत स्त्री-पुरुष रूप दो भारवाही बैलों से युक्त शकट के समान निर्विघ्न सत्-मार्ग पर चलते रहें। मैं (सूर्यस्य आवृतम्) सूर्य के व्रत को (अनु आवर्त्ते) पालन करूं, उसके समान सब का प्रेरक, पालक, होकर नियमपालक, ज्ञानप्रकाशक तेजस्वी, तपस्वी होकर रहूँ॥

२७—गार्हपत्यः। सूर्यस्य सौरम्। सर्वा०।

**अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तम॑चारिषं॒ तद॑शकं॒ तन्मे॑ऽराधी-
द॒महं य॒ऽए॒वास्मि॒ सो॒ऽस्मि ॥ २८ ॥**

अग्निर्देवता । भुरिक् उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! हे (व्रतपते) व्रतों के पालक परमेश्वर ! आचार्य ! मैंने (व्रतम्) व्रत को (अचारिषम्) पालन किया, (तत् अशकम्) उस व्रत का पालन करने में मैं समर्थ हुआ । (मे) मेरा (तत्) वही व्रत (अराधि) सिद्ध हुआ । (इदम् अहम्) मैं साक्षात् (य एव अस्मि) जो भी वस्तुतः हूँ (सः अस्मि) वही यथार्थ शक्ति रूप शुद्ध आत्मा मैं रहूँ । इस मन्त्र से व्रत विसर्जन करते हैं ॥ शत० १ । ७ । ३ । २३ ॥

**अ॒ग्नये॑ कव्य॒वाह॑नाय॒ स्वाहा॒ सोमा॑य पितृ॒मते॒ स्वाहा॑ ।
अप॑हता॒ असु॑रा॒ रक्षा॑ᳬसि वेदि॒षदः॑ ॥ २६ ॥**

प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निर्देवताः ।

भा०—(कव्यवाहनाय) कवि, क्रान्तदर्शी विद्वानों के हितकारी अन्न या ज्ञान को धारण करने वाले (अग्नये) अग्नि, मार्गदर्शक, तेजस्वी आचार्य एवं विद्वान् के लिये (सु-आहा) उत्तम अन्न आदि दान करो और आदरपूर्वक वचन बोलो । (पितृमते सोमाय स्वाहा) पिता, माता और गुरुजनों से युक्त सोम, ज्ञानवान्, नवयुवक विद्वान् ब्रह्मचारी जिज्ञासु के लिये (स्वाहा) उत्तम अन्न का दान और आदरपूर्वक सुन्दर वचन का प्रयोग करो । (वेदिषदः) वेदि में अर्थात् पृथिवी में समस्त उपयोगी, उत्तम पदार्थ के लाभ करा देने वाली इस यज्ञभूमि में विद्यमान (रक्षांसि) दूसरों के पीड़ाकारी, स्वार्थी, विघ्नकारी (असुराः) केवल

२८—इत्यन्तः दर्शपूर्णमासमन्त्राः । अतः पर पितृयज्ञः । प्रजापतेरयम । सर्वा०
२६— दैवदेवत्ये । अपहता आसुरम् । सर्वा० ।

असु, प्राणों में रमण करने वाले अर्थात् इन्द्रियों के विषय-भोगों में ही जीवन का व्यय करने वाले, अविद्वान् विषयविलासी दुष्ट पुरुषों को (अप-हताः) मार कर दूर भगा दिया जाय ॥

भौतिक पक्ष में कव्यवाहन, ज्ञानी पुरुषों के कार्यों को चलाने वाले अग्नि को उत्तम रीति से प्रयोग करके ऋतु और पालकों से युक्त सोम राजा या प्रधान पुरुष के आदर द्वारा दुष्ट पुरुषों का नाश किया जाय ॥

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥ ३० ॥

अग्निर्देवता । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ।

भा०—(ये) जो लोग (रूपाणि) रुचिकर पदार्थों को (प्रतिमुञ्चमानाः) त्यागते वा नाना वस्त्र आदि फैशनों को करते हुए (असुराः) केवल प्राण अर्थात् इन्द्रियों के भोगों में रमण करते (सन्तः) हुए (स्वधया) अपने बल से या पृथिवी के शासन बल सहित (चरन्ति) विचरण करते हैं और (ये) जो (परापुरः) दूर दूर तक बड़े २ अपने पुर बनाते हैं और (निपुरः) नीचे भूमि में अपने पुर बसाते, अथवा जो (परापुरः) परित्याग करने योग्य काम्य स्वार्थों को पूर्ण करते और (नि-पुरः) जो नीच और निकृष्ट वासनाओं को पूर्ण करते हैं, अथवा (परापुरः निपुरः) स्थूल और सूक्ष्म देहों को (चरन्ति) पोषण करते हैं (अग्निः) अग्नि, दुष्टों का सन्तापक राजा, अग्रणी नेता (तान्) उन लोगों को (अस्मात् लोकात्) इस लोक से (प्र नुदाति) निकाल दे ॥

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् ।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ॥ ३१ ॥

पितरो देवताः । बृहती । मध्यमः ॥

३०—कव्यावाहवो अग्निर्दे० । त्रिष्टुप् एकोना सर्वा० ।

भा०—(अत्र) यहाँ, इस स्थान में, गृह में, इस लोक में (पितरः) पालन करनेहारे गुरु, विद्वान् पुरुष, माता पिता एवं वृद्धजन और देश के अधिकारी गण (मादयध्वम्) आनन्द, प्रसन्न रहें और स्वयं औरों को भी वे सुप्रसन्न करें । (यथाभागम्) अपने उचित भाग के अनुरूप अर्थात् अधिकार, मान, पद एवं शक्ति, योग्यता के अनुकूल (आ वृषायध्वम्) सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट हों और औरों को भी आनन्दित करें । (पितरः अमीमदन्त) पालक वृद्धजन खूब हर्षित, प्रसन्न हों और (यथाभागम् आ वृषायिषत) अपनी शक्ति, योग्यता एवं पद के अनुरूप हृष्ट पुष्ट भी हों ॥

[१]नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य॒, नमो॑ वः पितरः॒ शोषा॑य॒ नमो॑ वः पितरो॒ जी॒वाय॒ नमो॑ वः पितरः स्व॒धायै॒ नमो॑ वः पितरो॒ घो॒राय॒ नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॑ । [२]नमो॑ वः पितरः॒ पित॑रो॒ नमो॑ वो गृ॒हान्नः॑ पितरो दत्त स॒तो वः॑ पितरो दे॒ष्मैतद्वः॑ पितरो॒ वास॒: ॥ ३२ ॥

लिंगोक्ता देवताः पितरः । (१) ब्राह्मी बृहती । (२) निचृद् बृहती । पंचमः ॥

भा०—हे (पितरः) राष्ट्र के पालक पुरुषो ! वृद्धजनो ! (रसाय) ब्रह्मानन्द रस और ज्ञानरस के लिए (वः नमः) आप लोगों का हम आदर करते हैं । (शोषाय) आप लोगों का जो शोषण अर्थात् दुःखों का निवारण और शत्रुओं को कमजोर करने का सामर्थ्य है उसके लिये (वः नमः) आपका हम आदर करते हैं । (जीवाय) आपके प्रजा को जीवन धारण कराने के सामर्थ्य के लिए (वः नमः) आप लोगों को हम नमस्कार करते हैं । (स्वधायै) स्वयं समस्त राष्ट्र के धारण करने के सामर्थ्य के लिये और अन्न उत्पन्न करने के लिये (वः नमः) आप लोगों का हम आदर करते हैं । (घोराय) आप लोगों के अति भय दिलाने वाले घोर, युद्ध करने के सामर्थ्य के लिये (वः नमः) आप लोगों को हम नमस्कार

३२—षट्लिंगोक्तानि । सर्वा० ॥ अन्ते 'आधत्त' इति पद क्वचिद् लक्ष्यते तन्नेष्यते । उत्तरमन्त्रस्य प्रतीकतयोपात्तत्वात् ।

करते हैं। (मन्यवे) आप लोगों के मान बनाये रखने वाले उच्चता के भाव के लिये अथवा आपके दुष्टों और देश का यश कीर्त्ति के नाशकों के प्रति उत्तेजित हुए क्रोध और ज्ञान के लिये (वः नमः) आप लोगों को हम नमस्कार करते हैं। हे (पितरः) पालक वृद्ध शासक जनो ! आप लोग हमारे और समस्त राष्ट्र के पालक हो, अतएव (वः नमः) आपका हम आदर सत्कार करते हैं। (पितरः नमः वः) हे पालक पुरुषो ! आप लोगों को हम नमस्कार करते एवं सत्कार करते हैं। हे (पितरः) पालक जनो ! (नः) हमारे (गृहान्) गृह के निवासी स्त्री आदि बन्धुओं के प्रति (दत्त) उनको उचित पदार्थ एवं विद्या और शिक्षा प्रदान करो और हे (पितरः) वृद्ध गुरुजनो ! हम लोग (वः) आप लोगों को (सतः) अपने पास, विद्यमान नाना अन्न, धन, वस्त्र आदि पदार्थ (देष्म) प्रदान करें। हे (पितरः) पालक जनो ! (वः) आप लोगों के लिये (एतत्) यही (वासः) शरीर आदि आच्छादन करने योग्य उत्तम वस्त्र एवं निवास गृह है। आप इसे स्वीकार करें ॥

उव्वट, महीधर दोनों ने यह मन्त्र ऋतुओं परक लगाया है। हे ऋतुओ ! (नमो वः रसाय) आपके रसरूप वसन्त को नमस्कार है। (वः शोषाय नमः) आपके सुखाने वाले ग्रीष्म को नमस्कार है। (वः जीवाय नमः) जीवन के हेतु वर्षाओं को नमस्कार है। (वः स्वधायै नमः) आपके अन्नोत्पादक शरत् के लिए नमस्कार है। (वः वीराय नमः) आपके घोररूप हेमन्त को नमस्कार है। (मृत्यवे नमः) शिशिर को नमः है ॥

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥३३॥

पितरो देवताः। गायत्री। षड्जः॥

भा०—पुत्रों का पालन करने में समर्थ गृहस्थ जनो ! आप लोग (गर्भम्) गर्भ का (आधत्त) आधान करो और फिर (पुष्कर-स्रजम्)

पुष्टिकर पदार्थों के द्वारा बने शरीर वाले, सुन्दर (कुमारम्) बालक को (आधत्त) बराबर पालन पोषण करो, (तथा) जिससे (इह) इस लोक में वह आपका गर्भ में आहित वीर्य एवं बालक ही (पुरुषः असत) पूर्ण पुरुष रूप हो जाय। गृहस्थ लोग पुष्ट पुरुषों को उत्पन्न करने के लिये गर्भाधान करें। उसका गर्भ में पुष्टि कारक पदार्थों से पालन करें और उसे शिक्षित कर पूर्ण पुरुष बनावें। आचार्य पक्ष में—हे (पितरः) पालक आचार्य आदि जनो (गर्भम्) गर्भ के समान ही (पुष्कर-स्रजम्) पद्म की माला धारण किये विद्यार्थी कुमार को अपने विद्यारूप सावित्री के गर्भ में धारण करो। जिससे यह पूर्ण विद्वान् पुरुष हो जाय। इसी प्रकार शासक जन राजा को अपने भीतर आदर पूर्वक रक्खें, जिससे वह बलवान् बना रहे ॥

ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ ३४ ॥

आपो देवता। भुरिग् उष्णिक्। ऋषभः ॥

भा०—हे (आपः) आपः ! आप्त पुरुषो ! प्राप्त पुत्रादि जनो ! आपः जल के समान स्वच्छ उपकारक पुरुषो ! (ऊर्जम्) उत्तम अन्न रस (अमृतम्) रोगहारी, जीवनप्रद (घृतम्) तेजोदायक, घृत, (पयः) पुष्टि कारक दुग्ध, (कीलालम्) अन्न और (परि-स्रुतम्) सब प्रकार से स्रवित रस से युक्त, पके फल एवं ओषधि विधि से तय्यार किये उत्तम रसायन आदि इन सब को (वहन्तीः) धारण करते हुए (मे पितॄन्) मेरे पालक वृद्धजनों को (तर्पयत) तृप्त करो। आप (स्वधाःस्थ) अब स्वयं अपने आपको और अपने वृद्ध, पालक, सत्कार योग्य पुरुषों को भी अपने बल पर धारण पोषण करने में समर्थ हो ॥

अन्न पक्ष में = (ऊर्जम्) उत्तम अन्नरस, (अमृतम्) जीवनशक्ति,

(घृतम्) घी, तेज, (पयः) दूध, पुष्टिकारक, पदार्थ (कीलालम्) भोज्य अन्न, (परिस्रुतम्) आसव आदि तीव्र सूक्ष्म औषध इन सब तत्त्वों को धारण करने वाले (आपः) जल हैं। वे ही 'स्वधा' चरम अन्न हैं उन से हे पुरुषो ! (मे पितॄन् तर्पयत) मेरे प्राणों को तृप्त करो ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

[द्वितीये ऋचश्चतुस्त्रिंशत्]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकारविरुदोपशाभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

१—८ अग्न्याधयमन्त्राणां प्रजापतिर्देवता । देवाः अग्निर्गन्धर्वाश्च ऋषयः ॥

॥ ओ३म् ॥ समिधाग्निन्दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन्हव्या जुहोतन ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ४४ । १ ॥

विरूप आंगिरस ऋषिः अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(समिधा) प्रदीप्त करने के साधन काष्ठ से जिस प्रकार अग्नि को तृप्त किया जाता है उसी प्रकार (सम्-इधा) अच्छी प्रकार तेजस्वी बनने वाले साधन से (अग्निम्) अग्नि, आत्मा, गुरु, परमेश्वर की (दुवस्यत) उपासना करो और (अतिथिम्) सर्वव्यापक, अतिथि के समान पूजनीय उसको (घृतैः) अग्नि को जिस प्रकार क्षरणशील, पुष्टिकारक घृत आदि पदार्थों से जगाया जाता है उसी प्रकार उद्दीपन करने वाले तेजःप्रद साधनों के अनुष्ठानों से उसको (बोधयत) जगाओ और (अस्मिन्) उसमें (हव्या) सब पदार्थों, ज्ञानों, स्तुतियों और कर्मों और कर्मफलों को आहुति के रूप में (आ जुहोतन) निरन्तर त्याग करो ॥

भौतिक अग्नि में—हे पुरुषो ! (समिधा दुवस्यत) काष्ठ से उसकी सेवा करो, घृताहुतियों से उसको चेतन करो और उसमें चरु पुरोडाश आदि आहुति रूप में दो । इसी प्रकार यन्त्रकला आदि में भी अग्नि के उद्दीपक पदार्थों से अग्नि को जला कर (घृतैः) जलों द्वारा उसकी शक्ति को और भी चैतन्य करके उसे यन्त्रादि में आधान करे ॥

१—८—देवानामग्नेर्गन्धर्वाणां वा । सर्वा० ।

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतन्तीव्रञ्जुहोतन। अग्नये जातवेदसे ॥२॥
ऋ० ५।५।१॥

वसुश्रुत ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री। षड्जः॥

भा०—(सु-सम्-इद्धाय) खूब अच्छी प्रकार प्रदीप्त (शोचिषे) प्रकाशमान, ज्वालामय, अन्यों के भी दोष निवारण में समर्थ (जात-वेद-से) प्रत्येक पदार्थ में व्यापक, प्रज्ञावान्, ऐश्वर्यवान् (अग्नये) अग्नि, परमेश्वर, विद्वान् एवं राजा को (तीव्रम्) अतितीव्र, दोषनिवारक (घृतम्) आज्य, जल और उपायन एवं बलदायक या जयप्रद पदार्थ (आ जुहोतन) सब प्रकार से प्रदान करो॥

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य॥ ३॥ ऋ० ६।१६।११॥

भरद्वाज ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री। षड्जः॥

भा०—हे अग्ने! अंगिरः! व्यापक, ज्ञानवान्, प्रकाशक! (त्वा) तुझे (तम्) उस परम प्रसिद्ध, परम उच्च, परमेश्वर को (सम्-इद्भिः) उत्तम प्रदीप्त, प्रकाशित होने के साधन योग आदि द्वारा और (घृतेन) आत्मा के प्रकाशक तेज और तप द्वारा (वर्धयामसि) बढ़ाते हैं। हे (यविष्ठ्य) युवतम, सदा सर्वशक्तिमान्! संसार के समस्त पदार्थों के संयोग विभाग करने में अनुपम बल वाले! (बृहत्) महान् होकर (शोच) खूब प्रकाशित हो।

अग्नि पक्ष में—हे प्रकाशक अग्ने! तुझे समिधा और घृत से बढ़ावें और तू पदार्थों के विभाजक बल से युक्त, खूब प्रकाशित हो॥

उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्यत। जुषस्व समिधो मम॥४॥

प्रजापतिर्ऋषिः। अग्निः। गायत्री। षड्जः॥

२—सुश्रुत ऋषिः। द०।

भा०—हे (हर्यत) सब कार्यों के प्रापक या दर्शनीय ! कमनीय ! कान्तियुक्त । हे अग्ने ! (उप) तेरे समीप (घृताचीः) घृत से युक्त, (हविष्मतीः) हवि, अन्न आदि से युक्त (समिधः) समिधाएं (यन्तु) प्राप्त हों उन (मम) मेरी (समिधः) समिधाओं को (जुषस्व) तू सेवन कर । हे अग्ने ! आत्मन् ! मेरी (हविष्मतीः) ज्ञानमय, (घृताचीः) तेजोमय (समिधः) प्रकाशित होने के साधन तपस्या, विद्याभ्यास, जप, योग आदि सब तेरी प्राप्ति के लिये हों, उनको तू स्वीकार कर ॥

[१]भूर्भुवः स्वः [२]द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥५॥

अग्निवायुसूर्याः लिंगोक्ताः पृथिवी च देवताः । (१) दैवी बृहती ।
(२) निचृद्बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(भूः) यह पृथ्वी लोक (भुवः) अन्तरिक्ष और (स्वः) यह द्यौलोक और (भूः) ब्राह्मण, (भुवः) क्षत्रिय, (स्वः) वैश्य और (भूः) आत्मा, या स्वयं पुरुष (भुवः) प्रजा, पुत्र आदि (स्वः) पशुगण इनके हित के लिए मैं (भूम्ना) अति अधिक महान् ऐश्वर्य और सामर्थ्य से और अधिक प्रजाजनों से उसी प्रकार से युक्त हो जाऊं जैसे (द्यौः) यह महान् आकाश नक्षत्रों से. परमैश्वर्य युक्त है और (पृथिवी इव) पृथिवी जिस प्रकार विशाल है, सबको आश्रय देती है, उसी प्रकार की (वरिम्णा) विशालता से मैं भी युक्त होऊं । हे (पृथिवि) पृथिवि ! हे (देव-यजनि) देव, विद्वानों के यज्ञ करने के आश्रयभूत ! (ते तस्याः) उस तेरी (पृष्ठे) पीठ, पृष्ठ पर (अन्नादम्) समस्त अन्नों के भोग करने वाले (अग्निम्) अग्निरूप प्रजापति राजा को (आ दधे) स्थापित करता हूँ । अथवा हे

५—द्यौरिवयजमानाशीर्लिंगोक्तादेवता । सर्वा० । ० 'भूम्ना भूमिरिव वरिम्णा' इति काण्व० ।

स्त्री और हे वेदि ! तू (भूम्ना) अपनी महती शक्ति से (द्यौः इव)आकाश के समान गुण रूप नक्षत्रों से सुशोभित है, और (वरिम्णा पृथिवी इव) उत्तम गुणों से पृथिवी के समान उदार, पुत्रादि की उत्पत्तिकारक, पालक और गृह का आश्रय है । हे (देवयजनि पृथिवि) विद्वान् द्वारा पूजनीय पृथिवी के समान योग्य भूमि ! (अन्नादम् अग्निम्) अन्न का भोग करने या कर्मफल के भोग करने वाले अग्नि, जीवात्मा को मैं (अन्नाद्याय) भावी जीवन के कर्मफल भोग के लिये ही वीज रूप से तुझ में (आदधे) आधान करता हूं ॥ शत० का० २ । ८ । १–२८ ॥

आयङ्गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः । पितरञ्च प्रयन्त्स्वः ॥६॥

ऋ० १० । १८९ । १ ॥

सार्पराज्ञी कद्रूर्ऋषिका । अग्निर्देवता । गायत्री षड्जः ॥

भा०—(अयम्) यह (गौः) गमनशील (पृश्निः) रसों और समस्त ज्योतियों को अपने भीतर ग्रहण करने हारा, आदित्य (मातरम् पुरः) प्राणियों के उत्पादक मातृरूप पृथिवी के ऊपर नित्य प्राची दिशा में (आ असदत्) विराजता है और (अक्रमीत्) चारों ओर व्याप्त है और (पितरम्) सबके पालक (स्वः) आकाश को भी (प्रयन्) अपने निज वेग से जाता हुआ (आ असदत्) उसको भी व्याप्त करता है ॥

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती । व्यख्यन्महिषो दिवम् ।७।

ऋ० १० । १८९ । २ ॥

वायुरूपोऽग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

भा०—(अस्य) इस महान् अग्नि की ही (रोचना) वायुरूप ज्योति, दीप्ति है जो (अन्तः) शरीर के भीतर, इस ब्रह्माण्ड के भीतर (प्राणात्) प्राण रूप होने के पश्चात् (अपानती) अपान का स्वरूप धारण करती है । यही (महिषः) अनन्त महिमा से युक्त होकर (दिवम्)

द्यौलोक या प्रकाशमान सूर्य के तेज को (वि अख्यत्) विशेष रूप से बतलाता है। अर्थात् ब्रह्मांड में वही वायु स्वयं प्रबल चलता और ऊपर उठता और मन्द होता और नीचे आता है। शरीर में वही प्राण, पुनः अपान रूप में बदलता है। परन्तु यह उसी महान् अग्नि का तेज है, ब्रह्माण्ड में सूर्य की शक्ति से वायु नाना गतियों से चलता है और शरीर में जाठर अग्नि के बल से प्राणों की विविध गति होती हैं॥

त्रिꣳशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते।
प्रति वस्तोरह द्युभिः॥ ८॥ ऋ० १०।१८९।३॥

अग्निर्देवता। गायत्री। षड्जः॥

भा०—ईश्वर रूप वा विद्युत रूप अग्नि। जो प्रकाशक अग्नि (त्रिंशत्) तीस (धाम) धारक पदार्थों को (विराजति) व्याप्त होकर उनको प्रकाशित करता है उसी (पतङ्गाय) व्यापक परमेश्वर के ज्ञान के लिये (वाक्) वेद-वाणी व शब्द (धीयते) पढ़ा जाता है और उसको (प्रति वस्तोः) प्रतिदिन (द्युभिः) प्रकाशमान पदार्थों वा प्रकाशक वाक्यों के द्वारा (अह) निश्चय से (धीयते) ध्यान, मनन करना चाहिये॥

'त्रिंशत् धाम'-दिन रात्र के ३० मुहूर्त (उव्वट)। जो वाणी दिन के तीसों मुहूर्त प्रकाशित होती न केवल वह 'पतङ्ग' अर्थात् अरणि से गिर कर गार्हपत्य रूप में आनेवाले अग्नि के लिये है, प्रत्युत प्रतिदिन उत्सवों के साथ भी वह वाक् उसी 'पतङ्ग' के लिये ही है। अथवा महीधर—मास के तीसों दिन जो वाणी, पतङ्ग अर्थात् 'पतंग पक्षी' गार्हपत्याग्नि के सदृश अग्नि के लिये है, वह प्रति दिन उत्सवों में भी उसी के लिये है। जैसे पक्षी एक स्थान से दूसरे स्थानपर जाता है, उसी प्रकार यहअग्नि गार्हपत्य से आहवनीय में जाता है। उक्त ६–८ शत० २।१।४।२९॥

८—इतः परमेको मन्त्रोऽधिकः काण्व०।

दयानन्द—जो अग्नि प्रतिदिन तीसों धर्म्मों के धारक पदार्थों को प्रकाशित करता है उस 'पतंग' पतन-पातनादि गुणों से प्रकाशित स्वयं-गतिशील, अन्यों के प्रेरक अग्नि के ज्ञान के लिये प्रति दिन विद्वानों को वाक् (वेद) का अध्ययन करना चाहिये। यह वाणी नित्य शरीरस्थ विद्युत् अग्नि से प्रकाशित होता है, उसके गुण-प्रकाशन के लिये इस वाणी का श्रवण और उपदेश करना चाहिये। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र, प्रजापति, इनमें से अन्तरिक्ष वह आदित्य अग्नि को छोड़ शेष ३०। पतङ्ग=अग्नि परमेश्वर है॥ अथवा प्राणो वै पतङ्गः। कौ० ८।४॥ पतन्निव हि अङ्गेषु। जै० ३।३।३५।१॥

अ॒ग्निर्ज्योति॒र्ज्योति॑र॒ग्निः स्वाहा॒ सूर्यो॒ ज्योति॒र्ज्योतिः॒ सूर्यः॒ स्वाहा॑। अ॒ग्निर्वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्चः॒ स्वाहा॒ सूर्यो॒ वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्चः॒ स्वाहा॑। ज्योतिः॒ सूर्यः॒ सूर्यो॒ ज्योतिः॒ स्वाहा॑॥ ६॥

अग्निर्ज्योतिरिति द्वयस्य तद्वा ऋषिः। ज्योतिः सूर्य इति द्वयस्य जीवलश्चैलाकिश्च ऋषी। अग्निसूर्यौ देवते। पांक्तिः। मध्यमः॥

भा०—(अग्निः ज्योतिः) अग्नि ज्योतिःस्वरूप है और (ज्योतिः अग्निः) समस्त ज्योति अग्निरूप है। (स्वाहा) यह ज्योति-स्वरूपता ही अग्नि की अपनी महिमा का प्रत्यक्ष वर्णन है। (सूर्यः ज्योतिः) सूर्य ज्योति है। (ज्योतिः सूर्यः) ज्योति ही सूर्य है। (स्वाहा) यही उसके अपने महत्त्व का उत्तम स्वरूप है। इस देह में (अग्निः वर्चः) अग्नि ही तेज है, (ज्योतिर्वर्चः) ज्योति ही तेज है। (स्वाहा) यही उसका अपना उत्कृष्टरूप है। (सूर्यः वर्चः ज्योतिः वर्चः) सूर्य तेज है, ज्योति तेज है। (स्वाहा) यही उसका अपना महत्वपूर्ण रूप है। (ज्योतिः सूर्यः सूर्यः

६—विशेषतश्च अग्निर्वर्च इत्यस्यास्तद्वा ऋषिः। ज्योतिः सूर्य इत्यस्या जीवलश्चैलकिर्ऋषिः। सर्वा०। इतःपरमेको मन्त्रोऽधिकः काण्व० पठितः।

ज्योतिः स्वाहा) ज्योति सूर्य है और सूर्य ही ज्योति है । यही उसका यथार्थ महत्त्व है ॥

स्वाहा—स्वो वै महिमा आह इति । स्वाहा इत्येवाजुहोत् । शत० १ । २ । ४ । ६ ॥ यह मेरा ही महत्त्व या उत्कृष्टरूप है इस बात को 'स्वाहा' शब्द कहता है । प्रजापति की अपने उत्कृष्टरूप अग्नि सूर्य, ज्योति और वर्चस्, ये हैं और ये सर्वत्र प्रकट होकर अपने महत्व को दर्शाते हैं । इसका व्याख्यान-विस्तार शतपथ में देखें । शत० कां० २ । २ । ४, ५ ॥ 'स्वस्य अहानमस्तु' इति स्वाहा इत्युव्वटः । अपने स्वरूप का नाश नहीं होता यह 'स्वाहा' का अर्थ है । स्वं प्राह इति वा स्वाहुतं हविर्जुहोति इति वा । निरु० ॥

अथवा—(अग्निः) ज्ञानमय परमेश्वर (ज्योतिः) सर्वप्रकाशक है और (ज्योतिः) प्रकाशमय (अग्निः) भौतिक अग्नि के समान ही परमेश्वर सब पदार्थों का स्वयं ज्ञापक 'अग्नि' है । यह (स्वाहा) सत्य बात है । (सूर्यः) सब संसार में व्यापक और उसका ज्ञाता परमेश्वर (ज्योतिः) वेद द्वारा समस्त विद्याओं का उपदेष्टा 'ज्योति' है । वह भी (ज्योतिः) पृथिवी आदि पदार्थों के द्योतन या प्रकाशन करने वाले (सूर्यः) सूर्य के समान तेजोमय है । (स्वाहा) यही वास्तविक बात है । (अग्निः) सर्वविद्याप्रदाता आचार्य (वर्चः) सब पदार्थों का दीपक, ज्ञापक विद्या-प्रदाता है, वह (ज्योतिः) सब पदार्थ प्रकाशक (वर्चः) तेज के समान ही सब विद्याओं का प्रकाशक है । (स्वाहा) इस प्रकार ही सत्य जानो । (सूर्यः) सब व्यवहारों का प्रवर्तक प्राण ही (वर्चः) सब का प्रकाशक है । (ज्योतिर्वर्चः) सर्व पदार्थों का द्योतक तेज ही है (स्वाहा) यह सत्य ज्ञान है । (सूर्यो ज्योतिः) सूर्य ही सब पदार्थों का ज्योति अर्थात् प्रकाशक है और प्रकाशक ज्योति ही सूर्य है । यही (स्वाहा) उसकी अपनी महिमा का स्वरूप है ॥

[1] सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा।
[2] सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ १० ॥

प्रजापतिर्ऋषिर्जीवलश्चैलकिश्च । (१) अग्निः । गायत्री । (२) सूर्यः । भुरिग् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अग्निः) यह भौतिक अग्नि जिस प्रकार (देवेन सवित्रा) सर्व-प्रकाशक, सर्व-व्यवहारप्रवर्तक, सर्वोत्पादक परमेश्वर के बल से (सजूः) सब पदार्थों को समान भाव से सेवन करता है। (इन्द्रवत्या) इन्द्र, वायु वा विद्युत् से युक्त (रात्र्या) रात्रि या आदानकारिणी शक्ति से युक्त होकर (सजूः) समस्त पदार्थों को समान रूप से अपने भीतर लीन करता है, उसी प्रकार (अग्निः) प्रकाशक अग्नि, सर्वेश्वर परमात्मा (जुषाणः) सबको प्रेम करता हुआ या सबको सेवन करता हुआ (अग्निः) भौतिक अग्नि के समान ही परमेश्वर (स्वाहा) अपनी महिमा या महत्त्व शक्ति से (वेतु) सर्वत्र व्याप्त है और (देवेन) सर्व प्रकाशक (सवित्रा) सर्वोत्पादक परमेश्वर के बल से सूर्य (सजूः) सर्वत्र समान भाव से व्याप्त होता है और वही (इन्द्रवत्या) प्रकाशमय (उषसा) उषा या प्रभा के साथ (सजूः) समान भाव से व्याप्त होता है, उसी प्रकार (सूर्यः) सर्वप्रेरक परमेश्वर सब को (जुषाणः) प्रेम करता हुआ (स्वाहा) अपनी महान शक्ति से सर्वत्र (वेतु) व्यापक है, सबको अपने भीतर लिये है ॥

अग्निहोत्र पक्ष में—देव सविता परमेश्वर की उत्पादित सृष्टि के साथ मिल कर और इन्द्रवती रात्रि अर्थात् विद्युत् शक्ति से युक्त रात्रि से मिल कर हवि आदि को अग्नि अपने भीतर ले। इसी प्रकार ईश्वरीय

१०—इतः परं मन्त्रचतुष्कं काण्व० पठितम् ।

शक्ति से युक्त और प्रकाश युक्त उषा से युक्त होकर सूर्य वरु द्रव्यों को अपने भीतर ले ॥

उपप्रयन्तोऽअध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरेऽअस्मे च शृण्वते ॥११

ऋ० १ । ७४ ॥ ३ ॥

[११-३०] बृहदुपस्थानमन्त्राणां देवा ऋषयः । गौतमो राहूगण ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अध्वरं) जिसको शत्रुगण परास्त न कर सकें ऐसे अध्वर, अहिंसक, सर्वपालक राष्ट्र-यज्ञ में (उप प्रयन्तः) पहुंच कर (अस्मे च) हमारे वचनों को (दूरे च) समीप और दूर भी (शृण्वते) श्रवण करने वाले (अग्नये) अग्रणी नेता, राजा के हित के लिये (मन्त्रम्) उत्तम विचार, वेदानुकूल विज्ञान वाक्य को (वोचेम) उच्चारण करें, कहें ॥

यज्ञपक्ष में—यज्ञ में आते हुए हम ईश्वर की उपासना के लिये मन्त्रों को उच्चारण करें । वह हमारा दूर और पास सर्वत्र सुनता है ॥ शत० ३ । ३ । ४ । १० ॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम् ।
अपाᳬ रेताᳬसि जिन्वति ॥ १२ ॥ ऋ० ८ । ४४ । १६ ॥

विरूप आंगिरस ऋषिः । अग्निः । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक में या प्रकाशवान् जगत् में जिस प्रकार (मूर्धा) सबके शिरोभूत, सब से ऊपर (अग्निः) सूर्य, सबका प्रवर्त्तक और प्रकाशक है उसी प्रकार (अयम्) यह (ककुत्) सब से महान् सर्वश्रेष्ठ (पृथिव्याः पतिः) पृथिवी का भी स्वामी राजा है। वह (अपां) समस्त प्रजाओं के (रेतांसि) समस्त वीर्यों को (जिन्वति) स्वयं ग्रहण करता, वश करता है ॥

ईश्वर पक्ष में—(अग्निः) सर्वस्वामी ईश्वर, (मूर्धा) सर्वोपरि

विराजमान है। वह (दिवः ककुत्) द्यौ, अकाश और सूर्य आदि से भी महान् और जलों के वीर्यों, उत्पादक सामर्थ्यों को (जिन्वति) पुष्ट करता है, शक्तिमान् बनाता है। सूर्य के पक्ष में—(अपाम् अग्निः दिवः मूर्धाः, पृथिव्याः ककुत् पतिः) यह अग्नि सूर्य, द्यौलोक का शिर, पृथिवी का सब से बड़ा पालक है, वह (अपां रेतांसि जिन्वति) समस्त जलों, प्राणियों के उत्पादक वीर्यों को पुष्ट करता है ॥ शत० १। ३। ४। ११ ॥

उभा वामिन्द्राग्नी ऽआहुवध्या ऽउभा राधसः सह मादयध्यै ।
उभा दातारविषाꣳ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ॥१३॥

ऋ० ६। ६०। १३ ॥

भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषिः। इन्द्राग्नी देवते। स्वराट् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र-अग्नी) इन्द्र और अग्ने ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! हे (अग्ने) शत्रुसंतापक अग्ने ! अग्रणी ! सेनानायक ! (वाम् उभा) तुम दोनों को (आहुवध्यै) अपने पास बुलाने के लिये और (उभा) दोनों को (राधसः) नाना ऐश्वर्य के द्वारा (सह) एकत्र (मादयध्यै) आनन्द लाभ करने के लिये (हुवे) मैं बुलाता हूं। (उभा) तुम दोनों (इषाम्) अन्नों और (रयीणाम्) ऐश्वर्यों के (दातारौ) प्रदान करने वाले हैं। (उभौ) आप दोनों को (वाजस्य) उत्तम अन्न के (सातये) प्राप्ति और भोग के लिये (वाम्) तुम दोनों को (हुवे) बुलाता हूं। दोनों को आदरपूर्वक स्वीकार करता हूँ। विद्युत् अग्नि के पक्ष में—परस्पर के बुलाने, वार्तालाप, दूरस्थ देश से सन्देश आदि देने और धन ऐश्वर्य के परस्पर मिल कर भोग करने के लिये समस्त कामनाओं और ऐश्वर्यों के प्रदाता वीर्यवान्, या बलयुक्त कार्यों की सिद्धि के

१३—०'दातारा इषाꣳ' इति काण्व० ।

लिये अग्नि और विद्युत् शक्तियों को मैं (हुवे) स्वयं अपने वश करता हूँ ॥ अथवा, इन्द्र = सूर्य और अग्नि ॥ शत० २ । ३ । ४ । १२ ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो ऽअरोचथाः ।
तञ्जानन्नग्न ऽआरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ १४ ॥

ऋ० ३ । २९ । १० ॥

देवश्रवोदेवरातौ भारतावृषी । अग्निर्देवता । स्वराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे अग्ने ! (ते) तेरा (अयम्) वह (योनिः) मूल आश्रय स्थान, (ऋत्वियः) ऋतुओं, राजकर्ताओं और सदस्यों में आश्रित है । (यतः) जहां से (जातः) तू समर्थ्यवान् होकर (अरोचथाः) प्रकाशमान होता है । हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! (तम्) उस अपने मूलकारण को (जानन्) भली प्रकार जानता हुआ ही तू (आरोह) ऊंचे पद, सिंहासन पर आरूढ़ हो (अथ) और तू (नः) हमारे (रयिम्) ऐश्वर्य को (वर्धय) बढ़ा ।

ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य । वै० १ । १ । १३ ॥ ऋतवो वै विश्वेदेवाः । शत० ७ । १ । १ । ४२ ॥ ऋतवः उपसदः । शत० १० । २ । ५ । ७ । सदस्या ऋतवो ऽभवन् । तै० ३ । ११ । ९ । ४ ॥ शत० । २ । ३ । ४ । १३ ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो ऽअध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ १५ ॥

ऋ० ४ । ७ । १ ॥

वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम्) इस अग्नि के समान शत्रुसंतापक (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ पुरुष को (इह) इस राष्ट्र में (धातृभिः) राष्ट्र के धारण

१४—विश्वामित्र ऋषिः ऋग्वेदे ३ । २९ । १० ॥

करने वाले पुरुषों द्वारा (धायि) अधिकारी रूप में स्थापित करते हैं। यह (होता) सबको अपने वश में लेने वाला, (यजिष्ठः) सब का संगतिकारक (अध्वरेषु) यज्ञों में यज्ञशील होता के समान (अध्वरेषु) संग्रामों में (ईड्यः) स्तुति के योग्य है। (यम्) जिसको (अप्नवानः) प्रजा, सन्तान वाले, सत्कर्मवान् (भृगवः) तपस्वी पुरुष, वानप्रस्थ पुरुष जिस प्रकार वनों में नाना प्रकार से अग्नि को प्रज्वलित करते हैं, उसी प्रकार वे (विशे-विशे) प्रत्येक प्रजासंघ में (चित्रम्) पूजनीय (विभ्वम्) विशेष सामर्थ्यवान् पुरुष को (विरुरुचुः) विशेष रूप से प्रदीप्त करते हैं ॥ शत० २ । ३ । ४ । १४ ॥

अस्य प्रत्नामनु द्युतꣳ शुक्रं दुदुह्रेऽअह्रयः ।
पयः सहस्रसामृषिम् ॥ १६ ॥ ऋ० १ । ५४ । १ ॥

अवत्सार ऋषिः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अस्य) इस अग्निरूप परमेश्वर की (प्रत्नाम्) अति पुरातन, अनादि सिद्ध (द्युतम्) द्युति, कान्ति, तेज, शक्ति को (अह्रयः) आकाश में रश्मियों द्वारा फैलने वाले, प्रकाशमान, तेजोमय सूर्य आदि, (शुक्रम्) शुक्र, कान्तिमय तेज के रूप में (दुदुह्रे) दोहते हैं, प्राप्त करते हैं। वे मानो, सर्व कामदुघा परमेश्वर रूप गौ के तुल्य कामधेनु (सहस्रसाम्) सहस्रों को सम्पादन करने वाले (ऋषिम्) सब के प्रेरक, सर्वद्रष्टा परमेश्वर से (पयः) पुष्टिकारक दुग्ध के समान बल और वीर्य को (दुदुह्रे) प्राप्त करते हैं ॥

राजपक्ष में – (अह्रयः अस्य प्रत्नाम् द्युतम्, शुक्रम् ऋषिम्, सहस्रसाम् पयः दुदुह्रे) दूर २ तक प्रज्ञा द्वारा पहुंचने वाले विद्वान् इस राजा के प्रत्न = श्रेष्ठ कान्ति या वीर्य को ऋषि, व्यापक या निरीक्षक शक्ति को और (सहस्रसाम्) हज़ारों को, अन्न वस्त्र शरण देने वाले शक्ति और

१६—'वत्सार' गौः पयो वा देवता इति सर्वा० । अवत्सार इति ऋ० ।

पुष्टिकारक बल को, गाय से दूध के समान प्राप्त करते हैं। हजारों कार्यों के साधक प्रदीप के समान पदार्थदर्शक अनादि सिद्ध कान्ति को अग्नि से विद्वान् लोग प्राप्त करते हैं ॥ शत० २ । ३ । ४ । १५ ॥

तनूपाऽ अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्मऽआपृण ॥१७॥

अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! तू (तनूपाः असि) हमारे शरीरों की रक्षा करने हारा है । तू (मे) मेरे (तन्वम्) शरीर की (पाहि) रक्षा कर । हे (अग्ने) अग्ने ! (आयुर्दाः असि) तू आयु, जीवन का देने वाला है (मे आयुः देहि) मुझे आयु प्रदान कर । हे (अग्ने) अग्ने (वर्चोदाः असि) तू वर्चस्, तेज को देनेवाला है तू (मे वर्चः देहि) मुझे तेज का प्रदान कर । (यत् मे तन्वः) और जो मेरे शरीर में (ऊनं) न्यूनता हो (मे) मेरी (तत्) उस न्यूनता को (आ पृण) पूर्ण कर । शरीररक्षक, जीवनरक्षक, बल, तेज के दाता, राजा से भी ऐसी प्रार्थना सम्भव है । वह हमारे शरीर के न्यून बल की पूर्त्ति, अपनी सद्-व्यवस्था से करे । निर्बलों का बल राजा है ॥ शत० २ । ३ । ४ । १७-२० ॥

इन्धानास्त्वा शतꣳ हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहि वयस्वन्तो वयस्कृतꣳ सहस्वन्तः सहस्कृतम् । अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासोऽअदाभ्यम् । चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ॥ १८ ॥

चित्रावसो इत्यस्य ऋषय ऋषिः । अग्नी रात्रिश्च देवते । निचृद्ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

१७-१९ अवत्सार ऋषिः । द० ॥

१८-चित्रावसो इत्यस्य ऋषय ऋषिः । रात्रिर्देवता आहवनीयोपस्थानमन्त्राः १२-१८ एते । म० ॥

भा०—हे राजन् !अग्ने !(द्युमन्तं) प्रकाशमान्, तेजस्वी, (वयस्कृतम्) आयु के बढ़ाने और देने वाले, (सहस्कृतम्) बल के देने वाले (सपत्न-दम्भनम्) शत्रुओं के नाशक, (अदाभ्यम्) किसी से भी न मारने योग्य, सर्वविजयी। (त्वा) तुझ को (वयस्वन्तः) हम दीर्घायु (सहस्वन्तः) बलवान् और (अदब्धासः) शत्रुओं से कभी न मारे जाकर, अक्षुण्ण रह कर, (शतं-हिमाः) सौ वर्षों तक (इन्धानाः) तुझे प्रदीप्त और अधिक दीप्तिमान् करते हुए (सम् इधीमहि) हम भी अग्नि के समान तुझे बराबर बढ़ाते और कीर्ति में उज्ज्वल ही करते रहें। हे (चित्रावसो) नाना प्रकार के ऐश्वर्य वाले (स्वस्ति) तेरा कल्याण हो। (ते) तेरे (पारम्) पालन और पूर्ण करने वाले सामर्थ्य का मैं सदा (अशीय) भोग करूं।

ईश्वर पक्ष में—हे अग्ने परमेश्वर ! हम अहिंसित, दीर्घायु, बलवान् रहकर सौ वर्षों तक तेरे हा प्रकाशवान् स्वरूप को प्रकाशित करें ! तेरी कृपा से (पारं स्वस्ति अशीय) सर्व दुःखों को पार करके सुख भोग करें। इसी प्रकार अग्नि वा विद्युत् को भी दीर्घायु, बलकारक जीवन के शत्रुओं के नाशक रूप में प्रदीप्त करके उसको अपने उद्योग में लाकर समस्त सुखों को प्राप्त करें॥ शत० २ । ३ । ४ । २१–२३ ॥

सं त्वम॑ग्ने॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॑सागथाः॒ समृषी॑णाᳪं स्तु॒तेन॑ ।
सं प्रि॒येण॒ धाम्ना॒ सम॒हमायु॑षा॒ सं वर्च॑सा॒ सं प्र॒जया॒ सᳪं रा॒यस्पोषे॑ण ग्मिषीय ॥ १९ ॥

अग्निर्देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—हे अग्ने राजन् ! (त्वम्) तू (सूर्यस्य वर्चसा) सूर्य के तेज से (सम् अगथाः) युक्त हो। (ऋषीणाम्) मन्त्र द्वारा ऋषियों, विद्वानों के (स्तुतेन) प्रस्तुत, उपवर्णित, उपदिष्ट सत्य ज्ञान से भी (सम् अगथाः) तू युक्त हो। (प्रियेण धाम्ना) प्रिय धाम, स्थान, नाम और जन्म इन

तीनों प्रिय धामों, तेजों से (सम्) संयुक्त हो और मैं जीव तेरी रक्षा में रहकर (आयुषा) आयु से (वर्चसा) तेज से (प्रजया) प्रजा से और (रायस्पोषेण) धनैश्वर्यों की पुष्टि द्वारा (सं ग्मिषीय) संयुक्त होऊं।

ईश्वर पक्ष में—ईश्वर सूर्य के समान तेजोमय, ऋषियों के मन्त्रों द्वारा स्तुति किया गया है एवं प्रिय धारण सामर्थ्य से युक्त है। वह मुझे आयु, तेज, प्रजा, धन आदि दे। इसी प्रकार आचार्य तेजस्वी, ज्ञानी हो वह शिष्य को आयुष्मान्, तेजस्वी, प्रजावान्, ऐश्वर्यवान् बनावे ॥ शत० २।३।४।२४॥

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयोर्ज स्थोर्जं वो भक्षीय रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ॥ २० ॥

आपो देवता। भुरिग् बृहती। मध्यमः ॥

भा०—हे (आपः) जल के समान समस्त अन्न आदि पपार्थों के उत्पादक प्रजाजनो ! आप्त पुरुषो ! आप लोग अथवा हे (गावः) गौओं एवं उनके समान सर्वोत्पादक भूमियो ! आप (अन्ध स्थ) प्राणप्रद अन्न हो। अर्थात् (वः) तुम्हारे, तुम से प्राप्त (अन्नः) अन्न को मैं (भक्षीय) खाऊं, प्राप्त करूं। आप (महःस्थ) बल वीर्य रूप हो, (वः महः भक्षीयः) तुम्हारे बल वीर्य का मैं भोग करूं। (ऊर्जः स्थ) तुम उत्तम अन्न रस रूप हो (वः ऊर्जः भक्षीय) तुम्हारे बलकारी रस का मैं भोग करूं। (रायस्पोषः स्थ) ऐश्वर्य के द्वारा प्राप्त पुष्टिरूप हो (वः रायः पोषं भक्षीय) आपके द्वारा मैं ऐश्वर्य की पुष्टि को प्राप्त करूं। अथवा अन्न आदि नाना पदार्थों को ही सम्बोधन करके इनके सार भाग प्राप्त करने की प्रार्थना है।

२०—याज्ञवल्क्य ऋषिः। आपो देवता। द० ॥ २०-२२ त्रीणि गव्यानि। सर्वा० ।

अथवा अन्न दुग्धादि के उत्पादक गौओं वा भूमियों को सब कुछ मानकर उनसे उन सब पदार्थों की प्रार्थना है ॥ शत० २ । ३ । ४ । १५ ॥

रेवती रमध्वमस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन् क्षये । इहैव स्त मापगात ॥ २१ ॥

विश्वेदेवा देवताः । उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (रेवतीः) धन सम्पन्न समृद्ध प्रजाओ ! आप लोग (अस्मिन् गोष्ठे) इस गोष्ठ, गौओं वाणियों के निवास स्थान या भूमि के आश्रयभूत (अस्मिन् क्षये) इस सब के बसाने वाले, घर के समान आश्रयप्रद राजा पर निर्भर रहकर इस राष्ट्र में (रमध्वम्) आनन्दपूर्वक रहो । (इह एव स्त) यहां ही रहो । (मा अपगात) यहां से दूसरे देश मत जाओ ॥ गो पक्ष में—हे गौवो ! तुम इस गोशाला और घर में रहो, यहां से दूर मत होओ ॥ शत० २ । ३ । ४ । २६ ।

[1]सꣳहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन ।
[2]उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥ २२ ॥

वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । (१) भुरिऽगासुरी गायत्री, (२) गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे गौ ! तू (संहिता असि) भली प्रकार से घरों में बांध ली जाती है । तू ही (विश्वरूपी) नाना प्रकार के पशुओं के रूप धारण करने वाली है, उनकी प्रतिनिधि है । तू (ऊर्जा) अन्न सम्पत्ति और (गौपत्येन) गौओं के पति या स्वामित्व के यश के साथ (मा आविश) मुझे प्राप्त हो ॥

२१—याज्ञवल्क्य ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । द० । अस्मिन् लोकेऽस्मिन् गोष्ठे । इति काण्व० ॥

गौर्दे० । सर्वा० ।

प्रजा के प्रति राजा—हे प्रजे ! (विश्वरूपी) तू नाना रूप की है, समस्त प्रकार के जनों-प्राणियों से युक्त है। तू (संहिता असि) भली प्रकार व्यवस्था में बद्ध है। (ऊर्जा) बल से और (गौपत्येन) पृथ्वी के स्वामित्व के साथ (मा आविश) मुझे प्राप्त हो ॥

हे (अग्ने) अग्ने राजन् ! परमेश्वर ! हे (दोषावस्तः) अपने तेज से रात्रि रूप अन्धकार को आच्छादन करने हारे ! हम (दिवे दिवे) प्रतिदिन (धिया) अपनी बुद्धि और कर्म से (नमः भरन्तः) नमस्कार करते हुए या अन्नादि पदार्थ प्राप्त कराते हुए (त्वा उप एमसि) तुझे प्राप्त हों। अथवा - हे परमेश्वर प्रतिदिन हम धारणा द्वारा तेरा ध्यान करते हुए तुझे प्राप्त हों ॥ शत० २ । ३ । ४ । २३ ॥

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्द्धमानᳬं स्वे दमे ॥२३॥

ऋ० म० १ । १ । ८ ॥

वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(राजन्तम्) सर्वत्र यश और प्रताप से प्रकाशमान (अध्वराणाम्) शत्रुओं से न नाश होने योग्य दुर्ग और उत्तम रक्षा के उपायों के रक्षक, (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (दीदिविम्) प्रकाशक, (स्वे दमे) अपने दमन कार्य में (वर्धमानं) सब से अधिक बढ़ने वाले तुझ राजा को हम अन्न का उपहार करते हुए प्राप्त हों।

ईश्वर पक्ष में—यज्ञों के रक्षक, ऋग्वेद के प्रकाशक, परम मोक्ष पद में विद्यमान, सर्वोपरि राजमान परमेश्वर की हम उपासना करें ।

अग्नि पक्ष में—इसी प्रकार प्रकाश या अग्नि को हम अपने घर में हवि से पुष्ट करें ॥ शत० २ । ३ । ४ । २७ ॥

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ॥२४॥

ऋ० १ । १ । ९ ॥

वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे राजन् ! अग्ने ! प्रभो ! अग्रणी पुरुष ! (सः) वह तू (सूनवे) पुत्र के लिये पिता के समान (सु-उपायनः भव) सुख पूर्वक प्राप्त होने योग्य, शरण के समान पालक हो और (नः स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिये (नः सचस्व) हमें प्राप्त हो । राजा प्रजा के प्रति पिता के समान हो । उनके कल्याण के लिये कार्य में नियुक्त हो । इसी प्रकार ईश्वर भी है ॥

अग्ने त्वं नोऽअन्तम उउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।
वसुरग्निर्वसुश्रवा ऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमथ्ठं रयिं दाः ॥२५॥

ऋ० ५ । २४ । ११ ॥

[२५–२८] बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्चत्वार एकैकश ऋषयः । सर्वा० ।
अग्निर्देवता । भुरिग् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी, राजन् (त्वं नः अन्तमः) तू हमारा सबसे निकटतम सहायक (उत) और (त्राता) रक्षक (शिवः) सुखकारी और (वरूथ्यः) हमारे गृहों के लिए हितकारी, अथवा वरुथ सेना का पति है। तू (अग्निः) सब का नेता होकर भी (वसुः) सबको बसाने वाला और (वसु-श्रवाः) धन-ऐश्वर्य के कारण महान्, कीर्ति से सम्पन्न है । तू (अच्छ नक्षि) हमें भली प्रकार उत्तम रूप से प्राप्त हो और हमें (द्युमत् तमम्) अति उज्ज्वल, (रयिम्) धन-ऐश्वर्य (दाः) प्रदान कर ॥

ईश्वर पक्ष में—हे परमेश्वर ! तू हमारे (अन्तमः) निकटतम या प्राणदाताओं में सबसे श्रेष्ठ है । तू त्राता, कल्याणकर, सर्वगुणवान् है । तू (वसुः) सर्वत्र बसने वाला, सबको बसाने वाला, सर्वत्र व्यापक है । तू हमें सर्वोत्तम उज्ज्वल ऐश्वर्य दे ॥

तन्त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ।
स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो ऽअघायतः समस्मात् ॥२६॥

२५—सुबन्धुर्ऋषिः । दे० । २६—सुबन्धुर्ऋषिः । द० ।

अग्निः । स्वराड् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (शोचिष्ठ) ज्वालायुक्त अग्नि के तुल्य तेज से अति देदीप्यमान ! हे (दीदिवः) प्रकाशयुक्त तेजस्विन् ! अग्ने ! राजन् ! (नूनम्) निश्चय से हमें (तम्) परम प्रसिद्ध (त्वा) तुझसे (सखिभ्यः) अपने मित्रों के लिये भी (ईमहे) याचना, प्रार्थना करते हैं । (सः) वह तू (नः) हमें, हमारे अभिप्राय को जान, अथवा वह तू हमें (बोधि) ज्ञान प्राप्त करा और हमारे (हवम्) स्तुति और प्रार्थना को (श्रुधि) श्रवण कर । (नः) हम (समस्मात्) सब प्रकार के (अघायतः) पापाचारी, अत्याचार करने वाले हिंसक पुरुष से (उरुष्य) बचा । ईश्वर के पक्ष में स्पष्ट है ॥ शत० २ । ३ । ३ । ३१ ॥

इड॒ऽएह्यदि॑त॒ऽएहि॒ काम्या॒ ऽएत॑ । मयि॑ वः काम॒धर॑णं भूयात् ॥२७

इडा अग्निर्देवता । विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (इडे) इडे ! पृथिवी ! अन्नदात्रि ! (आ इहि) हमें तू प्राप्त हो । हे (अदिते) अखण्डित राज्यशासनव्यवस्थे ! अथवा पृथिवी ! (आ इहि) तू हमें अखण्ड चक्रवर्ती राज्य शासन के रूप में प्राप्त हो । हे पुरुषो ! प्रजाजनो ! (वः कामधरणम्) आप लोगों की समस्त अभिलाषों का आश्रय (मयि भूयात्) मेरे पर निर्भर हो ॥ शत० ३ । २ । ४ ३५ ॥

सो॒मान॒ꣳ स्वर॑णं कृणु॒हि ब्र॑ह्मणस्पते । क॒क्षीव॑न्तं॒ य ऽऔ॑शि॒जः ।२८।

ऋ० १ । १८ । १ ॥

२७—श्रुतबन्धुर्ऋषिः । द० । ०'काम्य एहि । इति काण्व० । गौर्दे० । सर्वा० ॥

२८—ब्रह्मणस्पतिर्ऋषिः सएवदेवतेति महीधरः । बृहस्पतिर्देवतेति दयानन्दः । बृहस्पतिरेव ब्रह्मणस्पतिरिति उवट; । प्रबन्धुर्ऋषिः । द० ।

ब्रह्मणस्पतिर्मेधातिथिर्वा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । विराड्
गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्म = वेदशास्त्र के पालक ईश्वर वा आचार्य ! तू (यः) जो (औशिजः) कान्ति या प्रताप से उत्पन्न स्वयं तेजस्वी और प्रतापी है उसको ही (सोमानं) सबका प्रेरक सोम (स्वरणम्) सब का आज्ञापक, सन्मार्ग उपदेशक और (कक्षीवन्तम्) उत्तम कार्य, उत्तम नीतिसम्पन्न, विद्वान्, राज्यप्रबन्ध आदि कार्यों में, रथ में अश्व के समान, (कृणुहि) नियुक्त कर। तेजस्वी पुरुष को विद्वान् लोग राष्ट्र का नेता, प्रवर्तक आज्ञापक और प्रभुपद पर नियुक्त करें ॥

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर ! जो मैं सब विद्या का अभिलाषी हूँ मुझ को सब का साधक, सर्वविद्योपदेशक बना ॥ शत० ३ । १ । ४ । ३५ ॥

यो रे॒वान्यो अ॑मीव॒हा व॑सु॒वित्पु॑ष्टि॒वर्द्ध॑नः ।
स नः॑ सिषक्तु॒ यस्तु॒रः ॥ २९ ॥ ऋ० १ । १८ । २ ॥

ब्रह्मणस्पतिर्मेधातिथिर्वा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । गायत्री । षड्जः ।

भा०—हे ब्रह्मणस्पते ! (यः) जो (रेवान्) धनवान्, ऐश्वर्यवान्, (अमीवहा) रोगों और शरीर और मानस दोषों को दूर करने हारा, (वसुवित्) धनों, रत्नों का ज्ञाता अथवा (वसुवित्) राष्ट्र के वासी समस्त प्रजाजनों का ज्ञाता या प्राप्त करने वाला, उनको अपनाने वाला या वसुवित् वासस्थान, नगर, ग्रामादि एवं लोक-लोकान्तरों का ज्ञाता, प्राप्त कर्त्ता, उन पर वशी, (पुष्टि-वर्धनः) शरीरों की पुष्टि को बढ़ाने वाला, ईश्वर-राजा, वैद्य या हितकारी, पुत्र, मित्र है और (यः) जो (तुरः) शीघ्रकारी, विना विलम्ब से यथोचित काल में कार्य सम्पादन करता है (सः) वह (नः) हमें (सिषक्तु) प्राप्त हो, वह हमें संयोजित करे, संगठित करे, वह हमें मिलाये रखने में समर्थ हो। धनादिसम्पन्न, रोग, दोष, अपराधों

को दूर करने में समर्थ, प्रजापोषक, प्रजारंजक, तुरन्त कार्यकर्ता, अप्रमादी राजा हो। वही प्रजा को संगठित कर सकता है। ईश्वर के प्रति विशेषण स्पष्ट हैं। उवट के मत में, उक्त विशेषणों वाला पुत्र हमें प्राप्त हो॥ शत० २।३।४।३५॥

मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य।
रक्षा णो ब्रह्मणस्पते॥ ३०॥ ऋ० १।१८।३॥

ब्रह्मणस्पतिर्मेधातिथिर्वा ऋषिः। ब्रह्मणस्पतिर्देवता। निचृद् गायत्री। षड्जः॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के पालक प्रभो! (अररुषः) अदानशील, अराति, शत्रु का (शंसः) अनिष्टचिन्तन और (धूर्तिः) धूर्तता, हिंसाजनक प्रयोग (नः) हम तक (मा प्रणक्) न पहुंचे। तू (नः) हमें (रक्ष) बचा। अथवा हे परमेश्वर (नः शंसः मा प्रणक्) हमारी स्तुतियें नष्ट न हों और (अररुषः मर्त्यस्य धूर्तिः) शत्रु का हिंसा-प्रयोग हमें न प्राप्त हो। उससे तू (नः रक्ष) हमारी रक्षा कर॥ शत० २। ३।४।३६॥

महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षम्मित्रस्यार्यम्णः दुराधर्षं वरुणस्य॥३१॥
ऋ० १०।१५।१५॥

सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः। आदित्यः, स्वस्त्ययनम्। विराड गायत्री। षड्जः॥

भा०—(मित्रस्य) मित्र, (अर्यम्णः) अर्यमा और (वरुणस्य) वरुण (त्रीणाम्) इन तीनों का (महि) बड़ा (द्युक्षम्) ज्ञान-प्रकाश और न्याय का आश्रयभूत (दुराधर्षम्) एवं अभेद्य, अच्छेद्य (अवः) पालन या राज्य, प्रजापालन कार्य (अस्तु) हो। राज्य-शासन में मित्र, सब को मरने से त्राण करने वाला, रक्षा-विभाग, अर्यमा, न्याय-

---

३०—[३०–३३] सप्तधृतिर्वारुणिर्ऋषिः। द०॥

३१–३३ आदित्यदेवतम् पथि स्वस्त्ययनम्। सर्वा०।

विभाग, वरुण, शत्रुदमन एवं योद्धवर्ग इन तीनों द्वारा किये गये प्रजा-पालन के कार्य, नीति न्यायपूर्वक और शत्रुओं और द्रोहियों द्वारा अभेद्य हों जिनको कोई तोड़ न सके। भौतिक पक्ष में प्राण, सूर्य और बल इनका पालन कार्य हमें सदा प्राप्त हो ॥ शत० २ । ३ । ४ । ३७ ॥

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघशंसः ॥३२॥

ऋ० १ । १५ । २ ॥

सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः । आदित्यः । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(तेषाम्) उन राष्ट्रवासी प्रजाओं के (अमा चन) घरों में और (अध्वसु) मार्गों में और (वारणेषु) शत्रु, चोर, व्याघ्र आदि के निवारण करने वाले कार्यों में ही (अघ-शंसः) पापयुक्त कामों की शिक्षा देने वाला, दुष्ट षड्यन्त्रकारी पुरुष और (रिपुः) शत्रु, पापीजन (नहि, न ईशे) बल नहीं पकड़े, अथवा । पूर्वोक्त मित्र, वरुण, अर्यमा आदि के घर, मार्ग, युद्ध आदि में दुष्ट पुरुष घात नहीं लगा सकता ॥ शत० २ । ३ । ४ । ३७ ॥

ते हि पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ३३

सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः । आदित्यो देवता । विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(ते) वे मित्र, अर्यमा और वरुण पूर्वोक्त (अदितेः) अखण्ड शासन या पृथिवी के (पुत्रासः) पुत्र अर्थात् पुरुषों को पापों और दुःखों से त्राण करने वाले हैं जो (मर्त्याय) मनुष्य को (जीवसे) जीवन लाभ के लिये (अजस्रम्) अविनाशी (ज्योतिः) प्रकाश का (प्र यच्छन्ति) प्रदान करते हैं। भौतिक पक्ष में—वे (अदितेः) अखण्ड परमेश्वरी शक्ति के पुत्र उससे ही उत्पन्न हैं, वे मनुष्य को अविनाशी चेतना, जीवन प्रदान करते हैं ॥ शत० २ । ३ । ४ । ३७ ॥

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।

उपोपेन्नु मघवन् भूय ऽ इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ३४ ॥
ऋ० ८ । ५१ । ७ ॥

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । पथ्या बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! प्रभो ! आप (कदाचन) कभी भी (स्तरीः न असि) हिंसक नहीं हैं। कभी प्रजा का द्रोह नहीं करते और (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने वाले पुरुष को (सश्चसि) सदा सुख प्रदान करते हैं। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् (ते देवस्य) तुझ राजा, विजिगीषु का (दानम्) दान, (इत् नु) ही निश्चय से (उप पृच्यते) सदा हमें प्राप्त होता है और (भूयः इत् नु उपपृच्यते) खूब ही और बार बार, बराबर हमें मिलता और सम्पन्न करता है। राजा प्रजा का घातक न हो, प्रत्युत प्रजा पर अपना ऐश्वर्य बराबर प्रदान करे, अपनी सम्पत्ति से प्रजा को लाभ पहुंचावे ॥ शत० १ । २ । ४ । ३८ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ३५ ॥ ऋ० ३ । ६२ । १० ॥

विश्वामित्र ऋषिः । सविता देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(सवितुः) समस्त देवों के प्रसविता, उत्पादक और उत्कृष्ट शासक, आज्ञापक, प्रेरक (देवस्य) विजेता महाराज के (तत्) उस (वरेण्यम्) अति श्रेष्ठ (भर्गः) पाप को भून डालने वाले तेज को हम सदा (धीमहि) धारण करें, सदा अपने ध्यान में रक्खें, (यः) जो (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों और समस्त कार्य-व्यवहारों को (प्रचोदयात्) उत्तम मार्ग पर संचालित करता है ॥

ईश्वर पक्ष में—समस्त जगत् के उत्पादक और संचालक उस देव परमेश्वर के सर्वश्रेष्ठ, पापनाशक तेज को हम धारण करें (यः नः प्रचोदयात्) जो हमें सन्मार्ग में सदा प्रेरित करे ॥ शत० २ । ३ । ४ । ३९ ॥

परि॑ ते दू॒डभो॒ रथो॒ऽस्माँ२ ऽअ॑श्नोतु वि॒श्वतः॑ ।
येन॒ रक्ष॑सि दा॒शुषः॑ ॥ ३६ ॥　　ऋ० ४ । ९ । ८ ॥

वामदेवो गौतम ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(येन) जिससे हे राजन् ! तू (दाशुषः) दानशील, करप्रद प्रजाजनों की (रक्षसि) रक्षा करता है, वह (ते) तेरा (दूडभः) अपराजित, अविनाशी, अजेय (रथः) युद्ध का साधन रथ, वज्र, बल और ज्ञान है, वह (अस्मान्) हमें (विश्वतः) सब ओर से (अश्नोतु) व्याप्त रहे, सब ओर से प्राप्त हो, हमारी रक्षा करे ॥

ईश्वर पक्ष में—जिस ज्ञान और वीर्य से वह समस्त उपासकों की रक्षा करता है वह उसका ज्ञान और बल हमें सब ओर से प्राप्त हो ॥ शत० २ । ३ । ४ । ४० ॥

भूर्भुव॒: स्व॒: सुप्र॒जाः प्र॒जाभि॑: स्या॒ꣳ सुवीरो॑ वी॒रैः सुपोष॒: पोषैः॑ ।
नर्य॑ प्र॒जां मे॑ पाहि॒ शꣳस्य॑ प॒शून्मे॑ पाह्यथर्य॑ पि॒तुम्मे॑ पाहि ॥ ३७ ॥

आसुररादित्यश्चर्षी । प्रजापतिर्देवता । ब्राह्मी उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(भूः भुवः स्वः) प्राण, उदान और व्यान इनके बल पर मैं पुरुष (प्रजाभिः) पुत्र पौत्र आदि सन्तानों से (सु-प्रजाः) उत्तम सन्तानवाला (स्याम्) होऊं । (वीरैः) वीर्यवान्, शूरवीर पुरुषों से मैं (सुवीरः स्याम्) उत्तम वीरों वा पुत्रों वाला होऊं। और (पोषैः) पुष्टि-

---

३६—विश्वामित्र इत्यनन्तयाज्ञिकः । ०विश्वतः । समिद्धा मा समर्धय प्रजया च धनेन च ॥ इति काण्व० ।

३७—वामदेव ऋषिः द० । ३७–४४ क्षुल्लकोपस्थानमन्त्राः । सर्वाः नर्येत्यादिप्रवत्स्यदुपस्थानमन्त्राः ३७–४३ पर्यन्ताः । तेषामासुरिरादित्यश्चर्षी सर्वा०। आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्नयो देवताः इति सर्वा० ०जाः प्रजया भूयासम् । सं० । ०पशून्मे पाहि इति काण्व० ॥ क्षुल्लकोपस्थानमासुरिदृष्टम् । प्रवत्स्यदुपस्थानमागतोपस्थानंचादित्यदृष्टम इति मही० ।

कारक धन, ऐश्वर्य और अन्न आदि पदार्थों से मैं (सु-पोषः) उत्तम पुष्टि युक्त, धन आदि सम्पन्न होऊं। हे (नर्य) नरों, पुरुषों के हितकारिन्! तू (मे प्रजाम् पाहि) मेरी प्रजा का पालन कर! हे (शंस्य) स्तुति योग्य (मे पशून् पाहि) मेरे पशुओं का पालन कर और हे (अथर्य) संशयरहित, ज्ञानवन्! (मे पितुम् पाहि) मेरे अन्न की तू उत्तम रीति से रक्षा कर। प्रत्येक प्रजाजन उत्तम सन्तानों, वीर पुरुषों और धनादि से सम्पन्न हो और राजा भी उत्तम प्रजा, वीर पुरुषों और रत्नों से युक्त हो। वह राजा और प्रजा दोनों पशु और अन्न की रक्षा के लिये हित-कारी, उत्तम, ज्ञानी और गुणवान् पुरुषों को नियुक्त करें। परमेश्वर से भी यही प्रार्थना समुचित है ॥ शत० २।४।१।१-५॥

आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम्।
अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह ऽआ यच्छस्व ॥ ३८ ॥

आदित्य आसुरिश्चर्षी। अग्निर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः॥

भा०—(विश्व-वेदसम्) समस्त ज्ञानों और धनों के स्वामी और (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (वसुवित्-तमम्) सब से अधिक धनों, ऐश्वर्यों को प्राप्त करने वा कराने वाले, या हम में से सबसे अधिक ऐश्वर्य प्राप्त करने वाले, श्रेष्ठ पुरुष को हम (आ अगन्म) प्राप्त हों, उसकी शरण में जाएं और कहें—हे (अग्ने) हमारे अग्रणी पुरुष! तू (सम्राट्) हमारे में सब से अधिक प्रकाशमान सम्राट् है। तू (द्युम्नम्) धन और अन्न को और (सहः) समस्त बल को (अभि अभि) सब ओर से (आ यच्छस्व) एकत्र कर और हमें प्रदान कर और प्रजा को प्राप्त करा॥

ईश्वर पक्ष में—(विश्ववेदसम् वसुवित्-तमम् आ अगन्म) सर्वज्ञ, ईश्वर परमात्मा की शरण में हम आवें। वह परम सम्राट् हमें धन और बल दे॥ शत० २।४।१।७, ८॥

३८—आसुरिरिति दया०।

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह ऽआ यच्छस्व ॥ ३९ ॥

आसुरिरादित्यश्चर्षी । अग्निर्देवता । भुरिग् बृहती न्यङ्कुसारिणी । मध्यमः ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) हमारा अग्रणी, नेता, राजा (गृहपतिः) हमारे घरों का पालक होने से गृहस्वामी के समान और (गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि के समान समस्त गृहस्वामियों से संयुक्त है अथवा राष्ट्ररूप गृह का स्वामी है । वह (प्रजायाः) समस्त प्रजा के (वसुवित्तमः) समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करने वालों में सबसे श्रेष्ठ है । हे (अग्ने) अग्रणी ! ज्ञानवन् ! हे (गृहपते) गृहों के स्वामिन् ! (द्युम्नम् सहः अभि आ यच्छस्व) तू बल और अन्न और धन ऐश्वर्य को सब प्रकार से नियत कर और हमें प्राप्त करा । राजा अन्य समस्त गृहस्थ प्रजा की संयुक्तशक्ति से स्थापित होकर स्वयं भी गृहस्थ रहे । वह भी सब के समान गृहस्थ, सब का स्वामी, सब के लिये अन्न और धन का आयोजक हो । ईश्वर पक्ष में—वह सबके गृहों का स्वामी, उपास्य है, वह भी महान् 'गृहपति' है । वह सब को अन्न, बल दे ।

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्द्धनः ।
अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह ऽआ यच्छस्व ॥ ४० ॥

आसुरिरादित्यश्चर्षी । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) अग्रणी नेता पुरुष (पुरीष्यः) लक्ष्मी और ऐश्वर्य प्राप्त करने और प्रजा को पुष्ट करने योग्य कर्मों का साधक इन्द्र या राजपद प्राप्त करने योग्य है, देवों वा राजाओं, प्रजाओं

३९—आसुरिरिति दया० ॥ आहवनीयो दे० । सर्वा० ॥ ०प्रजावान् वसुवित्तमः । इति काण्व० ।

४०—अन्वाहार्यपचनो दे० इति सर्वा० ।

के भी ऊपर वशकारी है और यह (रयिमान्) ऐश्वर्यवान् और (पुष्टि-वर्धनः) प्रजा के बल और ज्ञान को बढाने वाला है। हे (अग्ने) अग्ने राजन् ! हे (पुरीष्य) पुरीष्य ! इन्द्रासनयोग्य पुरुष ! (द्युम्नं अभि सहः अभि आरीच्छस्व) धन और बल को हमें प्राप्त करा।

पुरीष्यः—पुरीष्य इति वै तमाहुर्यः श्रियं गच्छति। समानं वै पुरीषं च करीषं च। श० २।१।१।७॥ पुरीषम् इमं पृथिवी। श०। १२।५।२।५॥ ऐन्द्रं हि पुरीषम्। श० ८।५।४।६॥ आत्मा के पक्ष में—पुरीतत् पुरीषम्। श० ८।४।४।६॥ ईश्वर पक्ष में—दिशः पुरीषम्। श० ८।७।४।१७॥ सूर्य पक्ष में—नक्षत्राणि पुरीषम्। श० ८।७।४।१४॥ शरीर के अग्नि पक्ष में—मांसं पुरीषम्। शत० ८।७।४।१७॥ जाठराग्नि पक्ष में—अन्नं पुरीषम्। श० ८।१।४।५॥ इत्यादि॥

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत ऽएमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥४१॥

आसुरिरादित्यः शंयुश्च बार्हस्पत्य ऋषयः। वास्तुपतिरग्निर्देवता। आर्षी पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे (गृहाः) गृहस्थ पुरुषो ! आप लोग (मा बिभीत) मत डरो, हम सैनिक राजपुरुषों से भय मत करो। (मा वेपध्वम्) मत कांपो, दिल में मत घबराओ। जब हम (ऊर्जम्) विशेष बल (बिभ्रतः) धारण करते हुए (एमसि) आवें और मैं राजा या अधिकारी पुरुष भी (ऊर्जम्) बल (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (सु-मनाः) शुभ मन से और (सु-मेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त होकर (मनसा मोदमानः) अपने मन से प्रसन्न होता हुआ (गृहान्) गृहों को, गृहस्थ पुरुषों को (एमि) प्राप्त होऊं। प्रजाजन राजपुरुषों को देख कर भय न करें। राजा के अधिकारी प्रसन्न, उत्तम चित्त होकर प्रजाजनों के पास जावें।

४१—आसुरिर्ऋषिः। इति दया०।

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न्येषु॑ सौ॑मन॒सो ब॒हुः ।
गृ॒हानुप॑ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः ॥ ४२ ॥

शंयुर्ऋषिः । वास्तुपतिरग्निर्देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(प्रवसन्) दूर प्रवास में रहता हुआ पुरुष (येषाम्) जिनकी (अधिःएति) याद किया करता है और (येषु) जिनके बीच में (बहुः) बहुत अधिक (सौमनसः) परस्पर शुभचिन्तता, एवं सुहृद्भाव है उन (गृहान्) गृहस्थ पुरुषों को हम उनके ही कृतज्ञ पुरुष (उपह्वयामहे) उनको पुकारते हैं । (ते) वे (नः जानतः) हम जानकार लोगों को पुनः (जानन्तु) जानें, पहचानें । हम दूसरे नहीं, राज-कारमों से दूर जाकर भी हम तुम्हें भूले नहीं, प्रत्युत तुम्हारे पास प्रेमभाव से आते हैं ॥

उप॑हूता ऽइ॒ह गाव॒ऽउप॑हूता ऽअ॒जाव॑यः ।
अथो॒ ऽअन्न॑स्य की॒लाल॒ ऽउप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ।
क्षेमा॑य व॒: शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ शं॒योः शं॒योः ॥४३॥

शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः । वास्तुपतिर्देवता । भुरिग् जगती । निषादः ॥

भा०—(इह) यहाँ, राष्ट्र में और गृह में (गावः) दुधार गौवें (उप-हूताः) हमें प्राप्त हों । (अजावयः उप-हूताः) बकरियां और भेड़ें प्राप्त हों । (अन्नस्य) प्राण धारण करने में समर्थ भोग्य पदार्थों में से (कीलालः) उत्तम अन्न आदि पदार्थ (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (उप-हूतः) प्राप्त हो । हे गृहो ! गृहस्थ पुरुषो ! (वः) तुम लोगों के पास मैं (क्षेमाय) आप लोगों की कुशल क्षेम, रक्षा के लिये और (शान्त्यै) विघ्नों और विघ्नकारियों को शान्त करने और सुख प्रदान करने के लिये (प्र पद्ये) तुम्हें प्राप्त होऊं । (शंयोः शंयोः) सुख शान्ति-दायक, प्रत्येक उपाय से (शिवम् शग्मम्) कल्याण और सुख ही प्राप्त हो ॥

प्र॒घा॒सिनो॑ हवामहे म॒रुत॑श्च रि॒शाद॑सः ।

करम्भेण सजोषसः ॥ ४४ ॥

[४४–६३] प्रजापतिर्ऋषिः । मरुतो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हम लोग (प्रघासिनः) उत्तम अन्न के भोजन करने हारे (रिशादसः) हिंसकों के विनाशक और (करम्भेण) उत्तम कर्म करने हारे पुरुष के साथ (सजोषसः) प्रेम करने वाले (मरुतः) विद्वान्, शूरवीर प्रजा के पुरुषों को (हवामहे) अपने घरों पर बुलावें, निमन्त्रित करें अथवा (करम्भेण सजोषसः) करम्भ = यवमय अन्न से तृप्त होने वाले प्रेमी पुरुषों को अपने यहां बुलावें ॥ शत० २ । ५ । २ । २१ ॥

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।
यदेनश्चकृमा वयमिदन्तदवयजामहे स्वाहा ॥ ४५ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । मरुतो देवता । स्वराड् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(वयम्) हम (यद् एनः) जो पाप, अपराध, अयुक्त कार्य, निषिद्धाचरण (ग्रामे) ग्राम में करें, (यत् अरण्ये) जो बुरा काम जंगल में करें, (यत् सभायाम्) जो बुरा कार्य हम सभा में करें और जो काम हम (इन्द्रिये) आंख, नांक, कान और मन में भी, उनकी कुचेष्टा और दुरिच्छारूप से (चकृम) करें (तत्) उसको हम (अवयजामहे) सर्वथा त्याग दें । (स्वाहा) यह प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रति दृढ़ भावना किया करे ॥ शत० २ । ५ । २ । २५ ॥

'क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः' क्षत्रं वै निषेद्धा, विशो निषिद्धा आसन्निति ॥ शत० २ । ५ । २७ ॥

मा षू ण॑ऽइन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः ।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः ॥४६॥
(ऋ० १ । १७३ । १२)

४५—अथातश्चातुर्मास्यमन्त्राः आ अध्यायपरिसमाप्तेः । चातुर्मास्यानि प्रजापतेरार्षम् । सर्वा० ।।

अगस्त्य ऋषिः । इन्द्रो मरुतश्च देवताः । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! (अत्र) इस राष्ट्र में रहते हुए (नः) हमें (मा) सर्वथा मत मार, मत कटा । (सु) प्रत्युत उत्तम रूप से हमारी रक्षा कर । हे (शुष्मिन्) बलशालिन् ! (हि) निश्चय से (देवैः) देव, विजयशील सैनिकों सहित (ते) तेरा (अवयाः) पृथक् भाग (अस्ति) है । अर्थात् अन्नादि पदार्थों के लिये राजा अपना कर प्रजा से नियत भाग में लेले । उसके लिये वह प्रजा का संग्रामों में नाश न करे । (यस्य) जिस (मीढुषः) नाना सुखों के प्रवर्षक, उदार राजा के लिये (यव्या) यवों, अन्नों के बने उत्तम पदार्थ ही (महः चित्) बड़ी भारी पूजा सत्कार हैं और जिस (हविष्मतः) अन्न से सम्पन्न या अन्नादि से सम्पन्न (मरुतः) प्रजागणों या मारणशील सैनिक अधिकारीगण की (गीः) वाणी ही (वन्दते) वन्दना करती है उस तुझ इन्द्र के लिये प्रजा का अवश्य पृथक् भाग है । प्रजा राजा को उत्तम अन्नों से सत्कार करे और अधिकारियों को आदर से नमस्कार करे और वे उसी को अपना पर्याप्त सत्कार समझे ॥ शत० २ । ५ । २ । २८ ॥

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा ।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥ ४७ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(कर्म-कृतः) काम करने वाले पुरुष (वाचा सह) अपनी वाणी से (मयोभुवः) परस्पर एक दूसरे को सुख शान्ति प्रदान करते हुए (कर्म) काम (अक्रन्) करें । और हे (कर्म-कृतः) काम करने वाले कर्मचारी पुरुषो ! (देवेभ्यः) देवों, विद्वान् राजा आदि धनदाता पूज्य पुरुषों के लिये (कर्म कृत्वा) काम या सेवा करके (सचाभुवः)

परस्पर साथ मिल कर एक दूसरे के सहाय से सामर्थ्यवान् होकर प्रसन्नता पूर्वक (अस्तं प्र इत) अपने अपने घर को जाया करो ॥ शत० २।५।२ २९॥

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥ ४८ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः। यज्ञो देवता। ब्राह्मी अनुष्टुप्। गांधारः॥

भा०—हे (अवभृथ) अवभृथ, सबको नीचे से ऊपर तक भरण-पोषण करने हारे ! हे (निचुम्पुण) सर्वथा मन्द मन्द गति से चलने हारे ! अथवा नीचे स्वर से सभ्यता पूर्वक कहने हारे ज्ञानी पुरुष ! तू (निचेरुः) सब ज्ञानों को भली प्रकार संग्रह करने हारा और (निचुम्पुणः असि) सर्वथा मन्द गति, अति शान्ति से सर्वत्र पहुंचने हारा या अति शान्ति से वार्तालाप करनेहारा है। मैं भी (देवैः) देवों, अपने इन्द्रिय आदि प्राणों से, अथवा विद्वानों के द्वारा (देव-कृतम्) देवों, युद्ध विजयी सैनिकों द्वारा युद्ध में किये (एनः) घात-प्रतिघात आदि के अपराध को (अब अयासिषम्) दूर करता हूँ । (मर्त्यैः) साधारण मनुष्यों के द्वारा (मर्त्य-कृतम् एनः अव अयासिषम्) मनुष्यों के किये पाप को दूर करूं । हे (देव) देव ! राजन् ! (पुरु-राव्णः) अति अधिक रुलाने वाले, अति कष्टदायी (रिषः) हिंसक शत्रु पुरुष से तू (पाहि) हमारी रक्षा कर। राजा सबका पालन और अति शान्ति से शनैः २ सब कार्य करे । अधिकारी लोगों के अपराधों को उनकी व्यवस्था द्वारा दूर करे और प्रजा के अपने लोगों से प्रजा के परस्पर घात-प्रतिघात को रोके। बाहर के कष्टदायी शत्रु से राजा प्रजा की रक्षा करे। यज्ञपक्ष में—हे ज्ञानवन् ! आप ज्ञान से

४८—औणवाभ ऋषिः। द०। १ चुप मंदागयांगातौ (भ्वादिः) निपूर्वादतः उणः प्रत्ययः। नीचैरस्मिन् क्वणन्ति इति।

शुद्ध हैं और अन्तर्यामी भीतर ही भीतर उपदेश करते हैं । (देवैः देवकृतमेनः अयासिषम्) इन्द्रियों की तपस्या से इन्द्रियगत पापों को दूर करूं । पुरुषों द्वारा पुरुषों के दोष दूर करूं। हे परमात्मन् ! आप हमारी पाप से रक्षा करें ॥ शत० २।५।२।४७ ॥

पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरा पत ।
वस्नेव विक्रीणावहाऽइषमूर्जं शतक्रतो ॥ ४९ ॥

और्णवाभ ऋषिः । यज्ञो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः ॥

भा०—हे (दर्वि) देने योग्य पदार्थों को अपने भीतर लेने वाली पात्रिके ! (पूर्णा) तू पूर्ण होकर, भरी भरी (परा पत) दूसरे के पास जा । (सुपूर्णा) खूब पूर्ण होकर, भरी भरी ही (पुनः) फिर (आ पत) हमें भी प्राप्त हो । हे (शत-क्रतो) सैकड़ों कर्म करने में समर्थ इन्द्र ! राजन् ! (वस्ना इव) विक्रय करने योग्य पदार्थों के समान ही हम (इषम्) अन्न और मन चाहे सभी पादार्थ और (ऊर्जम्) अपने बल पराक्रम का भी (विक्रीणावहे) विनिमय करें, लें, दें । व्यापार में परिमाण पूरा पूरा दें और पूरा पूरा लें । इस प्रकार अन्न और मन चाहे सभी पदार्थ और परिश्रम को भी अदला बदला करें ।

यज्ञ पक्ष में—भरकर चमस डालें और फिर उत्तम वृष्टि आदि फल भी खूब प्राप्त हों । अन्न आहुति अग्नि मे दें और विनिमय में उत्तम रस-बल और अन्नोत्पत्ति प्राप्त करें ।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि मे निहारन्निर्हराणि ते स्वाहा ॥ ५० ॥

और्णवाभ ऋषिः । इन्द्रो देवता । भुरिग् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

५०इंद्रो दे० । सर्वा० ॥—'०ते दधौ ! निहारं निहरामि ते निहारं निहरासि मे स्वाहा ।' इति काण्व० ।

भा०—व्यापार के लेन देन का नियम दर्शाते हैं । (मे देहि) तुम अपना पदार्थ मुझे दो तो मैं भी (ते ददामि) तुम्हें अपना पदार्थ दूं । (मे निधेहि) तुम मेरा पदार्थ धरो, गिरवी रक्खो तो (ते निदधे) मैं तुम्हारे पदार्थ को भी अपने पास रक्खूं । (निहारं च) और तू यदि पूर्ण मूल्य का ये पदार्थ (मे हरासि) मेरे पास ले आवो तो (ते) तेरे द्रव्य का भी (निहारं) पूर्ण मूल्य (नि हराणि) चुका दूं । (स्वाहा) इस प्रकार सत्यवाणी, व्यवहार द्वारा व्यापार किया जाता है । अथवा इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपना पदार्थ प्राप्त करे । लोग सत्यवाणी पर विश्वास करके परस्पर लें दें, उधार करें और मूल्य चुकाया करें ॥ शत० २ । ५ । ३ । १९ ॥

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया ऽअधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ।५१

ऋ० १ । ८२ । २ ॥

गोतमो राहूगण ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् पंक्तिः । पंचम स्वरः ॥

भा०—(स्वभानवः) स्वतःप्रकाश, आत्मज्ञानी पुरुष (अक्षन्) अन्न का भोजन करें । (अमीमदन्त) सब को प्रसन्न करें और स्वयम् भी तृप्त हों । (प्रियाः) सब प्रिय, प्रेमपात्र होकर (अव अधूषत) सबके दुःखों को दूर करें और (विप्राः) विशेष ज्ञान से परिपूर्ण, विपश्चित, ज्ञानी पुरुष (नविष्ठया) अति प्रशस्त, नई, नई, पुनः (मती) मति, मनन द्वारा (अस्तोषत) ईश्वर एवं अन्य पदार्थों के सत्यगुणों का वर्णन करें । हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! सेनापते ! तू (ते) तेरे, अपने (हरि) हरणशील घोड़ों के समान बल और पराक्रम को भी (योज नु) इस राज्य कार्य में संयोजित कर । विद्वान् लोग सब पदार्थों का उत्तम उत्तम ज्ञान प्रस्तुत करें और राजा बल, पराक्रम द्वारा उनका उपयोग करे ॥ शत० २ । ६ । १ । ३८ ॥

सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि । प्र नूनं पूर्णवन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२ ऽअनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ ५२ ॥

ऋ० १ । ८२ । ३ ॥

गोतमो राहूगण ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (सुसंदृशम्) उत्तम रूप से सब को देखने हारे (त्वा) तुझको (वयं) हम (वन्दिषीमहि) अभिवादन करते हैं । तू (पूर्ण-वन्धुरः) पूर्ण रूप से सबका पालने हारा, एवं सबको व्यवस्था में रखने हारा होकर (स्तुतः) सबसे प्रशंसित होकर (नूनम्) निश्चय से (वशान् अनु) कामना योग्य समस्त पदार्थों को (प्र यासि) प्राप्त कर और हे (इन्द्र) राजन् ! तू अपने (हरी) रथ में अश्वों के समान दूरगामी एवं नाना पदार्थ प्राप्त कराने वाले बल पराक्रम दोनों को (योज नु) नियुक्त कर । अर्थात् जिस प्रकार रथ पर सब उपकरण लगा कर ही अपने घोड़े जोड़ता है, उसी प्रकार राष्ट्र में सब व्यवस्था करके अपने बल पराक्रम का प्रयोग कर ॥ शत० २ । ६ । १ । ३३ ॥

मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन । पितृणां च मन्मभिः ॥५३॥

ऋ० १० । ५७ । ३ ॥

बन्धुर्ऋषिः । मनो देवता । अतिपादनिचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(नाराशंसेन) विद्वान् नेता मनुष्यों के कथा-प्रवचन सम्बन्धी (स्तोमेन) गुणानुवाद से और (पितृणां च) पालन करने वाले ज्ञानी गुरुजनों के (मन्मभिः) ज्ञानसाधन, प्रमाणों या मनन करने योग्य मन्तव्यों द्वारा हम लोग (मनः) मन को, अपने ज्ञान और संकल्प विकल्प करने वाले अन्तःकरण की शक्ति को (आह्वामहे) बढ़ावें ।

५३—०न्वाहुवामहे ०इति काण्व०, ऋ० ।

बड़े पुरुषों के जीवनों और अनुभवों और उनकी युक्ति-परम्परा और ज्ञानमय उपदेशों और परस्पर प्रतिस्पर्द्धा से हम अपने ज्ञान को बढ़ावें ॥ शत० २ । ६ । १ । ३९ ॥

आ न ऽएतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ५४ ॥ ऋ० १० । ५७ । ४ ॥

बन्धुर्ऋषिः । मनो देवता । विराड् गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

भा०—(नः) हमें (पुनः) बार २ (क्रत्वे) उत्तम विद्या और उत्तम कर्म, अनुभूत संस्कार को पुनः स्मरण के लिये और (ज्योक् च) चिरकाल तक (जीवसे) जीवन धारण करने के लिये और (सूर्यम्) सबके सूर्य के समान ज्योतिर्मय परमेश्वर के (दृशे) देखने के लिये (मनः) मनः शक्ति या ज्ञान शक्ति (आ एतु) प्राप्त हो ॥ शत० २ । ९ । १ । ३९ ॥

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ।
जीवं व्रातꣳ सचेमहि ॥ ५५ ॥ ऋ० १० । ५७ । ५ ॥

बन्धुर्ऋषिः । मनो देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

भा०—हे (पितरः) पालक पूजनीय पुरुषो ! (दैव्यः जनः) देवों, विद्वानों में सुशिक्षित या देव परमेश्वर में निष्ठ आचार्य या देव, ईश्वरीय दिव्य शक्तियों, ईश्वर प्रदत्त अध्यात्म प्राणों का वशीकर्ता, विज्ञ (जनः) जन (नः) हमें पुनः २ (मनः) ज्ञान (ददातु) प्रदान करे । हम लोग (जीवं) जीवन और (व्रातम्) उत्तम व्रतों, कर्मों को (सचेमहि) प्राप्त हों । अर्थात् राज्य के पालक लोगों के प्रबन्ध से विद्वान् पुरुषों से हम ज्ञान प्राप्त करें, दीर्घ जीवन जीवें और सत्कर्म करें ॥ शत० २ । ६ । १ । ३९ ॥

वयꣳ सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः ।

प्रजावन्तः सचेमहि ॥ ५६ ॥　　ऋ० १० । ५७ । ६ ॥

बन्धुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक राजन् ! परमेश्वर ! (वयम्) हम (तव) तेरे (व्रते) बनाये शासन कर्म में वर्तमान रह कर और (तनूषु) अपने शरीरों और आत्माओं में (तव) तेरे दिये (मनः) ज्ञान को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (प्रजावन्तः) प्रजा पुत्र आदि से युक्त होकर (सचेमहि) सुख प्राप्त करें ।

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा । एष ते रुद्र भाग ऽआखुस्ते पशुः ॥ ५७ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (रुद्र) दुष्ट जनों को रुलाने हारे राजन् ! (ते एषः भागः) तेरा यह सेवन करने योग्य अंश है । (तं) उसको (स्वस्रा) अपनी भगिनी, सेना और (अम्बिकया) माता, पृथिवी के साथ (जुषस्व) स्वीकार कर । (स्वाहा) यह हमारा उत्तम त्याग है । हे (रुद्र) विद्वन् ! राजन् ! (ते) तेरा (एषः) यह (भागः) सेवन करने योग्य अंश है । (आखुः) भूमि को चारों ओर धातुओं, ओषधियों के खोदने वाला खनक वर्ग (ते) तेरे निमित्त नाना पदार्थों का (पशुः) देखने वाला है । वह तेरे लिये अभिमत लोह आदि धातु और औषध आदि पदार्थ प्राप्त कराता है । अथवा हे रुद्र ! विद्वन् ! (एष ते भागः) यह तेरा सेवन करने योग्य भाग है । (स्वस्रा अम्बिकया) उत्तम विवेककारिणी वेदवाणी से उसका विवेक करके (जुषस्व) सेवन करो । (ते पशुः आखुः) तेरा दर्शनकारी चित्त ही सबको चारों ओर खनन करने हारा है, वह तेरा पशु है । वह तुझे सर्वत्र पहुंचाने वाला है । अध्यात्म में–हे रुद्र ! प्राण ! यह अन्न

५७—बन्धुर्ऋषिः । द० ।

तेरा है। इसे विवेककारिणी वाणी के साथ भोग कर। चारों तरफ व्याप्त वायु या प्राण ही तेरा पशु, तेरे वाहन के समान है ॥ शत० २। ६। २। १० ॥

अव॑ रु॒द्रम॑दीम॒ह्यव॑ दे॒वं त्र्य॑म्बकम्। यथा॑ नो॒ वस्य॑स॒स्कर॒द्यथा॑ न॒: श्रेय॑स॒स्कर॒द्यथा॑ नो व्यवसा॒यया॑त् ॥ ५८ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः। रुद्रो देवता। विराट् पंक्तिः। पंचमः॥

भा०—(रुद्रम्) दुष्टों को रुलाने वाले (त्रि-अम्बकम्) तीनों कालों में ज्ञानमय वेद वाणी से तीन रूप अथवा उत्साह, प्रज्ञा, नीति आदि तीन शक्तियों से युक्त (देवम्) राजा से (अदीमहि) अपने समस्त कष्टों का अन्त करवावें। (यथा) जिससे वह (नः) हमें (वस्यसः) अपने राष्ट्र का सबसे उत्तम वासी, (करत्) बनावे और (यथा) जिससे वह (नः) हमें (श्रेयसः) सबसे श्रेष्ठ पदाधिकारी (करत्) बनावे और (यथा) जिससे वह (नः) हमें (वि-अवसाययात्) उत्तम व्यवसाय वाला, दृढ़ निश्चयी, कर्म में सफल यत्नवान् बनावे ॥ शत० २। ६। २। ११ ॥

ईश्वर पक्ष में—हम उत्पत्ति, स्थिति, तप आदि तीन शक्तियों से युक्त ईश्वर से अपने दुःख दूर करावें, वह हमें सर्वश्रेष्ठ बनावे ॥ शत० २। ६। २। ११ ॥

भे॒ष॒जम॑सि भेष॒जङ्गवेऽश्वा॑य॒ पुरु॑षाय भेष॒जम्। सु॒खम्मे॒षाय॑ मे॒ष्यै ॥ ५९ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः। रुद्रो देवता। स्वराड् गायत्री। षड्जः॥

भा०—हे (रुद्र) रुद्र! तू (भेषजम् असि) समस्त रोगों को

५८—[५८, ५९] बन्धुर्ऋषिः। द०।

५९—'० ०सुगां मेषाय०' इति काण्व०।

दूर करने में समर्थ है । अतः (गवे) गौओं (अश्वाय) घोड़ों और (पुरुषाय) पुरुषों के लिये भी तू (भेषजम्) उनके रोगों का नाशक है । तू ही (मेषाय) मेष, मेढ़ा, पुरुष और (मेष्यै) मेढ़ी या स्त्री के लिये भी (सुखम्) सुखकारी है । अध्यात्म में गौ—ज्ञानेन्द्रिय । पुरुष-देह । मेष—आत्मा । मेषी-चितिशक्ति । इन सबके कष्टों का वारक, वह रुद्र प्राण और प्राणों का प्राण परमेश्वर है ॥ शत० २ । ६ । १ । १२ ॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनं ।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥ ६० ॥

वसिष्ठ ऋषिः । रुद्रो देवता । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(त्रि-अम्बकम्) तीन शक्तियों से सम्पन्न (सुगन्धिम्) उत्तम मार्ग में प्रेरणा करने वाले । (पुष्टिवर्धनम्) प्रजा के पोषण कार्य को बढाने वाले राजा का हम (यजामहे) सत्संग करें, साथ दें, उसका आदर करें ! जिससे मैं प्रजाजन (मृत्योः बन्धनात्) मृत्यु के बन्धन से (उर्वारुकम् इव) लता के बन्धन से पके खरबूजे के समान (मुक्षीय) स्वयं मुक्त रहूँ, (अमृतात् मा) और अमृत अर्थात् जीवन वा मोक्ष से मुक्त न होऊं । इसी प्रकार (सुगन्धिम्) उत्तम मार्ग में प्रेरणा करने वाले (पति-वेदनम्) पालक पति को प्राप्त कराने वाले (त्र्यम्बकम्) वेद-त्रयी रूप ज्ञान से युक्त राजा का (यजामहे) हम आदर करते हैं । जिससे मैं (उर्वारुकम् इव) लताबन्धन से खरबूजे के समान (इतः बन्धनात्) इस लोक के बन्धन से (मुक्षीय) मुक्त हो जाऊं । (मा अमुतः) उस पारमार्थिक सम्बन्ध से न छूटूं ।

ईश्वर पक्ष में—शक्तित्रय से युक्त परमेश्वर की हम उपासना करें जिससे में मृत्यु के बन्धन से मुक्त होऊं और अमृत अर्थात् मोक्ष से दूर न होऊं। परम पालक को प्राप्त कराने वाले इस ईश्वर की पूजा करें, जिससे हम इस देह-बन्धन से छूटें, उस परम मोक्ष से वञ्चित न रहें। स्त्रियें भी प्रार्थना करती हैं—'उत्तम पति (पालक) प्राप्त कराने वाले परमेश्वर की हम उपासना करते हैं कि इस पितृ-बन्धन से छूटें और उस पतिबन्धन से वियुक्त न हों॥ शत० २।६।२।१३।१४॥

एतत्ते॑ रुद्रावसं तेन॒ परो॒ मूज॑वतोऽती॑हि । अव॑ततधन्वा पिना॑कावसः कृत्ति॑वासा॒ ऽअहि॑ꣳसन्नः शि॒वोऽती॑हि ॥ ६१ ॥

रुद्रो देवता । भुरिगास्तारपंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (रुद्र) शत्रुओं के रुलाने वाले शूरवीर ! (ते) तेरा (एतत्) यह (अवसम्) रक्षण सामर्थ्य है, (तेन) उससे (परः) उत्तम सामर्थ्यवान् होकर (मूजवतः) घास, वन आदि वाले महा पर्वतों को भी (अति इहि) पार करने में समर्थ है। तू (अवतत-धन्वा) धनुष कसे, (पिनाकावसः) शत्रुओं को दमन करने में समर्थ बल से युक्त होकर (कृत्ति-वासाः) चर्म के समान आच्छादन वस्त्र धारण किये हुए (नः) हमें (अहिंसन्) न विनाश करता हुआ (शिवः) सुख पूर्वक (अति इहि) गुज़र जा॥ शत० ६।६।२।७॥

त्र्यायुषं ज॒मद॑ग्नेः क॒श्यप॑स्य त्र्यायुषम् ।
यद् दे॒वेषु॑ त्र्यायुषं तन्नो॑ऽअस्तु त्र्यायुषम् ॥ ६२ ॥

६१—'एतेन रुद्रावसेन परो०' इति काण्व० । अतः परन्तु काण्व० अधिकम् ॥

६२—रुद्रो देवता । द० । कश्यपस्य त्र्यायुषं जमदग्नेः०, यद्देवानां० तन्मे० इति काण्व० ॥

नारायण ऋषिः । अग्निर्देवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(जमदग्नेः) नित्य प्रज्वलित, तीव्र जाठर अग्नि से युक्त या देदीप्यमान चक्षु वाले तत्वदर्शी पुरुष को जो (त्र्यायुषम्) बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि तीनों अथवा तिगुणी आयु प्राप्त होती है और (कश्यपस्य) कश्य अर्थात् ज्ञान के पालक पुरुष को जो (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण बाल्य आदि तीनों आयु प्राप्त होती है (यत्) और जो (देवेषु) देव, विद्वान् पुरुषों में (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु है (तत्) वह (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु (नः अस्तु) हमें भी प्राप्त हो ॥

शिवो नामा॑सि स्वधि॑तिस्ते पि॒ता नम॑स्तेऽअस्तु मा मा॑ हिꣳसीः । निर्व॑र्त्तया॒म्यायु॑षे॒ऽन्नाद्या॑य प्रजन॑नाय रा॒यस्पोषा॑य सुप्रजा॒स्त्वाय॑ सु॒वीर्या॑य ॥ ६३ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता । भुरिग् जगती । निषादः ॥

भा०—हे (रुद्र) दुष्टों को रुलाने हारे राजन् ! तू राष्ट्र के लिये (शिवः नाम असि) मंगलकारक, कल्याणस्वरूप है, (स्वधितिः) स्वयं अपने आपको धारण करने की शक्ति या खड्ग या वज्र (ते पिता) तुझे उत्पन्न करने वाला, तेरा पालक , 'पिता' है (ते नमः अस्तु) तुझे हमारा आदरपूर्वक नमस्कार हो । (मा मा हिंसीः) मुझ, तेरे अधीन प्रजाजन को मत मार । मैं (आयुषे) दीर्घ आयु को प्राप्त करने के लिये (अन्ना-द्याय) अन्न आदि भोग्यपदार्थ की भोगशक्ति की प्राप्ति के लिये, (प्रजननाय) उत्कृष्ट सन्तान उत्पन्न करने के लिये, (रायः पोषाय) धन की वृद्धि के लिये, (सु-प्रजास्त्वाय) उत्तम प्रजा को प्राप्त करने के लिये, (सु-वीर्याय) और उत्तम बल वीर्य के लाभ के लिये, तुझ रोदन-कारी तीक्ष्ण स्वभाव के उग्र पुरुष को अपने ऊपर आघात करने के कार्य

६३—नारायण ऋषिः द० । क्षुरो देवता । स० । अस्य स्थानेऽन्यन्मन्त्र-द्वयं काण्व० ॥

से (निवर्त्तयामि) निवृत्त करता हूँ, रोकता हूँ। अर्थात् राजा को प्रजा के आय, सम्पत्ति, अन्न, धन, पुष्टि, प्रजा और वीर्य की वृद्धि के लिये उनके नाशक कार्यों से निवृत्त रहना चाहिये। वह प्रजा को न मारे, प्रजा उसका आदर करे, वह प्रजा के लिये कल्याणकारी हो॥

परमेश्वर के पक्ष में—ईश्वर 'शिव' है, मङ्गलमय है। वह अविनाशी और दुःखहन्ता होने से 'स्वधिति' है। हे पुरुष! वह तेरा पिता है। उसको नमस्कार है। वह हमें नाश न करें। आयु आदि के लिये मैं उसके आश्रय होकर सब कष्टों को दूर करूं।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः॥

[त्रितीये त्रिषष्टिर्ऋचः।]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकारविरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये तृतीयोऽध्यायः॥
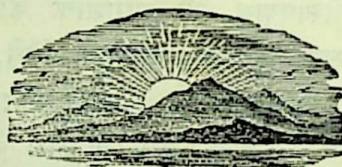
अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

१–२७ प्रजापतिर्ऋषिः ।।

।।ओ३म्।। एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वे । ऋक्सामाभ्याᳮ सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम । इमा आपः शमु मे सन्तु देवीरोषधे त्रायस्व स्वधिते मैनᳮ हिᳮसीः ॥ १ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । अबोषध्यौ देवते । विराड् ब्राह्मी जगती, त्र्यवसाना अत्यष्टिर्वा । निषादः ।।

भा०—हम (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच (इह) इस प्रत्यक्ष (देव-यजनम्) विद्वान् ब्राह्मणों के यज्ञ करने और राजाओं के शासन कर्म करने के स्थान पर (आ अगन्म) प्राप्त हों । (यत्र) जहां (विश्वे देवासः) समस्त देव, विद्वान् ब्राह्मण और राजा लोग (अजुषन्त) आकर बसें । वहां (ऋक्-सामाभ्याम्) ऋक्, विज्ञानमय वेदमन्त्र और साम, गायनमय सामगान दोनों उपायों से और (यजुर्भिः) परस्पर संघ बनाने के विधानरूप यजुर्मन्त्रों से (सं-तरन्तः) समस्त बाधाओं को पार करते हुए (रायः पोषेण) धन की वृद्धि अर्थात् अत्यन्त अधिक ऐश्वर्य और (इषा) प्रचुर अन्न प्राप्त करके (सम् मदेम) हम सब आनन्दित और सन्तुष्ट होकर रहें । (इमाः आपः) ये दिव्य गुणवाले एवं आप्त पुरुष (मे शम् उ सन्तु) मेरे लिए शान्तिदायक हों हे (ओषधे)

१—आद्यावर्द्धर्चौ देवयजनदैवत्यौ । इमा आपः । ओषधेकुशतरुणम् । स्वधिते क्षुरः ॥ सर्वा० ।। अतःपरमाग्निष्टोमा मह्यौः० [अ० ८ । ३२] पर्यन्तम् ।

ओषधे ! रोगनिवारक ओषधे ! या दोषों से रक्षा करने में समर्थ ! जलों के भीतर या उनसे उत्पन्न ओषधि के समान तीव्र स्वभाव के राजन् ! तू हमें (त्रायस्व) रक्षा कर । हे (स्वधिते) स्वधिते ! स्व = अपने बल से राष्ट्र को धारण करने में समर्थ वज्रमय या वज्र के समान क्षत्रबल से सम्पन्न ! शस्त्रबल से युक्त राजन् ! (एनं मा हिंसीः) इस मुझ प्रजाजन को या राष्ट्र को मत विनाश कर ॥ शत० का० ३ । १ । १ । ११, १२–१७ ॥

आपो॑ऽअस्मान्मा॒तर॑: शुन्धयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्व॑: पुनन्तु विश्व॒ꣳहि रि॒प्रम्प्र॒वह॑न्ति दे॒वीरुदिदा॑भ्य॒: शुचि॒रा पू॒तऽए॑मि । दी॒क्षा॒त॒पसो॑स्त॒नूर॑सि॒ तान्त्वा॑ शि॒वाꣳ श॒ग्मां परि॑दधे भ॒द्रं वर्णं॒ पुष्य॑न् ॥ २ ॥

आपो देवताः । स्वराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

भा०—(अस्मान्) हमें (आपः) जलों के समान स्वच्छ (मातरः) ज्ञान करने हारे या माता के समान पालन करने वाले आप्तजन (शुन्धयन्तु) शुद्ध करें, जैसे जलधारायें शरीर को शुद्ध करती हैं और माताएं अपने स्नेह और उपकार से हृदय के पाप को नष्ट करती हैं वैसे ही आप्त ज्ञानी पुरुष हमें आचार में पवित्र करें । वे (घृतप्वः) घृत, दीप्ति या तेजोमय अंश से पवित्र करने वाले आप्त जन (नः) हमें अपने (घृतेन) घृत से जिस प्रकार शरीर के विष नाश हो जाते हैं उसी प्रकार (पुनन्तु) पवित्र करें । (देवीः) दिव्य गुणवाली माताओं, जलधाराओं, नदियों के समान और देवियों के समान आप्त जन भी (विश्वम् रिप्रम्) समस्त पाप को (हि) भी (प्रवहन्ति) धो बहाते हैं । (आभ्यः इत्) इनसे ही (आ-पूतः) सब प्रकार से पवित्र होकर मैं (उत् एमि) उत्कृष्ट पद को

२—आपोऽस्मान् आपः । दीक्षातपसोर्वासः । सर्वा० ।

प्राप्त होऊं। जैसे जलों से स्नान करके मनुष्य शुद्ध वस्त्र पहनता है, वैसे आप्त-जनों करके अपने पाप से मुक्त होकर अपने शरीर और आत्मा को स्वच्छ कर लेता है। हे वासः! वस्त्र के समान आच्छादक शरीर! आत्मा के वासस्थान! तू (दीक्षातपसोः) दीक्षा अर्थात् सत्पथ पर दृढ़ता से रहने के उत्तम व्रतधारण और तपस् = तपस्या का बना (तनूः असि) शरीर है। (तां) उस (त्वा) तुझ (शिवाम्) कल्याणकारिणी (शग्माम्) सुखदायिनी, आरोग्य पवित्र को मैं (भद्रं वर्णं पुष्यन्) सुखकारी, उत्तम वर्ण को, उत्कृष्ट जीवन स्थिति को पुष्ट करता हुआ (परि दधे) धारण करूं। स्नान के बाद पुरुष जैसे दीक्षा के निमित्त विशेष स्वच्छ वस्त्र पहने उसी प्रकार दीक्षा और तप से शरीर को शुद्ध करके अपने जीवन को उच्च करे और ज्ञान की नदी रूप आप्तजनों के उपदेशों में स्नान करे॥

राजा के पक्ष में—आप्त पुरुष हमारे माता के समान पालक अपने तेज से हमें पापों से बचावे। मैं राजा उन आप्तजनों द्वारा शुद्ध पवित्र होकर उदय को प्राप्त होऊं। इस तप से प्राप्त पृथिवी को अपने शरीर के समान धारण करूं॥ शत० ३। १। २। १०-२०॥

महीनाम्पयोऽसि वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि।
वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दाऽअसि चक्षुर्मे देहि॥ ३॥

मेघो देवता। भुरिक् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—मेघ या नवनीत, घृत या आदित्य के दृष्टान्त से राजा के कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं। (महीनाम् पयः असि) हे सूर्य तू! (महीनाम्) पृथिवियों पर (पयः असि) जल बरसने का कारण है। अथवा, हे मेघ! तू पृथिवी पर जल बरसाता है। जैसे नवनीत गौओं के दूध से

३—महीनां नवनीतम्, वृत्रस्यांजनम्। स०। '०वृत्रस्य कनीनकासि०' इति काण्व०।

उत्पन्न है वैसे हे राजन् ! तू (महीनां) पृथिवी वासिनी प्रजाओं का (पयः असि) पुष्टिकारक सार भाग है । हे राजन् ! तू (वर्चोदाः असि) वर्चः, तेज का प्रदान करने हारा है (मे वर्चः देहि) मुझे वर्चस्, तेज और बल प्रदान कर । तू (वृत्रस्य) राष्ट्र को घेरने वाले शत्रु को भी (कनीनकः) आंख में पुतली के समान देखने वाला है । तू (चक्षुर्दाः असि) असि) चक्षु अर्थात् आँख का देने वाला है । (मे चक्षुः देहि) मुझे चक्षु प्रदान कर ॥

मेघ पक्ष में—जिस प्रकार सूर्य मेघ को भी अपने तेज से छिन्न भिन्न कर देता है । उसी प्रकार राजा शत्रु को छिन्न-भिन्न कर उसकी माया को खोल देता है । सूर्य वा अंजन जैसे चक्षु को दर्शन शक्ति देता है उसी प्रकार राजा वा विद्वान् भी प्रजा को मार्ग दिखाता है ॥

ईश्वर पक्ष में—(महीनाम्) तू महती, बड़ी बड़ी शक्तियों का (पयः) परम सार, उनका भी परम पोषक है । हे तेजस्वी ! तू मुझ उपासक को वर्चस् प्रदान कर । तू आवरणकारी वृत्र-अज्ञान को भी अपनी ज्ञानज्योति से चमका कर नाश कर देता है, सर्वद्रष्टा, सबको ज्ञानचक्षु प्रदान करता है, मुझे भी चक्षु प्रदान कर ॥

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः । तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ॥ ४ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । परमात्मा देवता । निचृद् ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(चित्-पतिः) समस्त चेतनाओं, चेतन प्राणियों और समस्त विज्ञानों का पालक परमेश्वर (मा पुनातु) मुझे पवित्र करे । (सविता देवः) सबका उत्पादक, उपास्य देव (अच्छिद्रेण) छिद्र रहित, अविनाशी

४—चित्पतिर्द्वे प्राजापत्ये । देवो मा सावित्रम । सर्वा० ॥

निर्दोष, (पवित्रेण) परम पावन, सबको शुद्ध करने वाले अपने स्वरूप से और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) तेजोमय किरणों से (मा) मुझे, मेरे अन्तःकरण और देह को (पुनातु) पवित्र करे । हे (पवित्रपते) पवित्र पुरुषों के पालक, शुद्धात्माओं के स्वामिन् ! (पवित्र-पूतस्य) पवित्रगुणों से परिपूत, शुद्ध (तस्य ते) उस तेरी कृपा से पवित्र हुआ मैं (यत्-कामः) जिस कामना को करके (पुने) अपने आपको पवित्र करू, दीक्षित होऊं (तत्) मैं उसको (शकेयम्) पूर्ण कर सकूं ॥

आ वो देवासऽईमहे वामम्प्रयत्यध्वरे ।
आ वो देवासऽआशिषो यज्ञियासो हवामहे ॥ ५ ॥

देवा देवताः । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (देवासः) देवगण, विद्वान् पुरुषो ! (प्रयति) उत्तम सुख और उत्तम फल देने वाले (अध्वरे) अविनाशी और हिंसारहित पालनात्मक शासनरूप यज्ञ में (वः) आप लोगों से (वामम्) प्राप्त करने योग्य, उत्तम कार्य सम्पादन करने की (ईमहे) याचना करता हूँ । हे (देवासः) विद्वान् ब्रह्मज्ञानी पुरुषो ! हे (यज्ञियासः) यज्ञ करने हारे ! (वः) आप लोगों से (आशिषः) मन की आशाओं या इच्छाओं की (हवामहे) हम याचना करते हैं ॥

स्वाहा यज्ञम्मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात् ।
स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳪं स्वाहा वातादारभे स्वाहा ॥६॥

यज्ञो देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—मैं प्रजापति, प्रजा का पालक (मनसः) मन से (यज्ञम्) यज्ञ का (स्वाहा) उत्तम वेदोक्त वाणी के मनन द्वारा (आरभे) यज्ञ

५—आवोदेव्यनुष्टुबाशीः । सर्वा० । '०रमे ।' इति काण्व० ।

६—स्वाहायज्ञं चतुर्णांयज्ञः । सर्वा० ॥

सम्पादन करूं । (उरोः) विशाल (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (स्वाहा) उत्तम आहुति द्वारा (यज्ञम् आ रभे) यज्ञ सम्पादन करूं । (द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यौ, ऊपर का विस्तृत आकाश और समस्त पृथिवी मण्डल दोनों से (स्वाहा) दोनों की शक्तियों को परस्पर आदान-प्रतिदान की क्रिया से (यज्ञम् आरभे) यज्ञ का सम्पादन करता हूँ और मैं (वातात्) वायु से, प्राण के निःश्वास और ऊछ्वास क्रिया द्वारा, अथवा समुद्र से मेघों को लेकर भूमि पर उत्तम रीति से वर्षण क्रिया द्वारा (यज्ञम् आरभे) यज्ञ करता हूँ ॥

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् ।
सम्पद्-विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥ रघु० ।

अर्थात् परमेश्वर पाँच यज्ञ करता है । (१) मानसयज्ञ, सबको अपने संकल्प बल से चला रहा है और वेदवाणी द्वारा सबको उपदेश करता है । (२) अन्तरिक्ष यज्ञ, उसमें नित्य मेघों का उठना और लीन होना । (३, ४) द्यावापृथिवीयज्ञ, सूर्य का जल खेंचना और पृथ्वी पर वर्षा की आहुति होना । (५) वातयज्ञ, वायु का मेघों को धारण करना, बिजुली का गिराना या प्राणापान यज्ञ । यह सब परमात्मा स्वयं करता है ।

[१]आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा । आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशंभुवो द्यावापृथिवी ऽउरो ऽअन्तरिक्ष । बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ॥ ७ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । अग्न्यब्बृहस्पतयो देवताः । (१) पंक्तिः । पंचमः ।
(२) आर्ची बृहती । मध्यमः ॥

७—आपादेवीर्लिङ्गोक्तदेवताः० । सर्वा० । अब्धावापृथिव्यन्तारिक्षबृहस्पतिदेवतत्यर्थः । अनन्त० । ०‘पृथिवी उर्वन्तरिक्ष ।’ इति काण्व० ।

भा०—अध्यात्म और आधिभौतिक यज्ञों का वर्णन करते हैं। (आकूत्यै) अपने संकल्पों या अभिप्राय को प्रकट करने वाले, (प्रयुजे) इन्द्रियों को अपने ग्राह्यविषयों में और अभिप्राय को प्रकट करने के लिये मन द्वारा विवेचन पूर्वक वाणी और अन्य कार्यों में शरीर के अन्य अगों के प्रयुक्त करने वाले (अग्नये) ज्ञानमय, चेतन अग्नि अर्थात् चेतन आत्मा को (स्वाहा) अपने 'स्व' आत्मा रूप से कहो। (मेधायै) मेधा = मे-धा अर्थात् मुझ आत्मा की धारणावती बुद्धि वा देह धारक शक्ति रूप और (मनसे) ज्ञान करने की शक्ति या सकल्प विकल्प करने वाली शक्ति रूप (अग्नये) पूर्वोक्त इन्द्रियों के नायक रूप से (स्वाहा) आत्मा का ज्ञान करो। (दीक्षायै तपसे अग्नये स्वाहा) दीक्षा, व्रत धारण करने और 'तप' अर्थात् तपस्या करने वाली शक्ति रूप (अग्नये) अग्नि को अपने आत्मा की शक्ति रूप से ज्ञान करो। (सरस्वत्यै पूष्णे अग्नये स्वाहा) सरस्वती, वाणी अर्थात् शब्दोच्चारण करने वाली शक्ति और 'पूषन्' शरीर को निरन्तर पुष्ट करने वाली शक्ति रूप अग्नि, चेतन शक्ति को 'स्व' अपनी आत्मा रूप से जानो। अर्थात् आत्मा की ही ये निज शक्तियाँ हैं आकृति प्रयोग, मेधा, मनस्, दीक्षा, तप, सरस्वती और पुष्टि। इनके रूप में प्रकट होने वाले अग्नि को तुम (स्वाहा) स्वयं अपना आत्मा जानो और (देवीः) दिव्य शक्तियों से युक्त (आपः) जल, जो (विश्वशम्भुवः) समस्त जगत् की शान्ति को उत्पन्न करती हैं और (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, सूर्य और भूमि, (अन्तरिक्ष) और अन्तरिक्ष अर्थात् वायु जिस प्रकार इन सबमें विद्यमान (बृहस्पतये) उस महान् शक्ति के परिपालक परमेश्वर के लिये हम (हविषा) अग्नि में जिस प्रकार इन पञ्चभूतों की शुद्धि के लिये औषधि आदि चरु को आहुति देते हैं, उसी प्रकार हविः, सत्य ज्ञान और प्रेमभाव से (विधेम) उपासना करें (स्वाहा) यह भी एक महान् यज्ञ है। अथवा (हविषा स्वाहा विधेम) हवि अर्थात् सत्य प्रेमभाव से स्वाहा अर्थात् उत्तम स्तुति, वाणी का

(विधेम) प्रयोग करें । ईश्वर की उत्तम स्तुति करें ॥ शत० ३ । १ । ४ । ५-१७ ॥

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीत सख्यम् ।
विश्वो रायऽइषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥ ८ ॥

स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । ईश्वरः सविता देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(विश्व) समस्त (मर्तः) मनुष्य लोग (नेतुः) अपने नेता (देवस्य) ईश्वर और राजा के (सख्यम्) मित्रता को (वुरीत) वरें, चाहें । (विश्वः) और सब (राये) धन ऐश्वर्य के प्राप्त करने के लिये (इषुध्यति) वाण, वा शस्त्रास्त्र धारण करें, वा चाहें और सभी (द्युम्नम्) धन को (पुष्यसे) शरीर और आत्मा की पुष्टि, बल वृद्धि के लिये (वृणीत) चाहें (स्वाहा) यही उसका उत्तम सद्-उपयोग है । या उस धन को उत्तम कार्य में त्याग करें ।

(विश्वो राये इषुध्यति) सभी धन की याचना करते हैं ॥ [उवट, महीधर] शत० ३ । १ । ४ । १८ । २३ ॥

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः
शर्म्मासि शर्म मे यच्छ नमस्तेऽअस्तु मा मा हिंसीः ॥ ९ ॥

विद्वान् देवता । आर्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०— ये कृष्ण और शुक्ल विद्याएं, क्रियात्मक और ज्ञानात्मक विद्या या कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों (ऋक्-सामयोः) ऋग्वेद और सामवेद इन दोनों के भीतर से उत्पन्न (शिल्पे स्थः) विशेष कौशल रूप हैं । (ते वाम्) उन दोनों को मैं (आरभे) आरम्भ करता हूँ, अभ्यास करता हूँ । (ते) वे दोनों (मा) मुझे (अस्य उदृचः

८—सविता दे० । सर्वा० ।

९—[९-१५] आंगिरस ऋषिः । कृष्णाजिनं दे० । सर्वा० ॥

यज्ञस्य) इस उत्तम ऋचाओं, वेद मन्त्र और ज्ञानों से युक्त यज्ञ की समाप्ति तक (मा पातम्) मुझे पालन करें। हे शिल्पपते ! (शर्म असि) तू शरण है। (मे शर्म यच्छ) मुझे सुख प्रदान कर, हे विद्वन् ! राजन् ! शिल्पस्वामिन् ! (ते नमः अस्तु) तुझे मैं आदरपूर्वक नमस्कार करता हूँ, (मा) मुझ को (मा हिंसीः) विनाश मत कर ॥

यज्ञ में कृष्णाजिन (मृगचर्म) यज्ञ के दो अङ्गों को स्पष्ट करता है, कृष्ण और शुक्ल। कदाचित् कर्मकाण्ड (Practical) और ज्ञानकाण्ड (Theoretical) दो स्वरूपों को दर्शाने के लिये पूर्व में दो शाखा भी प्रचलित हुई हों। वेद के दोनों अङ्गों से राज्य-शासन रूप यज्ञ की पूर्ति के लिये प्रार्थना है। उसके संचालक पुरुष का आदर और उससे रक्षा की प्रार्थना है।

अध्यात्म में—शुक्लगति और कृष्णगति, देवयान और पितृयाण और ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग दोनों ऋक् और साम के प्रतिपादित शिल्प = शील, आचार-विधान हैं। उनको हम (आ यज्ञस्य उदृचः) यज्ञ = आत्मा की ऊर्ध्वगति तक करते रहें। हे परमात्मन् ! यज्ञ ! तु सब का शरण है ! तुझे नमस्कार करते हैं। तू हमें (मा हिंसीः) मत मार, हमारी रक्षा कर। उक्त दो गतियों के विषय में उपनिषदों में--'द्वे सृती अश्रृणवम्' इत्यादि वर्णन है और 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते' इत्यादि गीता में भी स्पष्ट किया है।

शतपथ में--इस भूमि लोक और उस द्यौलोक दोनों को सम्बोधित किया है कि वे ऋक्, साम दोनों के शिल्प अर्थात् प्रतिरूप हैं। उन दोनों के बीच में जैसे हिरण्यगर्भ सुरक्षित है, माता पिता के बीच में जैसे गर्भगत बालक सुरक्षित है उसी प्रकार जीवनयज्ञ की समाप्ति तक ऋक् साम दोनों का अभ्यास मेरी रक्षा करे। छत और फर्श के समान दोनों का गृह बना है। वही हमारा शरण है। वह शरण हमें सुख दे। हमें विनाश न करें। शतपथ ३।२।१।१८ ॥

ऊर्णम्रदा असि ऊर्णम्रदा ऽऊर्जं मयि धेहि । सोमस्य नीविरसि विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः कृषीस्कृधि । [२]उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस ऽआस्य यज्ञस्योदृचः ॥ १० ॥

अंगिरस ऋषयः । यज्ञो देवता । (१) निचृदार्षी, निषादः, (२) साम्नी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (आंगिरसि) अंगिरस्, आदित्य या अग्नि से उत्पन्न होने वाली पृथिवी ! तू (ऊर्णम्रदा उग्र् असि) ऊर्ण = आच्छादन, अन्धकार का नाश करने वाली, प्रकाशरूप (उग्र् असि) बलरूप है । अथवा उनके समान कोमल, होकर भी बड़ी बलवती है । तू (मयि ऊर्जं धेहि) मुझ में बल या अन्नादि पदार्थ प्रदान कर । तू (सोमस्य) सर्वप्रेरक आदित्य या पर्जन्य को (नीविः) अच्छी प्रकार लाकर एकत्र करने वाली (असि) है । (विष्णोः) व्यापक जल का (शर्म्म असि) शरण, आश्रय स्थान है और (यजमानस्य शर्म) यज्ञ करने वाले पुरुष या इस महान् जलवृष्टि द्वारा अन्नोत्पादन करने वाले यज्ञपति का भी (शर्म) शरण या आश्रय है । (इन्द्रस्य योनिः असि) हे सूर्य के किरण ! (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील मेघ की तू (योनिः) उत्पत्ति स्थान है । हे पुरुष ! तु हमारी (कृषीः) खेतियों को (सु-सस्याः) उत्तम सस्य से युक्त (कृधि) कर । हे (वनस्पते) वनस्पते ! सेवन करने योग्य जल आदि पदार्थों के पालक पर्जन्य । तू (उत् श्रयस्व) ऊपर आ । (ऊर्ध्वः) ऊंचा होकर (अस्यै यज्ञस्य उदृचः आ) इस यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त (अंहसः पाहि) पाप से रक्षा कर ।

१०—मेखला नीविः वासः कृष्णा विषाणा दण्डश्च दे० । सर्वा० । ०ऊर्जं मे यच्छ । इति काण्व० ॥

मेखला पक्ष में—हे आंगिरसि, विद्वानों की रची मेखले ! तू बलरूप है, मुझे बल दे । सोम=ब्रह्मचारी या वीर्य की रक्षिका ग्रन्थि है । विष्णु व्यापक वेद और यजमान आत्मा की शरण है । इन्द्र=आचार्य की 'योनि' उत्पादक है । हे दण्ड ! तु आ । मेरे व्रत की समाप्ति तक तू मेरी रक्षा कर ॥

शिल्पविद्या पक्ष में—हे वनस्पते विद्वन् ! जो (आंगिरसी) विद्वानों द्वारा उत्पादित (उर्णम्रदा) प्रकाशकारिणी (ऊर्क्) अन्नोत्पादक बलवती शिल्प विद्या है वह मुझे बल दे । वह (सोमस्य नीविः) नाना पदार्थों की आश्रय है । (विष्णोः) विद्वान् को सुखकारी है । ऐश्वर्यवान् होने का कारण है । उसके बल पर उत्तम सम्पन्न खेतियों को पैदा कर । हे विद्वन् ! तू स्वयं उन्नति कर । हमें पापफल रूप दुःख से बचा । इस उत्तम यज्ञ की पूर्ति कर ॥

[1]व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः । दैवीन्धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वशे । [2]ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्तेनोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥

अग्निर्देवता । (१) स्वराड ब्राह्मी, गांधारः स्वरः । (२) आर्षी उष्णिक् । ऋषभः स्वरः ।।

भा०—हे पुरुषो ! आप लोग (व्रतं कृणुत) व्रत करो, धर्माचरण पालन करने का दृढ़ संकल्प धारण करो । (अग्निः ब्रह्म) ब्रह्म, वेदज्ञान और वह ज्ञानमय परमेश्वर ही महान् अग्नि, मार्गप्रदर्शक, विश्वप्रकाशक, ज्ञानप्रदाता तुम्हारा अग्रणी, आचार्य है । (यज्ञः अग्निः) यज्ञ ही सब का

११—यज्ञो, धीः, प्राणोदानौ चक्षुःश्रोत्रम् अध्यात्मम् । अग्नि र्मित्रावरुणा-चादित्यो विश्वेदेवा अधिदैवतम् ।। सर्वा० ।। 'व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत । अग्नि'०, 'वर्चोदां विश्वधायसं सु०' इति काण्व० ।।

पूजनीय अग्नि है। यही (यज्ञियः) सब देवपूजाओं के योग्य स्वयं (वनस्पतिः) वन, आत्माओं, जीवों का परिपालक प्रभु है। हम (दैवीम्) देव परमेश्वर की प्रदान की हुई, दिव्यगुण सम्पन्न धारणावती, (सुमृडीकाम्) उत्तम सुख प्राप्त कराने वाली, (वर्चोधाम्) तेजोदायिनी, (यज्ञ-वाहसम्) यज्ञ, पूज्य परमेश्वर तक पहुंचा देने वाली (धियम्) ध्यान, धारणावती योगसमाधि से प्राप्त प्रज्ञा की (मनामहे) याचना करते हैं। वह (सु-तीर्था) इस संसार से सुखपूर्वक तरानेहारी, भवसागर के पार पहुंचानेहारी, ब्रह्ममयी प्रज्ञा (नः) हमारे (वशे) वश में (असन्) रहें और (ये) जो (देवाः) देव, इन्द्रियगण (मनोजाताः) मन या मनन-शक्ति, विषय ग्रहण करने में समर्थ और (मनोयुजः) मन के साथ युक्त होकर (दक्ष-क्रतवः) बलपूर्वक कार्य करने और ज्ञान करने में समर्थ हो जाते हैं (ते नः अवन्तु) वे प्राणी भी हमारी रक्षा करें। (ते नः पान्तु) वे हमारा पालन करें। (तेभ्यः) उनको भली प्रकार आत्मा में आहुति करें। उनको अपने भीतरी आत्मा के वश, अन्तर्मुख कर लें। अथवा (ये देवाः) जो विद्वान् ज्ञानी लोग (मनोजाताः) विज्ञान या मनन द्वारा सामर्थ्यवान् होकर (मनोयुजः) अपने मन को परब्रह्म-विज्ञान में योग द्वारा जोड़ते हैं वे (दक्ष-क्रतवः) शरीर, आत्मा बल और प्रज्ञाओं से सम्पन्न हो जाते हैं। (ते नः अवन्तु ते नः पान्तु) वे हमारी रक्षा करें, वे हमें पापों से बचावें (तेभ्यः स्वाहा) उन ब्रह्मज्ञानी विद्वानों के लिये हम अन्न आदि का प्रदान करें, उनका आदर करें या उनसे हम उत्तम वेद-उपदेश ग्रहण करें॥ शत० ३।२।२।१–१८॥

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः। ता ऽअस्मभ्यमयक्ष्मा ऽअनमीवा ऽअनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऽऋतावृधः॥ १२॥

आपो देवताः । बृाह्मी अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (आपः) हे जलों के समान स्वच्छ बुद्धि वाले आप्त पुरुषो ! जिस प्रकार जल (श्वात्राः) अति शीघ्रगामी, पान करने योग्य होते हैं उसी प्रकार आप लोग भी (श्वात्राः) प्रशस्त धन और ज्ञान से युक्त और ज्ञानरस के पान करने वाले ही (भवत) बने रहो और जिस प्रकार जल (अन्तः उदरे) पेट के भीतर (सुशेवाः) सुखप्रद, सेवन करने योग्य होते हैं उसी प्रकार आप लोग (अस्माकम्) हमारे बीच में (सु-शेवाः) सुखप्रद, सुख से सेवन करने योग्य हैं और जिस प्रकार जल (अयक्ष्मा) यक्ष्मा, रोग से रहित (अनमीवाः) कष्टतर रोगों से भी रहित और (अनागसः) निष्पाप, पवित्र होकर हमें अति स्वादु प्रतीत होते हैं उसी प्रकार (ताः) वे आप्त प्रजाजन भी (अयक्ष्माः) राज यक्ष्मादि-रोगों से रहित, (अनमीवाः) नीरोग, (अनागसः) निष्पाप (देवीः) दिव्यगुणों से युक्त और (ऋतावृधः) सत्यज्ञान को बढ़ाने वाले (अमृताः) अमृत, पूर्ण शतायु, दीर्घजीवी होकर (अस्मभ्यम्) हमें (स्वदन्तु) सब प्रकार के सुख प्रदान करावें ॥ शत० ३ । २ । २ । १९ ॥

इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम् । अꣳहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव ॥ १३ ॥

आपो देवताः । भुरिग् आर्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे पुरुष ! (इयं) यह (ते) तेरी (यज्ञिया तनूः) यज्ञ के योग्य या यज्ञ अर्थात् आत्मा के निवास के योग्य होकर जिस प्रकार (अपः) प्राणों या जलों का त्याग नहीं करती, प्रत्युत उनको अपने भीतर धारण करती है, उसी प्रकार मैं पुरुष भी (प्रजाम् न मुञ्चामि) प्रजा का परित्याग नहीं करता । और हे आप्त पुरुषो ! हे प्राणो ! जल जिस प्रकार

१३—लाष्ठ मूत्रं च देवते । सर्वा० ॥

(पृथिवीम् आविशन्ति) पृथिवी के भीतर प्रवेश कर जाते हैं उसी प्रकार तुम भी (अंहोमुचः) आत्मा से उसके किये बुरे पापकर्मों को छुड़ाने वाले और (स्वाहाकृताः) वेदवाणी द्वारा उत्तम यज्ञानुष्ठान करने हारे, सब शरीर में अन्नादि का आदान करने वाले, प्राण जिस प्रकार पृथिवी के विकार-देह में प्रविष्ट हैं उसी प्रकार (पृथिवीम् आविशत) पृथिवी में स्थिर गृह आदि बनाकर रहो और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर हे पुरुष ! तू (सम्भव) भली प्रकार अपनी प्रजा उत्पन्न कर ॥ शत० २।१।२२०॥

अग्ने त्वꣳसु जागृहि वयꣳ सु मन्दिषीमहि ।
रक्षा णोऽअप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥ १४ ॥

अग्निर्देवता । स्वराडार्च्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) शत्रुसंतापक अग्ने ! राजन् ! (त्वं) तू (सु) भली प्रकार (जागृहि) जाग, प्रमाद रहित रह कर पहरा दे । (वयं) हम (सु) अच्छी प्रकार निश्चिन्त होकर (मन्दिषीमहि) सोवें । (नः) हमारी (अप्रयुच्छन्) प्रमाद रहित होकर (रक्ष) रक्षा कर (पुनः) और फिर हमें (प्रबुधे) जागृत दशा में (कृधि) करदे, जगादे ॥

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर ! तू बराबर जागता है, हम अविद्या में सोते हैं । तू बेचूक हमारी रक्षा कर, हमें पुनः प्रबोध, सत्य ज्ञान के लिये चैतन्य कर ! प्राण के पक्ष में—हम समस्त इन्द्रियां सोती हैं, प्राण जागता है । वह हमारी रक्षा करता है, पुनः निद्रा के बाद हम इन्द्रियों को वह चैतन्य करता है ॥ शत० ३।२।२।२२ ॥

पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रम्मऽआगन् । वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ १५ ॥

१५—अंगिरस ऋषयः । द० । '० आगात्' ३, ० '० अग्निर्मा०' इति काण्व० ॥

अग्निर्देवता । भुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०— शयन के बाद (मे मनः) मेरा मन (पुनः आ अगन्) मुझे पुनः प्राप्त होता है । (पुनः प्राणः) प्राण मुझे पुनः प्राप्त होता है । (पुनः चक्षुः) चक्षु मुझे फिर प्राप्त होता है । (मे श्रोत्रम् पुनः आ अगन्) मुझे श्रोत्र, कान पुनः प्राप्त होता है । (वैश्वानरः) समस्त नर देहों में प्राणों के नेतारूप से विद्यमान वैश्वानर, जीवात्मा (अदब्धः) अविनाशी (तनूपा) शरीर का स्वामी (अग्निः) अग्नि अग्रणी राजा के समान है, वह (नः) हमें (अवद्यात्) निन्दनीय (दुरितात्) दुष्टाचरण से (पातु) बचावे । ईश्वर पक्ष में भी स्पष्ट है कि रात्रि समय में वैश्वानर परमेश्वर अविनाशी है. वह हमारे शरीर का रक्षक 'तनूपा' है, वह हमें सब निन्दनीय पाप से बचावे । मरण के पश्चात् पुनः जीवन प्राप्ति के अवसर पर भी मन, आयु, प्राण, देह, चक्षु, श्रोत्र आदि हमें पुनः प्राप्त हों और ईश्वर हमें पाप से बचावे । इसी प्रकार प्रलय काल ब्राह्मरात्रि होती है, उसमें भी जीव सुप्त दशा में रहते हैं । उसके पश्चात् पुन ब्राह्म रात्रि के प्रारम्भ में हम जीवों को आयु आदि प्राप्त होते हैं । परमेश्वर ही सबके शरीरों, शरीर धारण के सामर्थ्यों को नित्य बचाता है । वह हमें पाप से बचावे। शत०३ । १ । २ । २३ ॥

त्वम॑ग्ने व्रत॒पाऽअ॑सि दे॒वऽआ मर्त्ये॒ष्वा । त्वं य॒ज्ञेष्वीड्यः॑ रास्वेय॑-त्सो॒मा भूयो॑ भर दे॒वो नः॑ सवि॒ता वसो॑र्दा॒ता वस्व॑दात् ॥ १६ ॥

ऋ० ८ । ११ ॥ १ ॥

वत्सः काण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने, परमेश्वर ! अथवा राजन् ! अग्रणी ! हे (देव) देव ! राजन् ! (त्वम्) तू (व्रतपाः) समस्त व्रतों, उत्तम कर्मों

१६—रास्वेयत्सोम्यम् । सर्वा० । [१६–३६] ॥

का पालक, उनको निर्विघ्न समाप्त होने में रक्षक (असि) है। तू हे देव ! (सत्येषु) सत्य में और (यज्ञेषु) यज्ञों में भी (आ ईड्यः) सब प्रकार से स्तुति योग्य, वन्दनीय है। हे (सोम) सोम ! सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक ! (इयत् रास्व) हमें इतना अर्थात् बहुत परिमाण में प्रदान कर अथवा तू (इयत् रास्व) हमारे पास प्राप्त होकर हमें धन प्रदान कर और (भूयः भर) और भी अधिक दे। (नः) हमें (वसोः दाता) वसु, जीवन और धन का देने हारा है। तूने (वसु अदात्) सब प्रकार का जीवनोपयोगी धनैश्वर्य (अदात्) प्रदान किया है।

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजङ्गच्छ ।
जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ॥ १७ ॥

अग्निर्देवता । आर्ची त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (शुक्र) शुचिमान्, ज्योतिष्मान्, वीर्यवान् पुरुष ! (एषा ते तनूः) यह तेरा शरीर है। (एतद् वर्चः) यह तेज है (तया सम्भव) इस देह से तू मिल कर उत्पन्न होजा। (भ्राजं गच्छ) प्रकाशमान् सोम परमेश्वर या प्राण, जीवन को प्राप्त हो। हे वाणी या चितिशक्ति ! तू (जूः असि) 'जू', सब के सेवन करने योग्य, सब के प्रेम को उत्पन्न करने वाली है। तू (मनसा) मन, मनन और विज्ञान से (धृता) धारण की गई उसके वशीभूत रह कर (विष्णवे) यज्ञ सम्पादन करने या व्यापक परमात्मा के भजने में (जुष्टा) लग जाती है।

जूरित्येतद् ह वा अस्याः वाचः एकं नाम। मनसा वा इयं वाग् धृता-मनो वा इदं पुरस्ताद्वाचः इत्थं वेद, मा एतदवादीः, इत्यलग्लमिव वै वाग वेदद् यन्मनो न स्यात् ॥ शत० ३ । २ । ४ । ११ ॥ 'जू' यह वाणी का एक नाम है। मन इस वाणी को वश रखता है। वाणी बोलने के पूर्व

१७—एषाते हिरण्याज्यदैवतम् । जूरासि वग्दवतैम् । सर्वा० ॥

मन विचार करता है। ऐसा बोल, ऐसा मत बोल। यदि मन न हो तो वाणी गड़बड़ बोल जाती है॥

महर्षि दयानन्द के विचार से—हे शुक्र ! विद्वन् ! विष्णुः यज्ञ या परमेश्वर की उपासना के लिये यह तेरा शरीर है जो तू ने धारण किया और सेवन किया है उससे तू (जूः) वेगवान् होकर प्रकाश या तेज को धारण कर और विज्ञान से पुरुषार्थ को प्राप्त कर॥

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा।
शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ॥ १८॥

वाग्विद्युतौ देवते। स्वराड् आर्षी बृहती। मध्यमः॥

भा०—हे वाणि ! या हे चितिशक्ते ! चेतने ! (सत्य-सवसः) सत्य को उत्पन्न करने वाली, सत्यभाषिणी वा सत्य – सत् आत्मा से उत्पन्न होने वाले आत्मा को अपना मुख्य उत्पत्तिस्थान रखने वाली (ते तस्याः) उस तेरे (प्रसवे) उत्पादित ऐश्वर्य में (तन्वः) शरीर के (यन्त्रम्) यन्त्र को (अशीय) प्राप्त करूं। अथवा (सत्य-सवसः प्रसवे) सत्यैश्वर्यवान् परमेश्वर के बनाये इस संसार में (तस्याः ते) हे विद्युत् या वाणि तेरे (तन्वः) विस्तृत शक्ति को (यन्त्रम्) नियमन करने वाले साधन या विशेष उपकरण को मैं प्राप्त करूं, (स्वाहा) और उसका उत्तम रीति से उपयोग करूं। वाणी और चेतना शक्ति के नियमनकारी बलरूप आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं। शरीर रूप यन्त्र के नियामक बल ! वीर्य ! आत्मा अथवा विद्युत् आदि यन्त्र के नियामक शक्ते ! तू (शुक्रम् असि) शुक्र, अति दीप्तिमान् है (चन्द्रम् असि)

१८—[तस्यास्ते वाग्] शुक्रमसि हिरण्यम्। सर्वा०। '०तनु यन्त्रम०। शुक्रमासि चन्द्रमस्य०' इति काण्व०॥

आह्लादक है। (अमृतम् असि) तू अविनाशी है। (वैश्वदेवम् असि) समस्त दिव्य पदार्थों में सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। शत० ३।२।४।१२–१५॥

चिद॑सि म॒नासि॒ धीर॑सि॒ दक्षि॑णासि क्ष॒त्रिया॑सि य॒ज्ञिया॒स्यदि॑तिरस्युभय॒तः शी॒र्ष्णी। सा नः॒ सुप्रा॑ची॒ सुप्र॑ती॒च्येधि मि॒त्रस्त्वा॑ प॒दि ब॑ध्नीतां पू॒षाध्व॑नस्पा॒त्विन्द्रा॒याध्य॑क्षाय ॥ १६ ॥

वाग विद्युतौ देवते। भुरिग् ब्राह्मी पंक्तिः। पंचमः स्वरः॥

भा०—हे वाक्शक्ते! तू (चित् असि) शरीर की चेतना है। (मनः असि) तू मननकारिणी, संकल्प विकल्प करने वाली, पदार्थों का ज्ञान करने वाली है। (धीः असि) तू ध्यान करने वाली, ज्ञान को धारण करने वाली है। तू (दक्षिणा असि) बलकारिणी शक्ति है, यज्ञ में दक्षिणा के समान शरीर में बल का प्रदान करने वाली है। (क्षत्रिया असि) राष्ट्र में जिस प्रकार क्षात्रशक्ति है, उसी प्रकार शरीर में चेतना है। (यज्ञिया असि) यज्ञ में जिस प्रकार दीप्तिमान अग्नि उपास्य देव है, उसी प्रकार शरीर में समस्त प्राणों की उपास्य शक्ति यह चेतना है। (अदितिः असि) पृथ्वी जिस प्रकार अखण्ड भाव से सब का आश्रय है, उसी प्रकार यह भी शरीर में अखण्ड अविनाशी है, जो शरीर के नाश होने पर भी नाश नहीं होती। (उभयतः शीर्ष्णी) जिस प्रकार प्रसव काल में गौ के गर्भ से बच्चा आधा बाहर आने पर आगे और पीछे दोनों ओर दो सिर वाली हो जाने से वह 'उभयतः शीर्ष्णी' कहाती है, उसी प्रकार यह चेतना भी ज्ञान-प्रसव काल में उभयतः शीर्ष्णी है। उसका एक अंश बाहर पदार्थ का ज्ञान करता है और दूसरा अंश भीतर मनन करता है।

१६–२०—चिदसि गौः सामक्रयणी वाग्रूपाध्यारोपकल्पनया। सर्वा०। (उ०) 'सुप्रतीची भव' इति काण्व०॥

या बाह्य पदार्थों और भीतरी सुख दुःख आदि दोनों का ज्ञान करती या बाह्य चक्षु इन्द्रिय आदि उसके एक मुख हैं और भीतरी इन्द्रिय मन उसका दूसरा मुख है। (सा) वह तू हे चितिशक्ते ! (नः) हमें (सुप्राची) उत्तम रीति से आगे आये पदार्थों पर जाने और उसका ग्रहण करने वाली और (सु-प्रतीची) उत्तम रीति से प्रत्येक, भीतरी आत्मतत्त्व तक पहुंचने वाली (एधि) है। (मित्रः) मित्र—तेरा प्रेमी, स्नेही प्राण, जैसे गाय को पैरों से बांधते हैं, उसी प्रकार (त्वां) तुझे (पदि) ज्ञान-साधन में बांधे, अथवा (मित्रः) स्नेही आत्मा तुझे (पदि) ज्ञेय, ध्येय पदार्थ या ज्ञानमय ब्रह्म में (बध्नीताम्) लगावे और (पूषा) पुष्टिकारक प्राण ही (इन्द्राय अध्यक्षाय) उसके ऊपर अध्यक्ष रूप से विद्यमान इन्द्र — आत्मा के स्वरूप को प्राप्त या ज्ञान करने के लिये (अध्वनः) उस तक पहुंचने वाले योग या ज्ञान मार्ग से उसकी (पातु) रक्षा करे। अर्थात् प्राणायाम के बल पर उस चितिशक्ति को ध्येय विषय पर बांधे और उस को विचलित होने से बचावे।

विद्युत् पक्ष में—वह (चित्) आकर्षण शक्ति से पदार्थों को मिलाने वाली, (मनः असि) स्तब्ध करने वाली, (दक्षिणा) बलवती, (क्षत्रिया) आघात करने वाली, (यज्ञिया) परस्पर मिलाने वाली, रसायन-योग उत्पन्न करने वाली, (उभयतः शीर्ष्णी) Positive and Negative धन और ऋण नामक दो सिरों वाली, वह (सुप्राची) उत्तम प्रकाश करने वाली, (सुप्रतीची) समान जाति की विद्युत् से परे हटने वाली (मित्रः) रसायन योगों का मेलक पुरुष उसे (पदि) आश्रयस्थान, विद्युद्-घट आदि में बद्ध करे। (पूषा) पोषक, उसकी शक्ति को बढ़ाने वाला, मार्ग में विलीन होने से दुर्वाहक लेपों द्वारा सुरक्षित रक्खे। जिस से (अध्यक्षाय इन्द्राय) मुख्य ऐश्वर्यवान् राजा के या बलकारी विद्युत् यन्त्र के समस्त कार्य सिद्ध हों। राजा की राष्ट्रशक्ति भी संचयकारिणी, स्तम्भन

कारिणी, राष्ट्रधारिणी, बलवती क्षात्रबल से युक्त है, मित्र राजा उसकी व्यवस्था करे, पूषा अधिकारी, इन्द्र राजा के लिये उसकी मार्गों पर रक्षा करे। शत्रुगण विशेष मार्गों से आक्रमण न करें ॥ शत० ३ । २ । ४ । १५–१० ॥

[1]अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। [2]सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमꣳ रुद्रस्त्वावर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि ॥ २० ॥

वाग् विद्युत् च देवत। (१) साम्नी जगती। निषादः।
(२) भुरिगार्षी उष्णिक्, ऋषभः ॥

भा०—हे चितिशक्ते ! (त्वा) तुझे (माता) पदार्थों का प्रमाणों द्वारा ज्ञान करने वाला पुरुष या आत्मा (अनु मन्यताम्) अपने अनुकूल ज्ञान कार्य में प्रेरित करे। (पिता) तेरा पालक पिता (भ्राता) तेरा पोषक भ्राता (सगर्भ्यः) एक ही शरीर रूप गर्भ में विद्यमान (सयूथ्या) इन्द्रियों और अमुख्य प्राणों के यूथ में विद्यमान, (सखा) तेरे ही समान ज्ञान करने में समर्थ, प्राण, मन और अन्तःकरण सब (अनु, अनु, अनु) तेरे अनुकूल होकर, यथार्थ रूप से ठीक २ (मन्यताम्) ज्ञान करें। हे (देवि) प्रकाशमयि देवि ! सब इन्द्रियों को चेतनांश और प्राण प्रदान करने वाली ! तू (इन्द्राय) इन्द्रियों के प्रवर्तक आत्मा के विशेष सुख के लिये (सोमम्) सबके प्रेरक (देवम्) परम प्रकाशमय उपास्य देव परमेश्वर को (अच्छ इहि) प्राप्त हो। (रुद्रः) सबको रुलाने वाला प्राण (त्वा) तुझ को प्रेरित करे और हे जीव ! तू (सोम-सखा) सोम, उस सर्वोत्पादक परमेश्वर का मित्र होकर या उसके समान शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनन्दमय होकर (पुनः) फिर मुक्ति काल समाप्त होने पर (स्याइहि) इस संसार में आ ॥

अथवा—उपासक मोक्षाभिलाषी के लिये कहा गया है कि ब्रह्म के मार्ग में जाने के लिये तुझे तेरी माता, तेरे पिता, तेरे (सगर्भ्यः भ्राता) सहोदर भाई, एक श्रेणी के मित्र अनुमति दें और हे देवि ब्रह्मविद्ये ! तू (इन्द्राय सोम देवमच्छ इहि) परमैश्वर्य प्राप्ति के लिये देव, सोम, विद्वान् को प्राप्त हो। (रुद्रः त्वा वर्त्तयतु) हे देवि विद्ये ! तुझको रुद्र नैष्टिक ब्रह्मचारी ग्रहण करे। हे पुरुष ! या हे विद्ये ! तू (सोमसखा) ईश्वर का सहवर्ती होकर हमें पुनः प्राप्त हो ॥

विद्युत् पक्ष में—माता उत्पादक कला, पिता पालक यन्त्र, भ्राता पोषक या धारक यन्त्र जो तुझे अपने गर्भ में ग्रहण कर सके, (सयूथ्यः सखा) समान रूप से तुझे अपने से पृथक् करने वाला साकाश भीतरी पोलयुक्त पात्र में सब अनुकूल रूप में तेरा स्तम्भन करें ॥

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि ।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके ॥ २१ ॥

वाग्-विद्युतौ देवते । विराडार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे पृथिवि ! (वस्वी असि) तू वस्वी, वसु, शरीर में वास करने वाले जीवों को बसाने वाली (असि) है। (अदितिः असि) तू अखण्ड ऐश्वर्य वाली, नित्य अविनाशिनी है। तू (आदित्या असि) आदित्या, आदान करने वाली, सबको अपने में धारण करने वाली, आदित्यों द्वारा सेवित है। (रुद्रा असि) सबको रुलाने वाली, प्राणों के समान रोदनकारी, दुष्ट पीड़क, शासकों द्वारा सेवित है। (चन्द्रा असि) सब को आह्लादकारिणी है। (त्वा) तुझे (बृहस्पतिः) विद्वान् पुरुष (सुम्ने) उत्तम ब्रह्ममय आनन्द में (रम्णातु) रमावे, प्रेरित करे। (रुद्रः) मुख्य प्राण, जीवात्मा (वसुभिः) अन्य प्राणों सहित उनके साधना बल से (त्वा) तुझ को (आचके) प्राप्त करना चाहता है ॥

२१—वस्यनुष्टुब्बृहती वा सोमक्रयण्याः स्तुतिः । सर्वा० ।

ब्रह्मशक्ति पक्ष में - वह सर्व वसु = लोकों में व्यापक, अखण्ड प्रकाशमयी, सर्व रोदनकारिणी या वेद द्वारा उपदेष्ट्री, सर्वाह्लादिका है। वह परमेश्वर बृहस्पति उसे उत्तम आनन्दरूप में या ज्ञानरूप में प्रेरित करता है। वही रुद्र, ईश्वर उसको समस्त वसुओं जीवों सहित अपनाता है, चाहता है ॥

विद्युत् पक्ष में—वस्वी, ऐश्वर्यवती, अविनाशिनी, प्रकाशवती, रुद्रा, शब्दकारिणी, आह्लादिका है। विद्वान् उसको सुख से किये जाने के कार्यों में या उत्तमरूप से पदार्थों के स्तम्भन कार्यों में लगावे। रुद्र, विज्ञानोपदेष्टा वसु, निवासियों सहित उसको चाहते हैं ॥

राष्ट्रशक्ति पक्ष में—जनों को बसानेवाली, अखण्ड शक्ति सबकी वशयित्री, दुष्टों को रुलाने वाली, सर्वाह्लादिनी है। राजा सुखमय राष्ट्र में रमण करे। वह रुद्र राजा वसुओं सहित उस शक्ति को प्राप्त करे। इसी रूप से ये विशेषण पृथ्वी के भी हैं। सोमयाग में सोमक्रमणी गौ के लिये यह मन्त्र है। वहाँ सोम = राजा और गौ = पृथिवी ॥

अदि॑त्यास्त्वा मू॒र्द्धन्नाजि॑घर्म्मि देव॒यज॑ने पृथि॒व्याऽइडा॑यास्प॒दम॑सि घृ॒तव॒त् स्वाहा॑। अ॒स्मे र॑मस्वा॒स्मे ते॒ बन्धु॒स्त्वे रा॒यो मे॒ रा॒यो मा व॒यꣳ रा॒यस्पोषे॑ण॒ वि यौ॑ष्म॒ तोतो॒ राय॑: ॥ २२ ॥

वाग्विद्युतौ देवते। ब्राह्मी पंक्तिः। पंचमः ॥

भा०—हे विद्वन्! बलवन् बाहुपराक्रमशालिन् पुरुष ! (त्वा) तुझको (पृथिव्याः) पृथिवी के (देवयजने) देवों, विद्वानों के एकत्र होने के स्थान रूप (अदित्याः) अदिति, अखण्ड शासनव्यवस्था के (मूर्धन्) शिर पर या मुख्यपद पर (आ जिघर्म्मि) प्रदीप्त या सुशोभित

२२—अदित्या आज्यम्। अस्मे षण्णां लिंगोक्ता देवताः। सर्वा० ॥ (उ० 'त्वे रायो अस्मे रायः। इति काण्व० ॥

करता हूँ। हे (देव-यजने) देवों के संगम-स्थान, सभागृह या हे सभास्थ विद्वान् पुरुषो ! तुम (इडायाः) अन्नस्वरूप, अन्न देने वाली पृथिवी के (पदम्) प्राप्त करने वाली, प्रतिष्ठा, पद (त्वम् असि) तुम हो। तुम भी (स्वाहा) उत्तम ज्ञान से ही (घृतवत्) तेजोमय हो। हे राजन् ! (अस्मे रमस्व) तू हम में प्रसन्न होकर रह। (अस्मे ते बन्धुः) हम प्रजाजन तेरे बन्धु हैं (ते रायः) तेरे समस्त ऐश्वर्य (मे रायः) हमारे भी ऐश्वर्य हैं। (वयम्) हम प्रजाजन (रायः पोषेण) धन, ऐश्वर्य के पुष्टि, बल से (मा वि यौष्म) वियुक्त न हों। (तोतो रायः) ज्ञानवान् आपके भी बहुत से ऐश्वर्य हों। वीर पुरुष को विद्वत्सभा के सभापतिपद पर मूर्धन्य बनाकर राज्य पालन के लिए नियुक्त करें। उसकी प्रतिष्ठा करें। उसको जीवन के सब सुख दें। राजा और प्रजा दोनों एक दूसरे के ऐश्वर्य की वृद्धि करें ॥

'इडायाः पदम्,' 'देवयजनम्' यहां विद्वानों के संगतिस्थल या 'सभाभवन' पद से समस्त सभास्थ विद्वानों का जहत्स्वार्था लक्षणा से ग्रहण होता है। अंग्रेज़ी में भी 'House' या भवन शब्द से समस्त सभासदों का ग्रहण होता है ॥ शत० ३ । ३ । १ । ४–१० ॥

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा । मा मऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि संदृशि ॥ २३ ॥

वाग्विद्युतौ, देवते । आस्तारपंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(देव्या धिया) दिव्यगुण युक्त, प्रकाश ज्ञानवती (धिया) प्रज्ञा से (सम् अख्ये) विवेक करके मैं कथन करूं, उपदेश करूं। (दक्षिणया) अति ज्ञान युक्त, अज्ञाननाशक बलवती और (उरु चक्षसा) अति अधिक देखने वाली दर्शन शक्ति से देख भालकर मैं (सम् अख्ये)

२३—समख्ये पत्न्याशीरास्तारपंक्तिः । सर्वा० ॥

सत्य बात का उपदेश करूं। हे (देवि) देवि ! सर्व सत्य प्रकाश करने, दर्शाने वाली वेदवाणी ! (तव सदृशि) तेरे दिखाये उत्तम सम्यक् दर्शन में रहते हुए (मे आयुः) मेरे जीवन को तू (मा प्रमोषीः) विनाश मत कर। (मा उ अहं तव) और न मैं तेरे जीवन का नाश करूं और मैं (वीरं विदेय) वीर पुरुषों का लाभ करूं, वैदिक व्यवस्थापूर्वक राष्ट्र के शासन का निरीक्षण करूं। वह राजा व्यवस्था का नाश करे और वीर पुरुष राजा को प्राप्त हों ॥

विद्युत् पक्ष में—उस प्रकाशवती धारक विद्युत् शक्ति के प्रकाश से हम अन्धकार दूर करके देखें, विद्युत् के आघात हमें नाश न करें। न हम विद्युत् का नाश करें। उसके प्रकाश में हम शक्तियुक्त पदार्थों का लाभ करें ॥

पत्नी के पक्ष में—धारण पोषण में समर्थ देवी कार्यकुशल दीर्घदर्शिनी पत्नी के द्वारा मैं समस्त कार्यों का निरीक्षण करूं। मैं उसके और वह मेरे जीवन का नाश न करे, उसके सम्यग् दर्शन में वीर पुत्र का लाभ करूं। इसी प्रकार देवी, विद्वत्सभा के पक्ष में भी योजना करनी चाहिये ॥ शत० ३। ३। १ १२–१६ ॥

[1]एष ते गायत्रो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाᳬं साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतात्। [2]आस्माकोऽसि शुक्रस्ते ग्रह्यो विचितस्त्वा वि चिन्वन्तु ॥ २४ ॥

यज्ञो देवता। (१) ब्राह्मी जगती। निषादः स्वरः।
(२) याजुषी पंक्तिः। पंचमः ॥

२४—एष ते लिंगोक्तदेवतम्। आस्माकोऽसि सोम्यम्। '०छन्दोमानानां साम्राज्यं गच्छतादिति०' इति काण्व०।

भा०—राजा को अधिकार प्रदान। हे विद्वन्-मण्डल ! (मे सोमाय) सब के प्रेरक मुझ सोम को (इति ब्रूतात्) इस प्रकार स्पष्ट करके बतलाओ कि (एषः ते गायत्रः भागः) हे राजन् ! तेरा यह गायत्र = ब्राह्मणों का भाग है। इसी प्रकार (मे सोमाय[1] इति ब्रूतात्) मुझ राजा को यह बतलाओ कि (एष ते त्रैष्टुभः भागः) त्रैष्टुभ अर्थात् क्षात्रबल सम्बन्धी यह तेरा भाग है और (एषः ते जागतः भागः) यह इतना वैश्य सम्बन्धी तेरा भाग है और मुझ सोम राजा को यह आज्ञा दो कि (छन्दो-नामानाम्) छन्द = प्रजाओं के पालन और दुष्टों के दमन के समस्त उपायों के (साम्राज्यम्) समस्त राजाओं के ऊपर, सर्वोपरि विराजमान महाराज के पद को तू (गच्छ इति) प्राप्त हो। अथवा (२) प्रत्येक प्रजा के प्रतिनिधि अपना कर या अंश देते हुए बीच के प्रजा-पुरुष से कहें, (इति) यह (मे) मेरा वचन (सोमाय ब्रूतात्) सोम राजा को कहो कि हे राजन् ! (एष ते गायत्रः भागः) ब्राह्मणों की तरफ़ से यह तेरा सेवनीय अंश है। (एष ते त्रैष्टुभः भागः) यह तेरा क्षत्रियों की तरफ से अंश है। (एष ते जागतः भागः) यह वैश्यों की ओर से तेरा भाग है। (छन्दो-नामानाम्) छन्द अर्थात् समस्त राष्ट्र के अधिकार पदों और नाम अर्थात् नमन करने के अधिकारों में से सबसे ऊंचे साम्राज्य पद को तू प्राप्त हो। प्रजाजन कहे—हे राजन् ! तू (आस्माकः असि) हमारा ही है। (शुक्रः) अति तेजस्वी, शरीर में वीर्य के समान सभी राष्ट्र-शरीर में तेजस्वी पदार्थ, एवं शासन पद और इसी प्रकार इन्द्र आदि सब अधिकार भी (ते ग्रह्यः[2]) तुझे ही स्वीकार करने योग्य हैं और (वि-चितः) विशेष रूप से या विविध प्रकार से चुनने वाले ज्ञानी

---

१. वृषा वै सोमो योषो पत्नी। इति शत० ॥

२. 'शुक्रस्ते गृह्यः' इति दयानन्दसम्मतः पाठः। 'ग्रह्यः' इति शत०, अन्यत्र च सर्वत्राभिमतः ॥

पुरुष भी (त्वा) तुझको ही (विचिन्वन्तु) विशेष रूप से आदर योग्य पद पर चुनें, वरण करके तुझ जैसे योग्य पुरुष को खोज खोज कर अपना राजा बनावें ॥ शत० ३ । ३ । २ । १-८ ॥

[1]अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम् । ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भाऽअदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत [2]सुक्रतुः कृपा स्वः । प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वानुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि ॥ २५ ॥

सविता देवता । (१) ब्राह्मी जगती । निषादः । (२) निचृदार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(त्यम्) उस (ओण्योः सवितारम्) द्यौ और पृथिवी के उत्पादक (सत्य-सवम्) सत्‌रूप से व्यक्त जगत् के उत्पादक, या सत्यज्ञान के प्रदाता (कवि-क्रतुम्) क्रान्तदर्शी, सर्वोपरि ज्ञान से युक्त (रत्न-धाम्) सूर्य आदि समस्त रमणीय पदार्थों के धारक, (मतिम्) ज्ञानरूप (अभि-प्रियम्) सर्वप्रिय, (कविम्) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (देवम्) देव, परमेश्वर की (अभि अर्चामि) स्तुति करता हूँ । (यस्य) जिसका (भा) तेजोमय (अमतिः) परमरूप सूर्यवत् (ऊर्ध्वा) सबसे ऊपर (अदिद्युतत्) प्रकाश करता है और जो (सवीमनि) उत्पन्न होने वाले संसार में (हिरण्य-पाणिः) तेजोमय, अति रमणीय, कार्य कुशल हाथों वाला होकर समस्त पदार्थों को (अमिमीत) बनाता है । और जो (सु-क्रतुः) सब से उत्तम प्रज्ञावान् और शिल्पी है और जिसकी (कृपा) सर्वोच्च शक्ति, सामर्थ्य या कृपा (स्वः) सबकी प्रेरक और तापक है, या जिसकी कृपा ही परम मोक्षमय, सुखमय है, हे परमेश्वर ! (त्वा) तुझे (प्रजाभ्यः) समस्त प्रजाओं के के लिये उपास्य बतलाता हूँ । (प्रजाः त्वा अनु प्राणन्तु) समस्त प्रजाएं

२५—प्रजाभ्यस्त्वा, प्रजास्त्वा, शुक्रंत्वा सौम्यानि । सर्वा० ।

तेरी शक्ति से नित्य प्राण धारण करें और (त्वं) तू (प्रजाः) समस्त जीव प्रजाओं को अपनी शक्ति से (अनुप्राणिहि) प्राण धारण करा ॥

राजा के पक्ष में—(ओण्योः सवितारं त्वं देवं कविक्रतुम्) राजाओं या शासकों ओर जासूसों अथवा पुरुष, स्त्री दोनों के संसारों के प्रेरक, प्रज्ञावान्, मेधावी, सत्य न्याय के प्रदाता, रमणीय गुणों के धारक, प्रिय मननशील, क्रान्तदर्शी राजा की, हम पूजा या आदर करें जिसकी (अमतिः भाः) अगम्य कान्ति सबसे ऊपर विराजती है और जो सुवर्णादि धन पर वश करके, सदाचारी होकर, सुखमय राज्य बनाने में समर्थ है। हे पुरुष !(त्वा प्रजाभ्यः) तुझे प्रजाओं के हित के लिये हम राजा नियुक्त करते हैं। (त्वा प्रजाः अनु प्राणन्तु) तेरे आधार पर प्रजाएं जीवित रहें। (प्रजाः त्वम् अनुप्राणिहि) प्रजा की वृद्धि पर तू भी अपना जीवन धारण कर ॥ शत० ३ । ३ । २ । ११–१८

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन ।
सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः
परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम् ॥ २६ ॥

यज्ञो देवता । भुरिग् ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—राजा-प्रजा के परस्पर के व्यवहार को स्पष्ट करते हैं। हे राजन् ! (शुक्रं) शरीर में वीर्य के समान राष्ट्र में बलरूप से विद्यमान (त्वा) तुझको मैं राष्ट्रवासी प्रजाजन (शुक्रेण) अपने तेजोमय सुवर्ण-रजतादि अर्थबल से, या अपने भीतर विद्यमान शरीर बल से ही (क्रीणामि)

२६—सग्मेऽस्मे लिंगोक्ते । तपसोर्द्धंजा । अर्द्धसोमः । सर्वा० ॥ 'सग्मेते गौरस्मै' इति उवट महीधराभिमतः पाठो निर्णयसागरीयः । 'सग्मे ते गोरस्मे' इति शत०, द०, सात०, काण्व० । 'चन्द्रं त्वा चन्द्रेण० शुक्रं शुक्रेणामृ०' इति काण्व० ॥

अदला बदली करते हैं, ग्रहण करते हैं और (चन्द्रेण) अपने चन्द्र, आह्लादकारी धन-ऐश्वर्य के द्वारा (त्वां चन्द्रम्) तुझ सर्व-प्रजारञ्जक पुरुष को (क्रीणामि) अपनाते, स्वीकार करते हैं और (अमृतेन) अपने अमर आत्मा द्वारा (अमृतम्) उन्नत, अविनाशी, तुझको स्वीकार करते हैं। (ते) तेरे (राज्ये) चक्रवर्ती राज्य में (गोः) इस पृथिवी से उत्पन्न (अस्मे चन्द्राणि) हमारे समस्त प्रकार के धन-ऐश्वर्य (ते) सब तेरे ही हैं और तू साक्षात् (तपसः) तप का (तनूः) विग्रहवान्, शरीर रूप (असि) है, अर्थात् शत्रु और दुष्टजनों का तापक और प्रजा के सुख के लिये समग्र तपस्या करने से साक्षात् तपःस्वरूप है। और तू (प्रजापतेः) प्रजा के पालन करने वाले पिता या परमेश्वर के (वर्णः) महान् प्रजा पालन के कार्य के लिये हमारे द्वारा वरण करने योग्य है। और (परमेण) परम, सर्वोत्तम (पशुना) गौ, हाथी, सिंह इत्यादि रूप से (क्रीयसे) समस्त प्रजाओं द्वारा स्वीकार किया जाता है, माना जाता है अथवा तुझे प्रजा अपने सर्वोत्तम पशु धन सौंपकर अपना रक्षक स्वीकार करती है। मैं, हम प्रजाजन (सहस्र-पोषम्) हज़ारों धन-समृद्धि, सम्पदाएं प्राप्त करके (पुषेयम्) पुष्ट होवें, तुझे पुष्ट करें ॥

मित्रो नऽएहि सुमित्रधऽइन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन्नुशन्तꣳ स्योनः स्योनम् । स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वं मा वो दभन् ॥ २७ ॥

विद्वान् देवता । भुरिग् ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—अष्ट प्रधान या अष्ट प्रकृति राज्यव्यवस्था का वर्णन करते हैं। हे नरोत्तम ! तू (मित्रः इव) प्रजा को मरण से त्राण करने वाले सूर्य के

२७—मित्रोन, इन्द्रस्य सौम्यै । स्वानादीति धिष्ण्यनामानि । ०'कृशानो । एते' ० इति काण्व० ।

समान पालक (सु-मित्र धः) उत्तम २ मित्रों, सहायकों का प्रजा को मित्रवत् धारण पोषण करने हारा होकर (नः एहि) हमें प्राप्त हो । हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर, या ऐश्वर्यवान् राष्ट्रपति के (दक्षिणम्) दायें या बलवान्, (उशन्तम्) कामना युक्त, (स्योनं) सुखप्रद (उरुम्) विशाल, बहुतों को आश्रय देने में समर्थ पद को (आविश) प्राप्त कर । हे (स्वान) प्रजा के उपदेष्टा, हे (भ्राज) शस्त्रास्त्रों से परम शोभायमान ! हे तेजस्विन् ! हे (अंघारे) अंघः = पाप के शत्रो ! पापी पुरुषों के दमनकारिन् ! हे (हस्त) शत्रुओं के युद्ध में हनन करने में समर्थ, सेनापते ! हे (सु- हस्त) उत्तम २ पदार्थ शिल्प द्वारा रचने में समर्थ, विश्वकर्मन् ! हे (कृशानो) दुर्बलों या कृशों के उज्जीवक ! अथवा शत्रुओं के कर्शन करने हारे, उनके बल को नीति द्वारा तोड़ने हारे सात मुख्य पदाधिकारी पुरुषो ! (एते) ये सब प्रजास्थ पुरुष या प्रतिनिधिगण ! (वः) तुम सबको (सोम-क्रयणाः) सोम, राजा को नाना प्रकार से स्वीकार रहे हैं । (तान् रक्षध्वम्) उन सब की आप लोग रक्षा करें और वे (वः) तुम सबको (मा दभन्) विनाश न करें ॥

[1]परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज ।
[2]उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ२ऽअनु ॥ २८ ॥

अग्निर्देवता । (१) साम्नी बृहती, मध्यमः । (२) साम्न्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर अथवा शत्रुसन्तापक राजन् ! तू (मा) मुझको (दुश्चरिताद्) दुष्ट आचार से (परि बाधस्व) सब ओर से हटा । और (मा) मुझको (सु-चरिते) उत्तम चरित्र में (भज) स्थापित कर । मैं (अमृतान् अनु) अमृत, आत्मोपासक, जीवन्मुक्त या दीर्घायु पुरुषों का अनुगामी होकर (सु-आयुषा) सुदीर्घ आयु से युक्त (आयुषा) जीवन से युक्त होकर (उद् अस्थाम्) उत्तम मार्ग में स्थिर रहूँ ॥ शत० ३ । ३ । ३ । १४ ॥

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम् ।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥ २९ ॥

अग्नि र्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हम लोग (स्वस्तिगाम्) कुशल पूर्वक उत्तम स्थान तक पहुंचाने वाले, (अनेहसम्) चोर आदि हत्याकारी उपद्रवों से रहित (पन्थाम्) उस मार्ग पर (प्रति अपद्महि) चला करें । (येन) जिससे सभी लोग (विश्वाः) सब प्रकार की (द्विषः) द्वेष करने वाली शत्रु सेनाओं को (परि वृणक्ति) दूर कर देते और (वसु विन्दते) नाना ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं ॥ शत० ३ । ३ । ३ । १ । १८ ॥

[1]अदित्यास्त्वगस्यादित्यै सदऽआसीद । अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः । [2]आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ३० ॥ ऋ० ८ । ४२ । १ ॥

वरुणो देवता । (१) स्वराड् याजुषी त्रिष्टुप् ।
(२) विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (अदित्याः) अदिति, पृथिवीस्थ प्रजा का (त्वग् असि) त्वचा के समान रक्षक है । तू (अदित्यै) अदिति पृथिवी के लिये (सदः) गृह के समान शरण होकर (आसीद) विराज । (वृषभः) वर्षणशील मेघ या सूर्य जिस प्रकार (द्याम् अस्तभ्नात्) द्यौलोक को धारण करता है और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी व्याप्त करता है उसी प्रकार हे राजन् ! तू भी (वृषभः) सर्वश्रेष्ठ प्रजा पर उनके काम्य सुखों की वर्षा करने वाला होकर राजा (द्याम्

२९—प्रतिपन्थामनुष्टुब् पथिदैवत्या । सर्वा० । 'द्यामृषभो' इति काण्व० ॥

३०—अदित्याः कृष्णाजिनम् । अदित्यै सौम्यम् । अस्तभ्नात् त्रिष्टुभौ वारुण्यौ । सर्वा० ॥ नाभाकः काण्वः । अर्चनाना वा ऋषयः । ऋ० ।

अन्तरिक्षम् अस्तभ्नात्) द्यौ, आकाश और अन्तरिक्ष और उसमें होने वाले ऐश्वर्यों को अपने हस्तगत करे । और वही (पृथिव्याः परिमाणम्) पृथिवी के विशाल परिमाण को भी (अमिमीत) स्वयं मापले, उसका पूरा ज्ञान रखे । वही (सम्राट्) महाराजाओं का महाराजा, सम्राट् होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवनों पर (आसीदत्) अधिष्ठाता होकर रहे, उन पर अधिकार करे । (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ राजा के (तानि) यही (विश्वा) सब नाना प्रकार के (व्रतानि) कर्तव्य हैं ।

ईश्वर के पक्ष में - हे ईश्वर ! तू पृथ्वी का रक्षक है, द्यौ और अन्तरिक्ष में व्यापक, उसको थामने वाला है ! पृथिवी के विस्तार को जानता है । अन्तरिक्ष में समस्त भुवनों को स्थापित करता है । ये सब महान् कार्य उस परमेश्वर के ही हैं, दूसरे के नहीं ॥

सूर्य-वायु के पक्ष में — वायु पृथ्वी का आवरण है । उसका घर सा सूर्य, द्यौ अन्तरिक्षस्थ पिण्डों को थामता और पृथ्वी को प्रकाशित करता है । सब भुवनों को स्थापित करता है । यही महान् परमेश्वर के महान् कार्य हैं ।

वनेषु व्यु१न्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु ।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्व१ग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ ॥३१॥

ऋ० ५ । ८५ । २ ॥

वरुणो देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के उपमानों का समुच्चय करते हैं । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (वनेषु) वनों के ऊपर उनके पालन करने, उन पर जलादि वर्षा करने के लिये (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और उसमें स्थित वायु और मेघों को (वि ततान) तानता है, जिससे वे खूब बढ़ें । और (अर्वत्सु) वेग-

३१—अत्रिर्ऋषिः । ऋ० ।

वान् अश्वों और बलवान् पुरुषों में (वाजम्) बल, वीर्य और अन्न प्रदान करता है। (उस्रियासु) नदियों में जल, गौओं में दूध और सूर्य किरणों में सूक्ष्म पुष्टिकारक बल रखता है। (हृत्सु क्रतुम्) हृदयों में दृढ़ संकल्प को धारण कराता है। (दिवि सूर्यम्) आकाश में प्रकाशवान् सूर्य को स्थापित करता है। (अद्रौ) पर्वत पर (सोमम्) सोमवल्ली को या (अद्रौ) मेघ में (सोमम्) सर्ववृष्ट्युत्पादक जल को (विक्षु अग्निम्) वैश्वानर अग्नि के समान अग्नि अर्थात् अग्रेणी नेता को भी (अदधात्) स्थापित करता है। अर्थात् परमात्मा ही प्रजाओं में नेता को अधिक शक्तिमान् बनाकर उसको उत्तम २ कर्तव्य भी सौंपता है। वह अन्तरिक्ष के समान सब पर अच्छादक, रक्षक रहे। अश्वों में वेग के समान संग्रामों में विजयी रहे। गौओं में दूध के समान निर्बलों का पोषण करे। हृदयों में दृढ़ संकल्प के समान प्रजा में स्थिरमति हो। आकाश में सूर्य के समान सबको प्रकाश दे, ज्ञान दे। मेघ में स्थित जल के समान सबको प्राणप्रद, अन्नप्रद हो। वह परमात्मा सबको उपास्य है, जिसने ये सब पदार्थ भी रचे॥

सूर्य्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम्।
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता॥ ३२॥

अग्निर्देवता। निचृदार्ष्यनुष्टुप्। गांधारः॥

भा०—हे राजन्! तू (यत्र) जहां कहीं भी (विपश्चिता) विद्वान् पुरुषों के साथ अपने (एतशेभिः ईयसे) घोड़ों से जाय वहां ही तू (सूर्यस्य [प्रकाशः इव]) सूर्य के प्रकाश के समान लोगों की आंखों पर (आरोह) चढ़ा रह, उनको शक्ति देकर उन पर अनुग्रह कर। और रात्रि के समय (अग्नेः [प्रकाश इव]) अग्नि के प्रकाश के समान (अक्ष्णः

३२—सूर्यस्यानुष्टुप् कृष्णाजिनम्। सर्वा०। '०कनीनकाम्।' इति काण्व०॥

कनीनकम् आरोह) लोगों की आंख की पुतली पर चढ़, अर्थात अन्धकार में आंख जिस प्रकार सदा चमकती आग या दीपक पर ही जाती है उसी प्रकार लोगों की आंखों की पुतली तेरी ओर ही लगी रहें, अर्थात् तू उनकी आंखों पर लक्ष्य के समान बना रह । प्रजाओं को अन्धकार में भी प्रकाश दे और मार्ग दर्शा ॥

ईश्वर पक्ष में—(यत्र) जहां और जब भी (एतशैः) व्यापकता, सर्वज्ञत्वादि गुणों से (भ्राजमानः) देदीप्यमान होकर (विपश्चिता) विद्वान् पुरुष द्वारा (ईयसे) बतलाया जाता है । वहां और उसी समय तू हे ईश्वर! (सूर्यस्य चक्षुः आरोह, अग्नेः कनीनकं आरोह) दिन में सूर्य के प्रकाश के समान और रात्रि में अग्नि के प्रकाश के समान चक्षु और आंख की पुतली पर चढ़ते हो और उन पर अपना अधिकार करते हो अर्थात् तुम्हीं उनको ज्ञान मार्ग दिखाते हो । इसी प्रकार मुख्य प्राणाचित् अपने जीवन प्रदाता आदि गुणों से ज्ञापित होकर हमें मार्ग दिखाता है, प्रकाश देता है ॥

[1]उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रूऽअवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ ।
[2]स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम् ॥ ३२ ॥

सूर्यविद्वांसौ देवते । (१) भुरिगार्षी पङ्क्तिः । पंचमः ।
(२) याजुषी जगती । निषादः ।

भा०—(धूर्षाहौ) पृथ्वी का भार धारण करने में समर्थ और प्रजाओं को बसाने वाले (अवीरहणौ) अपने राष्ट्र के वीर पुरुषों को नाश न करने वाले और (ब्रह्म-चोदनौ) ब्रह्मज्ञान या वेदविज्ञान को उन्नत करने वाले राजा, अमात्य या दोनों विद्वान् पुरुष हैं, वे (अनश्रू) आँसुओं से, क्लेश विपत्तियों और बाधा पीड़ा से रहित, सुप्रसन्न चित्त से

३२—उस्रा ऊर्ध्ववृहत्यानुडुहौ । सवा० । 'अनश्च्यू' इति दयानन्दभाष्यगतः पाठः । च्यु हसन-सहनयोः । चुरादिः । अथवा च्युङ् गतौ भ्वादिः । 'उस्रा एतं धूर्वाहौ० ' इति काण्व० ॥

रहने वाले (एतं) आवें, हमें प्राप्त हों। उन दोनों को (युज्येथाम्) गाड़ी में बैलों के समान राष्ट्र-संचालन के कार्य में नियुक्त किया जाय। हे उक्त दोनों समर्थ नरपुंगवो! आप दोनों (यजमानस्य) दानशील, धार्मिक, उदार प्रजाजन के (गृहान्) घरों के (स्वस्ति गच्छतम्) सुखपूर्वक प्राप्त होओ, अथवा उनको सुख कल्याण प्राप्त कराओ॥

देह पक्ष में—(उस्रौ) आत्मा के देह में निवास के हेतु प्राण, अपान, सुप्रसन्न, (अवीरहणौ) शरीर के समर्थ अंगों का नाश करनेवाले (ब्रह्मचोदनौ) ब्रह्म, आत्मा के प्रेरक दोनों को योगाभ्यास में लगाओ। वे यजमान, आत्मा के देह को सुख से प्राप्त हों या सुख प्राप्त करावें। इसी प्रकार सूर्य और वायु ब्रह्माण्ड में (ब्रह्मचोदनौ) अन्न को प्राप्त कराने वाले, उनको अपने शिल्पकार्यों में लगावें। बैलों के पक्ष में स्पष्ट है॥

'अनश्यू' इति महर्षिसम्मतःपाठः। (अनश्च्यू अनः-च्यू १) 'अनस' शकट को 'च्यु' उठाने वा ले जानेवाले, राष्ट्र रूप शकट को वह न करने वा चलाने वाले अथवा स्त्री पुरुषों पर भी यह मन्त्र लगता है। (अवीरहणौ) वीर, पुत्रों का नाश न करने वाले, (ब्रह्मचोदनौ) वेद का स्वाध्याय करने वाले (अनश्रू) आंसू न बहाने वाले, परस्पर सुप्रसन्न, (धूर्षाहौ) गृहस्थ के भार को सहने में समर्थ, (उस्रौ) एकत्र बसने वाले, अथवा (उत्सर्पिणौ) उन्नत मार्ग पर जानेवाले दोनों को (युज्येथाम्) गृहस्थ में लगाया जाय। ऐसे युवा युवति, यजमान यज्ञशील, धार्मिक पुरुष के घरों पर आवें और सुख प्रदान करें॥

[1]भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभिधामानि। [2]मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृका अघायवो विदन्। [3]श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सꣳस्कृतम्॥ ३४॥

३४—भद्रो मे सौम्यम्। सर्वा०।

यजमानो देवता । (१) भुरिगार्षी गायत्री । षड्जः । (२) भुरिगार्ची बृहती मध्यमः । (३) विराड् आर्ची । गान्धारः ॥

भा०—हे (भुवः पते) पृथ्वी के पालक राजन् ! तू (मे) मुझ राष्ट्रवासी प्रजाजन के लिये (भद्रः) कल्याण करने और सुख पहुंचाने वाला (असि) है (विश्वानि धामानि) समस्त राष्ट्र के अन्तर्गत स्थानों या पृथ्वी पर विद्यमान देशों को (अभि प्र च्यवस्व) प्राप्त हो, उन पर आक्रमण करके विजय कर । ऐसी दशा में (त्वा) तुझ को (परिपरिणः) पर्यवस्थाता, तुझे घेर लेने वाले शत्रु गण या आक्रामक, चोर डाकू लोग (मा विदन्) न पकड़ सकें, तुझ तक न पहुंचे और (परिपन्थिनः) शत्रु लोग, दस्युजन (मा त्वा विदन्) तुझे न जान पावें । और (अघा-यवः) तुझ पर हत्या आदि का पाप करने की इच्छा वाले (वृकाः) चोर लोग (मा त्वा विदन्) तुझे न पावें । तू उन पर (श्येनः भूत्वा) श्येन होकर, अर्थात् शिकार पर जिस प्रकार बाज़ झपटता है उसी प्रकार, उन पर (परापत) दूर तक आक्रमण कर और विजयी होकर आ । या (श्येनो भूत्वा परापत) श्येन बाज के समान शीघ्रगामी होकर उनके फन्दों से छूट आ । (यजमानस्य) सत्संग करने योग्य पूजनीय विद्वान् पुरुषों के (गृहान् गच्छ) गृहों को या उनसे बसे द्वीप, देश देशान्तर को प्राप्त हो । (नौ) हम प्रजाजन और तुझ राजा दोनों का (तत्) वह विजयोपयोगी युद्धोपकरण, रथ आदि सब (सुसंस्कृतम्) उत्तम रीति से सुसज्जित हो । या (नौ तत् सुसंस्कृतम्) हमारा परस्पर वह सब शासन और विजय कार्य उत्तम रीति से हो ॥

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तꣳ स॑पर्यत ।
दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य शꣳसत ॥३५॥

३५—आभितपनः सूर्य ऋषिः । सर्वा० । अभितपाः सौयः ऋ० । वत्सऋषिः । द० ।

अभितपनः सूर्यो ऽभितपाः सौर्यो वा ऋषिः। सूर्यो देवता। निचृदार्षी जगती। निषादः॥

भा०—(मित्रस्य) सबके मित्र, सबके स्नेही, सबको मरण से बचाने वाले (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ, सर्वदुःखवारक, सबसे वरण करने योग्य, (चक्षसे) सर्वद्रष्टा उस परमेश्वर को (नमः) हम नमस्कार करें। (महः देवाय) महान् उस सर्वप्रद, सर्वदर्शी, सर्वप्रकाशक परमेश्वर के (तत् ऋतम्) उस सत्यस्वरूप, सत्य ज्ञान की (सपर्यतः) पूजा करें। (दूरे दृशे) दूर २ के पदार्थों को भी दिखाने वाले (देव-जाताय) दिव्यगुणों से प्रसिद्ध या देव, विद्वानों द्वारा प्रसिद्ध या पृथिवी, अग्नि, वायु, सूर्य आदि दिव्य पदार्थों के उत्पत्तिस्थान उस (केतवे) सर्व-प्रज्ञापक, ज्ञानस्वरूप, चित्स्वरूप, (दिवः पुत्राय) प्रकाशस्वरूप, सर्वपवित्रकारक या समस्त दिव्य, द्यौलोक या तेजोमय पदार्थों के पवित्रकारक, संस्कारक, प्रकाशक या उसमें व्यापक (सूर्याय) सबके प्रेरक, चराचर रूप परमैश्वर्य के कारणभूत परमेश्वर के (शंसत) गुणों का गान करो।

राष्ट्र पक्ष में— मित्र, वरुण दोनों अधिकारियों का आदर करो, मार्ग-दर्शी देव, विद्वान् पुरुष या राजा के 'ऋत' ज्ञान या क़ानून का आदर करो। दूरदर्शी विद्वानों और राजाओं में शक्तिमान् ज्ञानी, दिव्य वेदवाणी के पुत्र उसके विद्वान् ज्ञानसूर्य के गुणों की प्रशंसा करो ॥

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि वरुणस्य ऽऋतसदनमसि वरुणस्य ऽऋत-सदनमासीद ॥ ३६ ॥

सूर्यो देवता। विराड् ब्राह्मी बृहती मध्यमः।

३६—वरुणस्य पञ्च वारुणानि। सर्वा०। वरुणो ०'सदनीमासीद' इति काण्व० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (वरुणस्य) वरण करने योग्य, इस श्रेष्ठ जगत्- ब्रह्माण्ड का (उत्-तम्भनम्) ऊपर उठानेहारा बल है। हे परमेश्वर ! तू (वरुणस्य) इस ब्रह्माण्ड का (स्कम्भसर्जनी स्थः) खम्भे के समान आश्रय देने और 'सर्जनि' उत्पन्न करने या प्रेरणा देने, दोनों प्रकार का बल रूप (स्थः) है। अथवा (स्कम्भसर्जनी स्थः) या जगत् के या आवरणकारी वायु के, आधार शक्तियों, मूल तत्वों को सर्जन और प्रेरण करने वाले दोनों बलरूप हैं। हे परमेश्वर ! तू ही (वरुणस्य) सर्वोपरि विराजमान सूर्य के भीतर विद्यमान (ऋतसदनी) ऋत अर्थात् जलों को धारण और लोकों के आकर्षण करने वाली शक्ति है। (वरुणस्य) वरुण, समस्त उत्तम पदार्थों के (ऋत-सदनम् असि) यथार्थ सत्य ज्ञान का आश्रय है। हे परमेश्वर ! तू (वरुणस्य ऋत-सदनम्) वरुण—सर्व उत्तम गुणों के सत्यज्ञानों के आश्रय को (आसीद) स्वयं प्राप्त करने और अन्यों को प्राप्त कराने हारा है ॥

राजा के पक्ष में—हे विद्वान् पुरुष ! तु 'वरुण' वरण करने योग्य सर्व श्रेष्ठ राजा का 'उत्तम्भन' ऊपर उठाने वाला, आश्रयभूत है। हे विद्वत्-सभाओ ! तुम वरुण राजा का (स्कम्भसर्जनी स्थः) आधार भूत, अन्य शासक पदाधिकारी जनों को धारण करने वाली और व्यवस्था नियम को बनाने और चलाने वाली दो राजसभा हो। एक राजनियम-निर्मात्री 'लेजिस्लेटिव', दूसरी संचालिका 'एक्जीक्यूटिव' सभा, और हे तीसरी सभे ! तू (ऋतसदनी असि) ऋत, ज्ञानों का आश्रयभूत विद्वत्-सभा या ज्ञानसभा है, और हे सभाभवन ! तू (वरुणस्य ऋतसदनम् असि) सर्वश्रेष्ठ स्वयंवृत राजा के ऋत या राज्यशासन का मुख्यस्थान, केन्द्र या सिंहासन या उच्च सभापति का अधिकारासन है। हे सर्वश्रेष्ठ पुरुष ! तू (ऋतसदनम् आसीद) उस शासन और न्याय के उत्तम आसन पर विराजमान हो। सब को न्याय प्रदान कर ॥

सूर्य के पक्ष में—वह वरुण अपने वरणकारी ग्रह मण्डल का आरम्भक है। उसको थामने और गति देने वाला है, उसकी शक्ति का स्वयम् ऋत अन्न, जल आदि का आश्रय है।

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान् ॥३७॥

ऋ० १। ९१। १९॥

गोतमो राहूगण ऋषिः। यज्ञो देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः स्वरः॥

भा०—हे सोम! राजन्! परमेश्वर (या धामानि) जिन स्थानों को (हविषा) आदान अर्थात् साधन या वश करने के साधनों से (यजन्ति) तेरे सैनिक प्राप्त कर लेते हैं, (ता) उन (ते) तेरे (विश्वा) सब पर तू (यज्ञम्) यज्ञ=शासन, सबके संगम स्थान, शासन, सभाभवन का (परि-भूः) सब प्रकार से समर्थ अधिकारी होकर (अस्तु) रह। और तू (गय-स्फानः) अपने प्रजा के पुत्र, धन और गृह ऐश्वर्य आदि की वृद्धि करता हुआ, (प्रतरणः) नाव के समान उनको सब कष्टों से पार करता हुआ (सुवीरः) उत्तम वीर भटों से युक्त, (अवीरहा) वीरों को व्यर्थ युद्धकलहों में नाश न करता हुआ (दुर्यान्) हमारे गृहों को (प्र चर) प्राप्त हो, हमसे परिचय प्राप्त कर॥

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर! जिन तेरे बनाने, धारण शील आश्रय पदार्थों, मूल तत्वों को विद्वान् जन (हविषा) ग्राह्य या दातव्य पदार्थ या कार्यसाधक पदार्थ से (यजन्ति) मिलाते हैं उन (ते) तेरे बनाये समस्त पदार्थों को हम भी मिलावें, प्राप्त करें और जो तेरा (गय-स्फानः) ऐश्वर्यवर्धक (सुवीरः) उत्तम बलयुक्त (अवीरहा) कातर मनुष्यों का नाशक (यज्ञम्) यज्ञ है, उस पर तू (परिभूः) सब प्रकार से शासक है। हे सोम, सर्वेश्वर या विद्वन्! तू स्वयं यज्ञ का सम्पादन कर गृहों को

३७—या ते सौमी त्रिष्टुभम् गोतमः। सोमो देवता। ऋ०॥

प्राप्त हो, गृह के कार्यों को सम्पादन कर। अथवा हे परमेश्वर ! तू (या ते विश्वा धामानि) जितने तेरे धाम, धारण सामर्थ्यों और तेजों को विद्वान् लोग (हविषा यजन्ति) ज्ञानपूर्वक उपासना करते हैं। (ता विश्वा ते) वे तेरे ही सामर्थ्य हैं। और तू (यज्ञम् परिभूः अस्तु) यज्ञ, समस्त प्राणों के संगमस्थान आत्मा के ऊपर भी वश करने हारा है। आप (गयस्फानः प्रतरणः सुवीरः) प्राण, पुत्र, धन, गृह आदि के वर्धक, दुःखों से पार उतारने वाले, उत्तम बलशाली, (अवीरहा) वीर पुरुषों के नाश न करने और कातरों के नाश करने वाले हैं। हे (सोम दुर्यान् प्रचर) सोम ! राजन् ! हमारे भी द्वारों से युक्त इस अष्टचक्रा नव द्वारा पुरी के हृदयों में प्रकट होइये।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

[तत्र सप्तत्रिंशदृचः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकारविरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पंचमोऽध्यायः ।

१—४३ प्रजापतिर्ऋषिः ॥

॥ ओ३म् ॥ अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॒ सोम॑स्य त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वाति॑थेराति॒थ्यम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृते॒ विष्ण॑वे त्वा॒ग्नये॑ त्वा रायस्पोष॒दे विष्ण॑वे त्वा ॥ १ ॥

विष्णुर्देवता । स्वराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे अन्न या जीवनप्रद !हे योग्य पुरुष ! तू (अग्नेः तनूः असि) अग्नि का स्वरूप है। (विष्णवे त्वा) तुझको राज्य शासन रूप यज्ञ या व्यापक राज्यव्यवस्था के कार्य के लिये प्रदान करता हूं। हे जल, तू (सोमस्य तनूः असि) सोम का शरीर है। (त्वा विष्णवे) तुझको मैं व्यापक, प्रजा-पालक के लिये प्रदान करता हूँ। हे जल ! तु (अतिथेः) अतिथि के लिये (आतिथ्यम् असि) आतिथ्य है। अर्थात् अतिथि के समान पूजनीय राजा के निमित्त है। (त्वा) तुझे (विष्णवे) विष्णु, व्यापक राज्य-शासन के लिये, (श्येनाय त्वा) श्येन = बाज के समान शत्रु पर आक्रमण करने वाले वा सदाचारी, (सोम-भृते) सोम–राष्ट्र को पालन पोषण करने वाले के लिये (त्वा) तुझे नियुक्त करता हूँ। (विष्णवे त्वा) व्यापक या प्रजा के भीतर पूज्य-रूप से रहने वाले (अग्नये) अग्नि के समान ज्ञानप्रकाशक या शत्रुतापक और (रायः पोषदे) धन की समृद्धि और पुष्टि प्रदान करने वाले (विष्णवे त्वा) विष्णु, समस्त कार्यों में मुख्य रूप से वर्तमान पुरुष के लिये (त्वा) तुझे नियुक्त करता हूँ ॥

१—अग्नेस्तनूरसि पञ्च वैष्णवानि । सर्वा० । [१–१४] गोतम ऋषिः । द०।

भौतिक पक्ष में—हे हवि ! तू अग्नि विद्युत् का दूसरा स्वरूप है । (विष्णवे त्वा) तुझे यज्ञ-पदार्थों के संश्लेषण विश्लेषण के लिये प्रयुक्त करूं, तू सोम, जगत् के उत्पन्न पदार्थ या रस का विस्तारक है । तुझे (विष्णवे) व्यापक वायु के लिये प्रयुक्त करूं । और हे हविः ! अन्न तू (अतिथेः आतिथ्यम् असि) विना तिथि के आये विद्वान् अतिथि के आतिथ्य सत्कार करने के योग्य है और व्याप्तिशील, विज्ञान प्राप्ति के लिये तुझे प्रयोग करता हूँ । (श्येनाय त्वा) तुझे श्येन के समान शीघ्र जाने के लिये, (सोमभृते विष्णवे त्वा) सोम, ज्ञान या प्रेरणसामर्थ्य या राजा के अपने कर्म पालन पोषण करने वाले या राष्ट्रपोषक, सर्वकर्मकुशल, सर्वविद्या के पारंगत पुरुष के लिये तुझे प्रयुक्त करूं । (अग्नये) अग्नि की वृद्धि के लिये तुझको प्रयुक्त करूं । (रायस्पोषदे विष्णवे त्वा) विद्या, ऐश्वर्य की पुष्टि, समृद्धि प्राप्त कराने वाले (विष्णवे त्वा) सद्गुण विद्या आदि की प्राप्ति के लिये भी तेरा प्रयोग करूं ॥ शत० ॥

अर्थात् यज्ञ, विद्वान्, अतिथि, शूरवीर, शत्रुविजयी पुरुष, राष्ट्रपालक धनैश्वर्य का प्रदाता ये सब 'विष्णु' हैं और उनके लिये राष्ट्र के भिन्न २ प्रकार के भोग्य, आदर योग्य पदार्थ प्रदान करें । उनको उचित योग्य पुरुष सहायक दिये जायं और उन कार्यों के लिये उत्तम योग्य पुरुष नियुक्त करें इस प्रकार ५ प्रकार के विष्णु हैं । १ अग्नि विष्णु, २ सोम विष्णु, ३ अतिथि विष्णु, ४ श्येन विष्णु, ५ रायस्पोषद अग्नि विष्णु । इन के लिये ५ प्रकार की विशेष हवि या अन्नादि सामग्री प्रस्तुत करें । जैसे शरीर में आत्मा प्रजापति पाँच प्राण, जैसे संवत्सरमय सूर्य के पाँच ऋतु वैसे राजा प्रजापति के ये पांच विष्णु अर्थात् पांच विभाग हैं जहां राजा अपने कोश और अन्न को प्रदान करे ॥

१अ॒ग्नेर्ज॒नित्र॑मसि॒ वृष॑णौ स्थ ऽउ॒र्वश्य॑स्या॒युर॑सि पु॒रूर॑वा॒ ऽअसि । २गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा छन्द॑सा

मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ॥ २ ॥

विष्णुर्यज्ञो वा देवता । (१) आर्षी गायत्री । षड्जः ।
(२) आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राष्ट्र ! तू (अग्नेः जनित्रम् असि) जिस प्रकार अग्नि को उत्पन्न करने के लिये नीचे काष्ठखण्ड रक्खा होता है, उस पर अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार तू भी (अग्नेः) अग्नि के समान शत्रुतापक राजा का (जनित्रम्) उत्पन्न करने वाला, उसका भोग्य रूप अन्न है। हे शत्रुहिंसक सेनापति और मन्त्रिन् ! तुम दोनों (वृषणौ स्थः) जिस प्रकार पुत्र को उत्पन्न करने वाले माता पिता दोनों वीर्य सेचन क्रिया में समर्थ होते हैं उसी प्रकार तुम दोनों भी (वृषणौ) सूर्य, वायु के समान राजा के समस्त कार्यों में बल प्रदान करने वाले हो। हे राजसभे ! (उर्वशी असि) तू उस विशाल राष्ट्र को वश करने में समर्थ है। हे राजन् या सभापते ! तू (पुरूरवाः असि) बहुत से पुरुषों तक अपना ज्ञानमय उपदेश पहुंचाने में समर्थ सुवक्ता, उपदेष्टा है। हे राजन् ! (त्वा) तुझको (गायत्रेण छन्दसा) ब्राह्मणों, विद्वान् पुरुषों के रक्षा-बल से (मन्थामि) मथता हूँ। (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप् अर्थात् क्षात्र बल से मथता हूं। (त्वा जागतेन छन्दसा मन्थामि) तुझको जागत अर्थात् वैश्य के बल से मथता हूँ, तुझे उन सामर्थ्यों से युक्त करता हूँ ॥

पुत्रोत्पति पक्ष में—जिस प्रकार हे वीर्य रूप हवि ! तू अग्नि, चेतना का उत्पतिस्थान है, शरीर में (वृषणौ स्थः) सेचन समर्थ स्त्री पुरुष हैं। उर्वशी स्त्री है, पुरुरवा पुरुष पति है । उसी प्रकार यह सूर्य का तेज ही विद्युत् का उत्पत्ति स्थान है। सूर्य और वायु जल को आकाश में सेचन

२—अग्नेः शकलम् । वृषणौ दर्भतरुणके । उर्वश्यासि त्रयाणां लिंगोक्ताः देवताः । गायत्रेण त्रीण्याग्नेयानि । सर्वा० ।

करते हैं, उर्वशी विद्युत् है। उसका पालक मेघ पुरुरवा महान् गर्जन करता है। गायत्री आदि पृथिवी, अन्तरिक्ष द्यौ लोक के भिन्न २ व्यापार से वह मथित होकर उत्पन्न होती है ॥

भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ ३ ॥

यज्ञो देवता। आर्षी पंक्तिः। पंचमः ॥

भा०—हे स्त्री और पुरुष ! तुम दोनों ! (नः) हममें (सचेतसौ) समान चित्त वाले, (अरेपसौ) पापरहित, (समनसौ) एक समान ज्ञान या संकल्प विकल्प वाले (भवतम्) होकर रहो। तुम दोनों (यज्ञम्) एक दूसरे के प्रति परस्पर दान या परस्पर के संग को (मा हिंसिष्टम्) विनाश मत करो। (यज्ञपतिम्) इस यज्ञ के पालक को भी नाश मत करो। (जातवेदसौ) धन और ज्ञान से युक्त होकर (अद्य) आज से (नः) हमारे लिये (शिवौ) कल्याण और सुखकारी (भवतम्) होकर रहो। इसी प्रकार अध्यापक शिष्य, राजा प्रजा, राजा सचिव आदि पर भी यह मन्त्र समान रूप से लगता है ॥ शत० ३। ४। १। २०-२३ ॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणाम्पुत्रो अभिशास्तिपावा। स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳसदमप्रयुच्छन् स्वाहा ॥४॥

अग्निर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—जो (अभिशस्ति-पावा) चारों तरफ़ से होने वाला, घातक विपत्ति से बचाने वाला (ऋषीणाम् पुत्रः) वेदार्थवक्ता ऋषियों का पुत्र या शिष्य होकर (अग्नौ) अग्नि में जिस प्रकार (अग्निः) अग्नि (प्रविष्टः) प्रविष्ट होकर और अधिक प्रदीप्त हो, उसी प्रकार (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, तपस्वी और ज्ञानी होकर (अग्नौ) ज्ञान और तेज से

३—०'सचेतसा अरेप०' इति काण्व० ॥

सम्पन्न गुरु के अधीन उसके चित्त में (प्रविष्टः) प्रविष्ट होकर (चरति) व्रत का आचरण करता है या अपने जीवन सुखों का, या अन्न आदि का भोग करता है और (देवेभ्यः) देवों, विद्वानों के लिये (हव्यम्) अन्न और (सदम्) निवासस्थान (स्वाहा) उत्तम वचन, मधुर वाणी सहित आदर पूर्वक (अप्रयुच्छन्) प्रदान करने में कभी आलस्य न करता हुआ (चरति) जीवन पालन करता है। हे मनुष्य ! तू (सः) वह (स्योनः) सर्व सुखकारी (सुयजा) उत्तम यज्ञ, दान कर्म से (इह) इस लोक में (यज) यज्ञ कर, दान पुण्य के कार्य कर।

राजा सबका रक्षक विद्वानों का पुत्र होकर मानो अग्नि में अग्नि के समान प्रविष्ट होकर खूब तेजस्वी होकर विचरता है। वह प्रमाद रहित होकर उत्तम रीति से दान करे। अपने अधिकारी देव पुरुषों को उनका वेतन आदि देने में और विद्वानों को अन्न वस्त्र देने में भी आलस्य न करे ॥ शत० ३। ४। १। २। ५॥

[1]आप॑तये त्वा॒ परि॑पतये गृह्णामि॒ तनू॒नप्त्रे॑ शाक्व॒राय॒ शक्व॑न॒ऽओजि॑ष्ठाय। [2]अना॑धृष्टमस्यनाधृ॒ष्यं दे॒वाना॒मोजो॒ऽन॑भिशस्त्यभिश॒स्ति॒पाऽअ॑नभिशस्ते॒न्यम॑ञ्ज॑सा स॒त्यमुप॑गेषꣳ स्वि॒ते मा॑ धाः॥५॥

विद्युद् देवता। (१) आर्षी उष्णिक्। ऋषभः।
(२) भुरिगार्षी पंक्तिः। पंचमः ॥

भा०—हे सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम पुरुष ! मैं (त्वा) तुझको अपना (आपतये) चारों तरफ से, सब प्रकार से रक्षक होने के लिये, (परिपतये) सब स्थानों पर पालकरूप से, (तनूनप्त्रे) शरीर के रक्षकरूप से (शक्वने) शक्तिमान्, (शाक्वराय) शक्तिशालियों के भी ऊपर उनके

५—आपतये वायव्यम्। अनाधृष्टमाज्यम्। सर्वा० ॥ 'आपतये त्वा। गृह्णामि परिपतये त्वा गृ०', ०शक्मन्नोजि०' 'सुविते मा धाः' इति काण्व० ॥

अधिपतिरूप से विराजने के लिये (गृह्णामि) तुझे स्वीकार करता हूँ। हे राजन्! सब से मुख्य उत्कृष्ट पुरुष! तू (अनाधृष्यम्) कभी भी पराजित न होने वाला (देवानाम्) देव, युद्धविजेता पुरुषों का (ओजः) शरीर में ओज के समान परम बल है। जो (अनभिशस्ति) कभी विनाश नहीं किया जा सकता, (अभिशस्तिपा) सब बाधाओं, पीड़ाओं और आघातों से रक्षा करने वाला और (अनभिशस्तेन्यम्) विपत्ति, घात-प्रतिघात से रहित, निर्विघ्न मार्ग में सबको लेआने, पहुंचा देने वाला है। (अञ्जसा) जल्दी ही या स्पष्टरूप से, प्रकाश रूप से मैं (सत्यम्) अपने सत्य परिपालन के व्रत को (उपगेषम्) प्राप्त होऊं। हे राजन्! तू (स्विते मा धाः) सज्जनों से प्राप्त होने योग्य उत्तम मार्ग में स्थापित कर॥

सब लोग अपने राष्ट्र को अजेय बना लेने के लिये शपथ पूर्वक अपने से श्रेष्ठ शक्तिशाली पुरुष को उक्तरूप से अपना सर्वस्व स्वामी वरण करें और उससे द्रोह न करने की प्रतिज्ञा करें। वह उनको उत्तम मार्ग में रक्खे। आधिभौतिक में वायु, अध्यात्म में प्राण और परमेश्वर पक्ष में भी यह मन्त्र समानरूप से है। इसी मन्त्र से शिष्य भी आचार्य का वरण करे॥ शत० ३। ४। २। १०-१४॥

अग्ने॑ व्रतपास्त्वे व्र॑तपा या तव॑ त॒नूरि॒यꣳ सा मयि॒ यो मम॑ त॒नूरे॒षा सा त्वयि॑। स॒ह नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षान्दी॒क्षा-पति॒र्मन्य॑तामनु तप॒स्तप॑स्पतिः॥ ६॥

अग्निर्देवता। विराड् ब्राह्मी पंक्तिः। पंचमः॥

भा०—हे अग्ने! आचार्य! अथवा परमेश्वर वा राजन्! आप (व्रतपाः) व्रतों के, सत्य धर्माचरण और प्रजाओं के परस्पर व्यवहार शासन व्यवस्थाओं के पालक हैं। (त्वे) तेरे अधीन मैं (व्रतपाः) व्रतों

६—'१या मम०' इति काण्व०।

का पालन करने हारा होऊं। (तव) आपके (या) जो (तनूः) विस्तृत शक्ति है (इयं) यह (सा) वह शक्ति (मयि) मुझ पर शासन करे और (या) जो (मम) मेरे में (तनूः) व्यापक सामर्थ्य है (सा) वह (त्वयि) तुझ में, तेरे आधीन रहे। हे (व्रत-पते) व्रतों के पालक ! (नौ) हम दोनों के (व्रतानि) समस्त व्रत (सह) एक साथ रहें। (दीक्षापतिः) दीक्षा का पालक (मे) मुझे (दीक्षाम् अनु मन्यताम्) दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करे। और (तपः-पतिः) तपश्चर्या का पालक, आचार्य और परमेश्वर (तपः) मुझे तपो व्रत ग्रहण करने की अनुमति दे। राजा और उसके अधीन प्रतिज्ञाबद्ध भृत्य, सेवक, सहायक एवं सेनापति, सैनिक और आचार्य, शिष्य परस्पर ऐसी प्रतिज्ञा करें। शिष्य इस प्रार्थना से दीक्षा ले तप का पालन करे ॥ शत० ३ । ४ । ३ । १–९ ॥

[1]अ॒ꣳशुर॑ꣳशुष्टे देव सो॒माप्या॑यता॒मिन्द्रा॑यैकधन॒विदे॑। आ तु॒भ्य॒मिन्द्रः॒ प्याय॑ता॒मा त्वमिन्द्रा॑य प्यायस्व। [2]आप्या॑यया॒स्मान्त्स॒खी॑न्त्स॒न्न्या मे॒धया॑ स्व॒स्ति ते॑ देव सोम सु॒त्याम॑शीय। एष्टा रा॒यः प्रेषे भगा॑यऽऋ॒तमृ॑तवा॒दिभ्यो॒ नमो॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॑म् ॥ ७ ॥

सोमो देवता। (१) आर्षी बृहती। मध्यमः। (२) आर्षी जगती।
निषादः ॥

भा०—हे (देव सोम) प्रकाशस्वरूप सोम ! सर्वोत्पादक, सर्व-प्रेरक परमेश्वर या परब्रह्मानन्द ! (ते अंशुः अंशुः) तेरा प्रत्येक अंशु, तेरी प्रत्येक व्यापक शक्ति (एक-धन-विदे) एक विज्ञान मात्र धन को लाभ करने वाले, (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त ज्ञानसम्पन्न आत्मा को

७—अग्निर्देवंतति माधवः। लिंगोक्ता इति० सर्वा०। ०'सुत्यामुदृचमशीय।' ०'नमः पृथिव्यै'। इति काण्व० ॥

(आप्यायताम्) बढ़ावे, उसको शक्ति प्रदान करे । (इन्द्रः) और वह इन्द्र (तुभ्यम्) तुझे (आप्यायताम्) बढ़ावें, (त्वम्) तू (इन्द्राय) इन्द्र को (आप्यायस्व) बढ़ा ! (अस्मान् सखीन्) हम मित्रों को भी (सन्न्या मेधया) सत् स्वरूप तक पहुंचाने वाली मेधा, धारणावती प्रज्ञा से (आप्यायय) बढ़ा, तृप्त कर । हे (देव सोम) प्रकाशस्वरूप सोम ! योग समाधि द्वारा प्राप्त ब्रह्मानन्द रस ! हम (स्वस्ति) सुख-पूर्वक (ते) तेरे (सुत्याम्) आनन्द रस की प्राप्ति को (अशीय) लाभ करें । हे सोम परमेश्वर ! (आ इष्टाः) सब प्रकार से इष्ट (रायः) ऐश्वर्यों को (इषे) अन्न और उत्तम कामना और (भगाय) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (प्र) उत्तम रीति से प्राप्त करें । (ऋतवादिभ्यः) सत्यवादी पुरुषों से हम (ऋतम्) सत्य ज्ञान प्राप्त करें और (द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यौ और पृथिवी से हम (नमः) अन्न प्राप्त करें ॥

राष्ट्र पक्ष में—हे सोम राष्ट्र ! तेरा एक अंशु एक मात्र धन के स्वामी राजा को बढ़ावें, या उसके लिये बढ़े । तुझे इन्द्र राजा बढ़ावे । तू राजा के लिये वृद्धि को प्राप्त हो । हमारे मित्र राष्ट्र को (सन्न्या मेधया) सन्मार्गसे लेजाने वाली बुद्धि से बढ़ा । सुख पूर्वक हम तेरी (सुत्या) प्रेरक आज्ञा, या शासन व्यवस्था में रह कर इष्ट धनों को प्राप्त करें । उत्तम अन्न ऐश्वर्य लाभ करें । सत्यज्ञानियों से ज्ञान और द्यौ पृथिवी में से अन्न प्राप्त करें । इसी प्रकार हे सोम ! हे शिष्य ! एक मात्र विज्ञान के धनी आचार्य के लिये तेरा प्रत्येक अंग बढ़े, तुझे वह बढ़ावे, तू उसे बढ़ावे । हमारे स्नेहियों को सन्मार्ग गामिनी बुद्धि से बढ़ा । तेरी ज्ञान प्राप्ति में हम धन प्राप्त करें । तू ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त कर । द्यौ और पृथिवी से बल, धन, अन्न प्राप्त कर । इस प्रकार भिन्न २ प्रकरण में मन्त्रार्थ जानना चाहिये ॥

[1]या तेऽअग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा । [2]या तेऽअग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा । या तेऽअग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा ॥ ८ ॥

अग्निर्देवता । (१) विराड् आर्षी बृहती ।
(२) निचृदार्षी बृहती । मध्यमः ।।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! (या) जो (ते) तेरी (तनूः) व्यापक शक्ति (अयःशया) अयस् अर्थात् निम्न श्रेणी की प्रजाओं में प्रसुप्त रूप में विद्यमान, (वर्षिष्ठा) नाना सुखों की वर्षा करने वाली (गह्वरेष्ठा) प्रजा के हृदयों में बसी है, वह शत्रुओं के (उग्रं वचः अपावधीत्) उग्र, भयकारी वचन का नाश करती है । और (त्वेषं वचः प्रदीप्त क्रोध पूर्ण वचन को (अपावधीत्) नाश करती है । उसी प्रकार हे अग्ने ! (या ते तनूः) जो तेरी विस्तृत शक्ति (रजः शया) रजस्, अर्थात् राजस्, क्रिया-शील मध्यम श्रेणी के लोगों में व्याप्त है वह भी (वर्षिष्ठा) अति सुख वर्षक या बड़ी विस्तीर्ण और (गह्वरेष्ठा) निगूढ है । (उग्रं वच० इत्यादि) वह भी शत्रु के भयंकर और तीखे वचनों का नाश करती है । इसी प्रकार हे (अग्ने) राजन् ! (या ते तनूः) जो तेरी विस्तृत शक्ति (हरि-शया) हरणशील या ज्ञानवान् पुरुषों के भीतर या हरणशील, अश्व आदि पशु ओर सवारियों में, (वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा) अति विस्तृत और निगूढ रूप से विमान है वह भी (उग्रं वचः अपावधीत्, त्वे ं वचः अपावधीत्) शत्रु के उग्र और तीक्ष्ण वचनों का नाश करती है । (स्वाहा) वह शक्ति राजा का उत्तम वचन ज्ञान रूप ही है ॥

विद्युत् और अग्नि पक्ष में—हे अग्ने ! तेरी जो (तनूः) शक्ति (अयःशया) लोह आदि धातु में है और तेरी शक्ति (रजः-शया)

सूक्ष्म परमाणुओं में विद्यमान है और जो (हरि-शया) तीव्र गतिमान् विद्युत्, प्रकाश, ताप आदि में विद्यमान है वह (वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा) अति बलवती और बहुत निगूढ़ है । वह भी (उग्रं) अति भयंकर (वचः) शब्द (अपावधीत्) उत्पन्न करती है। (त्वेषं वचः अप अवधीत्) तीव्र वचन या शब्द या तेजोमयरूप उत्पन्न करने में समर्थ है । (स्वाहा) वह शक्ति उत्तम रीति से सब पदार्थों के भीतर विद्यमान है ॥

परमेश्वर के पक्ष—हे अग्ने ! परमात्मन् ! जो तेरी शक्ति (अयःशया) दिशाओं में या इस भूलोक में, (रजःशया) समस्त लोकों में और (हरि-शया) द्यौलोक या आदित्य में व्यापक है वह (वर्षिष्ठा) सबसे महान् और (गह्वरेष्ठा) सबके भीतर गुप्तरूप से विद्यमान है। वह (उग्रं वचः अपावधीत्) बड़े बलवान् वचन या विज्ञान को प्रकट करती है। (त्वेषं वचः अपावधीत्) वह बड़े तीव्र वचन अर्थात् सुतीक्ष्ण ज्ञान को प्रकट करती है ॥ शत० ३ । ४ । ४ । २३–२५ ॥

इस मन्त्र में कुछ शब्दों के स्पष्टीकरण नीचे लिखे उद्धरण, से स्पष्ट करते हैं—'अयः' = दिशो वा अयस्मय्यः । तै० ३ । स ६ । ५ । विशः एतद् रूपं यदयः । श० १३ । ३ । २ । १९ ॥ भूलोकस्य रूपमयस्मय्यः। तै० ३ । ७ । ६ । ५ ॥ 'रजः'–द्यौर्वै तृतीयं रजः । श० ६ । ७ । ४ । ५ ॥ इयं रजता । तै० १८ । ७ । ८ ॥ अन्तरिक्षस्यं रूपं रजता । तै० ३ । ७ । ६ । ५ ५ ॥ राष्ट्रं हरिणः । श० १३ । २ । ९ । ८ ॥ हरिणी हि द्यौः श० १४ । १ । ३ । १७ ॥ विड् वै हरणी । तै० ३ । ९ । ७ । २ ॥ हरिश्रियः पशवः । तां० १५ । ३ । १० ॥

[1]तुप्तायनी मेऽसि वित्तायनी मेऽस्यवतान्मा नाथितादवतान्मा व्यथितात् । [2]विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिर आयुना नाम्नेहि

य्रोऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम य्रज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्ने ऽअङ्गिर ऽआयुना [3]नाम्नेहि यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम य्राज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिर ऽआयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम य्रज्ञियं तेन त्वा दधे। [4]अनु त्वा देववीतये ॥६॥

अग्निर्देवता । (१) भुरिगार्षी गायत्री । षड्जः । (२) भुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः । (३) निचृद् ब्राह्मी जगती, निषादः याजुष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(१) (तप्तायनी मे असि) हे पृथिवि ! तू तप्त, भूख आदि से पीड़ित या आधिदैविक उत्पादक, हिम, वर्षा, आतप आदि से पीड़ित पुरुष को अयन अर्थात् शरणरूप में प्राप्त होने वाली है । अथवा 'तप्त' प्रतप्त या ताप देने वाले अग्न्युत्पादक पदार्थों को देनेवाली है । तू (वित्त-अयनी मे असि) हे पृथिवि ! मेरे समस्त वित्त, धन ऐश्वर्य आदि भोग्य पदार्थों और ज्ञातव्य पदार्थों को प्राप्त कराने वाली है । (मा) मुझको (नाथितात्) संताप, पीड़ा, दीनता से (अवतात्) बचा । (व्यथितात् मा अवतात्) व्यथा, कष्ट, शत्रुओं और दुष्ट जीवों के आक्रमण आदि से बचा । (नभः नाम) नभः, सब प्रजाओं को अपने अधीन बाँधने वाला, अथवा दुष्टों को बाँधने वाला (अग्निः) अग्रणी नेता पुरुष (नभः नाम) 'नभस्' नाम से प्रसिद्ध है, वह तुझे (विदेत्) प्राप्त करे । हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी नेता पुरुष ! हे (अङ्गिरः) शरीर में रस या प्राण के समान समाज शरीर के प्राणभूत पुरुष ! तू (आयुना नाम्ना) समस्त प्राणियों को एकत्र कर मिलाने और रक्षा करने हारा होने से 'आयु' है,

---

९—तप्तायनी चत्वारि पार्थिवानि । सर्वा० । '०मा व्यथितमवतान्मा नाथितम्' । 'विदेरग्ने०' ०'दध विदेरग्नेर्न०' । इति काण्व० ॥

उसी 'आयु' नाम से प्रसिद्ध होकर (इहि) यहां प्राप्त हो। (यः) जो तू (अस्याम्) इस (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (असि) सामर्थ्यवान् है और (यत्) जो (ते) तेरा (अनाधृष्टं) शत्रुओं से न धर्षण किया जाने योग्य, दुःसह (यज्ञियम्) परस्पर संगतिकरण करने का बल कर्म है (तेन) उससे (त्वा) तुझे (आदधे) स्थापित करूं। इसी प्रकार (नभः नाम अग्निः विदेत्) सबको व्यवस्था में बाधने वाला अग्रणी है उसे पृथिवी में प्राप्त करें । हे नभः नाम वाले अग्ने ! हे अङ्गिरः ! ज्ञानवन् ! तू 'आयु' नाम से प्रसिद्ध है। तू सबको एकत्र करने में समर्थ है। तू (द्वितीयस्यां पृथिव्याम् असि) दूसरी पृथिवी, अन्तरिक्ष में भी सामर्थ्यवान् है। वहां जो तेरा अप्रतिहत बल है उससे तुझे स्थापित करता रहूँ । इसी प्रकार हे अग्ने ! तू 'नभः' नामक है (अङ्गिरः) सूर्य के समान तेजस्वी तू सबको जीवनों का प्रदाता 'आयु' इस नाम से (तृतीयस्यां पृथिव्याम् असि) तीसरी पृथिवी-द्यौ में सूर्य के समान तेजस्वी है। हे राजन् (अनाधृष्टं नाम यज्ञियम्) जो अप्रतिहत, अविनाशी बल है (तेन त्वा दधे) उससे तुझे स्थापित करूं और (देव-वीतये) देव, विद्वान्, शक्तिमान् पुरुषों की रक्षा के लिये दिव्य पदार्थों के प्राप्ति या भोग के लिये भी (त्वा अनुदधे) तुझे पुन स्थापित करूं। अर्थात्—पृथिवी में जल नामक 'नभः' अग्नि है, अन्तरिक्ष में, वायु या विद्युत् और द्यौलोक में सूर्य तीनों 'नभः' हैं। उन के समान राजा शक्तिशाली, सबको मिलाने घुलाने वाला, तेजस्वी प्राणप्रद होकर 'आयु' नाम से प्रजा को प्राप्त हो। विद्वान् पुरोहित उसको अप्रतिहत, सर्वोच्च तेज से सम्पन्न करें, उसे राज्य पर स्थापित करें। वह उत्तम, मध्य और निकृष्ट तीनों पर शासन करे और समस्त देव, विद्वान्, शक्तिमान् पुरुषों की रक्षा करे ॥

विद्युत् पक्ष में—विद्युत् मेरे लिये वित्तायनी, ऐश्वर्य के देनेवाली और धनप्रद है। वह ऐश्वर्य से या पीड़ा से हमें रक्षा करे। वह प्रकाशपरू

होने से 'नभः' है। वह शरीर में जाठर अग्निरूप में 'अङ्गिरा' है। वह जीवनप्रापक होने से 'आयु' नाम से हमें प्राप्त है। उसको मैं अविनाशी रूप जीवन सम्पादक ब्रह्मरूप से यज्ञाग्नि के समान धारण करूं। भौतिक अग्नि 'नभः' अन्तरिक्षस्थ जल को प्राप्त करे। वह अंगार में स्थित होने से 'अंगिरा'। जीवनप्रापक नाना वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला होने से 'आयु' है। इसी प्रसिद्ध नाम से वह हमें प्राप्त होवे। वह द्वितीय पृथिवी अर्थात् अन्तरिक्ष में है। उस यज्ञ सम्बन्धी अग्नि को मैं धारण करूं। तीसरा अग्नि सूर्य 'नभः' आकाश को प्राप्त है। वह (अंगिराः) व्यापक है। वह भी सर्व पदार्थ प्रापक होने से 'आयु' कहाता है। उसी प्रसिद्ध नाम से हमें प्राप्त हो। वह तृतीय कक्षा में विद्यमान भूमि अर्थात् द्यौलोक में है। उस नाना शिल्प विद्याओं के उपयोगी होने वाले यज्ञिय अग्नि को हम दिव्य गुणों के प्राप्त करने के लिये स्वीकार करें, अपने वश करें।

सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व ॥१०॥

वाग्देवता। ब्राह्म्युष्णिक्। ऋषभः॥

भा०—हे सेने! तू (सपत्नसाही ३) शत्रुओं का विजय करनेवाली (सिंही ३) उनका नाश करनेवाली (असि ३) है। तू (देवेभ्यः) देव राजाओं के लिये (कल्पस्व) शक्तिशाली होकर रह। तू उनके लिये (शुन्धस्व) समस्त कण्टकों का शोधन कर, तू (देवेभ्यः शुम्भस्व) देव, राजाओं को शोभित कर, उनकी शान का कारण बन।

वाणी के पक्ष में—तू दोषों के नाश करने और शब्दों के धारा प्रवाह बरसाने या उच्चारण करने से 'सिंही' है और प्रेम सिंचन द्वारा, शत्रुओं पर भी अपना अधिकार कर लेने से 'सपत्नसाही' है। तू देव, दिव्य गुण

१०—सिंह्यसि त्रयाणां वेदिः। सर्वा०॥

वाले पुरुषों, विद्याभ्यासियों और शूरवीर पुरुषों को (कल्पस्व) समर्थ कर, और (देवेभ्यः शुन्धस्व) देव धार्मिकों को शुद्ध कर। और (देवेभ्यः शुम्भस्व) सुशील पुरुषों को सुशोभित कर। यज्ञ में यह उत्तर वेदि है जो स्त्री और पृथिवी की भी प्रतिनिधि है। इससे उन पक्षों में भी इसकी योजना करनी चाहिये ॥

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्द्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥ ११ ॥

वाग् देवता । निचृद् ब्राह्मी । धैवतः ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (इन्द्रघोषः) इन्द्र, विद्युत् के घोष या गर्जना के समान गर्जना उत्पन्न करने वाले आग्नेयास्त्र का ज्ञाता पुरुष (वसुभिः) राष्ट्र से सुखपूर्वक बसने में कारण रूप, शत्रुनिवारक योद्धाओं द्वारा (पुरस्तात् पातु) आगे से रक्षा करे। (प्रचेताः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् पुरुष (रुद्रः) शत्रुओं को रुलाने में समर्थ बड़े २ सत्ताधारी सर्दार, नृपतियों, क्षत्रिय राजाओं के सहित (पश्चात्) पीछे से (त्वा पातु) तेरी रक्षा करे। (मनोजवाः) मनके वेग के समान वेगवान्, तीव्रगति वाला, अतिशीघ्रगामी रथों का अध्यक्ष, अथवा मानस ज्ञान और विचार से आगे बढ़ने वाला अतिविवेकी पुरुष (पितृभिः) पालन या रक्षा करने में समर्थ, वृद्ध, ज्ञानी, विचारवान्, ठण्डे दिमाग से सोचने वाले विद्वान् पुरुषों के साथ (त्वा) तुझ राष्ट्रवासी जनको (दक्षिणतः पातु) दक्षिण अर्थात् दायें से रक्षा करे। और (विश्वकर्मा) समस्त प्रकार के शिल्पों को रचनेहारा पुरुष विश्वकर्मा (आदित्यः) आदित्य, ऐश्वर्य प्राप्त करने वाले, व्यवहारकुशल वैश्यों द्वारा (उत्तरतः त्वा पातुं) उत्तर

११—इन्द्रघोषश्चतुर्णाम् उत्तर वेदि । स इदमहयापम् । सर्वा० ।

अर्थात् बायें से तेरी रक्षा करे । और मैं राजा (इदम्) इस प्रकार (तप्तम्) तपे हुए, खूब क्रोध और रोष से पूर्ण शत्रु के आक्रमण को न सहन करने वाले (वाः) उनको वारण करने वाले बलको (यज्ञात्) सुसंगठित देश से (बहिर्धा) बाह्य देश की रक्षा के लिये (निःसृजामि) नियुक्त करूं ॥

राष्ट्र की रक्षा के लिये वीर सुभट, राजा, नरपति लोग, विचारवान् पुरुष और शिल्पी और व्यापारी अपनी २ दिशा में रक्षा करें और उग्र, तीव्र या तप्त स्वभाव के लोगों को राष्ट्र की रक्षार्थ बाहर की छावनियों में लगावें ॥

इसके अतिरिक्त—(इन्द्रघोषः) परमेश्वर की वेदवाणी का उपदेश हमारी आगे से रक्षा करे । प्रचेता उत्कृष्ट ज्ञानी पुरुष रुद्र, ब्रह्मचर्यवान् पुरुषों सहित हमें पीछे से बचावे । 'मनोजवा' मनन बलवाले लोग ज्ञानी पालकों द्वारा दायें से और आदित्य ब्रह्मचारियों से (विश्वकर्मा) वह सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर बायें से रक्षा करे । अध्यात्म में इन्द्रघोष, आत्मा का भीतरी मुख्य प्राण । वसु गौण प्राण । 'प्रचेताः' बुद्धि । मनोजव = मन, विश्वकर्मा, आत्मा । वसु, रुद्र, पितर, आदित्य ये सभी प्राण हैं । इनकी सहायता से वे शक्तियें हमें बचावें । (तप्तं वाः) क्रोध, शोक और दुःख वा रोगकारी जलांश को हम अपने यज्ञ अर्थात् आत्मा व देह से बाहर करें ॥

सिꣳह्यसि स्वाहा सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा । भूतेभ्यस्त्वा ।१२।

वाग् देवता । भुरिग् ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे वाक् ! तू (स्वाहा) उत्तम रूप से उच्चारण करने योग्य

१२—सिंह्यसिपञ्चानां वाक् । भूतेभ्यः स्रुक् । सर्वा० ॥

और (सिंही असि) अविद्या का नाश करनेवाली होने से 'सिंही' है । तू (सिंही असि) 'सिंही क्रूरता अर्थात् अज्ञान का नाशक है । तू (आदित्यवनिः) बारह मासों को प्राप्त होने वाली, उनका वर्णन करने वाली है, ज्योतिष् विद्या जिस प्रकार उनका उत्तम वर्णन करती है । उसी प्रकार प्रजा के भीतर, कर-आदान करने वाले १२ प्रकार के राजाओं को उचित रीति से वर्णन करनेवाली (स्वाहा) वाणी है । तू भी (सिंही असि) उनके क्रूरता का नाश करती है । तू (ब्रह्मवनिः) ब्राह्मणों को प्राप्त होती और (क्षत्रवनिः) क्षत्रियों को प्राप्त होती है । तू भी (स्वाहा) उत्तम उपदेशमयी वाणी है । और (सिंही असि) घोर वस्तुओं के नाशक होने और अज्ञान का नाश करनेवाली होने से, या शत्रुओं के पराभव करने वाली होने से नीतिरूप 'सिंही' है । तू (सिंही) प्रजा के समस्त दुःखदायी चोर आदि दुष्ट और रोगों को नाश के उपाय बतलाने वाली होने से सिंहीरूप से ही (सु-प्रजावनीः) उत्तम प्रजाओं को प्राप्त कराने वाली (असि) है । तू (स्वाहा) उत्तम उपदेश देनेवाली होकर (रायस्पोषवनिः) ऐश्वर्य समृद्धि को प्राप्त करानेनाली है । (सिंही असि) तू सब दुःखों को नाश करनेवाली 'सिंही' है । तू (स्वाहा) उत्तम ज्ञानोपदेश करने वाली होकर (यजमानाय) विद्वानों के पूजा सत्कार करनेहारे दानशील पुरुष के समीप (देवान्) विद्वान्, ज्ञानी, देव पुरुषों को प्राप्त कर । हे वाणि ! मैं तुझे (भूतेभ्यः) समस्त प्राणियों के उपकार के लिये प्रयोग करूं ॥

राजशक्ति या व्यवस्था के पक्ष में—तू शत्रुनाशक सिंही है । (स्वाहा) उत्तम रीति से प्रयोग की जाकर (आदित्यवनिः) तू आदित्य, विद्वानों या आदित्य अर्थात् धनसंग्रही वैश्यों को वृत्ति देनेवाली है । तू (ब्रह्मवनिः, क्षत्रवनिः) ब्राह्मणों और क्षत्रियों को वृत्ति देती है । तू (सुप्रजावनिः रायस्पोषवनिः) उत्तम प्रजाओं की वृत्ति देनेवाली, धन समृद्धि के देनेवाली तू सर्वदा नाशक 'सिंहीं' है । तू (स्वाहा) उत्तम रीति से प्रयोग की

जाकर ही (यजमानाय) दानशील राजा के पास (देव) विद्वानों, विजयी सुयोद्धाओं को प्राप्त कराती है। (भूतेभ्यः त्वा) तेरा उत्तम उपयोग मैं समस्त प्राणियों के हित के लिये करूं। राज शासन व्यवस्था भी एक विद्या या दण्ड नीति है वही यहां 'सिंही' वाग्रूप में कही गई है ॥

यदसुराणां लोकानादत्त तस्मादादित्यः। तै० ३। ७। २१। २॥ एष उद्यन् एव क्षत्रं वीर्यमादत्त तस्मादादित्यो नाम। श० २। १। २। १८॥ असौ वा आदित्यः पाप्मनोऽपहन्ता श० १३। ८। २। ११॥ आदित्य लोकस्तद् दिव्यं क्षत्रम्। सा श्रीः तद् ब्रध्नस्य विष्टपम् तत् स्वाराज्यमुच्यते ॥

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृꣳह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षन्दृꣳहाच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहाग्नेः पुरीषमसि ॥ १३ ॥

यज्ञो देवता। भुरिगार्षी अनुष्टुप्। गांधारः ॥

भा०—हे राजन्! तू (ध्रुवः असि) तू निश्चल, स्थिर है। तू (पृथिवी दृंह) पृथिवी को, पृथिवीवासी प्रजा को बढ़ा, विस्तृत कर, उन्नत कर। तू (ध्रुवक्षित् असि) ध्रुव या स्थिर पदार्थों या स्थिर पदाधिकारियों को, स्थिर स्थायी कार्यप्रबन्धों, नियमों को स्थापन करने वाला है। तू (अन्तरिक्षम् दृंह) अन्तरिक्ष को और उसमें विद्यमान शक्तिः मेघ, वायु आदि पदार्थों को (दृंह) बढ़ा, उन पर वशकर के उन शक्तियों को अधिक लाभदायक कर। तू (अच्युतक्षित् असि) अच्युत, विनाश रहित, स्थिर सिंहासन पर विराजमान, या नाशरहित स्थिर पदों या पदार्थों का स्थापक है। तू (दिवं दृंह) द्यौलोकस्थ प्रकाश आदि पदार्थ को और अधिक शक्तिशाली कर। तू (अग्नेः) अग्नि, विद्युत् आदि तेजोमय पदार्थ को (पुरीषम्) पूरा करनेवाला है। अथवा (अग्नेः पुरीषम् असि) अग्नि,

---

१३—ध्रुवोऽसि परिधयस्त्रयाणाम। 'अग्नेः' सम्भाराः गुल्गुल्वादयः। सर्वा० ॥ ०दृंहाग्नेर्भस्मा्ग्नेः पुरीषमसि।' इति काण्व० ॥

शत्रुओं के संताप देनेवाले महान् सामर्थ्य या सेनाबल का 'पुरीष' एकमात्र परमेश्वर्यवान् या प्राणरूप राजा है । अथ यत् पुरीषं स इन्द्रः । श० १० । ४ । १ । ७ ॥ स एष प्राण एव यत् पुरीषम् । श० ८ । ७ । ३ । ६ ॥

यज्ञ पक्ष में—यज्ञ, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोको को बढ़ावे, स्थिर पदार्थों को प्रदान करे । वह (अग्नेः पुरीषम् असि) अग्नि, विद्युत् आदि की और पशु सम्पत्ति की पूर्त्ति करे । अध्यात्म यज्ञ पक्ष में—हे आत्मन्! शरीर के पृथिवी भाग और, अन्तरिक्ष, मध्य भाग और द्यौ, मस्तक तीनों को पुष्ट कर । स्थिर अंगों में निवास कर, तू जाठर अग्नि का भी प्राण या प्रणेता है । ईश्वर पक्ष में—वह ध्रुव, नित्य परमात्मा तीनों लोकों को बनाता, विस्तार करता है । वह सब नित्य पदार्थ आकाश आदि में व्यापक हैं । वह अग्नि, तेजोमय सूर्यों का पुरीष=प्रणेता प्राण, या राजा है ।

युञ्जते मन॑ऽउत यु॑ञ्जते धियो॒ विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑पश्चित॑ः। वि होत्रा॑ दधे वयुनावि॒देक॒ऽइन्म॒ही दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुति॒ः स्वाहा॑ ॥ १४ ॥ ऋ० ५ । ८१ । १ ॥

श्यावाश्व ऋषिः । सविता देवता । स्वराडार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—(बृहतः) उस महान् (विपश्चितः) सर्वज्ञ, अनन्त विद्या के भण्डार, (विप्रस्य) मेधावी, विविध कामों को पूर्ण करने वाले नाना फलप्रदाता, परमेश्वर के ध्यान में (विप्राः) मेधावी, (होत्राः) अपने आत्मा की उसमें आहुति करने वाले, या प्राणापान की आहुति देने वाले पुरुष उसमें अपने (मनः युञ्जते) मन को योग द्वारा युक्त करते हैं । (उत) और (धियः) अपनी बुद्धियों, वाणियों और समस्त कर्मों या चेष्टाओं या क्रियाओं को (युञ्जते) उधर ही लगा देते हैं । वे उसका (वि दधे) विशेष रूप से वर्णन करते हैं । या भी उसका (विदधे)

विशेष रूप से या नाना प्रकार से वर्णन करूं। वह (वयुनावित्) समस्त उत्तम कर्मों और विज्ञानों का ज्ञाता (एकः इत्) एक ही है। उस (सवितुः) सब के उत्पादक, सर्वप्रेरक (देवस्य) देव, सर्वद्रष्टा, सर्व-प्रदाता, सर्वप्रकाशक परमेश्वर की (महि परिस्तुतिः) बड़ी भारी स्तुति, या महिमा है। (स्वाहा) वह सत्य वाणी का उपदेष्टा है, या सत्यवाणी स्वरूप है॥

अथवा—(विप्राः बृहतः विपश्चितः विप्रस्य मनः युंजते) विद्वान् जन उस महान् ज्ञानों कर्मों के ज्ञाता, सर्व काम पूरक प्रभु के ज्ञान का मनन करते हैं। वे उसके (उत धियः युञ्जते) कर्मों का एकाग्र चित्त से मनन करते हैं। वह (एकः इत् वयुनाविद् होत्राः विदधे) वह एकमात्र समस्त लोकों, भुवनों और कर्मों, ज्ञानों का ज्ञाता और कर्मफलों का दाता, समस्त वेद वाणियों का उपदेश करता है। उस (देवस्य सवितुः मही परिस्तुतिः) उस सर्वप्रद सर्वस्रष्टा, सर्वप्रेरक प्रभु की यह वेदवाणियाँ सर्व श्रेष्ठ स्तुति, वा उपदेश है।

राज पक्ष में—सब विद्वान् अपने में सबसे अधिक विद्वान् ब्राह्मण, मेधावी के प्रति अपने और कर्मों को जोड़ें, उसके अधीन रहें। वह सब शासन कार्यों का ज्ञाता होकर रहे। उसी सब के प्रेरक, देव, विद्वान् राजा की आज्ञा का सर्वोत्तम रीति से पालन हो॥

यज्ञ में—मुख्य ब्रह्मा को करके सब ऋत्विज् अपना ध्यान उसकी ओर रखें, वह सबका ज्ञाता, सबका आज्ञापक रहे। यज्ञो वै प्रजापतिः ॥श०॥

इ॒दं विष्णु॒र्वि च॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम्।
समू॑ढमस्य पा॒ꣳसु॒रे स्वाहा॑ ॥ १५ ॥ ऋ० १ । २२ । ७६ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः। विष्णुर्देवता। भुरिगार्षी गायत्री। षड्जः।

१५—'समूळ्हम०' ति काण्व०।

भा०—(विष्णुः) चर और अचर समस्त जगत् में व्यापक परमेश्वर (इदं) इस समस्त जगत् को (वि चक्रमे) विविध रूपों में व्याप्त होकर रचता है और उसने (त्रेधा) तीन प्रकार से इसमें (पदम्) अपने ज्ञान या स्वरूप को (नि दधे) स्थापित किया है। और (पांसुरे) जिस प्रकार धूलिमय देश में कोई पदार्थ लुप्त रहता है और बड़ा यत्न करने पर ढूंढने से प्राप्त होता है उसी प्रकार (अस्य पदम्) उसका वह गूढ़ स्वरूप भी (समूढम्) खूब गूढ है, सर्वत्र व्यापक है, और मनन, निदिध्यासन द्वारा जानने योग्य है। (स्वाहा) उसका उत्तम रीति से ज्ञान करो और उसकी उपासना करो ॥

सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीनों रूपों में परमेश्वर अपनी शक्ति सर्वत्र प्रकट करता है और चतुर्थ निर्गुण रूप भी प्रकृति के परमाणुओं के भीतर ही खूब सूक्ष्म रूप में व्यापक है। [विशेष विवेचना देखो सामवेद-भाष्य०] ॥

इरावती धेनुमती हि भूतꣳ सूयवसिनी मनवे दशस्या। व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा ॥१६॥

ऋ० ७ । ९९ । ३ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । विष्णुर्देवता । स्वराड आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (विष्णो) सर्वव्यापक परमेश्वर ! आप (एते) इन दोनों (रोदसी) द्यौ और पृथिवी को (वि-अस्कभ्नाः) विशेष रूप से थाम रहे हो। और (अभितः) सब ओर से (मयूखैः) जैसे किसी पदार्थ के चारों ओर खूटियाँ या कीलें लगाकर उनमें तान दिया जाता है उसी प्रकार आपने (स्वाहा) अपनी धारण शक्ति से (पृथिवीम्) पृथिवी को भी (दाधर्थ) धारण किया है। ये दोनों द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि

१६—०'विष्ण एत'० इति काण्व० ।

(इरावती) अन्न और जल से पूर्ण, (धेनुमती) दुग्ध देने वाली गौओं और रसप्रद रश्मियों से पूर्ण, (सूयवसिनी = सु-यवसिनी) उत्तम अन्न चारे से पूर्ण (भूतम्) हैं। और (मनवे) मननशील पुरुष को सब प्रकार के पदार्थ (दशस्या) प्रदान करती हैं। अथवा, (दशस्या = दशस्याय) देने योग्य (मनवे) ज्ञान के लिये (एते) ये सब हम सबको बतलावें।

दम्पति के पक्ष में—हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (इरावती धेनुमती सुयवसिनी मनवे दशस्या भूतम्) अन्न गौओं और चारे आदि नाना पदार्थों से समृद्ध होकर ज्ञानवान् पुरुष के लिये दानशील रहो और हे विष्णो ! प्रजापते ! पुरुष ! तू (रोदसी व्यस्कभ्नाः) अपने पूर्वज पिताओं और अगली सन्तान इन दोनों को थाम। और (मयूखैः) किरणों से (स्वाहा) स्वयंवरण पूर्वक (अभितः पृथिवीं दाधर्थ) सब ओर से अपनी प्रजोत्पत्ति की आश्रय एक मात्र पृथिवी रूप स्त्री को धारण पोषण कर। यही योजना राजा-प्रजापक्ष में समझनी चाहिये। वे दोनों अन्न, पशु आदि से समृद्ध हों और राजा पृथिवी को (मयूखैः) करों द्वारा पालन करें॥

मयूखैः—माङ ऊखो मय च। उणादिसूत्रम्। मिमीते मान्यहेतुर्भवति इति मयूखः किरणः कान्तिः करो ज्वाला वा। इति दयानन्दः॥

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्तीऽऊर्ध्वं यज्ञं नयत मा जिह्वरतम्। स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्ये ऽआयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः॥१७॥

विष्णुर्देवता। स्वराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (देवश्रुतौ) दिव्य विद्याओं में प्रसिद्ध, विद्वानों के बीच प्रसिद्ध, अथवा विद्वानों से बहुत शिक्षा प्राप्त होकर (देवेषु आ घोषतम्) देव, विद्वानों के बीच में अपने गृहस्थ धारण

१७—वसिष्ठ ऋषिः। द०। देवश्रुतावक्षधुरौ। सर्वा०॥

करने के उत्तम संकल्प को आघोषित करो, ऊंचे स्वर से निवेदित करो। आप दोनों (प्राची) सदा उत्तम, ऊंचे मार्ग पर, प्रकाश की ओर जाते हुए (प्र इतम्) आगे बढ़ो। और (अध्वरं) हिंसा रहित शुभ कर्म का (कल्पयन्ती) अनुष्ठान करते हुए आप दोनों (यज्ञम्) यज्ञ को, आत्मा को, या गृहस्थ कार्य को, या परस्पर की संगति को (ऊर्ध्वम्) ऊंचे पदतक (नयतम्) पहुंचा दो। और परस्पर (मा जिह्वरतम्) कभी कुटिलता का व्यवहार मत करो। और (स्वं) अपने (गोष्ठं) बातचीत (आ वदतम्) एक दूसरे को कहो, परस्पर सुख से वार्तालाप करो। या (स्वं गोष्ठम् आवदतम्) दोनों के अपने धन और गौशाला वा देह आदि स्थानों को अपना स्वीकार करो। (देवी दुर्ये) दिव्य रमण योग्य, सुखदायी घर में रहते हुए (आयुः) अपने जीवन को (मा निर्वादिष्टम्) नष्ट वा निन्दित मत करो। (प्रजाम्) अपनी प्रजा सन्तान को (मा निर्वादिष्टम्) नष्ट वा निन्दित मत करो। (अत्र) इस संसार में (पृथिव्याः) पृथिवी के (वर्ष्मन्) वृष्टि युक्त, हरे भरे, लम्बे चौड़े प्रदेश में (रमेथाम्) दोनों आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करें। राजा प्रजा, गुरु शिष्य आदि सब युगलों को यह उपदेश समान है ॥

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि। योऽअस्कभायदुत्तरꣳ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा ॥ १८ ॥ ऋ० १ । १५४ । १ ॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। विष्णुर्देवता। स्वराडार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—(यः) जो (पार्थिवानि) पृथिवी या अन्तरिक्ष में विदित, या पृथिवी के (रजांसि) समस्त लोकों को (वि ममे) नाना प्रकार से बनाता है और (यः) जो (उत्तरं सधस्थम्) ऊपर के लोकों को या उत्कृष्ट कारण को भी (अस्कभायत्) थाम रहा है, अपने वश में करता

१८—२१ दीर्घतमा ऋषिः। दं० ॥

है। और जो (विचक्रमाणः) विविध रूप से क्रमण करता हुआ, सर्वत्र कारण के अवयवों को बिविध प्रकार से संयुक्त करता हुआ (त्रेधा) तीन प्रकार से तीनों लोकों में, अग्नि, वायु, सूर्य इन तीन शक्तियों द्वारा सर्वत्र व्यापक है, वह (उरु-गायः) महान् व्यापक, सब का स्तुत्य, या सबको वेद द्वारा समस्त पदार्थों का उपदेष्टा है। उस (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (नुकम्) ही (वीर्याणि च) वीर्यों का नाना सामर्थ्यों का (प्र वोचम्) उत्तम रीति से प्रवचन करूं, औरों को सिखाऊं। और हे पुरुष ! उस (विष्णवे) परमेश्वर की उपासना के लिये (त्वा) तुझको मैं उपदेश करता हूँ ॥

दिवो वा विष्णऽ उत वा पृथिव्या महो वा विष्णऽ उरोरन्तरिक्षात्। उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा ॥ १६ ॥ अथर्व का० ७। सू० २६ ॥

विष्णुर्देवता। निचृदार्षी जगती। निषादः।

भा०—हे (विष्णो) यज्ञरूप प्रजापते ! चराचर में व्यापक परमेश्वर ! (दिवः) आकाश, विद्युत्, अग्नि से (उत वा महः) बड़ी भारी (पृथिव्याः) और पृथिवी से, हे (विष्णो) परमेश्वर ! (उरोः) विशाल (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से तू हमारे (उभा हस्ता हि) दोनों ही हाथों को (वसुना) ऐश्वर्य से (आ पृणस्व) पूर दे ; (दक्षिणात्) दायें (उत) और (सव्याद्) बायें से भी तू हमें नाना प्रकार का धन (आ प्रयच्छ) प्रदान कर। हे पमेश्वर ! (त्वा) तेरी हम (विष्णवे) यज्ञ या उपासना के निमित्त प्रार्थना करते हैं। अथवा (विष्णवे) आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष से समस्त ऐश्वर्य प्रदान करने वाले विष्णु व्यापक परमेश्वर के लिये (त्वा) तुझ पुरुष को मैं उपदेश करता हूँ ॥

राजा के पक्ष में—वह तीनों लोकों से ऐश्वर्यमय विज्ञान और धन का संग्रह करके प्रजा को प्रदान करे ! हे पुरुष ! मैं तुझे ऐसे राज्य के कार्य में नियुक्त करूं ॥

प्र तद्विष्णुं स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२०॥

ऋ० १ । १५४ । २ ॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । विष्णुर्देवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—(यस्य) जिसके (उरुषु) महान् (त्रिषु विक्रमणेषु) तीन प्रकार के विक्रम, तीन लोक या सत्व, रजस्, तमस् त्रिगुणात्मक सर्ग में (विश्वा भुवनानि) समस्त उत्पन्न होने वाले पदार्थ और लोक (अधि क्षियन्ति) निवास करते हैं । (तद्) वह (विष्णुः) व्यापक परमेश्वर अपने महान् (वीर्येण) सामर्थ्य के कारण (कुचरः) वनादि में विचरने वाले (गिरि-ष्ठाः) पर्वतों के वासी (भीमः मृगः न) भयानक व्याघ्र या सिंह के समान (कुचरः) पृथवी आकाशादि में सर्वत्र व्यापक (गिरिष्ठाः) समस्त वेदवाणियों में प्रतिपाद्यरूप से स्थित (प्र स्तवते) सबसे उत्कृष्टरूप से वर्णन किया जाता है, या वह (प्र स्तवते) सबको उपदेश देता है ॥

राजा के पक्ष में—जिस राजा के महान् प्रज्ञा, उत्साह और शक्ति तीन प्रकार के विक्रमों के वश में समस्त लोक प्राणी बसते हैं, वह वनचर गिरिगुहावासी सिंह के समान भयावह अपने वीर्य के कारण ही स्तुति को प्राप्त होता है ।

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि । वैष्णवमसि विष्णवे त्वा ॥ २१ ॥

विष्णुर्देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पंचमः ।

भा०—हे जगत् ! तू (विष्णोः रराटम् असि) विष्णु, व्यापक परमेश्वर से उत्पन्न होता और उसके द्वारा वेदरूप से प्रकाशित किया जाता है। हे जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों ! तुम दोनो (विष्णोः) विष्णु, व्यापक परमेश्वर के (श्नप्त्रे स्थः) दो प्रकार की शुद्ध शक्तियें हों। हे वायो ! तू सब प्राणियों के भीतर (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के शक्ति से ही (स्यूः असि) सीनेवाला, परम सूत्र है। हे आत्मन् ! तू (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के सामर्थ्य से ही (ध्रुवः असि) सदा ध्रुव, अविनाशी है। हे समस्त जगत् ! (वैष्णवम् असि) तू उसी व्यापक परमेश्वर का बनाया हुआ है। हे पुरुष ! (त्वा विष्णवे) तुझको मैं व्यापक परमेश्वर की अर्चना के लिये नियुक्त करता हूँ।

राजपक्ष में—(विष्णोः) व्यापक राज्यव्यवस्था का हे राजन् ! तू (रराटम् असि) ललाट, मस्तक भाग है। हे दोनों विद्वानों ! तुम उस राज्य के मुख्य भाग हो। हे पुरुष ! तू राज्य का सीवन करने वाला हो। हे राजन् ! तू (विष्णोः ध्रुवः असि) राज्य का ध्रुव, संस्थापक स्तम्भ है। हे राज्य के प्रजाजन ! या राष्ट्र ! तू (वैष्णवम् असि) विष्णु अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी है या उस (विष्णवे त्वा) तुझे उस व्यापक शासन के लिये ही व्यवस्थित करता हूँ।

[1]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। [2]आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि। बृहन्नसि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद ॥ २२ ॥

यज्ञो देवता। (१) साम्नी पंक्तिः। पंचमः
(२) भुरिगार्षी बृहती। मध्यमः ॥

२२—आददेऽग्निः। इदमहं रक्षोघ्नम्। बृहन्नौपरवम्। इहमहं पञ्च लिंगोक्तानि। सर्वा०। '० रक्षसो ग्रीवा०' इति काण्व०।

भा०—हे स्त्री ! (सवितुः) सर्वोत्पादक (देवस्य) परमेश्वर के (प्रसवे) इस ऐश्वर्यमय संसार में (अश्विनोः) स्त्री पुरुष, जाया-पति की बाहुओं और (पूष्णः) पुष्टिकारक पोषक पति के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (आददे) स्वीकार करता हूं । हे स्त्रि ! तू (नारी असि) नारी, गृहस्थ के समस्त कार्यों की नेत्री है और (अहं) मैं पुरुष; तेरा पति (इदम्) यह इस प्रकार से (रक्षसां ग्रीवाः अपि कृन्तामि) विघ्नकारी दुष्टों की गर्दनों को भी काटूं, उनका नाश करूं । हे विद्वान् पुरुष ! तू (बृहन् असि) हम सबसे बड़ा, ज्ञानवृद्ध है । तू (बृहद्-रवाः) बड़ा भारी उपदेशक है । तू (इन्द्राय) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा को (बृहतीं वाचम् वद) बृहती, वेदवाणी का उपदेश कर ॥

सेना के पक्ष में—राजा के राज्य में मैं सेनापति उस 'नारी' अर्थात् मनुष्यों की बनी सेना को अपने वश करूं । मैं दुष्ट पुरुषों की गर्दन काटूं। विद्वान् पुरुष राजा को वेदवाणी या राजनीति का उपदेश करें ॥

[१]रक्षोहणं वलगहनं [२]वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि [३]यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्याङ्किरामि ॥ २३ ॥

यज्ञो देवता । (१) याजुषी बृहती । मध्यमः । (२) स्वराड् ब्राह्मी उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—पूर्व मन्त्र से 'इन्द्राय बृहतीं वाचं वद' इसकी अनुवृत्ति आती है । हे विद्वान् पुरुष ! तू (रक्षोहणम्) राक्षस, दुष्ट पुरुषों के नाश करने वाली (वलगहनम्) वलग-हन् अर्थात् गुप्त हिंसा के प्रयोगों को विनाश करने वाली, (वैष्णवीम्) यज्ञ, परस्पर संगतिकारिणी राष्ट्र नीति रूप (बृहतीम्) विशाल वेदवाणी का (वद) उपदेश कर ।

२३—इदमहं तंवलगमुद्वपामि (४), 'कृत्यां किरामि' इति काण्व० ।

(अहम्) मैं (इदम्) इस प्रकार (तम् वलगम्) उस गूढ़ हिंसा प्रयोग को (उत् किरामि) खोद कर परे करूं, (यम्) जिस हिंसाकारी प्रयोग को (मे) मेरा (निष्ट्यः) सन्तान, पुत्र आदि, (यम्) जिस गुप्त घातक प्रयोग को (अमात्यः) और जिसको अमात्य, मन्त्री या मेरे गृह का कोई सम्बन्धी या मेरा साथी, मेरे विपरीत (निचखान) गाड़े । इसी प्रकार (यम्) जिसको (मे समानः) बल, विद्या में मेरे समान या (असमानः) मेरे असमान, न्यून या अधिक बलशाली पुरुष (निचखान) गाड़े (तम् वलगम्) उस गुप्त, संवृत घातक प्रयोग को भी (इदम् अहम्) मैं इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से (उत् किरामि) खोद डालूं । (मे सबन्धुः) मेरे कुल, शील आदि में बन्धु के समान और (यम्) जिस गुप्त प्रयोग को (असबन्धुः) बन्धु जनों से दूसरा व्यक्ति (निचखान) गाड़े, (इदम्) यह (अहम्) मैं (तं वलगम्) उस गुप्त घातक प्रयोग को भी (उत्किरामि) उखाड़ दूं और (यम्) जिस गुप्त प्रयोग को (सजातः) मेरे साथ उत्पन्न भ्राता, सहोदर भाई, और (यम्) जिस घातक प्रयोग को (असजातः) सहोदर भ्राता आदि से अतिरिक्त आदमी (निचखान) गाड़ दे (तम्) उसको भी मैं (इदम्) यह प्रत्यक्ष रूप में (उत् किरामि) उखाड़ दूं । इस प्रकार मैं सब (कृत्याम्) घातक गुप्त क्रिया को (उत् किरामि) उखाड़ दूं, निर्मूल कर दूं ॥

इस मन्त्र में महर्षि दयानन्द का 'बल-गहनम्', 'बलगहन्' इत्यादि पाठ स्वीकार करना विचारणीय है ॥

वलग = वल वल्ल संवरणे । संवृतरूपेण गच्छति इति वलगः । शतपथ [का० ३ । ५ । ४ । ३७-१४] में 'वलगा कृत्या' का वर्णन किया है । यह वह कृत्या है जिसका अथर्ववेद का० १० । १ । ३१ तथा ५ । ३१ । १-१२ । में वर्णन किया गया है ॥

स्व॒राड॑सि सपत्न॒हा स॑त्र॒राड॑स्यभिमाति॒हा ज॑न॒राड॑सि रक्षो॒हा स॑र्व॒राड॑स्यमित्र॒हा ॥ २४ ॥

सूर्यविद्वांसौ देवत । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (स्वराट्) स्वयं सर्वोपरि विराजमान, (सपत्नहा) शत्रुओं का नाश करने वाला (असि) है । तू (अभि-मातिहा) अभिमान करने वाले, गर्वीले शत्रुओं का हन्ता और (सत्र-राट्) सत्रों, यज्ञों में विद्वत्सभाओं, या एकत्र परस्पर की रक्षा करने वाले संघों में सर्वोपरि विराजमान (असि) होता है । हे राजन् ! तू (रक्षोहा) राक्षस, विघ्नकारी पुरुषों का नाशक होकर (जनराड् असि) समस्त जनों पर राजा के समान विराजता है । तू (अमित्रहा) अमित्र, न स्नेह करने वाले शत्रुओं का नाशक होकर (सर्वराट् असि) समस्त प्रजाओं व राजा के रूप में विराजमान होता है ॥

[1]र॒क्षो॒हणो॑ वो वलग॒हन॒: प्रोक्षा॑मि वैष्ण॒वान् र॑क्षो॒हणो॑ वो वलग॒हनोऽव॑ नयामि वैष्ण॒वान् र॑क्षो॒हणो॑ वो वलग॒हनोऽव॑स्तृणामि वैष्ण॒वान् र॑क्षो॒हणौ॑ वां [2]वलग॒ह॒ना ऽउप॑ दधामि वैष्ण॒वी र॑क्षो॒हणौ॑ वां वलग॒ह॒नौ पर्यू॑हामि वैष्ण॒वी वैष्ण॒वम॑सि वैष्ण॒वा स्थ॑ ॥२५॥

विष्णुर्यज्ञो वा देवता । (१) ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ।
(२) आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(वैष्णवान्) विष्णु, सर्वव्यापक यज्ञमय, राष्ट्र के पालक (रक्षोहणः) राक्षसों के नाशकारी (वलग-हनः) शत्रु के घातक प्रयोगों को नाश करने वाले (वः) आप लोगों को मैं (प्रोक्षामि) अभिषिक्त

२४—स्वराडसि श्रीपरवाणि चत्वारि । सर्वा० ॥ '०राळसि०' (४) इति काण्व० ।

२५—'रक्षोहणो वलगहनः' (४) इति काण्व० ।

करता हूँ । मैं (रक्षोहणः) विघ्नकारी दुष्टों के नाशक (वलग-हनः) छुपे स्थानों में विद्यमान घातक साधनों के नाशक पुरुषों वा (वः) आप वीर पुरुषों को (अवनयामि) अपने अधीन रखता हूँ । और अभीष्ट स्थान में जाने आदि की प्रेरणा करता हूँ । और (रक्षोहणः वलगहनः वः) दुष्टों के नाशक, गुप्त रूप से रखे घातक साधनों के नाशक आप लोगों को आप सब वीर पुरुषों को (अव-स्तृणामि) अपनी रक्षा में रखता एवं सुरक्षित रखता हूं । हे प्रधान अधिकारियो ! आप दोनों भी (रक्षो-हणौ वलग-हनौ) राक्षसों और इनके गुप्त घातक प्रयोगों के नाशक हो । (वां) तुम दोनों को (उपदधामि) मैं अपने समीप के पद पर नियुक्त करता हूं और इसी प्रकार पूर्वोक्त गुणवान् दो वीरों को (पर्यूहामि) विवेक से निश्चित करके उचित पद पर नियुक्त करता हूँ । यही (वैष्णवी) विष्णु अर्थात् यज्ञ वा प्रमुख्य प्रजापालक का स्थापना और रक्षा की उचित रीति नीति है । हे राष्ट्र ! तू (वैष्णवम् असि) विष्णु, राज्यपालनरूप सद्व्यवस्था का स्वरूप है । और हे शासक वीर, अधिकारी पुरुषो ! आप लोग भी (वैष्णवाः स्थ) विष्णु, प्रजापति राजा के उपकारक भाग हो । अध्यात्मपक्ष में—शतपथ ने इन इन्द्रियों को विष्णुरूप आत्मा के उपकारक, रक्षोघ्न, संवरणकारी अज्ञान का नाशक माना है । उनमें प्राणों का स्थापन प्रोक्षण है, उनमें चेतना का स्थापन अवनयन है, लोमादि लगाना अवस्तरण है, उनमें दो जबाड़े स्थित हैं, उनको दृढ़रूप से स्थापित करना पर्यूहण है । वहाँ शरीरमय अध्यात्म यज्ञ का वर्णन है ।

इसमें महर्षि दयानन्द ने 'बल-गहनः' 'बलगहनौ' उत्यादि पाठ स्वीकार किया है ।

[1]देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑म्पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । आ द॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑साङ् ग्रीवा॑ऽ अपि॑ कृन्तामि॒ । [3]यवो॑ऽसि य॒वया॒स्मद् द्वेषो॑ य॒वयारा॑ती॒र्दि॒वे त्वा॒ ऽन्तरि॑क्षाय त्वा

पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥२६॥

यज्ञो देवता । (१) आर्षी पंक्तिः । पंचमः ।
(२) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(१) (देवस्य त्वा००अपि कृन्तामि) व्याख्या देखो अ० ५ । म० २१ ॥ (२) हे राजन् तू (यवः असि) हमारे शत्रुओं को दूर करने में समर्थ है अतः तू 'यव' है तू (अस्मत्) हम से (द्वेषः) द्वेष करनेवालों या ईर्षादि दोषों को (यवय) दूर कर । और (अरातीः) उन शत्रुओं को जो हमें कर नहीं देते हैं (यवय) दूर कर । (पितृ-सदनाः) पिता, पालक, ज्ञानी पुरुषों के पदों पर विराजमान देश के पालक (लोकाः) समस्त लोक, प्रजाजन, हे राजन् ! (त्वा) तुझे (दिवे) द्यौलोक में सूर्य के समान स्थापन करने के लिये (अन्तरिक्षाय) अन्त-रिक्ष में वायु के समान और (पृथिव्यै) पृथिवी के हित के लिये (शुन्ध-ताम्) शुद्ध करें, अभिषेक करें । तू स्वयं (पितृषदनम् असि) समस्त प्रजा के पालक पुरुषों का आश्रय है ।

उद्दिवंस्तभानान्तरिक्षं पृण दृंहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा । ब्रह्मवनि त्वा क्षत्र-वनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि । ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंह प्रजां दृंह ॥ २७ ॥

यज्ञो देवता । ब्राह्मी जगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् (दिवम्) द्यौलोक या प्रकाशमान पिण्डों को या प्रकाश को जिस प्रकार सूर्य उठा रहा है । उस प्रकार तू भी (उत् स्तभान)

२६—यवोऽसि यवः । दिवेत्वौदुम्वरी । शुंधन्तां पित्र्ये । सर्वा० ॥ ०रक्षसां ग्रीवा० इति काण्व० ॥

२७—उद्दिवं पंचानामौदुम्बरी ।

प्रकाश या ज्ञान और उत्तम पुरुषों को ऊपर स्थापित कर। (अन्तरिक्षम् पृण) अन्तरिक्ष को जिस प्रकार वायु पूर्ण कर रहा है उसी प्रकार अन्तरिक्ष को या मध्यम श्रेणी के लोगों को पूर्ण कर या पालन कर। और तू (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (दृंहस्व) राष्ट्र की वृद्धि कर। (द्युतानः) देदीप्यमान, तेजस्वी, पुरुष (मारुतः) वायु के समान प्रबल होकर (त्वा) तुझको (मिनोतु) संचालित करे। (मित्रावरुणौ) मित्र, न्यायकर्त्ता और वरुण, दुष्टों का वारक दोनों अधिकारी जन भी (ध्रुवेण धर्मणा) अपने ध्रुव, स्थायी, सामर्थ्य से (त्वा मिनुताम्) तुझे संचालित करें। (त्वा) तुझको (ब्रह्मवनि) ब्रह्म, ब्राह्मणों का पोषक, (क्षत्रवनि) क्षात्रबलत्र का पोषक, (रायस्पोषवनि) धनों के, ऐश्वर्यों को पुष्ट करनेवाला (पर्यूहामि) जानता हूं। तू (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान और विद्या बल को (दृंह) बढ़ा, (क्षत्रं दृंह) क्षात्रबल को व वीर्य को बढ़ा, (आयुः दृंह) आयु को बढ़ा, (प्रजाम् दृंह) प्रजा की वृद्धि कर ॥

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात्। घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया ॥ २८ ॥

यज्ञो देवता। आर्षी जगती। निषादः ॥

भा०—हे पृथिवी! अथवा हे महती शक्ति! तू (ध्रुवा असि) तू ध्रुव, सदा स्थिर है। उसी प्रकार (अयं) यह (यजमानः) यजमान, दानशील या संगतिकारक व्यवस्थापक राजा भी (अस्मिन् आयतने) इस आयतन, गृह, प्रतिष्ठा के स्थान पर (प्रजया) प्रजा और (पशुभिः) और पशुओं सहित (ध्रुवः भूयात्) ध्रुव, स्थिर होकर रहे। हे (द्यावा-

२८—घृतेन द्यावापृथिवी। इन्द्रस्यैन्द्रम्। सर्वा०॥ 'ध्रुवासि ध्रुवोऽस्मिन् यजमान आयतने भूयात्०' इति काण्व०॥

पृथिवी) आकाश और भूमि ! तुम दोनों (घृतेन) तेज, घृत आदि पुष्टि-कारक पदार्थों से (पूर्येथाम्) पूर्ण होवो । अथवा हे पृथिवी और सूर्य या प्रजा और राजन् ! एवं पति और पत्नि ! तुम दोनों आकाश और भूमि के समान पुष्टिकारक पदार्थों से पूर्ण रहो । हे राजशक्ते ! तू (इन्द्रस्य) परमेश्वर्यवान् राजा के लिये या ऐश्वर्यवान् राष्ट्र के लिये (छदिः) छदि अर्थात् छत हो । उसको सब दुखों और आघातों से बचावेवाली आड़ हो। हे राजन् ! तू (विश्वजनस्य) सब श्रेणियों के मनुष्यों के लिये (छाया) छाया, शरण या आश्रय (असि) है ।

परि त्वा गिर्वणो गिरऽइमा भवन्तु विश्वतः ।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः ॥ २९ ॥

ऋ० १ । १० । १२ ॥

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः । ईश्वरसभाध्यक्षौ देवते । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (गिर्वणः) समस्त वाणियों, स्तुतियों को भजन करनेवाले उनके उपयुक्त पात्र ! (इमाः गिरः) ये समस्त वाणियां (विश्वतः) सब प्रकार से (त्वा परि) तेरे ही लिये (भवन्तु) हों । (वृद्धायुम्) वृद्ध, दीर्घजीवी, वृद्ध पुरुषों से युक्त या महापुरुष तुझको (अनु) लक्ष्य करके ही (वृद्धयः) ये सब बढ़ी हुई सम्पत्तियां और (जुष्टयः) तृप्त करने वाली सम्पत्तियां भी (जुष्टाः भवन्तु) प्राप्त हों ॥

ईश्वरपक्ष में—हे ईश्वर ! समस्त स्तुतियों के पात्र ! ये सब स्तुतियां तेरी ही हैं । ये सब सम्पत्ति ऐश्वर्य भी तुझे ही प्राप्त हैं ।

इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य ध्रुवोऽसि । ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि ॥३०॥

ईश्वरसभाध्यक्षौ देवते । आर्च्युष्णिक् । ऋषभः ॥

२९—अनिरुक्ता ऐन्द्री । सर्वा० ।

३०—इन्द्रस्यैन्द्राणि त्रीणि चतुर्थं वैश्वदेवम् । सर्वा० ।

भा०—हे सभापते ! हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजपद का (स्यूः) सूत्र के समान सीकर उसे दृढ़ करनेवाला है। जिस प्रकार सूत्र वस्त्र के खण्डों को सीकर दृढ़ कर देता है उसी प्रकार राजा भी राष्ट्रों के भिन्न २ ऐश्वर्यवान् भागों को सीकर दृढ़ कर देता है। (इन्द्रस्य) इन्द्र, राजा के पद को तू (ध्रुवः) ध्रुव, उसको स्थापन करनेवाला या उस पर स्थिररूप से विराजने वाला है। हे राजसिंहासन पद ! या हे राष्ट्र ! तू (इन्द्रम्) इन्द्र का पद (असि) है। तू (वैश्वदेवम् असि) समस्त देव, विद्वान् पुरुषों को सम्मिलित एक सामूहिक मानपद है।

इसी प्रकार ईश्वर पक्ष में—ईश्वर, इन्द्र, आत्मा को अपने साथ सीनेवाला, उसका ध्रुव आश्रय, उसका प्रेमी, स्वयं ऐश्वर्यवान्, सर्वदेवों का हितकारी है॥

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः।
श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः॥ ३१॥

अग्निर्देवता। विराडाच्युनुष्टुप्। गांधारः॥

भा०—हे राजन् ! तू (विभूः असि) विशेष ऐश्वर्य और सामर्थ्य से युक्त और (प्रवाहणः) महानद, नौका या रण के समान सब प्रजाओं के भार को अपने ऊपर उठा लेने में समर्थ है। और हे विद्वन् ! (वह्निः) जिस प्रकार अग्नि समस्त (हव्य-वाहनः) आहवनीय पदार्थों को वहन करता है उसी प्रकार तू सभी राज्य के पदार्थों और कार्यों को हवन करने में समर्थ और (हव्य-वाहनः) ग्राह्य पदार्थों और समस्त ज्ञानों का धारण करनेहारा (असि) है। हे विद्वन् ! तू (श्वात्रः) ज्ञानवान्, सर्वत्र पहुंचने वाला, या कल्याणकारी, (प्रचेताः) प्राण के समान सबको चेतना देने वाला, सबका शिक्षक और ज्ञानदाता है। हे विद्वन् ! तू

(विश्ववेदाः) जिस प्रकार सब प्राणियों में वायु समस्त विश्व के पदार्थों में व्याप्त है उसी प्रकार तू भी सबको प्राप्त करने वाला है, सर्वज्ञाता या सब धनों का स्वामी और (तुथः असि) तू ज्ञान का वर्धक या सब को ऐश्वर्य बांटने वाला है। इस प्रकार यहां चार विशेष पदाधिकारियों या राजा के ही चार स्वरूपों का वर्णन है ॥

तुथो ह स्म वै विश्ववेदा देवानां दक्षिणा विभजतीति । तैत्ति० ।
शिवा ह्यापस्तस्मादाह श्वात्राः स्थेति । श० ३ । ७ । ४ । १६ ॥

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः । सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदन ऽऋतधामासि स्वर्ज्योतिः ॥ ३२ ॥

अग्निर्देवता । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (उशिग्) सब का वश करने हारा, कान्तिमान्, तेजस्वी और (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी (असि) है । तू (अंघारिः) अंघ अर्थात् पापी, कुटिल जीवों या पापों का अरि अर्थात् शत्रु है। और (बम्भारिः) पापी, दुष्ट पुरुषों का बांधने वाला, या सबका भरण पोषण करने में समर्थ है । तू (अवस्यूः) अपने नीचे के समस्त कार्यकर्त्ताओं को सिये रहता; या परस्पर संयुक्त किये रहने में समर्थ या (अवस्यूः) रक्षा करने में समर्थ है और (दुवस्वान्) अन्न या सेवा करने योग्य ऐश्वर्य गुण से युक्त है । तू (शुन्ध्यूः) स्वयं शुद्ध, निष्पाप और (मार्जालीयः) अन्यों का भी शोधन करने हारा, पापों को पता लगा कर, उनका दण्ड देकर, पापों का शोधने हारा (असि) है ।

३२—सम्राड् आहवनीयः । परिषद्यो बहिष्पवमानदेशः । नभोऽसि चात्वालः-मृष्टोऽसि शामित्रः । ऋतधामौदुम्बरी । सर्वा० ।।

तू (परिषद्यः) परिषद् अर्थात् विद्वानों की सभा में विराजने हारा है, उस द्वारा राजा बनाया जाता है और तू (पवमानः) सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य के बल से पवित्र करने वाला है। तू (नभः) सबको परस्पर बांधने, संगठित करने हारा या चोर आदि को वध दण्ड देने वाला, या उनको बांधने वाला और (प्रतक्वा)[1] उनको खूब अच्छी प्रकार पीड़ा देने वाला (असि) है। तू (मृष्टः) सबको सेचन करने हारा, सबका पोषक या सहिष्णु और तितिक्षु और (हव्य-सूदनः) समस्त अन्नों और ऐश्वर्य के पदार्थों को क्षरित करने वाला, सबको प्रदान करने वाला (असि) है। (ऋत-धामासि) सत्य का धारण करने वाला, सत्य का आश्रय और जल के धारण करने में समर्थ सूर्य के समान (स्वर्ज्योतिः) आकाश में चमकने वाला, साक्षात् सूर्य है। या (स्वः-ज्योतिः) शत्रुओं का उपताप देने हारे प्रचण्ड भानु के समान (असि) है। ये ही सब विशेषण ईश्वर के भी हैं।

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाऽअजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात् ॥ ३३ ॥

अग्निर्देवता । ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे विद्वन् ! और हे ईश्वर ! तू (विश्वव्यचाः) समस्त

---

१ तकि कृच्छ्र जीवने भ्वादिः। २. मृषु सेचने, सहने च, भ्वादी। मृष तितिक्षायाम् चुरादिः। ३ षूद क्षरणे चुरादिः। भ्वादिश्च।

३३—समुद्रोऽसि ब्रह्मासनम्। अजोऽसि शालाद्वार्यः। अहिरसि प्राजहितः। वागसि सदः। ऋतस्य द्वार्यौ। अध्वनां सूर्यः। सर्वा०। "बुध्न्यः सम्राडसि० ०सूद नः [३२] समूह्योऽसि विश्ववेदा उतातिरिक्तस्य प्रतिष्ठा।' इति० काण्व०॥

विश्व में व्यापक, अपने समस्त राष्ट्रवासी जनों में व्यापक, उनको प्राप्त और (समुद्रः असि) समुद्र के समान, अगाध ज्ञान और ऐश्वर्य से सम्पन्न और समुद्र के समान गंभीर और अक्षय है। हे ईश्वर ! तू (एकपात्) एकस्वरूप, एकमात्र अद्वितीय, या अपने एक चेतन रूप में ही समस्त विश्व को धारण करने हारा और (अजः असि) कभी शरीर में बद्ध होकर उत्पन्न न होने वाला, अनादि है। हे राजन् ! तू भी (एक-पात् अजः असि) एकच्छत्र राजा के रूप में ज्ञात, और राष्ट्र में व्यापक है। हे ईश्वर ! तू (बुध्न्यः) सब के मूल, आश्रय में विराजमान और (अहिः असि) अविनाशी, कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता। हे सेना-पते ! तू राष्ट्र का (बुध्न्यः) आश्रय और (अहिः) किसी से न मारने योग्य, सब से अधिक बलवान् है। हे ईश्वर ! तू (ऐन्द्रम् असि, वाग् असि) इन्द्र, ऐश्वर्यमय है और तू वाणी, ज्ञानमय वेदरूप है। हे विद्वन् ! तू इन्द्र के पद का स्वामी और वाक्, सब का उपदेष्टा, आज्ञापक है। हे ईश्वर ! तू (सदः) सबका आश्रय स्थान है। हे विद्वत्सभे ! तू भी (सदः असि) स्वयं परिषद् अर्थात् विद्वानों का आश्रय स्वरूप है। हे (ऋतस्य) सत्य व्यवहार के (द्वारौ) द्वारभूत दण्डकर्ता और न्याय-कर्ता ! तुम दोनों (मा) मुझ सत्यवादी प्रजाजन को (मा संताप्तम्) कष्ट मत दो, पीड़ित मत करो। हे (अध्व-पते) समस्त मार्गों के स्वा-मिन् ! (मा) मुझको (अध्वनाम्) सब लोगों के (प्र तिर) पार उतार दे। (अस्मिन्) इस (देव-याने) देव, विद्वानों के चलने योग्य (पथि) मोक्ष मार्ग में (मे) मेरा (स्वस्ति) सदा कल्याण हो। हे राजन् ! तेरे इस (देव-याने) विद्वानों के जाने योग्य सदाचार रूप मार्ग में या राजोचित मार्ग वा यान, सवारी साधना में चलते हुए मेरा सदा कल्याण हो।

मित्रस्य॑ मा॒ चक्षु॑षेक्षध्व॒मग्न॑यः सगराः॒ सग॑रा स्थ॒ सग॑रेण॒ नाम्ना॒ रौद्रे॒णानी॑केन पा॒त मा॑ग्नयः पिपृ॒त मा॑ग्नयो गोपा॒यत॑ मा॒

नमो वोऽस्तु मा मा हिꣳसिष्ट ॥ ३४ ॥

अग्निर्देवता । स्वराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—उक्त सब विद्वान् पुरुष और अधिकारी जन अग्निरूप हैं । उनको राजा स्वयं अग्नियों को यजमान के समान स्थापित करता है और उनके प्रति कहता है । हे (अग्नयः) विद्वान् पुरुषो ! (मा) मुझको (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की आंख से (ईक्षध्वम्) देखा करो । हे (सगराः) विद्योपदेश के सहित ज्ञानी पुरुषो ! आप लोग (सगराः स्थ) सभी समान रूप से ज्ञानवान् एवं स्तुति के पात्र हो । आप लोग अपने (सगरेण) ज्ञान-उपदेश सहित (नाम्ना) नमन करने वाले, शिक्षाकारी बल और (रौद्रेण अनीकेन) शत्रुओं को रुलाने वाले सैन्य से (मा पात) मेरी रक्षा करो । हे (अग्नयः) अग्नि के समान प्रकाशवान्, ज्ञानी पुरुषो ! (मा पिपृत) मेरा पालन करो और मेरी न्यून शक्तियों की पूर्ति करो । हे (अग्नयः) आगे सेनापति रूप में या अग्रणीरूप में चलने हारे अग्रगण्य नेता पुरुषो ! आप लोग (मा गोपायत) मेरी रक्षा करो । (वः नमः अस्तु) आप लोगों को मैं सदा नमस्कार या आप लोगों को राष्ट्र में सदा (नमः) नमनकारी वज्र, बल, प्राप्त हो । तो भी (मा मा हिंसिष्टम्) आप लोग मेरा कभी घात मत करें ।

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाꣳ समित् । त्वꣳ सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य ऽउरु यन्तासि वरूथꣳ स्वाहा । जुषाणो ऽअप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा ॥ ३५ ॥

३४—मित्रस्य ऋत्विजः । सर्वा० । 'अग्नयः सगराः० ० पिपृत माग्नयो नमो वोऽस्तु०' इति काण्व० ॥

३५—द० । ज्योतिरसि वैश्वदेवम् त्वं । सोम ऋतुर्भार्गवः, सोमो गायत्रीमनवसानाम् । सर्वा० ॥

ऋतुर्भार्गव ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे राजन्! तू (विश्वरूपं ज्योतिः असि) नानारूप से प्रकाशित होने वाला या सब प्रकार का ज्योति, प्रकाशक, सूर्य के समान तेजस्वी है। और (विश्वेषां देवानाम्) समस्त देवों, विद्वानों और राजपदाधिकारियों को (सम्-इत्) अच्छी प्रकार तेजस्वी बनाने और चमकाने वाला है। हे (सोम) सब के प्रेरक राजन्! तू (तनूकृद्भ्यः) शरीरों के नाश करने वाले (द्वेषोभ्यः) और परस्पर द्वेष, कलह करने वाले और (अन्यकृतेभ्यः) अन्य अर्थात् शत्रुओं से किये गये या लगाये गये, गूढ़ शत्रुओं से भी राष्ट्र को बचाने के लिये (उरु वरूथम्) शत्रु के वारण करने में समर्थ विशाल सेनाबल को (यन्तासि) नियमन करता है। (सु-आहा) तेरे निमित्त हमारा यह उत्तम त्याग है। (आज्यस्य) आज्य, घृत के समान पुष्टिकारक या आजि, संग्राम योग्य बलवीर्य को (जुषाणः) सेवन एवं प्राप्त करता हुआ (अप्तुः) आप्त राजा (स्वाहा) उत्तम व्यवस्था से, इस उत्तम आहुति को (वेतु) प्राप्त करे।

ईश्वर पक्ष में—सब देवों, दिव्य पदार्थों का प्रकाशक, 'विश्वरूप' ज्योति परमेश्वर है। हे सोम परमेश्वर! हमारे शरीर के नाशक और अन्य सब द्वेषों को भी नियमन करने वाला तू ही स्वयं बड़ा भारी बल है। तू ही सर्व व्यापक समस्त आज्य = बल वीर्य का स्वामी होकर हमें भली प्रकार प्राप्त है।

अग्ने नय॑ सुपथा॑ रा॒ये ऽ अ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्। यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठान्ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम ॥ ३६ ॥ ऋ० १ । १८९ । १ ॥

अगस्त्य ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ज्ञानवान् पुरुष! राजन्! हे (देव)

देव ! विद्वन् ! तू (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) प्रशस्त कर्मों और मार्गों, ज्ञानों ओर प्रजाओं को (विद्वान्) जानता हुआ (राये) धन, ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (अस्मान्) हमें (सु-पथा) उत्तम मार्ग से (नय) ले चल । और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिल (एनः) पाप को (युयोधि) दूर कर । (ते) तेरे लिये हम (भूयिष्ठाम्) बहुत बहुत (नमः उक्तिम्) नमस्कार वचन, स्तुति आदि और आदरसूचक वचन (विधेम) प्रयोग करें ।

ईश्वर के पक्ष में स्पष्ट हैं ।

अयं नो ऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन् । अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥ ३७ ॥

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, अग्रगामी, नेता पुरुष, सेनापति ! (नः) हमारी (वरिवः) रक्षा (कृणातु) करे । अथवा (नः वरिवः कृणोतु) हमारे लिये ऐश्वर्य प्रदान करे । और (अयम्) यह (मृधः) संग्राम सम्बन्धी (पुरः प्रभिनन्दन्) गढ़ों, पुरों, नगरों को तोड़ता हुआ (एतु) आवे । अथवा (मृधः प्रभिन्दन्) संग्रामों को विजय करता हुआ (पुरः एतु) आगे बढ़े । और (वाज-सातौ) संग्राम कार्य में (वाजान्) संग्रामों को और (वाजान्) धन, अन्न व ऐश्वर्यों को भी (जयतु) विजय करे । और (जहृषाणः) खूब प्रसन्न हो होकर (स्वाहा) उत्तम आहुति, पराक्रम करता हुआ (शत्रून् जयतु) शत्रुओं को जीते ।

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।

३७—'०वाजसाता अयं०' इति काण्व० ।

घृतं घृतयोने पिब प्र प्र युज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥ ३८ ॥

विष्णुर्देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (विष्णो) विद्या आदि गुणों में व्यापक ! अथवा शत्रु के गढ़ों में और पूर्ण राष्ट्र में प्रवेश करने में चतुर सेनापते ! तू (उरु विक्रमस्व) खूब अधिक विक्रम, पराक्रम कर । (नः) हमारे (क्षत्राय) निवास के लिये (उरु) बहुत अधिक ऐश्वर्य एवं विशाल राष्ट्र को (कृधि) उत्पन्न कर । (घृतयोने) घृत से जिस प्रकार अग्नि बढ़ता है उसी प्रकार घृत अर्थात् दीप्ति और तेज के आश्रय भूत राजन् ! तू भी खूब (घृतं पिब) अग्नि के समान घृत = तेज पराक्रम का पान कर, उसको प्राप्त कर । और (यज्ञ-पतिम्) जिस प्रकार विद्वान् जन यज्ञ-पति, यजमान को पार कर देते हैं, उसी प्रकार तू भी (यज्ञ-पतिम्) यज्ञरूप सुव्यवस्थित, सुसंगत राष्ट्र के पालक राजा को (स्वाहा) अपनी उत्तम वीर्याहुति से (प्र प्र तिर) भली प्रकार विजय कार्य के पार कर दे ।

[1]देव सवितरेष ते सोमस्तᳬं रक्षस्व मा त्वा दभन् । [2]एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ उपागा ऽइदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये ॥ ३९ ॥

सोमसवितारौ देवते । (१) साम्नी बृहती । मध्यमः ।
(२) आर्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—विजय करने के अनन्तर सेनापति राजा के प्रति कहे—हे (देव) राजन् ! हे (सवितः) सब के प्रेरक और उत्पादक ! (एषः सोमः) यह सोम, ऐश्वर्य समूह या राष्ट्र (ते) तेरा है । उसकी (रक्षस्व) रक्षा कर । इस रक्षा कार्य में (त्वा) तुझको शत्रुगण (मा दभन्) न मार सकें । हे (देव) सुखप्रद ऐश्वर्यों के दाता राजन् ! हे (सोम)

ऐश्वर्यमय ! सबके प्रेरक ! राजन् ! तू (देवः) सब के अधिकार प्रदान करने हारा राजा, देव होकर (देवान्) अन्य अपने आधीन उसी प्रकार के राज-शासकों को (उप अगाः) प्राप्त हो ।

राजा का वचन—(अहम्) मैं (इदम्) इस प्रकार (रायः पोषेण सह) धनैश्वर्य की वृद्धि, पुष्टि के सहित (मनुष्यान्) राष्ट्र के मनुष्यों के प्रति (स्वाहा) अपने को राज्य-रक्षा के कार्य में उत्तम रीति से आहुति करता हूं । और (वरुणस्य पाशात्) वरुण के पाश से अपने आपको (निर्मुच्ये) मुक्त करूं । अथवा (इदम् अहम् रायः पोषेण सह मनुष्यान् स्वाहा वरुणस्य पाशात् निर्मुच्ये) इस प्रकार मैं राजा धनैश्वर्य की वृद्धि के साथ २ सब मनुष्यों को (स्वाहा) अपने सत्यवाणी के प्रयोग से वरुण अर्थात् सब को दुख में डालने वाले दुष्ट जन के पाश से छुड़ादूं । अथवा (वरुणस्य पाशात् निर्मुच्ये) इस राज्याभिषेक के हर्ष में जो अपराधी वरुण अर्थात् दण्डधर राजा के पाशों में फंसे हुए हैं उन सब को छोड़ता है । राज्याभिषेक के अवसर पर राजा अपने बहुत से अपराधियों को बन्धन से मुक्त करते हैं । इसका यह मूल प्रतीत होता है ॥

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियꣳ सा मयि । यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरमꣳस्तानु तपस्तपस्पतिः ॥ ४० ॥

अग्निर्देवता । निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—नियुक्त शासक जन राजा से अधिकार-पद की दीक्षा इस प्रकार लेते हैं—हे (अग्ने) राजन् ! हे (व्रतपाः) समस्त व्रत अर्थात् राज्य कार्य्यों को पालन करने हारे तुझको हम वचन देते हैं कि (या) जो (त्वे) तेरे में (व्रतपाः) व्रतों, राज्य कार्य्यों और परस्पर के

४०—० सात्वापि यामन ० इति काण्व० ॥

सत्य प्रतिज्ञाओं के पालन करने वाला (तव तनूः) तेरा स्वरूप (मयि) मुझ में (अभूत्) है (एषा सा) यह वह (त्वयि) तुझ में भी हो। (यो = या उ) और जो (मम) मेरा (तनू) स्वरूप (त्वयि) तुझ में (अभूद्) विद्यमान है (सा इयम्) वह यह (मयि) मेरे में हो, अर्थात् राजा के शासक रूप से सौंपे अधिकार जो वह अपने अधीन अधिकारियों को प्रदान करता है वे राजा के ही समझे जांय। और जो अधिकार राजा के हैं वे कार्यनिर्वाह के अवसर पर अधिकारियों के समझे जांय, इस प्रकार राजा और राजकर्मचारी एक दूसरे के अधीन होकर रहें। हे (व्रतपते) व्रतों के पालक राजन् ! हम दोनों के (व्रतानि) कर्त्तव्य कर्म (यथायथम्) ठीक ठीक प्रकार से, उचित अधिकारों के अनुरूप रहें। (दीक्षापतिः) दीक्षा अर्थात् अधिकारदान का स्वामी तू राजा (मे) मुझे (दीक्षाम्) योग्य पदाधिकार की प्राप्ति की (अनु अमंस्त) अनुमति दे। और (तपस्पतिः) तप अर्थात् अपराधियों को सन्तप्त करने या दण्ड देने के सब अधिकारों का स्वामी राजा मुझको (तपः) दण्ड देने के भी अधिकार की (अनु अमंस्त) उचित रीति से अनुमति दे॥

राजा और उसके अधीन शासकों का सा ही सम्बन्ध गुरु शिष्य का है। वे भी परस्पर इसी प्रकार प्रतिज्ञा करते हैं। हे अग्ने ! आचार्य ! तू व्रत का पालक है। तेरे भीतर जो विद्या का विस्तार है वह मुझे प्राप्त हो। मेरा विद्याभ्यास एवं हृदय तेरे भीतर रहे। हम दोनों के व्रत ठीक २ रहें ! समस्त दीक्षाओं के लिये दीक्षापति, आचार्य एवं परमेश्वर अनुमति दे। तपस्पति, हमारे तपों की अनुमति दे। हमें वह दीक्षाएं दे और तपस्याएं करने का आदेश दे॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥ ४१॥

विष्णुर्देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—व्याख्या देखो मं० ३८ ॥

अत्यन्याँ२॥ अगान्नान्याँ२ऽउपांगामर्वाक्त्वा परेभ्योऽविदम्परोऽवरेभ्यः । तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा । ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः ॥ ४२ ॥

अग्निर्देवता । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अन्यान् अति अगाम्) तेरे से भिन्न और शत्रु राजाओं को मैं अतिक्रमण कर दूं और (अन्यान्) अन्य नाना राजाओं के समीप भी मैं (न उप अगाम्) न जाऊं । (परेभ्यः) परे के, अर्थात् दूर के राजाओं की अपेक्षा (त्वा) तुझे (अर्वाक्) समीप और (अवरेभ्यः) तेरी अपेक्षा अवर, निकृष्ट जनों की अपेक्षा तुझे (परः) उत्कृष्ट जानकर ही (त्वा अविदम्) तेरे समीप प्राप्त हुआ हूँ । हे (देव) देव राजन् ! हे (वनस्पते) महावृक्ष के समान छायाप्रद आश्रय-वृक्ष ! शरण्य ! (देव-यज्यायै) देवों, अन्य विद्वानों का परस्पर संगति लाभ करने के लिये (तम् त्वा जुषामहे) उस तेरी ही हम सेवा करते हैं । (देवाः) और देव, राजा और विद्वान् लोग भी (देव-यज्यायै) देव विद्वानों की परस्पर संगति लाभ के लिये ही (त्वा जुषन्ताम्) तुझे प्राप्त हों । हम लोग (विष्णवे) वह यज्ञ रूप राष्ट्रपालन जिसमें सब प्रजाएं प्रविष्ट हैं उस पद के लिये (त्वा) तुझे नियुक्त करते हैं । हे (ओषधे) दुष्टों को दण्ड प्रदान करने वाले राजन् ! तू (त्रायस्व) हमारी रक्षा कर । हे (स्वधिते) अपने ही बल से समस्त राष्ट्र की रक्षा

४२—अत्यगमान्वनस्पतिः । ओषध कुशतरुणम् । स्वधितेहरशुः । सर्वा० ।
'०परेभ्यः परोवरीः । इति काण्व० ॥

करने हारे हे शस्त्रवन् ! तू (मा एनं हिंसीः) इस राष्ट्र की या इस पुरुष की हत्या मत कर ॥

गुरु के प्रति शिष्य—हे आचार्य ! मैं (अन्यान् अति अगाम्) अन्य अविद्वान् या अन्य ज्ञानी लोगों को छोड़ कर तेरे पास आया हूँ और (अन्यान् न उप अगाम्) दूसरों के पास नहीं गया हूँ । बहुत उत्कृष्टों से कम और अन्य ज्ञानियों की अपेक्षा श्रेष्ठ जान कर तेरी शरण आता हूँ । 'देवयज्या' अर्थात् ईश्वरोपासना के लिये हम तेरी शरण में हैं और विद्वान् भी इसी निमित्त तेरे पास आते हैं ॥

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंꣳसीः पृथिव्या संभव । अयꣳ हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय । अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ॥ ४३ ॥

यज्ञो देवता । ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे शस्त्र और अस्त्र गण ! या उनके धारण करने हारे पुरुष ! तू (द्याम्) द्यौ, आकाश को और उसके निवासी लोकों को (मा लेखीः) विनाश मत कर अर्थात् विद्वान् पुरुषों का मत नाश कर । इसी प्रकार अन्तरिक्ष को और उसके प्राणियों को (मा हिंसीः) मत विनाश कर । (पृथिव्या सम्भव) पृथिवी और उसके वासी प्राणियों से प्रेमभाव से मिलकर रह । हे राजन् ! (अयम् स्वधितिः) यह शस्त्र (तेतिजानः) अति तीक्ष्ण होकर भी (त्वा) तुझको (महते सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य के लिये (प्र निनाय) नियुक्त करता है । (अतः) इसलिये हे (देव) राजन् ! आप वृक्ष के समान ही (शत-वल्शः) बहुत से अंकुरों के समान बहुत से कार्य सामर्थ्यों से युक्त होकर (वि रोह) नाना

४३—द्यांमातरत्वं वनस्पतिः । सर्वा० । 'दिवं मा ले०' इति काण्व० ॥

मार्गों में उन्नति और प्रतिष्ठा को प्राप्त हो और (वयम्) हम सब भी (सहस्र-वल्शाः) सहस्रों शाखाओं सहित (वि रुहेम) नाना प्रकार से फलें फूलें ॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

[तत्र त्रयश्चत्वारिंशदृचः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकारविरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ [1]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे नार्यसीदमहं रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामि । [2]यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीः [3]दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥ १ ॥

सविता देवता । (१) आर्षी पंक्तिः । धैवतः ॥ (२) आसुर्युष्णिक् ।
(३) भुरिगार्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ५, मं० २६ ॥

[1]अग्रेणीरसि स्वावेशऽउन्नेतृणामेतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति [2]देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः । द्यामग्रेणास्पृक्षऽआन्तरिक्षम्मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृꣳहीः ॥ २ ॥

सविता देवता । (१) निचृद गायत्री । षड्जः ।
(२) स्वराट् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे राजन् ! हे सभाध्यक्ष ! तू (अग्रेणीः असि) तू शिष्यों को गुरु के समान आगे ले चलने वाला अग्रणी है । तू (उत् नेतृणाम्)

१—'रक्षसो ग्रीवा' इति काण्व० ॥

२—'पृथिवीमपरेण' इति महीधराभिमतः पाठः । अग्रेणीः शाकलम । देवस्त्वायूपः । सुपिप्पलाभ्यश्चषालम । द्यामग्नेणयूपः । सर्वा० ॥ दिव्यग्रेणा० इति काण्व० ॥

ऊपर ऊंचे मार्ग में ले चलनेवाले, उत्तम कोटि के नेताओं को भी (स्वावेशः) उत्तम रीति से सन्मार्ग में ले चलने और स्थापित करनेवाला है। तू (एतस्य) इस महान् राष्ट्र के पालन कार्य को (वित्तात्) भली प्रकार जान या प्राप्त कर। (देवः सविता) सबका प्रेरक महान् देव, राजा या परमेश्वर (त्वा अधि स्थास्यति) तेरे पर भी अधिष्ठाता के रूप में विद्यमान रहेगा। और वही (त्वा) तुझको (मध्वा) मधुरगुण या मधुविद्या, ज्ञान से (अनक्तु) आञ्जे, चमकावे, विद्वान् करे। और वही (त्वा) तुझको (सुपिप्पलाभ्यः) उत्तम फलवती, (ओषधीभ्यः) दाहजनक सामर्थ्य को धारण करने और दोषों को नाश करने वाली क्रियाओं से भी (अनक्तु) प्रकाशित करे। तू (अग्रेण) अपने अग्रगामी यश या सर्वोत्कृष्ट गुण से (द्याम् अस्पृक्षः) द्यौलोक या सूर्य को या प्रजा के उत्कृष्ट भाग पर वश कर, छू, स्पर्श कर, सूर्यलोक के समान बन। (मध्येन) अपने मध्य, बीच के साधारण कार्यों से (अन्तरिक्षम् आ अप्राः) अन्तरिक्ष को, प्रजा के मध्यम जनों को पूर्ण कर, पालन कर। और (उपरेण) अपने शेष नीचे के भाग से या उत्कृष्ट नियत व्यवस्था से (पृथिवीम्) पृथिवी लोक के, तीसरी श्रेणी के लोगों को (अदृंहीः) दृढ़ कर॥

अथवा—अग्र मुख्य बल से द्यौ अर्थात् विद्या और राजनीति को उन्नत कर, शेष बल से धर्म को और नियम से राज्य को पुष्ट कर॥

[1]या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गाऽअयासः। [2]अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमम्पदमवभाति भूरि। [3]ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह॥ ३॥ ऋ० १। ५४। ६॥

३—या ते शर्पदेवत्या। ब्रह्मवनि, ब्रह्मदृंहयूपदेवत्ये। सर्वा०॥ 'ता वां वास्तून्यूष्मसि०', '०वृष्णः' इति ऋ०। 'अत्राहैत पुरु०' इति काण्व०॥

दीर्घतमा ऋषिः । विष्णुर्देवता । (१) आर्च्युं उष्णिक् । (२) साम्नीत्रिष्टुप्
ऋषभः । (३) भुरिगार्ची त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे सभाध्यक्ष ! राजन् ! (ते) तेरे (या) जिन २ (धामानि) सुखों को, धारण कराने वाले राज्यप्रबन्ध के सामर्थ्यों को हम लोग (गमध्यै) स्वयं प्राप्त होने के लिये (उष्मसि) कामना करते हैं (यत्र) जिनमें (भूरिश्रृङ्गाः) अति अधिक प्रकाशमान (गावः) किरण और बड़े बड़े सींगोंवाली गौवें हमें (अयासः) प्राप्त हों । अथवा जिनके द्वारा हमें बहुत सी ज्ञानोपदेश युक्त वाणियां प्राप्त होती हों । (अत्र अह) इस में ही (उरुगायस्य) अति अधिक स्तुति के योग्य (विष्णोः) विष्णु, व्यापक, ईश्वर, प्रभु का (परमम् पदम्) परम पद (भूरि) बहुत अधिक (अव भारि) निरन्तर पुष्ट होता है ॥

अथवा–राजगृह कैसे हों—हे राजन् ! हम (या ते धामानि गमध्यै उष्मसि) तेरे योग्य जिन विशेष सभा अदि भवनों को प्राप्त करना चाहते हैं वे ऐसे हों (यत्र भूरिश्रृङ्गाः गावः अयासः) जहाँ बहुत दीप्त किरणें आया करती हों । (उरुगायस्य विष्णोः तत्), अधिक स्तुतिभजन, प्रशंसनीय विष्णु, व्यापक सार्वभौम राज्य का वही उत्कृष्ट परमपद (अत्र अह अव भारि) यहाँ ही, इन महाभवनों में ही विराजता है । (३) मैं तुझको (ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, रायस्पोषवनि) ब्राह्मणों, क्षत्रियों और ऐश्वर्य से पुष्ट वैश्यों की यथोचित वृद्धि को विभाग करने वाला (पर्यूहामि) जानता हूँ । तू (ब्रह्म दृंह) ब्राह्मण बल को बढ़ा, (क्षत्रं दृंह) और क्षात्रबल को पुष्ट कर, (आयुः दृंह) प्रजा की आयु को बढ़ा और (प्रजां दृंह) प्रजा की भी वृद्धि कर ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ४ ॥ ऋ० १ । २२ । १९ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता । निचृदार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे जनो ! (विष्णोः) व्यापक ईश्वर के (कर्माणि) उन नाना कार्यों को जगत् की उत्पति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था के कार्यों को (पश्यत) देखो (यतः) जिनके द्वारा वह (व्रतानि) नाना नियमों को (पस्पशे) बांधता) है । वह परमेश्वर (इन्द्रस्य) आत्मा का (युज्यः) समाधि में उसको प्राप्त होने वाला (सखा) उसका मित्र है । अथवा हममें से प्रत्येक ईश्वर का मित्र है ॥

राजा के पक्ष में—(विष्णोः कर्माणि पश्यत) हे राजसभा के सभासदो ! राष्ट्र के व्यापक शक्तिवाले राजा के उन कर्मों को निरीक्षण करो । (यतः) जिनसे वह नाना नियमों को (पस्पशे) बांधता है । तुममें से प्रत्येक (इन्द्रस्य) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा का (युज्यः) योगदायी (सखा) मित्र है ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुरातंतम् ॥ ५ ॥ ऋ० १ । २२ । २० ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । गायत्री ॥

भा०—(सूरयः) वेद के विद्वान् पुरुष (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (तत्) उस (पदम्) पद को जो (दिवि) प्रकाश में (चक्षुः इव) चक्षु के समान (आततम्) व्यापक है अथवा (दिवि) आकाश में (चक्षुः इव) सूर्य के समान व्यापक है उस (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (पदम्) पद, प्राप्त होने योग्य परम धाम का ही (पश्यन्ति) साक्षात् करते हैं ॥

राजा के पक्ष में—विष्णु, राष्ट्र के व्यापक उस राजा के ही परम पद को विद्वान् प्रजा के प्रेरक नेता पुरुष आकाश में सूर्य के समान तेज से प्रतप्त होने वाला, देखते हैं ॥

[1]परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानथं रायो मनुष्याणाम् । [2]दिवः सूनुरस्येष ते पृथिव्याँल्लोक आरण्यस्ते पशुः ॥ ६ ॥

विद्वांसो देवताः । (१) आर्ष्युष्णिक् । ऋषभः । (२) भुरिक् साम्नी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! (त्वं) तू (परिवीः असि) समस्त विद्याओं को प्राप्त करने वाला, अथवा प्रजा की चारों ओर से रक्षा करने वाला, या प्रजाओं द्वारा चारों ओर से आश्रय किये जाने योग्य है। इसी कारण (त्वा) तुझको (दैवीः विशः) देव, राजा सम्बन्धिनी वा विद्वान् (विशः) प्रजाएं (परि व्ययन्ताम्) चारों ओर से अधीन अधिकारी रूप में घेर कर बैठें। (इयं) इस (यजमानम्) राष्ट्र की व्यवस्था करने हारे यजमान या दानशील इसको (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के उपयोगी (रायः) ऐश्वर्य भी (परि-व्ययन्ताम्) चारों ओर से प्राप्त हों। हे राजन् ! तू (दिवः) प्रकाशमय सूर्य से (सुनूः) उत्पन्न होने वाले किरण समूह के समान तेजस्वी (असि) है। और (एषः) यह (पृथिव्यां) पृथिवी पर निवास करने वाला (लोकः) समस्त लोक, भूलोक, या जन भी (ते) तेरा ही है, तेरे ही अधीन है। (आरण्यः पशुः) अरण्य-पशुः) जाति भी (ते) तेरी ही सम्पत्ति है ॥

उपावीरस्युप देवान्दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान् ।
देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ॥ ७ ॥

त्वष्टा देवता । आर्षी बृहती । मध्यमः ।

भा०—हे सभापते ! राजन् ! तू (उपावीः असि) प्रजा के नित्य

६—परिवीर्यूपः । दिवः स्वरः । एष ते यूपः । सर्वा० ॥

७—उपावीस्तृणम् । उपदेवाँल्लिंगोक्तम् । सर्वा० । पशव देवता इति अनन्त० ।

समीप रह कर उनका पालन करने वाला रक्षक है। (दैवीः विशः) देव, राजा की दिव्य, या उत्तम गुणवाली (विशः) प्रजाएं (उशिजः) कान्तिमान्, तेजस्वी (वन्हितमान्) राज्य के कार्यभार को उत्तम रीति से वहन करने वाले, समर्थ (देवान्) देव, विद्वान् पुरुषों को (उप प्र अगुः) प्राप्त हों। हे (देव) देव ! राजन् ! हे (त्वष्टः) प्रजाओं के दुःखों को काटनेहारे ! तू (वसु) पशु, प्रजा और नानाविध सम्पत्तियों का (रम) उपभोग कर। (हव्या) नाना प्रकार के भोजन करने योग्य अन्न और भोग्य पदार्थ (ते) तुझे (स्वदन्ताम्) आस्वाद दें। अथवा (ते हव्या स्वदन्ताम्) तेरे नाना भोग्य पदार्थों को प्रजाएं भोग करें। विद्वांसो हि देवाः ॥ शत० ३। ८। ३। ९-१२ ॥

[1]रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि। [2]ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः ॥ ८ ॥

बृहस्पतिर्देवता। (१) प्राजापत्यानुष्टुप्। ऋषभः ॥ (२) निचृत् प्राजापत्या बृहती। मध्यमः।

भा०– हे (रेवतीः) ऐश्वर्य, पशु और धन से सम्पन्न प्रजाओ ! आप लोग (रमध्वम्) खूब आनन्द प्रसन्न होकर विचरण करो। हे (बृहस्पते) बृहती वेद वाणी के पालक विद्वान् पुरुष ! आचार्य ! तू (वसूनि) नाना ऐश्वर्यों को और पशु-सम्पत्ति को भी (धारय) धरण कर। और (ऋतस्य पाशेन) ऋत, सत्य ज्ञान और न्याय के पाश से (त्वा) तुझे (देवहविः) देवों विद्वानों के प्राप्त करने योग्य और चरित्र ही (प्रतिमुञ्चामि) धारण कराता हूँ। हे विद्वन् ! तू (मानुषः) मनुष्य, मनन शील होकर (धर्ष) सब अज्ञानों को धर्षण कर, बलपूर्वक वश कर ॥

८—ऋतस्य त्वा पशुः। सर्वा०। दीर्घतमा ऋषिः। द०। '०धर्षान्मानुपः' इति काण्व० ॥

राजा के पक्ष में—प्रजाएं राष्ट्र में आनन्दित रहें। हे बड़े राष्ट्र के पालक ! तू समस्त ऐश्वर्यों को धारण कर। ऋत, सत्य, न्याय के पाश या व्यवस्था से देवोचित हविः अर्थात् आदान योग्य कर, बलि आदि द्वारा बाँधता हूँ तुझे नियुक्त करता हूँ। तू अब मनुष्य होकर भी प्रजा के भीतर के दुष्ट पुरुषों और शत्रुओं और प्रजाओं को परास्त कर ॥

[1]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। [2]अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि। [3]अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। [4]अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ ९ ॥

सविता अश्विनौ पूषा च देवताः। (१) प्राजापत्या बृहती। मध्यमः।
(२, ४) आसुरी पंक्तिः। निचृदार्ची पंक्तिः। पंचमः ॥

भा०—हे शिष्य ! और हे राजन् ! (त्वा) तुझको (देवस्य सवितुः) देव, सर्वप्रकाशक, सर्वोत्पादक परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पादित जगत् और शासन में (अश्विनोः बाहुभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाशमान तेजस्वी (बाहुभ्याम्) पापबाधक शक्तियों या बाहुओं से और (पूष्णः) सब के पोषक पृथिवी के (हस्ताभ्याम्) हाथों के समान धारण और आकर्षण से स्वीकार करता हूँ। और (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि, अग्रणी, सेनानायक और शान्तस्वभाव, न्यायाधीश दोनों से (जुष्टम्) युक्त तुझको (नि युनज्मि) राज्य कार्य में नियुक्त करता हूँ। (त्वा) तुझको (अग्निषोमाभ्याम् जुष्टम्) अग्नि और सोम, सेनापति और न्यायाधीश से युक्त अथवा अग्नि के समान सन्तापकारी और सोम, चन्द्रमा के समान आल्हादकारी भयानक और सौम्य गुणों से युक्त (त्वा) तुझको (अद्भ्यः)

९—अग्नीषोमाभ्यां लिंगोक्तम्। सर्वा०। '०धीभ्यः प्रोक्षाम्यनुत्वा०'। इति काण्व० ॥

जलों और उनके समान आप्त पुरुषों और (ओषधीभ्यः) तापजनक, तीव्र रसयुक्त ओषधियों से (प्रोक्षामि) अभिषेक करता हूं। या (अद्भ्यः ओषधीभ्यः त्वाम् प्रोक्षामि) आप्त पुरुषों और प्रजाओं के हित करने के लिये तुझे अभिषिक्त करता हूँ। (त्वा माता अनुमन्यताम्) तुझे इस महान् राज्याभिषेक के लिये तेरी माता अनुमति दे। (पिता अनुमन्यताम्) पिता तुझे अनुमति दे। (भ्राता अनु) भाई तुझे अनुमति दे (सगर्भ्यः) एक ही गर्भ में सोनेवाला, सहोदर (अनु) तुझे अनुमति दे। (सयूथ्यः) एक जनसमुदाय में तेरे साथ रहने वाला साथी या सहपाठी या सहवर्गी पुरुष और (सखा) तेरा मित्रगण तुझे (अनु) अनुमति दे। इसी प्रकार आचार्य शिष्य को भी स्वीकार करे, जलों और ओषधियों से अभिषिक्त करे। और अपने अधीन लेते हुए उसे कहे कि तेरे माता, पिता, तेरे भाई, सहोदर, सहवर्गी, मित्र आदि तुझे आचार्य के आधीन विद्या प्राप्ति के लिये दीक्षित होने की अनुमति दें॥ शत० ३। ७। ४। ३-५॥

आपों वै सर्वे देवाः॥ शत० १०। १। ४। १४॥ अग्नेर्वा आपः सुपत्न्यः॥ शत० ६। ८। २। ३॥ आपो वरुणस्य पत्न्यः। तै० १। ९। ३। ८॥ ओषधयो वै देवानां पत्न्यः॥ श० ६। ५। ४॥

[1]अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तञ्चित्सद्देवहविः। [2]संते प्राणो वातेन गच्छताथं समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा १०

आपो देवता (१) प्राजापत्या बृहती। मध्यमः। (२) निचृदार्षी बृहती। मध्यमः।

भा०—हे दीक्षाप्राप्त राजन्! या शिष्य! तू (अपाम्) समस्त आप्त पुरुषों का (पेरुः) पालन करने वाला (असि) है। (देवीः) देव, दानशील, तत्त्वदर्शी (आपः) आप्त पुरुष (सु-आत्तम्)

१०—अद्भ्यो ऽपांपशुः। ०'सदन्तु०' ०सं, 'यजमान आषिषा' इति काण्व०॥

सुखपूर्वक प्राप्त की हुई अथवा (स्वात्तम्) आस्वादन करने योग्य भोग्य, आनन्दप्रद, (चित्) उत्तम (सत्) श्रेष्ठ पुरुषों या राजा के योग्य हविः अर्थात् अन्न आदि उपादेय पदार्थों का स्वयं (स्वदन्तु) भोग करें और तुझे भी भोग करावें। (आशिषा) सब बड़ों के आशीर्वाद से (ते प्राणः) तेरा प्राण (वातेन) वायु के साथ मिल कर अनुकूल रूप से (सं गच्छताम्) गति करे। अर्थात् तेरा प्राण वायु के समान बलवान् हो। और (अंगानि) तेरे समस्त अंग या तेरे राष्ट्र के समस्त अंग (यजत्रैः) विद्वान्, पुरुषों द्वारा यज्ञ के अंगों के समान (संगच्छन्ताम्) शिक्षा, और पोषण द्वारा उत्तम रीति से बर्तें। और तू (यज्ञपतिः) समस्त राष्ट्रमय यज्ञ का पालक होकर (आशिष सं गच्छताम्) उत्तम आशाओं, शुभ कामनाओं और आशीर्वाद से युक्त हो ॥ शत० ३ । ७ । ४ । ६-९ ॥

[१]घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथाᳬं रेवति यजमाने प्रियं धाऽआविश । [२]उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव । [३]वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥

वातो देवता । (१) भुरिगार्ष्युष्णिक् । (२) भुरिगार्ष्युष्णिक् । ऋषभः । (३) निचृत् प्राजापत्या बृहती ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (घृतेन अक्तौ) घृत = तेज और स्नेह से युक्त होकर (पशून्) पशुओं का (त्रायेथाम्) पालन करो। हे (रेवति) ऐश्वर्यवति वाणि ! या भाग्यवती स्त्री ! तू (यजमाने) इस यजमान देवोपासक या संगति करने हारे पुरुष में (प्रियम् धाः) उसका प्रियाचरण कर और (आ विश) उसमें प्रविष्ट हो। अर्थात् उसका ही एकाङ्ग होकर रह। अथवा हे स्त्री ! तू (रेवति यजमाने) ऐश्वर्य और

११—घृतेन स्वरुशासौ । रेवति वाक । वर्षो तृणम । स्वाहा दैवे । सर्वा० ।

सौभाग्य सम्पन्न यजमान गृहपति के आश्रय रह कर उसका (प्रियं धाः) प्रिय आचरण कर और (आ विश) उसके भीतर एकचित्त होकर रह। (देवेन) देव, दिव्यगुणसम्पन्न (वातेन) प्राण के साथ (सजूः) इस की सहसंगिनी, मित्र के समान होकर (उरोः अन्तरिक्षात्) विशाल अन्तरिक्ष से जिस प्रकार वायु सब की रक्षा करता है उसी प्रकार बड़े २ संकट से तू उसकी रक्षा कर। और (अस्य) इसके (हविषः) हवि, होमयोग्य अन्न आदि पदार्थों से (त्मना) स्वयं भी (यज) यज्ञ कर। अथवा (अस्यः हविषा त्मना यज) इसके अन्न को स्वयं भी अपने उपभोग में ला और (अस्य तन्वा) उसके शरीर से ही तू (सम् भव) संगत होकर पुत्रलाभ कर, उससे एक होकर रह, उस के विपरीत आचरण मत कर। हे (वर्षो) सब सुखों के वर्षक, सब सुखों की दात्रि ! (वर्षीयसि यज्ञे) अति विस्तीर्ण, बड़े भारी गृहस्थ रूप यज्ञ में (यज्ञपतिम्) यज्ञ को पालन करने में समर्थ गृहपति को (धाः) स्थापित कर। (देवेभ्यः स्वाहा) यज्ञ के पूर्व ही आये देवों, विद्वानों का प्रेमवचनों से सत्कार करो और (देवेभ्यः स्वाहा) यज्ञ के पश्चात् भी आदर— वाणी से विद्वानों का आदर सत्कार करो ॥

राज्य पक्ष में—हे शास ! अर्थात् शासक और हे स्वरो ! दुष्टों के दण्ड द्वारा उपतापक ! तुम घृत अर्थात् तेज से युक्त रहो। हे रेवति ! वेदवाणि ! तू यजमान राजा में प्रिय, मनोहर रूप को धारण कर। अन्तरिक्ष में जिस प्रकार वेगवान् वायु सब प्राणियों को जीवन देता, उन पर शासन करता है, उसी के समान शासक होकर उस राजा के (हविषः त्मना) आज्ञापक आत्मा के साथ (यज) संगत हो। सकल सुःखों के वर्षण करनेहारे इस राष्ट्रमय महान् यज्ञ में यज्ञपति की रक्षा कर। हे राजन् ! समस्त विद्वान् ब्राह्मणों और शासकों का उत्तम वाणियों से आदर कर ॥

इसी प्रकार यजमान के यज्ञकर्ता भी उसकी इसी प्रकार सेवा करें,

उसके अनुकूल होकर रहें, उसकी हविसे यज्ञ करें, यज्ञ पति की स्थापना करें और यज्ञ में आये विद्वानों का आदर करें शत० ३।८।१।१-१६॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्तऽआतानानर्वा प्रेहि ।
घृतस्य कुल्याऽउपऽऋतस्य पथ्याऽअनु ॥ १२ ॥

विद्वांसो देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (अहिः) सर्प के समान कुटिल मार्ग पर चलने वाला या अकारण क्रोधी (मा भूः) मत हो । और तू (पृदाकुः) मूढ़ के समान अभिमानी, या व्याघ्र के समान हिंसक, या पृदाकू = अजगर के समान अपने संगी को हड़पजाने वाला, उसके प्राणों का नाशक (मा भूः) मत हो । स्त्री पुरुष को और प्रजा राजा को कहती है कि—(आतान) हे यज्ञसम्पादक पुरुष ! हे प्रजा के सुख को भली प्रकार विस्तार करने वाले पुरुष ! या सुख के विस्तारक ! (ते नमः) हम तेरा आदर करते हैं । (अनर्वा प्रेहि) तू अहिंसक होकर आ । और (घृतस्य कुल्याः) घृत आदि पुष्टिप्रद पदार्थ या घृत = जल की धारा अर्थात् सत्कारार्थ इन जलों को मुख आदि प्रक्षालन के लिये (उप इहि) प्राप्त हो, स्वीकार कर । और ऋत, अन्न के (पथ्या) खानेयोग्य भोजनों को भी (अनु) पीछे स्वीकार कर । अथवा (ऋतस्य पथ्याः अनु) सत्य ज्ञान के मार्गों को तू अनुसरण कर ॥

राजा के पक्ष में—हे राजन् ! तू सर्प के समान कुटिलाचारी और अजगर के समान प्रजाभक्षी मत बन । हे विस्तृत राष्ट्रशासक ! तेरा हम प्रजाजन आदर करते हैं । तू (अनर्वा) विना सवारी, या विना अश्वसेना या विना शत्रु के विचर । जल की धाराओं पर पुष्टिकर पदार्थों की धाराओं को प्राप्त हो, और सत्य के मार्गों का अनुसरण कर ॥ शत० ३ ८।२।१-३॥

१२—माहिर्भूरज्जुः । नमस्ते यज्ञः । सर्वा० । '०पथ्या उप०' इति काण्व० ।

वर के गृहद्वार पर भी स्वयंवरा कन्या और गृहपति के आने पर गृहपत्नी भी उसी प्रकार आतिथ्य करे, यह वेद का उपदेश है ॥

देवीरापः शुद्धा वोड्ढ्वꣳ सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्म ॥ १३ ॥

आपो देवताः । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (आपः) आप्तगुणों से युक्त या प्राप्त होने योग्य, या जलों के समान स्वच्छ (देवीः) देवियो, विदुषी स्त्रियो ! आप लोग (शुद्धाः) शुद्ध आचरण वाली होकर (वोढ्वम्) स्वयंवर पूर्वक विवाह करो। और तुम कन्याजन ! (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में ही (सु परि-विष्टाः) उत्तम रीति से उनके अर्धाङ्गिनियो के रूप में उनको प्रदान की जाओ। कन्यायें उत्तर दें—हे विद्वान् पुरुषो ! (वयम्) हम कन्याएं (सु-परिविष्टाः) विद्वान् पुरुषों के हाथों दी जावें। पुरुष कहें—(वयम्) हम (परिवेष्टारः) विवाह करने वाले उनका पाणिग्रहण करने वाले (भूयास्म) होवें ॥

राजा प्रजा पक्ष में—राजा कहता है—हे प्रजाओ ! तुम शुद्ध रूप से आज्ञा को धारण करो और (देवेषु) विद्वानों के आश्रय में सुख से बस कर रहो। प्रजा कहे—हम प्रजा जनों के उत्तम रक्षक बनें। अर्थात् राजा प्रजा का व्यवहार स्वयंवृत पति पत्नी के समान हो ॥ शत० ३ । ८ । २ ॥

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि ॥ १४ ॥

विद्वांसो देवता । भुरिगार्षी जगती । निषादः ॥

१३—देवीरापो ऽर्धमापमर्धमाशीः । सर्वा० ।

१४—पशुर्देवता । सर्वा० ॥

भा०—स्त्री स्वयंवर के अवसर पर पति को कहती है—और इसी प्रकार गुरुजन अपने शिष्यों को भी कहते हैं—(ते वाचम् शुंधामि) मैं तेरी वाणी को शुद्ध करती हूँ। (ते प्राणान् शुन्धामि) मैं तेरे प्राण को शुद्ध करती हूँ। (ते चक्षुः शुन्धामि) तेरी आंख को शुद्ध करती हूँ। (ते श्रोत्रं शुन्धामि) तेरे कान को शुद्ध करती हूँ। (ते नाभिम् शुन्धामि) तेरी नाभि को शुद्ध करती हूँ। (ते मेढ्ं शुन्धामि) तेरे प्रजननाङ्ग को शुद्ध करती हूँ। (ते पायुम् शुन्धामि) तेरे पायु अर्थात् गुदा भाग को शुद्ध करती हूँ और (चरित्रान् शुन्धामि) तेरे चरणों और आचरणों को भी शुद्ध करती हूँ। जितने भी सम्बन्ध आपस के भेद-भाव रहित निष्कपटता के हैं वहां २ परस्पर एक दूसरे के समस्त अंगों को पवित्र करें पवित्र और शुद्ध आचारवान् बनाने की प्रतिज्ञा करें। विवाह पद्धति में कन्यार्थ अंगहोम द्वारा उसी उद्देश्य को पूर्ण किया जाता है। उपनयनादि में गात्र स्पर्श द्वारा अचार्य भी वही कार्य करता है॥

इसी प्रकार प्रजा भी राजा की वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, लिङ्ग, गुदा, चरण आदि सब को पवित्र करे। उनको उन अंगों से पाप में पैर न रखने दे॥

[1]मन॑स्तुऽआप्या॑यतां वाक्तुऽआप्या॑यतां प्राणस्तुऽआप्या॑यताञ्चक्षु॑स्तुऽआप्या॑यताꣳ श्रोत्रं॑ तुऽआप्या॑यताम्। [2]यत्ते॑ क्रूरं यदास्थि॑तं तत्तुऽआप्या॑यतां निष्ट्या॑यतां तत्ते॑ शुध्यतु शमहो॑भ्यः। ओष॑धे त्राय॑स्व स्वधि॑ते मैनꣳ॑ हिꣳसीः॥ १५॥

विद्वांसा देवताः। (१) भुरिगार्ची त्रिष्टुप्। धैवतः॥ (२) आर्षी पंक्तिः। पंचमः॥

भा०—हे मनुष्य! (ते मनः) तेरा मन, संकल्प विकल्प करने

१५—मनस्ते पशुः। शं लिंगोक्तम्। ओषधे तृणं। स्वधितेऽसिः सर्वा० ०'निष्ट्यायतां' इति काण्व०॥

वाला चित्त (आप्यायताम्) बढ़े, शक्तिशाली हो। (ते वाक् प्राणः, चक्षुः श्रोत्रम् आप्यायताम् ४) तेरी वाणी प्राण, चक्षु, कान, ये समस्त इन्द्रियां शक्तिमान् हों और (यत्) जो (ते) तेरा (क्रूरम्) क्रूर स्वभाव है वह (निः स्त्यायताम्) दूर हो। और (यत्) जो (आस्थितम्) तेरा स्थिर निश्चय या स्थिर स्वभाव है वह (आप्यायताम्) वृद्धि को प्राप्त हो, बढ़े। और (तत्) वह भी (ते) तेरा (शुध्यतु) शुद्ध हो। (अहोभ्यः) सब दिनों के लिये (शम्) शान्ति और कल्याण, सुख प्राप्त हो। हे (ओषधे) ओषधि और ओषधियों के प्रयोक्ता वैद्य लोगो! (त्रायस्व) तुम इसकी रक्षा करो हे (स्वधिते) शस्त्र वा हे शस्त्रधारी पुरुष ! (एनम्) इस मनुष्य को (मा हिंसीः) मत मार ॥

गुरु शिष्य पक्ष में—हे (ओषधे) दोषों को दूर करने में समर्थ गुरो ! तुम इस शिष्य की रक्षा करो। और हे (स्वधिते) शिष्याओं और शिष्यों को अपने पुत्र के समान पालने हारे गुरो। और आचार्याणि ! तुम (मा एनं हिंसीः) इस शिष्य को व्यर्थ ताड़ना मत करो।

राजा की भी मन वाणी आदि शक्तियां बढें और शस्त्रधारी रक्षक उसका घात न करें ॥ शत० ३ । ८ । २ । १२ ॥

[1]रक्षसां भागोऽसि निरस्तꣳ रक्षऽइदमहꣳ रक्षोऽभितिष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाधऽइदमहꣳ रक्षोऽधमन्तमो नयामि। [2]घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वे स्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृतेऽऊर्द्ध्वनभसं मारुतङ्गच्छतम् ॥ १६ ॥

द्यावापृथिव्यौ देवते । (१,२) ब्राह्म्युष्णिक । ऋषभः ॥

१६—रक्षो, द्यावापृथिवी, वायुः अति वपाश्रपण्यौच देवताः । सर्वा० ।

०'प्रोर्णर्वाथां वायो वेस्तोकानाम् । जुषाणोऽग्निरा०' इति काण्व० ।

भा०—हे दुष्ट कर्म के करने वाले! दुराचारिन्! तू (रक्षसाम्) दूसरों के कार्यों का नाश करके अपने स्वार्थ की रक्षा करने वाले, नीच पुरुषों का ही (भागः असि) भाग है अर्थात् तू उनके आचरणों और नीच स्वभावों का सेवन करता है। एवं उनका आश्रय है। इस लिये (रक्षः) ऐसा स्वार्थी दुष्ट पुरुष (निरस्तम्) नीचे गिरा दिया जाय। (अहम्) मैं (इदम्) इस प्रकार (रक्षः) दुष्ट पुरुष के (अभि तिष्ठामि) ऊपर चढ़ाई करूं, उसका मुकाबला करूं। मैं (इदम्) इस प्रकार अभी, विना विलम्ब के, (रक्षः अवबाधे) राज्य कार्य के विघ्नकारी पुरुष को नीचे गिरा कर दण्डित करूं। (इदम्) और शीघ्र ही इस प्रकार के (रक्षः) राक्षस, विघ्न कारी दुष्ट पुरुष को (अधमं तमः) नीचे गहरे अंधकार में, या अन्धेरी कोठरी में (नयामि) घोर दुःख भोगने के लिये भेजदूं। और हे (द्यावापृथिवी) पिता, माता एवं पुरुष और स्त्री और गुरु, शिष्य! जिस प्रकार द्यौ और पृथिवी (घृतेन) जल से या प्रकाश से आच्छादित रहती हैं। उसी प्रकार तुम दोनों (घृतेन) घृत आदि पुष्टिप्रद पदार्थ, वीर्य सामर्थ्य और ज्ञान से (प्र-ऊर्णुवाथाम्) अच्छी प्रकार सम्पन्न रहो। हे (वायो) ज्ञानवन्! जिस प्रकार वायु जल के सूक्ष्म कणों को अपने भीतर वाष्परूप में ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार तू भी (स्तोकानाम्) अत्यन्त सूक्ष्म २ तत्त्वों को भी (वेः) ज्ञान कर। और (अग्निः) अग्नि जिस प्रकार आज्य अर्थात् घृत को प्राप्त होकर प्रकाशमान होजाता है या सूर्य जिस प्रकार जल को ग्रहण करता, उसी प्रकार हे विद्वान् पुरुष! तू भी (अग्निः) अग्नि के स्वभाव का स्वयंप्रकाश होकर (आज्यस्य) अज, अविनाशी परमात्मविषयक ज्ञान को, अथवा आनन्द, ज्ञान, प्रणबल, सत्य तत्त्व, वीर्य या वेदज्ञान को (वेतु) प्राप्त करे। और (स्वाहा) यही सबसे उत्तम आहुति है। या वह उत्तम यश को उत्पन्न करता है। हे (स्वाहाकृते) इस प्रकार उत्तम

उपदेश-ज्ञान की परस्पर आहुति प्रदान या ग्रहण करने वाले स्त्री पुरुषो ! (ऊर्ध्व-नभसम्) जिस प्रकार अग्नि घृत को ग्रहण करके प्रज्वलित करता और वायु उसके सूक्ष्म कणों को ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार ऊपर के जल से युक्त वायु को दोनों आकाश और पृथिवी प्राप्त कर लेते हैं। उसी प्रकार तुम दोनों (ऊर्ध्व-नभसम्) सर्वोच्च, सबके परम बन्धनकारी, (मारुतम्) सबके जन्म-मरण के कर्त्ता या प्राणस्वरूप परमेश्वर का (गच्छतम्) ज्ञान करो, उसको प्राप्त करो ॥

राज प्रजा के पक्ष में - राजा प्रजा (घृतेन) तेज से, ऐश्वर्य से एक दूसरे को आच्छादित करें। वायु स्वभाव प्रजा स्वल्प २ पदार्थों का भी संग्रह करे। अग्नि, राजा युद्धोपयोगी ऐश्वर्य को प्राप्त करे। एक दूसरे को (स्वाहा) उत्तम आदान-प्रतिदान करे । इस प्रकार (स्वाहाकृते) आदानप्रतिदान करने वाले हे राजा और प्रजाओ ! तुम दोनों (ऊर्ध्व-नभसम्) ऊपर सर्वोपरि बांधनेवाले एक नियन्तारूप (मारुतम्) मरुद्-गणों, समस्त सेनाओं या वैश्यों के महान् बल को प्राप्त करो ॥ शत० ३ । ८ । २ । १३-२१ ॥

इदमापः प्रवहतावद्यञ्च मलञ्च यत् । यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपेऽअभीरुणम् । आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥१७॥

आपो देवताः । निचृद् ब्राह्म्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (आपः) जलों के समान शान्त स्वभाव, एवं मलशोधक विद्याओं को प्राप्त करने हारे आप्त पुरुषो ! (अवद्यं च) जो निन्दनीय कर्म और (यत् मलं च) जो मल, मलिन कार्य है और (यत् च) जो कुछ मैं (अभि दुद्रोह) दूसरे के प्रति द्रोहकार्य, द्वेष, घात, वैर आदि

१७—अयं मन्त्रः शतपथे नास्ति । इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतं । इति काण्व० ॥

करूं और (यत् च) जो (अनृतम्) असत्य भाषण करूं और जो (अभीरुणम्) निर्भय होकर मैं (शेपे) दूसरे को कोसूं, निन्दाजनक अपशब्द कहूँ उस सब मल को आप लोग (इदम्) बहुत शीघ्र (प्रवहत) जलों के समान बहाकर दूर करो और मुझे स्वच्छ करदो। और (आपः) वे आप्त पुरुष और (पवमानः च) पवित्र करनेहारा, या सूर्य वायु के समान अन्न को तुष से पृथक् २ कर देने हारा, वा न्यायकारी पुरुष (मा) मुझको (तस्मात्) उस पाप से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥

[1]सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्। [2]रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रंह्या ऽऊष्मणो व्यथिषत्प्रयुतं द्वेषः ॥ १८ ॥

अग्निर्देवता। (१) प्राजापत्यानुष्टुप्। गांधारः। (२) निचृदार्षी बृहती। मध्यमः ॥

भा०—हे मनुष्य ! (ते मनः) तेरा मन, अन्तःकरण (मनसा) मन, मनन सामर्थ्य या विज्ञान से युक्त हो और (प्राणः) प्राण (प्राणेन) प्राण बलसे (सं गच्छताम्) युक्त हो। अथवा स्त्री पुरुष, राजा प्रजा और गुरु शिष्य परस्पर प्रतिज्ञा करते हैं कि (ते मनः मनसा सं गच्छताम्) तेरा मन मेरे मन से मिलकर रहे। (ते प्राणः प्राणेन संगच्छताम्) तेरा प्राण मेरे प्राण से मिलकर रहे ॥

द्यौ और पृथिवी से उत्पन्न अन्न के पक्ष में— हे अन्न ! भोजनयोग्य पदार्थ ! तू (रेट् = लेट् असि) तू आस्वादन करने योग्य है। (त्वा अग्निः श्रीणातु) तुझे अग्नि परिपक्व करे। (आपः त्वा सम् अरिणन्) जल तुझ में मिलें। (त्वा) तुझको (वातस्य) वायु के (ध्राज्यै) वेगवती, तीव्र गति और (पूष्णः) परिपोषक सूर्य के (रंह्यै) प्रचण्डता की (उष्मणः) उष्णता से (व्यथिषत्) तपाया जाता है। और इस प्रकार (द्वेषः) अप्रीतिकर,

१८—हृदयं, वसा, रेपश्च देवताः। सर्वा० ॥

बुरे पदार्थ तुष आदि को तुझ से (प्रयुतं) पृथक् कर दिया जाता है ॥

इसी प्रकार शिष्य के पक्ष में—(रेट् असि) तू ज्ञानवान् होने योग्य है। अग्नि, आचार्य तुझे ज्ञान में परिपक्व करे। आप्त पुरुष तेरे संग रहें। वात अर्थात् प्राण के तीव्रगति और परिपोषक सूर्य की प्रचण्डता की उष्णता से अर्थात् तप से तुझे तपस्या कराई गई है। अतः हे सहनशील मेरे भीतर से (प्रयुतं द्वेषः) प्राणियों के प्रति तेरे हृदय में बैठे द्वेषभाव को पृथक् कर दिया गया है ॥

राजा प्रजा पक्ष में और योद्धा पक्ष में— (रेट्) शत्रुओं का तू नाशक है। अग्नि, अग्रणी सेनापति युद्धाग्नि तुझे परिपक्व करे। या (वातस्य त्वा ध्राज्यै) वायु के प्रचण्डवेग और (पूष्णः रंह्यै) सूर्य के प्रचण्ड गति के प्राप्त करने के लिये (त्वा आपः सम् अरिणन्) जलों के समान शान्त स्वभाव के विद्वान् पुरुष तुझे प्राप्त हों। तेरी (ऊष्मणः) अपनी प्रचण्डता से (प्रयुतम्) लक्षों (द्वेषः) द्वेषकारी शत्रु (व्यथिषत्) पीड़ित हों ॥ शत० ३। ८। ३। ९-१४ ॥

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा। दिशः प्रदिशऽआदिशो विदिशऽउद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥

विश्वेदेवा देवताः। ब्राह्म्यनुष्टुप्। गांधारः ॥

भा०—हे (घृतपावानः) घृत=जल और घृत आदि के पान करनेहारे पुरुषो! आप लोग (घृतम् पिबत) घृत, जल और घी आदि पुष्टिकारक पदार्थों का पान करो। अथवा हे (घृत-पावनः) परम तेज के पालन करनेहारे पुरुषो। तुम लोग 'घृत' अर्थात् राजयोग्य परम तेज को धारण करो ॥

१६—घृतं वैश्वदेवम्। दिशः पंच दिश्यानि। सर्वा० ॥

[घृत शब्द वेद में नाना प्रकार से प्रयुक्त होता है जैसे—एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम् यद् घृतम् । शत० ६ । ६ । १ । ११ ॥ घृतं वै देवानां वज्रं कृत्वा सोममघ्नन् । गो० उ० २ । ४ ॥ देवव्रतं वै घृतम् । तां १८ । २ । ६ ॥ रेतः सिक्तिर्वै घृतम् । घृतमन्तरिक्षस्य रूपम् । श० ७ । ५ । १ । ३ ॥ अन्नस्य घृतमेव रसस्तेजः । मै० १ । ६ । १५ ॥ तेजो वा एतत्पशूनां यद् घृतम् । तै० ८ । २० ॥]

अग्नि अर्थात् राजा का तेज, राष्ट्र को प्राप्त करने के लिये शस्त्रबल, देव का व्रत अर्थात् राजा के निमित्त निर्धारित कर्तव्य, गृहस्थों का वीर्य-सेचन आदि कर्तव्य पालन, अन्न का परम रस और पशु सम्पत्ति ये सब पदार्थ सामान्यतः 'घृत' हैं उनको पान करने या पालन करने में समर्थ पुरुष इन वस्तुओं का पान अर्थात् प्राप्त करें और उसका उपयोग करें। (वसां वसापावानः पिबत) हे 'वसा' को पान करनेवालो ! तुम 'वसा' को पान करो ॥

'वसा'—श्रीर्वै पशूनां वसा । अथो परमं वा एतद् अन्नाद्यं यद् वसा । श० १२ । ८ । ३ । १२ ॥

अर्थात्—हे पशु सम्पत्ति और उत्तम अन्न समृद्धि के पालनेहारे पशु पालक और वैश्यजनो ! आप लोग (वसां पिबत) आप उत्तम पशु संपत्ति और उत्तम अन्न आदि खाद्य पदार्थों का पान करो, उपभोग करो उनसे प्राप्त दूध, दही, मक्खन और नाना लेह्य पदार्थ बनाकर खाओ। हे अन्नादि पदार्थो ! (अन्तरिक्षस्य हविः असि) तू अन्तरिक्ष की हवि अर्थात् प्राप्त और संग्रह करने योग्य पदार्थ है ॥

वैश्वदेवं वा अन्तरिक्षम् । तद्यदेनेनेमाः प्रजाः प्राणत्यश्चोदानत्यश्चान्त रिक्षमनुचरन्ति ॥ श० ॥

अन्तरिक्ष विश्वेदेव का रूप है अर्थात् समस्त प्रजाएं अन्त-रिक्ष हैं । पूर्वोक्त घृत और वसा अर्थात् उत्तम, अन्न, बल, शस्त्र

और पशुसम्पत्ति ये पदार्थ विश्वेदेव अर्थात् समस्त प्रजाओं का हवि अर्थात् उपादेय अन्न है । इसलिये (स्वाहा) इनको उत्तम रीति से प्राप्त करना उत्तम है । इन सब पदार्थों को (दिशः) समस्त दिशाओं से, (प्रदिशः) उपदिशाओं से (आदिशः) समीप के देशों से और (विदिशः) विविध दूर २ के देशों से और (उद्दिशः) ऊंचे पर्वती देशों से अर्थात् (दिग्भ्यः) सभी दिशाओं या देशों से (स्वाहा) भली प्रकार प्राप्त करना चाहिये । और नाना देशों को भेजना भी चाहिये ॥

वीरों के पक्ष में—वीर लोग 'अन्तरिक्ष की हवि हैं, अर्थात् दोनों देशों के बीच में लड़कर युद्ध यज्ञ में आहुति होने के योग्य हविरूप है अर्थात् वहां उनका उपयोग है । वे भी दिशा उपदिशा, दूर समीप के सभी देशों को प्रस्थित हों, वहां विजय करें ॥ शत० ३ । ८ । ३ । ३१–३५ ॥

ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्रऽउदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः । देव त्वष्टर्भूरि ते सꣳसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपम्भवाति । देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥२०॥

त्वष्टा देवता । निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—जिस प्रकार (ऐन्द्रः) इन्द्र अर्थात् जीव सम्बन्धी (प्राणः) प्राण, चेतना (अङ्गे अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में, प्रत्येक अङ्ग में (निदीध्यत्) निरन्तर प्रकाशित या चेतनारूप से विद्यमान रहती और गति करती या क्रीड़ा करती है । और जिस प्रकार (ऐन्द्रः उदानः) जीव की एक शक्ति उदान भी (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अङ्ग में (निधीतः) निरन्तर स्थिर रहती है उसी प्रकार (ऐन्द्रः प्राणः) राष्ट्र में भी प्राण के समान ऐन्द्र =

२०—ऐन्द्रः प्राणः पश्वङ्ग प्राणदानं लिंगोक्तम् । सर्वा० । ० निधीत ऐन्द्र० निदीधे ।' इति काण्व० ॥

अर्थात् इन्द्र राजा का उत्कृष्ट बल राष्ट्र के (अङ्गे २ निदीध्यत्) प्रत्येक अङ्ग में विराजमान हो, उज्ज्वलरूप में विद्यमान हो। और इसी प्रकार (ऐन्द्रः उदानः) राजा का उत्तम सामर्थ्य, उसको उन्नत करनेवाला बल भी (अङ्गे अङ्गे निधीतः) राष्ट्र के प्रत्येक अंग में स्थापित किया जाय। हे (देव) देव ! हे विजिगीषो ! राजन् ! सेनापते ! हे (त्वष्टः) शत्रुओं के बलको काटने वाले, हे प्रजापते ! और गृहपते ! हे वीर पुरुष ! (ते) तेरा (यत्) जो (सलक्ष्म) एक ही चिन्ह या लक्षण को धारण करने वाला, एक ही पोषाक पहनने वाला (विपुरूपम्) नाना प्रकार का सेनाबल है, (भूरि) बहुत अधिक मात्रा में (सम् एतु) एकत्र हो। (देवत्रा) देवों, राजाओं वा योद्धाओं के बीच (यन्तम्) गमन करते हुए (त्वा अनु) तेरे पीछे २ चलनेवाले (सखायः) तेरे सुहृद् राजा लोग (अवसे) तेरी रक्षा के लिए चलें और (माता-पितरौ) तेरे माता पिता भी (त्वा अनु) तेरी उन्नति के साथ (मदन्तु) हर्षित हों। अथवा तेरे मित्रगण तेरे माता पिता को हर्षित करें ॥

गृहपति पक्ष में—(त्वष्टः) हे गृहपते ! हे वीर्यनिषेक्तः ! (यत्) जब (सलक्ष्मा) तेरे ही समान लक्षणोंवाली, तेरी धर्मपत्नी (विपुरूपं भवाति) विपुरूप अर्थात् सन्तानरूप से नाना रूप हो जाय तब वह (भूरि) बहुत अधिक (सम्, सम् एतु) तुझे सन्तान आदि सहित प्राप्त हो। (देवत्रा यन्तं सखायः मातापितरौ च त्वा अनु मदन्तु) और विद्वानों के बीच तेरे मित्र और माता पिता तुझे देख २ कर प्रसन्न हों। अथवा–(सलक्ष्मा ते भूरि सं समेतु) हे वीर्य निषेक करने में समर्थ युवा पुरुष ! (ते) तेरे समान लक्षणों वाली स्त्री तुझे प्राप्त हो। (यत्) वह (विपुरूपं, भवाति) नाना सन्तानों से नाना रूप हो । पूर्ववत् ॥ शत० ३। ८। ३। ३३ ॥

'त्वष्टा'—इन्द्रो वै त्वष्टा । ऐ० ६ । १० ॥ त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकरोति । श० १।८।१।१०।३ ॥ रेतःसिक्तिर्वै त्वाष्ट्रः । कौ० १९ । ६ ॥

[१]समुद्रङ्गच्छ स्वाहाऽ[२]न्तरिक्षङ्गच्छ स्वाहा [३]देवꣳ सवितारङ्गच्छ स्वाहा। [४]मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा[५]ऽहोरात्रे गच्छ स्वाहा [६]छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा [७]द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा [८]यज्ञं गच्छ स्वाहा [९]सोमं गच्छ स्वाहा [१०]दिव्यं नभो गच्छ स्वाहा[११]ऽग्निं वैश्वानरङ्गच्छ स्वाहा [१२]मनो मे हार्दि यच्छ [१३]दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहा ॥२१॥

सेनापतिर्देवता । (१,६,१२) याजुषी उष्णिक् । ऋषभः । (२,५,१०) याजुषी अनुष्टुप् । गांधारः । (३,११) याजुषी पंक्तिः । पंचमः । (४७,) याजुषी बृहती । मध्यमः । (६,८) याजुषी गायत्री । षड्जः । (१३) आर्च्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(समुद्रं गच्छ स्वाहा) हे सेनापते ! तू (स्वाहा) उत्तम नौका आदि विद्या से तैयार किये, उत्तम उपाय से (समुद्रं गच्छ) समुद्र की यात्रा कर । विमानविद्या द्वारा बनाये विमान आदि उत्तम उपाय से (अन्तरिक्षम् गच्छ) अन्तरिक्ष को प्राप्त कर, उसमें जा । (स्वाहा सवितारं देवं गच्छ) ब्रह्मविद्या से प्रकाशस्वरूप सविता, सर्वोत्पादक परमेश्वर को प्राप्त हो । (स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ) योग विद्या से मित्र और वरुण, प्राण और उदान को वश कर । (स्वाहा अहोरात्रे गच्छ) कालविद्या से दिन और रात्रि का ज्ञान कर । (स्वाहा छन्दांसि गच्छ) वेद वेदाङ्ग की विद्या से समस्त ऋग्, यजुः, साम और अथर्व चारों वेदों का ज्ञान कर । (स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ) आकाश,

---

२१—'हार्दियच्छ' इत्यन्तो मन्त्रः शत० । दिवन्त०—स्वाहा' शतपथे नास्ति । समुद्रलिंगोक्तानि द्वादश । दिवं ते स्वरुः । सर्वा० । "समुद्रं गच्छ स्वाहा देवं १० सवितारं गच्छ स्वाहा अन्तरिक्षं० । ०सोम गच्छ स्वाहा यज्ञ गच्छ स्वाहा नभो दिव्यं०, हायच्छ । दिवं ते धूमो गच्छत्वन्तरिक्षं ज्योतिः ।०" इति काण्व० ॥

खगोल, भूगोल और भूगर्भ, विद्या से द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि के समस्त पदार्थों का ज्ञान कर। (स्वाहा यज्ञं गच्छ) उत्तम उपदेश से यज्ञ, अग्निहोत्र, राज्यशासन आदि कार्यों को जान । (स्वाहा सोमं गच्छ) उत्तम उपदेश द्वारा समस्त ओषधियों के परम रस व परम वीर्य को प्राप्त कर, उसका ज्ञान कर। (स्वाहा दिव्यं नभः गच्छ) उत्तम विद्या द्वारा दिव्य गुणयुक्त 'नभः' आकाश के भागों को या जलों को जान ! (स्वाहा अग्निम् वैश्वानरम् गच्छ) उत्तम विद्योपदेश द्वारा वैश्वानर अग्नि, जाठर अग्नि, अथवा सूर्य से प्राप्त अग्नि का ज्ञान कर ॥

हे परमात्मन् ! (मे) मेरे (हार्दि) हृदय में प्राप्त होने योग्य (मनः) उत्तम ज्ञान (यच्छ) प्रदान कर। हे अग्ने ! अग्रणी सेनापते ! (ते धूमः) जिस प्रकार अग्नि का धूआं आकाश को चला जाता है, उसी प्रकार (ते) तेरा (धूमः) शत्रुओं को कंपा देने वाला सामर्थ्य (दिवं गच्छ) प्रकाशमान सूर्य को प्राप्त करे अर्थात् प्रकाशित हो। तेरी (ज्योतिः) ज्योतिः= यश, (स्वः) सूर्य को प्राप्त हो, अर्थात् वह सूर्य के समान प्रकाशित हो। और तू (पृथिवीम्) पृथिवी को (भस्मना) अपने तेज और शत्रु को दबानेवाले आतङ्क से (स्वाहा) उत्तम नीति से (आपृण) पूर्ण कर । 'भस्मना'—भस भर्त्सनदीप्तयोः। इत्यतः सार्वधातुको मनिन् ॥

अर्थात् उत्तम २ विद्याओं द्वारा, और उत्तम विद्योपदेशों द्वारा समुद्र अन्तरिक्ष आदि को प्राप्त हो। अथवा हे राजन् ! तू (स्वाहा समुद्रं गच्छ) उत्तम आदान योग्य गुणों से समुद्र को प्राप्त हो अर्थात् तू समुद्र के समान गम्भीर, रत्नों का आश्रय हो। तू अन्तरिक्ष को प्राप्त हो अर्थात् अन्तरिक्ष के समान पृथिवी का रक्षक बन, सूर्य के समान सबका प्रेरक राजा बन, प्राण, उदान के समान राष्ट्र का जीवन बन। दिन, रात्रि के समान कार्य संचालक और विश्राम देनेवाला बन। इसी प्रकार वेदों के समान ज्ञानमय, आकाश और पृथिवी के समान सबका आश्रय, यज्ञ के समान सब का पालक,

सोम के समान रोगनाशक, आकाश या जल के समान व्यापक और शान्तिदायक, वैश्वानर अग्नि के समान सर्वहितकारी नेता, बन ॥ शत० ३।८।४।१०–१८॥ ३।८।५।१–९॥ यह मन्त्र प्रजोत्पत्ति पक्ष में शतपथ में व्याख्यात है। जिसका अभिप्राय है कि महान् परमेश्वर का वीर्य जिस प्रकार समुद्र अन्तरिक्ष, सूर्य, मित्र,वरुण, द्यौ, पृथिवी आदि नाना पदार्थों में परिवर्तित है, उसी प्रकार हे वीर्य! तू भी माता के गर्भाशय में जाकर शरीर के ही नाना शक्तियुक्त भागों में परिवर्तित हो॥

[1]मापो मौषधीर्हिंᳪसीर्द्धाम्नोधाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च। यदाहुरघ्न्या ऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च। सुमित्रिया न ऽआप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥ २२॥

वरुणो देवता। (१) ब्राह्मी स्वराड् उष्णिक्। ऋषभः।
(२) विराड् गायत्री। षड्जः॥

भा०—हे (राजन्) हे राजन्! (वरुण) वरुण! सर्वश्रेष्ठ प्रजाओं और आप्तों द्वारा वरण करने योग्य! तू (आपः) आप्त प्रजाजनों को और (ओषधीः) दुष्टों के दोषों का नाश करने वाले, सामर्थ्यवान्, वीर्यवान् पुरुषों को, (मा हिंसीः) मत नाश कर। अथवा (आपः ओषधीः मा हिंसीः) राष्ट्र में जलों, कूप, तड़ाग आदि, और ओषधि, अन्न आदि के खेतों और बनों का नाश मत कर। उनकी रक्षा कर। और (धाम्नः धाम्नः) प्रत्येक स्थान से (नः) हमें (मुञ्च) भय से मुक्त कर, हमें स्वतन्त्र रख। (यत्) जब २ हम हे (अघ्न्याः) न मारने योग्य गौ प्रजा और! विद्वान् ब्राह्मण गण! हे (वरुण) सर्व श्रेष्ठ दोषवारक! (इति) इस प्रकार

२२—मापोहृदयशूलम् धाम्ना धाम्नो वारुणम्। यदाहुवारुणा गायत्र्यवसाना। सुमित्रया न आपम्। सर्वा०।

कहकर हम (शपामहे) आगे अपराध न करने की शपथ लें (ततः) तब उस अपराध के दण्ड से (नः) हमें (मुञ्च) मुक्त कर। (नः) हमारे लिये (आपः) समस्त जल और (ओषधयः) ओषधियां और आप्त पुरुष और दण्ड दाता अधिकारीजन (नः) हमारे (सुमित्रियाः) उत्तम स्नेहकारी मित्र के समान वर्ताव करने वाले (सन्तु) हों। और वे ही (तस्मै) उस मनुष्य के लिये (दुर्मित्रियाः) दुःखदायी हों (यः) जो (अस्मान्) हमें (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यं च वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं ॥

'आपः'—आपो वै सर्वे देवाः। श० १०। ५। ४। १४॥ आपो वरुणस्य पत्न्यः। तै० १। १। ३। ८॥ अग्निना वा आपः सुपत्न्यः। श० ६। ८। २। ३॥ मनुष्या वा आपः चन्द्राः। श० ७। ३। १। २०॥

'ओषधीः'— ओषंधय इति तत ओषधयः समभवन्। तेज और ताप को धारण करने वाला 'ओषधि' है॥

गृहपत्नी पक्ष में यही मन्त्र व्याख्यात होता है। जिससे कुमारियां, स्त्रियें और गर्भिणिएं भी अदण्ड्य होती हैं॥ शत० २। ५। १०। ११।

ह॒विष्म॑तीरि॒मा ऽआपो॑ ह॒विष्माँ॑२ऽ आवि॑वासति।
ह॒विष्मा॑न्दे॒वोऽअ॑ध्व॒रो ह॒विष्माँ॑२ऽ अस्तु॒ सूर्यः॑॥ २३॥

आपो यज्ञः सूर्यश्च देवताः। निचृदार्ष्यनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—(इमाः आपः) ये जल सदा (हविष्मतीः) हवि, अर्थात् ग्रहण करने योग्य रस और अन्न से युक्त हों, उनको (हविष्मान्) हविः, उत्तम गुण और ज्ञान से सम्पन्न पुरुष (आविवासति) प्रयोग में लावे, उपयोग करे। अथवा—(इमाः) इन (हविष्मतीः) ज्ञान से समृद्ध

२३—हविष्मतीर्लिंगोक्तदेवताऽनुष्टुप्। सर्वा०।

प्रजाओं और आप्तपुरुषों या यज्ञादिक आप्त कर्मों को (हविष्मान् आविवासति) ज्ञान, जल; नाना उपायों और अन्नों से समृद्ध पुरुष ही सेवन करता है। (देवः) देव, साक्षात् राजा (अध्वरः) शत्रुओं से न पराजित होने वाला, (हविष्मान्) ग्रहण करने योग्य राष्ट्र से युक्त हो। और (सूर्यः) वह सूर्य के समान रश्मियों से युक्त तेजस्वी होकर (हविष्मान् अस्तु) अन्नादि उपयोगी पदार्थों से सम्पन्न हो।

यज्ञ में ये आपः 'वसतीवरी' कहाती हैं जो 'वसति' अर्थात् राष्ट्र के नगर, ग्राम आदि में वरी श्रेष्ठ प्रजाओं की प्रतिनिधि हैं।

अथवा—(हविष्मान्) हवि, ग्रहणशक्ति से सम्पन्न वायु जिस प्रकार (हविष्मतीः आपः आविवासति) रस वाले जलों को अपने भीतर लेता है उसी प्रकार (अध्वरः देवः हविष्मान्) अपराजित राजा स्वयं बलशाली होकर समस्त प्रजाओं को अपने वश रखे। और इसी प्रकार 'अध्वर' हिंसा रहित यज्ञ जिस प्रकार अन्नवान् है और जिस प्रकार सूर्य अपने रस-ग्रहण की शक्तिरूप हवि को धारण करता है उसी प्रकार राजा भी अन्न आदि से समृद्ध हो॥ शत० ३। ९। २। १०-१-१२॥ इसी प्रकार प्रत्येक गृहपति को भी हविष्मान् और पत्नी को हविष्मती अर्थात् वीर्यवान्, वीर्यवती, होने का उपदेश है। इस मन्त्र में 'आपः' कन्या हैं क्योंकि उन को वरण द्वारा प्राप्त किया जाता है। उनके प्रतिनिधि भी 'वसतीवरी' हैं क्योंकि बसना चाहने वाले नवयुवकों को वे वरण करती हैं। और स्वयं-वरा कन्या 'सूर्या' कहाती है। वरण योग्य पुरुष 'सूर्य' कहाता है॥

[१]अ॒ग्नेर्वो॑ऽप॑न्नगृहस्य॒ सद॑सि सादयामीन्द्रा॒ग्न्योर्भा॑ग॒धेयी॑ स्थ॒ मि॒त्रावरु॑णयोर्भाग॒धेयी॑ स्थ॒ विश्वे॑षां दे॒वानां॑ भाग॒धेयी॑ स्थ। [२]अ॒मूर्या उप॒ सूर्ये॒ याभि॑र्वा॒ सूर्यः॑ स॒ह ता नो॑ हिन्वन्त्वध्व॒रम्॥२४

ऋ० १। २३। १७॥

२४—अग्नेर्वश्चत्वार्यापानि। अमूरापीं गायत्रीं मेधातिथिः। सर्वा०।

अग्निर्देवता । (१) आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) मेधातिथिर्ऋषिः । त्रिपाद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे स्वयं वरण करने हारी कन्याओ ! मैं तुम्हारा पिता (वः) तुम सब को (अपन्नगृहस्य) विपत्तिरहित गृह वाले पुरुष के (सदसि) गृह में (सादयामि) स्थापित करूं । तुम (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि, इन्द्र = आचार्य और अग्नि = ज्ञानवान् गृहस्थ, अथवा इन्द्र, राजा, शक्ति-शाली पुरुष और ज्ञानवान् पुरुषों के (भागधेयीः स्थ) भाग, अर्थात् सेवन करने योग्य अंश को धारण करती हो अर्थात् उनके योग्य हो। अथवा उनके सेवन करने योग्य अन्न आदि के धारण करने हारी हो । (मित्रा-वरुणयोः भागधेयीः स्थ) मित्र, स्नेही पुरुष और वरुण, पापों से निवारण करने वालों के भागों या अन्नादि पदार्थों को धारण करने वाली हो । (विश्वेषां देवानाम्) समस्त देव, विद्वान् पुरुषों के (भागधेयीः स्थ) भोग्य अन्न आदि पदार्थों को धारण करने वाली हो । और ऐसी ही, इन्द्र, आचार्य, अग्नि, ज्ञानवान् पुरुष, मित्रजन, पापनिवारक, हितैषी, समस्त विद्वानों के लिये अन्नादि से उनका सत्कार करने वाली बनी रहो ॥

(याः) जो गृहस्थ वधुएं (सूर्ये) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष के (उप) समीप रहें और (याभिः सह) जिनके साथ (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष निवास करे (ताः) वे (नः) हमारे (अध्वरम्) अजेय राष्ट्र की शक्ति को (हिन्वन्ति) बढ़ाने वाली हों ॥

राजा के पक्ष में—हे आप्त प्रजाओ ! तुमको (अपन्नगृहस्य सदसि सादयामि) जिसका गृह अर्थात् वश करने की शक्ति कभी नष्ट नहीं होती ऐसे राजा के 'सदस्' अर्थात् राजसभा में स्थापित करता हूँ आप सब इन्द्र, राजा और अग्नि, सेनापति दोनों के (भागधेयीः) प्राप्तव्य अंश को धारण करती हैं, इसी प्रकार मित्र, न्यायकर्त्ता और वरुण, दुष्टों के दमन-

कारी अधिकारियों के भी भागों को धारण करती हो। तुम समस्त (देवा-नाम्) राज्य शासकों के भागों को धारण करती हो। और जितनी प्रजाएं (सूर्ये उप) सूर्य समान तेजस्वी राजा के समीप, उसके आश्रय हैं और जिनके साथ तेजस्वी राजा सदा विद्यमान हैं, वे प्रजाएँ राष्ट्र की वृद्धि करती हैं। अर्थात् प्रजा राज्य के सब विभागों को धन आदि से पालन करे और उनका व्यय दे। राजा प्रजा परस्पर मिल कर रहें तो राष्ट्र की वृद्धि होती है॥ शत० ३। ९। २। १३-१७॥

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा।
ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ॥ २५॥

सोमो देवता। आर्षी विराड् अनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—हे कन्ये! मैं तुझे (हृदे) हृदय वाले, प्रेम से युक्त पुरुष के लिये, (मनसे) मन वाले या ज्ञानी, (दिवे) प्रकाश वाले, तेजस्वी और (सूर्याय) सूर्य के समान कान्तिमान्, वरण करने योग्य पुरुष के हाथ [यच्छामि] प्रदान करता हूँ। और तू हे कन्ये! (इमम्) इस वरण योग्य (अध्वरं) अपराजित, अहिंसक (ऊर्ध्वम्) उत्कृष्ट पद पर स्थित पुरुष को (दिवि) ज्ञान-प्रकाश में स्थित (देवेषु) देव, विद्वानों के बीच में (होत्राः) जो आहुति देने वाले वा दान देने योग्य गृहस्थ पुरुष हैं उनके नियम में (यच्छ) बांध। अथवा वरण करने हारी कन्या वर के प्रति कहती है। मैं (हृदे त्वा, मनसे त्वा, दिवे त्वा, सूर्याय त्वा वृणोमि) अपने हृदय, चित्त और प्रकाश या सुख और अपने प्रेरक बनाने के निमित्त वरण करती हूँ। (इमम् ऊर्ध्वम् अध्वरम्) तू इस गृहस्थ रूप यज्ञ को (दिवि) सुख लाभ के लिये (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में से भी जो (होत्राः) ज्ञान ऐश्वर्य प्रदान करने वाले यज्ञशील पुरुष हैं उनको (यच्छ) प्रदान कर, उनके अधीन कर॥

२५—हृद सौम्यनुष्टुप्। सर्वा०। ऊर्ध्वो ऽमध्वरं० इति काण्व०॥

राजा के पक्ष में—हे राजन् तेरे हृदय, मन, तेज और राजपद के लिये तुझे हम प्रजाएं वरण करती हैं। ज्ञान, प्रकाश में जो विद्वानों में भी (होत्राः) उत्तम दानशील, उदार पुरुष हैं तू इस राष्ट्रमय यज्ञ को उनके अधीन कर ॥ शत० ३। ९। ३। १–५ ॥

[1]सोम राजन्विश्वास्त्वं प्रजाऽउपावरोह विश्वास्त्वां प्रजा ऽउपावरोहन्तु। [2]शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः। श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञꣳ शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहा ॥ २६ ॥

सोमो राजा देवता। (२) भुरिग् गायत्री। षड्जः। (२) आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—हे (सोम राजन्) सोम, सर्वप्रेरक राजन्! सर्व उत्तम गुणों से प्रकाशमान! सर्वोपरि विराजमान! (त्वम्) तू (विश्वाः प्रजाः) समस्त प्रजाएं (त्वा उप अवरोहन्तु) तेरे अधीन होकर रहें। अर्थात् तुझ पर शासन प्रजा का हो और तेरा शासन प्रजा पर रहे ॥

(समिधा) उत्तम काष्ठ या इंधन से जिस प्रकार अग्नि प्रदीप्त और प्रबल हो जाता है उसी प्रकार (सम्-इधा) उत्तम तेज या सेना बल से प्रतापी (अग्निः) अग्रणी, या सेनापति (मे) मेरी, मुझ वेदज्ञ विद्वान् की (हवम्) हव, आज्ञा को (शृणोतु) सुने। और (आपः) आप्त प्रजाएं और (देवीः) विदुषी (धिषणाः) ज्ञान, और बुद्धि के प्रदान करने वाली श्रेष्ठ प्रजाएं भी (मे हवम्) मेरी आज्ञा को (शृण्वन्तु) सुनें। हे (ग्रावाणः) ज्ञानपूर्वक विवेचन वा उपदेश करने वाले गुरुजनो! आप लोग भी (विदुषः यज्ञं न) विद्वान् के उपास्य परमेश्वर को, जिस प्रकार विद्वान् लोग श्रवण करते हैं उसी प्रकार मेरे राष्ट्ररूप यज्ञ, के विषय में (श्रोत) श्रवण करो। और (सविता देवः) समस्त देवों, अधीन राजाओं का उत्पादक, प्रेरक राजा भी (मे हवम्) मेरे हव अर्थात् आज्ञा का

(शृणोतु) श्रवण करें । (स्वाहा) यही उत्तम वेदानुकूल व्यवस्था है ॥

'उपावरोह, उपावरोहन्तु' इन दोनों का अर्थ धातु, उपसर्ग साम्य से एक ही होना चाहिये । महीधर और उव्वट ने 'उपावरोह' का अर्थ किया है 'आधिपत्याय तिष्ठ ।' (उपावरोहन्तु) प्रत्युत्थानादिभिः प्राप्नुवन्तु ।' यह दोनों परस्पर विरुद्ध होने से ठीक नहीं । 'धिषणा' —धीसादिन्यो वा धीमानिन्य इति । निरु० २ । ४ ॥ शत० ३।९।३।६–१४ ॥

देवीरापोऽअपान्नपाद्यो वं ऽऊर्मिर्हविष्यऽइन्द्रियावान् मदिन्तमः तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषाम्भागः स्थ स्वाहा ॥२७॥

आपो देवताः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (देवीः आपः) दिव्य, उत्तम गुणवान्, विद्वान्, आप्त प्रजा-जनो ! (यः) जो (वः) तुम में से (अपां नपात्) प्रजाओं में से ही उत्पन्न, प्रजाओं के हित को कष्ट न होने दे, ऐसा (ऊर्मिः) जलों के बीच तरङ्ग के समान उन्नत (हविष्यः) अन्न आदि से सत्कार करने योग्य, (इन्द्रियावान्) समस्त इन्द्रियों से सम्पन्न, अथवा इन्द्र अर्थात् राजपद के योग्य, ऐश्वर्य वैभव और बल सामर्थ्य से सम्पन्न (मदिन्तमः) शत्रुओं को पराजय और अपने राष्ट्र को हर्षित करने में सब से अधिक समर्थ है उसको (देवेभ्यः) समस्त राजगण और विद्वान् पुरुषों के हितार्थ और (शुक्रपेभ्यः) शुक्र अर्थात् वीर्य का पालन करने वाले आदित्य ब्रह्म-चारियों, योगियों और सत्य ज्ञान के पालन करने वाले विद्वानों के लिये अथवा शुक्रप अर्थात् प्रजाओं के पालन करने वाले अथवा शुक्रप अर्थात् शुक्र, आदित्य व्रत के पालक उन पुरुषों के लिये (देवत्रा) समस्त राजो-चित अधिकार (दत्त) प्रदान करो (येषाम्) जिनमें से आप लोग भी (भागः स्थ) एक श्रेष्ठ भाग हो । शत० ॥

२७ देवीराप आर्षीपंक्तिः । सर्वा० ॥ 'देवता दात शु०' इति काण्व० ॥

'मदिन्तमः'—मदी हर्षग्लेपनयोः । मदयतीति मदी सोतिशयितो मदिन्तमः । नाद्घस्येति नुम् ।

'शुक्रपेभ्यः' । एष वै शुक्रो य एष आदित्यस्तपति । श० ४ । ३ । २६ ॥ अस्य अग्नेर्वा एतानि नामानि घर्मः अर्कः शुक्रः ज्योतिः सूर्यः । श० ९ । ४ । २ । २५ ॥ सत्यं वै शुक्रम् । श० ३ । ९ । ३ । २५ ॥ शुक्रा ह्यापः । थै० १ । ७ । ६ । ३ ॥

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वाक्षित्या ऽउन्नयामि ।
समापो ऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः ॥ २८ ॥

प्रजा देवताः । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे वैश्यवर्ग ! तू (कार्षिः असि) समस्त भूमि पर कृषि कराने में समर्थ है । अथवा हे प्रजावर्ग ! और हे राजन् ! हे पुरुष ! (कार्षिः असि) परस्पर एक दूसरे को आकर्षण करने में समर्थ है । (त्वा) तुझको मैं परमेश्वर या राजा (समुद्रस्य अक्षित्यै) प्रजाओं के उत्पत्ति स्थान, इस राष्ट्रवासी वर्तमान प्रजाओं का कभी नाश न होने देने के लिये (उत् नयामि) उच्च आसन पर बैठाता हूँ (आपः अद्भिः) जल जिस प्रकार जलों से मिलकर एक हो जाते हैं उस प्रकार प्रजाओं में स्त्रियें प्रेमपूर्वक पुरुषों को (सम् अग्मत) प्राप्त हों । (ओषधीभिः ओषधीः सम् अग्मत) ओषधियां जिस प्रकार ओषधियों से मिलकर अधिक गुणकारी और वीर्यवान् हो जाती हैं उसी प्रकार तेजस्वी पुरुष तेजस्वी पुरुषों से एवं तेजस्वी पुरुष तेजस्विनी स्त्रियों से मिलें और अधिक तेजस्वी सन्तान उत्पन्न हों ।

इसी प्रकार गृहस्थ पक्ष में—हे पुरुष ! तू (कार्षिः असि) कृषक के समान अपनी सन्तति की खेती करने में समर्थ एवं स्त्री को अपने प्रति प्रेम

२८—कार्षिराज्यम् । अनुष्टुप् समाप आंप । सर्वा० ।

से आकर्षण करनेहारा है। समुद्र = अर्थात् प्रजाओं के उद्भवरूप मानव समुद्र को नित्य बनाये रखने के लिये तुझे उन्नत पद देता हूं। जलों में जैसे जल मिल जाएं उस प्रकार पुरुष स्त्रियों से प्रेमपूर्वक ही विवाहित होकर संगत हों। और (ओषधीभिः ओषधीः) जिस प्रकार एक गुण की ओषधियां परस्पर मिलकर अधिक वीर्य को उत्पन्न करती हैं। उसी प्रकार बलवीर्य युक्त स्त्री पुरुष मिलकर अधिक गुणवान् सन्तति उत्पन्न करें॥ शत० ३।७।३।१६।१७॥

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः।
स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा॥ २६॥ ऋ० १।२७।७॥

मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगार्षी गायत्री। षड्जः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नेतः! राजन्! (यम् मर्त्यम्) जिस पुरुष को तू (पृत्सु) संग्रामों में (अवाः) रक्षा करता है और (वाजेषु) संग्रामों में (यम्) जिसको (जुनाः) भेजता है (सः) वह पुरुष ही (शश्वतीः) निरन्तर आजीवन प्राप्त होने योग्य (इषः) अन्न आदि वृत्तियोग्य पदार्थों को (यन्ता) प्राप्त हो। (स्वाहा) यह सबसे उत्तम व्यवस्था है। अर्थात् जो पुरुष संग्रामों में भेजे जायं राजा उनकी चिर-कालिक या आजीवन या पुश्तैनी वृत्ति बांध दे: यह उत्तम व्यवस्था है। पेन्शन आदि देने का यही वैदिक आदेश है॥ शत०॥ ३।७।३।३२॥

[१]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। [२]आददे रावासि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम्। उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं [३]निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा॥ ३०॥

३०—यमग्ने मधुच्छन्दा। आग्नेयीं गायत्रीम्। सर्वा०।

[1]मनो॑ मे तर्पयत [2]वाचं॑ मे तर्पयत [3]प्राणं मे॑ तर्पयत [4]चक्षु॑र्मे॑ तर्पयत [5]श्रोत्रं॑ मे तर्पयता [6]त्मानं॑ मे तर्पयत [7]प्रजां मे॑ तर्पयत [8]पशून्मे॑ तर्पयत [9]गणान्मे॑ तर्पयत [10]गणा मे मा वितृ॑षन् ॥ ३१ ॥

सविता देवता । (१) प्राजापत्या बृहती । मध्यमः । (२) स्वराडार्षी पंक्तिः । पंचमः । (३) आसुरी अनुष्टुप् । गान्धारः ॥ ३० ॥

प्रजाःसभ्या राजानो देवताः । (१) उष्णिहः । ऋषभः ॥ ३१ ॥

भा०—हे सेनासमूह से सम्पन्न राजन् ! मैं (सवितुः देवस्य) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमेश्वर के (प्रसवे) राज्य शासन में (अश्विनोः) सूर्य चन्द्रमा दोनों के (बाहुभ्याम्) शान्तिदायक और संतापकारी सामर्थ्यों द्वारा और (पूष्णः) पुष्टिकारक अन्न के (हस्ताभ्याम्) मधुर एवं गुणों द्वारा (आददे) तुझे ग्रहण करता हूँ। तू (रावा असि) समस्त पदार्थों का प्रदान करने हारा है। (इमम् अध्वरम्) इस राष्ट्र रूप यज्ञ को (गभीरम्) गम्भीर, समुद्र के समान गम्भीर, अगाध, ऐश्वर्यवान् और (इन्द्राय सु-सूतमम्) इन्द्र, परमैश्वर्यवान् राजा के लिये खूब ऐश्वर्य, बल एवं शक्ति के उत्पन्न करनेवाला (उत्तमेन पविना) उत्कृष्ट पवित्र अर्थात् वज्रस्वरूप, शस्त्रों के राजबल से इस यज्ञ को (ऊर्जस्वन्तम्) उत्तम बलयुक्त, (मधुमन्तम्) अन्नादि खाद्य पदार्थों से समृद्ध, (पयस्वन्तम्) दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थ और गाय बैल आदि पशुओं से सम्पन्न (कृधि) बना।

हे प्रजाजनो ! आप लोग (निग्राभ्याः स्थ) मुझ राजा से राज्य-व्यवस्था द्वारा वश करने योग्य हैं। आप लोग (देव-श्रुतः) देव अर्थात् राजा और विद्वान् पुरुषों की आज्ञा और उपदेश के श्रवण करने वाली हों। अतः मैं राजा तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि—(मा तर्पयत) मुझे कर

३१—रावा इत्यस्य ग्रावा, निग्राभ्या इत्यादि मन्त्रस्य आपो देवताः । सर्वा० ॥

आदि द्वारा तृप्त करो, संतुष्ट करो ॥ ३० ॥ (मे मनः तर्पयत) मेरे मन को तृप्त करो । (मे वाचं तर्पयत) मेरी वाणी को तृप्त करो । (प्राणं मे तर्पयत) मेरे प्राण को तृप्त करो । (मे चक्षुः तर्पयत) मेरी चक्षुओं को तृप्त करो । (मे श्रोत्रं तर्पयत) मेरे कान को तृप्त करो । (मे आत्मानं तर्पयत) मेरे आत्मा को संतुष्ट करो । (मे प्रजाम् तर्पयत) मेरी प्रजा पुत्र पौत्र आदि को सन्तुष्ट करो । (मे पशून् तर्पयत) मेरे पशु, रथ, वाहन, अश्व, गौ, महिष आदि को संतुष्ट करो । (मे गणान्) मेरे अधीन शासकवर्गों को और सेनागण को (तर्पयत) सन्तुष्ट करो । और ऐसा तृप्त करो कि (मे गणाः) मेरे सैनिक और शासक वर्ग (मा वितृषन्) नाना पदार्थों के लिये तरसते न रहें, भूखे प्यासे न रहें ।

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवतऽइन्द्राय त्वादित्यवत इन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने । श्येनाय त्वा सोमभृतेऽग्नये त्वा रायस्पोषदे ॥३२॥

सभापती राजा देवता । पञ्चपाद् ज्योतिष्मती जगती । निषादः ।
त्रिष्टुब् वा । धैवतः ॥

भा०—हे सोम ! राजन् ! सभाध्यक्ष ! अथवा राष्ट्र ! (त्वा) तुझको मैं (वसुमते) वसु, ऐश्वर्यवान् प्रजाजनों से युक्त (इन्द्राय) इन्द्रपद के लिये और (रुद्रवते) शत्रुओं को रोदन कराने वाले रुद्र, वीर पुरुषों से सम्पन्न (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त इन्द्र पद के लिये और (आदित्य-वते) आदित्य के समान तेजस्वी अथवा आदान प्रदान करने हारे वैश्य-गणों से युक्त (इन्द्राय) इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्य पद के लिये और (अभिमातिघ्ने) अभिमान करने वाले शत्रुओं के नाशक (इन्द्राय) पराक्रमी इन्द्र पद के लिये और (सोम-भृते) सोम रूप, राष्ट्र का भरण पोषण करने वाले (श्येनाय) श्येन, बाज़ पक्षी के समान शत्रु पर

३२—इन्द्राय त्वा पंच सौम्यानि । सर्वा० ॥

आक्रमण करने वाले सेनापति पद के लिये और (रायः पोषदे) धनैश्वर्य को पुष्टि देने वाले (अग्नये) अग्रणी पद के लिये (त्वा ५) तुझ अमुक २ वीर, विद्वान्, ऐश्वर्यवान्, पराक्रमी, गुणवान् पुरुष को पदाधिकारी बनाता हूँ। इस प्रकार राजा पाँच पदों के लिये पांच योग्य शासक पुरुषों को नियुक्त करे।

यत्ते॑ सोम दि॒वि ज्योति॒र्यत्पृ॑थि॒व्यां यदु॒रा॑व॒न्तरि॑क्षे।
तेना॒स्मै यज॑माना॒योरु रा॒ये कृ॒ध्यधि॑ दा॒त्रे वो॑चः ॥ ३३ ॥

सोमो देवता। भुरिगार्षी बृहती। मध्यमः॥

भा०—हे सोम ! सर्वराष्ट्रप्रेरक राजन् ! सभाध्यक्ष ! (ते) तेरा (यत्) जो (दिवि ज्योतिः) सूर्य में अर्थात् सूर्य के समान प्रखर तेजस्वी रूप से रहने में जो तेज है और (यत् पृथिव्याम्) जो तेरा तेज पृथिवी पर अर्थात् पृथिवी के समान सर्वाश्रय बने रहने में पराक्रम है और (यद् उरौ अन्तरिक्षे) जो विशाल अन्तरिक्ष अर्थात् वायु के समान सबके प्राणों का स्वामी होने में तेरा तेज है (तेन) उससे (अस्मै यजमानाय) इस यज्ञ सम्पादन करने वाले राष्ट्रयज्ञ के कर्त्ता (उरु राये) महान् धनादि ऐश्वर्य सम्पन्न राष्ट्र के लिये समस्त कार्य (कृधि) तू सम्पन्न कर। और (दात्रे) तुझे अधिकार और वेतन आदि देने वाले इस राष्ट्र के लिये ही तू (अधि वोचः) अधिकार पूर्वक आज्ञा प्रदान किया कर। शत० ३। ९। ४। १२॥

श्वा॒त्रा स्थ वृत्र॒तुरो॒ राधो॑गूर्त्ता ऽअ॒मृत॑स्य॒ पत्नीः॑।
ता दे॑वीर्दे॒व॒त्रेमं य॒ज्ञं न॑य॒तोप॑हूता॒ः सोम॑स्य पिबत ॥३४॥

यज्ञो देवता। स्वराड् आर्षी बृहती। मध्यमः॥

३३—यत्ते सौमी विपरीता बृहती। सर्वा०। ०'यदुरा अन्त०' इति काण्व०॥

३४—निग्राभ्या देवताः। अनन्तदेवः॥

भा०—हे प्रजाजनो ! आप लोग ही (श्वात्राः) विशेष नियम में बद्ध जलधाराओं के समान शीघ्र कार्य सम्पादन करने में समर्थ (स्थ) हो। और तुम लोग (राधः-गूर्त्ताः) राधस्, धन ऐश्वर्य को प्रदान करने वाले और (अमृतस्य पत्नीः) अमृत, अन्न और जल का उचित रूप से पालन करते हो। हे (देवीः) विद्वान् या धन दान करने वाले (ताः) वे प्रजाजन (देवत्रा) देव अर्थात् योग्य उत्तम राजाओं और शासक पुरुषों के हाथ (इमं यज्ञम्) इस राष्ट्रमय यज्ञ को (नयत) प्राप्त कराते हो। और आप लोग (उपहूताः) आदर पूर्वक बुलाये जाकर (सोमस्य) इस राष्ट्र से उत्पन्न उत्तम फल का या राजा के इस राज्य का (पिबत) पान करो, आनन्द प्राप्त करो।

गृहस्थ पक्ष में—(श्वात्राः) विद्युत् के समान शीघ्र कार्य करने वाली, कार्यदक्ष (वृत्रतुरः) मेघ को जिस प्रकार बिजुली फाड़ देती है उसी प्रकार विघ्न के नाश करने वाली (राधोगूर्त्ताः) धन के बढ़ाने वाली (अमृतस्य सोमस्य पत्नीः) अमर, सदा स्थिर राजा की पालक शक्तियों के समान अमृत रस या अन्न की पालन करने वाली गृहपत्नी (देवीः) देवियां (देवत्रा) अपने देव-तुल्य पतियों के आश्रय रहकर (इमं यज्ञं नयत) इस गृहस्थ यज्ञ को पूर्ण करें, निबाहें। और वे (उपहूताः सोमस्य पिबत) आदरपूर्वक यज्ञ में बुलाई जाकर सोम आदि ओषधियां के रसका पान भी करें।

शतपथ में—यह वर्णन 'निग्राभ्या आपः' का है। उनका विशेषण 'श्वात्राः' और 'वृत्रतुरः' है। इससे वे शीघ्र कार्य करने वाली, वेगवती, शत्रुओं के नाश करने वाली, अमृत, सोम रूप राजा की रक्षक हैं। अर्थात् जब तक उनका प्रेरक सेनापति या राजा मरता नहीं तब तक वे उसकी रक्षा पर डटी रहती हैं। वे ही (राधोगूर्त्ताः) समस्त धन ऐश्वर्य प्राप्त कराती हैं। समस्त देवों, विद्वान् शासकों के बीच में राष्ट्र को स्थापन

करतीं और आदरपूर्वक निमन्त्रित होकर राज्य के उत्तम फलों का उपयोग करें। 'वृत्रतुरः' एता हि वृत्रमघ्नन् । श० ३ । ९ । ४ । १६ ॥

'सोमस्य पिबत'—तदुपहूता एव प्रथमभक्षं सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति । शत० ३ । ९ । ४ १३ ।

मा भेर्मा संविक्था ऽऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम् । पाप्मा हतो न सोमः ॥ ३५ ॥

द्यावापृथिव्यौ देवते । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे राजन् ! और हे प्रजागण ! तू (मा भेः) भय मत कर । (मा संविक्थाः) तू भय से कंपित न हो । तू (उर्जं धत्स्व) 'ऊर्जं', बल को धारण कर । हे राजा और प्रजा! तुम दोनों ! (धिषणे) एक दूसरे का आश्रय होकर आकाश और पृथिवी या सूर्य और पृथिवी के समान दोनों (वीड्वी सती) वीर्यवान्, बलवान्, दृढ़, हृष्ट पुष्ट होकर (वीडयेथाम्) एक दूसरे का बल बढ़ाओ । और अपने को बलवान् करो । इस प्रकार युद्धादि के अवसर पर भी यद्यपि राजा पर आक्रमण होगा तब भी प्रजा और राजा दोनों के बलिष्ठ होने पर (पाप्मा हतः) पाप करने वाला दुष्ट शत्रु पुरुष ही मारा जाय । (न सोमः) सोम, सर्वप्रेरक राजा या राष्ट्र वा उत्तम पुरुष का नाश नहीं हो । शत० ३ । ९ । ४ । १६–१८ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे पुरुष और हे स्त्री ! तुम दोनों गृह के पालन के कार्य में मत डरो । भय से कम्पित मत होओ । एक दूसरे के आश्रय और (धिषणे) बुद्धिमान् और आत्मसन्मानी, बलवान्, (वीड्वी) वीर्यवान् होकर सदा बलवान् व दृढ़ बने रहो और ऊर्ज, पराक्रम को धारण करो । इस प्रकार समस्त पाप नष्ट हो जाय । और 'सोम' अर्थात् परस्पर का गृहस्थ सुख या आह्लाद कभी नष्ट नहीं होगा ।

३५—मा भेः सौम्यमर्ध द्यावापृथिव्यमर्धम् । सर्वा० ।

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिश ऽआधावन्तु ।
अम्ब निष्पर समरीर्विदाम् ॥ ३६ ॥

सोमो देवता । उष्णिक । ऋषभः ॥

भा०—हे राजन् ! (त्वा) तेरी शरण में (प्राक्) पूर्व, (अपाक्) पश्चिम, (अधराक्) दक्षिण और (उदक्) उत्तर (सर्वतः) इन सब ओरों से (दिशः) समस्त दिशाओं के प्रजाजन (आधावन्तु) आवें और कहें । हे (अम्ब) हमारे प्रेमी ! (निः पर) हमें सब प्रकार से पालन कर । (अरीः) समस्त प्रजाएं (त्वा) तुझे अपना स्वामी, माता के समान पालक (सम् विदाम्) भली प्रकार जानें ॥ शत० ३ । ९ । ४ । २१ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे (अम्ब) बच्चों की माता ! तेरे पुत्र सब दिशाओं से तेरे पास आवें, कहें हमें पालन कर । समस्त प्रजाएं तुझे अपनी माता ही जानें ।

त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् । न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥ ३७ ॥ ऋ० १ । ८४ । १९ ॥

गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । भुरिगार्षी अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अङ्ग) हे (शविष्ठ) सब से अधिक शक्तिमन् ! तू (देवः) विजीगीषु राजा होकर (मर्त्यम्) मनुष्यमात्र को (प्र शंसिषः) उत्तम शिक्षा प्रदान कर, उत्तम उपदेश कर । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वत् अन्यः) तेरे से दूसरा कोई (मर्डिता न) कृपालु, उन पर दया करने वाला, सुखकारी नहीं है । हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! मैं (ते) तुझे (वचः) उत्तम वेदानुकूल राजधर्म के वचनों का उपदेश करता हूँ ॥ शत० ३ । ९ । ४ । २४ ॥

३६—प्राक् सौमी । सर्वा० ॥

३७—त्वमंग गौतम ऐन्द्रीं पथ्याबृहतीम् । सर्वा० ।

परमेश्वर पक्ष में—हे परमेश्वर (शविष्ठ) सर्वशक्तिमन् ! तू समस्त (मर्त्यम्) मरणशील प्राणिमात्र या मानव जाति को (प्र) सबसे प्रथम (शंसिषः) उपदेश करता है । (त्वदन्यः०) तेरे से दूसरा कोई सुखकारी दयालु नहीं है । (ते वचः ब्रवीमि) तेरे ही-वेद वचनों का मैं सर्वत्र उपदेश करूं ।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

[तत्र सप्तत्रिंशदृचः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकारविरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

॥ओ३म्॥ वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अꣳशुभ्यां गभस्तिपूतः। देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि ॥१॥

प्राणो देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (वाचः पतये) आज्ञा करने वाली वाणी के पालक अर्थात् स्वामी के लिये (पवस्व) पवित्र हो, उसकी आज्ञा पालन करने के निमित्त दत्तचित्त होकर, चित्त से वैर आदि के भावों को त्याग कर। (वृष्णः) सूर्य के (गभस्तिपूतः) किरणों से जिस प्रकार वायु पवित्र हो कर वाणी के पति, पालक प्राण के लिये शरीर में जाता है इसी प्रकार (वृष्णः) समस्त सुखों के वर्षक, राजा के (गभस्ति-पूतः) ग्रहण करने के सामर्थ्य, तेज या प्रताप से पवित्र होकर और उसके (अंशुभ्याम्) दोनों प्रकार की बाह्य और आभ्यन्तर शक्तियों से पवित्र होकर, तू स्वयं (देवः) देव, दान-शील, एवं विजिगीषु होकर (येषाम्) जिनका तू (भागः असि) स्वयं सेवनीय अंश है, (देवेभ्यः) उन, देव विद्वानों के उपकार के लिये (पवस्व) शुद्ध पवित्र होकर काम कर। जिस पुरुष को प्रथम राजकार्य में नियुक्त करे उसको अपने वाचस्पति अर्थात् अपने ऊपर के आज्ञादाता के प्रति स्वच्छ रहना चाहिये, वह उसकी आज्ञा का कभी उल्लंघन न करे। वह स्वयं विद्वान्, उनके ही निमित्त उसको बद्ध करे। राजा से लेकर अन्तिम कर्म करने तक यही मन्त्र लागू होता है। पदाधिकारी स्वयं भी 'देव' अर्थात् राजा के स्वभाव का हो।

अध्यात्म में—दो अंशु प्रजापति आत्मा के दो भाग, प्राण और उदान हैं ॥ वायु उन द्वारा गृहीत होकर वाचस्पति, आत्मा, मुख्य प्राण के लिये शरीर में गति करता है । वह स्वयं एक मुखगत 'देव' या कर्मेन्द्रिय होकर अन्य अंगों या इन्द्रियों के लिये शरीर में गति करता है । इसी प्रकार राजा और मुख्य नियुक्त पुरुष भी अपने अधीन पदाधिकारियों के लिये पवित्र निष्कपट होकर काम करे । शतपथ में यह ग्रहों के प्रकरण में लिखा गया है । 'ग्रह' का अर्थ है राज्य को वश करने के निमित्त विशेष विभाग का अधिकारी । वे सब सोम राजा के ही अधिकार को बांट कर रहते हैं ॥ शत० ४ । १ । १ । ८—१२ ॥

यद् गृह्णाति तस्माद् ग्रहः । श० १० । १ । १ । ५ ॥ तं सोमम् अघ्नन् । तस्य यशो व्यगृह्णत ते ग्रहा अभवन् । यद्वित्तं (यज्ञं) ग्रहैर्व्यगृह्णत तद् ग्रहाणां ग्रहत्वम् । श० ३ । ९ ॥ अध्यात्मम्—अष्टौ ग्रहाः । प्राणः जिह्वा, वाक् चक्षुः, श्रोत्रम् मनो, हस्तौ त्वक् च । श० १० । ६ । २ । १ ॥ प्राणाः वै ग्रहाः । श० ४ । २ । ४ । १३ ॥ अङ्गानि वै ग्रहाः । श० ४ । ५ । ९ । ११ । अर्थात्—जो ग्रहण करे सबको वश करे वह 'ग्रह' है । सोम को प्राप्त करके उसके विस्तृत सामर्थ्य के टुकड़े २ कर दिये, अर्थात् राजा के अधिकार को विभक्त कर दिया, वे राजा के अधीन विभागों के अध्यक्ष 'ग्रह' हो गये । यज्ञ अर्थात् प्रजापति के राष्ट्र को विभक्त कर दिया, वे 'ग्रह' हैं । शरीर में प्राण और जिह्वा आदि अंग 'ग्रह' हैं ।

गभस्ति—गां भसति अदन्ति दीप्यन्ते वा गभस्तयः इति देवराजः । गृहेर्गभस्तिरिति माधवः ।

मधुमतीर्न ऽइषस्कृधि यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ २ ॥

२—मधुमती लिंगोक्तम् । यत्ते सौम्यम् । स्वाहोरुयजुषी लिंगोक्ते । सर्वा० ।

सोमो देवता । निचृदार्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे राजन्! (नः) हमारे लिये (मधुमतीः) मधुर रस से युक्त (इषः) अन्नों को (कृधि) उत्पन्न कर । अथवा, हे (मधुमतीः) अपनी (रायः) प्रेरक आज्ञाओं को (मधुमतीः) बल से युक्त कर । (यत्) क्योंकि हे (सोम) सर्वप्रेरक राजन्! (ते नाम) तेरा नाम, तेरा स्वरूप या तेरा नमाने, या झुकाने, या दमन करने का सामर्थ्य भी (अदाभ्यम्) कभी विनाश नहीं किया जा सकता, तोड़ा नहीं जा सकता और वह (जागृविः) सदा शरीर में प्राण के समान जागता रहता है। (तस्मै) इस कारण से, हे (सोम) सर्वप्रेरक राजन्! (ते सोमाय स्वाहा) तेरे निमित्त हमारा यह आत्मत्याग है। अर्थात् हम पदों पर नियुक्त पुरुष सर्वप्रकार से तेरे अधीन हैं। राजा अपने अधीन पुरुषों और प्रजाओं को अपने प्रति ऐसा वचन सुनकर स्वयं भी कहे कि (स्वाहा) यह मेरा भी तुम्हारे लिये आत्मोत्सर्ग रूप आहुति है। अथवा-अपनी वश करनेवाली शक्ति या प्रतिष्ठा से मैं अब (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष को (अनु एमि) अनुसरण करता हूँ। अर्थात् जिस प्रकार अन्तरिक्ष समस्त पृथिवी पर आच्छादित है इसी प्रकार मैं समस्त प्रजा पर समय रूप से शासक बनता हूँ। जिस प्रकार वायु सबका प्राण है उस पर सब जीते हैं इसी प्रकार मेरे आश्रय पर समस्त प्रजाएं जीवन धारण करें। अथवा (अन्तरिक्षम् अनु एमि) अन्तरिक्ष अर्थात् प्रजा और राजा के बीच के शासक मण्डल पर भी मैं अपना अधिकार करता हूँ। वे प्रजा की रक्षा करने से 'रक्षोगण' हैं, उनका वश करने के लिये राजा उन पर पूरा वश रक्खे।

स्वाहा—स प्रजापतिर्विदांचकार स्वो वै मा महिमा आहेति, स

कृध्यन्तस्य प्राण उपांशुग्रहरूपो देवता । स्वाहाकारस्य अग्निः । उर्वन्तरिक्षमित्यस्य रक्षो देवता । अनन्त० ।

स्वाहेत्येवाजुहोत् । श० २ । २ । ४ । ६ ॥ हेमन्तो वै ऋतूनाँ स्वाहाकारः हेमन्तो हि इमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते । श० १ । ५ । ४ । ५ ॥ अन्नं हि स्वाहाकारः । श० ६ । ६ । २ १७ ॥ प्र तिष्ठा वै स्वाहाकृतयः । श० ४ ॥

'अन्तरिक्षम्' – तद्यदस्मिन् इदं सर्वमन्तस्तस्मादन्तर्यक्षम् । अन्तर्यक्षं ह वै नामैतत् तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते । जै० उ० १ । २० । ४ ॥ ईक्षं हैतन्नाम ततः पुरा अन्तरा वा इदमीक्षमभूदिति तस्मादन्तरिक्षम् ॥ शत० ७ । १ । २ । २३ ॥ अन्तरिक्षायतना हि प्रजाः । तां० ४ । ८ । १३ ॥ असुराः रजताम् अन्तरिक्षलोके अकुर्वत । ऐ० १ । २३ ॥

अर्थात्—प्रजापति का अपना बड़ा सामर्थ्य या ऋतुओं में तीक्ष्ण प्रहार करनेवाले राजा का हेमन्त या पतझड़ का सा रूप है । 'जो प्रजाओं को अपने वश करने का सामर्थ्य या अन्न या प्रतिष्ठा हैं ये स्वाहा के रूप हैं । सबके भीतर सबका निरीक्षक, पूजनीय, 'अन्तरिक्ष' है, भीतरी निरीक्षक, द्रष्टा आत्मा वा मुख्य पदाधिकारी 'अन्तरिक्ष' है । चांदी या धन के द्वारा बंधे अधिकारी मण्डल भी 'अन्तरिक्ष' हैं । शत० ४ । १ । १ । १–५ ॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा ॥३॥

विद्वांसो देवताः । विराड् ब्राह्मी जगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों के हित के लिये जिस

३—स्वाङ्कृतोस्युपांशुः । देवेभ्यस्त्वा दैवम् । देवांशालिगोक्तमाभिचारिकम् । प्राणाय ग्रहः । व्यानायोपांशुसवनः । सर्वा० । '०स्वभवसूर्य्याय' ०यस्मै त्वेळे० ॥ परिप्लुता० इति काण्व० ।

प्रकार आत्मा (दिव्येभ्यः) आकाश या प्रकाशमान लोका के लिये जिस प्रकार सूर्य स्वयं अपने तेज से प्रकाशमान है उसी प्रकार (पार्थिवेभ्यः) पृथिवी के निवासी राजागण या प्रजा लोगों के हित के लिये तू (स्वाङ्कृतः) स्वयं अपने सामर्थ्य से राजा बनाया गया (असि) है। (त्वा मनः अष्टु) तुझे मन अर्थात् शुद्धविज्ञान प्राप्त हो ! अथवा—तुझे मननशील मन्त्री प्राप्त हो। अथवा, जिस प्रकार समस्त चक्षु आदि इन्द्रियों पर मन अधिष्ठाता है उसी प्रकार समस्त लोकों पर मन के समान, सर्वविचारक और प्रेरक पद तुझे प्राप्त हो। हे (सुभव) उत्तम सामर्थ्य से युक्त उत्तम कुलजात ! उत्तम पद पर विराजमान ! हे सुजात ! मैं विद्वान् पुरुष (त्वा) तुझको (सूर्याय) सूर्य के पद के लिये नियुक्त करता हूँ। अर्थात् सूर्य जिस प्रकार तेजस्वी और आकर्षक होकर सब ग्रहों को प्रकाशित और व्यवस्थित करता है उसी प्रकार समस्त प्रजा और शासकों को व्यवस्थित करने के लिये तुझे वरता हूँ। और (मरीचिपेभ्यः देवेभ्यः) मरीचि, किरणों से जिस प्रकार सूर्य पृथिवी के जलों को चूस लेता है उसी प्रकार अपने मरीचि = मृत्युदायक, त्रासकारी साधनों से प्रजा के अन्न धनों को चूसनेवाले 'देव' विजुगीप राजाओं के लिये, उन पर वश करने के लिये भी (त्वा) तुझे नियुक्त करता हूँ। हे (देव) देव ! राजन् ! (अंशो) अंशो ! हे प्रजापते ! (यस्मै) जिस कारण से (त्वा ईडे) मैं तेरी स्तुति करता हूँ या मैं तेरी इतनी प्रतिष्ठा करता हूँ (तत्) वह तेरा (सत्यम्) सत्य है, सत्य का पालन, न्यायस्थापन तेरा धर्म या व्रताचरण ही है। अर्थात् राजा राष्ट्र के सत्यधर्म या क़ानून का पालन करता है, उसका यह सत्यपालन का कर्त्तव्य ही उसकी स्तुति और पूजा का कारण है। और (उपरि-प्रुता) सत्य की मर्यादा को लांघ जाने वाले (भंगेन) नियमोलंघन व सत्य के रोंद डालने से (हतः) ताड़ित होकर (असौ) अमुक, असत्य मार्गगामी, विपरीत राजा (फट्)

विध्वंस होने योग्य है, उसे मार दिया जाय। हे राजन् (त्वा) तुझको (प्राणाय) शरीर में प्राण के समान राष्ट्र में समस्त कार्यों के सञ्चालन के लिये और (त्वा) तुझको (व्यानाय) शरीर में विभक्त होकर नाना कर्मेन्द्रियों के चालक व्यान के समान राष्ट्र में विविध कार्यों के चलाने के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ४ । १ । १ । २२-२८ ॥

'मरीचिपेभ्यः'— मृङ् प्राण त्यागे (तुदादिः) अस्मादीचिः (उणा०) 'अंशो'—प्राण एवांशुरुदानोऽदाभ्यः । चक्षुः एवांशुः श्रोत्रमदाभ्यः प्रजापातिर्वा एष यदंशुः । श० ४ । ६ । १ । १ ॥ अंशुर्वै नामग्रहः स प्रजापतिः । ४ । १ ॥ १ । २ ॥ सोऽस्य एष आत्मैव । ४ । ६ । २ । १ ॥ 'सत्यम्' त्रयी सा विद्या तत्सत्यम् । श० ८ । ५ । १ । १८ ॥ सत्यं वा ऋतम् । श० ७ । ३ । १ । २३ ॥ यो वै धर्मः सत्यं वै तत् । सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति । धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति । श० १४ । ४ । २ । २६ ॥ समूलो ह वा एष परिशुष्यति य एवानृतं वदति ॥ बृहदा० उप० ॥

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम् ।
उरुष्य राय एषो यजस्व ॥ ४ ॥

इन्द्रो मघवा देवता । आर्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे मघवन् ! ऐश्वर्यवन् ! तू (उपयामगृहीतः असि) तू 'उपयाम' इस समस्त पृथिवी के शासन-चक्र द्वारा गृहीत है । तुझे समस्त पृथ्वी देकर उसके बदले में तुझे राजकार्य में लगाया गया है । हे (मघवन्) ऐश्वर्य-सम्पन्न ! तू (अन्तः यच्छ) राष्ट्र का भीतर से नियन्त्रण कर और (सोमम् पाहि) सोम राजा या राष्ट्र की रक्षा कर । (रायः उरुष्य) समस्त पशु आदि ऐश्वर्यों की रक्षा कर और (इषः) अन्नों को (आ यजस्व) प्राप्त कर अर्थात् प्रजा से अन्नादि रूप में कर ले और भूमि को प्राप्त कर । शत०

४—'रायावेषो'० इति काण्व० ।

४ । १ । २ । १५ ॥ 'उपयामः'—इयं पृथिवी वा उपयामः । इयं वा इदमन्नाद्यमुपयच्छति पशुभ्यो मनुष्येभ्यो वनस्पतिभ्यः । श० ४ । १ । २ । ८ ॥

अध्यात्म में—हे साधक ! तू (उपयाम-गृहीतः) स्वीकृत यम नियमादि द्वारा गृहीत है । प्राणादि को भीतर वश कर । योग सिद्ध ऐश्वर्य्य रूप सोम का पालन कर । ऋद्धि, सिद्धि रूप ऐश्वर्य्य और इच्छाओं की भी रक्षा कर ॥

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥ ५ ॥

मघवा ईश्वरो देवता । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे मघवन् ! इन्द्र ! राजन् ! (ते अन्तः) तेरे शासन के भीतर (द्यावा पृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (दधामि) स्थापित करता हूँ । और (ते अन्तः) तेरे ही शासन के भीतर (उरु) विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी (दधामि) स्थापित करता हूं । अर्थात् तीनों को तेरे वश में रखता हूं अथवा तुझे तीनों का पद प्रदान करता हूँ । वह 'द्यौ' सूर्य के समान सब का प्रकाशक, एवं समस्त सुखों का वर्षक, पृथिवी के समान सब का आश्रय और अन्तरिक्ष के समान उनका आच्छादक हो । और (अवरैः) अपने से नीचे के (देवेभिः) कर देनेवाले माण्डलिक राजाओं के साथ (सजूः) प्रेमयुक्त व्यवहार करता हुआ, उनका प्रेमपात्र होकर और (परैः च) अपने से दूसरे शत्रु राजाओं के साथ मित्रभाव करके (अन्तर्यामे) अपने राष्ट्र के भीतरी प्रबन्ध में (मादयस्व) समस्त प्रजाओं को सुखी, प्रसन्न कर ।

'अन्तर्यामः'—यद्वा अनेन इमाः प्रजा यतास्तस्मादन्तर्यामो नाम

५—मघवा देवता । 'सर्वा'० । ०न्तरिक्षमन्वेमि ॥ इति काण्व० ॥

सोऽस्य अयमुदानोऽन्तरात्मन् हितः । श० ४ । १ । २ । २ ॥ तेन उ ह असावादित्य उद्यन्नेव इमाः प्रजा न प्रदहति तेनेमाः प्रजास्त्वोताः । श० ४ । १ । २ । १४ ॥

प्रजा का भीतरी प्रबन्ध विभाग 'अन्तर्याम' है । उसके प्रबल होने पर राजा बहुत बलिष्ठ होकर भी अपनी प्रजाओं को नाश नहीं करता । इस भीतरी प्रबन्ध में राजा अपने अधीन राजाओं और शत्रु राजाओं से सन्धि करके उनके साथ एकमति होकर मित्रभाव से रहता और अपनी उन्नति करता है इसी से उसकी प्रजा सुरक्षित रहती हैं ॥ शत०४।१।२॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य॑ऽइन्द्रियेभ्यो॑ दि॒व्येभ्यः॒ पार्थिवेभ्यो॒ मन॑स्त्वाष्टु॒ स्वाहा॑ त्वा सुभव॒ सूर्या॑य दे॒वेभ्य॑स्त्वा मरीचि॒पेभ्य॒ऽउदा॒नाय॑ त्वा ॥ ६ ॥

मघवा इन्द्रो योगी वा देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

भा०—(स्वाङ्कृतः असि० ०मरीचिपेभ्यः) इस भाग की व्याख्या देखो [अ० ७ मन्त्र ३] (उदानाय त्वा) हे राजन् ! अथवा हे उसी के समान बलशालिन् ऐश्वर्यवान् पुरुष ! तुझको शरीर में उदान के समान राष्ट्र में उपराज के पदपर नियुक्त करता हूँ । अथवा राजा को ही दोनों पद दिये जांय ॥ शत० ४ । १ । २ । १७–२७ ॥ यह दूसरा पुरुष भी राजा का सहयोगी उपराज समझा जाना चाहिये ।

अध्यात्म में—वह मुख्य प्राण के शक्ति-सामर्थ्य से इन्द्रियों के लिये हे (सुभव) योगिन् ! (त्वं स्वांकृतः असि) तु स्वांकृत, स्वयं सिद्ध अनादि आत्मा है । तू समस्त इन्द्रियों और दिव्य और पार्थिव बल प्राप्त करने में समर्थ है । (मनः त्वा अष्टु) योग द्वारा मनन शक्ति तुझे प्राप्त हो । (सूर्याय) सूर्य के समान तेजस्वी होने के लिये (मरीचिपेभ्यः

६—'उदानाय त्वा' इत्यस्य ग्रहो देवता । सर्वा० । '०स्वभवस्सूर्याय' इति काण्व० ।

देवेभ्यः) रश्मियों के पालक देव, दिव्य पदार्थों के समान तेजस्वी होने के लिये और (उदानाय) उदान की साधना या उदान के जय से उत्कृष्ट जीवन और बल का साधन करने के लिये तुझे उपदेश करता हूँ ॥ शत० ४ । १ । २ । १७–२४ ॥

आ वायो भूष शुचिपाऽउप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार । उपो तेऽअन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वा ॥ ७ ॥ ऋ० ७ । ९२ । १ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । वायुर्देवता । निचृत् जगती । निषादः ॥

भा०—हे (वायो) वायु के समान देश में तीव्र गति से जाने वाले और शत्रु पर तीव्र गति से आक्रमण करने हारे और शरीर में प्राण के समान राष्ट्र में जीवन या अधिपति रूप से स्थित राजन् ! हे (शुचिपाः) सब व्यवहार में शुद्धता और निष्कपटता, छल-छिद्र रहित-ता के पालन करनेवाले ! सत्य और धर्म के पालक ! राजन् ! हे (विश्व-वार) समस्त प्रजाओं से राजपद पर वरण किये गये ! अथवा सबके रक्षक ! तू (नः) हमारे (उप) समीप (आ भूष) सुशोभित हो। (ते नियुतः सहस्रम्) तेरे अधीन सहस्रों नियुक्त पुरुष अश्व या अश्वारोही हैं। (ते) तेरे (मद्यम्) तृप्ति करनेवाले (अन्धः) अन्न को मैं (उपो अयामि) तुझ तक प्राप्त कराता हूँ । जिसका हे (देव) राजन् ! तू (पूर्व-पेयम्) सबसे प्रथम पान या ग्रहण (दधिषे) करता है। (त्वा) तुझ शक्तिशाली पुरुष को (वायवे) वायु के समान सर्वाश्रय, सर्वरक्षक पदपर नियुक्त करता हूँ । योग्य शक्तिशाली पुरुष को वायु पद पर स्थापित करे ।

अध्यात्म में—हे वायो ! प्राण ! तू शरीर में शुद्धता, दोषनाशक गुण को पालन करता है, शुद्ध कान्ति बनाये रखता है, तू समस्त प्राणियों

का पालक है। तू सदा (आ भूष) शरीर में गति कर । (ते सहस्रं नियुतः) तेरे हजारों प्रवेश द्वार या व्यापन के साधन है। तेरे लिये मैं तृप्तिकारक अन्न नित्य प्राप्त करता हूँ। हे देव प्राण ! तू इस अन्न को सबसे प्रथम ग्रहण करता है। अन्न को वायुरूप प्राण के लिये ग्रहण करते हैं। शत० ४ । १ । ३ । १-१८ ॥

अयं वै वायुः योयं पवते । एष वा इदं सर्वं विविनक्ति । यदिदं किञ्च-विविच्यते । श० १ । १ । ४ । २२ ॥ वायुर्वै देवानामाशुः सारसारितमः । तै० ३ । ८ । ७ । १ ॥ योयं वायुः पवते सैष सोमः । श० ७ । ३ । १ । १ ॥ वायुर्वा उग्रः । श० ६ । १ । ३ । १ १३ ॥ वायुर्वा उपश्रोता गो० उ० २ । १९ ॥ तस्य वायोः मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ रथ-स्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ । श० ८ । ६ । १ । १७ ॥

वायुपदपर अधिष्ठित पुरुष सत्यासत्य का विवेक करता है। वह सब से अधिक तीव्रगामी, बलवान्, उग्र, सबसे ममताशून्य, युद्धशक्ति का अध्यक्ष है।

योगी के पक्ष में—योगी वायु या प्राण के समान व्यापक, यम आदि का पालक, सब आनन्दों को वरणकर्त्ता, उसको हम तृप्तिदायक उत्तम अन्न दें। जिसके आधार पर वह श्रेष्ठ योगबल प्राप्त करता है।

[1]इन्द्र॑वायू ऽइ॒मे सु॒ताऽउप॒ प्रयो॑भि॒रा ग॑तम् । इन्द॑वो वामु॒-शन्ति॒ हि । [2]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि वा॒यव॑ ऽइन्द्रवा॒युभ्यां॑ त्वै॒ष ते॒ योनिः॑ स॒जोषो॑भ्यां त्वा ॥ ८ ॥

मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रवायू देवते । (१) आर्षी गायत्री । (२) स्वराड् आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (इन्द्रवायू) इन्द्र और हे वायो ! हे सेनापते ! और हे न्यायकर्त्तः । दोनों (प्रयोभिः) वेग से चलने वाले अश्वों से तुम दोनों (उप आ गतम्) आओ । (इमे) ये (सुताः) उत्तम रीति से प्रेरित, अपने पदों

पर स्थापित (इन्दवः) ऐश्वर्यवान् और शीघ्रगामी पुरुष (वाम्) तुम दोनों को (हि) निश्चय से (उशन्ति) चाहते हैं । हे राजन् ! तू (उपयामगृहीतः असि) उपयाम, अर्थात् पृथिवी के प्रजाजनों द्वारा स्वीकृत है । तुझे (वायवे) पूर्व कहे वायु पद या विवेचक पद के लिये नियत करता हूँ । और (त्वा) तुझको (इन्द्र-वायुभ्याम्) इन्द्र, सेनापति और वायु, विवेचक, उपद्रष्टा पद के लिये भी नियत करता हूँ । (ते एषः योनिः) तेरा यह आश्रयस्थान या पद है । (त्वा) तुझे (स-जोषोभ्याम्) प्रेम सहित इन्द्र और वायु पद पर अधिष्ठित दोनों शासकों के पद पर शासक नियत करता हूँ । इन्द्र, वायु आदि पद कार्य भेद से भिन्न २ होकर भी सामान्य रूप से राजा के ही पद के भिन्न २ विभक्त रूप हैं ।

योगी पक्ष में—हे (इन्द्रवायू) योग के उपदेष्टा और अभ्यासी जन तुम दोनों को (इमे सुता इन्दवः वाम् उशन्ति) ये समस्त उत्पादित पदार्थ चाहते हैं, तुम इन सहित आओ । हे योग के जिज्ञासो ! तू उपयाम अर्थात् योगाङ्गों द्वारा स्वीकृत है, उसमें अभ्यस्त है । तू वायु ! अर्थात् योग में विचक्षण हो । यह योग ही तेरा (योनिः) दुःखवारक शरण है ॥ शत० ४ । १ । ३ । १९ ॥

[१]अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोमऽऋतावृधा । ममेदिह श्रुतꣳ हवम् । [२]उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा ॥६॥

ऋ० २ । ४१ । ४ ॥

गृत्समद ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । (१) आर्षी गायत्री । (२) आसुरी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—मित्र और वरुण पदाधिकारियों का वर्णन करते हैं । हे (ऋतावृधा) ऋत, सत्य व्यवस्था को बढ़ानेवाले या सत्यधर्म की व्यवस्था से स्वयं बढ़ने वाले (मित्रावरुणा) मित्र, सबसे स्नेह करनेवाले, ब्राह्मण

गण और (वरुण) वरुण, सब दुष्टों का वारण करने वाले, क्षत्रिय (अयं सोमः) यह सोम सर्व प्रेरकरूप से राजा (सुतः) बनाया, अभिषिक्त किया गया है। (इह) इस अवसर पर (मम इत) मेरे ही (हवम्) आज्ञा या अभ्यर्थना का आप दोनों (श्रुतम्) श्रवण करो। हे राजन् (त्वा) तुझे (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्र और वरुण पद के भी वश करने के लिये उन पर शासक रूप से नियुक्त करता हूँ।

अध्यापक और अध्येता के पक्ष में—वे दोनों ऋत = ज्ञान को बढ़ाने वाले हैं। उनका सोम, योगैश्वर्य है। वे दोनों मित्र और वरुण हैं। शिष्य 'मित्र' के समान है, आचार्य उसका पाप से निवारक होने से 'वरुण' है। अथवा आचार्य सुहृत् है और छात्र गुण-दोषवारक होने से 'वरुण' है। अध्यात्म में ज्ञान और बल दोनों मित्र और वरुण हैं।

क्रतुदक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ। एतन्वध्यात्मं, स यदेव मनसा कामयते इदं मे स्यादिदंमे कुर्वीय इति स एव क्रतुरथ यदस्मै तत्समृद्धयते स दक्षः। मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षः। ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणः। अभिगन्ता एव ब्रह्म कर्त्ता क्षत्रियः। इत्यादि। शत० ४। १। ४। १—७॥

रा॒या व॒यꣳस॑स॒वाꣳसो॒ मदे॑म ह॒व्येन॑ दे॒वा यव॑सेन॒ गावः॑। तां धे॒नुं मि॑त्रावरुणा यु॒वं नो॑ वि॒श्वाहा॑ धत्त॒मन॑पस्फुरन्तीमे॒ष ते॒ योनि॑र्ऋता॒युभ्या॑न्त्वा ॥ १० ॥ ऋ० ४। ४२। १०॥

त्रसदस्युर्ऋषिः। मित्रावरुणौ देवते। ब्राह्मी बृहती। मध्यमः॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र और हे वरुण! हे ब्राह्मणगण, और हे क्षत्रगण ? जिस रसपान कराने वाली वेदवाणियों की व्यवस्था के अनुसार (वयम्) हम लोग (राया) ऐश्वर्य का (ससवाँसः) विभाग करते हुए जैसे (देवाः) देव, विद्वान्‌गण अपने अभिलषित ज्ञान से और (गावः यवसेन) गौ आदि पशु जिस प्रकार दैनिक चारा पाकर प्रसन्न

होते हैं उसी प्रकार प्रसन्न हों (ताम् धेनुम्) उस धेनु, सर्वरस पिलाने वाली वाणी, गौ और पृथिवी को (युवम्) आप दोनों (विश्वाहा) सब दिन, नित्य (अनपस्फुरन्तीम्) विना कष्ट के, व्यथारहित रूप से, उसें विना तड़पाए (धत्तम्) उसका धारण पोषण करो। या उसका ऐसे पालन करो कि वह कष्ट पाकर किसी और के पास न चली जाय। हे राजन् ! (एष ते योनिः) तेरा यही ब्राह्मणगण और क्षत्रियगण, मित्र और वरुण दोनों आश्रय स्थान हैं। (ऋतायुभ्याम् त्वा) अर्थात् सत्य ज्ञान और आयु अर्थात् निर्विघ्न दीर्घ आयु दोनों के प्राप्त करने के लिये (त्वा) तुझ योग्य पुरुष को नियुक्त करता हूँ। शत०—४। १। ४। १० ॥

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा ॥११॥

ऋ० १। २२। ३ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः। अश्विनौ देवते। ब्राह्मी उष्णिक्। ऋषभः ॥

भा०—हे (अश्विना) हे सूर्य और चन्द्र या सूर्य और पृथिवी के समान परस्पर नित्य मिले हुए राजा और प्रजाजनो ! या स्त्री पुरुषो ! (या) जो (वाम्) तुम दोनों वर्गों की (मधुमती) मधुर, आनन्दप्रद, रस से युक्त (सूनृतावती) उत्तम सत्य ज्ञान से पूर्ण (कशा) वाणी है (तया) उससे (यज्ञम्) इस राष्ट्र रूप यज्ञ को (मिमिक्षतम्) सेचन करते रहो, उससे इसमें निरन्तर आनन्द की वृद्धि करते रहो। हे योग्य पुरुष ! राजन् ! (उपयाम-गृहीतः असि) देश के शासन द्वारा तू बद्ध है। (त्वा) तुझको (अश्विभ्याम्) देश के स्त्री और पुरुष दोनों की उन्नति के लिये नियुक्त करता हूँ। (एष ते योनिः) तेरे लिये यही आश्रय है। (त्वा) तुझको (माध्वीभ्याम्) मधु, उत्तम रस के प्रदान करने वाली, नीति और शक्ति दोनों के लिये प्रतिष्ठित करता हूँ।

शिष्य अध्यापक के पक्ष में—वे दोनों सूर्य चन्द्र के समान प्रकाशित हैं, उनकी मधुमयी, ज्ञानमयी मधुर वाणी उनके ज्ञान-यज्ञ को बढ़ावे। यही उनका आश्रय है। शत० ४ । १ । ५ । १५ ॥

[1]तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदꣳ स्वर्विदम्। प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे। [2]उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥१२॥ ऋ० ५ । ४४ । १ ॥

काश्यपोवत्सार ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । (१) निचृदार्षी जगती । निषादः । (२) पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (प्रत्नथा) अपने से पूर्वकाल के, (पूर्वथा) अपने से पूर्व या अधिक बलशाली राजाओं के, (विश्वथा) समस्त देशों के और (इमथा) इन प्रत्यक्ष वीर पुरुषों के समान (ज्येष्ठतातिम्) सब से ज्येष्ठ, उत्तम गुणशाली, (बर्हि-षदम्) उच्च आसन पर विराजमान, (स्वः-विदम्) तापकारीबल और तेज के धारण करनेवाले (प्रतीचीनम्) शत्रु के प्रति चढ़ाई करनेवाले, (वृजनम्) शत्रुओं को वारण करनेवाले, (धुनिम्) शत्रुओं को कंपा देनेवाले, उनको धुन डालने वाले, (आशुम्) अति शीघ्रकारी, सिद्धहस्त, (तम्) उस प्रसिद्ध, विख्यात पुरुष को (यासु) जिन जिन दिशाओं और प्रजाओं में (दोहसे) पूर्ण करता है, उनमें ही तू उसके अनुकूल होकर (अनु वर्धसे) स्वयं वृद्धि को प्राप्त होता है। अथवा ऐसे बलवान् पुरुष को साथ लेकर जिन प्रजाओं में तू स्वयं बढ़ता है तू उनके (प्रतीचीनं वृजनं दोहसे) शत्रु के प्रतिगामी बलको प्राप्त करता है। हे वीर पुरुष ! राजन् ! (उपयाम-गृहीतः असि) तुझे उपयाम, अर्थात् पृथिवी

१२—उपयामेति प्रजापति ऋषिः, शुक्रो देवता, सामगायत्री ग्रहणे विनियोगः इति पद्धति पाठः । 'दोहसे गिराशु०' इति ऋग्वेदे पाठः ॥

निवासी प्रजातन्त्र ने स्वीकार किया है। (शण्डाय त्वा) बल के कारण पदयुक्त पुरुष के कम्पन के निमित्त (त्वा) तुझको इस पद पर नियुक्त करते हैं। (एषः ते योनिः) तेरे लिये यही योग्य पद है। तू (वीरताम्) अपने वीर्य, वीरस्वभाव या वीर जनों की (पाहि) रक्षा कर। (शण्डः) बलके मद में मत्त शान्ति नाशक पुरुष भी (अपमृष्टः) प्रजा से पृथक् कर दिया जाय। और (शुक्र-पाः) वीर्य के पालन करनेवाले, बलवान् (देवाः) युद्ध विजयी पुरुष भी तुझसे स्नेह करें, या तेरे लिये कार्य करें। और हे प्रजे! या हे राजशक्ते! इस प्रकार तू (अनाधृष्टः असि) कभी शत्रुओं द्वारा दबाई या पीड़ित नहीं की जा सकती। शत० ४। १। ९॥

योगी के पक्ष में—हे योगिन्! तू (उपयाम-गृहीतः असि) योग के यमादि अंगों में अभ्यस्त हो। यही तेरा आश्रय है। इनसे (अपमृष्टः) शुद्ध होकर (शण्डः = शं-डः) शान्त स्वभाव होकर (यासु) जिन योग-क्रियाओं में (वर्धसे) तू वृद्धि को प्राप्त हो और पूर्व के अभ्यासी लोगों के समान, (ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदं प्रतीचीनमाशुं जयन्तं धुनिं वृजनं च दोहसे) सब से उत्तम, आत्मस्थ, सुखकारी, विषयों के विरोधी, जयप्रद योगबल को प्राप्त करता है (तं) उसको (शुक्रपाः देवाः) वीर्यपालक, ब्रह्मचारी विद्वान् प्राप्त करावें। तू अपनी वीरता या बल-वीर्य की रक्षा कर। तेरा वीर्य कभी खण्डित न हो। यह मन्त्र पुत्र-प्रजनन पक्ष में भी लगता है। इस प्रकरण में सृष्टि-उत्पत्ति का रूप भी कहा है।

[1] सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः [2] शुक्रस्याधिष्ठानमसि॥ १३॥

विश्वेदेवा देवताः। (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः। (२) प्राजापत्या गायत्री। षड्जः॥

भा०—हे वीर पुरुष ! तू (सु-वीरः) उत्तम वीर होकर और (वीरान्) और वीर पुरुषों को उत्पन्न करता हुआ (परि इहि) राष्ट्र से परे, दूर देशों में जा । और (रायः पोषेण) धन-ऐश्वर्य की समृद्धि सहित (यजमानम्) अपने दानशील वृत्तिदाता राजा को (अपि इहि) प्राप्त हो । इस प्रकार (दिवा) सूर्य और (पृथिव्या) पृथिवी से (संजग्मानः) सदा संगति लाभ करता हुआ उनके समान गुणवान् , तेजस्वी और सर्वाश्रय, ध्रुव, स्थिर होकर (शुक्रः) तेजस्वी सूर्य के समान (शुक्रशोचिषा) शुद्ध कान्ति से युक्त होकर विराजमान हो । इस प्रकार से राज्य के भीतर (शण्डः) शान्तिभंगकारी बलवान् वीर पुरुष भी (निरस्तः) देश से बाहर कर दिया जाय । हे राजन् ! तू स्वयं (शुक्रस्य) तेजस्वी सूर्य का (अधिष्ठानम् असि) अधिष्ठान, परम पद है ॥ शत० ४ । २ । १ । १६ ॥

योगी के पक्ष में—उत्तम वीर के समान योगी वीर्यवान् गुणों को उत्पन्न करके ऐश्वर्य से युक्त हो, शुद्धकान्ति से (निरस्तः) विषय वासना रहित, शान्त होकर वीर्य का आश्रय बने ॥

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम । सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः ॥ १४ ॥

विश्वेदेवा देवताः । स्वराड् जगती । निषादः ॥

भा०—हे (देव सोम) प्रकाशमान ! सबके प्रेरक राजन् ! (सुवीर्यस्य ते) उत्तम वीर्यवान् तेरे (अच्छिन्नस्य) अच्छिन्न, अटूट, अक्षय (रायः पोषस्य) धनैश्वर्य की समृद्धि के हम प्रजाजन (ददितारः) देनेवाले (स्याम) हों । (सा) वह राजशक्ति ही (विश्व-वारा) समस्त राष्ट्र की रक्षा करने वाली (प्रथमा संस्कृतिः) सबसे उत्कृष्ट रचना है । (सः) इस प्रकार का बनाया हुआ राजा (प्रथमः) सब से उत्तम, प्रजा

१४—अच्छिन्नस्य सौम्यम् । सा प्रथमैन्द्री त्रिष्टुप् । सर्वा० ॥

का रक्षक, (मित्रः) सर्वोत्तम प्रजा का स्नेही और (प्रथमः अग्निः) सर्वोत्तम, अग्रणी नेता है। शत० ४ । २ । १ । २१ ॥

शिष्य-अध्यापक पक्ष में—हे शिष्य ! उत्तम वीर्यवान् अखण्ड ब्रह्मचारी को हम ज्ञान ऐश्वर्य के देनेवाले हों। यह शिक्षा सर्वश्रेष्ठ एवं सबको स्वीकार करने योग्य है। हम में से तुझे पाप से वारक अग्नि, आचार्य तेरा मित्र के समान स्नेही है।

ईश्वर पक्ष में—हे देव ! सोम! परमेश्वर ! महान् वीर्यवान्! (अच्छिन्नस्य) अखण्ड ऐश्वर्य के परिपोषक तेरे हम सदा (ददितारः) देनेवाले, देनदार, ऋणी रहें। वही पमेश्वरी शक्ति सबसे उत्तम संस्कृति है, जो सबकी रक्षा करती है। वह परमेश्वर ही सब से श्रेष्ठ प्रथम, आदि मूल वरुण, मित्र और अग्नि है ॥

स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्माऽइन्द्राय सुतमा जुहोत स्वाहा। तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहा याऽड्ग्नीत् ॥ १५ ॥

विश्वेदेवा देवताः । निचृद् ब्राह्म्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(सः) वह (प्रथमः) सब से प्रथम, सर्वश्रेष्ठ (चिकित्वान्) विद्वान्, (बृहस्पतिः) बृहती, वेदवाणी का पालक है। हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (तस्मै इन्द्राय) उस ऐश्वर्यवान् राज्य-पद के लिये (सुतम्) इस राष्ट्र के राजत्व पद को (स्वाहा) उत्तम शासन, वशकारिणी शक्ति से (आजुहोत) प्रदान करो। और (होत्राः) राजा के मुख्य अधिकारी, जो राज्य के महान् कार्य को चलाने में समर्थ हैं, वे राज्य की विभाजक शक्तियां (मध्वा) मधुर अन्न आदि भोग्य पदार्थों से (तृम्पन्तु) तृप्त हों। (यत्) क्योंकि (याः) जो (स्विष्टाः) उत्तम

१५—होता देवता । अनन्त० । ०मधार्यत स्विष्टं यत् सुभृतं यत्स्वाहा ॥ इति का०

रीति से अपना भाग प्राप्त करके, (याः सुप्रीताः) जो सुप्रसन्न होकर और (सु-हुताः) उत्तम रीति से आदर-मान पाकर (स्वाहा) राष्ट्र को उत्ताम रीति से वहन करती हैं। इस प्रकार (अग्नीत्) अग्रणी नेता को प्रज्वलित करने हारा, राष्ट्र यज्ञ का प्रमुख पुरुष (अयाड्) उस कार्य का सम्पादन करे। शत० ४। २। १। २७, २८॥

'होत्राः'— अंगानि वाव होत्रकाः। ऋतवो वा होत्राः गो० ३०६। ६। 'अग्नीत्'— यज्ञमुखं वा अग्नीत्। गो० उ० ३। १८॥

गृहस्थ पक्ष में —होत्राः = स्त्रियें। सुत = वीर्य। अग्नीत् = पुत्र। बृहस्पति = पुरुष॥

[1] अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने। इममपाᳬसंगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रां मतिभी रिहन्ति। [2]उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा॥ १६॥

वेनो देवता। (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः। (२) गायत्री। षड्जः॥

भा०—(अयं) यह (वेनः) कान्तिमान् राजा उत्पन्न होने वाले बालक के समान है। (रजसः विमाने) गर्भस्थ जल के विशेष रूप से बने स्थान में स्वयं (ज्योतिः-जरायुः) बच्चा जिस प्रकार जेर में लिपटा रहता है उसी प्रकार वह राजा भी (रजसः विमाने) समस्त लोकों के बने विशेष संगठन के भीतर ज्योति, प्रकाश, तेज रूप जेर से लिपटा रहता है। बच्चा जिस प्रकार (पृश्नि-गर्भाः चोदयत्) माता के पेट के जलों को प्रथम बाहर फेंकता है उसी प्रकार यह राजा भी ज्योति के धारण करने वाले सूर्यवत् तेजस्वी पुरुष अपने भीतर ग्रहण करनेवाली प्रजाओं को (चोदयत्) प्रेरित करता है। (अपां संगमे) जलों के एकत्र हो जाने पर जिस प्रकार बच्चे को अंगुलियों के दबाव से बाहर कर लिया जाता है उसी

१६—अयं वेनो वेनस्य। सामस्तुतिराधिदैवतमाधियज्ञं च। सर्वा०।

प्रकार (विप्राः) मेधावी विद्वान् पुरुष (शिशुं न) बालक के समान ही (सूर्यस्य) सूर्य के समान, प्रचण्ड ताप के कारण (शिशुम्) प्रशंसनीय, या उसके समान दानशील राजा को (अपां संगमे) प्रजाओं के एकत्र होने के अवसर पर (मतिभिः) अपनी ज्ञानमय स्तुतियों से (रिहन्ति) अर्चना करते हैं। हे योग्य पुरुष ! (त्वम्) तू उपयाम-गृहीतः असि) राज्य के नाना अंगों, या राष्ट्र के समस्त भागों से स्वयं राजा रूप में स्वीकृत है। (त्वा) तुझको (मर्काय) मर्क अर्थात् शरीर में जिस प्रकार समस्त अंगों में प्राण वायु चेष्टा करता है उसी प्रकार समस्त राष्ट्र में विशेष प्रेरणा देने वाले उत्तेजक पुरुष के पद पर तुझे नियुक्त करता हूँ। शत० ४। २। १। ८—१० ॥

'मर्काय' मर्चतेः कन् (उणा०)। मर्चति चेष्टते असौ इति मर्कः शरीर-वायुर्वा।

चन्द्रपक्ष में—यह (वेनः) कान्तिमान् चन्द्र (रजसः विमाने) जल के निर्माण अर्थात् वर्षाकाल में (ज्योतिर्जरायुः) दीप्ति में लिपट कर (पृश्निगर्भाः चोदयत्) अन्तरिक्ष या वातावरण में स्थित जलों को वर्षा वा ओस रूप में प्रेरित करता है। और जलों के प्राप्त हो जाने पर विद्वान् लोग सूर्य के पुत्र के समान इसकी स्तुति करते हैं ॥

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता। आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णोऽअस्याश्रीणीतादिशं गभस्तावेष ते योनिः प्रजाः पाह्यपमृष्टो मर्को देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥ १७ ॥ ऋ० १० । ६१ । ३ ॥

विश्वेदेवाः देवताः । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

१७—मनो न त्रिष्टुप् सोमस्तुतिराधियज्ञानुवादिनी । अपमृष्टः शत द्वे अभिचारिके, देवास्त्वा शुक्रामन्थितौ अनाधृष्टासि दक्षिणोत्तरवैदिश्रोण्यौ । सर्वा० ॥

भा०—हे राजन् ! हे प्रजाजन ! (येषु) जिन (हवनेषु) युद्ध के अवसरों पर (मनः न) मन के समान (तिग्मं) तीक्ष्ण, अति तीव्रगति वाले (विपः) विपश्चित्, या कार्यकुशल पुरुष को (शच्या) अपनी शक्ति या सेना से (द्रवन्तौ) गमन करते हुए (वनुथः) प्राप्त करते हैं। और जो (तुविनृम्णाः) बहुत ऐश्वर्यवान् (अस्य) इस राजा के लिये (आदिशम्) प्रत्येक दिशा, या देश में (गभस्तौ) अपने ग्रहण या आक्रमण या देश विजय करने के बल पर (शर्याभिः) शर प्रहार करने वाली सेनाओं से (आश्रीणीत) सब प्रकार राजा का आश्रय करता या उसके शत्रु को संतप्त करता है, हे वीर पुरुष ! (एषः) यह प्रजा भी (ते योनिः) तेरा आश्रय स्थान, या पद है। तू (प्रजाः पाहि) प्रजाओं का पालन कर, इस प्रकार (मर्कः) प्रजा पर मृत्यु का दुःख डालने वाले शासकों का दुर्नय या दुष्प्रबन्ध और उसके कारण उत्पन्न होने वाला पारस्परिक घात-प्रतीघात या महामारी आदि जनपदोध्वंसक रोग (अपसृष्टः) दूर किया जाय। हे राजन् (त्वा) तुझको (मन्थिपाः) शत्रुओं को मथन करने वाले पुरुष के रक्षक (देवाः) विजिगीषु लोग (प्र नयन्तु) आगे विजय मार्ग पर ले चलें। हे प्रजे ! इस प्रकार तू (अनाधृष्टा असि) शत्रुओं द्वारा कभी पीड़ित नहीं हो सकती। शत० ४। २। १। ११॥

राजा एक ऐसे विद्वान् को नियुक्त करे जो युद्ध के अवसरों पर मन के समान तीक्ष्ण मननशील हो। राजा प्रजा उसकी शक्ति से सब कार्यों में आगे बढ़ें। वह प्रत्येक दिशा में शत्रुओं को पराजित करे। उसको उचित आश्रय दे। जो राजा प्रजा का पालन करे, आक्रामक शत्रु का नाश करे उसका नाम 'मन्थी' है। उसकी आज्ञा के पालक राजा को आगे बढ़ावें, प्रजा सुरक्षित रहे। प्रजानाशक समस्त कारण प्रायः अधर्म मूलक होते हैं (चरक)॥

[१] सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्।

संजग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा निरस्तो मर्को ² मन्थिनोऽधिष्ठानमसि ॥ १८ ॥

प्रजापतिर्देवता । (१) निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) प्राजापत्या गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे विद्वन् ! तू (सु-प्रजाः) उत्तम प्रजावान् होकर (प्रजाः) उत्तम प्रजाओं को (प्रजनयन्) बनाता या उत्पन्न करता हुआ (परि इहि) सर्वत्र गमन कर । (यजमानम्) तू भृति, वेतन एवं समस्त ऐश्वर्य को देने वाले राजा के समीप (रायः पोषेण अभि इहि) ऐश्वर्य की समृद्धि सहित प्राप्त हो । (दिवा) द्यौ या सूर्य के समान तेजस्वी राजा और (पृथिव्या) सर्वाश्रय, प्रजा दोनों के साथ (सं-जग्मानः) सत्संग करता हुआ (मन्थी) शत्रुओं, या असत्य और अविद्या का मथन या विनाश करने वाला होकर विद्यमान रह । (मन्थि-शोचिषा) ऐसे मथनकारी के तेज से (मर्कः) प्रजा के मृत्यु के कारण-रूप अन्यायी पुरुष एवं शत्रु, दुष्ट, हिंसक पुरुष वा रोग आदि को (निरस्तः) दूर कर दिया जाय । हे राजन् ! तू (मन्थिनः) उक्त प्रकार के शत्रु या दुष्ट पुरुषों के नाश करने वाले पुरुष का भी (अधिष्ठानम् असि) अधिष्ठाता, आश्रयदाता है। शत० ४ । २ । १ । १५—२१ ॥

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ । अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥ १९ ॥

परुच्छेप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । भुरिगार्षी पंक्तिः । धैवतः ॥

भा०—हे (देवासः) विद्वान् ! देव ! पुरुषो ! आप लोग (ये) जो

१८—सुप्रजाः शुक्रामन्थिनौ । निरस्तो द्व अभिचारके । शुक्रस्य मान्थिनः शाकलम् । सर्वा० ।

(दिवः) सूर्य के समान तेजस्वी राजा के अधीन (एकादश स्थ) ११ राजसभा के सभासद हो, और आप लोग (पृथिव्याम् अधि) पृथिवी, पर (एकादश स्थ) ११ देव, अधिकारी गण हो । और (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से (अप्सु-क्षितः) प्रजा में निवास करने वाले आप लोग एकादश स्थ) ११ हो, वे सब मिल कर (इमं) इस (यज्ञम्) यज्ञ को (जुषध्वम्) सेवन करें, उसमें अपना भाग लें ।

अर्थात् जिस प्रकार शरीर की रचना में, मूर्धा भाग में प्राण, अपान, उदान,, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और ये ११, पृथिवी में पृथिवी, आपः, तेज, वायु, आकाश, आदित्य, चन्द्र नक्षत्र, अहंकार, महत् तत्त्व और प्रकृति ये ग्यारह और प्राणों में श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, हाथ, पाद, गुदा, मूत्राशय, और मन ये ग्यारह प्राण विद्यमान हैं और क्रम से शरीर और ब्रह्माण्ड के देहों को धारण करते, यथावत् समस्त कार्य चला रहे हैं उसी प्रकार राष्ट्रदेह में, राजा के साथ ११-११ विद्वान् प्रतिनिधि मिलकर सभाएं बना कर कार्य संचालन करें । शत० ४ । २ । २ । १९ ॥

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः । पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभि सवनानि पाहि ॥ २० ॥

यज्ञो देवता । निचृदार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे सभापते ! तू (उपयामगृहीतः असि) राष्ट्र के नियम व्यवस्था द्वारा स्वीकृत है । तू (आग्रयणः असि) 'आग्रयण' अग्र अर्थात् मुख्य २ पद प्राप्त करने योग्य है । और तू (सु-आग्रयणः) उत्तम पूजा योग्य, अग्रपद प्राप्त, सर्वोच्च पदाधिकारी (असि) है । तू (यज्ञम् पाहि)

२०—आग्रयणोऽसि लिंगोक्तदेवतम् ।

इस व्यवस्थित राष्ट्र का पालन कर और (यज्ञ-पतिम्) यज्ञ या राष्ट्र के पालक स्वामी की भी (पाहि) रक्षा कर । हे राष्ट्र ! (विष्णुः) सब शक्तियों और राष्ट्र के विभागों में समानरूप से व्यापक राजा (त्वाम्) तुझको (इन्द्रियेण) अपने इन्द्र, ऐश्वर्यभाजन पदयोग्य राजबल से (पातु) पालन करे ।(त्वम्) तू हे विद्वन् ! या प्रजाजन ! (विष्णुम्) उस व्यापक शक्तिमान् राजा को (पाहि) पालन कर और तू (सवनानि) समस्त ऐश्वर्य के द्योतक अधिकार पदों की भी (पाहि) रक्षा कर ॥ शत० ४ । २ । २ । ९-१० ॥

[१] सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवतऽइषऽऊर्जे पवतेऽद्भ्यऽओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः [२]ऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ २१ ॥

सोमो देवता । (१) स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) जगती । निषादः ॥

भा०—(सोमः) सर्वप्रेरक राजा (पवते) अपने कार्य में और सूर्य के समान राष्ट्र के सब कार्यों में प्रवृत्त होता और अन्यों को भी प्रेरित करता है । (सोमः पवते) राजा, सोम अर्थात् चन्द्र के समान या वायु के समान सर्वत्र जाता है । (अस्मै ब्रह्मणे) महान् परमेश्वर के बनाये नियम, वेद और ब्रह्मचर्य के पालन कराने के लिये ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण, विद्वान् प्रजा के लिये, (अस्मै क्षत्राय) इस क्षत्र, वीर्यवान् क्षत्रिय, वीर प्रजा के लिये, और (अस्मै सुन्वते यजमानाय) इस समस्त विद्याओं के सिद्धान्तों को प्रकट करनेहारे, विद्या आदि प्रदान करनेवाले, सर्वसम्मत विद्वान् या ब्रह्मोपासक पुरुष की रक्षा और वृद्धि के लिये (पवते) राज्य में उद्योग

२१—सोमः पवत वैश्वदेवम् । सर्वा० ॥ 'अस्मै ब्रह्मणे पवतेऽस्मै क्षत्राय पवतेऽस्मै सु० ०सुभूताय पवते ब्रह्मवर्चसाय पवते ।' इति काण्व० ॥

करता है। वह राजा और विद्वान् पुरुष अपने राष्ट्र में (इषे, ऊर्जे) अन्न उत्पन्न करने और उससे बल प्राप्त करने के लिये (पवते) उद्योग करता है। वह (अद्भ्यः ओषधीभ्यः पवते) उत्तम जल और उत्तम ओषधियों के संग्रह के लिये उद्योग करता है। (द्यावापृथिवीभ्याम् पवते) द्यौ, सूर्य के प्रकाश, एवं उत्तम वृष्टि और पृथिवी के उत्तम २ पदार्थों की उन्नति के लिये अथवा, आकाश और पृथिवी दोनों के बीच में विद्यमान समस्त ऐश्वर्यों के लिये, उत्तम पिता और माता, स्त्री और पुरुषों की उन्नति के लिये (पवते) चेष्टा करता है। वह (सुभूताय पवते) उत्तम भूति, ऐश्वर्य की प्राप्ति, सबके उत्तम उपकार और उत्तम सन्तान की उन्नति के लिये उद्योग करता है। हे राजन् ! (त्वा) तुझको हम (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त देवों, राजाओं, विद्वानों, शासकों एवं वायु, विद्युत्, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि दिव्य पदार्थों के उपकार और सद् उपयोग के लिये स्थापित करता हूँ। (ते एषः योनिः) तेरा यह आश्रय स्थान, पद या आसन है, (विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा) समस्त देवों, उत्तम विद्वान्, सत्पुरुषों के लिये तुझे नियुक्त करता हूँ। शत० ४। २। २। ११-१३ ॥

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि । यत्तऽइन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वैष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥ २२ ॥

ऋ० ६। ५१। १-२ ॥

विश्वेदेवा देवताः। ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—हे उत्तम, वीर पुरुष ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) तू राज्य के उत्तम नियमों द्वारा 'गृहीत' अर्थात् बंधा हुआ है। (उक्थाव्यम्) उत्तम ज्ञानों की रक्षा करने वाले (त्वा) तुझ विद्वान् को मैं (इन्द्राय) परम

२२,२३—इन्द्रायत्वा लिंगोक्तानि। ०'उक्था युव०' ०'देवायुव० ॥

ऐश्वर्य युक्त (बृहद्वते) बड़े भारी राष्ट्र के कार्यों से युक्त (वयस्वते) अति दीर्घ जीवन वाले पद या राजा के लिये (गृह्णामि) नियुक्त करता हूँ। हे (इन्द्र) इन्द्र, परमैश्वर्यवन्! राजन् अथवा! सेनापते! (यत् ते) जो तेरा (बृहत्) महान् राज्य और (वयः) जो तेरा यह दीर्घजीवनसाध्य कार्य है (तस्मै) मैं उसके लिये (त्वा) तुझको नियुक्त करता हूँ। (विष्णवे त्वा) तुझे राज्यपालन रूप, विष्णु अर्थात् व्यापक राष्ट्र के पालन कार्य के लिये नियुक्त करता हूँ। (एषः ते योनिः) यह तेरा आश्रय स्थान या पद है। (देवाव्यम्) देव, विद्वानों, शासकों और पदाधिकारियों और अधीन राजाओं के रक्षक (त्वा) तुझको (देवेभ्यः गृह्णामि) उन देवों अर्थात् विद्वान् पदाधिकारी, अधीन राजाओं की रक्षा के लिये भी नियुक्त करता हूँ। और मैं तुझे (यज्ञस्य) इस 'यज्ञ' अर्थात् राज्य-व्यवस्था के (आयुषे) दीर्घजीवन के लिये भी (गृह्णामि) नियुक्त करता हूँ। शत० ४। २। २। १-१० ॥

[१]मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[२]न्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[३]न्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[४]न्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[५]न्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥ २३ ॥

विश्वेदेवा देवताः। (१) अनुष्टुप्। (२) प्रजापत्यानुष्टुप्। (३) स्वराट् साम्न्यनुष्टुप्। गांधारः स्वरः। (४) भुरिगार्ची गायत्री। षड्जः। (५) भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्। गांधारः ॥

भा०—हे सभापते या राजन्! (देवाव्यं त्वा) देव, विद्वानों और अधीन राजाओं के रक्षक तुझको (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्र और वरुण इन

२३—'देवायुवं ०सर्वत्र काण्व० ॥

पदों पर (यज्ञस्य आयुषे) राष्ट्रव्यवस्था के दीर्घ जीवन के लिये (गृह्णामि) नियुक्त करता हूँ। हे राजन्! (देवाव्यम् त्वा) विद्वानों और राजा आदि जनों के रक्षक तुझको (इन्द्राय, यज्ञस्य आयुषे, गृह्णामि) इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् सेनापति पद पर राष्ट्रमय यज्ञ के दीर्घ जीवन के लिये नियुक्त करता हूँ (देवाव्यम् इन्द्राग्निभ्याम् यज्ञस्य आयुषे त्वा गृह्णामि) देवों, विद्वान् पुरुषों के रक्षक तुझको इन्द्र और अग्नि पद अर्थात् इन्द्र, राजा और अग्नि, दुष्टों के संतापक और अग्रणी पद पर राज्य की दीर्घायु के लिये नियुक्त करता हूं। (त्वा देवाव्यं इन्द्रावरुणाभ्याम् यज्ञस्य आयुषे गृह्णामि) देवों के रक्षक, तुझको इन्द्र और वरुण पद पर यज्ञ की दीर्घायु के लिये नियुक्त करता हूँ। (त्वा देवाव्यं इन्द्राबृहस्पतिभ्यां यज्ञस्य आयुषे गृह्णामि) देवों के रक्षक तुझे इन्द्र और बृहस्पति पद पर राज्य के दीर्घ जीवन के लिये नियुक्त करता हूँ। (इन्द्र-विष्णुभ्यां त्वा, देवाव्यं यज्ञस्य आयुषे गृह्णामि) देवों के रक्षक तुझको इन्द्र और विष्णु पद पर राज्य की दीर्घायु के लिये नियुक्त करता हूँ। ४। २। १–१८॥

मित्र, वरुण, इन्द्र-अग्नि, इन्द्र-वरुण, इन्द्र-बृहस्पति, इन्द्र-विष्णु ये सब राज्य के विशेष अंग हैं। जिनके पदाधिकारी इन नामों से कहे जाते हैं। उन सबके लिये योग्य पुरुषों को नियुक्त करने और उन सबकी रक्षा के लिये उन सबके ऊपर सबको रक्षा करने में समर्थ एक पुरुष को नियुक्त करने का उपदेश वेद ने किया है। शत० ४। २। २। १–१८

मूर्द्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम्।
कविᳪं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥२४॥

भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। वैश्वानरो देवता। आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः।

२४—मूर्धानं भरद्वाजो वैश्वानरीं त्रिष्टुभम्। सर्वा०। वैश्वानरो देवता ऋग्वेदे। विश्वेदेवाः। द०।

भा०—(देवा.) विद्वान् पुरुष, समस्त राजगण मिलकर (दिवः मूर्धा-नम्) द्यौ लोक, आकाश के शिरोभाग पर जिस प्रकार सूर्य विराजमान है उसी प्रकार समस्त (दिवः) ज्ञान, प्रकाश और विद्वान् पुरुषों के मूर्धन्य शिरोमणि, (पृथिव्याः अरतिम्) पृथिवी में जिस प्रकार भीतरी अग्नि व्यापक है, और अन्तरिक्ष में जिस प्रकार वायु व्यापक है उसी प्रकार पृथिवी निवासी प्रजा में (अरतिम्) प्रेम और आदर पूर्वक सबके भीतर व्याप्त, प्रतिष्ठित (वैश्वानरम्) समस्त विश्व के नेता, समस्त राष्ट्र के नेता रूप (ऋते जातम्) सत्य व्यवहार, ऋत, वेद ज्ञान और (ऋते) राज्य नियम में अति विद्वान्, निष्ठ, (अग्निम्) सबके अग्रणी, ज्ञानवान् (कविम्) क्रान्तदर्शी, मेघावी, (सम्राजम्) अतिप्रकाशमान, सर्वोपरि सम्राट्, (अतिथिम्) अतिथि के समान, पूजनीय, (जनानाम् पात्रम्) समस्त जनों के पालन करने में समर्थ, योग्य पुरुष को (आसन्) मुख अर्थात् सबसे मुख्य पद पर (आ जनयन्त) स्थापित करें । श० ४।२।३।१४ ॥

[१]उपयामगृहीतोऽसि [२]ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तमऽ एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा । ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि । अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत् ॥ २५ ॥

वैश्वानरो देवता । (१) याजुषी अनुष्टुप् । गांधारः । (२,३) विराड् आर्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे सम्राट् ! पूर्व मन्त्र में कहे सर्वोपरि विराजमान पुरुष ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) समस्त राज्यव्यवस्था के नियमों में बद्ध है। तू (ध्रुवः असि) तू ध्रुव, स्थिर है, तुझे शत्रुगण उखाड़ नहीं सकते । तू (ध्रुव-क्षितिः) स्थिर निवासवाला हो अथवा तेरे अधीन यह भूमि सदा स्थिर रूप से रहे । तू (ध्रुवाणां ध्रुवतमः) समस्त स्थिर, अचलरूप से रहने वालों में सबसे अधिक स्थिर, प्रतिष्ठित, तू (अच्युतक्षित्-तमः) शत्रुओं

के आक्रमण से भी अपने आसन से च्युत न होनेवाले, न विनष्ट होनेवाले राजाओं में से भी सबसे अधिक दृढ़ है। (एषः ते योनिः) यह तेरा पद या प्रतिष्ठा स्थान है। हे उत्तम पुरुष ! (त्वा) तुझको मैं (वैश्वानराय) समस्त प्रजाओं के नेतृपद पर नियुक्त करता हूँ। (ध्रुवेण मनसा) मैं ध्रुव, स्थिर चित्त से और (वाचा) वाणी से (सोमम्) सबके प्रेरक, प्रवर्त्तक राजा को (अव नयामि) अभिषिक्त करता हूँ, पद पर प्रतिष्ठित करता हूँ। (अथ) अब, इसके पश्चात् (नः इन्द्रः) तू हमारा इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा होकर (इत्) ही (विशः) समस्त प्रजाओं को (असपत्नाः) शत्रुरहित, (समनसः) समान चित्त वाला, प्रेमयुक्त (करत्) करे, बनावे ॥ शत० ४ । २ । ३ । २४ ॥

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर ! तू यम नियमों से, शास्त्र-सिद्धान्तों से स्वीकृत है। तू ध्रुव, स्थिर, अविनाशी है। आकाश, काल, आत्मा आदि अविनाशी पदार्थों में स्वयं अविनाशी होकर उनमें व्यापक है। उसको मैं एकाग्रचित्त से सबके सोम, सर्व-उत्पादक और सर्वप्रेरक, आनन्दरस रूप से ध्यान करूं। वह हम सबको प्रेममय एक चित्त बनावे।

यस्ते॑ द्र॒प्स स्कन्द॑ति यस्ते॑ऽअ॒ꣳशुर्ग्राव॑च्युतो धि॒षण॑योरु॒पस्था॑त्। अ॒ध्व॒र्य्योर्वा॒ परि॑ वा॒ यः प॒वित्रा॒त्तं ते॑ जुहोमि॒ मन॑सा॒ वष॑ट्कृत॒ꣳ स्वाहा॑ दे॒वाना॑मु॒त्क्रम॑णमसि ॥ २६ ॥

ऋ० १० । १७ । १२ ॥

देवश्रवा ऋषिः । यज्ञो देवता । स्वराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! (ते) तेरा (यः) जो (द्रप्सः) सूर्य के समान तेजस्वी वीर्य और (यः) जो (ते) तेरा (अंशुः) व्यापक सामर्थ्य (धिषणयोः) द्यौ और पृथिवी इन दोनों के (उपस्थात्) समीप से (ग्रावच्युतः) विद्वानों, प्रजाओं द्वारा या वीर सैनिकों द्वारा ज्ञात या

प्रकट होता है, और (यः) जो (अध्वर्योः) अध्वर्यु, अखण्डित, अहिंसित सेनापति या महामन्त्री या राज्य से (वा) अथवा (यः) जो (पवित्रात्) पवित्र अर्थात् सत्यासत्य के निर्णय करनेवाले तेरे व्यवहार से ज्ञात होता है (तत्) उस (ते) तेरे (मनसा) मन द्वारा, मनन द्वारा, या ज्ञानद्वारा (वषट्कृतम्) संकल्प किये गये या निश्चित किये गये स्वरूप, सामर्थ्य या बल, अधिकार को (स्वाहा) उत्तम वेदवाणी द्वारा (जुहोमि) तुझे प्रदान करता हूँ। अथवा वह अधिकार नेता पुरुष को प्रदान करता हूँ। हे राजपद ! (देवान्) तू समस्त देवों, राजाओं और विद्वानों में से (उत्-क्रमणम्) सबसे अधिक ऊंचा जानेवाला (असि) है। शत० ४। २। ४। १, ५॥

'द्रप्सः'—असौ वा आदित्यो द्रप्सः। श० ७। ७। १२०॥

'अंशुः'—प्रजापति र्ह वा एष यदंशुः। सोऽस्य एष आत्मा एव। श० ११। ५। ९। ११॥

'अध्वर्युः'—राज्यं वा अध्वर्युः तै० ३। ८। ५। १॥ मनोऽध्वर्युः। श० १। ५। २१॥

'ग्रावा'—वज्रौ वै ग्रावा। श० ११। ५। ९। ७॥ विशो ग्रावाणः। श० ३। ३। ३॥ विद्वांसो हि ग्रावाणः। श० ३। ९। ३। १४॥

'वषट्कृतम्'—त्रयो वै वषट्काराः वज्रो धामच्छद्रिक्तः। ऐ० ३। ७॥ वज्रो वै वषट्कारः। ऐ० ३। ८॥

'पवित्रात्'—पवित्रं वै वायुः। तै० ३। २। ५। ११॥

[1]प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [2]व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वो [3]दानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [4]वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [5]क्रतुदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [6]श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [7]चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥२७॥

[1]आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौ[2]जसे मे वर्चोदा वर्चसे पव-स्वा[3]युषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व[4] विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चो-दसौ वर्चसे पवेथाम् ॥ २८ ॥

२७—यज्ञपतिर्देवता । (१, २, ६) आसुर्यनुष्टुप् । गान्धारः । (३, ७) आसुर्युष्णिक् । ऋषभः । (४) साम्नी गायत्री । (५) आसुरी गायत्री । षड्जः
२८—यज्ञपतिर्देवता । समूह्येन ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—अब राजा अपने अधीन नियुक्त पुरुषों को अपने राष्ट्र रूप शरीर के अंग मान कर इस प्रकार कहता है । जिस प्रकार शरीर में मुख्य प्राण है, वह आत्मा से उतर कर है, उसी प्रकार आत्मा के समान राजा के समीप का पद 'उपांशु' कहा है । हे उपांशु ! उपराज ! हे सभाध्यक्ष ! तू (वर्चोदाः) वर्चस, तेज का देने वाला है, तू (मे) मेरे (प्राणाय) शरीर में प्राण के समान राष्ट्र में मुख्य कार्य के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) मुझे बल देने वाले ! या बल की रक्षा करने वाले ! तू (व्यानाय) शरीर में व्यान के समान मेरे राष्ट्र-व्यापक प्रबंध के (वर्चसे) बल, तेज की वृद्धि के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) बल और अन्तर्नियन्त्रण के अधिकारी पुरुष ! (मे उदानाय वर्चसे) शरीर में उदान वायु के समान, आक्रमणकारी बल की वृद्धि के लिये तू उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) ज्ञान रूप तेज के प्रदान करने हारे । उस वायु पद के अधिकारी विद्वान् पुरुष ! तू (मे वाचे वर्चसे) शरीर में वाणी के समान वेदज्ञान रूप मेरे तेज की वृद्धि के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) तेज और बलप्रद मित्रावरुण पद के अधि-कारी पुरुष ! तू (क्रतु-दक्षाभ्यां) ज्ञान वृद्धि और बल वृद्धि और (वर्चसे) तेज की वृद्धि के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) बलप्रद 'आश्विन' पद के अधिकारी पुरुष ! तू मे (श्रोत्राय वर्चसे) शरीर में

श्रोत्र के समान राष्ट्र में परस्पर एक दूसरे के दुःख सुख श्रवण करने रूप तेज की वृद्धि के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदसौ) तेज के देने हारे शुक्र और मन्थी पद के अधिकारी पुरुषो ! तुम दोनों (चक्षुर्भ्याम्) शरीर में आंखों के समान कार्य करने वाले अधिकारियों के (वर्चसे) बल वृद्धि करने के लिये (पवेथाम्) उद्योग करो । हे (वर्चोदाः) तेज, बल देने हारे ' आग्रयण ' पद के अधिकारी पुरुष ! तू (मे आत्मने वर्चसे पवस्व) तू मेरे आत्मा या देह के समान राष्ट्र या राजा के बल की वृद्धि के लिये उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) तेज देने वाले उक्थ्य पद के अधिकारी पुरुष ! (ओजसे मे वर्चसे पवस्व) मेरे शरीर में ओजस् के समान राष्ट्र के ओजस्, पराक्रम, वीर्य के बढ़ाने के लिये तू उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) तेज के बढ़ाने वाले ध्रुव पद के अधिकारी पुरुष ! तू (आयुषे मे वर्चसे पवस्व) मेरे शरीर में आयु के समान राष्ट्र के दीर्घ जीवन की वृद्धि के लिये उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) तेज के बढ़ानेवाले पूतभृत् और आहवनीय पद के अधिकारी पुरुषो ! आप दोनों (मे विश्वाभ्यः प्रजाभ्यः वर्चसे पवेथाम्) मेरी समस्त प्रजाओं के तेज बल बढ़ाने का उद्योग करो ।

शरीर में जितने प्राण कार्य करते हैं तदनुरूप राष्ट्र में अधिकारियों को स्थापित करने का वर्णन मन्त्र ३ से २६ तक किया गया है । जिसका तुलनात्मक सार नीचे देते हैं ।

शरीरगत प्राण	राष्ट्रगत पद नाम	मन्त्र संख्या
१ प्राण	उपांशु सवन	देखो मन्त्र ३, ४, ५,
२ व्यान ...	,,	....

शरीरगत प्राण	राष्ट्रगत पद नाम	मन्त्र संख्या
३ उदान	अन्तर्याम	६, ७,
४ वाक्	इन्द्र वायु	८,
५ क्रतु-दक्ष	मित्रावरुण	९, १०,
६ श्रोत्र	आश्विन	११,
७ चक्षुः	शुक्रामन्थिन्	१२,१३,१४,१५,१६,१७,१८,
८ आत्मा	आग्रयण	१९, २०, २१,
९ ओजस्	उक्थ्य	२२, २३,
१० आयुष्	ध्रुव	२४, २५,
११ प्रजा	पूतभृत् आहवनीय	२६,

[१] कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि । यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम । [२] भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ २९ ॥

प्रजापतिर्देवता । (१) आर्ची (२) भुरिक् साम्नी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—राजा नियुक्त अधिकारी का और अधिकारी लोग राजा का परस्पर परिचय प्राप्त करें । हे राजन् ! तू (कः असि) कौन है ? (और कतमः) अपने वर्ग में से कौन सा (असि) है ? (कस्य असि) किस

पिता का पुत्र है। (कः नाम असि) तेरा शुभ नाम क्या है ? (यस्य ते) जिस तेरा (नाम) शुभ नाम (अमन्महि) हम जानें (यं) जिस (त्वा) तुझको (सोमेन) सर्वप्रेरक राजपद करके (अतीतृपाम) हम तुझे तृप्त, सन्तुष्ट करें।

इसी प्रकार राजा भी प्रत्येक अधिकारी का परिचय करे। तू कौन है ? किस वर्ग का है ? किसका पुत्र है ? नाम क्या है ? जिसका वह राजा नाम जाने और जिसको (सोमेन) राज की ओर से दिये जाने वाले धन वा अन्न द्वारा वह तृप्त करे। मैं राजा (भूः) भूमि, (भुवः) अन्तरिक्ष (स्वः) सर्व प्रेरक सूर्य तीनों के ऐश्वर्य से युक्त होकर (प्रजाभिः) इन प्रजाओं से (सुप्रजाः) उत्तम प्रजा से सम्पन्न (स्याम्) होऊं। (वीरैः) इन वीर पुरुषों द्वारा मैं (सुवीरः स्याम्) उत्तम वीर होऊं। (पोषैः) इन पोषक ऐश्वर्यवान् पुरुषों से मिलकर मैं (सुपोषः स्याम्) राष्ट्र का पोषक, समृद्धिवान् हो जाऊं। उव्वट और महीधर के मत से 'कः' प्रजापति है।

[१]उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वो[२]पयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वो[३]पयामगृहीतोऽसि शुक्राय त्वो[४]पयामगृहीतोऽसि शुचये त्वो-[५]पयामगृहीतोऽसि नभसे त्वो[६]पयामगृहीतोऽसि नभस्याय त्वो[७]पयामगृहीतोऽसीषे त्वो[८]पयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वो[९]पयामगृहीतोऽसि सहसे त्वो[१०]पयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वो[११]पयामगृहीतोऽसि तपसे त्वो[१२]पयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वो[१३]पयामगृहीतोऽस्यंहसस्पतये त्वा ॥ ३० ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । १, ३–५, ६, ११ । साम्न्यो गायत्र्यः । षड्जः (२,६,१०,१२) आसुर्योऽनुष्टुभः । गांधारः । ७,८, याजुष्यौ पङ्क्ती । पंचमः । १३ आसुर्युष्णिक् । ऋषभः ॥

३०—मधवे त्वा लिंगोक्तदेवतानि त्रयोदश ।

भा०—प्रजा और राजा के राज्य तन्त्र का संवत्सर रूप से वर्णन करते हैं तदनुसार राज्य के कार्यकर्त्ताओंकी नियुक्ति कहते हैं। हे योग्य पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्यव्यवस्था के नियमों द्वारा नियुक्त किया जाता है। (त्वा मधवे) तुझे 'मधु' पद के लिये नियुक्त करता हूँ। (त्वा माधवाय) तुझको 'माधव' पद के लिये नियुक्त करता हूँ। (त्वा शुक्राय) तुझको 'शुक्र' पद के लिये नियुक्त करता हूँ। (त्वा शुचये) तुझको 'शुचि' पद के लिये नियुक्त करता हूँ। (ऊर्जे त्वा) तुझे 'ऊर्ज्' पद के लिये नियुक्त करता हूँ। (इषे त्वा) तुझे 'इष्' पद के लिये नियुक्त करता हूँ। (सहसे त्वा) तुझे 'सहस्' पद के लिये नियुक्त करता हूँ। (सहस्याय त्वा) तुझे 'सहस्य' पद के लिये नियुक्त करता हूँ। (तपसे त्वा) तुझे 'तपस्' पद के लिये नियुक्त करता हूँ। (तपस्याय त्वा) तुझे 'तपस्य' पद के लिये नियुक्त करता हूँ। और (अंहसस्पतये त्वा) तुझे 'अहंसस्पति' पद के लिये नियुक्त करता हूँ। शत० ४। ३। १। १—२॥

इस प्रकार राजा अपने अधीन १३ पदाधिकारियों को नियुक्त करता है और ये १३ पदाधिकारी राजा ही के मुख्य अधिकार के १३ विभाग हैं इसलिये ये १३ हों अधिकार राजा को भी प्राप्त हो जाते हैं।

जैसे संवत्सर या वर्ष में ६ ऋतुएं और प्रत्येक ऋतु में दो २ मास हैं और १३वां मलमास है उसी प्रकार प्रजापति राजा के अधीन ६ सदस्य और प्रत्येक के अधीन दो २ अधिकारी नियुक्त हैं। जिनमें एक सेनानी, दूसरा ग्रामणी अर्थात् एक सेनापति दूसरा नगराध्यक्ष हो। परन्तु ये समस्त अधिकार राजा को भी प्राप्त हैं अतः प्रत्येक ऋतु भी राजा का एक रूपान्तर है।

(१) 'मधु, माधव'—तस्य (अग्नेः) रथगृत्सश्च रथोजाश्च सेनानी-ग्रामण्यौ इति वासन्तिकौ तावृत्। शत० ८। ६। १। १६॥ एतौ एवं

वासन्तिकौ मासौ । स यद् वसन्ते ओषधयो जायन्ते वनस्पतयः पच्यन्ते तेनोहैतौ मधुश्च माधवश्च ॥ श० ४ । ३ । १ । १४ ॥

(२) 'शुक्रः', 'शुचिः'—एतौ (शुक्रश्च शुचिश्च) एवं ग्रैष्मौ मासौ । स यदेतयोर्बलिष्ठं तपति तेनोहैतौ शुक्रश्च शुचिश्च । श० ४ । ३ । १ । ५ ॥ तस्य वायोः रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ । इति ग्रैष्मौ तावृतू । श० ८ । ६ । १ । १७ ॥

(३) 'नभः', 'नभस्यः'—तस्यादित्यस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ इति वार्षिकौ तावृतू श० ८ । ६ । १ । १८ ॥ एतौ (नभश्च नभस्यश्च) एव वार्षिकौ मासौ अमुतो वै दिवा वर्षति तेनोहैतौ नभश्च नभस्यश्च । श० ४ । ३ । १ । १६ ॥

(४) 'इषः', ऊर्जः'—एतावेव शारदौ स यच्छरद्यूर्गंस ओषधयः पच्यन्ते तेनोहैताविषश्चोर्जश्च । श० ४ । ३ । १ । ६ ॥ तस्य ताक्ष्यर्श्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ इति शारदौ तावृतू श० ८ । ६ । १ । १८ ॥

(५) 'सहः', 'सहस्यः' ।'— तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ हेमन्तिकौ तावृतु । श० ८ । ६ । १ । ७ ॥ एतौ एव हेमन्तिकौ स यद् हेमन्त इमाः प्रजा सहसैव स्वं वशमुपनयते तेनोहैतौ सहश्च सहस्यश्च । श० ४ । ३ । १ । १८ ॥

(६) 'तपः', 'तपस्यः'—एतौ एव शैशिरौ स यदेतयोर्बलिष्ठं श्यायति तेनोहैतौ तपश्च तपस्यश्च श० ४ । ३ । १ । १९ ॥

संवत्सर के अंशों और प्रजापालक राजा के नियत पदाधिकारी पुरुषों की तुलना को साथ दिये मानचित्र से देखें ।

ऋतु नाम	मास नाम	विशेष नाम	पद नाम सेनानी, ग्रामणी	
१ वसन्त	चैत्र	मधु	रथगृत्स	सेनानी
	वैशाख	माधव	रथोजा	ग्रामणी
२ ग्रीष्म	ज्येष्ठ	शुक्र	रथस्वन	सेनानी
	आषाढ़	शुचि	रथेचित्र	ग्रामणी
३ वर्षा	श्रावण	नभस्	रथप्रोत	सेनानी
	भाद्र	नभस्य	असमरथ	ग्रामणी
४ शरद्	आश्विन, कुमार	इष	तार्क्ष्य	सेनानी
	कार्तिक	ऊर्ज	अरिष्टनेमि	ग्रामणी
५ हेमन्त	मार्गशीष	सहस्	सेनजित्	सेनानी
	पौष	सहस्य	सुषेण	ग्रामणी
६ शिशिर	माघ	तप	....	....
	फाल्गुन	तपस्य		
७	मलमास	अहंसस्पति	....	... .

अप्सरा नाम, संकेत		हेति, प्रहेति		दिशा	नेतारौ
पुञ्जिकस्थला,	सेना	दंक्ष्ण पशु	हेति	पूर्वा	अग्नि
क्रतुस्थला,	समिति	पौरुषेय वध	प्रहेति		हरिकेश
मेनका	द्यौ	यातुधान	हेति	दक्षिणा	विश्वकर्मा
सहजन्या	पृथिवी	रक्षांसि	प्रहेति		वायु
प्रम्लोचन्ती	अहः	व्याघ्र	हेति	पश्चिमा	विश्वव्यचस्
अनुम्लोचन्ती	रात्रि	सर्प	प्रहेति		आदित्य
विश्वाची	वेदि	आपः	हेति	उत्तरा	संयद्वसु
घृताची	स्रुक्	वात	प्रहेति		यज्ञ
उर्वशी	आहुति	अवस्फूर्जन्	....	उपरि	अर्वाग्वसु
पूर्वचित्ती	दक्षिणा	विद्युत्	....		पर्जन्य
....	....	....	....	अधः	.. ....
....	....	....	....	मध्य	......

इन्द्राग्नीऽ आगतᳬं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् । अस्य पातं धियेषिता । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा ॥ ३१ ॥ ऋ० ३ । १२ । १ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्राग्नी देवत । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र ! सेनापते ! और हे अग्ने ! अग्रणी नेतः ! विद्वन् ! आप दोनों (सुतम्) अभिषिक्त हुए (गीर्भिः) नाना वाणियों, स्तुतियों द्वारा या प्रजा या अधिक सभासदों की सम्मतियों द्वारा (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, सर्वश्रेष्ठ (नभः) सबको एक सूत्र में बांधने वाले, अथवा आदित्य के समान तेजस्वी इस पुरुष के समीप (आगतम्) प्राप्त होओ और उसके अधीन रहकर (धिया) अपनी प्रज्ञा या कर्म, कर्त्तव्य द्वारा (इषिता) प्रेरित होकर (अस्य) इसकी आज्ञा का (पातम्) पालन करो । उसको अपना राजा स्वीकार करो ।(उपयाम-गृहीतः असि) हे पुरुष ! तू राज्य की व्यवस्था द्वारा बद्ध है । (त्वा इन्द्राग्निभ्याम्) तुझ को इन्द्र और अग्नि दोनों पदों पर शासन करने के लिये नियुक्त करता हूँ । (एषः ते योनिः) यह तेरा आश्रय स्थान या पद है । (त्वा) तुझको मैं (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्र और अग्नि दोनों अधिकार पदों के लिये नियुक्त करता हूँ । शत० ४ । ३ । १ । २३—२४ ॥

[1]आ घा ये ऽअग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् । येषामिन्द्रो युवा सखा । [2]उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वैष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा ॥ ३२ ॥ ऋ० ८ । ४५ । १ ॥

त्रिशोक ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । (१) आर्षी गायत्री । षड्जः ।
(२) उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(ये) जो विद्वान् पुरुष (घ) नित्य (अग्निम् इन्धते)

३२—आघा त्रिशोक आग्नेन्द्राम । सर्वा०

अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को प्रदीप्त करते, अधिक बलवान् करते हैं और जो (आनुषक्) पदों के क्रम से (बर्हिः) आसनों को (आस्तृणन्ति) योग्य पुरुषों के लिये बिछाते हैं। (येषाम्) जिनका (इन्द्रः) ऐश्वर्य-वान् राजा (युवा) सदा तरुण, सदा उत्साही, नित्य बलशाली, (सखा) मित्र है वे (आनुषक्) राजा के अधीन उसके अनुकूल रहकर क्रम से, उत्तरोत्तर (बर्हिः स्तृणन्ति) योग्य पदों को योग्य आसन देते हैं। (उपयाम-गृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

[१]ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आगत। दाश्वाᳪसो दाशुषः सुतम्। उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः एष ते योनि-र्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ३३ ॥ ऋ० १।३।७॥

मधुच्छन्दा ऋषिः। विश्वे देवा देवताः। (१) आर्षी गायत्री। षड्जः। (२) आर्ची बृहती। मध्यमः॥

भा०—हे (विश्वे देवासः) समस्त विद्वान् पुरुषो! अधिकारी राज-गण! आप लोग (ओमासः) राष्ट्र के रक्षक और (चर्षणीधृतः) समस्त मनुष्यों को नियम या व्यवस्था में रखने वाले हो। आप लोग (दाशुषः) अपने को अन्न, धन आदि देने वाले राजा के प्रति (दाश्वांसः) उसको बल, ऐश्वर्य देने वाले हो। आप लोग (सुतम्) सुत, अर्थात् अभिषिक्त राजा के अधीन (आगत) आओ। हे पुरुष! तू (उपयामगृहीतः) राज्य व्यवस्था द्वारा बद्ध है। (त्वा) तुझको (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त देवों, विद्वानों अधिकारी राजाओं के लिये सर्वोपरि नियुक्त करता हूँ। (ते एषः योनिः) तेरा यह उच्च पद है। (विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा) समस्त देवों, विद्वानों की रक्षा के लिये तुझे नियुक्त करता हूँ। शत० ४। ३। १। २७॥

विद्वानों के पक्ष में—सोम = शिष्य के प्रति। हे विद्वान् पुरुषो!

आप लोग आओ, उसे शिक्षा दो। और हे शिष्य! (उपयाम-गृहीतः) तू नियम में बद्ध होकर उनके अधीन है। वे विद्वान् ही उसके आश्रय हों।

[1]विश्वे॑ देवास॒ऽआग॑त शृणु॒ता म॑ इ॒मꣳ हव॑म्। एदं ब॒र्हिर्निषी॑दत। [2]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑ ए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑ः ॥ ३४ ॥   ऋ० २। ४१। १३ ॥

गृत्समद ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। (१) आर्षी गायत्री। षड्जः। (२) निचृदार्ष्युष्णिक्। ऋषभः॥

भा०—हे (विश्वे देवासः) समस्त विद्वान् देवगण! प्रजाजनो! आप लोग (आगत) आओ। (मे) मेरी (इदं हविः) इस अभ्यर्थना को (शृणुत) सुनो। (उपयामगृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत्।

[1]इन्द्र॑ मरुत्व॒ऽइ॒ह पा॑हि॒ सोम॒ं यथा॑ शार्य्या॒ते ऽअपि॑बः सु॒तस्य॑। तव॒ प्रणी॑ती॒ तव॑ शूर॒ शर्म॒न्नावि॑वासन्ति क॒वय॑ः सु॒य॒ज्ञाः। [2]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा ऽम॒रुत्व॑त ऽए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते ॥ ३५ ॥   ऋ० ३। ५१। ७ ॥

प्रजापतिरिन्द्रो देवता। (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः। (२) आर्ष्युष्णिक्। ऋषभः॥

भा०—हे (मरुत्वः इन्द्र) समस्त मरुद्गण अर्थात् प्रजागण या सैन्य के स्वामी इन्द्र! सेनापते! (इह) इस अवसर पर भी (सोमम्) सर्वप्रेरक राजा की (पाहि) रक्षा कर, या उसको स्वीकार कर। जिस प्रकार (शार्याते) वाणों द्वारा शत्रु पर आक्रमण करने के अवसर पर भी (सुतस्य अपिबः) सुत अर्थात् राजा के पद को स्वीकार किया था। हे (शूर) शूरवीर पुरुष! तेरी (प्रणीती) उत्कृष्ट नीति से और (तव शर्मन्) तेरी शरण में (सु-यज्ञाः) उत्तम यज्ञशील, ईश्वरोपासक, या उत्तम दानशील, या उत्तम राष्ट्रपति, या उत्तम संग्रामकारी योद्धा लोग

३५—इन्द्र मरुत्वश्चतस्रो वैश्वामित्र ऐन्द्रमारुतास्त्रिष्टुभः। सर्वा०॥

और (कवयः) क्रान्तदर्शी ऋषि, महर्षि, विद्वान् पुरुष (आ विवासन्ति) रहें, तेरी आज्ञा का पालन करें। हे शूरवीर पुरुष ! (उपयाम-गृहीतः असि) राज्यव्यवस्था द्वारा तुझे नियुक्त किया जाता है। (इन्द्राय मरुत्वते) प्रजाओं के या वायु के समान तीव्र सैनिकों के स्वामी पद के लिये (त्वा) तुझे नियुक्त करता हूँ। (एषः ते योनिः) यह तेरा आश्रयस्थान और पद है (इन्द्राय मरुत्वते) प्रजाओं और वीर सुभटों के स्वामी पद के लिये तुझे स्थापित करता हूँ। शत० ४। ३। ३। १–१३ ॥

'शार्याते'—शर्या अंगुलयः। शर्या इषवः। शृ हिंसायाम् (क्र्यादिः) शृणाति पापम् इति देवराजः। शर्याभिः बाणैरतन्ति यस्मिन् तत् शार्यातम् युद्धकर्म। अथवा शर्याभिः निवृत्तानि कर्माणि शार्याणि तान्यतति व्याप्नोति स शार्यातस्तस्मिन्, इति दयानन्दर्षिः।

यहां 'शार्यात' शब्द से महीधर, ग्रीफ़िथ आदि का मनु के पौत्र, शर्याति के पुत्र का ग्रहण करना असंगत है, क्योंकि शतपथादि में भी उसका उल्लेख नहीं है ॥

[1] मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यꣳ शासमिन्द्रम्। विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳ सहोदामिह तꣳ हुवेम। [2] उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते। [3] उपयामगृहीतोऽसि मरुतान्त्वौजसे ॥३६॥ ऋ० ३। ४७। ५ ॥

विश्वामित्र ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। (१) विराड् आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः। (२) आर्षी उष्णिक्। (३) साम्नी उष्णिक्। ऋषभः ॥

भा०—(मरुत्वन्तम्) मरुद्गण, प्रजाओं और सुभटों के स्वामी (वृषभम्) स्वयं सर्वश्रेष्ठ, सब सुखों के वर्षक, (वावृधानम्) सबको बढ़ानेवाले और स्वयं बढ़नेवाले, वृद्धिशील, उदयशील, विजिगीषु, (अक-

वारिम् = अकव-अरिम्, अक-वारिम्) अकव अर्थात् अधर्मात्मा के शत्रु, अथवा अक = दुखों के वारण करनेवाले (दिव्यम्) दिव्य गुणवान् तेजस्वी, (विश्वासाहम्) समस्त शत्रुओं के विजयी, (सहोदाम्) बल-पूर्वक, वा सेना के दमन में समर्थ (शासम्) शासनकारी (तम्) उस पुरुष को हम (इह) इस अवसर पर (इन्द्रम् हुवेम) इन्द्र सेनापति या इन्द्र नाम से बुलाते हैं। (उपयाम-गृहीतः असि इन्द्राय त्वा मरुत्वते । एषः ते योनिः । इन्द्राय त्वा मरुत्वते) इति पूर्ववत् । (उपयामगृहीतः असि) तू राज्य की व्यवस्था द्वारा बद्ध है । (त्वा) तुझको (मरुताम्) वायु के समान तीव्र गतिशील सुभटों और प्रजाओं के (ओजसे) ओज, पराक्रम के कार्य के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ४ । ३ । ३ । १४ ॥

[१]स॒जोषा॑ऽइन्द्र॒ सग॑णो म॒रुद्भिः॒ सोमं॑ पिब वृत्र॒हा शू॑र वि॒द्वान्।
ज॒हि शत्रूँ॒१ऽ रप॒ मृधो॑ नुद॒स्वाथाभ॑यं कृणुहि वि॒श्वतो॑ नः।
[२]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑त ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते ॥ ३७ ॥　　ऋ० ३ । ४७ । २ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । मरुत्वान् इन्द्रः प्रजापतिर्देवता । (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । प्राजापत्या त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सजोषाः) सबको समान भाव से प्रेम करनेवाले (मरुद्भिः सगणः) वायुओं के समान तीव्र गतिमान् सैनिकों के गुणों से युक्त होकर हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् सेनापते ! (शूर) शूरवीर ! आप) विद्वान्, ज्ञानवान्, सब शत्रु के कल, बल, छल को जानते हुए (वृत्रहा) नगरों को घेरनेवाले शत्रुओं का नाश करके (सोमं) सोम अर्थात् राज्य-ऐश्वर्य के उत्तम पद को (पिब) पान कर, स्वीकार कर और तू (शत्रून् जहि) शत्रुओं को नाश कर । (मृधः) संग्रामों या संग्रामकारी शत्रुओं को (अप नुद) मार भगा । (अथ) और (नः) हमें (विश्वतः) सब तरफ से (अभयम्) भयरहित (कृणुहि) कर । (उपयाम० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

[१]मरुत्वाँ२॥ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधम्मदाय। आसिञ्चस्व जठरे मध्वं ऊर्मि त्वᳬ राजासि प्रतिपत्सुतानाम्। [२]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ ३८ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । मरुत्वान् इन्द्रः प्रजापतिर्देवता । (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । (२) प्राजापत्या त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! सेनापते ! (मरुत्वान्) उत्तम प्रजा और सेनाओं का स्वामी, (वृषभः) सर्वश्रेष्ठ, बलवान् या शत्रुओं पर शरवर्षा करनेवाला तू (अनु-स्वधम्) अपनी धारणशक्ति के अनुसार (मदाय) सबको सन्तुष्ट या हर्षित करने के लिये, (रणाय) संग्राम के लिये (सोमम्) 'सोम' ओषधि रस के समान बलकारी राजा के अधिकार को (पिब) पान कर, स्वीकार कर । (जठरे) पेट में जिस प्रकार (मध्वः ऊर्मिम्) अन्न के खालेने पर बल उत्पन्न होता है उसी प्रकार तू अपने (जठरे) जठर अर्थात् वश में (मध्वः) अन्न और शत्रु के दमन सामर्थ्य के (ऊर्मिम्) उद्योग को (आ सिञ्चस्व) प्रवाहित कर । (त्वम्) तू (सुतानाम्) राज्य के समस्त अंगों के (प्रतिपत्) प्रत्येक पद पर (राजा असि) राजा रूप से विद्यमान है । (उपयामगृहीतः ० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

[१]महाँ२ऽ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः। अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्। [२]उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ ३९ ॥

ऋ० ६ । १९ । १ ॥

भरद्वाज ऋषिः महेन्द्रः प्रजासेनापतिर्देवता । (१) भुरिक् पंक्तिः, पंचमः । (२) साम्नी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

३९—महाँ २ इन्द्रो भरद्वाजो माहेन्द्रीं त्रिष्टुभम् । सर्वा० ॥

भा०—(महान् इन्द्रः) महान् ऐश्वर्यवान् राजा (नृवत्) नेता पुरुषों का स्वामी, अथवा नेता के समान (चर्षणीप्राः) समस्त लोकों और प्रजाजनों को पूर्ण करने वाला (उत) और (द्वि-बर्हाः) दोनों प्रजा और राजा के अधीन शासकजन दोनों को बढ़ाने वाला या दोनों का स्वामी, (सहोभिः अमिनः) अपने शत्रु-दमनकारी सामर्थ्यों और बलों में अमित पराक्रमी (अस्मद्र्यक्) हमारे प्रति कृपालु होकर (वावृधे) वृद्धि को प्राप्त हो। वह (वीर्याय) वीर्य के अधिक होजाने से ही (उरुः) विशाल (पृथुः) विस्तृत राज्यवाला और (कर्त्तृभिः) उत्तम कार्यकर्त्ताओं के सहाय से (सु-कृतः) उत्तम राज्य-कार्यकर्त्ता (भूत् हो) हो। हे राजन् ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) राज्य के समस्त नियमों द्वारा बद्ध है। (त्वा) तुझको (महेन्द्राय) महेन्द्र पद के लिये नियत करता हूँ। (एष ते योनिः) यह तेरा आसन है (त्वा महेन्द्राय) तुझे महेन्द्र पद के लिये स्थापित करता हूँ ॥ शत० ४। ३। ३। १८ ॥ उक्त मन्त्र परमेश्वर पक्ष में स्पष्ट है।

[1]महाँ२ऽ इन्द्रो यऽओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ२ऽ इव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे। [2]उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ ४० ॥　　　ऋ० ८। ६। १ ॥

वत्स ऋषिः। इन्द्रः प्रजापतिर्देवता। (१) आर्षी गायत्री। (२) विराड् आर्षी गायत्री। षड्जः ॥

भा०—(यः) जो (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजा (ओजसा) बल से (महान्) महान् है। और (पर्जन्यः इव) मेघ के समान (वृष्टिमान्) प्रजा पर अत्यन्त सुख सम्पत्तियों की वर्षा करनेवाला है। वह (वत्सस्य) अपने राज्य में बसनेवाली, पुत्र के समान प्रजा के किये (स्तोमैः) स्तुति, गुणानुवादों, अथवा संघों द्वारा (वावृधे) वृद्धि को प्राप्त होता है। (उपयामगृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

परमेश्वर पक्ष में—वह बल में सबसे महान्, मेघ के समान समस्त सुखों का वर्षक, उसकी महिमा प्रजा की स्तुतियों से और भी बढ़ती है।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यꣳ स्वाहा ॥ ४१ ॥

प्रस्कण्व ऋषिः । सूर्यो देवता । भुरिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(त्यं) उस (जातवेदसम्) ऐश्वर्यवान् (देवम्) देव, राजा को (केतवः) ज्ञानवान् पुरुष भी (उद् वहन्ति) अपने ऊपर आदर से धारण करते, उसको अपने सिरमाथे, स्वामी स्वीकार करते हैं । उस (विश्वाय) समस्त कार्यों और प्रजाओं के (दृशे) दर्शन करने या कराने वाले साक्षीरूप (सूर्यम्) सूर्य के समान सर्वप्रेरक राजा को (स्वाहा) सर्वोत्तम कहा जाता है ॥

परमेश्वर पक्ष में—समस्त पदार्थों का दर्शन कराने के लिये जिस प्रकार (सूर्यम्) सूर्य को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं और उसको (केतवः) रश्मियें प्राप्त हैं, उसी प्रकार समस्त संसार को दर्शाने वाले उस परमेश्वर को भी 'सूर्य' कहते हैं । समस्त (केतवः) ज्ञान उसी परमेश्वर, वेदों के उत्पत्ति स्थान को ही बतलाते हैं ॥ शत० ४ । ३ । ९ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥ ४२ ॥

कुत्स ऋषिः । सूर्यो देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(देवानाम्) समस्त देवों, विद्वानों और राज्य के पदाधिकारियों में से यह राजा (चित्रम्) अति पूजनीय (अनीकम्) सर्वशिरोमणि, सबसे मुख्य होकर (उद् अगात्) उदय को प्राप्त होता है । वह (मित्रस्य, वरुणस्य, अग्नेः) मित्र, वरुण और अग्नि इन पदाधिकारियों का भी (चक्षुः)

आंख के समान मार्ग दिखाने वाला या उनपर निरीक्षक रूप से नियुक्त है। वह (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्) द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष, राजा, प्रजा और बीच के शासक सबको (आ अप्राः) पूर्ण करता है वह (सूर्यः) सूर्य के समान सर्वप्रेरक तेजस्वी (जगतः) जगत् और (तस्थुषः च) स्थावर, पशु और जंगल, पर्वत, नगर आदि समस्त धनों का (आत्मा) आत्मा, अपनाने वाला, स्वामी (स्वाहा) कहा जाता है॥ शत० ४ । ३ । ४ । १० ॥

ईश्वर पक्ष में – इस शरीर में आत्मा और ब्रह्माण्ड-शरीर में परमात्मा (देवानाम् अनीकं) समस्त देवों, दिव्य शक्तियों में मुख्य, (चित्रम्) सबका पूजनीय मित्र, वरुण, अग्नि, वायु, जल,और अग्नि सबका (चक्षुः) द्रष्टा और सबका प्रकाशक है। वह द्यौ, पृथ्वी, अन्तरिक्ष सब का पालक है । स्थावर और जंगम सब का आत्मा, सब का स्वामी, सबमें व्यापक है । (स्वाहा) उसकी स्तुति करो । इस देह में—आत्मा (देवानाम्) चक्षु आदि इन्द्रियों का (अनीकम्) नेता । मित्र, वरुण, प्राणापान और जाठर अग्नि का प्रवर्त्तक, शिर, मध्य और चरम भाग तीनों का पालक, पोषक, गतिशील, अंग और स्थिर धातु सब का स्वामी है। वह 'आत्मा' कहाता है। उसका उत्तम रीति से ज्ञान करो ॥

अग्ने नय॑ सुपथा॑ रायेऽअस्मान्विश्वा॑नि देव वयुना॑नि विद्वान् ।
युयोध्युस्मज्जु॑हुराणमेनो भूयि॑ष्ठां ते नम॑ऽउक्तिं विधेम स्वाहा॑ ४३

ऋ० १ । १८९ । १ ॥ यजु० ५ । ३६ ॥

आंगिरस ऋषिः । अग्निरन्तर्यामी जगदीश्वरो वा देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान सबके प्रकाशक अग्रणी या दुष्टों के तापदायक ! हे (देव) देव ! राजन् ! (अस्मान्) हमें (राये) ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (सु-पथा) उत्तम मार्ग से (नय) ले चल ।

तू (विश्वानि वयुनानि) समस्त मार्गों और उत्कृष्ट ज्ञानों को (विद्वान्) जानता है । और (जुहुराणम्) कुटिलता कराने वा करनेवाले (एनः) पाप और पापी पुरुष को (अस्मत्) हम से (युयोधि) दूर कर । (ते) तेरे लिये हम (भूयिष्ठाम्) बहुत २ (नमः) आदर युक्त (उक्तिम्) वचन (विधेम) प्रयोग करते हैं । (स्वाहा) जिससे तेरा उत्तम यश हो ।

ईश्वर पक्ष में—हे अन्तर्यामिन् ! स्वप्रकाश ! देव ! तू हमें सन्मार्ग से योगसिद्धि प्राप्त करने के लिये आगे बढ़ा । तू हमारे सब कर्म उत्कृष्ट ज्ञानों को जानता है । हमारे हृदय से कुटिल पाप को दूर कर । हम (स्वाहा) वेदवाणी से तेरी बहुत २ स्तुति करते हैं ॥ शत० ४ । ३ । ४ । १२ ॥

अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन् । अयं वाजाञ्जयतु वाजसाताव्यथं शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥४४

यजु० ५ । ३७ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ५ । ३७ ॥

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु । ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्युन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः ॥४५॥

प्रजापतिर्देवता । निचृज्जगती । निषादः ॥

भा०—हे प्रजाओ और हे सेना के पुरुषो ! (रूपेण) रूप अर्थात् चान्दी आदि मूल्यवान्, एवं प्रिय पदार्थ से (वः) तुम्हारे (रूपम्) वास्तविक रूप, शरीर और उसमें विद्यमान तुम्हारे गुण या शिल्प को (अभि आगाम्) प्राप्त करता हूं । (विश्ववेदाः) समस्त धन ऐश्वर्य का स्वामी या सर्वज्ञ विद्वान्, (तुथः) ज्ञानवृद्ध ब्राह्मण, (वः) तुमको (वि भजतु) नाना प्रकार से धन और ज्ञान का वितरण करे । अथवा (वः

४५—रूपेण वा दक्षिणाश्चतुर्णाम् । सर्वा० ॥

विभजतु) तुमको वर्गों में विभक्त करे । तुम सब (ऋतस्य पथा) ऋत, सत्यज्ञान, यज्ञ, परस्पर संगत, सुव्यवस्था के मार्ग से (प्र इत) आगे बढ़ो, चलो । और (चन्द्र-दक्षिणाः) चन्द्र, सुवर्ण और चांदी आदि की दक्षिणा अर्थात् अपने क्रिया के बदले वेतन प्राप्त करो । हे राजन् ! तू (स्वः) आकाश में विद्यमान तेजस्वी सूर्य को (वि पश्य) विशेष रूप से देख अर्थात् उसके समान तेजस्वी, शत्रुतापक होकर राजपद को जान और उस का पालन कर । और (अन्तरिक्षं वि पश्य)अन्तरिक्ष को भी विशेष रूप से जान । अर्थात् अन्तरिक्ष जिस प्रकार समस्त पृथिवी पर आच्छादित रहता और वायु वृष्टि द्वारा सब को पालता है उसी प्रकार पृथ्वीनिवासी प्रजा का पालन कर । और (सदस्यैः) सभा के सदस्यों द्वारा (यतस्व) राज्य को उन्नत करने का उद्योग कर ॥ शत० ४ । ३ । १४–१८ ॥

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳ सुधातुदक्षिणम् । अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत ॥ ४६ ॥

विद्वांसो देवताः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—मैं राजा (अद्य) इस राज्य कार्य में (पितृमन्तम्) उत्तम पिता, माता, गुरुजनों से युक्त, (पैतृमत्यम्) उत्तम जितेन्द्रिय, पितामह वाले, (ऋषिम्) स्वयं वेद मन्त्रों के द्रष्टा, (आर्षेयम्) ऋषियों के विज्ञान को जानने वाले, (सुधातु-दक्षिणम्) उत्तम सुवर्ण आदि धातु की दक्षिणा प्राप्त करने योग्य, (ब्राह्मणम्) ब्रह्म के ज्ञानी, विद्वान् पुरुष को मैं (विदेयम्) प्राप्त करूं । हे सेना और प्रजा के पुरुषो ! आप लोग (अस्मद्राताः) हमसे वेतन प्राप्त करके (देवत्रा) विद्वान् पुरुषों को या विद्वान् पुरुषों के पदों को (गच्छत) प्राप्त करो । और (प्रदातारम्) उत्कृष्ट, दानशील अधिकारी के (आविशत) अधीन होकर रहे ॥ शत ४ । ३ । ४ । १९–२० ॥

४६—ब्राह्मणमद्य लिंगोक्तदेवतानि । सर्वा० ॥

[1]अ॒ग्नये॑ त्वा॒ मह्यं॒ वरु॑णो ददातु॒ सो॒ऽमृ॒त॒त्वम॑शी॒यायु॑र्दा॒त्र ऽए॑धि॒ मयो॒ मह्य॑म् प्रतिग्र॒ही॒त्रे [2]रु॒द्राय॑ त्वा॒ मह्यं॒ वरु॑णो ददातु॒ सो॒ऽमृ॒त॒त्वम॑शीय प्रा॒णो दा॒त्र ऽए॑धि॒ वयो॒ मह्यं॑ प्रतिग्र॒ही॒त्रे [3]बृह॒स्पत॑ये त्वा॒ मह्यं॒ वरु॑णो ददातु॒ सो॒ऽमृ॒त॒त्वम॑शीय॒ त्वग्दा॒त्र ऽए॑धि॒ मयो॒ मह्यं॑ प्रतिग्र॒ही॒त्रे [4]य॒माय॑ त्वा॒ मह्यं॒ वरु॑णो ददातु॒ सो॒ऽमृ॒त॒त्वम॑शीय॒ हयो॑ दा॒त्र ऽए॑धि॒ वयो॒ मह्य॑म् प्रतिग्र॒ही॒त्रे ॥ ४७ ॥

वरुणो देवता । (१) भुरिक् प्रजापत्या । (२) स्वराट् प्राजापत्या । (३) निचृदार्चा । (४) विराड् आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०—(१) राजा अपने अधीन पुरुषों को स्वर्ण आदि धन, गौ आदि पशु और वस्त्र और अश्व का प्रदान करता है। (१)(वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, हमारे स्वयं अपनी इच्छा द्वारा वृत राजा, स्वामी (त्वा) सुवर्ण आदि धन को (मह्यम्) मुझ (अग्नये) अग्रणी नेता पदाधिकारी या अग्नि के समान शत्रुतापकारी पुरुष को (ददातु) प्रदान करे। (सः) वह मैं (अमृतत्वम्) पूर्ण आयु को प्राप्त करूं। (दात्रे आयुः) दाता की दीर्घ आयु हो। और (मह्यम् प्रतिगृहीत्रे मयः) मुझ ग्रहण करने वाले को सुख हो। (२) पशु और अन्न आदि भोग्य पदार्थ (वरुणः त्वा मह्यं रुद्राय) वरुण राजा मुझे रुद्रस्वरूप शत्रुओं को रुलाने वाले वीर पुरुष को (ददातु) प्रदान करे। (सः अमृतत्वम् अशीय) वह मैं अमृत अर्थात् पूर्ण आयु का भोग करूं। (प्राणः दात्रे) दान करने वाले को प्राण, उत्तम जीवन बल प्राप्त हो। (मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे वयः) मुझ ग्रहण करने वाले को सुख प्राप्त हो। (३) (वरुणः) राजा वरुण (त्वा) वस्त्र आदि (मह्यं बृहस्पतये ददातु) बृहस्पति, वेदवाणी के पालक, मुझ विद्वान् को दे। जिससे मैं (अमृतत्वम् अशीय) अमृत, पूर्ण आयु का भोग करूं। (त्वग् दात्रे एधि) दानशील, दाता को आवरणकारी वस्त्र आदि समस्त पदार्थ प्राप्त हों।

(मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे मयः एधि) मुझ स्वीकार करने वाले को सुख प्राप्त हो (४) (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ राजा (मह्यं यमाय) मुझ राष्ट्रनियन्ता को हे अश्व ! तुझे (ददातु) प्रदान करे । मैं (अमृतत्वम् अशीय) अमृतत्व या जीवन के सुख प्राप्त करूं । (हयः दात्रे एधि) दानशील पुरुष को घोड़े प्राप्त हों । (मह्यं प्रतिग्रहीत्रे वयः) और मुझ प्राप्ति स्वीकार करने वाले को सुख, दीर्घायु और बल, वेग हों ॥ शत० ४ । ३ । ४ । २८–३१ ॥

ईश्वर और आचार्य पक्ष में—अग्नि अर्थात् वसु नाम ब्रह्मचारी को आयु प्रदान करे । रुद्र को प्राण का बल दे । बृहस्पति वेदवक्ता को त्वचा की सहनशीलता प्रदान करे । और यम, ब्रह्मचारी को (हयः) उत्कृष्ट ज्ञान का उपदेश करे । जिससे ग्रहण करने वालों को सुख हो और दान देने वाले की वे शक्तियां और बढ़ें ॥

कोऽदात्कस्मा अदात्कामोऽदात्कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ॥ ४८ ॥

काम आत्मा देवता । आर्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—[प्रश्न]– (कः) अर्थात् कौन देता है ? और (कस्मै अदात्) किसको देता है ? [उत्तर] (कामः) कामना करनेवाला, अपने मनोरथ पूर्ण करने का इच्छुक स्वामी (अदात्) अपने अधीन पुरुषों को द्रव्य, अन्न आदि प्रदान करता है । और (कामाय)उस नियत द्रव्य को लेने के अभिलाषी पुरुष को ही वह प्रदान करता है । वस्तुतः (कामः दाता) मनोरथ या आवश्यकता वाला पुरुष ही प्रदान करता है । (कामः) इच्छुक या आवश्यकता वाला ही (प्रतिग्रहीता) उस दिये धन को लेता है । (एतत्) यह सब लेन देन का कार्य हे (काम) अभिलाषी पुरुष ! हे संकल्प ! हे इच्छा ! (ते) तेरा ही है ॥ शत० ४ । ३ । ४ । ३२–३३ ॥

ईश्वर पक्ष में—(कः अदात् कस्मै अदात्) कौन ? किसको देता है ?

(कामः कामाय अदात्) महान् कमनीमय, संकल्पमय परमेश्वर संकल्पकारी इच्छावान् जीव को कर्मफल देता है । सबकी कामना का विषय परमेश्वर भी 'काम' है वही दाता है । और कामनावान् 'काम' जीव प्रतिग्रहीता लेनदार है । हे काम ! जीव ! (एतत्) यह वेदाज्ञा सभी तुझ जीव के लिये ही देता हूँ ।

विवाहादि में स्त्री पुरुष एक दूसरे को अपने आप समर्पण करते हैं। वहाँ भी लेने की इच्छावाला लेता, देने की इच्छा वाला अभिलाषुक प्रेमी अपने को देता है । इत्यादि स्पष्ट है । समस्त लेन देन पारस्परिक लेन-देन की इच्छा या कामना से ही होता है, अन्यथा नहीं ॥

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

[तत्र अष्टाचत्वारिंशहचः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥

———

अथाष्टमोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा ।
विष्णऽउरुगायैष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन् ॥ १ ॥

बृहस्पतिः सोमो देवता । आर्ची पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! राजन् ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) राज्य-नियम द्वारा बद्ध है । (त्वा) तुझको (आदित्येभ्यः) आदित्य के समान तेजस्वी विद्वानों, ब्राह्मणों और प्रजाओं के लिये नियुक्त करता हूँ । हे (विष्णो) विष्णो ! राष्ट्र में व्याप्त शासनवाले ! हे (उरु-गाय) महान् कीर्त्तिवाले ! (एष) यह (सोमः) राजा का पद या राष्ट्र (ते) तेरे अधीन है । (तम्) उसकी रक्षा कर । हे सोम राजन् ! ये आदित्यगण तेजस्वी पुरुष (त्वा) तुझको (मा दभन्) विनाश न करें ॥ शत ४ । ३ । ५ । ३ ॥

'आदित्याः'—आदित्याः वै प्रजाः तै० १ । ८ । ८ । १ ॥ एते वै खलु वादित्या यद् ब्राह्मणाः । तै० १ । १ । ९ । ८ ॥

गृहस्थपक्ष में—हे पुरुष ! तू (उपयाम-गृहीतः) विवाह द्वारा मुझ स्वयं वर कन्या द्वारा स्वीकृत है । तुझे आदित्य के समान तेजस्वी पुत्रों के लिये वरण करती हूँ । हे (विष्णो) विद्यादि गुणों में प्रविष्ट ! अथवा मुझ में गृहस्थरूप से प्रविष्ट पते ! (एष ते सोमः) यह पुत्र गर्भ आदि में स्थित तेरा ही है, इसकी रक्षा कर । (मा त्वा दभन्) तुझे काम आदि व्यसन न सतावें ॥

१—विष्णो वैष्णव्यम् । सर्वा० ॥

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे । उपोपेन्नु मघवन्भूय ऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यतऽ आदित्येभ्यस्त्वा ॥ २ ॥

ऋ० ८ । ५१ । ७ ॥

गृहपतिर्मघवा इन्द्रो देवता । भुरिक् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! तू (कदाचन) कभी भी (स्तरीः) प्रजा का हिंसक (न असि) नहीं है । और (दाशुषे) दानशील कर-प्रदाता के हित के लिये कर को तू (सश्चसि) स्वीकार करता है । हे (मघवन्) उत्तम धनैश्वर्यसम्पन्न ! (ते देवस्य) तुझ दानशील का (दानम्) दिया हुआ दान (उप-उप इत् नु) अति समीप और (भूयः इत्) बहुत अधिक (पृच्यते) हमें प्राप्त होता है । (आदित्येभ्यः त्वा) तुझ को मैं आदित्यों के समान तेजस्वी पुरुषों या आदान-प्रतिदान करने वाले वैश्य लोगों की रक्षा के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ४ । ३ । ५ । ११ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे इन्द्रपते ! आप (स्तरीः) कभी अपने भावों को नहीं छिपाते । आत्मसमर्पण करने वाले को प्राप्त होते हैं । आप विद्वान् का दिया दान ही सदा मुझे प्राप्त हो । आपको मैं वरती हूँ ॥

कदा चन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी । तुरीयादित्य सवनन्त इन्द्रियमा तस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । ५२ । ७ ॥

आदित्यो गृहपतिर्देवता । निचृदार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (आदित्य) आदित्य ! सूर्य ! जिस प्रकार भूमि से जल अपनी रश्मियों से ग्रहण करके पुनः मेघरूप से भूमि पर ही बरसा देता

२—कदा च नादित्यदवत्ये । सर्वा० ॥

३—'०मातस्था अमृत' इति काण्व० ।

है उसी प्रकार प्रजाओं से करादि लेकर प्रजा के उपकार में लगाने हारे आदित्य ब्रह्मचारिन् ! तू (कदा चन) भिक्षा आदि में भी कभी क्या (प्रयुच्छसि) प्रमाद करे ? नहीं । तू कभी प्रमाद मत कर । तू (उभे) दोनों (जन्मनी) जन्मों को (निपासि) पालन कर । हे (तुरीय) तुरीय ! सबसे अधिक उच्च, सबसे तीर्णतम ! चतुर्थ आश्रमवासिन् ! (आदित्य) आदित्य के समान तेजस्विन् ! विद्वन् ! (ते) तेरा (सवनम्) सबको प्रेरणा करने वाला या उत्पन्न करनेवाला या ऐश्वर्यवान् (इन्द्रियम्) इन्द्रिय या वीर्य (दिवि) प्रकाशमय ज्ञान, मनन में (अमृत) अमृत, अविनाशी, अखण्डरूप में (आ तस्थौ) स्थिर हो । (त्वा) तुझको (आदित्येभ्यः) समस्त आदित्यों अर्थात् ज्ञानी पुरुषों के मुख्य पद पर अभिषिक्त करता हूँ ॥ शत० ४ । ३ । ५ । १२ ॥

उभे जन्मनी— दोनों जन्म, एक माता के गर्भ से, दूसरा आचार्य के गर्भ से । आदित्य पद पर ऐसे पुरुष को अभिषिक्त करें जो द्विज हो, चतुर्थाश्रमसेवी और अखण्ड ब्रह्मचारी हो ॥ शत० ४ । ३ । ५ । १२ ॥

गृहाश्रम पक्ष में स्त्री कहती है—हे पते ! (त्वं कदा च न प्रयुच्छसि) तू कभी प्रमाद न करे तो (उभे जन्मनी निपासि) भूत और भविष्यत् दोनों जीवनों को बचा सकेगा । (यदि ते सवनम् इन्द्रियम् आतस्थौ) यदि तेरा उत्पादक इन्द्रिय, प्रजननाङ्ग वश में रहा तो (आदित्येभ्यः त्वा) आदित्य समान पुत्रों या १२ मासों अर्थात सदा के लिये तुझे वरती हूं ॥

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः । आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्याद॒ꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा ॥ ४ ॥

कुत्स ऋषिः । आदित्यो गृहपतिर्देवता । निचृत् जगती । निषादः ॥

भा०—(देवानां यज्ञः) देव, विद्वान् पुरुषों का संग या गृहस्थयज्ञ (सुम्नम् प्रति एति) सुख प्राप्त कराता है । हे (आदित्यासः) आदित्य

के समान तेजस्वी पुरुषो ! आप लोग (मृडयन्तः भवत) सबको सदा सुख देनेहारे बने रहो । (वः) आप लोगों की वह (सु मतिः) शुभ मति (अर्वाची) हमारे प्रति (आ ववृत्यात्) अनुकूल बनी रहे (या) जो (अंहोः चित्) पापी पुरुष को भी (वरिवः-वित्-तरा) अति अधिक ऐश्वर्य या सुखलाभ करानेवाली (असत्) होती है । हे राजन् ! या हे सोम ! (त्वा आदित्येभ्यः) तुझे मैं ऐसे आदित्य अर्थात् तेजस्वी पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करता हूं । गृहस्थ पक्ष में—हे पते ! तुझे मैं १२ मासों के लिये वरती हूँ ॥ शत० ४ । ३ । ५ । १५ ॥

[1] विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व । [2] श्रदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः । पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारप एधते गृहे ॥ ५ ॥

गृहपतयो देवताः । (१) प्राजापत्याऽनुष्टप् । गान्धारः । (२) निचृदार्षी जगती । निषादः ।

भा०—हे (विवस्वन्) विविध स्थानों पर निवास करनेहारे या विविध ऐश्वर्यों के स्वामिन् हे (आदित्य) आदित्य के समान तेजस्विन् ! राजन् ! पुरुष ! (एषः) यह (ते सोम-पीथः) तेरा सोमपद, राजपद का पालन करने का कर्त्तव्य है । (तस्मिन्) तू उसमें ही (मत्स्व) आनन्द प्रसन्न रह । हे (नरः) नेता पुरुषो ! (अस्मै वचसे) इसके वचन में (श्रत् दधातन) सत्य और श्रद्धा बुद्धि को धारण करो । (यत्) जिसके आश्रय पर (आशीर्दा) आशीर्वाद देनेवाले (दम्पती) पति पत्नी भी (वामम्) सुख को (अश्नुतः) भोगते हैं । और (पुमान् पुत्रः जायते) पुमान्, वीर पुत्र उत्पन्न होता है (वसु विन्दते) वह ऐश्वर्य प्राप्त करता है । और (विश्वाहा) सदा, नित्य (अरपः) पाप रहित, निर्विघ्न (गृहे) गृह में (एधते) वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ शत० ४ । ५ । १७—२३ ॥

५—श्रदस्मै जगत्याशीः । सर्वा० ॥ 'विवस्वां २ आ०' इति काण्व० ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे गृहाश्रमिन् ! (एष ते सोमपीथः) यह गृहाश्रम पालन ही तेरा सोम समान आनन्द रस के पान के बराबर है। तू इसमें सुख से रह। हे पुरुषो ! तुम इसके वचन को आदर से सुनो। जिसमें आशीर्वाद देनेवाले स्त्री पुरुष सुख से रहते हैं, उस गृह में पुमान् पुत्र उत्पन्न होता है, ऐश्वर्य प्राप्त करता है और निर्विघ्न बढ़ता है।

वाममद्य संवितर्वाममु श्वो दिवे दिवे वाममस्मभ्यᳬं सावीः। वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । ७१ । ३ ॥

भरद्वाजऋषिः गृहपतयः सविता वा देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (सवितः) ऐश्वर्य उत्पादक ! सवितः ! (अद्य) आज (वामम्) प्राप्त करने योग्य उत्तम सुख (सावीः) उत्पन्न कर। (उँ श्वः वामम् सावीः) और आगामी दिन, कल भी उत्तम सुख को उत्पन्न कर। और (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (दिवे-दिवे) प्रतिदिन (वामम्) भोग करने योग्य, उत्तम पदार्थ उत्पन्न कर। (हि) जिससे (वामस्य) सुन्दर, उत्तम (भूरे) बहुत ऐश्वर्यों से युक्त (क्षयस्य) परम निवासगृह के बीच हे (देव) देव ! राजन् ! हम (अया धिया) इस उत्तम बुद्धि से ही (वामभाजः स्याम) सब उत्तम सुखों का भोग करनेवाले हों ॥ शत० ४ । ४ । १–२६ ॥

'सविता'—सविता वै प्रसवानामीशे । कौ० ५ । २ ॥ प्रजापतिर्वै सविता । तां० १६ । ५ । १७ ॥ प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत । तै० १ । ६ । ४ । १ ॥ सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः । तै० २ । ५ । ७ । ४ ॥

उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा असि चनो मयि धेहि । जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सावित्रे ॥ ७ ॥

७—०चनोधाश्चनो मयि०; 'भगाय सवित्रे त्वा' । शत काण्व० ॥

भरद्वाज ऋषिः । सविता गृहपतिर्देवता । विराड् ब्राह्मी अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (उपयाम गृहीतः असि) राज्य के नियम व्यवस्था द्वारा बद्ध है । तू (सावित्रः) सविता के पद पर स्थित (चनोधाः असि) अन्न समृद्धि को देने और सूर्य के समान ही धारण पोषण करने हारा है, क्योंकि तू (चनोधाः असि) अन्न का धारण पोषण करता है । तू (मयि) मुझे भी (चनः) अन्न (धेहि) प्रदान कर । (यज्ञं जिन्व) तू अन्न से यज्ञ, राष्ट्र को तृप्त कर (यज्ञ-पतिम्) राष्ट्रपति को भी (जिन्व) तृप्त कर । (भगाय) समस्त ऐश्वर्यमय (देवाय) देव (सवित्रे) सविता के पद के लिये (त्वा) तुझको नियुक्त करता हूं ॥ शत० ४ । ४ । १ । ६ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे पुरुष ! तुझे मैं भी स्त्री उपयाम = विवाह द्वारा स्वीकार करती हूं । तू सावित्र अर्थात् प्रजा के उत्पादक या परमेश्वर के उपासक या स्वयं सविता सूर्य के समान तेजस्वी है । तू अन्न समृद्धि का धारक है । तू गृहस्थ यज्ञ को पुष्ट कर । सविता रूप तुझे अर्थात् सन्तानोत्पादक पति पद के लिये वरती हूं ।

[१]उपयामगृहीतोऽसि [२]सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ८ ॥

विश्वेदेवा गृहपतयो देवताः । (१) प्राजापत्या गायत्री । षड्जः ।
(२) निचृदार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(उपयामगृहीतः असि) हे पुरुष तू राज्यव्यवस्था द्वारा बद्ध है । हे योग्य पुरुष ! राजन् ! तू (सु शर्मा असि) तू उत्तम सुखकारी आश्रय या गृह और शरणों वाला है और (सु-प्रतिष्ठानः) शरीर में प्राण के समान राष्ट्र में उत्तम रीति से प्रतिष्ठित हुआ है । (बृहद्-उक्षाय) महान् विश्व के भार के वहन या संचालन करने वाले प्रजापति के समान

बड़े राष्ट्र के कार्यभार को उठाने वाले तुझे (नमः) आदर प्राप्त हो, अथवा तुझे नमनकारी बल प्राप्त हो। (त्वा) तुझ को (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त देव, विद्वान् पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करता हूं। (एषः ते योनिः) यह तेरा स्थान या पद है। (विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा) समस्त देव अर्थात् विद्वान् पुरुषों के लिये तुझको 'विश्वेदेव' समस्तविद्वानों के हित पद पर नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ४ । ४ । १ । १४ ॥

गृहस्थ पक्ष में — पुरुष विवाह द्वारा बद्ध हो। वह उत्तम गृह और प्रतिष्ठावान् हो। (बृहदुक्षाय) वीर्यसेचन में समर्थ उसको (नमः) आदर एवं अन्न आदि पदार्थ प्राप्त हों। समस्त विद्वानों के लिये मैं स्त्री तुझे वरती हूँ।

[१] उपयामगृहीतोऽसि [२] बृहस्पतिसुतस्य देव सोम त ऽइन्दोरिन्द्रियावतः। पत्नीवतो ग्रहाँ २ऽ ऋध्यासम्। [३] अहं परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत्। अहꣳसूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत् ॥ ६ ॥

विश्वेदेवा देवताः। (१) प्राजापत्या गायत्री। षड्जः। (२) आर्षी उष्णिक्। ऋषभः। स्वराड् आर्षी पङ्क्तिः। पञ्चमः॥

भा० — हे योग्य पुरुष ! राजन् तू ! (उपयामगृहीतः असि) राज्यतन्त्र द्वारा स्वीकृत एवं बद्ध है। हे (देव सोम) देव ! सोम ! राजन् ! (इन्द्रियावतः) इन्द्र, राजा के योग्य ऐश्वर्य बल से सम्पन्न (इन्दोः) सबके आह्लादक (पत्नीवतः) अपनी पालक शक्ति से युक्त (बृहस्पति-सुतस्य) बृहती, वेद वाणी के पालक विद्वान् के द्वारा प्रेरित वा शिक्षित (ते) तेरे

६—बृहस्पतिसुतस्य लिङ्गोक्तम्। अहम्प्रजापतिरूपेणात्मदेवतात्रिष्टुप्। सर्वा० ॥ ०सुतस्य ते देव। इन्द्र इन्द्रियावतः' ० "तदु मे पितासु।" इति काण्व० ।

निमित्त (ग्रहान्) समस्त राज्य के अंगों को मैं (ऋध्यासम्) समृद्ध करता हूँ । (अहम्) मैं (परस्ताद्) परे से परे, दूर देशों में और (अव-स्तात्) अति समीप अपने अधीन के देशों में भी (ऋध्यासम्) समृद्ध होऊं । (यद् अन्तरिक्षम्) जो अन्तरिक्ष अर्थात् बीच का उत्तम प्रदेश है (तत् उ) वह भी (मे) मेरा (पिता अभूत्) पालक ही हो । (अहम्) मैं (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी विद्वान् को ही (उभयतः) दोनों ओर (ददर्श) देखूं । और (देवानाम्) देव, विद्वान् पदाधिकारियों के (गुहा) गुहा या हृदय में (यत्) जो (परमम्) परम तत्त्व ज्ञान हो उसका भी दर्शन करूं ॥ शत० ४ । ४ । २ । ११ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे सोम ! वर ! बड़े विद्वान् के पुत्र आह्लादक ऐश्वर्य-वान् वीर्यवान्, पत्नी सहित तेरे (ग्रहान्) स्वीकार किये समस्त कर्त्तव्यों को आगे पीछे मैं पत्नी बढ़ाऊंगी । हमें अन्तःकरण का विज्ञान प्राप्त हो। दोनों तरफ़ अर्थात् इस लोक परलोक दोनों में उस (सूर्य) सबके प्रेरक परमेश्वर को अपना पालक देखती हूँ । जो विद्वानों के हृदय में परम तत्त्व रूप से गुप्त रहता है ।

अग्ना३इ पत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा । प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशाय ॥ १० ॥

गृहपतयो देवताः । विराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी राजन् ! (पत्नीवन्) राष्ट्र के पालन करने वाली अपनी शक्ति सहित ! तू (देवेन) देव, दानशील (त्वष्ट्रा) त्वष्टा, सूर्यवत् तेजस्वी सेनापति के साथ (सजूः) सहयोग

१०—अग्नाई पत्नीश्यम् । प्रजापतिः प्राजपित्यम् ।। सर्वा० अग्ने वाक्-पीन सजू०' इति काण्व० ।

करके (सोमम् पिव) सोम नाम राज पद का उपभोग कर (स्वाहा) इससे तेरा उत्तम यश होगा। हे राजन्! (प्रजापतिः) तू प्रजा का पालक (वृषा) राष्ट्र पर सुखों का वर्षक या राष्ट्र का व्यवस्थापक (असि) है। तू (रेतोधाः) जल को मेघवत् बल वीर्य को धारण करने कराने वाला है (मयि) मुझ राष्ट्र वासी प्रजाजन में भी (रेतः) वीर्य को (धाः) धारण करा। (प्रजापतेः) प्रजा के पालकवत्, (वृष्णः) सब सुखों के वर्षक, (रेतोधसः) उत्पादक, वीर्यधारक (ते) तेरे (रेतोधाम्) वीर्य धारण करने में समर्थ राष्ट्र का (अशीय) मैं प्रजाजन भी भोग करूं॥ शत० ४।४।२।१५-१८॥

गृहस्थ पक्ष में—हे अग्ने पत्नीवन्! स्वामिन् (देवेन त्वष्ट्रा सजूः) त्वष्टा, वीर्य को पुत्र रूप से परिणत करने वाले दिव्य सामर्थ्य से युक्त हो कर तू (स्वाहा सोमम् पिव) वेदोपदिष्ट उत्तम रीति से सोम, ओषधि का पान कर। हे पुरुष! पते! तू प्रजा का पालक, वीर्य सेचन में समर्थ, रेतस्, वीर्यधारण कराने वाला है। तू (मयि) मुझ पत्नी में वीर्य धारण करे। तुझप्रजापति के (रेतोधाम् अशीय) वीर्यवान् पुत्र को प्राप्त करूं।

उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यान्त्वा।
हर्योर्धाना स्थ सहसोमा इन्द्राय॥ ११॥

गृहपतयो देवताः। भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। गान्धारः॥

हे सोम राजन्! तू (उपयाम-गृहीतः असि) उपयाम अर्थात् राज्य तन्त्र द्वारा बद्ध है। तू (हरिः असि) राज्य को चलाने में समर्थ है। तू (हारियोजनः) राष्ट्र के कार्यों को उठाने और चलाने वाले अपने अधीन पदाधिकारियों को, सारथी जिस प्रकार घोड़ों को लगाता है उसी प्रकार

११—हरिरस्यृक्सामे। हर्योर्यस्त लिंगोक्त। सर्वा०॥ हर्योरित्य स्यधानाः देवताः इति अनन्त०॥

नाना पदों पर नियुक्त करने हारा है। (त्वा) तुझ वीर पुरुष को (हरिभ्याम्) उक्त दोनों ही हरि पदों के लिये नियुक्त करता हूँ। हे अन्य पदाधिकारीगण आप सब लोग (सहसोमा) मुख्य राजा सहित (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् राजा या राज्य के लिये सभी (हर्योः धानाः स्थ) रथ में अश्ववत् दोनों हरि पदों के धारण करने हारे हो ॥ शत० ४।४।३।६ ॥

राज्य तन्त्र के समान गृहस्थ तन्त्र में—हे पुरुष ! तु (उपयाम-गृहीतः असि) स्त्री से विवाह द्वारा स्वीकृत है। अश्व के समान गृहस्थ को बहन करने और सारथि के समान उसको सत् मार्ग पर ले चलने वाला भी है। तुझको ऋक्, साम के समान स्त्री पुरुष दोनों के हित के लिये गृहपति रूप में मैं वरती हूँ। हे विद्वान् पुरुषो ! आप दोनों सब मेरे पति सोम सहित हम समस्त स्त्री पुरुषों को सन्मार्ग में धारण करने हारे (स्थ) रहो ॥

यस्ते॑ऽअश्वस॒निर्भ॒क्षो यो गो॑स॒निस्तस्य॑ त॒ऽइ॒ष्टय॑जुष स्तु॒त स्तो॑मस्य श॒स्तोक्थ॒स्योप॑हूत॒स्योप॑हूतो भक्षयामि ॥ १२ ॥

गृहपतयो देवताः। आर्षी पंक्तिः। पञ्चमः ॥

भा०—हे सोम राजन् ! (यः ते) जो तू (अश्व-सनिः) अश्वों से युक्त और (यः) जो तू (गो-सनिः) गौ आदि पशुओं से युक्त (भक्षः) बल या राज्य की रक्षा करनेवाला अन्नरूप राज्य का भोक्ता है (तस्य) उस (इष्ट-यजुषः) यज्ञशील, युद्धविजयी (स्तुत-स्तोमस्य) प्रशस्त सेना संघ से युक्त और (शस्तोक्थस्य) उत्तम विद्वान् ब्राह्मणों से युक्त (उपहूतस्य) आदरपूर्वक आमन्त्रित एवं राज्यपद में अभिषिक्त तेरे द्वारा ही (उप-हूतः) आदरपूर्वक अनुज्ञा पाकर हम प्रजाजन भी (भक्षयामि) उक्त सामर्थ्य को भोग करें ॥ शत० ४ । ४ । ३ । ११—१५ ॥

१२—भक्षणीयं द्रव्यं देवता इति अनन्त० । 'यस्ते देवाश्वसनि०' '०क्थस्योपहूत उपहूतस्य भ०' इति काण्व० ॥

गृहस्थतन्त्र में—हे पते ! तू अश्वों और गौ आदि ऐश्वर्यों से युक्त, अथवा अश्व, कर्मेन्द्रिय और गौ, ज्ञानेन्द्रियों से युक्त, अथवा अग्न्यादि, विद्या और भूमि का भोक्ता और दाता है उस तीनों वेदों के तुझ विद्वान् को आदर पूर्वक निमन्त्रित कर शेष का उपभोग करूं। इसी प्रकार पति अपनी विदुषी उदारपत्नी एवं अन्य बन्धुओं को आदरपूर्वक बुलाकर भोजनादि करावें।

[1]देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि [2]मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि [3]पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्या[4]त्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्ये[5]नसऽएनसोऽवयजनमसि। [6]यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि॥ १३॥

विश्वेदेवा गृहपतयो देवताः। (१ ३ ४) निचृत्साम्नी। (२) साम्नी, (५) प्राजापत्या, (६) निचृदार्षी उष्णिक्। ऋषभः॥

भा०—हे परमेश्वर और हे राजन् ! तु (देवकृतस्य) दानशील या उपदेशकों विद्वान धनी पुरुषों के किये (एनसः) पाप अपराध को (अवयजनम् असि) दूर करनेवाला है। तु (मनुष्यकृतस्य एनसः) मनुष्यों द्वारा किये पाप को भी (अवयजनम् असि) दूर करनेहारा है। इसी प्रकार (पितृकृतस्य) माता पिता या राष्ट्र के पालक जनों के किये पाप और अपराध का (अवयजनम् असि) दूर करने का साधन है। (आत्मकृतस्य एनसः अवयजनम् असि) अपने आप किये गये पाप और अपराध को दूर करने में समर्थ है। (एनसः एनसः अवयजनम् असि) एक पाप या अपराध के कारण उससे उत्पन्न होनेवाले दूसरे अन्य अपराध या पाप को भी दूर करनेहारा है। अथवा (एनसः एनसः) प्रत्येक प्रकार के अपराध या पाप को दूर करनेहारा है। और (यत् च) जो

१३—देवकृतस्याग्नेयानि षट्।

(एनः) अपराध या पाप (अहम्) मैं (विद्वान् चकार) जान बूझ कर करूं और (यत् च अहम् अविद्वान् चकार) जो अपराध मैं बिना जाने करूं (तस्य सर्वस्य एनसः अवयजनम् असि) उस सब प्रकार के अपराध को तू दूर करने में समर्थ है ।

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन । त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥१४॥

अथर्व० ६ । ५३ । ३ ॥

भरद्वाज ऋषिः । गृहपतयो विश्वेदेवा देवताः विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हम लोग (वर्चसा) तेज, ब्रह्मवर्चस और अन्न (पयसा) जल, दुग्ध आदि पुष्टिकर पदार्थ, (तनूभिः) उत्तम शरीर और (शिवेन मनसा) कल्याणकारी शुभ चित्त से सदा (सम् अगन्महि) संयुक्त हों । (सुदत्रः) उत्तम दानशील पुरुष, परमेश्वर या सुखप्रद वैद्य (रायः विदधातु) समस्त ऐश्वर्य प्रदान करे । (यत्) जो हमारे (तन्वः) शरीर का (विलिष्टम् = विरिष्टम्) पीड़ित, दुःखित भाग हो उसको (अनुमार्ष्टु) वह सुख युक्त करे ॥ शत० ४ । ४ । ४ । ८ ॥

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सꣳ सूरिभिर्मघवन्त्सꣳ स्वस्त्या । सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानाꣳ सुमतौ यज्ञियानाꣳ स्वाहा ॥ १५ ॥

ऋ० ५ । ४२ ४ ॥

अत्रिर्ऋषिः । गृहपतिर्देवता भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् हे (मघवन्) परम श्रेष्ठ ! धनवन् ! (नः) हमें (मनसा) मन से (गोभिः) इन्द्रियों, वेदवाणी गौ आदि पशुओं और (सूरिभिः) विद्वान् पुरुषों के साथ (सं नेषि) संगत कर, या इन द्वारा हमें सत्मार्ग पर चला । और (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद या धन से और (देवकृतम् यत् अस्ति) देव, विद्वान् या इन्द्रियों

द्वारा जो उत्तम कार्य किया जाता है उससे भी हमें (सं नेषि) संगत कर । हमें उससे युक्त कर और (यज्ञियानां) सत्संग करने योग्य, आदरणीय (देवानाम्) श्रेष्ठ विद्वान् पुरुषों के (सुमतौ) शुभ मति के अधीन हमें (स्वाहा) उत्तम ज्ञानवाणी द्वारा (स्वस्त्या) सुखपूर्वक (सं नेषि) सब कुछ प्राप्त करा । (स्वाहा) यह तेरा उत्तम यशोजनक कर्त्तव्य है ॥ शत० ४ । ४ । ४ । ७ ॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १६ ॥

भा०—व्याख्या देखो [अ० २ । २४ और अ० ५ । १४] ।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवो अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया सꣳ रराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा ॥ १७ ॥ अथर्व० ७ । १७ । ४ ॥

विश्वेदेवा गृहपतयो देवताः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—(धाता रातिः सविता प्रजापतिः निधिपा अग्निः देवः त्वष्टा विष्णुः) धाता, राति, सविता, प्रजापति, अग्नि, त्वष्टा और विष्णु ये सब देवगण अधिकारी वर्ग (इदम् जुषन्ताम्) इस परस्पर के सहयोग से बने राष्ट्र को प्रेम से स्वीकार करें और (प्रजया) अपने संतान के समान प्रजा के साथ (सं रराणाः) अच्छी प्रकार आनन्द प्रसन्न रहते और जीवन को सुखी करते हुए, (यजमानाय) अपने को धारण पोषण देने वाले राजा को (द्रविणम्) धनैश्वर्य (स्वाहा) उत्तम धर्मयुक्त रीति से (दधात) प्रदान करें, उसे पुष्ट करें । श० ४ । ४ । ९ ॥

सुगा वो देवाः सदना ऽअकर्म य ऽआजग्मेदꣳ सवनं जुषाणाः ।

१७—धाता लिङ्गोक्तबाहुदेवत्या । सुगा वो देवा ।

भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥१८॥
अथर्व० ७ । ९७ । ४ ॥

विश्वेदेवा देवताः । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (देवाः) देव, विद्वानों और दानशील वैश्य पुरुषो ! या राजपदाधिकारियो ! (ये) जो आप लोग (इदं) इस (सवनं जुषाणाः) राष्ट्रमय यज्ञ की सेवा करते हुए और (हवींषि) नाना अन्न आदि उपादेय पदार्थों को (भरमाणाः) भोग करते हुए और (वहमानाः) उनको प्राप्त करते हुए अथवा (भरमाणाः) यहाँ से लेजाते हुए और (वहमानाः) यहां को लाते हुए (आजग्मुः) आते हैं (वः) उन आप लोगों के लिये (सुगाः) सुखपूर्वक चलने योग्य मार्ग और (सदना) उत्तम आश्रय स्थान, व्यापार के निमित्त मार्ग और दुकान, मण्डियां, मार्केट या बाज़ार आदि हम (अकर्म) बनावें। हे (वसवः) यहाँ के निवासी वसुजनो, प्रजाजनो ! आप लोग (अस्मे) हमारे राष्ट्र के लिये (स्वाहा) उत्तम रूप से धर्मानुकूल प्राप्त करने और दान देने योग्य (वसूनि धत्त) ऐश्वर्यों को धारण करो, कराओ ॥ शत० ४ । ४ । ४ । १० ॥

याँ२ऽ आवहऽ उशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वे ऽअग्ने सधस्थे। जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च विश्वेऽ सुं घर्म्मꣳस्वरातिष्ठतानु स्वाहा ॥ १६ ॥
अथर्व० ७ । ९३ । ३ ॥

गृहपतयो देवताः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

१८—यास्कसम्मतः पाठस्तु–'सुगा वो देवाः सदनमकर्म य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः । जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि ।'

(द्वि०) य आजग्म सवनेमा जुषाणाः । (तृ०) वहमाना भरमाणा स्वा वसूनि (च०) वसुं धर्मं दिवमारोहतानु इति अथर्व० ॥

१६-२०—यों आवहो, वयम् आग्नेय्यौ । सर्वा० ।

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी पुरुष ! हे (देव) राजन् ! (यान्) जिन (उशतः) नाना कामनाओं और इच्छाओं से युक्त (देवान्) देवों, विद्वानों, ऐश्वर्यवान् पुरुषों को तू स्वयं (स्वे सधस्थे) अपने सहयोग के पद पर (आवह) स्थापित करता है (तान्) उनको (प्रेरय) प्रेरित कर । हे (देवाः) राजपदाधिकारी पुरुषो ! आप लोग (जक्षिवांसः) भोजन करते हुए (पपिवांसः च) जल आदि पान करते हुए (स्वाहा) उत्तम रीति से (असुम्) अपने प्रज्ञा और प्राण को प्राप्त करो। (घर्मम्) अतितेजोयुक्त (स्वः) सुखमय उत्तम पद पर अनु (आतिष्ठत) विराजो और सुखी रहो ॥ शत० ४ । ४ । ४ । ११ ॥

वयꣳ हि त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह । ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन्यज्ञमुपयाहि विद्वान्त्स्वाहा ॥२०

अथर्व० ७ । ९७ । १ ॥

गृहपतयो देवताः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! (वयं) हम सब लोग (अस्मिन्) इस (प्रयति यज्ञे) राष्ट्ररूप यज्ञ के प्रारम्भ में ही (इह) इस यज्ञ में (होतारम्) यज्ञ में होता के समान यज्ञनिष्पादक रूप से आदान-प्रतिदान करने में निपुण नेता का वरण करते हैं । हे विद्वान् समर्थ पुरुष ! तू (ऋधक्) समृद्धि-सम्पत्ति की वृद्धि करता हुआ (अयाः) इस महान् यज्ञ को सम्पादन कर । (उत) और (ऋधक्) समृद्धि करता हुआ ही (अशमिष्ठाः) इस कार्य में आने वाले विघ्नों का शमन कर । तू (यज्ञम्) यज्ञ, राष्ट्र के व्यवस्था के समस्त कार्य को (विद्वान्) जानता हुआ ही (स्वाहा) उत्तम विज्ञान सहित (उप याहि) प्राप्त हो ॥ शत० ४ । ४ । ४ । १२ ॥

यो य कार्य में योग्य पुरुष को वरण करके उसे उस कार्य के लिये

नियत करें। वह उसको करे और उसके बीच में आनेवाले विघ्नों का वही शमन करे॥

देवा गातुविदो गातुं वित्वा गातुमित।
मनसस्पत ऽइमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः॥ २१॥

गृहपतयो देवताः। स्वराडार्ष्युष्णिक्। ऋषभः।

भा०—इसकी व्याख्या देखो [अ० २। मं० २१।]। शत० ४। ४। ४। १३॥

[1]यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा। [2]एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तञ्जुषस्व स्वाहा॥२२॥

गृहपतयो देवताः (१) भुरिक् साम्नी बृहती (२) विराडार्ची बृहती। मध्यमः॥

भा०—हे (यज्ञ) यज्ञ! राष्ट्ररूप यज्ञ! तू (यज्ञम्) परस्पर की संगति को, एक दूसरे के प्रति समर्पण भाव को (गच्छ) प्राप्त कर। (यज्ञपतिम् गच्छ) उसको पालन करने वाले योग्य, समर्थ पुरुष को प्राप्त कर। तू (स्वाम् योनिम् गच्छ) अपने आश्रय को प्राप्त कर। (स्वाहा) तभी उत्तम रीति से सम्पादन हो सकता है। हे (यज्ञपते) यज्ञ के पालक राष्ट्रपते! (ते) तेरा ही (एषः यज्ञः) यह यज्ञ है। यह (सह सूक्तवाकः) उत्तम वेद के सूक्तों का अध्ययन करनेवाले विद्वान् पुरुषों से युक्त और (सर्ववीरः) सब प्रकार के वीर पुरुषों से युक्त है। (तम्) उसको तू (स्वाहा) उत्तम रीति से वेदानुकूल (जुषस्व) स्वीकार कर॥ शत० ४। ४। ४। १४॥

[1]माहिर्भूर्मा पृदाकुः। [2]उरुꣳ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ। अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित्। [3]नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः॥ २३॥

ऋ० १। २४। ८॥

२३—शुनःशेपो वारुणीं त्रिष्टुभम्। सर्वा०। नमो वारुणम्॥ सर्वा०।

गृहपतयो देवताः। (१) याजुषी उष्णिक्। ऋषभः॥ (२) ऋग्वेदे शुनःशेप ऋषिः। वरुणो देवता। भुरिगार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः (३) आसुरी गायत्री षड्जः॥

भा०—राज्यव्यवस्था में राजा की न्यायानुकूल व्यवस्था। हे पुरुष! तू (अहिः मा भूः) सांप के समान कुटिल, क्रोधी मत बन। (मा पृदाकुः) अजगर के समान सब प्राणियों को निगलनेवाला, एवं उनको अपने बंधन में बाँधकर मारनेवाला, क्रूर या कुत्सितभाषी भी तू मत बन। (वरुणः राजा) सर्वश्रेष्ठ राजा ने (सूर्याय) सूर्य के प्रकाश के समान उज्ज्वल सत्य तक (अनु एतवे उ) पहुंचने के लिये ही (उरुम् पन्थाम् चकार) विशाल मार्ग बना दिया है। वह (अपदे) जहां पैर भी नहीं रखा जा सके ऐसे स्थानों में भी (पादा प्रतिधातवे) पैर रखने के लिये मार्ग (अकः) बना देता है और वह वरुण श्रेष्ठ राजा (हृदयाविधः चित्) हृदय को कटु वाक्यों और अपने क्रूर कृत्यों से दूसरों के छेदने वाले मर्मभेदी दुष्ट पुरुष का भी (अपवक्ता) अपवाद करनेवाला उसके प्रति अभियोग चला कर निग्रह करनेवाला है। ऐसे (वरुणाय) सर्वश्रेष्ठ पापों के वारण करनेहारे राजा को (नमः) नमस्कार है। (वरुणस्य) ऐसे सर्वश्रेष्ठ राजा का (पाशः) पाश, राज्य नियमों का दमनकारी पाश (अभिष्ठितः) सर्वत्र स्थिर रहे॥ शत० ४। ४। ५। १-११॥

अ॒ग्नेरनी॑कम॒प ऽआवि॑वेशा॒पां नपा॑त् प्रति॒ रक्ष॑न्नसु॒र्य॑म्। दमे॑ दमे स॒मिधं॑ यक्ष्यग्ने॒ प्रति॑ ते जि॒ह्वा घृ॒तमुच्च॑रण्य॒त् स्वाहा॑॥ २४॥

अग्निर्गृहपतिर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(अग्नेः) अग्रणी नेता, राजा का (अनीकम्) मुख्यबल या सेनासमूह (अपां नपात्) प्रजाओं को गिरानेवाला न होकर, उनका विनाशक न होकर प्रत्युत (अपां नपात्) प्रजाओं के पुत्र के समान ही हो

कर (असुर्यम्) उनके प्राण धारणोपयोगी द्रव्य, जान माल की (प्रतिरक्षन् रक्षा करता हुआ (अपः) आप्त प्रजाओं में (आविवेश) प्रविष्ट या व्याप्त होकर रहे। हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! तू (दमे-दमे) घर घर में, या प्रत्येक दमन के कार्य में (समिधम्) प्रकाशयुक्त तेजस्वी पुरुष को (यक्षि) नियुक्त कर। हे राजन् ! (ते) तेरी (जिह्वा) वशकारिणी शक्ति, वा आज्ञा (घृतम्) घृत, तेज उग्रता को (स्वाहा) भली प्रकार (उत् चरण्यत्) प्राप्त करे ॥ शत० ४।४।५।१२॥

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः। यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा ॥ २५ ॥

सोमो गृहपतिर्देवता। भुरिगार्षी पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे राजन् ! (ते) तेरा (हृदयम्) हृदय (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर, (समुद्रे) नाना प्रकार के उन्नतिकारक व्यवहार में लगे। और (त्वाम्) तुझ में (ओषधीः) दुष्टों को दण्डद्वारा पीड़ित करनेवाले जन, अधिकारी (उत्) और (आपः) आप्त प्रजाजन सब (आविशन्तु) आश्रय पावें, वे तेरे आधीन रहें। हे (यज्ञपते) राष्ट्र-यज्ञ के पालक ! (यज्ञस्य) यज्ञ के (सूक्तोक्तौ) जिसमें वेद के सूक्त प्रमाणरूप से कहे जायँ ऐसे उत्तम कार्य में और (नामोवाके) आदर योग्य वचनों के कार्य में (यत्) जो भी (स्वाहा) उत्तम त्याग योग्य और ग्रहण योग्य पदार्थ हैं वह (त्वा) तुझे (विधेम) प्रदान करें ॥ शत० ४।४।५।१०॥

गृहस्थ पक्ष में—वेदादि के अध्ययन कार्य और आदर योग्य वचनों से युक्त (समुद्रे) उत्तम धर्म-कार्य में हे गृहपते ! तेरा हृदय प्रणों के भीतर रहे। ओषधियां और शुद्ध जल तुझे प्राप्त हों। उसी उत्तम कार्य में तुझे हम नियुक्त करें।

२५—समुद्रे त सोमो विराट्। सर्वा०।

देवीराप एष वो गर्भस्तꣳसुप्रीतꣳ सुभृतं बिभृत ।
देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्व ॥ २६ ॥

आपः सोमा गृहपतयो देवताः । स्वराडार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (देवीः) दानशील, या ज्ञान प्रकाशयुक्त (आपः) आप्त प्रजाओ ! (एषः) यह राजा (वः) आप लोगों का (गर्भः) माताओं या गृह-देवियों द्वारा उत्तम रीति से गर्भ के समान रक्षा करने एंव धारण करने योग्य है । (तम्) उसको (सुप्रीतम्) अति उत्तम रीति से तृप्त, संतुष्ट और (सु-भृतम्) उत्तम रीति से परिपुष्ट रूप में (बिभृत) धारण करो । हे (देव सोम) राजन् सर्वप्रेरक सोम ! (ते एषः लोकः) तेरा यह प्रजाजन ही निवास करने योग्य आश्रय है । तू (तस्मिन्) उसमें विद्यमान रहकर (शं वक्ष्व च) शान्ति प्राप्त करा और उसको (परि वक्ष्व च) अन्य नाना पदार्थ प्राप्त करा, अथवा उसको सब ओर से धारण कर । या राष्ट्रवासियों को (परि वक्ष्व) सत्र कष्टों से पार कर, उससे बचा ॥ शत० ४ । ४ । ५ । २१ ॥

गृहस्थ पक्ष में —हे देवियो ! तुम लोग अपने गर्भ को भली प्रकार पुष्ट, तृप्त और सुप्रसन्न रूप में धारण पोषण करो । हे गृहपते ! यह पत्नी ही तेरा आश्रय है । उसको शान्ति दे और उसको अन्य पदार्थ भी प्रदान कर ।

[१] अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः । [२] अव देवैर्देवकृत-मेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि । देवानाꣳ समिदसि ॥ २७ ॥　　　　यजु० २ । ४८ ॥

दम्पती देवत । (१) भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप् । गांधारः ।
(२) स्वराडार्षी बृहती । मध्यमः ॥

२६—देवीरापः पांक्ति बृहता वा पूर्वार्धोच आप उत्तरः । सर्वा० ॥

२७—देवानामाग्नेयम् । सर्वा० ।

भा०—हे राजन् ! हे (अवभृथ) अपने अधीन समस्त अधिकारी और प्रजावर्ग को भरण पोषण करनेहारे ! और हे (निचुम्पुण) मन्द, अलक्षितरूप से गतिशील ! तू ! (निचेरुः असि) नित्य चलता रहता है, सर्वत्र राष्ट्र में व्यापक है पर तो भी (निचुम्पुणः) तेरी अत्यन्त मन्दगति है, तेरी गति का पता नहीं लगता। हे (देव) राजन् ! देव, द्रष्टः ! विजयशील ! दमनकारिन् ! मैं (देवकृतम्) देवों, पूज्य विद्वानों के प्रति किये गये (एनः) अपराध को (देवैः) विद्वान् पुरुषों द्वारा (अव अयासिषम्) दूर कर त्याग दूं । और (मर्त्यकृतम् एनः) साधारण लोगों के प्रति किये अपराध को (मर्त्यैः) साधारण जनों से मिलकर (अव अयासिषम्) दूर करूं। हे (देव) देव ! राजन् ! तू (पुरुराव्णः) नाना विध दारुण कष्टों के देनेवाले (रिषः) हिंसक पुरुष से हमें (पाहि) रक्षा कर । तू (देवानाम्) देव, विद्वानों और समस्त राष्ट्र के पदाधिकारियों के बीच में (समित्) प्रज्वलित काष्ठ वा सूर्य के समान तेजस्वी (असि) है । शत० ४ । ४ । ५ । २२ ॥

[१]एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह । [२]यथायं वायुरेजति यथा समुद्रऽ एजति । [3]एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह ॥२८॥

दम्पती देवते । (३) आसुर्युष्णिक् । ऋषभः ।
(२) प्राजापत्यानुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—मंत्र २६ में राजा को गर्भ से उपमा दी है । उसी का पुनः निर्वाह करते हैं । (दशमास्यः गर्भः) दश मास का गर्भ जिस प्रकार (जरायुणा) जेर के साथ शनैः २ बाहर आता है और माता को प्रसवकाल में पीड़ा देता है उसी प्रकार दश मास के परिपक्व गर्भ के समान अच्युत, दृढ़ (गर्भः) राष्ट्र को पूर्ण प्रकार से ग्रहण करने में समर्थ, वा सुरक्षित राजा

२८—गर्भो देवता । अनन्त० । एजतु त्र्यवसाना महापंक्तिः । सर्वा० ॥

(जरायुणा) अपने जरायु अर्थात् चारों ओर से घेरनेवाले, अपनी स्तुति करने वाले, अपने सपक्ष दल के साथ (एजतु) चले । और (तथा) जिस प्रकार (अयं वायुः) यह वायु बड़े वेग से समस्त वृक्ष आदि कंपाता हुवा (एजति) चलता है और (यथा समुद्रः एजति) जिस प्रकार समुद्र गर्जता हुआ तरङ्गों द्वारा कांपता है (एव) उसी प्रकार (अयम्) यह (दशमास्यः) दशों दिशाओं में मास् अर्थात् चन्द्रमा के समान आह्लादक दशमास्य गर्भ के बालक के समान स्वयं उत्पन्न होनेहारा और प्रजाओं को प्रसन्न करने हारा राजा (जरायुणा सह) अपने स्तुति करने हारे दल के साथ (अस्रत्) बाहर आता है, स्पष्टरूप में प्रकट होता है ॥ शत० ४ । ५ । २ । ४, ५ ॥

'जरायु'—शणा जरायु श० ६ । ६ । २ । १५ ॥ यत्र वा प्रजापतिरजायत गर्भो एतस्मात् यज्ञात् । तस्य यन्नेदिष्ठमुल्वमासीत् ते शणाः ॥ श० ३ । २ । १ ११ ॥

गर्भपक्ष में—दस मास का गर्भ जरायु के साथ चले । जिस वेग से वायु और समुद्र चलता है उस प्रकार विना बाधा के जरायु सहित गर्भ बाहर आवे । इस मन्त्र को महीधर आदि ने गर्भणी गाय के गर्भ-कर्त्तन में लगाया है, सो सर्वथा असंगत है ।

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी । अङ्गान्यहुता यस्य तं मात्रा समजीगमथ्ठं स्वाहा ॥ २९ ॥

दम्पती देवते । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ।

भा०—गृहस्थ पक्ष में—(यस्यै) जिसका (यज्ञियः) संगीत के योग्य (गर्भः) गर्भाशय है और (यस्यै) जिसकी (योनिः) योनि, आश्रय, देश वा भूमि भी (हिरण्ययी) अभिरमण करने योग्य है, अथवा स्वर्ण के समान

२९—यस्यै ते वशा । सर्वा० ।

स्वच्छ, सम्पन्न निर्दोष हैं उस (मात्रा) पुत्र की भावी माता होने योग्य स्त्री के साथ (तम्) उस पुरुष को (यस्य अंगानि) जिसके अंग (अह्रुता) कुटिल नहीं हों, (सम् अजीगमम्) हम संग करावें। (स्वाहा) यही उत्तम प्रजननाहुति है। अथवा तभी उत्तम गर्भ ग्रहण होता है ॥ शत० ४।५।२।१४॥

इस मन्त्र में 'मातृ' पद पुत्रोत्पत्ति के पूर्व ही वेद का कहना इसलिये संगत है कि (१) डिम्ब को उत्पन्न करने से ही वह प्रथम माता है। (२) पुत्रोत्पादन से वह भावीकाल में 'माता' बनेगी (३) उस स्त्री को मातृशक्ति या उत्पादिका शक्ति ही संगति में प्रेरित करे।

राजा के पक्ष में—(यस्यै) जिस पृथिवी के हित के लिये (यज्ञियः) राष्ट्र एवं प्रजापति पद के योग्य ही (गर्भः) उसके वश करने में समर्थ, पुरुष है। और (यस्यै) जिसकी (योनिः) आश्रय (हिरण्ययी) सुवर्ण आदि ऐश्वर्य से युक्त कोश है। उस (मात्रा) माता के समान पृथिवी के के साथ (तम्) उस राजा को (यस्य अङ्गानि अह्रुतानि) जिसके अंग अर्थात् देह वा राज्य के समस्त अंग कुटिलता से रहित, निर्दोष हों जो सत्यवादी, सौम्य, और धर्मात्मा हो उसको उस पृथिवी के ऊपर शासन के लिये (सम् अजीगमम्) मैं पुरोहित संयुक्त करता हूँ।

पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः। एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताᳬ स्वाहा ॥३०॥

दम्पती देवते। गर्भव्यवस्था। आर्षी जगती। मध्यमः॥

भा०—(पुरुदस्मः) अति अधिक दानशील, अथवा बहुत से प्रजाजनों के बीच दर्शनीय, अथवा बहुत से दुखों का नाशक (विपुरूपा) राष्ट्र में व्यापक, बहुत से रूपों में प्रकट होनेवाला (इन्दुः) ऐश्वर्यवान्

३०—पुरदस्यागर्भः। सर्वा०।

(धीरः) धीर, बुद्धिमान्, सर्व व्यवहारों में कुशल होकर (अन्तः) प्रजाओं के बीच (महिमानम्) अपने महान् सामर्थ्य को (आनञ्ज) प्रकट करता है। हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (एकपदीम्) राजा रूप एकमात्र चरण अर्थात् आश्रयवाली (द्विपदीम्) राजा और राजाङ्गरूप से दो चरणवाली, (त्रिपदीम्) राजा, राज्याङ्ग और राजसभा इन तीन अंगों से तीन चरणोंवाली, (चतुष्पदीम्) चारों वर्णों से चतुष्पदी, चार चरणोंवाली अथवा सेना के चार अंगों द्वारा चतुष्पदी और (अष्टापदीम्) चार वर्ण और चार आश्रम द्वारा अष्टापदी अथवा राज्य के सात अंग और पुरोहित इनसे अष्टापदी, 'वशा' अर्थात् राज्य की वशकारिणी शक्ति को (भुवना अनु) समस्त भुवनों में (स्वाहा) उत्तम रीति से (प्रथन्ताम्) विस्तृत करो ॥ शत० ४ । ५ । २ । १२ ॥

गृहस्थ पक्ष में—दुखों का नाशक, ऐश्वर्यवान्, धीर, गृहस्थ पुरुष अपने सामर्थ्यरूप वीर्य को स्त्री के भीतर स्थापित करे। सब लोग एकपदी, द्विपदी आदि विशेषणों से युक्त वेदवाणी को सर्वत्र विस्तृत करें । 'ओम्' यह एक पद। शब्द और अर्थ दो पद। ऋग्, यजु, साम तीन पद। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चार पद। ४ वर्ण, ४ आश्रम आठ पद। अर्थात् इनको प्राप्त करानेवाली।

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः ।
स सुगोपातमो जनः ॥ ३१ ॥ ऋ० १ । ८६ । १ ॥

गोतमऋषिः । दम्पती गृहपतयो वा मरुतो देवताः । आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (विमहसः) विविध रूपों से और विशेष रीति से पूजन, आदर-सत्कार करने योग्य (मरुतः) मरुद्गणो ! वैश्यजनो ! और विद्वान् पुरुषो ! एवं वायु के समान तीव्रगामी सैनिक पुरुषो ! आप लोग (यस्य हि क्षये) जिसके अधीन राष्ट्र में रहकर (दिवः) दिव्यगुणों या उत्तम पदार्थों को (पाथ) प्राप्त होते और पालन करते हो (सः) वह

ही (जनः) पुरुष (सु-गोपा-तमः) सबसे उत्तम पृथ्वी या वाणी या प्रजा का रक्षक है ॥ शत० ४ । ५ । २ । १७ ॥

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् ।
पिपृतां नो भरीमभिः ॥ ३२ ॥ ऋ० १ । २२ । १३ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ दम्पती देवते । आर्षी गायत्री । षड्जः ।

भा०—(मही) बड़ी भारी पूजनीय (द्यौः) आकाश के समान या सूर्य के समान तेजस्वी और वीर्यवान्, सेचनसमर्थ राजा और पति और (पृथिवी च) उसके आश्रय पर प्राण धारण करनेवाली पृथिवी और धारणादि शक्ति सम्पन्न स्त्री के समान पृथिवीवासिनी प्रजा, दोनों (इमं यज्ञम्) इस राष्ट्रमय और गृहस्थरूप यज्ञ को (मिमिक्षताम्) सेचन करे। जैसे सूर्य पृथिवी पर वर्षा करता है और पृथ्वी अपना जल प्रदान करती है इस प्रकार वे प्राणियों के जीवनरूप अन्न से उनको पालते हैं उसी प्रकार राजा प्रजा से कर ले, प्रजा राजा के ऐश्वर्यों से बलवान् बने । इसी प्रकार पति पत्नी वीर्य सेचन करें और प्रजा लाभ करें । और दोनों (नः) हमें (भरीमभिः) भरण पोषणकारी पदार्थों और साधनों से (पिपृताम्) पालन करें, पूर्ण करें ॥ शत० ४ । ५ । २ । १८ ॥

[१]आतिष्ठ वृत्रहन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी । अर्वाचीनꣳ सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना । [२]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन ऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३३ ॥ ऋ० १ । ८४ । ३ ॥

गोतम ऋषिः । षोडशी इन्द्रो गृहपतिर्देवता । (१) आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः आर्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—षोडषी इन्द्र का वर्णन—हे (वृत्रहन्) वृत्र—मेघ के समान पुर के घेरने वाले शत्रु के या विघ्नकारी पुरुष के नाशकारिन् ! राजन् ! तू (रथम्) रमणीय राज्यासन रूप रथ पर (आ तिष्ठ) विराजमान हो ।

(ते) तेरे (हरी) हरणशील, वेगवान् अश्वों के समान धारण, आकर्षण गुण (ब्रह्मणा) ब्रह्म ज्ञान या ज्ञानी पुरुष, ब्रह्मवेत्ता विद्वान् या ऐश्वर्य या बल से (युक्ता) युक्त हों। (ग्रावा) मेघ के समान सुखों का वर्षक, ज्ञानोपदेशक विद्वान् (वग्नुना) उत्तम वाणी द्वारा (अर्वाचीनम्) अधो-गामी वा अभिमुख (ते मनः) तेरे चित्त को (सु कृणोतु) उत्तम मार्ग में प्रवृत्त करे। हे पुरुष! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्य की नियमव्यवस्था द्वारा स्वीकृत है। (त्वा) तुझको (षोडशिने इन्द्राय) सोलहों कलाओं से सम्पन्न, इन्द्र परमैश्वर्यवान् राजा के लिये नियुक्त करता हूं (ते एषः योनिः) तेरा यह आश्रय, पद है। (त्वा षोडशिने इन्द्राय) तुझ योग्य पुरुष को षोडश कला वाले राज्य के प्रधान १६ पदाधिकार शक्तियों से युक्त अथवा १६ महामात्यों से युक्त इन्द्र के लिये नियुक्त करता हूँ॥ शत० ४। ५। ३। ९॥

षोडष कला—स प्रजापतिः षोडशधा आत्मानं व्यकुरुत। भद्रं च समाप्तिश्चाऽऽभूतिश्च सम्भूतिश्च, भूतं च सर्वं च, रूपञ्चापरिमितं च, श्रीश्च यशश्च नाम चाग्रञ्च, सजाताश्च पयश्च मही च रसश्च। जै० उ० १। ४६। २॥ प्रजापति की भद्र आदि १६ कला हैं। राज्य के १६ अमात्य १६ कला हैं। यज्ञ में १६ ऋत्विज् हैं। देह में शिर, ग्रीवा आदि १६ अंग हैं। ब्रह्म में सत्, असत्, वाक् आदि १६ कला हैं। गृहपति पक्ष में मंत्र स्पष्ट है।

[1]युद्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा। अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिने ऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥ ३४॥ ऋ० १। १४। ३॥

मधुच्छन्दा ऋषिः। षोडशी इन्द्रो गृहपतिर्वा देवता। (१) विराडार्ष्यनुष्टुप्। गान्धारः। (२) आर्ष्युष्णिक् ऋषभः॥

३४—'षोळशि०' सर्वत्र काण्व०॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! तू (वृषणा) वीर्यवान्, वर्षणशील, (केशिनौ) उत्तम केशों वाले (कक्ष्य-प्रा) बगल में बंधने की पेटी से भरे पूरे, कसे कसाये, (हरी) दो अश्वों को अपने रथ में (युक्ष्व) जोड़। उसी प्रकार अपने रमणीय राष्ट्र में (कक्ष्य-प्रा) एक दूसरे के कक्ष्य अर्थात् दायें बांयें पार्श्वों के पूर्ण करने वाले, (वृषणा) वीर्य सेचन में समर्थ, (हरी) परस्पर के चित्तहारी (केशिनौ) उत्तम प्रसाधित केशवान्, सुरूप स्त्री पुरुष रूप जोड़ों को गृहस्थ कार्य में (युक्ष्व) नियुक्त कर। तू (सोम-पाः) सोम=राष्ट्र का पालक होकर (नः) हमारी (उप-श्रुतिम्) स्पष्ट सुनी जाने वाली (गिराम्) वाणी को प्राप्त कर, जान। (उपयामगृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ४।५।३।१०॥

[१]इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्। [२]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३५ ॥ ऋ० १। ८४। २॥

गोतम ऋषिः। षोडशीन्द्रो गृहपति देवता। विराडार्ष्यनुष्टुप्। गान्धारः (२) आर्ष्युष्णिक् ऋषभः॥

भा०—(अप्रतिधृष्टशवसम्) जिसके बल को शत्रु कभी सहन करने में समर्थ नहीं हैं ऐसे (इन्द्रम्) इन्द्र, परमैश्वर्यवान् राजा या सेनापति को ही (हरी) तीव्र गतिमान् अश्व (वहतः) वहन करते हैं। हे वीर-पुरुष राजन् ! तू (ऋषीणाम्) वेद-मन्त्रार्थ-द्रष्टा ऋषियों की (स्तुतीः) स्तुतियों और (मानुषाणां च) मनुष्यों के (यज्ञम्) आदर-सत्कार को (उप) प्राप्त हो।

परमेश्वर पक्ष में—हरी = ऋग्वेद और सामवेद। दोनों उस सर्वशक्तिमान् का वर्णन करते हैं। सब ऋषियों की स्तुतियाँ और सबकी उपासना उसी को प्राप्त हैं ॥

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥ ३६ ॥

विवस्वान् ऋषिः । इन्द्रः । षोडशी प्रजापतिः परब्रह्म परमेश्वरो वा देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप । धैवतः ॥

भा०—(यस्मात्) जिससे (परः) उत्कृष्ट, उत्तम (परः अन्यः) दूसरा कोई (न जातः अस्ति) नहीं हुआ है और (यः) जो (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवनों, लोकों में (आविवेश) आविष्ट, विराजमान, एवं व्यापक है । वह (प्रजापतिः) प्रजा का पालक राजा और परमेश्वर (प्रजया) अपनी प्रजा से (सं रराणः) भली प्रकार रमण करता हुआ अथवा समस्त उत्तम पदार्थों का दान करता हुआ (त्रीणि ज्योतींषि) सूर्य, विद्युत्, और अग्नि इन तीनों ज्योतियों को (सचते) अपने भीतर धारण करता है । (सः) वह ही (षोडशी) सोलहों कलाओं से युक्त है ॥

ब्रह्म पक्ष में—इच्छा, प्राण, श्रद्धा, पृथिवी, आपः, अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तपः, मन्त्र, लोक और नाम ये १६ कला हैं (देखो प्रश्न उप०) !

राजा के पक्ष में—'षोडषी' प्रजापति सम्राट् वह कहानेयोग्य है, जिस से उत्कृष्ट दूसरा न हो । वह अपने राज्य के समस्त स्थानों और पदों पर शासक हो । वह अपनी प्रजा सहित रमण करता हुआ तीनों ज्योति सूर्य, विद्युत् अग्नि के समान तेजस्वी हो । वह 'षोडशी' सोलह कलावान् अथवा १६ राजसभा के सदस्यों से युक्त पुरुष पुरुषोत्तम पद का भागी होता है ॥

[1] इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्र एतम् । [2] तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥ ३७ ॥

विवस्वान् ऋषिः । इन्द्रावरुणौ सम्राट्माण्डलिकराजानौ देवते । (१) साम्नी त्रिष्टुप् (२) आर्ची त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(इन्द्रः वरुणः च) इन्द्र और वरुण (सम्राट् राजा च) दोनों क्रम से सम्राट् और राजा हैं । अर्थात् महाराजा चक्रवर्ती राजा को सम्राट् या इन्द्र कहा जाता है और माण्डलिक राजा को राजा या वरुण कहना उचित है । हे प्रजाजन ! या हे राष्ट्र ! (तौ) वे दोनों (अग्रे) सब से प्रथम, मुख्य पद पर विराज कर (ते) तेरे (एतम्) इस (भक्षम्) उपभोग करने योग्य पदार्थ को सेवन (चक्रतुः) करते हैं और (तयोः अनु) उन दोनों के बाद (अहम्) मैं विद्वान् प्रजाजन (भक्षम् अनुभक्षयामि) राष्ट्र के भोग्य पदार्थ का भोग करता हूं । (वाग्) वाणी जिस प्रकार (प्राणेन स्वाहा) प्राण के साथ मिलकर (सोमं जुषाणा) ज्ञान का सेवन करती हुई तृप्त होती है उसी प्रकार यह (देवी) देवी, पृथिवी या महारानी (सोमस्य) सब के शासन करने हारे राजा के साथ (जुषाणा) प्रेम करती हुई (स्वाहा) उत्तम कीर्ति से (तृप्यतु) तृप्त हो ॥

[1]अग्ने पवस्व स्वपाऽअस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषम् । [2] उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे । [3] अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वाँस्त्वन्देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३८ ॥

वैखानस ऋषिः । राजादयो गृहपतयो वा अग्निर्देवता । भुरिक् त्रिपाद् गायत्री । षड्जः । (२) स्वराडार्च्यनुष्टुप् । (२) भुरिगार्च्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी, ज्ञानवान् पुरुष ! तू (स्वपाः) शुभ कर्म

३७—इन्द्रश्चेन्द्रावारुणी । षोडशीदेवत्या वा यजुरन्ता । सर्वा० ।

३८—'१' इत्यस्य स्थाने 'अग्न आयूंषि०' इत्ययं च (यजु० १९ । ३८) पठ्यते । काण्व० । अग्ने वर्चस्वन्० इति काण्व० ॥

और ज्ञान से युक्त हो और (अस्मे) हमें (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य से युक्त (वर्चः) तेज (पवस्व) प्रदान कर । (मयि) मुझ में (पोषम्) पुष्टि-कारक समृद्धिजनक (रयिम्) वीर्य और ऐश्वर्य (दधत्) धारण करा । हे पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) उत्तम राज्यव्यवस्था के वश है । (अग्नये) अग्नि पदके (वर्चसे) तेज के लिये (त्वा) तुझको नियत करता हूँ । (ते एषः योनिः) तेरा यह पद है । (अग्नये वर्चसे त्वा) अग्नि के तेजस्वी पद के लिये तुझे स्थापित करता हूं । हे (वर्चस्विन् अग्ने) तेजस्विन् ! अग्ने ! अग्रणी, विद्वन् ! (देवेषु) देवों, विद्वानों और राजाओं के बीच में (त्वं वर्चस्वान्) तू तेजस्वी (असि) है । (अहम्) मैं (मनुष्येषु) मनुष्यों में (वर्चस्वान् भूयासम्) वर्चस्वी होऊं, अग्नि शब्द से अग्रणी, राजा, विद्वान्, आचार्य आदि ग्रहण करने चाहियें ॥ शत० ४ । ५ । ४ । ९ ॥

[1]उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रेऽअवेपयः सोममिन्द्र चमू सुतम् । [2]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजसऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे । [3]इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहम्मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३९ ॥　　　　ऋ० ८ । ७६ । १० ॥

कुरुसुति वैखानसो वा ऋषिः । इन्द्रो राजादयो गृहस्था वा देवताः । (१, २) आर्षी गायत्री । षड्जः । (३) आर्च्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजन् ! ऐश्वर्य की प्राप्ति के अभिलाषिन् ! तू (ओजसा सह) अपने बल, पराक्रम के साथ (उत् तिष्ठन्) ऊपर उठता हुआ, उन्नति लाभ करता हुआ (चमू) अपनी सेनाओं द्वारा

३९—वैखानस ऋषिः । द० ॥ अग्न आयूंषि द्वे वैखानसआग्नेय्यौ ॥ इति काण्व सर्वा० । कुरुस्तुतिर्ऋषिः । सर्वा० । कुरुसुति ऋग्वेदे । 'इन्द्रौजस्वन्नोजस्वांस्त्वं देवेष्वासि ओजस्वानहं०' इति काण्व० ॥

(सुतम्) सम्पादित (सोमम्) सोम अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त राज्यपद को (पीत्वी) प्राप्त करके (शिप्रे) अपने हनु और नासिका दोनों को (अवेपयः) कंपा। अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य स्वादु पदार्थ पीकर तृप्त होजाने पर नाक मुख हिलाता है इसी प्रकार तू भी राज्यैश्वर्य प्राप्त करके अपना सन्तोष प्रकट कर। हे योग्य वीर पुरुष! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्यव्यवस्था के द्वारा स्वीकृत है। (त्वा इन्द्राय ओजसे) तुझको पराक्रमशील इन्द्र पद के लिये मैं नियत करता हूं। (एषः ते योनिः) यह तेरा सिंहासन है। (इन्द्राय त्वा ओजसे) इस पराक्रमशील इन्द्र पद के लिये तुझे इस पद पर स्थित करता हूं। हे (ओजिष्ठ इन्द्र) सबसे अधिक ओज, तेज, और पराक्रम से युक्त, इन्द्र! राजन्! (त्वं देवेषु ओजिष्ठः असि) तू समस्त राजाओं में से सबसे अधिक पराक्रमी है। (अहं) मैं तेरे द्वारा (मनुष्येषु ओजिष्ठः भूयासम्) मनुष्यों में सबसे अधिक ओजस्वी हो जाऊं॥ शत० ४। ५। ४। १०॥

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ२ऽ अनु। भ्राजन्तोऽअग्नयो यथा। २उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्॥ ४०॥ ऋ० १। ५०। ३॥

प्रस्कण्व ऋषिः। सूर्योऽग्नयो गृहपतयो राजादयो देवताः॥ (१) आर्षी गायत्री।
(२) स्वराडार्षी गायत्री। षड्जः॥

भा०—सूर्य की रश्मियां जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नियों के समान दिखाई पड़ती हैं उसी प्रकार (अस्य) इस राजा के (रश्मयः) सूर्य-किरणों के समान दीप्तिवाले तेजस्वी (केतवः) ज्ञापक, ज्ञानवान् अधिकारी

४०,४१—अदृश्रम् प्रस्कण्वः सौरीम्। सर्वा०॥ 'सूर्याय त्वा भ्राजाय०' सर्वत्र। 'सूर्य भ्राजस्वांस्त्व देवेष्वसि भ्राजस्वान्०' इति काण्व०॥

लोग (यथा) जिस प्रकार (भ्राजन्तः) देदीप्यमान (अग्नयः) अग्नि हों उसी प्रकार तेजस्वी ज्ञानवान् अग्रणी पुरुष हैं, उनको (जनान् अनु) समस्त प्रजाजनों के उपकार के लिये नियुक्त (अदृश्रम्) देखता हूं । हे तेजस्वी पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्य के व्यवस्था-नियमों से बद्ध है । (भ्राजाय सूर्याय त्वा) प्रकाशमान तेजस्वी 'सूर्य' पद के लिये तुझे वरता हूं । (एषः ते योनिः) तेरा यह आश्रय पद है । (भ्राजाय सूर्याय त्वा) प्रदीप्त सूर्य पद के लिये तुझे स्थापित करता हूँ । हे (भ्राजिष्ठ सूर्य) अति दीप्त सूर्य के समान पदाधिकारिन् ! (भ्राजिष्ठः देवेषु असि) तू सब देव, विद्वानों और राजाओं में सबसे अधिक तेज और दीप्ति से युक्त है । तेरे तेज से (मनुष्येषु अहम्) मनुष्यों में मैं (भ्राजिष्ठः भूयासम्) सबसे अधिक दीप्तिमान् होऊं ॥ शत० ४ । ५ । ४ । ११ ॥

३८–४० तीनों मन्त्र परमात्मा के पक्ष में स्पष्ट हैं जैसे-(१) हे ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! हमें वीर्यवान् तेज और पुष्टिकारक बल दे । (२) हे इन्द्र ! परमेश्वर ! अपने (चमू) आदान सामर्थ्यों से इस प्रकट (सोमम्) महान् संसार को स्वयं पान करके, ग्रहण करके तू (शिप्रे) पृथिवी और आकाश दोनों को चला रहा है । तू सबसे अधिक बलशाली है हमें बल दे । (३) हे (सूर्य) सूर्य के समान परमेश्वर ! आपकी समस्त किरणें अग्नियों के समान दीप्त हैं । आप हमें दीप्ति दें । हम दीप्तिमान् हों ।

[१]उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय ॥ ४१ ॥ ऋ० १ । ५० । १ ॥

प्रस्कण्व ऋषिः । सूर्यो देवता । (१) निचृदार्षी, (२) स्वराडार्षी गायत्री । षड्जः ॥

४१—देवानामार्षम् । सर्वा० । ऋग्वेदे प्रकण्वः काण्व ऋषिः ॥ अतः परं "चित्रं देवानाम्०" इति (यजु० ७ । ४२) मन्त्रः, (८ । ४०) उपयाम० ०भूयासम्, अयं च मन्त्रः, पठ्यते । काण्व० ॥

भा०—(त्यं) उस (जातवेदसम्) समस्त पदार्थों के ज्ञाता, वेदों के मूलकारण या समस्त पदार्थों के स्वामी परमेश्वर को और ऐश्वर्यवान् (सूर्यं देवम्) सूर्य के समान तेजस्वी देव,राजा और परमेश्वर को (केतवः) किरणों के समान प्रकाशमान ज्ञानी विद्वान् लोग (विश्वाय दृशे) समस्त संसार के यथायोग्य ज्ञानपूर्वक देखने के लिये निरीक्षक साक्षीरूप से (उद् वहन्ति) सबसे ऊपर स्थापित करते हैं। हे सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्य-नियमव्यवस्था द्वारा सुबद्ध है। (त्वा सूर्याय भ्राजाय) तुझको तेजोयुक्त सूर्य पद के लिये नियुक्त करते हैं (एषः ते योनिः) यह तेरा पद है। (सूर्याय भ्राजाय त्वा) सूर्य के समान तेजस्वी पदाधिकार के लिये तुझको स्थापित करता हूँ।

परमात्मा पक्ष में—(केतवः) ज्ञानी पुरुष उस सर्वज्ञ परमेश्वर देव को (विश्वाय दृशे) समस्त विश्व के हित के लिये उस पर साक्षीरूप से द्रष्टा के रूप में (उद् वहन्ति) सर्वोच्च बतलाते हैं ॥ शत० ४ । ६ । २ ८ ॥

आजिघ्र कुलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः। पुनरूर्जा निवर्त्तस्व सा नः सहस्रं धुक्ष्वोरुधारा पयस्वती पुनर्माविशताद्रयिः ॥४२॥

कुसुरुबिन्दुर्ऋषिः। पत्नी गौर्वा देवता। स्वराड् ब्राह्मी उष्णिक्। ऋषभः॥

भा०—हे (महि) पूजा करने योग्य, गौ के समान महती, एवं गृहस्थ में पत्नी के समान आदर करने योग्य पृथिवी ! तू (कलशम्) समस्त कलाओं, राज्य के अंगों को सुचारु रूप से धारण करनेवाले राष्ट्र और राष्ट्रपति को (आ जिघ्र) आघ्राण कर, स्वीकार कर (त्वा) तुझमें (इन्दवः) ऐश्वर्यवान् राजा, प्रजाजन और ऐश्वर्य के पदार्थ (आ विशन्तु) प्रविष्ट हों। तू (पुनः) वार २ (ऊर्ज्जा) अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थों सहित (निवर्त्तस्व) भरी पूरी हो, और हमें प्राप्त हो। (सा)

४२—आजिघ्रेडे कुसुरुबिन्दुर्गव्ये। सर्वा०।

वह तू (नः) हमें (उरुधारा) बहुत से धारण पोषण के सामर्थ्यवाली और (पयस्वती) अन्न, घी, दूध आदि से युक्त गौ के समान होकर (सहस्रं) हजारों ऐश्वर्य (धुक्ष्व) प्रदान कर। और (रयिः) ऐश्वर्यरूप तू (मा) मुझको (पुनः) वार २ (आविशतात्) प्राप्त हो या दान दे। इसी प्रकार गृहस्थ अपनी पत्नी को भी कहे, वह कलश के समान पति को सुपात्र जानकर ग्रहण करे, उसमें सब ऐश्वर्य प्राप्त हो। वह अन्न से युक्त हो। घर के सहस्रों ऐश्वर्य बढ़ावे। पुनः पति को ही बार २ प्राप्त हो। शत० ४। ५। ८। ७=९॥

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता तेऽअघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥ ४३॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते। आर्षी पंक्तिः। पंचमः॥

भा०—हे (इडे) स्तुति योग्य अन्नदात्री! हे (रन्ते) रमण करने योग्य रमणीय! हे (हव्ये) स्वीकार करनेयोग्य! हे दान करने योग्य! हे (काम्ये) कामना योग्य, कमनीय! कान्तिमति! हे (ज्योते) ज्योतिष्मति! प्रकाशस्वरूप! हे (चन्द्रे) चन्द्र के समान आल्हादकारिणी! धनैश्वर्यरूपे! हे (अदिते) अविनाशिनि! अखण्डचरित्रे! हे (महि) पूजनीय! हे महति! हे (विश्रुति) विविध गुणों से प्रसिद्ध, विविध विद्याओं में कुशल! (मा) मुझे अपने पति, पालक को (देवेभ्यः) अन्य विद्या आदि देनेवाले एवं विजयी पुरुषों के समक्ष (सुकृतम्) उत्तम कर्म करनेवाला पुण्याचारवान् (ब्रूतात्) बतला, प्रसिद्ध कर। हे (अघ्न्ये) कभी दण्ड न देने योग्य! कभी न मारने योग्य! न कभी विनाश करने योग्य! (एता) इडा, रन्ता, हव्या, चन्द्रा, ज्योता अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुता ये सब (ते) तेरे ही (नामानि) नाम, तेरे ही स्वरूप हैं॥ शत० ४। ५। ८। १०॥

गौ, स्त्री और पृथिवी तीनों को समानरूप से यह मन्त्र बतलाता है।

अध्यात्म में ब्रह्मशक्ति, आत्मा का, चितिशक्ति और वेदवाणी का भी इस मन्त्र में वर्णन है।

[१]वि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यो ऽअस्माँ२ऽ अभिदासत्यधरं गमया तमः। [२]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृधऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे ॥ ४४ ॥

ऋ० १० । १५२ । १४ ॥

शासो भारद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । (१) निचृद् अनुष्टुप् । गान्धारः ।
(२) स्वराडार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा० — हे (इन्द्र) सेनापति या राजन् ! तू (नः) हमारे (मृधः) शत्रुओं को (वि जहि) विनाश कर (पृतन्यतः) युद्ध के लिये सेना-संग्रह करने वाले या सेना से चढ़ाई करने वाले शत्रुओं को (नीचा यच्छ) नीचे, गहरे स्थानों में बन्द करके रख, या (नीचा यच्छ) उन नीच, दुष्ट पुरुषों को बांध कर रख। (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) सब प्रकार से नाश करना चाहता है, उसको (अधरं तमः) नीचे गहरे अन्धकार के स्थान में (गमय) पहुंचा। हे योग्य पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्यव्यवस्था द्वारा स्वीकृत है। (त्वा) तुझको (विमृधे इन्द्राय) विशेषरूप से शत्रुओं के नाशक, विशेष संग्रामकारी इन्द्र सेनापति के पद पर नियुक्त करता हूं। (ते एषः योनिः) तेरा यह पद या आश्रय है। (विमृधे इन्द्राय त्वा) 'विमृध् इन्द्र' अर्थात् विशेष सांग्रामिक सेनापति (Admiral) नामक पद पर तुझे स्थापित करता हूँ ॥ शत० ४।६।४।४॥

[१]वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा। [२]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे ॥ ४५ ॥

शासो भारद्वाज ऋषिः । ईश्वरः सभेशो वाचस्पतिर्विश्वकर्मा इन्द्रो देवता ।
(१) भुरिगार्षी त्रिष्टुप् धैवतः । (२) विराडार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ।

भा०—(वाचः पतिम्) वाणी के स्वामी, सब आज्ञाओं के स्वामी, (विश्व-कर्माणम्) समस्त कर्मों और धर्मों के व्यवस्थापक, उनके सम्पादन करने कराने में समर्थ, (मनोजुवम्) मनके समान वेगवान् पुरुष को हम (अद्य) आज, नित्य (वाजे) संग्राम कार्य में (हुवेम) बुलाते हैं, चाहते हैं । (सः) वह (साधु-कर्मा) उत्तम श्रेष्ठ कर्म करने हारा सदाचारी, अथवा सब कामों के करने में कुशल (विश्व-शम्भूः) सबका कल्याणकारी होकर (नः) हमारे (विश्वानि) समस्त (हवनानि) प्रार्थनाओं को, अभिलाषाओं को (जोषत्) स्वीकार करे और पूर्ण करे । हे योग्य पुरुष ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) राष्ट्रव्यवस्था द्वारा स्वीकृत है । (त्वा इन्द्राय विश्वकर्मणे) तुझको 'विश्वकर्मा इन्द्र' के पद पर नियुक्त करता हूँ । (एषः ते योनिः) यह तेरा पद और स्थान है (त्वा इन्द्राय विश्वकर्मणे) तुझको 'इन्द्र विश्वकर्मा' पद पर स्थापित करता हूं ॥ शत० ४ । ६ । ४ । ५ ॥

[1]विश्व॑कर्मन् ह॒विषा॒ वर्ध॑नेन त्रा॒तार॒मिन्द्र॑मकृणोरव॒ध्यम् । तस्मै॒ विशः॒ सम॑नमन्त पू॒र्वीर॒यमु॒ग्रो वि॒हव्यो॒ यथास॑त् । [2]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा वि॒श्वक॑र्मण॒ऽए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा वि॒श्वक॑र्मणे ॥ ४६ ॥

शासो भारद्वाज ऋषिः । विश्वकर्मा इन्द्रो देवता । निचृदार्षी । त्रिष्टुप् । धैवतः
(२) विराडार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (विश्वकर्मन्) समस्त कला कौशल के कार्यों को भली

४६—अतः परं 'विश्वकर्मन्० ०सूरिरस्तु' अयं (यजु० १७ । २२) मत्रः पठ्यते । काण्व० ॥

प्रकार से सम्पादन करने में समर्थ, विद्वान्, क्रियाकुशल पुरुष ! तू (वर्धनेन हविषा) वृद्धि करने वाले उपाय या साधन से या काष्ठ, लोह आदि पदार्थों के छेदन-भेदन की (हविषा) उचित साधन-सामग्री से (त्रातारम्) राष्ट्र के रक्षक इन्द्र को (अवध्यम् अकृणोः) अवध्य बना देता है । अर्थात् तेरे कौशलों से सुरक्षित राजा को कोई भी युद्ध में मारने से समर्थ नहीं होता है । (तस्मै) उस रक्षक राजा के आगे (पूर्वीः) शिक्षा में पूर्ण, (विशः) समस्त प्रजाएं (सम् अनमन्त) भली प्रकार झुकती हैं । तेरे ही कारण (अयम्) यह राजा (विहव्यः) विशेष साधनों से सम्पन्न (यथा असत्) जिस प्रकार हो तू ऐसा प्रयत्न कर । हे योग्य पुरुष (उपयाम गृहीतः असि०) इत्यादि पूर्ववत् ॥ शत० ४ । ५ । ४ । ६ ॥

उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसंगृह्णाम्यनुष्टुप्तेऽभिगरः ॥ ४७ ॥

देवा ऋषयः । अदाभ्यो विश्वकर्मा इन्द्रो देवता । विराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ।

भा०—हे योग्य पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्यव्यवस्था द्वारा स्वीकृत है । (अग्नये) अग्नि पद के लिये (गायत्र-छन्दसम्) गायत्री छन्द से युक्त (त्वा) तुझको (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ । और हे पुरुष (त्रिष्टुप् छन्दसम् त्वा) त्रिष्टुप्-छन्द से युक्त तुझको (इन्द्राय) इन्द्रपद के लिये स्वीकार करता हूं । (जगत्-छन्दसं त्वा) जगत् छन्द से युक्त तुझको (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त देव विद्वानों के हित के लिये (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ । हे राजन् ? (ते अभिगरः) तेरा उपदेष्टा आज्ञापक (अनुष्टुप्) अनुष्टुप्, यह वेदवाणी है ॥ शत० ॥

४७—अग्नये त्वा देवार्षाणि अदाभ्यदेवत्यानि । सर्वा० ॥

(१) 'गायत्रछन्दसं'—गायत्रोऽयं भूलोकः ॥ कौ० ८ । ९ ॥ ब्रह्म-गायत्री, क्षत्रं त्रिष्टुप् । भूलोक और ब्रह्म वेद या ब्राह्मणों के 'छन्दस्, अर्थात् आच्छादक रक्षक को 'अग्नि' पद के लिये नियुक्त करे ।

(२) क्षत्रस्यैवैतच्छन्दो यत् त्रिष्टुप् । कौ० १० । ५ ॥ बलं वै वीर्यं त्रिष्टुप् । कौ० ७ । २ ॥ बल की रक्षा करने वाले को 'इन्द्र' पद के लिये नियुक्त करे ।

(३) पशवो वै जगती । कौ० १६ । २ ॥ जगती वै छन्दसां परमं पोषं पुष्टा । समस्त अन्य देवों के पदों पर पशु, प्रजा, समृद्धि के पालक पुरुषों को नियुक्त करे ।

(४) 'अनुष्टुप्'—वाग् वा अनुष्टुप् । शत० ३ । १ । ४ । २ ॥ प्रजापतिर्वा अनुष्टुप् । ता० ४ । ८ । ६ ॥ आनुष्टुभो राजन्यः । तै० १ । ८ । २ ॥ वाणी और प्रजापालक शक्ति राष्ट्र का 'अभिगर' आज्ञापक या उपदेष्टा हो ।

[१]ब्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि । [२]कुकूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि । [३] भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि । [४] मदिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि । [५] मधुन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि । [६] शुक्रं त्वा शुक्र आधूनोम्यह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु ॥ ४८ ॥

देवा ऋषयः । प्रजापतया देवताः । (१) याजुषी पंक्तिः । पंचमः (२,४,५,) याजुषी जगती । निषादः । (६)साम्नी बृहती । मध्यमः ।। (३) याजुषीत्रिष्टुप् । धैवतः ।।

भा० —हे सोम ! राजन् ! हे (पत्मन्) पतनशील ! (ब्रेशीनाम्) आवृतस्थान पर शयन करने वाली प्रजाओं के बीच धर्माचरण से गिरते हुए (त्वा) तुझको (आधूनोमि) कंपाता हूँ । (कुकूननानां त्वा पत्मन् आधूनोमि) निरन्तर विद्याभ्यास करने वाली विनयशील प्रजाओं के बीच

४८—ब्रेशीनान्त्वा सोमपानि । सर्वा० । 'मध्वन्तमानां०' इति काण्व० ॥

न्यायाचरण से गिरने पर (त्वा) तुझको मैं (आधूनोमि) कम्पित करूं। (भन्दनानां) कल्याणकारिणी, सुख देने वाली प्रजाओं के बीच (पत्मन् त्वा आधूपयामि) तेरे अधःपतन होने पर मैं पुरोहित तुझको कम्पित करूं। (मदिन्तमानां पत्मन् त्वा आधूनोमि) अत्यन्त हर्षकारिणी, स्वयं सदा सन्तुष्ट रहने वाली प्रजाओं के बीच नीच आचरण से गिरने पर तुझको मैं दण्ड से कम्पित करूं। (मधुन्तमानां त्वा पत्मन् अधूनोमि) मधुर स्वभाव वाली ज्ञान-सम्पन्न प्रजाओं के बीच अन्याय से गिरने पर तुझको मैं कम्पित करूं। हे (शुक्र) कान्तिमान् शुद्धाचरण राजन्! (अन्हः रूपे) दिन या सूर्य के प्रदीप्त स्वरूप में और (सूर्यस्य रश्मिषु) सूर्य की किरणों के समान स्वयं सब प्रकार का कार्य साधन करने वाले पुरुषों में (शुक्रम्) दीप्तिमान तुझको मैं (पत्मन्) नीचाचार होने पर (आ) कम्पित (धूनोमि) करता हूँ। पुरोहित राजा को नाना प्रकार की प्रजाओं में रहकर नीच आचार करने पर भयादि दिखाकर उन दुराचारों से बचावे। राजा प्रजा के समान पति-पत्नी का भी व्यवहार है। अतः पत्नी या पुरोहित भिन्न स्वभाव की परदाराओं के निमित्त दुराचार में गिरने वाले पति को नाना उपायों से दण्डित कर दुष्ट मार्ग से बचावे॥

[1] क॒कु॒भꣳ रू॒पं वृ॑ष॒भस्य॑ रोचते बृ॒हच्छु॒क्रः शु॒क्रस्य॑ पु॒रो॒गाः सोम॒ः सोम॑स्य पु॒रो॒गाः। [2] यत्ते॑ सो॒मादा॑भ्यं॒ नाम॒ जागृ॑वि॒ तस्मै॑ त्वा गृह्णामि॒ तस्मै॑ ते सोम॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॑॥ ४९॥

देवा ऋषयः। विश्वेदेवाः प्रजापतयो देवताः। (१) विराट् प्राजापत्या जगती। निषादः। (२) निचृद् उष्णिक्। धैवतः॥

भा०—(वृषभस्य) सब सुखों के वर्षक राजा या सभापति का

४९–'ककुहꣳ'० 'बृहत्सोमः सोमस्य पुरोगाः शुक्रा शुक्रस्य पुरोगाः स्वाहा इति काण्व०॥

(ककुभम्) दिशा के समान शुद्ध और आदित्य के समान कान्तिमान् (रूपं रोचते) रूप प्रकाशित होता है। (बृहत्) महान् (शुक्रः) कान्तिमान् आदित्य जिस प्रकार (शुक्रस्य) शुद्ध दीप्तमान्तेजआदिका (पुरोगाः) पुरोगामी, नेता, प्रवर्त्तक, होता है उसी प्रकार (शुक्र,) तेजस्वी, शुद्धाचारी राजा ही (शुक्रस्य पुरोगाः) शुक्र और तेजस्वी धर्मानुकूल राष्ट्र का नेता होता है, या तेजस्वी विद्वान् ही पुरोगामी नेता होता है। इसी प्रकार हे राजन् ! तू (सोमः) सोम, सबका प्रेरक होकर (सोमस्य) ऐश्वर्यपूर्ण राष्ट्र का (पुरोगाः) नेता हो। हे सोम ! राजन् ! (यत्) क्योंकि (ते) तेरा (अदाभ्यम्) कभी नाश न होने वाला (जागृवि) सदा जागरणशील, सदा सावधान (नाम) स्वरूप है (तस्मै) उस कर्त्तव्य के लिये ही (त्वा गृह्णामि) तुझे मैं ग्रहण करता हूँ। हे (सोम) राजन् ! (तस्मै ते) उस तेरे लिये (सु-आहा) उत्तम यश प्राप्त हो ॥

उशिक् त्वं देव सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत्सखा त्वं देव सोम विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि ॥ ५० ॥

देवा ऋषयः। प्रजापतिः सोमो देवता। भुरिगार्षी जगती। निषादः ॥

भा०—हे (देव सोम) दानशील, राजन् ! सोम ! तू (उशिक्) कान्तिमान् एवं इच्छावान् होकर (अग्नेः) उत्तम विद्वान्, अग्रणी पुरुष के (प्रियम् पाथः) प्रिय लगने वाले, पालनकारी कर्त्तव्य को (अपीहि) प्राप्त हो। हे (देव सोम) देव ! सोम ! राजन् ! (त्वम्) तू (इन्द्रस्य

५०—अतः परं (७। २७–२९), (७। ४१–४८), (८। १५–२२) (८। २३–२७), (८। २८–३३), (८। ४२–४३) ८। ५२) क्रमशः पठ्यन्ते का०१० ॥

प्रियम् पाथः अपीहि) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् सेनापति के प्रिय पालन व्यवहार को प्राप्त हो। हे (देव सोम) देव राजन् ! सोम ! तू (अस्मत् सखा) हमारा मित्र होकर (विश्वेषां देवानाम्) समस्त देवों, विद्वानों, राज्याधिकारियों और प्रजाजनों के (प्रियम् पाथः) प्रिय, अभिमत पालन-कर्त्तव्य या पदाधिकार को प्राप्त हो।

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा। उपसृजन्धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा॥ ५१॥

देवा ऋषयः। प्रजापतयो गृहस्था देवताः। भुरिग् आर्षी जगती। निषादः॥

भा०—हे प्रजापालक राजा के अधीन पुरुषो ! हे गृहपति जनो ! (इह) इस राष्ट्र और घर में (रतिः) आनन्द प्रमोद, आपकी इच्छा रहे। (इह रमध्वम्) यहां आप लोग आनन्द से जीवन व्यतीत करो। (इह) यहां (धृतिः) सब पदार्थ और व्यवहार स्थिर हैं आप लोगों की (स्वधृतिः) अपनी स्थित और आपके समस्त पदार्थों की स्थिति (स्वाहा) सत्यवाणी और क्रिया भी यहां ही रहे। हे प्रजापालको ! आप लोग (धरुणम्) धारण करने योग्य जिस सन्तान को (मात्रे) पुत्र की माता के (उप सृजन्) अधीन करते हो वह (धरुणः) बालक (मातरम्) उस माता का (धयन्) स्तन्य-पान करता हुआ (अस्मासु) हम में (स्वाहा) उत्तम विद्या और सदाचार लाभ करके (रायः पोषम् दीधरत्) धनैश्वर्य की वृद्धि और धारण करे॥ शत० ४। ६। ७। ९॥

सत्रस्य ऽऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता ऽअभूम।
दिवं पृथिव्या ऽअध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः॥५२॥

ऋ० ८। ४८। ३॥

५१—इहरतिः पशुर्देवतम्। सर्वा०॥ उपसृजन्नुष्णिगाग्नेया॥

५२—सत्रस्य बृहती यजमानानामात्मस्तुतिः। सर्वा०॥

देवा ऋषयः । प्रजापतिर्देवता । भुरिगार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे विद्वन् ! हे राजन् ! (सत्रस्य) परस्पर संगत या एकत्र हुए राजा प्रजाजनों का (ऋद्धिः असि) तू ऐश्वर्य या समृद्ध रूप या शोभा है। हम सब प्रजाजन (ज्योतिः अगन्म) विज्ञान के प्रकाश और ऐश्वर्य को प्राप्त हों। हम लोग (अमृताः अभूम) अमृत, १०० वर्ष तक के दीर्घ जीवन वाले हों। (पृथिव्याः) इस पृथिवी से (दिवम्) प्रकाशमय लोक, ज्ञान ऐश्वर्य को (अधि आरुहाम) प्राप्त हों। (देवान्) विद्वान् पुरुषों का (आ अविदाम) नित्य संग लाभ करें। और (ज्योतिः) सब पदार्थों के प्रकाशक (स्वः) सुखस्वरूप, आनन्दमय परम मोक्ष को भी प्राप्त करें ॥ कत० ४ । ६ । ९ । १२ ॥

[1]युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तंतमिद्धतं वज्रेण तं-तमिद्धतम् । [2]दूरे चत्ताय छन्त्सद् गहनं यदिनत्तत् । [3]अस्माकꣳ शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः । [4]भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः पोषैः ॥ ५३ ॥　　ऋ० १ । १३२ । ६ ॥

परुच्छेप ऋषिः । (१) इन्द्रापर्वतौ (२,४) गृहपतयो वा देवताः (१) आर्ष्य-नुष्टुप् । गान्धारः (२) आसुर्युष्णिक् । ऋषभः । (३) प्राजापत्या बृहती । मध्यमः (४) साम्नी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्रापर्वता) इन्द्र और पर्वत ! सूर्य के समान तेजस्विन् और पर्वत के समान अभेद्य सेनापते ! और व्यूहकारिन् सेनापति के सेनाजनो ! (युवम्) आप दोनों (पुरोयुधा) आगे बढ़कर युद्ध करनेवाले होकर (यः) जो भी (नः) हम पर (पृतन्यात्) सेना से चढ़ाई करे (तं-तं)

५३—'०सुप्रजाः प्रजया ।' इति काण्व० ॥

भुवन्त परुच्छेप ऐन्द्रीम् अत्यदिष्ट व्यवसाम् अऽधोर्धर्चे ऐन्द्रापर्वतः । सर्वा० ।

उस २ को (इत्) ही (अप हतम्) मार भगाओ। (तं-तं) उस २ को (इत्) ही (वज्रेण, खाँडा आदि अस्त्र-शस्त्रों से (हतम्) मारो। (यद्) यदि वह शत्रुदल (गहनम्) हमारे सैन्य तक (इनक्षत्) पहुंच जाय तो उसको (दूरे चत्ताय) दूर भगादेने के लिये (छन्सत्) पराक्रम से दूर करो। हे (शूर) शूरवीर सेनापते! तू (दर्मा) शत्रुदल के फाड़देने में समर्थ होकर (अस्माकम्) हमारे (विश्वतः) चारों तरफ आये हुए (शत्रून्) शत्रुओं को (विश्वतः) सब ओर से एकदम (दर्षीष्ट) काट फाट डाल। (भूः भुवः स्वः) भूमि, अन्तरिक्ष और अकाश तीनों लोकों में हम (प्रजाभिः) अपनी उत्तम सन्तानों से (सुप्रजाः स्याम) उत्तम प्रजावान् बनें (वीरैः) वीरों से, (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले और (पोषैः) धनादि ऐश्वर्यों से (सुपोषाः) उत्तम समृद्धिशाली (स्याम) हों। शत० ४। ६। ९। १४—२५॥

परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धो अच्छेतः। सविता सन्यां विश्वकर्मा दीक्षायां पूषा सोमक्रयण्याम् ॥ ५४॥

वसिष्ठ ऋषिः। परमेष्ठी प्रजापतिर्देवता। निचृद् ब्राह्म्युष्णिक्। ऋषभः॥

भा०—यज्ञमय प्रजापति या सोम के या राजा के कर्त्तव्यों के भिन्न २ रूप। (सोमः अभिधीतः) साक्षात् संकल्प किया जाय या मन से विचारा जाय तो यह वस्तुः (परमेष्ठी) परम = सर्वोच्चस्थान पर विराजनेवाला है। (२) (वाचि व्याहृतायाम्) उच्चारण की जानेवाली वाणी या आज्ञा करने में वह (प्रजापतिः) 'प्रजा' का स्वामी है। (३) (अच्छेतः अन्धः) साक्षात् देखने या प्राप्त करने पर 'अन्धः' अर्थात् अन्न के समान प्राणप्रद है। (४) वह (सन्यां) प्रजाओं को ऐश्वर्य बांटने के कार्य में राजा स्वयं (सविता) सूर्य के समान सबको समान रूप से प्रदान करता है। (५) (दीक्षायां विश्वकर्मा) दीक्षा अर्थात् व्रत धारण करने में समस्त कर्मों को कराने वाला विश्वकर्मा

हो। (६) (सोमक्रयण्याम्) सोमक्रयणी अर्थात् सोम, राजा को शासन कार्य के लिये समस्त पृथिवी को समक्ष रखकर प्राप्त करने अवसर पर वह साक्षात् (पूषा) 'पूषा' सबका पोषक है ॥

सोमयाग के पक्ष में—यजमान के संकल्प करने पर सोम परमेष्ठी है। मुंह से कहदेने पर कि मैं सोमयाग करूंगा वह सोम 'प्रजापति है। सोम को आंखों से देखले तो वह सोम 'अन्धस्' है। सोम को विभक्त करने पर वह 'सविता' है। दीक्षा लेने के अवसर पर वह 'विश्वकर्मा' है। सोमक्रयणी इष्टि के अवसर पर वह 'पूषा' है।

इन्द्रश्च मुरुतश्च क्रयायोपोत्थितोऽसुरः पण्यमानो मित्रः क्रीतो विष्णुः शिपिविष्ट ऽउरावासन्नो विष्णुर्नरन्धिषः ॥ ५५ ॥

भा०—(७) (क्रयाय उप-उस्थितः) क्रय अर्थात् द्रव्य लेकर उसके बदले में शत्रु के विरुद्ध उठकर चढ़ते समय 'सोम' अर्थात् राजशक्ति का स्वरूप (इन्द्रः मरुतः च) इन्द्र, सेनापति और मरुत् अर्थात् प्राणघातक सेना के वीरजन हैं। (८) (पण्यमानः) नाना भोग्य पदार्थों के एवज में ख़रीद कर उसको राजपद देते समय वह राजा 'सोम' स्वयं (असुरः) महान् व्यापारी है। (९) (क्रीतः मित्रः) जब स्वीकार ही कर लिया जा चुकता है तब वह प्रजा का 'मित्र' अर्थात् स्नेही है। (१०) (उरौ) विशाल राज्य के आसन पर (आसन्नः) स्थित राजा साक्षात् (शिपिविष्टः विष्णुः) किरणों से आवृत, व्यापक तेज से युक्त सूर्य के समान 'शिपिविष्ट' अथवा शयन स्थान में सोया, प्रसुप्तरूप से विद्यमान, व्यापक आत्मा के समान है। (११) (नरन्धिषः) समस्त मनुष्यों को आज्ञा देने हारा और सबको हिंसा से बचाने वाला होकर वह (विष्णुः) 'विष्णु' है।

'इन्द्रश्च मरुतश्च क्रपायोपोत्थिः' यह पाठ महर्षि दयादनन्द को अभिप्रेत

५५—'०क्रपाय०' इति दयानन्दाभिमतः पाठः। 'ऊरा आ०' इति काण्व० ॥

है। उस पाठ में (क्रपाय उप-उत्थितः) बलपूर्वक कार्य करने के लिये उद्यत राजा 'इन्द्र और मरुत्' हैं। ऐसा अर्थ जानना चाहिये ॥

'शिपिविष्टः'—शिपयोऽन्तरश्मयः उच्यन्ते तैराविष्टो भवति। निरु० ५।२।३ ॥ अन्यत्र। ऋ० ७।१००। 'किमित्ते विष्णोऽपरिचक्ष्यं भूत्। प्रयद् वक्षे शिपिविष्टो अस्मि। मा वर्षो अस्मदपगूह एतत् यद् अन्यरूपः समिथे बभूथ"। हे प्रजापालक विष्णो! राजन्! तेरे विषय में हम क्या कहें? तू अपने को 'शिपिविष्ट' कहता है। अपना वह तेजस्वीरूप हम से मत छिपा, जो दूसरा युद्ध में तू रूप धारण करता है ॥

प्रोह्यमाणः सोमऽआगतो वरुणऽआसन्द्यामासन्नोऽग्निराग्नीध्रऽइन्द्रो हविर्द्धानेऽथर्वोपावह्रियमाणः ॥ ५६ ॥

वसिष्ठ ऋषिः। विश्वेदेवाः गृहस्थाः देवताः। बृहती मध्यमः ॥

भा०—(प्र-ऊह्यमानः आगतः) अति आदर से सवारी आदि द्वारा लाया जाकर जब राजा प्राप्त होता है तब वह (सोमः) 'सोम', सर्वोपरि शासक और सबका आज्ञापक है। (आसन्द्याम् आसन्नः) आसन्दी अर्थात् राज्यसिंहासन पर स्थित हुआ वह राजा (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, सब से वरण करने योग्य, पापों से निवारक 'वरुण' है। (आग्नीध्रे अग्निः) तेजस्वी पद पर विराजमान, अग्नि के समान सन्तापकारी पद पर विराजमान वह (अग्नि) अन्तरीक्ष में विद्युत् के समान, वा कुण्ड में अग्निवत् होने से वह 'अग्नि' है। (हविर्धाने) वह अन्न द्वारा सब राष्ट्र के पालक 'हविर्धान' नामक सब से मुख्य पद पर विराजता हुआ, समस्त पृथिवी पर शासन करता हुआ राजा (इन्द्रः) 'इन्द्र' है (उपावह्रियमाणः) प्रजा की रक्षा करने के लिये सदा उसके संनिकट स्थापित रहता हुआ वह (अथर्वा) अहिंसक, प्रजापालक 'अथर्वा', प्रजापति है ॥

'आग्नीध्रम्'—अन्तरिक्षम् आग्नीध्रम्। शत० ९।२।३।१५। द्यावापृथिव्यौ वा एष यदाग्नीध्रः। शत० १।८।१।४ ॥

हविर्धानम् । शिर एवाऽस्य यज्ञस्य हविर्धानम् । शत० ३ । ५ । ३ । ५ ॥ अयं वै लोको दक्षिणं हविर्धानम् कौ० ८ । ४ ॥

विश्वे देवाऽअꣳशुषु न्युप्तो विष्णुराप्रीतपाऽआप्याय्यमानो यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः शुक्रः पूतः शुक्रः क्षीरश्रीर्मन्थी सक्तुश्रीः ॥ ५७ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते । निचृद् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०— (अंशुषु) राज्य शासन के विभागों में वही राजपद (न्युप्तः) पृथक् २ बांट दिया जाकर (विश्वेदेवाः) 'विश्वदेव' अर्थात् समस्त राजपदाधिकारी रूप हो जाता है । (आःप्रीत-पाः) सब प्रकार से सन्तुष्ट प्रजाजनों का पालन करने हारा और (आप्याय्यमानः) स्वयं भी प्रजाओं द्वारा शक्ति में अति हृष्ट-पुष्ट होकर राजा (विष्णुः) 'विष्णु' सर्व राष्ट्र के व्यापक शक्तिवाला होता है । (सूयमानः यमः) राजसूय द्वारा राज्याभिषेक किया जाकर राजा 'यम' अर्थात् सर्वनियन्ता होता है । (सम् भ्रियमाणः) प्रजा द्वारा पालित-पोषित, हृष्ट-पुष्ट होकर राजा (विष्णुः) व्यापक शक्ति से युक्त 'विष्णु' हो जाता है । (पूयमानः) स्वयं पवित्र आचारणों से युक्त राजा (वायुः) वायु के समान राष्ट्र का जीवन, एवं प्रजा को भी पवित्राचारी बनाने में समर्थ होता है । (पूतः शुक्रः) स्वयं पवित्र आचारवान् होकर ही वह 'शुक्र' तेजस्वी, कान्तिमान् होता है । (शुक्रः) कान्तिमान्, वीर्यवान् वह राजा (क्षीरश्रीः) क्षीर, दुग्ध के समान कान्ति-वाला, कीर्तिमान् होता है । और (सक्तुश्रीः मन्थी) प्राप्त हुए अन्नादि पदार्थों से स्नेही मित्रवर्ग का आश्रय लेकर ही राजा 'मन्थी' शत्रुओं का मथन करनेहारा होता है ।

विश्वे देवाश्चमसेषून्नीतोऽसुर्होमायोद्यतो रुद्रो हूयमानो वातो-

५७—'अंशुषु न्युप्यमानेषु' इति काण्व० ।

ऽभ्यावृत्तो नृचक्षुः प्रतिख्यातो भक्षो भक्ष्यमाणः पितरो नाराशꣳसाः ॥ ५८ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते । आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०— (चमसेषु उन्नीतः) भिन्न २ पात्रों में अर्थात् राज्य के भिन्न भिन्न अंगों में बंटा हुआ राजपद (विश्वे देवाः) 'विश्वे देव' अर्थात् समस्त विद्वान् राज्यपदाधिकारियों के रूप से रहता है । (होमाय उद्यतः) होम आहुति करने अर्थात् युद्ध करने के लिये उद्यत राजा (असुः) 'असु' देहधारी प्राण वा शस्त्र प्रक्षेप्ता धनुर्धर के रूप में होता है । (हूयमानः रुद्रः) जब वह युद्ध में आहुति होजाता है तब वह 'रुद्र', दुष्टों को रुलाने में समर्थ 'रुद्र' रूप हो जाता है । (अभि-आवृत्तः) जब साक्षात् सामने वेग से आक्रमण कर रहा होता है तब वह (वातः) 'वात', प्रचण्ड वायु के समान 'वात' अर्थात् साक्षात् 'आँधी' होता है । अथवा (अभि-आवृत्तः) जब राजा प्रजा या परराष्ट्र को चारों ओर से घेर लेता है तब वह (वातः) वात, वायु के समान उसको घेरता है (प्रतिख्यातः) प्रत्येक पुरुष को देखनेवाला होने से वह (नृ-चक्षाः) मनुष्यों का निरीक्षक 'नृचक्षा' कहाता है । (भक्ष्यमाणः भक्षः) जब समस्त प्रजाजन उसके राजत्व का सुख भोगते हैं तब वह 'भक्ष' सब राष्ट्र का भोक्ता कहाता है । तब (नाराशंसाः) सभी उसकी प्रजा के लोग उसकी प्रशंसा करते हैं और नाना प्रकार से वह प्रजा का पालन करता है, इसलिये वही राजा (पितरः) पितृगणों या प्रजापालकों के रूप में प्रकट होता है ।

[१]सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रोऽभ्यवह्रियमाणः सलिलः-प्रप्लुतो [२]ययोरोजसा स्कभिता रजाꣳसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा या पत्येतेऽअप्रतीता सहोभिर्विष्णू अगन्वरुणा पूर्वहूतौ ॥ ५६ ॥ अथर्व ७ । २ । ५ । १ ॥

५८—०भक्षः पीतः पितरो नाराशंसाः साद्यमानः, इति काण्व० ।

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते । विष्णुर्वरुणश्च देवते । (१) विराट् प्राजापत्या (२) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः । अथवा (१) विराडार्षी । (२) भुरिग् ब्राह्म्युष्णिग् । ऋषभः ॥

भा० —(अवभृथाय) राष्ट्र के पालन करने के लिये (उद्यतः) उत्कृष्ट नियमकारी राजा (सन्नः) अपने राज्यासन पर अभिषिक्त होकर विराजा हुआ साक्षात् (सिन्धुः) महान् समुद्र के समान अति गम्भीर और अगाध गुणरत्नों से युक्त, भयंकर भी होने से 'सिन्धु' रूप है। (अभ्यवह्रियमाणः) जब प्रजाजनों द्वारा राजपद पर बैठा दिया जाता है और प्रजा उसका उपभोग करती है, तब वह (समुद्रः) समस्त पदार्थों का उत्तम रीति से प्रदान करनेवाला, अनन्त रत्नों का आकर होने से 'समुद्र' तुल्य होता है। (प्रप्लुतः सलिलः) वह राजा सर्वत्र प्रजाओं में समान भाव से व्यापक होके पानी के समान फैल जाता है अतः 'सलिलः' अर्थात् मानो दयाभाव से पानी २ हो जाता है।

(ययोः) जिन दोनों के (ओजसा) पराक्रम से (रंजांसि समस्त) लोक (स्कभिता) स्थिर हैं और (या) जो दोनों (वीर्येभिः) अपने २ वीर्यों, सामर्थ्यों से (वीरतमा) सबसे अधिक वीर और (शविष्ठा) सबसे अधिक बलशाली हैं। और (या) जो दोनों (अप्रतीतौ) सर्व साधारण द्वारा न पहचाने गये, जिनके गुण वीर्य कोई नहीं जानता कि कितना है, अथवा (अप्रति-इतौ) शत्रुओं द्वारा मुकाबले पर न पराजित अर्थात् जिन पर शत्रु आक्रमण करने में समर्थ न हों, ऐसे (सहोभिः) अपने पराजय करनेवाले बलों, सेनाओं सहित जो दोनों(पत्येते) शत्रु पर जा टूटते हैं वे दोनों ही (विष्णू) व्यापक सामर्थ्यवान् और (वरुणा) वरुण, सर्वश्रेष्ठ वरण करने योग्य एवं शत्रुओं के वारण में समर्थ, (पूर्वहूतौ) सर्व प्रथम मुख्यरूप से विद्वानों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। उनको (अगन्) समस्त प्रजाजन प्राप्त होते हैं। अथवा उनको समस्त राष्ट्र प्राप्त है।

देवान्दिवमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ ६० ॥

विश्वेदेवा देवताः । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो (यज्ञः) यज्ञ (देवान्) देवों, विद्वानों को और (दिवम्) विद्या आदि के प्रकाश को (अगन्) प्राप्त होता है (ततः) उससे (मा) मुझको (द्रविणम् अष्टु) द्रव्य, ऐश्वर्य प्राप्त हो । जो (यज्ञः) यज्ञ, राजा प्रजा का व्यवहार (मनुष्यान् अन्तरिक्षम् अगन्) मनुष्यों को और अन्तरिक्ष, मेघ आदि को प्राप्त होता है (ततः मा द्रविणम् अष्टु) उससे मुझे ऐश्वर्य प्राप्त हो । और जो (यज्ञः पितॄन् पृथ्वीम् अगन्) राष्ट्र के पालक पितृलोगों, ओषधियों और पृथिवी को प्राप्त है (ततः मा द्रविणम् अष्टु) उससे मुझे ऐश्वर्य प्राप्त हो । (यज्ञः) यज्ञ (यं कं च) जिस किसी (लोकम्) लोक को भी (अगन्) प्राप्त हो (ततः) उससे (मे) मुझे (भद्रम्) कल्याण और सुख ही (अभूत्) हो ।

चतुस्त्रिꣳशत्तन्तवो ये वितत्निरे यऽइमं यज्ञꣳ स्वधया ददन्ते । तेषां छिन्नꣳ सम्वेतद्दधामि स्वाहा घर्मोऽअप्येतु देवान् ॥६१॥

यज्ञो देवता । ब्राह्म्युष्णिक् । ऋषभः । स्वराट् पंक्तिः । पंचमः, विराड् त्रिष्टुब् धैवतो वा ।

भा०—(ये) जो (इयं) इस (यज्ञं) यज्ञ को (वितत्निरे) विस्तृत करते हैं वे (चतुस्त्रिंशत्) ३४ चौंतीस हैं । यज्ञ के विस्तार करने से ही वे (तन्तवः) तन्तु हैं । वस्त्र को बनाने वाले जैसे तन्तु होते हैं उसी प्रकार राज्य आदि के घटक अवयव भी 'तन्तु' ही कहाते हैं । इसीप्रकार

६० —देवां दिवमाशीर्लिंगोक्तदेवता । सर्वा० ।

६१—चतुस्त्रिंशद् घर्मदेवत्या पंक्तिस्त्रिष्टुब् वा । सर्वा० ।

जगन्मय यज्ञ के घटक भी ३४ तन्तु ही है। (ये) जो वे (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को (स्वधया ददन्ते) स्वधा, अपने धारणसामर्थ्य और अन्न आदि पोषण सामर्थ्य से (ददन्ते) धारण करते हैं (तेषाम्) उनका जो (छिन्नम्) पृथक् अपना २ कर्त्तव्य कर्म और अंश है उसको मैं (एतत्) इस प्रकार एक संगठित रूप से (स्वाहा) सत्य वाणी या उत्तम परस्पर आदान-प्रतिदान द्वारा (सम् दधामि) एकत्र जोड़ता हूं। वह (घर्मः) घर्म, यज्ञ, प्रदीप्त राष्ट्र या एकत्र किया हुआ एकीभूत यज्ञ (देवान्) देवों, विद्वान् शासकों को (अप्येतु) प्राप्त हो, उनके वश में रहे। ब्रह्माण्ड जगन्मय यज्ञ के ३४ तन्तु, आठ वसु ११ रुद्र, आदित्य, इन्द्र, प्रजापति और प्रकृति ये जगत् के ३४ कारण हैं। राष्ट्र में तन्तु ५४ से ५९ तक कहे सोम राजा के अधीन ३४ पदाधिकारी जो सोम के ही अंश हैं वे ३४ तन्तु हैं ॥

य॒ज्ञस्य॒ दोहो॒ वित॑तः पुरु॒त्रा सो॑ऽअ॒ष्ट॒धा दिव॑म॒न्वात॑तान। स य॑ज्ञ धुक्ष्व॒ महि॑ मे प्र॒जाया॑ᳪं रा॒यस्पोषं॒ विश्व॒मायु॑रशीय॒ स्वाहा॑ ॥६२॥

यज्ञो देवता। स्वराडार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—(यज्ञस्य) यज्ञ का (दोहः) भरा पूरा सामग्री-समूह या उत्तम फल (पुरुत्रा) नाना पदार्थों में नाना प्रकार से (विततः) विस्तृत है। (सः) वह (अष्टधा) आठों दिशा में आठ प्रकार का होकर (दिवम् अनु आततान) सूर्य के प्रकाश के समान आकाश में फैल जाता है। हे (यज्ञ) यज्ञ! वह तू (मे प्रजायाम्) मेरी प्रजा में (महि) बड़ा भारी (रायः पोषं) धनैश्वर्य की समृद्धि को (धुक्ष्व) प्रदान कर। और मैं (स्वाहा) उत्तम आचरण और उत्तम आहुति, उत्तम वाणी और उत्तम व्यवस्था द्वारा (विश्वम् आयुः) सम्पूर्ण आयु का (अशीय) भोग करूं। राष्ट्रमय यज्ञ का उत्तम फल नाना प्रकार से फैलता है, वह (अष्टधा) आठ अमात्य आदि प्रकृतियों के रूप में सब के ऊपर शिरोभाग

के समान रहता है । वह मेरी प्रजाओं का ऐश्वर्य बढ़ावे । मैं राजा उत्तम आदान-प्रतिदान से पूर्ण आयु का भोग करूँ ।

आ पवस्व हिरण्यवदश्ववत्सोम वीरवत् ।
वाजं गोमन्तमा भर स्वाहा ॥ ६३ ॥

नैध्रुविः कश्यप ऋषिः । यज्ञो देवता । स्वराडार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (सोम) सोम राजन् ! तू (वीरवत्) वीर पुरुषों से युक्त, (अश्ववत्) अश्व और अश्वारोहियों से युक्त (हिरण्यवत्) सुवर्ण रत्नादि से समृद्ध धनैश्वर्य को (आ पवस्व) पवित्र कर, प्राप्त करा और हमें (गोमन्तम् वाजम्) गौ आदि पशु सम्पत्ति से समृद्ध (वाजम्) ऐश्वर्य को (स्वाहा) उत्तम यश कीर्त्ति और उत्तम ज्ञान और कर्म द्वारा (आ भर) प्राप्त करा ।

राजा राष्ट्र में सुवर्णादि धन, घोड़े, वीर पुरुष, गौओं और अन्नादि की वृद्धि करे । इसी प्रकार गृहयज्ञ का पति गृहस्थ भी ऐश्वर्य को प्राप्त करे ।

॥ इत्यष्टमोध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्येऽष्टमोऽध्यायः ॥

———

६३—आपवस्व सौमी गायत्री नैध्रुविः कश्यपः । सर्वा० ।

अथ नवमोऽध्यायः

१—३४ इन्द्रो बृहस्पतिश्च ऋषी ।

॥ओ३म्॥ देवं सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा ॥ १ ॥

सविता देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (सवितः) सबके प्रेरक, आज्ञापक, ऐश्वर्यवन् ! चक्र-वर्त्तिन् ! (देव) दानशील ! तेजस्विन् ! कीर्तिमन् ! राजन् ! तू (यज्ञम्) यज्ञ प्रजापालन आदि राज्य कार्य को (प्र सुव) अच्छी प्रकार चला और (यज्ञ-पतिम्) यज्ञ, सुसंगत राज्य के पालन करने वाले अधिकारी और प्रजावर्ग को भी (प्र-सुव) उत्तम रीति से चला । (दिव्यः) प्रकाशमान क्षात्र आदि गुणों से सम्पन्न, (गन्धर्वः) पृथिवी का पालक, भूमिपति (केतपूः) सब के ज्ञानों, मतियों को पवित्र रखने वाला, उनमें कभी दुष्ट विचार न उत्पन्न होने देने वाला धर्मात्मा, राजा और (वाचस्पतिः) वेदवाणी का पालक विद्वान्, आचार्य (नः) हमारे (केतम्) ज्ञान और विचारों को (पुनातु) सदा शुद्ध बनावे और वह (स्वाहा) उत्तम रीति से, वेदानुकूल

१—अथ वाजपेयः । सर्वा० ॥ काण्वशाखायां इतः पूर्वं [अ० ७ । २७—२६, ४१—४८] मन्त्राः पठ्यन्ते । ततः [अ० ८ । २३—२७, २८—३२, ४२—४३, ५२, ५३, ५४—६०] एते मन्त्राः क्रमशः पठ्यन्ते । ततो देव-सवित० । इत्यादि । 'प्रसुवेमं भगाय ।' ०'केतपूः० । 'स्पतिर्नो अद्य वाजं स्वदतु' इति काण्व० ।

(नः वाजं) हमारे अन्न आदि उपभोग योग्य ऐश्वर्य का (स्वदतु) उपभोग करे। राजा सबको उत्तम व्यवस्था में चलावे, सबको उत्तम शिक्षादे समस्त प्रजा के ऐश्वर्य का भोग करे। शत० ५। १। १। १६॥

[१]ध्रुवसदं त्वा नृषदं मनः सदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्। [२]अप्सुषदं त्वा घृतसदं व्योमसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् पृथिविसदं त्वाऽन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ २ ॥

इन्द्रो देवता। (१) आर्षी पंक्तिः। पञ्चमः। (२) विकृतिः। मध्यमः॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) राज्यव्यवस्था में नियुक्त राजपुरुषों, प्रजा के और राज्य के उत्तम पुरुषों और राज्य के साधनों और उपसाधनों से स्वीकृत है। (त्वा इन्द्राय) तुझको इन्द्रपद के (जुष्टं) योग्य जानकर (गृह्णामि) इस पद के लिये नियुक्त करता हूँ। (ते एषः योनिः) यह तेरा आश्रयस्थान और पद है। (जुष्टतमम्) सब से योग्यतम (ध्रुवसदम्) ध्रुव, स्थिररूप से विराजनेवाले (नृ-सदम्) समस्त नेता पुरुषों में प्रतिष्ठित (मनः-सदम्) सब प्रजाओं के मन में और मनन योग्य विज्ञान में प्रतिष्ठित (त्वा) तुझको स्थापित करता हूँ। इसी प्रकार, (अप्सु-सदम्) प्रजाओं में, समुद्रों में और्वानल या विद्युत् के समान तेज पूर्वक विराजमान,(घृत-सदम्) घृत वा जल में अग्नि के समान तेजस्वीरूप से विराजमान, (व्योम-सदम्) आकाश में सूर्य के समान प्रतापी होकर विराजमान (त्वा) तुझको स्थापित करता हूं। (उपयाम-गृहितः इत्यादि, पूर्ववत्। इसी प्रकार (पृथिवि-सदम्) पृथिवी पर पर्वत के

समान स्थिररूप से विराजने हारे (अन्तरिक्ष-सदम्) अन्तरिक्ष में वायु के समान व्यापक, (दिवि-सदम्) द्यौलोक या नक्षत्रगणों में सूर्य या चन्द्र के समान विराजमान (देव-सदम्) देव, विद्वानों और योद्धाओं में विजिगीषु पुरुषों में प्रतिष्ठित (नाक-सदम्) दुःखरहित धर्म या परमेश्वर में दत्तचित्त, (त्वा) तुझको मैं राज्यपद पर प्रतिष्ठित करता हूँ। (उपयाम-गृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ५ । १ । २ । १ । ६ ॥

अ॒पाᳪं रस॒मुद्व॑यस॒ᳪं सूर्ये॒ सन्त॑ᳪं स॒माहि॑तम् । अ॒पाᳪं रस॑स्य यो रस॒स्तं वो॑ गृह्णाम्युत्तममु॑पया॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्राय त्वा॒ जुष्टं॑ गृह्णाम्ये॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा॒ जुष्ट॑तमम् ॥ ३ ॥

इन्द्रो देवता । निचृद् अतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—(उद्वयसम्) उत्कृष्ट दीर्घ जीवन को देने वाले (सूर्ये सन्तम्) सूर्य में सदा वर्तमान, सूर्य की रश्मि द्वारा प्राप्त और (सम्आहितम्) उनके बल पर सर्वत्र व्याप्त, (अपाम्) जलों के (रसम्) वीर्य साररूप जीवन को और (अपां रसस्य) जलों के रस अर्थात् साररूप भाग का भी (यः रसः) जो रस, सारिष्ठ, सब से अधिक साररूप वीर्य धातु है, विद्वान् पुरुष जिस प्रकार (आपः) जलों के (उत्तमम्) सब से उत्कृष्टरस वीर्य को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार हे (आपः) आप्त प्रजाजनो ! (अपाम्) आप्त प्रजारूप (वः) आप लोगों का (उद्वयसम्) उत्कृष्ट, उन्नत जीवन वाले, दीर्घायु, अनुभवी (सूर्ये) सर्व प्रेरक राजा के आश्रय पर (सन्तम्) विद्यमान एवं (समाहितम्) उसके प्रति एकाग्र चित्त होकर रहने वाले (रसम्) वीर्यवान् राजबल को और (अपां रसस्य) प्रजाओं के बलवान् भाग में से भी जो (रसः) उत्तम बल है (वः तम् उत्तमम्-रसम्) आप लोगों के उस सर्वोत्कृष्ट रस या बल को मैं राष्ट्र का पुरोहित

(गृह्णामि) प्राप्त करता हूं और उसे राष्ट्र के कार्य में नियुक्त करता हूं। (उपयाम-गृहीतः असि०) इत्यादि पूर्ववत् शत० ५। १। २। ७॥

ग्रहाऽऊर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम्। तेषां विशिंप्रियाणां वोऽहमिषमूर्जंᳬ समग्रभमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्। सम्पृचौ स्थः सं मा भद्रेण पृङ्क्तं विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तम् ॥ ४ ॥

लिंगोक्ता राजधर्मराजादयो देवताः। भुरिकृकृतिः। निषादः॥

भा०—हे (ऊर्जाहुतयः) अन्न और बल को ग्रहण करने और प्रदान करनेवाले (ग्रहाः) राज्य के भिन्न २ विभागों और अंगों को अपने अधीन पदाधिकारीरूप में स्वीकार करनेवाले पुरुषो ! आप लोग (विप्राय) राष्ट्र को विविध सम्पत्तियों से पूर्ण करनेवाले विद्वान् राजा को (मतिम्) सत् मति, मनन योग्य ज्ञान और शत्रुस्तम्भक बल (व्यन्तः) विविधि प्रकार से देते रहते हो। (विशि-प्रियाणाम् तेषाम्) प्रजाजनों के प्रिय, या (वि-शिप्रियाणाम्) विविधि शक्तियों और बल के समर्थ्यों से युक्त (तेषाम्) उन आप लोगों के लिये मैं (इषम्) इच्छानुकूल अन्न, और (ऊर्जम्) बलकारी अन्न, रस को (सम्-अग्रभम्) संग्रह करता हूँ। (उपयाम-गृहीतः असि) इत्यादि पूर्ववत्। हे राष्ट्र के स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों गण ! (सम्-पृचौ स्थः) परस्पर अच्छी प्रकार सम्बद्ध होकर, दृढ़तया पतिपत्नीभाव से बँध कर रहो। अथवा हे न्यायधीश और राजन् ! आप दोनों कल्याण और सुख से युक्त करते हैं अतः आप 'सम्पृक्' हो, अतः (मा) मुझ राष्ट्रपति को (भद्रेण) कल्याण और सुख से (सम् पृङ्क्तम्) युक्त करो। हे न्यायधीश और पालक शक्ति

४—गृह्णा लिंगोक्तदेवताऽनुष्टुप्। सस्पृचा यजुषी। सर्वा०। 'सम्पृच स्थ० सं मा भद्रेण पृङ्क्त विपृच स्थ वि मा पापेन पृङ्क्त,' इति काण्व०।

के स्वामिन् ! राजन् ! धर्म-व्यवस्थापक विद्वान् पुरुषो ! हे स्त्री-पुरुषो ! तुम दोनों (वि-पृचौ स्थः) 'विपृक्' हो, क्योंकि (मा) मुझको (पाप्मना) पाप से (विपृङ्क्तम्) दूर रखने में समर्थ हो। शत० ५। १। २८-१८॥

यज्ञ प्रकरण में सोम और सुराग्रह को 'सम्पृचौ' और अध्वर्यु और नेष्टा को 'विपृचौ' कहा है। प्रतिनिधिवाद से सोम और सुरा दोनों पुरुष और स्त्री के संकेतिक नाम है। और अध्वर्यु, वायु = विवेचक और नेष्टा, पत्नीवान् = पालनशक्ति का स्वामी राजा कहाते हैं। वे कल्याण और सुख के साथ में योग करानेवाले और पाप से छुड़ानेवाले होने के कारण ही 'सम्पृक्' और 'विपृक्' कहे जाते हैं।

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि वाज॒सास्त्वया॒ऽयं वाज॑ꣳ सेत्। वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे। यस्या॑मि॒दं विश्वं॒ भुव॑नमावि॒वेश॒ तस्या॑न्नो दे॒वः स॑वि॒ता धर्म॑ साविषत् ॥५॥

सविता देवता। भुरिग् अष्टिः। मध्यमः॥

भा०—हे वीर पुरुष ! तू (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा का (वज्रः) शत्रु-निवारक वज्र या खड्ग के समान शत्रु का नाशक (असि) है। तू (वाज-साः) संग्रामों का पूर्ण अनुभवी है। (त्वया) तेरे द्वारा (अयम्) यह राजा (वाजम्) संग्राम को विजय (सेत्) करे। (नु) शीघ्र ही (वाजस्य प्र-सवे) वीर्य के या युद्ध के ऐश्वर्यजनक कार्य में (महीम्) बड़ी (अदितिम्) अखण्डित, अविनाशी (मातरम्) भूमि माता को हम (वचसा) अपनी आज्ञा से (नाम) अपने आधीन वश (करामहे) करें। (यस्याम्) जिसमें (इदं) यह (विश्वं भुवनम्) समस्त संसार (आविवेश) स्थित है। (तस्याम्) उसमें (सविता) सब

५—'इन्द्रस्य रथः वाजस्य पार्थिवी अतिजगती। अन्त्यः पादः सावित्रः। सर्वा० ॥ ०साविषक्' इति काण्व०।

अधिकारियों का प्रेरक, प्रवर्त्तक और उत्पादक (देवः) देव, राजा (नः) हमारे लिये (धर्म) धर्म, धारण या राष्ट्र-व्यवस्था को (साविषत्) चलावे। अथवा (यस्याम् इदं भुवनं आविवेश) जिसमें यह समस्त विश्व स्थित है, उस (धर्म साविषत्) में सर्वोत्पादक परमेश्वर हमारे पालन पोषण की सुव्यवस्था करे ॥ शत० ५ । १ ४ । ३ । ४ ॥

रथपक्ष में—हे रथ ! तू इन्द्र का संग्रामगामी वज्र है। तुझ से वह संग्राम में जावे। (वाजस्य प्रसवे) ऐश्वर्य के लाभ के लिये हम अखण्ड पृथिवी को (वचसा नाम करामहे) अपनी आज्ञा से वश करें। इत्यादि पूर्ववत्।

अप्स्वुन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः। देवीरापो यो वऽऊर्मिः प्रतूर्त्तिः ककुन्मान्वाजसास्तेनायं वाजꣳ सेत् ॥ ६ ॥

अश्वो देवता । भुरिग्जगती । निषादः ।

भा०—(अमृतम्) अमृत, मृत्यु का निवारण करनेवाला, मूल कारण (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर विद्यमान है। और (भेषजम्) रोगों के दूर करने का सामर्थ्य भी (अप्सु) जलों के भीतर है। (उत) और हे (वाजिनः) वीर्यवान् और ज्ञानवान् पुरुषो ! आप लोग (अपाम्) जलों के (प्रशस्तिषु) उत्तम प्रशंसनीय गुणों के आधार पर ही (अश्वाः भवत) अति वेगवान् और बलवान् हो जाओ।

राजा के पक्ष में—(अप्सुः अन्तः) आप्त प्रजाओं के बीच में ही (अमृतम्) राष्ट्र के मृत्युरूप शत्रु के आक्रमण आदि को निवारण करने का बल है और (अप्सु) उन प्रजाओं में ही (भेषजम्) सब कष्टों के दूर करने का सामर्थ्य है। हे (वाजिनः) वीर्यवाले योद्धा लोगो ! आप

६—'देवीरापो अपां नपाद्यो वः ऊर्मिः०' इति काण्व० ॥

लोग (अपाम् प्रशस्तिषु) प्रजाओं के भीतर विद्यमान, प्रशंसनीय, उत्तम गुणवान् पुरुषों के आधार पर ही (अश्वाः) शीघ्रगामी अश्व, बलवान् क्षत्रिय (भवत) होओ। हे (आपः देवीः) दिव्य आप्त पुरुषो ! हे राजा की प्रजाओ ! (यः) जो (वः) तुम्हारा (ऊर्मिः) उच्च सामर्थ्य और (प्रतूर्तिः) उत्तम क्रिया शक्ति है उनसे यह राजा (ककुन्मान्) सर्वश्रेष्ठ पद और सामर्थ्य को धारण करने और (वाजसाः) युद्ध में जाने के समर्थ हो। (तेन) उस पराक्रम से वह (वाजं सेत्) युद्ध को प्राप्त करे, युद्ध का विजय करे।

जलों के पक्ष में—जल के उत्तम गुणों पर ही अश्व अधिक वेग वाले होते हैं। उसी से बैल भी हृष्ट-पुष्ट और भूमि भी खूब उपजाऊ होती है, उससे भूमि-पति भी प्रभूत अन्न प्राप्त करता है ॥ शत० ५।१।४।७ ॥

वातो॑ वा॒ मनो॑ वा गन्ध॒र्वाः स॒प्तवि॑ꣳशतिः ।
ते ऽअग्रे॒ऽश्व॑मयुञ्ज॒ꣳस्ते ऽअ॑स्मिन् ज॒वमाद॑धुः ॥ ७ ॥

सेनापतिर्देवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(वातः वा) वायु जिस प्रकार वेग को धारण करता है, (मनः वा) और जिस प्रकार मन वेग को धारण करता है, और जिस प्रकार (सप्तविंशतिः गन्धर्वाः) सत्ताईस गन्धर्व = प्राण, इन्द्रियें और स्थूल सूक्ष्म भूत, सभी वेग धारण करते हैं उसी प्रकार (ते) वे विद्वान् पुरुष भी (अग्रे) अपने गाड़ियों और रथों के आगे (अश्वम्) वेगवान् अश्व, गतिसाधन यन्त्र या अश्व के समान कार्य निर्वाहक अग्रणी पुरुष को (अयुञ्जन्) जोड़ते हैं और वे विद्वान् पुरुष (अस्मिन्) उसमें (जवम्) वेग और बल का (आदधुः) आधान करते हैं ॥ शत० ५।१।४।८ ॥

७—अश्वो देवता। सर्वा० ॥ द०। 'वातो वो वा मनो वा०' इति काण्व०।

वातरꣳहा भव वाजिन् युज्यमानऽइन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदसऽआ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु॥८॥

प्रजापतिरश्वो देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (वाजिन्) ज्ञान और बल से युक्त पुरुष ! वेगवान् अश्व जिस प्रकार गाड़ी में लगाया जाता है और वह (वात-रंहा) वायु के समान तीव्र वेग से जाता है उसी प्रकार तू (युज्यमानः) राष्ट्र के कार्य में नियुक्त होकर वायु के समान तीव्र वेगवान् (भव) हो । और (दक्षिणः) तू दक्षिण अर्थात् बल के कार्यों में कुशल होकर (इन्द्रस्य) इन्द्र, राजा या सेनापति की (श्रिया) लक्ष्मी, शोभा से युक्त (एधि) हो । अथवा तू (दक्षिणः इन्द्रस्य) दक्ष, बल, सामर्थ्य वाले इन्द्र राजा की लक्ष्मी से युक्त हो, अथवा (इन्द्रस्य दक्षिणः इव) इन्द्र, राजा के दायें हाथ के समान, उसका सर्वश्रेष्ठ सहायक होकर लक्ष्मी, धन ऐश्वर्य से युक्त हो । (विश्ववेदसः मरुतः) समस्त प्रकार के ऐश्वर्यों और ज्ञानों के स्वामी मरुत् गण, देव तुल्य राजा, सैनिक, लोग, विद्वान् लोग और वैश्यगण(त्वा) तुझको उचित कार्य में (आ युञ्जन्तु) नियुक्त करें और (त्वष्टा) शिल्पी जिस प्रकार वेगयुक्त यन्त्र को रथ में लगाता है और उसके (पत्सु) गमन करने वाले अंगों, चक्रों में, (जवं) वेग उत्पन्न करता है उसी प्रकार (त्वष्टा) राजा (ते) तेरे (पत्सु) चरणों में गमन करने के साधनों में (जवम् आदधातु) वेग स्थापित करे ॥ शत० ५।१।४।९ ॥

शिल्प यन्त्र के पक्ष में—हे (वाजिन्) वेग वाले, बल वाले पदार्थ तु यन्त्र में नियुक्त होकर वायु वेग से चला । तू (दक्षिणः इन्द्रस्य) बलशाली विद्युत् की दीप्ति से चमक । सर्वज्ञ (मरुतः) विद्वान् लोग तुझे नियुक्त करें । (त्वष्टा) शिल्पी तेरे पैरों, चक्रों में गति स्थापित करें ।

८—अश्वादेवता । सर्वा० ।

जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तोऽअचरच्च वाते । तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुः । वाजिनो वाजजितो वाजᳬं सरिष्यन्तो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत ॥ ९ ॥

वीरो देवता । धृतिः । ऋषभः ॥

भा०—हे (वाजिन्) विद्या, शास्त्र-ज्ञान और संग्राम-साधनों से युक्त बलशालिन् सेनापते ! वीर पुरुष ! (गुहा निहितः) यन्त्र के गूढ़ स्थान में जिस प्रकार वेगजनक पदार्थ रक्खा जाता है उसी प्रकार (ते यः जवः) तेरा जो वेग, तेरी (गुहा) गुहा में, बुद्धि में (निहितः) स्थित है और (यः) जो वेग (श्येने) श्येन अर्थात् उत्तम गतिमान् यान, यन्त्र वा बाज़ पक्षी में और उसके समान आक्रमण करने वाले तुझ में विद्यमान है और (यः) जो वेग (वाते च) प्रचण्ड वायु में (अचरत्) व्याप्त है हे (वाजिन्) वेग और बल से युक्त सेनापते ! वीर पुरुष ! (तेन) उस वेग से और (बलेन) उस बल से तू (वाजजित् च) संग्राम विजयी भी हो और (समने) संग्राम में भी (पारयिष्णुः) हम सबको संकट से तारने वाला (भव) हो । हे (वाजिनः) वेगवान्, बलवान्, वीर, अश्वारोही पुरुषो ! आप लोग (वाजजितः) संग्राम का विजय करने हारे हैं। आप लोग (वाजं सरिष्यन्तः) जब संग्राम में तीव्र वेग से शत्रु पर धावा करने को हों, तब सब लोग (बृहस्पतेः) बृहती, बड़ी भारी सेना के स्वामी, सेनापति, या बड़े १ सेना-सञ्चालकों के भी स्वामी, सेनाध्यक्ष अथवा—बृहती, वाणी,आज्ञा के पति स्वामी, आज्ञापक पुरुष के (भागम्) सेवन करने योग्य आज्ञा-वचन को (अवजिघ्रत) सदा सूंघते रहो, सदा प्राणवत् ग्रहण करते हो,उसकी सदा खोज लगाते रहो, उसके प्रति सदा सावधान रहो ॥ शत० ५।१।४।१०-१५ ॥

९—०'वाजजिच्चैधि म० ' इति काण्व० ।

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकꣳ रुहयेम् । देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवस ऽइन्द्रस्योत्तमं नाकꣳ रुहेयम् । देवस्याहꣳ सवितुःसवे सत्यप्रसघसो बृहस्पते-रुत्तमं नाकमरुहम् देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसऽइन्द्र-स्योत्तमं नाकमरुहम् ॥ १० ॥

इन्द्राबृहस्पती देवते । विराड् उत्कृतिः । षड्जः ॥

भा०—(अहम्) मैं (सवितुः) सर्वप्रेरक, (सत्य-सवसः) सत्य मार्ग पर चलने की आज्ञा देने वाले, (बृहस्पतेः) बृहती, बड़ी भारी सेना के पालक, सेनाध्यक्ष के (सवे) आज्ञा, अनुशासन में रह कर और उसी प्रकार (सत्यसवसः) सर्वप्रेरक, सत्यमार्ग या उचित मार्ग में आज्ञा करने वाले, (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा के (सवे) शासन में रह कर (उत्तमम् नाकम्) सब से उत्कृष्ट, सुखमय लोक और पद को (रुहेयम्) प्राप्त होऊं ॥ शत० ५ । १ । ५ । १–५ ॥

परमेश्वर के पक्ष में—(देवस्य) सर्व प्रकाशमान, (सवितुः) सकल जगत् के उत्पादक, (सत्य-सवसः) सत्य ऐश्वर्यवान्, (बृहस्पतेः) बृहती वेदवाणी और महती प्रकृति आदि के पालक स्वामी, परमेश्वर के (सवे) उत्पन्न किये संसार में और (सत्यसवसः इन्द्रस्य) सत्य न्याययुक्त शासन वाले, इन्द्र, परमैश्वर्यवान् सम्राट् या राजा के (सवे) ऐश्वर्य या समृद्ध शासन में रहकर मैं (उत्तमं नाकम् रुहेयम्) उत्तम दुःखरहित और सुखमय आनन्द को प्राप्त होऊं ।

उसी प्रकार (अहम्) मैं (सवितुः) सकल ऐश्वर्योत्पादक (सत्य-प्रसवसः) सत्य ज्ञान के प्रसव करनेवाले, सकल बोधों के जनक (बृहस्पतेः सवे) वेदवाणी के पालक आचार्य के शासन में रहकर मैं

१०—देवस्य वयं स०, '० मारुहम् । इन्द्रास्योत्तमं नाकयारुहाम' इतिकाण्व० ।

(उत्तमं नाकम् अरुहम्) उत्तम सुखमय स्थिति को प्राप्त करूं। इसी प्रकार (देवस्य) धनुर्विद्या में विज्ञ (सवितुः) विजयोत्पादक (सत्यप्रसवसः) सत्य व्यवहारों और विजयों के कर्त्ता (इन्द्रस्य) शत्रुनाशक सेनापति के (सवे) शासन में रहकर मैं (उत्तमं नाकम् अरुहम्) उत्तम सुख को प्राप्त होउं ॥

बृह॑स्पते॒ वाजं॑ जय॒ बृह॒स्पत॑ये॒ वाचं॑ वदत॒ बृह॒स्पतिं॒ वाजं जापयत। इन्द्र॒ वाजं॑ ज॒येन्द्रा॑य॒ वाचं॑ वद॒तेन्द्रं॒ वाजं॑ जापयत ॥ ११ ॥

इन्द्राबृहस्पती देवते । जगती । निषादः ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! महती सेना के स्वामिन् ? तू (वाजं जय) संग्राम को विजय कर । (बृहस्पतये) उक्त बृहस्पति के लिये हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (वाचं) उत्तम विज्ञानयुक्त वाणी का (वदत) उपदेश करो, उसके योग्य उसको ज्ञान प्राप्त कराओ । हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (बृहस्पतिम्) महान् राष्ट्र के पालक राजा के (वाजम्) संग्राम को (जापयत) विजय कराने में सहायता दो। हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! तू (वाजं जय) संग्राम का विजय कर। हे विद्वान् पुरुषो ! इन्द्राय वाचं वदत) इन्द्रपद के योग्य ज्ञानवाणी का उपदेश करो। और (इन्द्रं वाजं जापयत) इन्द्र, राजा की युद्ध-विजय में सहायता करो।

वेदज्ञ बृहस्पति के पक्ष में—वह (वाजं जय) ज्ञान, विद्या, बोध प्राप्त करे और (वाचं) वेदवाणी का उसको उपदेश करे। उसको ज्ञान प्राप्त करने में सब सहायता दें ॥ श० ५ । १ । ५ । ८–९ ॥

ए॒षा वः॒ सा स॒त्या सं॒वाग॑भूद्यया॒ बृह॒स्पतिं॒ वाज॒मजी॑जप॒ताजी॑जपत॒ बृह॒स्पतिं॒ वाज॒ वन॑स्पतयो॒ विमु॑च्यध्वम् । ए॒षा वः॒ सा स॒त्या सं॒वाग॑भूद्ययेन्द्रं॒ वाज॒मजी॑जप॒ताजी॑जप॒तेन्द्रं॒ वाज॒ वन॑स्पतयो॒ विमु॑च्यध्वम् ॥ १२ ॥

इन्द्राबृहस्पती देवते । स्वराड् अतिधृतिः । षड्जः ।।

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (वः) आप लोगों की (एषा) वह

(सा) वह (सत्या) सत्य, न्याययुक्त, उचित (सं-वाग्) सम्मिलित, एक-दूसरे से संगत वाणी (अभूत्) होनी चाहिये (या) जिससे (बृहस्पतिम्) बृहती, बड़ी भारी सेना के स्वामी, सेनाध्यक्ष या बृहत् राष्ट्र के पालक राजा को (वाजम्) संग्राम का (अजीजपत) आप लोग विजय कराने में समर्थ होते हैं। आपलोग उस एक सम्मिलित उत्तम ज्ञान-वाणी से ही (बृहस्पतिम्) इस बृहस्पति राजा को (वाजं अजीजपत) संग्राम का विजय कराने में समर्थ हुए हैं। अतः हे (वनस्पतयः) प्रजा-समूहों एवं सैनिक समूहों के पालक पुरुषो ! आप लोग (विमुच्यध्यम्) अपने सैनिकों, अश्वों और दस्तों को बन्धन से छोड़ दो। (एषा) यह (वः) तुम लोगों की (सत्या संवाग्) सच्ची, परस्पर सम्मिलित सहमति (अभूत्) है (यया) जिससे आप लोग (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (वाजम् अजीजपत) संग्राम का विजय कराते हो। आप लोग ही (इन्द्रम्) इन्द्र को (वाजम् अजीजपत) संग्राम विजय कराते हो। हे (वनस्पतयः) सैनिक समूहों के पालक, अध्यक्ष कप्तान लोगो ! (विमुच्यध्वम्) आप विजय के अनन्तर अपने सैनिकों, घोड़ों और रथों को छोड़ दो, उनके बन्धन खोल दो, उनको आराम दो॥ शत० ५।१।५।१२॥

समस्त सैनिक सेनानायक लोग मिलकर एक आवाज़, एक आज्ञा से चलकर सेनापति राजा के युद्ध को विजय कराते हैं और विजय करनेवाले पर उनको अपने दस्तों और अश्व आदि के बन्धनमुक्त करने की आज्ञा हो।

देवस्याहᳬं सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम्। वाजिनो वाजजितोऽध्वन स्कभ्नुवन्तो योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत॥ १३॥

सविता देवता। अतिजगती। निषादः॥

१३—वाजिनोऽश्वाः। सर्वा०। देवस्य वयं०, ०जेष्म। वजिनो वाजं जयताध्वनः स्कभ्नन्तः। ०अनुसन्तवीतवस्प० इति काण्व०।

भा०—(अहम्) मैं सेनानायक (सवितुः) सर्वप्रेरक (सत्य प्रसवसः) सत्य, यथार्थ, यथोचित आज्ञा के प्रदाता (देवस्य) सर्वप्रद, सर्वप्रकाशक विद्वान् (बृहस्पतेः) संग्रामविजयी के (वाजम्) संग्राम को (जेषम्) विजय करूं । हे (वाजजितः वाजिनः) संग्राम का विजय करनेहारे, वेगवान्, बलवान् अश्वो और अश्वरोही वीर सवार लोगो ! आप लोग (अध्वनः) शत्रु के बढ़ने के मार्गों को (स्कभ्नुवन्तः) रोकते हुए (योजनाः मिमानाः) कोसों को मापते हुए, अर्थात् वेग से कोसों लांघते हुए (काष्ठां गच्छत) परली सीमा तक पहुंच जाओ ॥ शत० ५ । २ । ४ । १५-१७ ॥

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बुद्धोऽअपिकुक्ष ऽआसनि । क्रतुं दधिक्रा अनु सᳬसनिष्यदत्पथामङ्काᳬस्यन्वापनीफणत् स्वाहा ॥ १४ ॥

दधिक्रावा वामदेव्य ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—(एषः स्यः) यह वह वीर सेनापति (वाजी) वेगवान् होकर (क्षिपणिम्) कशा या शत्रुनाशक सेना को (तुरण्यति) बड़े वेग से चलाता या आगे बढ़ाता है । (दधिक्राः) घुड़सवार को अपनी पीठ पर लेकर वेगसे दौड़ने वाला अश्व (ग्रीवायां) गर्दन, (अपिकक्षे) बगलों और (आसनि) मुख में भी (बद्धः) बंधा हुआ होकर (क्रतुम्) क्रियावान्, ज्ञानवान् कर्त्ता पुरुष,सवार को लेकर (अनु) उसके अभिप्राय के अनुकूल (संसनिष्यत्) निरन्तर दौड़ता हुआ (स्वाहा) अपने उत्तम वेग से, अपने पालक की वाणी के अनुसार (पथाम्) मार्गों के (अंकांसि) बीच में लगे समस्त मार्गद्योतक चिह्नों को या ऊंचे नीचे टेढ़े मेढ़े समस्त रास्तों को (अनु आ पनीफणत्) सुख से पार कर जाया करता है । सेनापति सेना को आगे को बढ़ावे । घुड़सवार

हण्टर लगावे। घोड़ा मय सवार के सब रास्ते पार करे। ऐसे घुड़सवार लेने चाहियें॥ शत० ५। १। ४। १८–१९॥

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्णं न वेरनुवाति प्रगर्धिनः। श्येनस्येव ध्रजतोऽअङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः स्वाहा॥ १५॥

दधिक्रावा वामदेव्य ऋषिः। बृहस्पतिर्देवता। जगती। निषादः॥

भा०—(उत) और (अस्य एव) इसके ही (द्रवतः) भागते हुए और (तुरण्यतः) वेग से जाते हुए, (प्रगर्धिनः) प्रबल वेग से अगले मार्ग को पहुंचने की अभिलाषा करनेवाले, (ऊर्जा सह) पराक्रम के साथ (परि तरित्रतः) बड़े वेग से भागते हुए (दधिक्राव्णः) मार्ग की समस्त बाधाओं को लांघते हुए अश्व को (अङ्कसम्) ध्वज, चामर आदि चिह्न (वेः पर्णं न) वेग से जाते हुए पक्षी या तीर के पंखों के समान और (प्रगर्धिनः) मांस या शिकार के अभिलाषी, (ध्रजतः) वेग से झपटते हुए (श्नेनस्य इव) सेन के पंखों के समान (अनुवाति) उसके पीछे ही वेग से जाते हैं॥ शत० ५। १। ५ २०॥

अथवा—(अङ्कसं तरित्रतः) चिह्न से युक्त मार्ग पर दौड़ते हुए अश्व का (पर्णम्) पालनकारी पूंछ और वस्त्रादि शिकार पर झपटते हुए बाज के पंखों के समान पीछे को हो जाते हैं। इस स्थल से 'पर्णम्' शब्द दीपकालंकार से है।

शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः। जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳ रक्षाꣳसि सनेम्यस्मद् युयवन्नमीवाः॥ १६॥

वसिष्ठ ऋषिः बृहस्पतिर्देवता। भुरिक् पंक्तिः। पंचमः॥

१४, १५—अश्वदेवत्ये जगत्यौ। सर्वा०।

१६—अश्वदैवत्यम्। अनन्त०॥

भा०—(हवेषु) संग्रामों में (वाजिनः) वेगवान् घोड़े और घुड़सवार (नः) हमें (शम् भवन्तु) कल्याणकारी हों। और वे (देवता) देवों, युद्ध के विजय करनेवाले विजेता लोगों के कामों में (मित-द्रवः) परिमित गति से जाने वाले, (सु-अर्काः) उत्तम संस्कार वाले, खूब सजे सजाये हों। वे (अहिम्) सर्प को, सर्प के समान कुटिलता से भागनेवाले या मेघ के समान वायु वेग से जाने या अपने उपर शर वर्षण करनेवाले शत्रु को और (वृकं) चोर या भेड़िये के समान पीछे से आक्रमण करनेवाले और (रक्षांसि) विघ्नकारी दुष्ट पुरुषों को और (अमीवाः रोग के समान दुःखदायी शत्रुओं को (सनेमि) सदा या शीघ्र ही (अस्मद् युयवन्) हम से दूर करें ॥ शत० ५ । १ । ५ । २२ ॥

ते नोऽअर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः। सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनंꣳ समिथेषु जभ्रिरे ॥ १७ ॥

नाभानेदिष्ट ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—(ते अर्वन्तः) अश्व, अश्वों के ऊपर चढ़ने हारे राजा के अधीन वे वीर लोग (हवन-श्रुतः) ग्राह्य आज्ञाओं और शास्त्र-वचनों का श्रवण करने वाले ज्ञानी पुरुष हों। वे (विश्वे) सब (वाजिनः) ज्ञान और बल से युक्त (मित-द्रवः) शास्त्र से जाने गये समस्त पदार्थों तक पहुंचाने वाले होकर (मे) मुझ राजा और राष्ट्रवासी प्रजाजन की (हवम्) ज्ञान पूर्ण वचन या आज्ञा (शृण्वन्तु) सुनें। वे (सहस्रसाः) सहस्रों का वेतन पाने वाले (मेध-साता) प्राप्त होने योग्य अन्नों को (सनिष्यवः) प्राप्त करना चहते हैं। (ये) जो (समिथेषु) संग्रामों मे (महः धनम्) बड़े भारी धन ऐश्वर्य को (जभ्रिरे) प्राप्त करते हैं वे लोग संग्राम के अवसरों पर देश की आगे लिखे प्रकार से रक्षा करें ॥ शत० ५ । १ । ५ २३ ॥

१७—'सहस्रसा मेधसाता इव त्मना महो०' इति काण्व० ।

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्राऽअमृता ऽऋतज्ञाः। अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः ॥ १८ ॥

वसिष्ठ ऋषिः बृहस्पतिर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—हे (वाजिनः) बल वीर्य और अन्नादि वाले एवं अश्व के समान वेगवान्, एवं अश्वों पर चढ़ने वाले वीर पुरुषो और ज्ञानी लोगो ! आप लोग (वाजे-वाजे) संग्राम संग्राम में (नः अवत) हमारी रक्षा किया करो। और हे (विप्राः) मेधावी विद्वान् जनो ! हे (अमृताः) अमर, कभी नष्ट न होने वाले, एवं जीवन्मुक्त दीर्घजीवी लोगो ! हे (ऋतज्ञाः) सत्य व्यवस्था के जानने वालो ! आप लोग (अस्य) इस (मध्वः) मधु, मधुर अन्न और ज्ञान का (पिबत) पान करो, भोग करो और (मादयध्वम्) तृप्त होओ। और (तृप्ताः) तृप्त होकर (देवयानैः पथिभिः) देवों, विद्वानों के चलने योग्य धार्मिक या उत्तम रथोचित, राजोचित मार्गों से (यात) गमनागमन करो ॥ शत० ५ । १ ५ । २४ ॥

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे। आ मा गन्तां पितरा मातरा चा मा सोमोऽअमृतत्वेन गम्यात्। वाजिनो वाजजितो वाजꣳ ससृवाꣳसो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत निमृजानाः ॥ १६ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । निचृद् धृतिः । निषादः ॥

भा०—(मा) मुझको (वाजस्य प्रसवः) ज्ञान, बल और अन्न का ऐश्वर्य (आ जगम्यात्) प्राप्त हो। (इमे) ये दोनों (विश्वरूपे) समस्त रोचना या दीप्ति युक्त पदार्थों को धारण करने वाले (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी, राजा और प्रजा (आ गन्ताम्) मुझे प्राप्त हों। (मा) मुझे (पितरा मातरा च) पिता और माता दोनों

१९—'०गन्त पितरा मातरा युवमा सोमो अमृतत्वाय गम्यात्।' इति काण्व०।

(आगन्ताम्) प्राप्त हों । (मा) मुझे (सोमः) सर्वप्रेरक राजपद, ऐश्वर्य और औषधियों का परम रस और वीर्य (अमृत्वेन) रोगानवारक दीर्घजीवन रूप से (आ जगम्यात्) प्राप्त हो । हे (वार्जजितः) संग्रामों का विजय करने हारे (वाजिनः) बलवान् अश्वारोही वीर पुरुषो ! आप लोग (वाजं ससृवांसः) संग्राम को जाने हारे हैं । आप लोग (निमृजाना) सर्वथा शुद्ध पवित्र चित्त होकर (बृहस्पतेः भागम्) बृहती सेना के स्वामी सेनाध्यक्ष के सेवन करने योग्य वचन को (अवजिघ्रत)आदरपूर्वक, सावधान होकर ग्रहण करो । शत० ५ । १ । ५ । २६, २७ ॥

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिनऽआन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये स्वाहा ॥२०॥

वसिष्ठ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । भुरिक् कृतिः । निषादः ॥

भा०—सूर्य के जिस प्रकार १२ मास हैं और उनमें उसके १२ रूप हैं इसी प्रकार प्रजापति के भी १२ रूप, तदनुसार उसकी १२ अवस्थाएं हैं और उनके अनुसार १२ नाम हैं । [१] (आपये स्वाहा) सकल विद्याओं और सज्जनों को प्राप्त करने वाला, बन्धु के समान राजा 'आपि' है । उसको समस्त विद्याएं और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (स्वाहा) सत्य क्रिया, यथार्थ साधना करनी चाहिये । [२] (सु-आपये स्वाहा) शोभन पदार्थों को प्राप्त करने कराने वाला या उत्तम बन्धु पुरुष 'स्वापि' है । उत्तम पदार्थों और सुखों की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) उसे उत्तम धर्मानुकूल आचरण करना चाहिये । [३] (अपिजाय स्वाहा) पुनः पुनः ऐश्वर्यवान् होने वाला, एक के बाद दूसरा आने के कारण राजा भी 'अपिज' है । इस प्रकार पुनः २ प्रतिष्ठा प्राप्त कर पदाधिकारी होने के लिये (स्वाहा) पुरुषार्थ युक्त साधना करनी चाहिये । [४] क्रतवे

स्वाहा) समस्त कार्यों का सम्पादक, एवं सब विद्याओं का विचारक ज्ञानी 'क्रतु' है। शरीर में आत्मा और राष्ट्र में राजा वह भी 'क्रतु' है। उस पद के योग्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये (स्वाहा) अध्ययन अध्यापन की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिये। [५] (वसवे स्वाहा) समस्त प्रजाओं को बसाने हारा राजा 'वसु' है। उस पद को प्राप्त करने के लिये भी (स्वाहा) सत्य व्यवहार वाणी और न्याय होना चाहिये। [६] (अहःपतये स्वाहा) सूर्य जिस प्रकार दिन का स्वामी है, पुरुषार्थ से काल-गणना द्वारा समस्त दिवस का पालक पुरुष भी 'अहःपति' है उसके लिये (स्वाहा) वह काल-विज्ञान की विद्या का अभ्यास करे। [७] (मुग्धाय) जिसको मोह का कारण उपस्थित होजाने पर ज्ञान का प्रकाश न रहे ऐसे (अह्ने) मेघ से आवृत सूर्य के समान ऐश्वर्य के मद में ज्ञान रहित प्रजापालक के लिये भी (स्वाहा) उसको चेतानेवाली वाणी का उपदेश होना चाहिये। [८] (मुग्धाय वैनंशिनाय) नाशवान् पदार्थों और नाशकारी आचरणों में, मोहवश ऐश्वर्यप्रेमी, विलासी एवं अत्याचारी राजा के लिये (स्वाहा) सावधान करने और सन्मार्ग में लानेवाले उत्तम उपदेश होने चाहियें। [९] (विनंशिने) स्वयं विनाश को प्राप्त होनेवाले या राष्ट्र का विनाश करने पर तुले हुए (अन्त्यायनाय) अन्तिम सीमा तक पहुंचे हुए, अन्तिम नीचतम कोटि तक गिरे हुए राजा को (स्वाहा) विनाशकारी आचरणों से बचानेवाला उपदेश और उपाय होना उचित है। [१०] (आन्त्याय) सबके अन्त में होनेवाले, सबसे परम, सर्वोच्च (भौवनाय) सब भुवनों, पदों में व्यापक उनके अधिपति के लिये (स्वाहा) उन सब पदों के व्यवहार-ज्ञान के उपदेशों की आवश्यकता है। [११] (भुवनस्य पतये) भुवन, राष्ट्र के पालक राजा को (स्वाहा) राष्ट्र-पालन की विद्या, दण्डनीति जाननी चाहिये और [१२] (अधिपतये स्वाहा) सब अध्यक्षों के उपर स्वामी रूप से विद्य-

मान राजा के कार्य के लिये (स्वाहा) उत्तम राज्य-नीति जाननी चाहिये ॥ शत० ५ । २ । १ । २ ॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताँ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् । प्रजापतेः प्रजाऽ अभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम ॥ २१ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । यज्ञः प्रजापतिर्देवता । अत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—(यज्ञेन) यज्ञ, परस्पर के आदान-प्रतिदान, राज्य की सुव्यवस्था सत्संग तथा प्रजापति रूप यज्ञ से (आयुः) सब प्रजाओं का दीर्घ जीवन (कल्पताम्) स्वस्थ बना रहे । (यज्ञेन प्राणः कल्पताम्) यज्ञ, एक दूसरे के अन्न आदि दान से प्राण पुष्ट हों । (यज्ञेन चक्षुः कल्पताम्) यज्ञ से ज्ञान-व्यवहार के देखने में समर्थ चक्षु बलवान् हो । (यज्ञेन श्रोत्रं कल्पताम्) यज्ञ द्वारा ही श्रोत्र, श्रवण शक्ति समर्थ बनी रहे । (यज्ञः) हमारे यज्ञ, ईश्वरोपासना और आपस के धर्मकार्य सब (यज्ञेन कल्पताम्) उत्तम राजा के प्रजा पालन के कार्य से बने रहें । हम सब (प्रजापतेः) प्रजा के पालक राजा और परमेश्वर की (प्रजाः अभूम) प्रजाएं बनी रहें । हम लोग (देवाः) विजयी, ज्ञानवान् होकर (स्वः अगन्म) परम सुखमय मोक्ष और सुखप्रद राज्य को प्राप्त हों । हम (अमृताः अभूम) परमेश्वर के राज्य में अमृत, मुक्त हो जायं और उत्तम प्रजापालक राजा के राज्य में (अमृताः) पूर्ण सौ वर्ष और उससे भी अधिक आयुवाले हों ॥ शत० ५ । २ । १ ३-१४ ॥

एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति । शत० ९ । ५ । १ । १० ॥ य एव शतं वर्षाणि, यो वा भूयांसि जीवति स हैवैतदमृतमाप्नोति । श० १० । २ । ६ । ८ ॥

२१—प्रजापतेः स्वरमृताः यजमानः । सर्वा० ॥ '०कल्पताम् । जाय एहि स्वो रोहाव । प्रजापतेः०' इति काण्व० ।

अ॒स्मे वो॑ऽअस्त्वि॒न्द्रि॒यम॒स्मे नृ॒म्णमु॒त क्रतु॑र॒स्मे वर्चा॑ꣳसि सन्तु वः। नमो॑ मा॒त्रे पृ॑थि॒व्यै नमो॑ मा॒त्रे पृ॑थि॒व्याऽइ॒यं ते॒ राड्य॒न्तासि॒ यम॑नो ध्रु॒वोऽसि ध॒रुणः॑। कृ॒ष्यै त्वा॒ क्षेमा॑य त्वा र॒य्यै त्वा॒ पोषा॑य त्वा ॥ २२ ॥

दिशो देवताः ।। निचृदत्यष्टिः । गान्धारः।।

भा०—हे (दिशः) दिशाओ, समस्त दिशाओं के निवासी प्रजाजनो! (वः) तुम्हारा (इन्द्रियम्) समस्त ऐश्वर्य और बल (अस्मे अस्तु) हम राज्यकर्त्ताओं के लिये उपयोगी हो। आप लोगों का (नृम्णम्) धन, (उत क्रतुः) बल और ज्ञान (अस्मे) हमारी रक्षा और वृद्धि के लिये हो। (वः) आप लोगों के (वर्चांसि) तेज (अस्मे) हमारे लिये उपयोगी (सन्तु) हों। इसी प्रकार प्रजाजन राज्य के अधिकारियों से यही कहें कि—हे चारों दिशाओं के रक्षक पुरुषो! आप लोगों का बल, धन, प्रज्ञान और तेज सब हमारी वृद्धि और रक्षा के लिये हो। सामान्यतः, हम सब परस्पर प्रेम से रहते हुए अपने इन्द्रिय-सामर्थ्य, धन, बल, विज्ञान और तेजों का एक दूसरे के लिये उपयोग करें। (मात्रे पृथिव्यै नमः १) माता पृथिवी जो समस्त प्रजा को उत्पन्न करती और अन्न देती और राजा को भी उत्पन्न करती और पोषती है, उसका हम आदर करते हैं। हे राजन् (इयं) यह पृथिवी ही तेरी (राड्) राजशक्ति है। तू (यन्ता असि) नियन्ता, व्यवस्थापक है। तू (यमनः) सब प्रकार से नियमन करनेवाला, (ध्रुवः) ध्रुव, नक्षत्र के समान स्थिर, निश्चल, (धरुणः असि) राष्ट्र को धारण करनेहारा, आश्रय-स्तम्भ है। हे राजन्! हे पुरुष! (त्वा) तुझको (कृष्यै) कृषि, खेती, पृथिवी पर अन्नादि उत्पन्न करने के लिये (त्वा क्षेमाय) तुझको

२२—नमो मात्रे पृथिव्या इयं०, कृष्यै क्षेमाय रय्यै पोषाय। इति काण्व०।

जगत् के कल्याण के लिये, (त्वा रय्यै) तुझको राष्ट्र के ऐश्वर्य वृद्धि के लिये (त्वा पोषाय) तुझको राष्ट्र की पशु-समृद्धि के लिये नियुक्त किया जाता है ॥ शत० ५ । २ । १ । १५-२५ ॥

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳ राजानमोषधीष्वप्सु । ताऽअस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयꣳ राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ॥ २३ ॥

प्रजापतिर्देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(वाजस्य प्रसवः) संग्राम और वीर्य का ऐश्वर्य या समृद्धि ही (अग्रे) सबसे प्रथम (ओषधीषु सोमम्) ओषधियों में जिस प्रकार सोम सर्वश्रेष्ठ सबसे अधिक वीर्यवान् है उसी प्रकार (अप्सु) प्रजाओं में (इमं राजानम्) सर्वोपरि राजमान सम्राट् को (सुषुवे) उत्पन्न करता है । (ताः) वे ओषधियां (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (मधुमतीः) अन्न आदि मधुर पदार्थों से सम्पन्न हों और वे प्रजाएं भी अन्न आदि ऐश्वर्य से युक्त हों और जल भी मधुरगुण से युक्त हो । (वयम्) हम अमात्य आदि राष्ट्र के पालक पुरुष (राष्ट्रे) राष्ट्र में, राष्ट्र के सब कार्यों में (पुरोहिताः) अग्रसर होकर, मुख्य पद पर विराजकर राष्ट्र में (स्वाहा) उत्तम शासन व्यवस्था सहित (जागृयाम) सदा जागते रहें, सदा सावधान होकर शासन करें ॥ शत० ५ । २ । २ । १ । ५ ॥

वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट् । अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिं सर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा ॥ २४ ॥

प्रजापतिर्देवता । भुरिग् जगती । निषादः ॥

भा०—(वाजस्य) अन्न, वीर्य और सांग्रामिक बल का (प्रसवः)

२४—०'च्छतु ।' इति काण्व० ।

उत्पादक यह (सम्राट्) सम्राट्, महाराज, (इमाम्) इस और (दिवम्) आदित्य, के समान प्रकाशमयी और आकाश के समान विस्तृत ज्ञानपूर्ण राजसभा को और विश्वा (भुवनानि) समस्त भुवनों, देशों, लोकों को, समस्त लोकों को परमेश्वर के समान, विशाल शक्ति से (शिश्रिये) धारण करता है। वह (प्रजानन्) सब कुछ जाननेहारा (अदित्सन्तम्) कर या किसी की देन को न देना चाहनेवाले से भी (दापयति) दिलवाता है। (सः) वह (नः) हमें (सर्ववीरम् रयिम्) सब वीर पुरुषों से युक्त ऐश्वर्य को (स्वाहा) उत्तम धर्मानुकूल व्यवस्था से (नियच्छतु) प्रदान करे।

वाजस्य नु प्रसव आ बभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः। सनेमि राजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मे स्वाहा ॥ २५ ॥

वासिष्ठ ऋषिः प्रजापतिर्देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो पुरुष (वाजस्य) ज्ञान, बल और ऐश्वर्य को (नु) बहुत शीघ्र (प्रसवे) प्राप्त करने, उत्पन्न करने और साधने में (आ बभूव) समर्थ होता और (इमा च) इन (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों, उनमें उत्पन्न प्राणियों और अधीन शासकपदों के भी (सर्वतः आ बभूव च) सब प्रकार से उनके उपर शासक रूप से विद्यमान है, वह (विद्वान् राजा) विद्वान्, ज्ञानी राजा (अस्मे) हमारे कल्याण के लिये (स्वाहा) उत्तम व्यवस्था, नीति और कीर्ति से (प्रजाम्) प्रजा और (पुष्टिम्) धन, अन्न और पशुओं की समृद्धि को (वर्धयमानः) बढ़ाता हुआ (सनेमि) अपनी सदातन, स्थिर नीति से (परियाति) सबसे ऊपर के पद को प्राप्त हो जाता है। वही हमारा राजा होने योग्य है ॥ शत० ५ ॥ २ । २ । ७ ॥

२५—'विद्वान् रयिं पुष्टिं०' इति काण्व० ।

सोम॑ꣳ राजा॑नमव॑से॒ऽग्निम॒न्वार॑भामहे । आ॒दि॒त्यान्विष्णु॑ꣳ सूर्य॑ं ब्र॒ह्माणं॑ च बृह॒स्पति॒ꣳ स्वाहा॑ ॥ २६ ॥ ऋ० १० । १४१ । ३ ॥

तापस ऋषिः । सोमाग्न्यादित्यविष्णुसूर्यब्रह्मबृहस्पतयो विश्वेदेवाश्च देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हम लोग (अवसे) रक्षा के लिये (सोमम्) सौम्य स्वभाव, सबके प्रेरक और (अग्निम्) अग्नि के समान शत्रुतापक या प्रकाशवान्, तेजस्वी विद्वान् पुरुष को (राजानम्) राजा (अनु आरभामहे) बड़े सोच-विचार के पश्चात् बनावें । और (स्वाहा) उत्तम विद्या और आचार के अनुसार ही (आदित्यान्) ४८ वर्ष के ब्रह्मचारी, आदित्य के समान तेजस्वी विद्वानों को (विष्णुम्) व्यापक, सर्व विद्याओं और राज-व्यावस्थाओं में व्यापक, विज्ञ या पारंगत (सूर्यम्) सूर्य के समान सबको समानरूप से प्रकाश देनेवाले और (ब्रह्माणम्) वेदों के विद्वान् और (बृहस्पतिम्) बृहती वेदवाणी, बृहत्, महान, राष्ट्र और बृहत् बड़े बड़े आप्त पुरुषों के पालक पुरुष को भी हम (अनु-आ-रभामहे) अपनी रक्षा के लिये नियुक्त करें, उसको शासक अधिकारी बनावें ॥ शत० ५ । २ । २ । ८ ॥

अ॒र्य॒मणं॒ बृह॒स्पति॒मिन्द्रं॒ दाना॑य चोदय । वाचं॒ विष्णु॒ꣳ सर॑स्वतीꣳ सवि॒तार॑ं च वा॒जिन॒ꣳ स्वाहा॑ ॥ २७ ॥

ऋ० १० । ११ । ५ ॥

तापस ऋषिः अर्यमबृहस्पतीन्द्र-वायु-विष्णु-सरस्वत्यो मन्त्रोक्ता देवताः । स्वराड् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (अर्यमणम्) पक्षपातरहित, न्यायकारी, (बृहस्पतिम्) वेदादि समस्त विद्याओं के विद्वान्, (इन्द्रम्) परम

२६—'आदित्य वि०' इति काण्व० ।

ऐश्वर्यवान् इन पुरुषों को (दानाय) दान करने के लिये (चोदय) प्रेरणा कर । न्यायकारी पुरुष उत्तम न्याय दे । बृहस्पति, विद्वान् ज्ञान प्रदान करे और इन्द्र, ऐश्वर्यवान् पुरुष धन दान दे और (वाचम्) वेदवाणी को, (विष्णुम्) व्यापक शक्ति वाले या सकल विद्यापारंगत पुरुष को और (सरस्वतीम्) बहुतसे विद्याज्ञानों को धारण करने वाली स्त्रियों को, (सवितारम्) सबके प्रेरक, आचार्य, सर्वोपदेष्टा पुरुष को और (वाजिनम्) ज्ञानी, बलशाली, ऐश्वर्यवान् पुरुष को (च) भी (स्वाहा) उत्तम सदाचार नीति से (चोदय) चला ॥ शत० ५ । २ । २ । ९ ॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव । प्र नो यच्छ सहस्रजित्त्वꣳ हि धनदा असि स्वाहा ॥ २८ ॥ ऋ० १० । १४१ । १ ॥

तापस ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ! शत्रुतापक ! ज्ञानवन् ! तेजस्विन् ! राजन् ! तू (इह) यहां, इस लोक में, राष्ट्र में (नः) हमें (अच्छ वद) उत्तम उपदेश कर । (नः प्रति सुमनाः भव) हमारे प्रति उत्तम चित्त वाला होकर रहा । तु (सहस्र-जित्) हज़ारों युद्धों का विजय करने हारा है । तू (नः प्रयच्छ) हमें ऐश्वर्य प्रदान कर । (त्वं हि) तु निश्चय से (स्वाहा) उत्तम नीति, रीति और कीर्ति से ही (नः) हमें (धनदाः असि) धनैश्वर्य का प्रदाता है ॥ शत० ५ । २ । २ । १० ॥

प्र नो यच्छत्वर्य्यमा प्र पूषा प्र बृहस्पतिः ।
प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहा ॥ २९ ॥ ऋ० १० । १४१ । २ ॥

तापस ऋषिः । अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः । भुरिगार्षी । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अर्यमा) न्यायाधीश (पूषा) राष्ट्र का पोषक, सब को वेतनादि देने हारा, भागधुक् नामक वेतनाध्यक्ष या कराध्यक्ष (बृहस्पतिः)

२९—'बृहस्पतिः प्र सरस्वती । प्र वाग्'० इति काण्व० ।

वेद का विद्वान् और ये सब (प्र यच्छतु ३) हमें उत्तम २ पदार्थ प्रदान करें और (वाग् देवी) वाणी, देवी अथवा विद्या से युक्त देवी, माता (नः) हमें (स्वाहा) उत्तम रीति से ज्ञान और पुष्टि (प्र ददातु) प्रदान करे ॥ शत० ५ । २ । २ । ११ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रियें दधामि बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चाम्यसौ ॥ ३० ॥

तापस ऋषिः । सुन्वन् सम्राड् देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—(सवितुः देवस्य) सविता देव, सर्वोत्पादक परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये संसार में, अथवा सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक पुरोहित (देवस्य) विद्वान् के (प्रसवे) विशेष आज्ञा या नियन्त्रण में मैं (अश्विनोः बाहुभ्याम्) शीघ्रगामी सूर्य और चन्द्र के समान या दिन और रात्रि के समान स्त्री पुरुषों की (बाहुभ्याम्) धारण और आकर्षणशील बाहुओं से और (पूष्णः) पोषक वर्ग के (हस्ताभ्याम्) हाथों से और (सरस्वत्यै) सरस्वती, परम विदुषी, परिषद् और (बृहस्पतेः) महान् वेदवाणी और महान् राष्ट्र के पालन में समर्थ (वाचः यन्तुः) वाणी का नियमन या अभ्यास करने वाले के(यन्त्रिये)उत्तम नियन्त्रण में (त्वा) तुझको (दधामि) स्थापित करता हूं । और (असौ) हे अमुक नाम वाले पुरुष ! (साम्राज्येन) इस महान् साम्राज्य के पदाधिकार सहित तुझको (अभि-सिञ्चामि) अभिषिक्त करता हूं ॥ शत० ५ । १ । २ । १३ ॥

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत् तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो

३०—'सम्राड् देवता' । द० ।'यन्तुर्येतुर्य दधामि०' शो० । 'षिञ्चामीन्द्रस्य त्वा सम्राज्येनाभिषञ्चामि' इति काण्व० ।

मनुष्यानुदजयतां तानुज्जेषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रीँल्लोकानुदजयत्ता-नुज्जेषꣳ सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुज्जेषम् ।३१

तापस ऋषिः । अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः देवताः । अत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—[१] (अग्निः) अग्नि, जिस प्रकार जीव, परमेश्वर (एका-क्षरेण) एक अक्षर ओंकार के बल से, एकमात्र वायु की अक्षय शक्ति से (प्राणम्) प्राण और महाप्राण वायु को (उद् अजयत्) अपने वश करता है, उसी प्रकार मैं राजा स्वयं (अग्निः) अग्नि के समान शत्रुओं का संतापकारी और अग्रणी होकर (एकाक्षरेण) अपने क्षीण होनेवाले, अपार बल से (तम् प्राणम्) उस प्राण को, प्रजा के जीवनाधार अन्न को (उत् जेषम्) अपने वश करूं ।

[२] (अश्विनौ) दो अश्वी, दिन और रात्रि, सूर्य और चन्द्र, माता और पिता दोनों अपने (द्व्यक्षरे) दो प्रकार का अक्षय बल, प्रकाश, अन्धकार या श्रम और विश्राम, ताप और शीतलता, पराक्रम और प्रेम से (द्विपदः मनुष्यान्) दोपाये मनुष्यों को (उद् अजयताम्) अपने वश करते हैं उसी प्रकार मैं राजा दिन रात्रि, सूर्य चन्द्र और माता पिता के समान होकर (द्विपदः मनुष्यान्) दो पाये मनुष्यों को कामना और आरम्भ, तीव्रता और सौम्यता, पराक्रम और प्रेम इन दो-दो प्रकार के अनश्वर सामर्थ्यों से (उत् जेषम्) अपने वश करूं और उनको उन्नत करूं ।

[३] (विष्णुः) व्यापक प्रकाशवाला सूर्य जिस प्रकार (त्र्यक्षरेण) अपने आदित्य, विद्युत् और अग्नि इन तीन प्रकार के अक्षय बलों या तेजों से (त्रीन् लोकान्) तीनों लोकों को (उद् अजयत्) अपने वश कर रहा है उसी प्रकार मैं भी अपने प्रज्ञा, उत्साह और बल इन तीन अक्षय सामर्थ्यों से (तान् त्रीन लोकान्) उत्तम, मध्य और निकृष्ट तीनों प्रकार के उन लोकों को (उत् जेषम्) वश करूं ।

[४] (सोमः) सोम परमेश्वर जिस प्रकार (चतुरक्षरेण) अपने

चार अक्षय बल या अ, उ, म् और अमात्र इन चार अक्षरों से (चतुष्पदः) चार चरणों वाले एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुपुप्ति और तुरीय इन चार स्वरूप या चार स्थिति वाले (पशून्) साक्षात् द्रष्टा जीवात्माओं को (उत् अजयत्) अपने वश करता है उसी प्रकार मैं (सोमः) सर्वैश्वर्यवान्, सबका प्रेरक होकर (चतुरक्षरेण) अपने चार अक्षय बल, चतुरङ्ग सेना या साम, दान, भेद और दण्ड इन चार उपायों द्वारा (तान् पशून्) उन पशुओं आदि को, वा समृद्धि-ऐश्वर्यों को या पशुओं के समान प्राणोपजीवी प्रजा पुरुषों को (उत् जेषम्) विजय करूं ॥ शत० ५ । २ । २ । १७ ॥

पूषा पञ्चांक्षरेण पञ्च दिशु उदंजयत्ता उज्जेषथ्ठं सविता षडं-क्षरेण षड् ऋतूनुदंजयत्तानुज्जेषं मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदंजयँस्तानुज्जेषं बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमु-दंजयत्तामुज्जेषम् ॥ ३२ ॥

तापस ऋषिः । पूषादयो मन्त्रोक्ता देवताः । कृतिः । निषादः ।

[५] (पूषा) सर्वपोषक परमेश्वर या चन्द्र (पञ्चाक्षरेण) अपने पांच अक्षय, अविनाशी और पांच भतरूप पांच सामर्थ्यों से (पंच दिशः) पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, अधः, ऊर्ध्व, इन पांच दिशाओं को अथवा समष्टि जीव संसार में विद्यमान पांच ज्ञानदर्शक, ज्ञानेन्द्रियों को (उद् अजयत्) वश करता है इसी प्रकार मैं राजा (पूषा) स्वयं राष्ट्र की प्रजा का पोषक होकर (पञ्चाक्षरेण) अपने पांचों अक्षय भोग्य सामर्थ्यों से (पञ्च दिशः उत् जेषम्) पांचों दिशाओं को वश करूं ।

[६] (सविता) सूर्य या सर्वोत्पादक परमेश्वर (षड्-अक्षरेण) अपने ६ प्रकार के अक्षय बलों से (षड् ऋतून् उद् अजयत्) छहों ऋतुओं को अपने वश करता है उसी प्रकार मैं (सविता) सबका आज्ञापक होकर (षड्-अक्षरेण) अपने छः प्रकार के अक्षर, न द्रवित होनेवाले, सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव, (षड् ऋतून्) इन छहों ऋतुओं

के समान (तान्) राष्ट्र के छः गुणों पर विचार करनेवाले महामात्यों या छहों गुणों पर वश करूं ।

[७] (मरुतः) मरुद्गण, प्राणगण जिस प्रकार (सप्ताक्षरेण) सात अक्षय बलों द्वारा (सप्त ग्राम्यान् पशून्) सातों ग्राम्य-पशुओं को अपने वश करते हैं उसी प्रकार मैं भी (सप्ताक्षरेण) सातों प्रकार के अन्नों द्वारा (तान्) सातों ग्राम के पशु, गौ आदि को एवं ग्राम अर्थात् जन-समूह में विद्यमान शीर्षण्य सातों प्राणों वा मुख्य नायक को (उत् जेषम्) वश करूं ।

[८] (बृहस्पतिः) बृहत् अर्थात् महान् ब्रह्माण्ड का स्वामी परमेश्वर (अष्टाक्षरेण) अपने आठ अक्षय सामर्थ्यों से (गायत्रीम्) आठ अक्षरों वाली गायत्री के समान अष्टधा प्रकृति से बनी प्राणपालनी-सृष्टि को अपने वश करता है उसी प्रकार मैं राष्ट्रपति आठ अपने सामर्थ्यों से स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, बल और भूमि, अथवा आठ महामात्यों से (गायत्रीम् उत् जेषम्) सब राष्ट्र के प्राणों की पालिका पृथ्वी को अपने वश करूं ।

मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृतꣳ स्तोममुदजयत् तमुज्जेषं वरुणो दशाक्षरेण विराजमुदजयत्तामुज्जेषमिन्द्र एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषं विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम् ॥ ३३ ॥

तापस ऋषिः । मित्रादयो मन्त्रोक्ताः । कृतिः । निषादः ।

[९] (मित्रः) सब का स्नेही, एवं स्नेहपात्र यह मुख्य प्राण (नवाक्षरेण) अपने नव-द्वारों में स्थित अक्षय सामर्थ्य से (त्रिवृतं स्तोमम्) त्रिवृत् स्तोम अर्थात् नव द्वारों में विद्यमान नवों प्राणों को (उद् अजयत) अपने वश करता है और जिस प्रकार (मित्रः) सर्व-

स्नेही तपस्वी, ब्राह्मण (नवाक्षरेण) नवों द्वारों में अक्षर अर्थात् अस्खलित रूप से विद्यमान वीर्य द्वारा (त्रिवृतं स्तोमम्) त्रिगुण सामर्थ्य को पालन करता है या जिस प्रकार (मित्रः) सबका स्नेही परमेश्वर (नवाक्षरेण) अपने अक्षय नव प्रकार के सामर्थ्यों से अष्ट वसु और नवां कुमार अर्थात् नवधा दैव सर्गों को (उत् अजयत्) रचता और वश करता है उसी प्रकार मैं (मित्रः) समस्त प्रजा का मित्र राष्ट्रपति राजा (नव-अक्षरेण) अपने नवों प्रकार के अक्षय कोशों से (त्रिवृतं स्तोमम्) मौल, भृत्य और मित्र तीनों बल को (उत् जेषम्) वश करूं ॥

[१०] (वरुणः) वरुण, सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर जिस प्रकार (विराजम्) विराट् प्रकृति को (दशाक्षरेण) पांच स्थूल और पांच सूक्ष्म भूतों द्वारा विभक्त करके उसे अपने (उद् अजयत्) वश में रखता है या (वरुणः) समस्त अंगों के वरण करने में समर्थ योगी अपने दशविध प्राण-बल से अपने (विराजम्) विविध प्रकाशमान चिति शक्ति पर वश करता है या जिस प्रकार 'वरुण' मुख्य प्राण, दशविध इन्द्रियों से विराट् = अन्न को अपने भीतर ग्रहण करता है, उसी प्रकार मैं विजिगीषु (वरुणः) सब से श्रेष्ठ प्रजा द्वारा राजा वरा जाकर (दश अक्षरेण) अपने दसों प्रकार के दशावरा परिषद् के सदस्यों द्वारा ही (विराजम्) विविध ऐश्वर्यों से प्रकाशमान या अन्य राजा से रहित राज्यव्यवस्था को या पृथिवी को (उत् जेषम्) वश करूं ॥

[११] (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् परमेश्वर जिस प्रकार (एकादश अक्षरेण) अपने ११ रुद्र रूप सामर्थ्यों से (त्रैष्टुभम्) त्रिलोकी को (उद् अजयत्) वश करता है, अथवा (इन्द्रः) जीव जिस प्रकार दश इन्द्रिय और ११ वां मन इनसे (त्रैष्टुभम्) तीन प्रकार से स्थित मन, इन्द्रिय, शरीर को वश करता है उसी प्रकार मैं (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् होकर (एकादश-अक्षरेण) दश सदस्य और ११ वें सभापति द्वारा या

शत्रुओं को हरानेवाले ११ मुख्य सेनापतियों द्वारा (त्रैष्टुभम्) अपने मित्र, शत्रु, उदासीन इन तीन प्रकार के राजन्य-बलों को (उद्-जेषम्) वश करूं ॥

[१२] (विश्वे देवाः) समस्त देवगण, विद्वान् और उनका स्वामी प्रजापति इसी प्रकार जैसे (विश्वे देवाः) समस्त देव = किरणगण और उनका पुञ्ज सूर्य (द्वादश-अक्षरेण) १२ अक्षय शक्ति, १२ मासों से (जगतीम्) जगती इस पृथिवी को अपने वश करते हैं और जिस प्रकार (विश्वे देवाः) समस्त प्राणगण १२ विभागों में विभक्त प्राणों द्वारा गमनशील शरीर को वश रखते हैं उसी प्रकार मैं (विश्वे देवाः) समस्त राजपुरुषों पर अधिकारस्वरूप होकर (द्वादश-अक्षरेण) १२ अक्षय, अर्थात् प्रबल सहायकों द्वारा (ताम् उत् जेषम्) उस पृथिवी के ऊपर बसे वैश्यों की व्यवहार नीति को और पृथिवी को वश करूं ।

[1] वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशꣳ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषम् । रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशꣳ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषम् [2] आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशꣳ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमदितिः षोडशाक्षरेण षोडशꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ॥ ३४ ॥

तापस ऋषिः । वस्वादयो मन्त्रोक्ता देवताः । (१) निचृज्जगती । निषादः । (२) निचृद् धृतिः । ऋषभः ॥

भा०—[१३] (वसवः) गृह बसाने योग्य, २४ वर्ष का ब्रह्मचारी, विद्वान् पुरुष (त्रयोदश-अक्षरेण) नव बाह्यद्वार और चार अन्तःकरणों में स्थित १३ अक्षय वीर्यों से जिस प्रकार (त्रयोदशं स्तोमम्) इन १३हों के समूह रूप काम पर (उद् अजयन्) वश करते हैं उसी प्रकार मैं भी राजा, १३ प्रधान पुरुषों के बल से (तं त्रयोदशं स्तोमम्) उन १३ विभागों से युक्त राष्ट्र को (उत् जेषम्) वश करूं ।

[१४] (रुद्राः) प्राणों के अभ्यासी, ३६ वर्ष के नैष्ठिक ब्रह्मचारी जिस प्रकार दश बाह्येन्द्रिय और ४ भीतरी अन्तःकरणों को वश करके (चतुर्दशं स्तोमम् उत् अजयन्) १४ हों के समूहित बलों को वश करते हैं उसी प्रकार मैं रुद्ररूप शत्रुओं को रुलाने में समर्थ होकर १४ अध्यक्षों से युक्त राष्ट्र को (उत् जेषम्) वश करूं।

[१५] (आदित्यः) आदित्य के समान तेजस्वी ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपालक विद्वान् पुरुष जिस प्रकार (पञ्चदशाक्षरेण) मेरुदण्ड के चौदह मोहरों और उनमें व्यापक १५ वें वीर्य को सुरक्षित रखकर (पञ्चदशं स्तोमम् उदजयन्) १५ के समूह इस मेरुदण्ड को वश करते, उसे खूब दृढ़ करते हैं उसी प्रकार मैं आदित्य के समान तेजस्वी होकर १५ राष्ट्र के विभागाध्यक्षों के बल से (पञ्चदशं स्तोमम्) १५ विभागों से युक्त राष्ट्र को (उत् जेषम्) वश करूं।

[१६] (अदितिः) अखण्ड ब्रह्मचारिणी जिस प्रकार (षोडशाक्षरेण) १६ वर्ष के अखण्ड तप से (षोडशं स्तोमम् उद् अजयत्) १६ वर्ष-समूह पर विजय प्राप्त करती है और जिस प्रकार (अदितिः) अखण्ड ब्रह्मशक्ति १६ कला-समूह पर वश करती है, उसी प्रकार मैं (अदितिः) अखण्ड शासन से युक्त सूर्यवत् होकर (षोडशाक्षरेण) १६ सदस्यों द्वारा (षोडशं स्तोमम्) उनसे चलाये गये राज्य-कार्य को (उत् जेषम्) वश करूं।

[१७] (प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर (सप्तदशाक्षरेण) १६ कलाओं और १७ वीं ब्रह्मकला के अक्षत बल से युक्त होकर (सप्तदशं स्तोमम् उदजयत्) सप्तदश स्तोम, १७ हों शक्तियों के समूह को वश करता है उसी प्रकार मैं (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी राजा होकर १६ अमात्य एवं १७ वीं अपनी मति सहित सबके अक्षर, अखण्ड-बल से (तम्) उस सब पर (उत् जेषम्) वश करूं।

१	अग्निः	एकाक्षरेण	प्राणम्	उदजयत्
२	अश्विनौ	द्व्यक्षरेण	द्विपदः मनुष्यान्	,,
३	विष्णुः	त्र्यक्षरेण	त्रीन् लोकान्	,,
४	सोमः	चतुरक्षरेण	चतुष्पदः पशून्	,,
५	पूषा	पञ्चाक्षरेण	पञ्च दिशः	,,
६	सविता	षडक्षरेण	षड् ऋतून्	,,
७	मरुतः	सप्ताक्षरेण	सप्तग्राम्यान् पशून्	,,
८	बृहस्पतिः	अष्टाक्षरेण	गायत्रीम्	,,
९	मित्रः	नवाक्षरेण	त्रिवृतं स्तोमम्	,,
१०	वरुणः	दशाक्षरेण	विराजम्	,,
११	इन्द्रः	एकादशाक्षरेण	त्रिष्टुभम्	उदयाचल
१२	विश्वे देवाः	द्वादशाक्षरेण	जगतीम्	,,
१३	वसवः	त्रयोदशाक्षरेण	त्रयोदशं स्तोमम्	,,
१४	रुद्राः	चतुर्दशाक्षरेण	चतुर्दशं स्तोमम्	,,
१५	आदित्याः	पञ्चदशाक्षरेण	पञ्चदशं स्तोमम्	,,
१६	अदितिः	षोडशाक्षरेण	षोडशं स्तोमम्	,,
१७	प्रजापतिः	सप्तदशाक्षरेण	सप्तदशं स्तोमम्	,,

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहाऽग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरः सद्भ्यः स्वाहा यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा विश्व-

दे॒वने॑त्रेभ्यो दे॒वेभ्यः॑ पश्चा॒त्सद्भ्यः॒ स्वाहा॒ मि॒त्रावरु॑णनेत्रेभ्यो वा म॒रुन्ने॑त्रेभ्यो वा दे॒वेभ्य॑ उत्त॒रासद्भ्यः॒ स्वाहा॒ सोम॑नेत्रेभ्यो दे॒वेभ्य॑ उपरि॒सद्भ्यो॒ दुव॑स्वद्भ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ३५ ॥

वरुण ऋषिः । विश्वेदेवा देवता: । निचृदुत्कृतिः षड्जः ॥

भा०—हे (निर्ऋते) सर्वथा सत्याचरण करनेवाले, सत्यधर्म के पालक राजन् ! अथवा हे (निर्ऋते) पृथिवी ! राष्ट्र ! (एषः ते भागः) यह तेरा भाग है, विभाग है । (तं जुषस्व) उसको तू प्रेम से स्वीकार कर । (स्वाहा) और इस सत्य व्यवस्था को पालन कर । (पुरः-सद्भ्यः) राजसभा में आगे विराजनेवाले, (अग्नि-नेत्रेभ्यः) अग्नि के समान शत्रुतापक, सेनानायक पुरुष को अपने नेता स्वीकार करनेवाले (देवेभ्यः) युद्ध-विजयी वीर पुरुषों के लिये (स्वाहा) धर्मानुकूल उत्तम अन्न और ऐश्वर्य प्राप्त हो । (दक्षिणा-सद्भ्यः) दक्षिण की ओर, दायीं ओर विराजनेवाले, (यम-नेत्रेभ्यः) दुष्टों के नियन्ता यम को अपना नेता स्वीकार करनेवाले, अथवा वायु के समान तीव्रगति वाले, युद्ध-विजयी पुरुषों के लिये (स्वाहा) उत्तम अन्न-भाग प्राप्त हो । (विश्व-देव-नेत्रेभ्यः देवेभ्यः पश्चात्-सद्भ्यः स्वाहा) पीछे या पश्चिम की ओर विराजनेवाले समस्त विद्वानों को अपना नेता मानने वाले, उनके द्वारा अपनी नीति प्रयोग करनेवाले विद्वान् विजयी पुरुषों को उत्तम अन्न ऐश्वर्य प्राप्त हो । (मित्रा-वरुण-नेत्रेभ्यः) शरीर में प्राण-अपान के समान राष्ट्र में जीवन सञ्चार करनेवाले अथवा मित्र = सूर्य और वरुण = मेघ के समान, नीति वाले या मित्र, न्यायाधीश और वरुण, दुष्टवारक पुरुष को अपना नेता स्वीकार करनेवाले (वा) और (मरुत्-नेत्रेभ्यः) मरुत् अर्थात् शत्रु-मारण में चतुर पुरुषों को नेता रखनेवाले (देवेभ्यः) विजयी (उत्तरा-सद्भ्यः) उत्तर दिशा में या बायीं ओर विराजनेवाले पुरुषों को (स्वाहा) उत्तम

३५—अथ राजसूयः । वरुणस्यार्षम् । अतः परं राजसूयमन्त्रा वरुणदृष्टाः । सर्वा० ॥

अन्न और ऐश्वर्य, योग्य दूत आदि का कार्य प्राप्त हो। (सोम-नेत्रेभ्यः) सोम, सोम्य स्वभाववाले आचार्य, योगी पुरुष को अपना नेता बनानेवाले (उपरिसद्भ्यः) सर्वोपरि विराजमान (दुवस्वद्भ्यः) ईश्वरोपासना, यज्ञ, विद्याध्ययनादि कार्य आचरण करनेवाले (देवेभ्यः) इन विद्वान् पुरुषों को (स्वाहा) उत्तम अन्न, धन और ज्ञानैश्वर्य प्राप्त हो ॥ शत० ५।२।३॥३॥

राजा के राजकार्य को पांच विभाग में बांटा जिनके नेता, मुख्य अधिकारी अग्नि, यम, विश्वेदेव, मित्रावरुण, मरुत् और सोम हैं। राज-दरबार में उनके पांच भिन्न २ स्थान हों और पृथ्वी के शासन में उनके पांच विभाग हों।

ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा विश्वदेवनेत्रा पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासद-स्तेभ्यः स्वाहा ये देवाः सोमनेत्रा उपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३६ ॥

वरुण ऋषिः । विकृतिः । विश्वेदेवा देवताः । मध्यमः ॥

भा०—(ये) जो (देवाः) देव, राज्यकार्य में नियुक्त विद्वान् पुरुष (अग्निनेत्राः) 'अग्नि' अर्थात् ज्ञानवान्, तेजस्वी पुरुष को प्रमुख रखनेवाले (पुरः-सदः) आगे या पूर्व भाग में विराजते हैं, (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम आदर यश प्राप्त हो, अथवा (ये अग्निनेत्राः) जो अग्नि, विद्युत् आदि तत्त्वों को जाननेवाले हैं उनको उत्तम यश, धन, ज्ञानैश्वर्य प्राप्त हों। (ये देवाः यमनेत्राः दक्षिणासदः) जो देव, विद्वान् दक्षिण दिशा में विराजमान या बल, शक्ति में विराजमान अथवा (यमनेत्राः) अहिंसा आदि यम नियमों में निष्ठ, अथवा पूर्वोक्त शत्रुनियामक मुख्य पुरुष के अधीन हैं (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम आदर, यश, अन्न, ऐश्वर्य प्राप्त हो। (ये देवाः विश्वदेव-नेत्राः)

जो विजयी, विद्वान्, विश्व देव अर्थात् प्रजा या प्रजापति को प्रमुख मानने वाले या प्रजाओं के नेता (पश्चात्-सदः) पीछे के, पश्चिम भाग में विराजते हैं (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम यश और आदर प्राप्त हो। (ये देवाः मित्रावरुण-नेत्राः) जो विद्वान् मित्र और वरुण न्यायाधीश और नगर की पोलीस के अध्यक्ष के अधीन (वा) और (मरुत्-नेत्राः) वायु के समान तीव्र चढाई करनेवाले सेनापति के अधीन वीर पुरुष (उत्तरासदः) उत्तर दिशा में विराजते हैं (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम यश, आदर और ऐश्वर्य प्राप्त हो। (ये देवाः सोम-नेत्राः) जो विद्वान् शासक लोग सोम आचार्य या राजा के अधीन (दुवस्वन्तः) ईश्वरपरिचर्या या ज्ञानाराधना, धर्म, यज्ञ यागादि करते हैं और (उपरि-सदः) सबसे ऊपर विराजते हैं, (तेभ्यः स्वाहा) उनको उचित आदर, यश अन्न, धन प्राप्त हो॥ शत० ५।२।४५॥

राज्याभिषेक में राजसूय में, पांचों विभागों में विराजनेवाले प्रतिष्ठितों का आदर सत्कार, स्वागत, धन, अन्न, ऐश्वर्य से मान, प्रतिष्ठा करनी चाहिये और उनको राज्य में भी उत्तमभूमि और पदाधिकार देने चाहियें।

अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य।
दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसि॥ ३७॥

देवश्रवो देववातश्च ऋषी भारतौ। अग्निर्देवता। निचृदनुष्टुप्। गांधारः॥

भा०—(अभिमातीः) अभिमान और गर्व से भरी हुई शत्रु-सेनाओं को (अपास्य) दूर फेंक कर, परास्त करके हे (अग्ने) अग्रणी, अग्नि के समान संतापक तेजस्वी सेनापते !! (पृतनाः) समस्त संग्रामों और शत्रु-सेनाओं को तू (सहस्व) बलपूर्वक विजय कर। तू स्वयं (दुः-तरः) दूसरे शत्रुओं द्वारा दुस्तर, अजेय, अबध्य, अपार, दुःसाध्य होकर (अरातीः तरन्) शत्रुओं को नाश करता हुआ (यज्ञ-वाहसि) परस्पर संगत राजधर्मों और व्यवस्थाओं को धारण करने वाले राष्ट्र और

राष्ट्रपति में (वर्चः धाः) तेज और बल का प्रदान कर ॥ शत० ५। २४। १३ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। उपाᳬशोर्वीर्य्येण जुहोमि हतᳬरक्षः स्वाहा। रक्षसां त्वा वधायावधिष्म रक्षोऽवधिष्मामुमसौ हतः ॥ ३८ ॥

देववातो देवश्रवाश्च ऋषी। रक्षोघ्नो देवता। भुरिग् ब्राह्मी बृहती। मध्यमः ॥

भा०—हे वीर पुरुष! (सवितुः) सबके उत्पादक, कर्त्ता एवं प्रेरक (देवस्य) देव, राजा के (प्रसवे) ऐश्वर्यमय राज्य में (अश्विनोः बाहुभ्याम्) अश्वियों के बाधक सामर्थ्यों से और (पूष्णः) परिपोषक मित्र राजा के (हस्ताभ्याम्) सब हनन साधनों से और (उपांशोः) उपांशु, प्राणस्वरूप प्रजापति राजा के (वीर्येण) बल, वीर्य और अधिकार से (रक्षसां) राक्षसों, विघ्नकारियों के (बधाय) विनाश करने के लिये ही (त्वा जुहोमि) तुझे युद्ध-यज्ञ में आहुति देता हूं, भेजता हूं जाओ। (स्वाहा) उत्तम युद्ध की शैली से उत्तम कीर्ति और नामवरी सहित (रक्षः) राक्षसों, राज्य के विघ्नकारी लोगों को (हतम्) मारडाला जाय। हे (रक्षः) राक्षस, दुष्ट पुरुष! (त्वा) तुझको युद्धस्थल में हम (अवधिष्म) नाश करते हैं। इस प्रकार हम (रक्षः) समस्त दुष्ट पुरुषों को (अवधिष्म) विनाश करें। और (अमुम् अवधिष्म) हम उस अमुक विशेष शत्रु का नाश करते हैं। इस प्रकार (असौ हतः) वह शत्रु छांट २ कर मारा जाय ॥ शत० ५। २। ४। १७॥

सविता त्वा सवानाᳬ सुवतामग्निर्गृहपतीनाᳬ सोमो वन-

३८—'०वधिष्म रक्षोऽमुष्यत्वा वधायामुमवधिष्म। जुषाणोऽध्वाज्यस्य वेतु स्वाहा।' इति काण्व०।

स्पतीनाम् । बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम् ॥ ३९ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते । अतिजगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (सवानां सविता) समस्त ऐश्वर्यों का उत्पादक होने से 'सविता' है । (गृह-पतीनाम् अग्निः) गृहस्थों के बीच में उनका अग्नि, ज्ञानवान्, अग्रणी नेता एवं तेजस्वी है । (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों के बीच में सोम के समान सर्वश्रेष्ठ अथवा वनस्पतियों अर्थात् जनसंघ पतियों के ऊपर उनका अधिष्टाता, उनका आज्ञापक है । (वाचः) वेदवाणी का (बृहस्पतिः) तू बृहस्पति, परम विद्वान् प्रवक्ता है (ज्यैष्ठ्याय) सबसे उत्कृष्ट परमैश्वर्यपद के प्राप्त करने के कारण तू (इन्द्रः) 'इन्द्र' है । (पशुभ्यः) पशुओं के हित के लिये तू साक्षात् (रुद्रः) उनका रोधक, पालक पशुपति है । (सत्यः) सत्यवादी तू (मित्रः) सर्वस्नेही, न्यायाधीश है । (धर्मपतीनाम्) धर्मपालकों में से तू (वरुणः) दुष्टों का वारक है । (त्वा) तुझको सब लोग (सुवताम्) राजपद पर अभिषिक्त करें ॥ शत० ५ । ३ । ३ । ११ ॥

इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ ४० ॥

देवश्रवोदेववातौ ऋषी । यजमानो देवता । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(महते क्षत्राय) बड़े भारी क्षात्रबल के लिये (महते

३९—सविता ह्वै यजमानः । सर्वा० ॥ '०प्रसवानां०' । '०रुद्रः पशूनां मित्रः सत्याय०' इति काण्व० ।

४०—'०महते ज्येष्ठ्याय इममसु०, ०अमुष्याः पुत्र० । एष वः कुरवो राजैष वः पञ्चाला राजा सोमो०' इति काण्व० ।

ज्यैष्ठयाय) बड़े भारी सर्वश्रेष्ठ राजपद के लिये (महते जानराज्याय) बड़े भारी जनों के ऊपर राजा होजाने के लिये और (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवान् राजा के (इन्द्रियाय) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिये (देवाः) विजयी वीरगण और विद्वान् शासक पुरुष (असपत्नम्) शत्रुओं से रहित (इमम्) इस वीर विजयी, योग्य पुरुष को (सुवध्वम्) अभिषिक्त करें। (इमम्) इस (अमुष्य पुत्रम्) अमुक पिता के पुत्र, (अमुष्यै पुत्रम्) अमुक माता के पुत्र को (अस्यै विशे) इस प्रजा के हित के लिये राज्य पर अभिषिक्त किया जाता है। हे (अमी) अमुक २ प्रजाओ ! (वः एषः राजा) आप लोगों का यह राजा (सोमः) सोम, चन्द्र के समान आह्लादक और सोमलता के समान आनन्द, तृप्ति, वीर्य और हर्ष का जनक और प्रवर्त्तक है। वह (अस्माकम्) हम (ब्राह्मणानाम्) वेद-ज्ञान के विद्वान् ब्राह्मणों का भी (राजा) राजा है। व हमारे बीच में शोभायमान हो ॥ शत० ५ । ३ । ३ । १२ ॥

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये नवमोऽध्यायः ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथ राज्याभिषेकः

॥ ओ३म् ॥ अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः । याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः ॥ १ ॥

वरुण ऋषिः । आपो देवताः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(देवाः) देव, विद्वान् पुरुष (मधुमतीः अपः) मधुर गुणवाले जलों के समान (मधुमतीः) ज्ञान और बल, क्रियाशक्ति से युक्त (अपः) आप्त प्रजाजनों को (अगृभ्णन्) ग्रहण करते हैं । जो स्वयं (ऊर्जस्वतीः) अन्नादि समृद्धिवाले (चितानाः) ज्ञानवाले या विवेक से कार्य करनेवाले हैं और (राजस्वः) राजा को बनाने या उसके अभिषेक करने में समर्थ हैं । (याभिः) जिनके बल से (देवाः) विजिगीषु, विद्वान् पुरुष, (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण सर्वरक्षक और सर्वश्रेष्ठ दोनों का (अभि अषिञ्चन्) अभिषेक करते हैं । और (याभिः) जिनसे (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (अरातीः) कर न देनेवाले समस्त शत्रुओं के (अति अनयन्) ऊपर विजय प्राप्त कराते हैं ॥ शत० ५ । ३ । ४ । ३ ॥

वृष्णऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा ।
वृष्णऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ।
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा ।

१—वृष्ण ऊर्मि लिंगोक्ता । सर्वा० । '०वरुणा अभ्य०' इति काण्व० ।

वृ॒ष॒से॒नो॑ऽसि राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रम॒मुष्मै॑ दे॒हि ॥ २ ॥

वरुण ऋषिः । वृषो देवता । स्वराड् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(१) हे पुरुष ! तू (विष्णोः) बलवान् पुरुष को (ऊर्मिः असि) ऊंचे पद पर पहुंचाने में समर्थ है । तू (राष्ट्रदाः) राष्ट्र को देने में समर्थ है। तू (स्वाहा) उत्तम नीतिव्यवस्था से (मे राष्ट्रं) मुझे राष्ट्र, अर्थात् राज्यशक्ति (देहि) प्रदान कर । (वृष्णः) तू सुख-वर्षक राज्य का (ऊर्मिः असि) ज्ञाता है, तू (राष्ट्रदाः) राज्य देने में समर्थ होकर (अमुष्मै) अमुक नाम के पुरुष को (राष्ट्रम् देहि) राष्ट्र, राजपद, या राज्याधिकार प्रदान कर ।

(२) हे वीर पुरुष ! तू (वृषसेनः असि) वृषसेन, बलवान्, हृष्ट-पुष्ट सेना से युक्त है । तू (राष्ट्रदाः) राज्यशक्ति प्रदान करनेहारा होकर (स्वाहा) उत्तम रीति से (मे राष्ट्रं देहि) मुझको राज्यपद प्रदान कर और इसी प्रकार (वृषसेनः राष्ट्रदाः असि) बलवान् पुरुषों की बनी सेना से युक्त होकर राष्ट्र को देने में समर्थ है । (अमुष्मै राष्ट्रम् देहि) अमुक पुरुष को राष्ट्र या राज्य-सम्पद् प्रदान कर ।

इस प्रकार मन्त्र के पूर्व भाग से बलवान् और सेनासम्पन्न पुरुषों से राजा बल की याचना करे और उत्तर भाग से पुरोहित उस राजा को राज्यपद प्रदान करने की अनुमति ले । सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये । इस मन्त्र से तरंग के जलों से राजा को स्नान कराते हैं ।

[1]अ॒र्थेत॑ स्थ राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रं मे॑ दत्त॒ स्वाहा॒र्थेत॑ स्थ राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रम॒मुष्मै॑ दत्तौज॑स्वती स्थ राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रं मे॑ दत्त॒ स्वाहौज॑स्वती स्थ राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रम॒मुष्मै॑ दत्ताप॑: परि॒वाहि॑णी स्थ राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रं मे॑ दत्त॒ स्वाहाप॑: परि॒वाहि॑णी स्थ राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रम॒मुष्मै॑ दत्ताप॒ां पति॑रसि राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रं मे॑ [2] दे॒हि॒ स्वाहा॒ऽपां पति॑रसि राष्ट्र॒दा

राष्ट्रममुष्मै देह्यपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहाऽपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ ३ ॥

अपां पतिर्देवता । (१) अभिकृतिः । ऋषभः ।
(२) निचृत् जगती । निषादः ।।

भा०—[राजा] (३) हे (आपः) आप्त पुरुषो । आप्त समागत प्रजाजनो ! आप लोग (अर्थेतः स्थ) अर्थ–विशेष इष्ट प्रयोजन से बलपूर्वक गमन करने में, शत्रु पर चढ़ाई करने में समर्थ हैं, अतएव आप भी (राष्ट्र-दाः) राष्ट्र-सम्पद् को देने में समर्थ हैं। आपलोग (मे राष्ट्रं स्वाहा दत्तम्) उत्तम रीति से मुझे राष्ट्र, राज्यैश्वर्य प्रदान कीजिये । [अध्वर्यु] हे वीर पुरुषो ! आप (अर्थेतः राष्ट्र-दाः स्थ) अर्थ, धन, सम्पत् के बल पर या उसके निमित्त शत्रु पर चढ़ाई करने में समर्थ हैं। अतः एव राष्ट्र दिलानेहारे हैं, आप लोग (अमुष्मै राष्ट्रं दत्त) अमुक नाम के योग्य पुरुष को राष्ट्र प्रदान करो ।

इस मन्त्र से बहती नदियों के जल से राजा को स्नान कराते हैं ।

(४) [राजा] (अजोस्वतीः स्थ राष्ट्र-दाः) आप लोग ओजस्वी, विशेष पराक्रमशील और राष्ट्र को देने में समर्थ हैं । (राष्ट्रं मे दत्त) मुझे राष्ट्र प्रदान करें । [अध्वर्यु] (ओजस्वतीः राष्ट्रदा :स्थ) आप लोग ओजस्वी हैं, आप राष्ट्र, राज्य-सम्पद देने में समर्थ हैं। (अमुष्मै राष्ट्रं दत्त) अमुक योग्य पुरुष को राज्य प्रदान करें ।

जो जल प्रवाह से विपरीत बहें उन जलों से स्नान कराते हैं ।

(५) [राजा] (परिवाहिणीः राष्ट्रदाः स्थ) हे वीर प्रजाजनो ! आप लोग सब प्रकार की उत्तम सेनाओं से युक्त, प्रिय हो, अतः राष्ट्र प्राप्त कराने में समर्थ हो । आप (मे राष्ट्रं दत्त) मुझे राष्ट्र प्रदान करें । [अध्वर्यु] हे वीर प्रजाजनो ! आप लोग (परिवाहिणीः राष्ट्रदाः स्थ, अमुष्मै राष्ट्रं

दा) सब प्रकार से सेनाओं से युक्त, राज्य प्रदान करने में समर्थ हो। आप अमुक नामक योग्य पुरुष को राज्य प्रदान करो।

इस मन्त्र से जो नदियों की शाखाएं फूटकर पुनः उनमें ही जा मिलती हैं उनके जलों से स्नान कराते हैं।

(६) [राजा] (अपां पतिः असि) तू समस्त जलों के समान प्रजाजनों का पालक है। (राष्ट्र-दाः) तू राष्ट्र प्राप्त करानेवाला है, (राष्ट्रं मे देहि) तू मुझे राष्ट्र प्राप्त करा। [अध्वर्यु] (अपां पतिः असि, राष्ट्र-दाः, राष्ट्रम् अमुष्मै देहि) तू समस्त प्रजाओं का पालक है। तू सबका नेता, राष्ट्र प्राप्त कराने में समर्थ है। तू अमुक योग्य पुरुष को राष्ट्र प्रदान कर। इस मन्त्र से समुद्र के जलों से स्नान कराते हैं।

(७) [राजा] तू (अपां गर्भः असि, राष्ट्र-दाः राष्ट्रं मे देहि स्वाहा) प्रजाओं को अपने अधीन उनके बीच और उनको अपने साथ रखने में समर्थ है। तू मुझे राष्ट्र अच्छी प्रकार प्राप्त करा। तू मुझे राष्ट्र प्रदान कर। [अध्वर्यु] तू (अपां गर्भः राष्ट्रदाः असि राष्ट्रम् अमुष्मै देहि) प्रजाओं को वश करने में समर्थ है। तू राष्ट्र प्राप्त कराने हारा है। तू अमुक योग्य पुरुष को राज्य प्रदान कर। [इस मन्त्र से निवेष्य, अर्थात् नदी के भँवर के जलों से स्नान कराते हैं॥ शत० ५ । ३ । ४ । ४ ।–११ ॥

[१] सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [२] सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [३] मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [४] व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [५] वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [६] शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [७] शक्करी स्थ

राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शक्करी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [८]जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [९] विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्ता [१०]पः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । [११]मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना ऽअनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः ॥ ४ ॥

वरुण ऋषिः सूर्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः । (१,२) अनुष्टुप् । गांधारः । (३,५,) विराड् उष्णिक् (६,७) उष्णिक् ऋषभः । (४,८,९) आर्चीपङ्क्तिः । पंचमः । (१०) साम्न्यनुष्टुप् । गान्धारः । (११) भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(८) हे उत्तम प्रजागण ! आप लोग (सूर्यत्वचसः स्थ) सूर्य के दीप्तिमान् आवरण के समान उज्ज्वल आवरणवाले, धनैश्वर्यवान्, तेजस्वी हो। (९) (सूर्यवर्चसः स्थ) सूर्य के तेज के समान तेज धारण करनेहारे हो। (१०) (मान्दाः स्थ) सबको आनन्दित, सुप्रसन्न करनेहारे हो। (११) (व्रजक्षितः स्थ) आप लोग गौ आदि पशुओं के समूहों के बीच में निवास करनेहारे हो। (१२) (वाशाः स्थ) आप लोग कान्तिमान् और जनों को अपने वश करनेहारे, अथवा उत्तम मधुर वचन बोलने और उत्तम सुमधुर गायन या उपदेश करनेहारे वाग्मी हो। (१३) आप लोग (शविष्ठाः स्थ) अति बलवान् हो। (१४) आप लोग (शक्करीः स्थ) शक्तिशाली हो। (१५) आपलोग (जनभृतः स्थ) समस्त गणों के कृषि आदि द्वारा, भरण-पोषण करने में समर्थ हो। (१६) आप लोग (विश्व-भृतः स्थ) विश्व, समस्त प्रजाओं का भरण पोषण करने में समर्थ हो। (१७) आप लोग (स्वराजः स्थ) स्वयं अपने बल से उत्तम

४—सं मधुमती० । ०'सहोजसा' इति काण्व० । अतः परं [९ । २९, ४०] पठ्येते । कण्व ० ॥

पद, प्रतिष्ठा पर विराजमान हो, आप सब नाना उत्तम गुणों को धारण करनेहारे प्रजागण, आप लोग सभी अपने २ सामर्थ्यों से (राष्ट्रदाः) राष्ट्र के देने या पालने में समर्थ हो । (मे राष्ट्रं) मुझे आप सब लोग राष्ट्र या राज्य का कार्य (स्वाहा) अति उत्तम रीति से सुविचार कर (दत्त) प्रदान करो । [अध्वर्यु] हे उपरोक्त नानागुणवाले प्रजाजनो ? आप लोग राष्ट्र के देने में समर्थ हो, आप लोग (अमुष्मै) अमुक योग्य पुरुष को (राष्ट्रं दत्त स्वाहा) राज्य प्रदान करते हो,आप सब प्रजाएं (मधुमतीः) जिस प्रकार मधुर जल मधुर जलों से मिलकर और मधुर होजाते हैं उसी प्रकार आप लोग (मधुमतीः) उत्तम वाणी और ज्ञान से युक्त होकर (मधुमतीभिः) उत्तम बल और ज्ञानवान् विद्वानों से युक्त अन्य प्रजाओं से परस्पर (पृच्यन्ताम्) सम्पर्क करो, मिलके एक दूसरे का सत्संग करो। और (क्षत्रियाय) देश को क्षति से त्राण करने, पालन करने में समर्थ पुरुष को आप सब (महि क्षत्रम्) बड़ा भारी पालक बल, वीर्य (वन्वानाः) प्रदान करते हुए और स्वयं भी (क्षत्रियाय) बलवान् शूरवीर राष्ट्र को क्षति होने से त्राण करने या बचाने वाले राजा के लिये (महि क्षत्रं दधतीः) बड़ा भारी बल-सामर्थ्य धारण करती हुई (सहोजसः) उसके समान एक साथ ही पराक्रमी, बलशाली होकर (अनाधृष्टाः) शत्रुओं से कभी भी पराजित न होने वाली, अजेय होकर (सीदत) इस राष्ट्र में विराजमान रहो । प्रतिनिधिवाद से इन १६ प्रकार की प्रजाओं के द्वारा राज्याभिषेक को निबाहने के लिये कर्मकाण्ड में १६ प्रकार के भिन्न २ प्रकार के जलों को ग्रहण किया जाता है । उनसे राजा रानी को सभी अमात्य, पुरोहित, ब्राह्मण, वैश्य एवं प्रजा के भिन्न २ प्रतिनिधिगण बारी २ से स्नान कराते हैं । गौणवृत्ति से ये सब विशेषण उन नाना जलों में भी संगत होते हैं । ये सोलह प्रजाएं राष्ट्रकलश और राजा की १६ कलाएं वा अङ्ग समझने चाहियें । १६ प्रकार की प्रजाएं

और १७ वां राजा स्वयं वह प्रजापति का 'सप्तदश' स्वरूप भी स्पष्ट है ॥ शत० ५ । ३ । ४ । २२–२८ ॥

उक्त १७ प्रकार के राष्ट्रदा जलों के निम्नलिखित रूपसे गौणार्थं जानने चाहियें—

(१) (वृष्णः ऊर्मिः) जल में प्रविष्ट पशु या पुरुष के आगे की तरंग का जल, (वृष्णः) सेचन में समर्थ पुरुष का (ऊर्मिः) तरंग है ।

(२) उसी पुरुष या पशु के पीछे की तरंग का जल (वृषसेनः असि०) बलवान् समर्थ पुरुष की सेना के समान है ।

(३) (अर्थेतः स्थ) किसी अर्थ या प्रयोजन अर्थात् यन्त्रचालन आदि में प्रेरित जल ।

(४) (ओजस्वतीः स्थ) विपरीत दिशा में लौट के जानेवाले जल वा विशेष बल से युक्त प्रजा 'ओजस्वती' हैं ।

(५) (परि-वाहिनीः स्थ) नदी के मार्ग को छोड़कर शाखा फूटकर बहानेवाले जल 'अपयतीः आपः' कहाते हैं, वे 'परिवाहिणीः' हैं ।

(६) (अपांपतिः) समुद्र के जल ।

(७) (अपां गर्भाः) नदी में पड़े भँवर अर्थात् निवेश्य जिन जलों को अपने गर्भ में लेता है ।

(८) (सूर्य-त्वचसः) बहते जलों में से जो जल स्थिर हों, जो सदा घाम में रहते हों ।

(९) धूप के रहते २ जो जल बरसते हों वे 'आतपवर्ष्य' जल कहाते हैं वे (सूर्य-वर्चसः) 'सूर्यवर्चस्' कहाते हैं ।

(१०) तालाब के जल (मान्दाः) नाना जीवों के प्रमोद हेतु होते से 'मान्द' कहाते हैं ।

(११) कुए के जल (व्रजक्षितः) मेघ के जल 'व्रजक्षित्' कहाते हैं ।

(१२) ओस के बिन्दुओं से संग्रह किये जल (वाशाः) 'वाशा' कहाते हैं।

(१३) मधु को (शविष्ठाः) 'शविष्ठा' कहा जाता है।

(१४) गौ के प्रसव के पूर्व गर्भाशय से बाहर आनेवाले जल (शक्करीः) 'शक्करी' कहे जाते हैं।

(१५) (जनभृतः) दूध 'जनभृत्' कहाते हैं।

(१६) घृत (विश्वभृतः) 'विश्वभृत् कहाते हैं।

(१७) स्वयं घाम से तपे जल (स्वराजः आपः) 'स्वराज्' कहे जाते हैं।

ये नाम गौणवृत्ति से कहे गये हैं। यज्ञ में या अभिषेक के अवसर पर ये प्रतिनिधिवाद से राज्यपद देनेवाली उत्तम गुणवती प्रजाओं और आप्त पुरुषों के गुणों का श्लेष से वर्णन किया गया है, और ये नाना जल भिन्न २ गुणों के दर्शक हैं।

सिंहासनरोहण

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवै॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्। अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॑ सवि॒त्रे स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै॒ स्वाहा॑ पू॒ष्णे स्वाहा॒ बृह॒स्पत॑ये॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॒ घोषा॑य॒ स्वाहा॒ श्लोका॑य॒ स्वाहाꣳशा॑य॒ स्वाहा॒ भगा॑य॒ स्वाहा॑र्य॒म्णे स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

अग्न्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः। भुरिगतिधृतिः। ऋषभः।

भा०—हे सिंह! या सिंहासन-पद! तू (सोमस्य) राजा की (त्विषिः असि) कान्ति, तेज या शोभा है। (तव इव) तेरे समान, तेरे अनुरूप ही (मे) मेरी, मुझ राजा की भी (त्विषिः) कान्ति, तेज, शोभा (भूयात्)

५—'सोमस्य त्विषिरस्यग्नय०' 'इन्द्राय स्वाहांशाय श्लोकाय स्वाहा घोषाय स्वाहा भगाय०' इति काण्व० ॥

हो। (अग्नये स्वाहा) हे राजन् ! तू अग्नि के उत्तम तेज को धारण कर। (सोमाय स्वाहा) हे राजन् ! तुझे सोम राष्ट्र का क्षात्रबल उत्तम रीति से प्राप्त हो। (सवित्रे स्वाहा) समस्त दिव्य तेजों के उत्पादक सूर्य का तेज तुझे भली प्रकार प्राप्त हो। (सरस्वत्यै स्वाहा) सरस्वती, वेदवाणी का उत्तम ज्ञान तुझे प्राप्त हो। (पूष्णे स्वाहा) पुष्टिकारक पशुओं की समृद्धि तुझे प्राप्त हो। (बृहस्पतये स्वाहा) ब्रह्म, वेद के पालक विद्वान् पुरुषों का ज्ञान-बल तुझे प्राप्त हो। (इन्द्राय स्वहा) परम वीर्यवान् राजा का वीर्य तुझे प्राप्त हो। (घोषाय स्वाहा) घोष, सबको आज्ञा प्रदान करने और घोषणा करने का उत्तम अधिकार तुझे प्राप्त हो। (श्लोकाय स्वाहा) समस्त जनों द्वारा स्तुति और यश प्राप्त करने का पद तुझे प्राप्त हो। (अंशाय स्वाहा) सबको उचित उनके अंश, धन, भूमि आदि के बांटने का अधिकार तुझे प्राप्त हो। (भगाय स्वाहा) समस्त ऐश्वर्यों का स्वामित्व तुझे प्राप्त हो। (अर्यम्णे स्वाहा) सब राष्ट्र पर स्वामी होकर उनको न्याय प्रदान करने का अधिकार तुझे प्राप्त हो॥ शत० ५। ३। ५। ६-९॥

तेजो वा अग्निः। तेजसा एवैनमभिषिञ्चति। क्षत्रं वै सोमः। क्षत्रेणै वैनमेतदभिषिञ्चति। सविता वै देवानां प्रसविता। सवितृप्रसूत एव एनमेतदभिषिञ्चति। वाग् वै सरस्वती। वाचैवैनमेतदभिषिञ्चति। पशवो वै पूषा। ब्रह्म वै बृहस्पतिः। वीर्यं वा इन्द्रः। वीर्यं वै घोषः। वीर्यं वै श्लोकः। वीर्यं वा अंशः। वीर्यं वै भगः। अर्यम्णे स्वाहा। तदेनमस्य सर्वस्य अर्यमणं करोति॥ शत० ५। ३। ५। ८-९॥

अथवा—हे राजन् ! तू (सोमस्य त्विषिः) परम ऐश्वर्य की शोभा है। मुझे भी ऐसी शोभा प्राप्त हो। (अग्नये स्वाहा) विद्युत् आदि के ज्ञान के लिये (सोमाय) ओषधि-ज्ञान के लिये, (सवित्रे) सूर्यविज्ञान के लिये (सरस्वत्यै) वेदवाणी के लिये, (पूष्णे) पशु पालन के लिये,

(बृहस्पतये) परमेश्वर के ज्ञान के लिये, (इन्द्राय) जीव के ज्ञान के लिये (घोषाय) वाणी, (श्लोकाय) काव्य गद्य-पद्य, छन्दोज्ञान के लिये, (अंशाय) परमाणु ज्ञान के लिये, (भगाय) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिये, और (अर्यम्णे) न्यायाधीश पद के लिये हे राजन्! तू उनके योग्य (स्वाहा १२) विज्ञानों का अभ्यास कर।

अथवा—सूर्य के १२ मासों के जिस प्रकार १२ रूप होते हैं उसी प्रकार अग्नि, सोम आदि भिन्न २ गुणों, अधिकारों और सामर्थ्यों के सूचक १२ पद या अधिकार राजा को प्राप्त हों।

प॒वित्रे॑ स्थो वैष्ण॒व्यौ᳖ सवि॒तुर्वः॑ प्रस॒वऽउत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑। अनि॑भृष्टमसि वा॒चो बन्धु॑स्तपो॒जाः सोम॑स्य दा॒त्रम॑सि॒ स्वाहा॑ राज॒स्वः॑ ॥ ६ ॥

वरुण ऋषिः। आपो देवताः। स्वराड् ब्राह्मी बृहती। मध्यमः।

भा०—हे स्त्री पुरुषो! दोनों प्रकार की प्रजाओ! तुम (पवित्रे) पवित्र, शुद्ध आचरणवाली (स्थः) होकर रहो। तुम दोनों (वैष्णव्यौ) समस्त विद्याओं में निष्णात होओ। अथवा (वैष्णव्यौ) राष्ट्र की व्यापक राजशक्ति के मुख्य अंग होवो। (वः) तुम लोगों को (सवितुः) सर्वोत्पादक परमेश्वर और सर्वप्रेरक राजा के (प्रसवे) बनाये ऐश्वर्यमय जगत् और राजा के राज्य में (अच्छिद्रेण) छिद्र या त्रुटि रहित (पवित्रेण) शुद्ध पवित्र, ब्रह्मचर्य, विद्या, शिक्षा आदि के आचार व्यवहार द्वारा (उत्पुनामि) पवित्र आचारवान् करके उन्नत करूं। और (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की किरणों से शुद्ध पवित्र होकर जल जिस प्रकार ऊर्ध्व आकाश में जाता है उसी प्रकार मैं भी शुद्ध उत्तम शिक्षा आदि द्वारा अपनी प्रजाओं को शुद्ध आचारवान् करके उन्नत पद को पहुंचाऊं। हे राष्ट्र

५—६—सोमस्य चर्म। अग्नये लिङ्गोक्तानि। अनिभृष्ट आपम्। सर्वा० ॥

और हे राष्ट्रवासी प्रजाओ! तुम (अनिभृष्टम् असि) शत्रु और दुष्ट पुरुषों से कभी सताए न जाओ। और तुम (वाचः बन्धुः) वाणी द्वारा परस्पर प्रिय भाषण करते हुए एक दूसरे के बन्धु समान प्रेम में बद्ध होकर रहो। आप लोग (तपः-जाः) तप, ब्रह्मचर्य, विद्याध्ययन आदि तपों द्वारा अपने को बढ़ाओ, परिपक्व वीर्यों से सन्तान उत्पन्न करो। आप लोग (सोमस्य) सोम अर्थात् राजा के पद को (दात्रम्) प्रदान करने में समर्थ (असि) हो। (स्वाहा) इसी कारण अपने सत्याचरण और व्यवहार से आप (राजस्वः) राजा को उत्पन्न करने में समर्थ हो। शत० ५।३।५।१४॥

राजा, स्त्रियों, पुरुषों दोनों प्रजाओं को उन्नत करे। दोनों तपश्चर्या करें, बल बढ़ावें और राज्य कार्यों में भाग लें, दोनों राजा का अभिषेक करें।

सधमादो द्युम्निनीरापऽएताऽअनाधृष्टाऽअपस्यो वसानाः ।
पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपाꣳ शिशुर्मातृतमास्वन्तः ॥७॥

वरुणो देवता। विराडार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(एताः) ये (आपः) आप्त प्रजाएं (सधमादः) समस्त एक साथ ही आनन्द अनुभव करनेहारी और (द्युम्निनीः) धन, ऐश्वर्य और बल-वीर्य वाली हों। वे (अपस्यः) उत्तम कर्म करने में कुशल, (अनाधृष्टाः) शत्रुओं से धर्षित और पीड़ित न होकर, एक ही राष्ट्र में (वसानाः) रहती हैं। उन (पस्त्यासु) गृह बना कर रहनेवाली प्रजाओं में (वरुणः) उन द्वारा वरण करने योग्य सर्वोत्तम राजा (अपां शिशुः) जलों के भीतर व्यापक अग्नि के समान और (मातृतमासु अन्तः) उत्तम माताओं के भीतर जिस प्रकार बालक निर्भय होकर रहता और पालन पोषण पाता है उसी प्रकार राजा उन (मातृतमासु) राजा को सर्वोत्तम रूप से माता के समान मान करनेहारी प्रजाओं के बीच (शिशुः) व्यापक रूप से रहकर उनमें ही (सधस्थम्) अपना आश्रय स्थान (चक्रे) बनाता है और उनके साथ ही रमता है। शत० ५।३।३।१९॥

क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जराय्वसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यासि वरुणस्यासि त्वयायं वृत्रं वधेत्। दृवासि रुजासि क्षुमासि। पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात ॥ ८ ॥

यजमानो देवता । कृतिः । निषादः ॥

भा०—हे राजन्! तू (क्षत्रस्य) राष्ट्र के क्षात्रबल का (उल्बम् असि) गर्भ की रक्षा करनेवाले आवरण के समान रक्षक है। (क्षत्रस्य जरायुः असि) तू क्षात्रबल का जरायु, जेर के समान आवरण है। तू स्वयं (क्षत्रस्य योनिः असि) क्षात्रबल का आश्रय है। तू (क्षत्रस्य नाभिः असि) तू क्षात्रबल का केन्द्र है। हे शस्त्र और शस्त्रधारिन्! तू (इन्द्रस्य) राजा के (वार्त्रघ्नम्) शत्रुनाशक बल-स्वरूप है। तू (मित्रस्य वरुणस्य) सर्वस्नेही और शत्रुओं के वारक राजपदाधिकारियों के योग्य अस्त्र-शस्त्र (असि) है। (त्वया) तुझ द्वारा (अयम्) यह राजा (वृत्रम्) विघ्नकारी शत्रु को (वधेत्) विनाश करे। तू (दवा असि) शत्रुओं के गढ़ों को तोड़ने हारा है। तू (रुजा असि) बाण के समान शत्रुओं को पीड़ादायक है। तु (क्षुमा असि) शत्रुओं को कंपा देने-वाली शक्ति है। हे वीर सैनिक पुरुषो! आप लोग (प्राञ्चं) आगे बढ़ते हुए (एनं) इस राजा की (पात) रक्षा करो। (एनम् प्रत्यञ्चं पात) इसकी पीछे जाते की रक्षा करो। (एनं तिर्यञ्चं पात) इसकी तिरछे जाते की रक्षा करो। इस राजा की आप लोग (दिग्भ्यः पात) समस्त दिशाओं से रक्षा करें ॥ ५ । ३ । ५ २०—३० ॥

८—क्षत्रस्य चतुर्णां तार्प्यपाण्ड्वाधीवासोष्णीषाणि। सर्वा० ॥ इन्द्रस्य धनुः। मित्रस्य बाहू। त्वया धनुः। दृवा पणाभिषः। 'वार्त्रघ्नमसि त्वयायं वृत्रं बध्यान् मित्रस्या०। ०क्षुपासि'। काण्व० ॥

इस मन्त्र से राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को तार्प्य,पाण्ड्व,अधिवास नामक तीन वस्त्र, एक उष्णीष, धनुष और तीन वाण दिये जाते हैं।

आविर्मर्या ऽआवित्तोऽअग्निर्गृहपतिरावित्तऽइन्द्रो वृद्धश्रवाऽआवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावावित्तः पूषा विश्ववेदा ऽआवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्मा ॥ ९ ॥

प्रजापतिर्देवता । भुरिगष्टिः । मध्यमः ॥

भा० – हे (मर्याः) मनुष्यो ! आप लोगों ने यह (अग्निः) अग्नि, अग्रणी, अग्नि के समान तेजस्वी, (गृहपतिः) गृह के स्वामी के समान राष्ट्रपति, और आप सबके गृहों का पालक (आविः) साक्षात् (आवित्तः) प्राप्त किया है । आप लोग इसे गृहपति के समान अपना स्वामी जानें। आप लोगों को यह (वृद्ध-श्रवाः) अति प्रभूत धनैश्वर्यसम्पन्न, बहुज्ञ (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, राजा (आविः आवित्तः) साक्षात् विदित एवं प्राप्त हो । (धृतव्रतौ) सब राज्यव्यवस्थाओं को धारण करनेवाले (मित्रावरुणौ) मित्र, न्यायाधीश और वरुण, बलाध्यक्ष दोनों (आवित्तौ) आप लोगों को साक्षात् विदित हों । (विश्ववेदाः) समस्त धनैश्वर्यवान्, (पूषा) सबका पोषक यह राजा तुम्हें (आवित्तः) प्राप्त हो । तुम लोगों को (विश्व शम्भुवौ) समस्त संसार को शान्ति, कल्याण देनेवाली (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी,माता पिता,(आवित्तौ) सब प्रकार से प्राप्त हों । (उरुशर्मा अदितिः) बहुतों को शरण देनेवाली अखण्ड राजनीति, या पृथिवी या वपन योग्य भूमि, स्त्री भी तुम्हें (आवित्ता) प्राप्त हो । राजा ही तुम्हें ये सब प्राप्त करावे ॥ शत० ५ । ३ । ५ । ३१-३७ ॥

अवेष्टा दन्दशूकाः प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथन्तरꣳ साम त्रिवृत् स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥

यजमानो देवता । विराडार्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

१०—अवेष्टा मृत्युनाशनम् । प्राचीपक्षानां यजमानः ॥ सर्वा० ॥

भा०—(दन्दशूकाः) मधुमक्खी, ततैये, बर्र, आदि के समान दुःखदायी प्राणी (अवेष्टाः) नीचे गिराकर मार डाले जांय । अब हे राजन् ! तू (प्राचीम्) प्राची दिशा अर्थात् आगे की ओर (आरोह) चढ़, उधर बढ़, (गायत्री) गायत्री छन्द, (रथन्तरं साम) रथन्तर साम और (त्रिवृत् स्तोमः) त्रिवृत् स्तोम, (वसन्तः ऋतुः) वसन्त ऋतु और (ब्रह्म द्रविणम्) ब्राह्मण रूप धन (त्वा अवतु) तेरी रक्षा करें ॥ शत० ५ । ४ । १ । १–९ ॥

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत्साम पञ्चदशस्तोमो ग्रीष्म ऽऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपꣳ साम सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥
उदीचीमारोहानुष्टुप् त्वावतु वैराजꣳ सामैकविꣳश स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥ १३ ॥

११–१२—यजमानो देवता । (११–१३) आर्ची पंक्तिः पंचमः । (११) निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ।

भा०—(दक्षिणाम् आरोह) तू दक्षिण दिशा पर चढ़, उस पर आक्रमण या वश कर । (त्रिष्टुप्) बृहत्साम, पञ्चदश स्तोमः, ग्रीष्मः ऋतुः, क्षत्रम् द्रविणम्) त्रिष्टुप् , बृहत् साम, पञ्चदश स्तोम, ग्रीष्म ऋतु और क्षत्र बल रूप द्रविण, धन (त्वा अवतु) तेरी रक्षा करें ॥ ११ ॥

(प्रतीचीम् आरोह) तू प्रतीची, पश्चिम दिशा की ओर बढ़ । (त्वा) तुझको (जगती, वैरूपं साम, सप्तदश स्तोमः, वर्षा ऋतुः, विड् द्रविणम् अवतु) जगती छन्द, वैरूप साम, सप्तदश स्तोम, वर्षा ऋतु, और विड् अर्थात् वैश्यरूप धन रक्षा करे ।

(उदीचीम् आरोह) उदीची दिशा पर चढ़ । वहां (अनुष्टुप् वैराजं साम, एकविंशः स्तोमः शरद् ऋतुः, फलं द्रविणम् , त्वा अवतु) अनुष्टुप

छन्द, वैराज साम, एकविंश स्तोम, शरद् ऋतु और फल अर्थात् श्रम द्वारा प्राप्त अन्न आदि कृषि तेरी रक्षा करे ॥ ५ । ४ । १ । ४–६ ॥

ऊर्ध्वामारोह पङ्क्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः ॥ १४ ॥

यजमानो देवता । भुरिगजगती । निषादः ॥

भा०—(ऊर्ध्वाम् आरोह) ऊर्ध्व दिशा की ओर चढ़, उधर आक्रमण कर । (पंक्तिः, शाक्वररैवते सामनी, त्रि-नव-त्रयस्त्रिंशौ, स्तोमौ, हेमन्त-शिशिरौ ऋतू, वर्चः द्रविणं त्वा अवतु) पंक्ति छन्द, शाक्वर और रैवत साम, त्रिनव और त्रयस्त्रिंश नामक दोनों स्तोम, हेमन्त और शिशिर दोनों ऋतु और वर्चस = तेजरूप धन ये तेरी रक्षा करें । (नमुचेः) पापाचार को न छोड़नेवाले का (शिरः) शिर (प्रति अस्तम्) काटकर फेंक दिया जाय । शत० ५ । ४ । १ । ७–६ ॥

(१०–१४) (१) दन्दशूकाः—नैते क्रिमयो नाक्रिमयः यद् दन्दशूकाः । लोहिता इव हि दन्दशूकाः । श० ५ । ४ । १ । २ ॥ लाल धमूढ़ या लाल बर्र 'दन्दशूक' कहाता है, वह विना प्रयोजन काटता है। उसी के स्वभाव वाले व्यर्थ परपीड़क लोग भी 'दन्दशूक' कहाते हैं।

(२) 'प्राची'—प्राची हि दिग् अग्नेः । श० ६ । ३ । ३ । २ ॥ अग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वाहा । यजु० ९ । ३५ ॥ अथैनमिन्द्रं प्राच्यां दिशि वसवो देवा अभ्यषिञ्चन् साम्राज्याय । ए० ८ । १४ ॥ वसवस्त्वा पुरस्तादभिषिञ्चतु गायत्रेण छन्दसा । तै० १ । ७ । १५ । ५ ॥ तेजो वै ब्रह्मवर्चसं प्राची दिक् ॥ ऐ० १ । ८ ॥

(३) 'गायत्री'—सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना अगायत् । यदगायद

१४—प्रत्यस्तं मारुतं । सर्वा० । '०शिशिरा ऋतू' इति काण्व० ।

तस्मादियं पृथिवी गायत्री । श० ६ । १ । १ । १५ ॥ गायत्र्योऽयं भूर्लोकः । कौ० ८ । ६ ॥ गायत्री वसूनां पत्नी । गो उ० २ । ९ ॥ गायत्री वै रथन्तरस्य योनिः । तां० १५ । १० । ५ ॥ या द्यौः सा अनुमतिः सा एव गायत्री । ऐ० २ । १७ ॥

(४) 'रथन्तरं साम'—अभि त्वा शूर नोनुम (ऋ० ७ । ३२ । २२) इत्यस्यामृचि उत्पन्नं साम रथन्तरम् । ऐ० ४ । १३ ॥ सायणः । इयं वै पृथिवी रथन्तरम् । ऐ० ८ । १ ॥ वाग् वै रथन्तरम् । ऐ० ४ । २८ ॥ रथन्तरं वै सम्राट् । तै० १ । ४ । ४ । ९ ॥

(५) 'त्रिवृत् स्तोम'—वायुर्वा आशुः त्रिवृत् । श० ८ । ४ । १ । ६ । वज्रो वै त्रिवृत् । श० ३ । ३ । ४ तेजो वै त्रिवृत् तां० २ । १७ । ४ ॥ ब्रह्मवर्चसं वै त्रिवृत् । तां० ७ । ६ । ३ ॥

(६) 'वसन्त ऋतुः'—तस्य अग्नेः रथगृत्सश्च, रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ इति वासन्तिकौ तावृतू । श० ८ । ६ । १ । १६ ॥ वसन्तो वै ब्राह्मणस्य ऋतुः । तै० १ । १ । १३ ॥

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात् ।
मृत्योः पाह्योजोऽसि सहोस्यमृतमसि ॥ १५ ॥

परमात्मा देवता । उष्णिग् । ऋषभः ।

भा०—हे सिंहासन ! एवं राज्यपद ! हे परमेश्वर तू ! (सोमस्य) सर्वप्रेरक राजा की ही (त्विषिः) कान्ति या शोभा (असि) है । (मे त्विषिः) मेरी शोभा भी (तव इव) तेरे ही समान (भूयात्) हो जाय । हे परमेश्वर ! तू अमृत है, तू (मृत्योः पाहि) मृत्यु से रक्षा कर । (ओजः असि, सहः असि, अमृतम् असि) तू ओज है । तू सहस् है, तू बल है, तू अमृतस्वरूप है ॥ शत० ५ । ४ । १ । ११ –१४ ॥

१५—सोमस्य सुन्वन् । सर्वा० । मृत्योः ओजोऽसि रुक्मः । सर्वा० ।

अथवा— राजा के प्रति प्रजा का वचन है। तू सोम, अधिकारी या राज्य पद के योग्य शोभा है। मुझ प्रजाजन की भी तेरे सामने कान्ति हो। हे राजन्! तू राष्ट्र को मृत्यु से बचा। तू ओज, पराक्रमरूप बलरूप और अमृत है। परमेश्वर के पक्ष में स्पष्ट है।

हिरण्यरूपा उषसो विरोकऽ उभाविन्द्राऽउदिथः सूर्यश्च। आरोहतं वरुण मित्र गर्त्तं ततश्चक्षाथामदितिं दितिं च मित्रोऽसि वरुणोऽसि ॥ १६ ॥

मित्रावरुणौ देवते। स्वराडार्षी जगती। निषादः ॥

भा०—हे मित्र और हे वरुण! (उभा) आप दोनों (हिरण्यरूपौ) स्वर्ण के समान तेजस्वी (इन्द्रौ) राजा के समान ऐश्वर्यवान् (उषसः) उषाओं के (विरोके) विशेष प्रकाश द्वारा (सूर्यः च) सूर्य और चन्द्र के समान नाना कार्यों और विद्याओं को प्रकाशित करते हुए (उदिथः) उदय होवो। आप दोनों हे वरुण! हे मित्र! (गर्त्तम्) रथ पर और राष्ट्रवासी प्रजाओं के ऊपर (आरोहतम्) आरूढ़ होओ और उन पर शासन करो। (ततः) और तब (अदितिम्) अखण्ड राज्यव्यवस्था या पृथिवी और (दितिम्) खण्ड २ रूप से विद्यमान समस्त विभक्त व्यवस्था का भी (चक्षाथाम्) उपदेश करो या उनका निरीक्षण करो। हे राजन्! (मित्रः असि) तू ही स्वयं मित्र, सर्वस्नेही है और (वरुणः असि) तू ही वरुण, सब शत्रुओं को वारण करने में समर्थ, सर्वश्रेष्ठ है ॥ शत० ५। ४। १। १६-१७ ॥

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण। क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यति दिद्यून् पाहि ॥ १७ ॥

क्षत्रपतिर्देवता। आर्षी पंक्तिः। पञ्चमः ॥

१६—'इन्द्रा उदित०' इति काण्व०।

१७—सोमस्य सुञ्चन्। सर्वा०।०इन्द्रियेण मरुतामोजसा, क्षत्राण/ ०। इति काण्व०।

भा०—हे राजन् ! वीर पुरुष ! (त्वा) तुझको (सोमस्य) सोम, सर्वप्रेरक, सर्वश्रेष्ठ राजपद के योग्य (द्युम्नेन) यश और ऐश्वर्य से (अग्नेः) अग्नि या अग्रणी नेता के (भ्राजसा) तेज से और (सूर्यस्य वर्चसा) सूर्य के तेज से और (इन्द्रस्य इन्द्रियेण) इन्द्र, विद्युत् या वायु के बल से (त्वा अभिषिञ्चामि) तेरा अभिषेक करता हूं । हे अभिषिक्त राजन् ! तू (क्षत्राणाम्) वीर्यवान् क्षत्रियों, राजाओं का (क्षत्रपतिः एधि) क्षत्रपति, राजाधिराज होकर रह । (दिद्यून्) प्रजा के नाश करनेवाली सब विपत्तियों को (अति) पार करके प्रजाओं की (पाहि) रक्षा कर । अथवा (दिद्यून्) विद्या और धर्म के प्रकाश करनेवाले व्यवहारों और विद्वानों को (अति पाहि) सब कष्टों से पार करके भी रक्षा कर अथवा (दिद्यून्) बाण आदि शस्त्रों की खूब (पाहि) रक्षा कर । उन पर पर्याप्त प्रतिबन्ध रख जिससे वे परस्पर हिंसा का कारण न हों ॥ शत० ५ । ४ । १ । २ ॥

इमं देवाऽअसपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश ऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ १८ ॥

यजमानो देवता । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ९ । ४० ॥ शत० ५ । ४ । २ । ३ ॥

हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इमम्) इस योग्य पुरुष को (महते क्षत्राय) बड़े भारी क्षात्रबल सम्पादन करने के लिये, (महते ज्यैष्ठ्याय) बड़े भारी उत्तम राज्य प्राप्त करने के लिये, (महते जानराज्याय) बड़े भारी जनराज्य स्थापित करने के लिये और (इन्द्रस्य इन्द्रियाय) इन्द्रपद के सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये (असपत्नं) शत्रु रहित इस वीर पुरुष को (सुवध्वम्) अभिषिक्त करो । (अमुष्य पुत्रम्) अमुक पिता के पुत्र, (अमुष्यै पुत्रम्) अमुक माता के पुत्र (इमम्) इसको (अस्यै विशे) इस प्रजा के कल्याण के लिये अभिषिक्त करो । हे (अमी) अमुक प्रजाजनो !

(एषः वः राजा) यह आप लोगों का राजा है। (एषः सोमः) यह राजा सोम ही (अस्माकं ब्राह्मणानां राजा) हम वेद के विद्वान् ब्राह्मणों का भी राजा है। यह हम विद्वानों को भी अभिमत है।

प्र पर्वतस्य वृष॒भस्य॑ पृ॒ष्ठान्नाव॑श्चरन्ति स्व॒सिच॑ इया॒नाः। ताऽआव॑वृत्रन्नध॒रागुद॒क्ताऽअहिं॑ बु॒ध्न्य॒मनु॒ रीय॑माणाः। विष्णो॑र्वि॒क्रम॑णमसि॒ विष्णो॒र्विक्रा॑न्तमसि॒ विष्णोः॑ क्रा॒न्तम॑सि ॥ १९ ॥

आपः विष्णुश्च देवताः। विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—जिस प्रकार (पर्वतस्य पृष्ठात्) पर्वत या मेघ के पृष्ठ से (इयानाः) निकलनेहारी (नावः) जल-धाराएं बहती हैं। उसी प्रकार (वृषभस्य) नर-श्रेष्ठ राजा के पीठ पर से भी (इयानाः) जाती हुई (स्व-सिचः) शरीर का सेचन करनेवाली (नावः) जलधाराएं अभिषेक काल में (चरन्ति) बहें। (ताः) वे (अधराक् उदक्) नीचे और ऊपर सर्वत्र (बुध्न्यम्) सबके आश्रय में स्थित (अहिम्) अहन्तव्य, जिसको कोई न मार सके, ऐसे श्रेष्ठ वीर पुरुष को, पर्वत की जलधाराएं जिस प्रकार उसके मूल भाग को घेरती हैं उसी प्रकार (रीयमाणाः) घेरती हुई (ताः) वे (आववृत्रन्) उसको घेरें या प्राप्त करें॥ शत० ५। ४। २। ५, ६॥

राजा प्रजा पक्ष में –(नावः) स्तुति करनेवाली प्रजाएं (स्वसिचः) स्व अर्थात् धन से राजा को सेचन, वृद्धि करनेवाली (पर्वतस्य) पर्वत के समान दृढ़ एवं (वृषभस्य) वृषभ के समान बलवान्, अथवा मेघ के समान सब के काम्य सुखों के वर्षक, अति दानशील पुरुष के (पृष्ठात्) पीठ से, उसका आश्रय लेकर (इयानाः) सर्वत्र गमन करती हुईं (चरन्ति) विचरण करती हैं। (ताः) वे समस्त प्रजाएं अपने राजा को (बुध्न्यम्) आश्रयभूत, सब के अहन्ता,पालक का (अनु रीयमाणाः) अनुगमन करती हुईं उसको (अधराक्) नीचे से और (उदक्) ऊपर से (आववृत्रन्) व्याप्त होकर रहती हैं। उसको घेरे रहती हैं।

हे पृथिवी ! तू (विष्णोः क्रमणम् असि) व्यापक राजशक्ति का विक्रम करने का स्थान है। हे अन्तरिक्ष ! शासकगण ! तू (विष्णोः) वायु के समान बलशाली राजा का (विक्रान्तम् असि) नाना प्रकार के पराक्रमों का स्थान है। हे स्वः लोक ! राज्यपद ! तू आदित्य के समान (विष्णोः) राजा के (क्रान्तम् असि) पराक्रम का स्थान है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्त्वयममुष्य पिताऽसावस्य पिता वयꣳ स्याम पतयो रयीणाꣳस्वाहा। रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन् हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा ॥ २० ॥ ऋ० । । १० । १२१ । १० ॥

प्रजापतिर्देवता । स्वराड् अतिधृतिः षड्जः ॥

भा०—हे (प्रजापते) प्रजा के पालक राजन् ! अथवा परमेश्वर ! (एतानि) इन (ता विश्वा रूपाणि परि) समस्त नाना रूपवाले पदार्थों और चर अचर प्राणि शरीरों के ऊपर (त्वत् अन्यः न बभूव) तुझ से दूसरा कोई स्वामी नहीं है। हम लोग (यत्-कामाः) जिस पदार्थ की कामना या अभिलाषा करते हुए (जुहुमः) तुझे कर प्रदान करते और तुझे राजा स्वीकार करते हैं (तत् नः अस्तु) वह हमारा प्रयोजन पूर्ण हो। (अयम्) यह राजा (अमुष्य पिता) अमुक बालक का पिता है। (अस्य) और इस राजपद पर आरूढ़ पुरुष का (असौ पिता) अमुक पुरुष पिता है। हम उस प्रकार तुझको अपना राजा स्वीकार करते हैं। तेरे द्वारा (वयम्) हम सब (स्वाहा) उत्तम व्यवस्था और धर्मानुकूल आचारण द्वारा (रयीणाम्) ऐश्वर्यों के (पतयः स्याम) पालक, स्वामी बनें ॥ शत० ५ । ४ । २ । ९, १० ॥

२०—रुद्र यद् रौद्रम् । सर्वा० ॥ 'तन्नो अस्तु वयं स्याम०, ०क्रिवि परं नाम तस्मै०' इति काण्व० ॥

हे (रुद्र) रुद्र ! सर्व प्रजाओं के पालक और सब प्रजाओं के रोचक, वशकारक एवं शत्रुओं को रुलानेहारे ! (ते) तेरा (यत्) जो (परं नाम) पर, सर्वोत्कृष्ट स्वरूप और नाम (क्रिवि) क्रिवि अर्थात् सब कार्य करने में समर्थ, एवं सबको मारने में समर्थ, सर्वशक्तिमान्, सर्वहन्ता का पद या अधिकार है (तस्मिन्) उस पर तू (हुतम् असि) स्थापित किया गया है । तू (अमा) घर घर में (इष्टम् असि) पूज्य और आदर के योग्य बनाया जाता है (स्वाहा) यह सब तेरे उत्तम आचरण और सत्य व्यवस्था काही परिणाम है ।

इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि । अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वारिष्टो अर्जुनो मरुतां प्रसवेन जयापाम मनसा समिन्द्रियेण ॥ २१ ॥

क्षत्रपतिर्देवता । भुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवान् राजपद का (वज्रः असि) वज्र अर्थात् उस पर विराज कर सब दुष्टों का दलन करनेहारा है। (त्वा) तुझको (मित्रावरुणयोः) पूर्व कहे हे मित्र और वरुण, सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष, न्यायाधीश और बलाध्यक्ष ! (प्रशास्त्रोः) इन दोनों उत्तम शासकों के (प्रशिषा) उत्तम शासनाधिकार से (युनज्मि) युक्त करता हूँ । (त्वा) तुझको (स्वधायै) स्वकीय राष्ट्र के पालन पोषण और उससे अपने शरीर मात्र की भृति प्राप्त करने और (अव्यथायै त्वा) प्रजा को किसी प्रकार की व्यथा न हो इस लिये नियुक्त करता हूँ। तू (अरिष्टः) किसी से भी हिंसित न होकर और (अर्जुनः) अति सुशोभित,सुप्रतिष्ठित होकर, वा अति प्रदीप्त,तेजस्वी होकर (मरुतां) प्रजाओं, वैश्यों या शत्रुओं के मारनेहारे वीरभटों के (प्रसवेन) उत्कृष्ट बल से या

२१—इन्द्रस्य लिङ्गोक्तानि । सर्वा० । रथो धुर्यो यजमानश्च देवताः । अनन्त० ॥ ०रिष्टः फल्गुनः ०इति काण्व० ।

(मरुतां प्रसवेन) विद्वानों के आज्ञानुकूल (जय) विजय प्राप्त कर और हम लोग (मनसा) मन से और (इन्द्रियेण) शरीर और ऐश्वर्य बल से भी (सम् आपाम) तेरे साथ मिले रहें, तेरी भली प्रकार रक्षा करें ॥ शत० ५।४।३।५-१० ॥

मा तऽइन्द्र ते व॒यं तु॑राषाडयु॑क्तासोऽअब्र॒ह्मता॑ वि॑दसाम । तिष्ठा॒ रथ॒मधि॒ यं व॑ज्रह॒स्ता र॒श्मीन्दे॑व यमसे॒ स्वश्वा॑न् ॥ २२ ॥

संवरण ऋषिः । इन्द्रो देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (वज्रहस्त) वज्र, खड्ग वा दण्डविधान को हाथ में लिये हुए राजन् ! तू (तुराषाड्) शीघ्र ही शत्रुओं को पराजय करने में समर्थ होकर (यम् रथम्) जिस रथ पर, रथ के समान राज्यपद पर भी (अधितिष्ठः) अधिष्ठाता में होकर विराजता है और हे (देव) राजन् ! जिसके (स्वश्वान्) उत्तम घोड़ों या अश्वों के समान राष्ट्र-सञ्चालक उत्तम पुरुषों को (रश्मीन्) उनकी बागडोरों से (यमसे) अपने नियन्त्रण में रखता है (ते) तेरे उस राज्य में (वयम्) हम निवास करें । (ते) तेरे प्रति (अयुक्तासः) अयुक्त अधर्माचरण करते हुए (अब्रह्मता) वेद और ईश्वरनिष्ठा से रहित होकर या ब्रह्म अर्थात् ज्ञान और अन्न से रहित होकर हम (मा वि-दसाम) कभी नष्ट न हों ॥ शत० ५ । ४ । ३ । १४ ॥

राजा जिस रथ पर चढ़े उसमें लगे घोड़े भी जिस प्रकार रथ में न लगने केअवसर पर भी चारा पाते के राज्य में नियमपूर्वक कार्यों में लगे रहें । वे बेरोज़गार होकर भी (अब्रह्मता) अपराध में, या अन्ना-भाव से भूखे न मरें ।

अ॒ग्नये॑ गृ॒हप॑तये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य व॒नस्प॑तये॒ स्वाहा॑ । म॒रुता॒मोज॑से॒ स्वाहेन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॒ स्वाहा॑ । पृथि॑वि मात॒र्मा मा॑ हिꣳसी॒र्मोऽअ॒हं त्वाम् ॥ २३ ॥

मंत्रोक्ता अग्न्यादयो देवताः । जगती । निषादः ॥

२२—'मा न इन्द्र' इति शतपथपाठः । ०यद् वन०, ०युवसे ० इति काण्व० ।

२३—०स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहा । इति काण्व० ।

भा०—(गृह-पतये) गृहों के पालक या गृह के समान राज्य के पति (अग्नये) अग्नि, अग्रणी या विद्वान् पुरुष का (स्वाहा) हम आदर करें। (वनस्पतये सोमाय स्वाहा) बन अर्थात् सेना समूह के पालक सोम राजा का हम आदर सत्कार करें। (मरुताम्) शत्रु को मारने में समर्थ, वायु के समान तीव्रगामी भटों के (ओजसे) बल के लिये (स्वाहा) हम अन्न धनादि को प्रदान करें। (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा के (इन्द्रियाय) बल का हम आदर करें। राजा भी प्रजाजन से कहे—हे (पृथिवी मातः) मातः पृथिवी ! पृथिवीवासी जन ! (मा) मुझको तू (मा हिंसीः) विनाश मत कर और (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझको भी (मा) विनाश न करूं। प्रजावासी लोग गृहों के पालक, तेजस्वी, सेनाओं के पालक और बलवान् ऐश्वर्यवान् राजा का आदर करें। वह प्रजा का नाश न करे और प्रजा उसका नाश न करे। उसी प्रकार सामान्यतः भी पुत्र माता को कष्ट न दे और माता पुत्र को कष्ट न दे। विद्वान् गृहपति, वनस्पति आदि सोम ओषधि, प्राणों और विद्वानों और केवल इन्द्र, जीव की इन्द्रियों का उनकी उत्तम विद्या के अनुकूल उपयोग लें॥ शत० ५। ३। ३। १९—२०॥

हुꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं बृहत्॥ २४॥ ऋ० । ४ । ४० । ५ ॥

वामदेव ऋषिः। सूर्यो देवता। भुरिगार्षी जगती। निषादः॥

भा०—हे राजन् ! तू (हंसः) शत्रुओं का नाशक है। तू (शुचिषत्) शुद्ध आचरण और व्यवहार में वर्तमान, निश्छल, निर्लोभ, निष्काम-स्वरूप, परायण है। तू (वसुः) प्रजाओं को बसानेहारा है। तू (अन्तरिक्ष-सत्) अन्तरिक्ष के समान प्रजा के ऊपर रहकर उसका पालन करता है। (होता) राष्ट्र से कर ग्रहण करने और अपने आपको उसके लिये युद्धयज्ञ में आहुति देनेवाला है। तू (वेदिषत्) भूमिरूप वेदि में प्रतिष्ठित है,

(अतिथिः) राष्ट्र में, राष्ट्रकार्य से बराबर भ्रमण करनेवाला, एवं अतिथि के समान सर्वत्र पूजनीय है। (दुरोण-सत्) बड़े २ कष्ट सहन करके पालन योग्य राष्ट्ररूप गृह में विराजमान, (नृ-षत्) समस्त नेता पुरुषों में प्रतिष्ठित, (ऋतसत्) ऋत् = सत्य पर आश्रित, (व्योम-सत्) विशेष रक्षाकारी राजपद पर स्थित, (अब्जाः) प्रजाओं द्वारा प्रजाओं में विशेषरूप से प्रादुर्भूत, (गोजाः) पृथ्वी पर विशेष सामर्थ्यवान्, (ऋतजाः) सत्य और ज्ञान से विशेष सामर्थ्यवान्, (अद्रिजाः) न विदीर्ण होनेवाले, अभेद्य बल से सम्पन्न या उसका उत्पादक और साक्षात्(बृहत्) स्वयं बड़ाभारी (ऋतम्) सत्यरूप बल वीर्य है ॥ शत० ५ । ४ । ३ । २२॥

परमात्मा पक्ष में—(हंसः) सर्व पदार्थों को संघात करनेवाले, (शुचिषत्) शुद्ध पवित्र पदार्थों और योगियों के हृदयों में और पवित्र गुणों में विराजमान, (अन्तरिक्ष-सत्) अन्तरिक्ष में व्यापक, (होता) सबका, दाता, सबका गृहीता, (अतिथिः) पूज्य, (दुरोणसत्) ब्रह्माण्ड में व्यापक, (नृसत्, वरसत्) मनुष्यों में और वरणीय श्रेष्ठ पुरुषों के हृदयों में विराजमान, (व्योमसत्) आकाश में व्यापक, (ऋतसत्) सत्य में व्यापक, ज्ञानमय, (अब्जाः) जलों का उत्पादक, (गोजाः) गौ पृथिव्यादि लोकों और इन्द्रियों काउत्प ादक, (ऋत-जाः) सत्यज्ञान वेद का उत्पादक, (अद्रिजाः) मेघ पर्वतादि का जनक, स्वयं (बृहत् ऋतम्) महान् सत्यस्वरूप है। अध्यात्म में और सूर्य पक्ष में भी यह लगता है।

इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यूर्गस्यूर्जं मयि धेहि। इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहू अभ्युपावहरामि ॥ २५ ॥

सूर्यो देवता । आर्षी जगती । निषादः ॥

२५—इयच्छतमानौ । ऊर्गसि शाखा । इन्द्रस्य बाहू । सर्वा० ॥
'०देहि०' 'वीर्यकृता उपा०' इति काण्व० ।

भा०—हे परमेश्वर ! तू (इयत् असि) इतना बड़ा है। हे जीव स्वरूप ! तू (इयत् असि) इतना छोटा ही है। तू (आयुः असि) हे देव ! तू आयु जीवन स्वरूप है। (मयि आयुः धेहि) मुझ में आयु प्रदान कर । तू (युङ् असि) सबको शुभ कार्यों में जोड़नेवाला एवं अपने से मिलाने-हारा है। हे परमेश्वर ! तू (वर्चः असि) तेजःस्वरूप है (मयि वर्चः धेहि) तू मुझे तेज प्रदान कर । (ऊर्ग् असि) तू बलस्वरूप है (मयि ऊर्जं धेहि) तू मुझे बल प्रदान कर । हे सभाध्यक्ष और सेनापते ! मित्र और वरुण ! (वाम्) तुम दोनों ! (वीर्यकृतः सामर्थ्यवान् (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा के (बाहू) दो बाहुओं के समान हो। मैं पुरोहित या राजा तुम दोनों को (अभि उप आहरामि) राजा के समक्ष उसके अधीन स्थापित करता हूँ। अथवा—हे राजा और प्रजाजनो (वां बाहू इन्द्रस्य अभ्युपा-वहरामि) तुम दोनों के बाहुबल को परमेश्वर के अधीन करता हूँ ॥ शत० ५ । ४ । ३ । २५-२७ ॥

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि। स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद ॥ २६ ॥

आसन्दी राजपत्नी देवता । भुरिगनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे पृथिवि ! और हे आसन्दि ! तू (स्योना असि) सुखकारिणी है। तू (सुषदा असि) सुख से बैठने योग्य है। तू (क्षत्रस्य योनिः असि) क्षत्र, राष्ट्र के रक्षाकारी बलवीर्य का आश्रय और उत्पत्तिस्थान है। हे राजन् ! तू (स्योनाम् आसीद) सुखकारिणी उस राजगद्दी और इस भूमि पर अधिकारी होकर विराज । (सुषदाम् आसीद) सुख से बैठने योग्य इस गद्दी पर विराज और (क्षत्रस्य योनिम्) क्षात्रबल के परम आश्रयरूप इस गादी पर (आसीद) विराज ॥ शत० ५ । ४ । ४ १-४ ॥

२६—स्योनास्यासन्दी । क्षत्रास्याधीवासम् । स्योनां सुन्वन् । सर्वा० ।

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ २७ ॥ ऋ० १ । २५ । १० ॥

शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता । पिपीलिकामध्या विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(धृत-व्रतः) वृत, प्रजा-पालन के शुभ व्रत और राज्य-व्यवस्था को धारण करनेवाला (सु-क्रतुः) उत्तम क्रियावान्, प्रज्ञावान्, (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ राजा (पस्त्यासु) न्याय-गृहों में और प्रजाओं के के बीच (साम्राज्याय) साम्राज्य की स्थापना और उसके संचालन के लिये (आ नि-ससाद) अधिष्ठाता रूप से विराजमान हो ॥ ५ । ४ । ४ । ५ ॥

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजा इन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः। बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य ॥ २८ ॥

यजमानो देवता । विराड् धृतिः । ऋषभः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (अभिभूः असि) शत्रुओं का पराजय करने में समर्थ है । (एताः पंच दिशः) ये पांचों दिशाएं (ते कल्पन्ताम्) तेरे लिये सुखकारी और बल-पुष्टिकारी हों । हे (ब्रह्मन्) महान् शक्ति-वाले ! (ब्रह्मा असि) तू महान् शक्ति सम्पन्न,सबका वृद्धिकार है । तू (सत्य-प्रसवः सविता असि) सत्य ऐश्वर्यवाला, सत्य व्यवहार का उत्पादक 'सविता' है । तू (सत्यौजाः वरुणः असि) सत्य पराक्रमशील वरुण है। तू (विशौजाः इन्द्रः असि) प्रजाओं के द्वारा पराक्रम करनेहारा 'इन्द्र'

२८—अभिभूरस्यक्षाः यजमानो वा । ब्रह्मँस्त्वमामंत्रणानि पञ्च लिंगो॰क्तानि । इन्द्रस्य स्फ्यः । सर्वा० ॥ अभिभूरस्ययया नाभितास्त० । प्रियङ्कर श्रेय० इति काण्व० ।

है। तू (सु-शेवः) सुखपूर्वक सेवन करने योग्य, उत्तम सुखदायक (रुद्रः असि) प्रजाओं का रोधक और शत्रुओं को रुलानेहारा एवं ज्ञानोपदेष्टा भी है। हे (बहुकार) बहुत से कार्यों, अधिकारों के निभाने में समर्थ! हे (श्रेयस्कर) प्रजा के कल्याण करनेवाले! हे (भूयस्कर) अति अधिक समृद्धि के कर्त्ता! तू विद्वान् पुरुष (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा, का भी (वज्रः) वज्र है, उसको पापमार्गों से वर्जन करने में समर्थ और उसको ऐश्वर्य पद का प्रापक है। (तेन) उससे (मे) मुझे (रध्य) अपने वश कर। अथवा मेरे लिये राष्ट्र को वशकर ॥ शत० ५। ४। ४। ६-२१ ॥

अ॒ग्निः पृ॒थुर्धर्म॑ण॒स्पति॑र्जुषा॒णो अ॒ग्निः पृ॒थुर्धर्म॑ण॒स्पति॒राज्य॑स्य वे॒तु स्वाहा॒ स्वाहा॑कृताः सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॒र्य॑तध्वꣳ स॒जा॒ता॒नां मध्यमे॒ष्ठ्या॑य ॥ २६ ॥

अग्निर्देवता। स्वराडार्षी जगती। निषादः ॥

भा०—(अग्निः) अग्रणी, दुष्टों का संतापक राजा सूर्य के समान कान्तिमान् (पृथुः) बड़ा भारी (धर्मणः पतिः) धर्म का पालक है। उसी प्रकार वह (अग्निः) राजा भी अग्नि के समान तेजस्वी होकर (पृथुः) विशाल शक्तिसम्पन्न होकर (धर्मणः पतिः) राजधर्म का पालक होकर (स्वाहा) उत्तम, सत्य व्यवहार और व्यवस्था से (आज्यस्य) संग्राम योग्य तेज, पराक्रम को (वेतु) प्राप्त करे। हे (स्वाहाकृताः) उत्तम धन, पद, ऐश्वर्य आदि देकर बनाये गये अधिकारी पुरुषो! आप लोग (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की किरणों से बलवान् होकर जिस प्रकार आंखें देखती हैं उसी प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी राजा की (रश्मिभिः) रश्मियों, दिखाये उपायों द्वारा आप लोग (स-जातानां) इसके समान शक्ति में समर्थ राजाओं के (मध्यमेष्ठ्याय) मध्य में रहकर सम्पादन करने

२६—स्वाहाकृता अद्धाः। ०ज्यस्य हविषो वेतु० इति काण्व० ॥

योग्य कार्य करने के लिये (यतध्वम्) यत्न करो ॥ शत० ५। ४। ४। २२,२३ ॥

सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसाऽग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि ॥३०॥

सवित्रा मंत्रोक्ता देवताः। भुरिग ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—(१) (प्रसवित्रा) समस्त ऐश्वर्यों के उत्पादक, सब कर्मों के प्रेरक (सवित्रा) सविता सूर्य या वायु के समान विद्यमान प्रेरक आज्ञापक और कार्यप्रवर्त्तक के दिव्यगुण से, (२) (सरस्वत्या वाचा) उत्तम विज्ञान युक्त वाणी से, (३) (रूपैः) नाना प्रकार के प्राणियों की नाना जातियों के द्वारा प्रसिद्ध (त्वष्ट्रा) प्रजापति, त्वष्टा के समान प्रजा और राष्ट्र के पशुओं के नाना भेदों से प्रसिद्ध त्वष्टा या प्रजापति के रूप से, अथवा नाना प्रकार के विविध शिल्पों से उत्पन्न पदार्थों सहित त्वष्टा, शिल्पी वा तीक्ष्ण विवेक युक्त न्यायसे (४) (पशुभिः पूष्णा) पशुओंसे युक्त पूषा, या सर्वपोषक पृथिवी से (५) (ब्रह्मणा) वेद के ज्ञान से युक्त (बृहस्पतिना) वाक्पति वेदज्ञ से, (६) (अस्मे इन्द्रेण) अपने आप स्वयं इन्द्र, राजा रूप से, (७) (ओजसा वरुणेन) पराक्रम से युक्त वरुण से, (८) (तेजसा अग्निना) तेज से युक्त अग्नि से, (९) (राज्ञा सोमेन) राजा स्वरूप सोम से, (१०) (दशम्या) दश संख्यापूर्ण करने वाले (विष्णुना) व्यापक राजशक्ति रूप या समस्त राष्ट्रमय यज्ञ या प्रजापति रूप विष्णु इन दस (देवतया) देव अर्थात् राजा होने योग्य विशेष गुणों और सामर्थ्यों द्वारा (प्रसूतः) प्रेरित या शक्तिमान् होकर मैं (प्रसर्पामि) आगे उन्नत, उत्कृष्ट मार्ग पर गमन करूं ॥ शत० ५ ॥ ४ । ५ । २ ॥

अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ।

वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमो अतिस्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३१ ॥

अश्विनावृषी । सोमः क्षत्रपतिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे पुरुष ! हे राजन् ! तू (अश्विभ्याम्) स्त्री पुरुषों, राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य उनके हित के लिये (पच्यस्व) अपने को परिपक्व कर, तप कर अर्थात् उनकी सेवा के लिये श्रम कर, अथवा स्वयं उत्तम माता पिता बनने के लिये श्रम और तप कर । (सरस्वत्यै पच्यस्व) सरस्वती, वेद की ज्ञानवाणी के प्राप्त करने और उन्नति करने के लिये अपने को परिपक्व कर, श्रम और तप कर । (सुत्राम्णे) राष्ट्र की उत्तम रीति से रक्षा करने हारे (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् राजपद या राज्य-व्यवस्था के लिये (पच्यस्व) स्वयं परिपक्व, बलवान् होने का यत्न कर । (वायुः) वायु के समान सर्वत्र गतिशील, यत्नवान् ज्ञानी, (पवित्रेण पूतः) पवित्र आचार व्यवहार और तप से पवित्र होकर (प्रत्यङ्) साक्षात् पूजनीय (सोमः) सोम, सौम्यगुणों से युक्त राजा रूप से (अति-स्रुतः) सबको लांघ कर सबसे उच्च हो जाता है और जिस प्रकार पवित्र करने की विधि से पवित्र होकर (वायुः) व्यापक प्राण शरीर में (पूतः सोमः) वीर्य बनकर उत्कृष्ट रूप धारण करता है और वह इन्द्र अर्थात् जीव का मित्र हो जाता है, अथवा पवित्र आचार से पवित्र होकर वायु या प्राण का अभ्यासी स्वयं वायु के समान शुद्ध पवित्र, (सोमः) योगी, ज्ञानी पुरुष (अतिस्रुतः) अति ज्ञानी हो जाता है और वह (युज्यः) योग युक्त होकर (इन्द्रस्य सखा) इन्द्र, परमेश्वर का मित्र बन जाता है, उसी प्रकार पवित्र आचार से पवित्र होकर ज्ञानवान् विद्वान् पुरुष

१३—अथ चरकसौत्रामणी । अश्विनोरापम् । अश्विभ्यां त्रीणि लिंगोक्तानि । सर्वा० ॥

(अतिस्रुतः) सबसे आगेबढ़कर (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा का (युज्यः) उच्च पद पर नियुक्त होने योग्य, (सखा) मित्र के समान अमात्य आदि हो जाता है ! इसके लिये भी उस पुरुष को परिपक्व होने अर्थात् तप करने की आवश्यकता है ॥ शत० ५ । ५ । ४ । २०–२३ ॥

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय । इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति । उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे ॥ ३२ ॥

ऋ० १० । १३१ ॥ २ ॥

काक्षीवतः सुकीर्त्तिर्ऋषिः । सोमः क्षत्रपतिर्देवता । निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप । धैवतः ।

भा०—(अङ्ग) हे ज्ञानवान् पुरुष ! (यथा) जिस प्रकार (यवमन्तः) जौ के खेतों वाले किसान लोग (यवं चित्) जौ को (दान्ति) काटते हैं, तब (अनुपूर्वम्) क्रम से, नियमपूर्वक उसको (वियूय) विविध रीतियों से सूप, छाज आदि द्वारा फटक कर, तुष आदि से अलग करके बाद में (ये) जो (बर्हिषः) समृद्ध प्रजा के योग्य गुरु, अतिथि, माता पिता आदि वृद्धजन हैं वे (नमः उक्तिम्) नमस्कार योग्य वचन, आदर सत्कार (यजन्ति) प्राप्त करते हैं उनको ही (इह इह) इस इस स्थान में अर्थात् प्रत्येक स्थान में (एषां) उनको (भोजनानि कृणु) भोजन प्राप्त करा। उसी प्रकार विद्वान् पुरुष (यवमन्तः) शत्रुनाशक राजा, सेनापति आदि 'यव' वीर पुरुषों से सम्पन्न होकर (यवम्) पृथक् करने योग्य शत्रु को काट देते हैं और क्रम से उनको (वियूय) पृथक् करके, नाश करके राष्ट्र को स्वच्छ कर देते हैं और जो (बर्हिषः) राष्ट्र के परिवर्धक, पालक लोग (नम उक्तिं यजन्ति) हमारे आदर वचनों को प्राप्त करते अथवा (नमः उक्तिम्) शत्रुओं को नमाने या वश करने के वचनों या आज्ञाओं का प्रदान करते हैं (इह इह एषां भोजनानि कृणुहि) उन उनका हे राजन् ! तू भोजन आच्छादन आदि का प्रबन्ध कर ।

हे योग्य पुरुष ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) राज्य के उत्तम नियमों और ब्रह्मचर्य सदाचार के नियमों द्वारा सुबद्ध है (त्वा) तुझको (अश्विभ्याम्) माता पिता, राजा और प्रजा के उपकार के लिये नियुक्त करता हूँ । (त्वा) तुझको हे योग्य पुरुष ! (सरस्वत्यै) ज्ञानमयी वेदवाणी के अर्जन के लिये नियुक्त करता हूं । हे योग्य पुरुष ! (त्वा) तुझको (सुत्राम्णे इन्द्राय) प्रजाओं की उत्तम रक्षा करने वाले 'इन्द्र' ऐश्वर्यवान् राजपद के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ५ । ५ । ४ । २४ ॥

युवꣳ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा ।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ३३ ॥
ऋ० १० । १३१ । ४ ॥

अश्विनौ देवते । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्रजा के स्त्री पुरुषो ! अथवा सूर्य्य चन्द्र के समान सभापति और सेनापते ! तुम दोनों (नमुचौ) कभी भी न छूटने वाले, अथवा कर्त्तव्य कर्म को न छोड़ने वाले, (आसुरे) असुर, बलवान् पुरुष द्वारा किये जाने योग्य, मेघ के समान शत्रु पर किये गये शरवर्षण आदि युद्धकार्य्य में अथवा (नमुचौ) शरीर से कभी न छूटनेवाले (आसुरे) आसुर, भोग विलासादि के कार्य्य में भी वर्तमान (सुरामम्) अति रमणीय, अति मनोहर राजा को (विपिपाना) विविध उपायों से रक्षा करते हुए या (सुरामम् सोमम् विपिपानौ) उत्तम रमणीय 'सोम', राज्य समृद्धिका भोग करते हुए (शुभस्पती) शुभ गुणों के पालक होकर (युवम्) तुम दोनों (कर्मसु) सब कार्यों में (इन्द्रम्) ऐश्वर्य्यवान् राजा की (आवतम्) रक्षा करते रहो ॥ शत० ५ । ५ । ४ । २५ ॥

भोगविलासमय आसुरकर्म 'नमुचि' है । उसको 'अपां फेन' अर्थात् आप्त पुरुषों के शुद्ध स्वच्छ ज्ञानोपदेश से नाश करें । ऐश्वर्य्य जिसको भोग-विलास ग्रसे हुए था उसको भोगविलास से बचाकर रजो-विमिश्रित ऐश्वर्य्य

का नरनारी आनन्दप्रद भोग करें । तो भी वे इन्द्र अर्थात् अपने राष्ट्र और राष्ट्रपति की सदा रक्षा करें ।

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दुंᳬसनाभिः । यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ३४

ऋ० १० । १३१ । ५ ॥

अश्विनौ देवते । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(पितरौ पुत्रम् इव) जिस प्रकार माता और पिता पुत्र की रक्षा करते हैं उसी प्रकार (अश्विनौ) राष्ट्र में व्यापक शक्तिवाले सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष या रक्षक दो घुड़सवार अथवा राष्ट्र के नर और नारीगण (काव्यैः) विद्वान् पुरुषों द्वारा रचे गये (दंसनाभिः) उपायों और प्रयोगों द्वारा हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! तेरी (अवथुः) रक्षा करें । और (यत्) जब तू अपनी (शचीभिः) शक्तियों के बल से (सु-रामम्) अति सुन्दर,रमणीय,सुख से रमण करने योग्य 'सोम' राज्यपद का (वि अपिबः) भोग कर रहा हो तब हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्, राजन् ! (सरस्वती) विद्या या ज्ञानमयी वाणी के समान सुखप्रदा पत्नी भी (त्वा) तुझे (अभिष्णक्) प्राप्त हो, तुझे सुख प्रदान करे ॥ शत० ५।५।४५६ ॥

अर्थात् सभाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष राजा को अपने पुत्र के समान नाना उपायों से रक्षा करे और राजा की शक्तियों द्वारा सुरक्षित राष्ट्र रहने पर राजा विदुषी पत्नी से गृहस्थ का सुख ले । इतिराजसूयः ॥

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

[तत्र चतुस्त्रिंशदृचः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये नवमोऽध्यायः ॥

३३-३४—युवमनुष्टुप् । ँ पुत्रमिव त्रिष्टुप् आश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्ये । सर्वा० ॥ इति राजसूयः ॥

एकादशोऽध्यायः

११—१८ अध्यायानां प्रजापतिः साध्या वा ऋषयः ॥

॥ ओ३म् ॥ युञ्जानः प्र॑थ॒मं मन॑स्त॒त्त्वाय॑ सवि॒ता धिय॑ः। अ॒ग्नेर्ज्योति॑र्नि॒चाय्य॑ पृथि॒व्या अध्याभ॑रत् ॥ १ ॥

सविता ऋषिः। सविता देवता। विराड् आर्ष्यनुष्टुप्। गांधारः ॥

भा०—(सविता) सर्व-उत्पादक, प्रजापति परमेश्वर (प्रथमम्) सब से प्रथम अपने (मनः) ज्ञान और (धियः) समस्त कर्मों या धारण सामर्थ्यों को (तत्वाय *) विस्तृत करके (अग्नेः) अग्नि तत्त्व से या सूर्य से (ज्योतिः) ज्योति, दीप्ति, परम प्रकाश को (निचाय्य) उत्पन्न करके (पृथिव्या अधि) पृथिवी पर (आभरत्) फैलाता है।

योगी के पक्ष में—(सविता) सूर्य जिस प्रकार अपने किरणों को फैलाकर अपने भीतरी (अग्नेः ज्योतिः निचाय्य) अग्नि तत्त्व की दीप्ति को एकत्र करके (पृथिव्याः अधि आभरत्) पृथिवी पर पहुंचाता है उसी प्रकार (युंजानः) योग समाधि का अभ्यासी आदित्य योगी पुरुष (प्रथमं) सबसे प्रथम (मनः) अपनी मनन वृत्ति और (धियः) ध्यान करने और धारण करने की वृत्तियों को (तत्वाय) विस्तार करके अथवा (तत्त्वाय

---

* अथाग्निं प्रजापतिरपश्यत्। स.ध्यावापश्यन्। सोऽग्निः पंचचितिकः। प्रथमा प्रजापतेः। द्वितीया देवानाम्। तृतीयेन्द्राग्न्योर्विश्वकर्मणः। चतुर्थ्यृषीणाम्। पञ्चमीपरमेष्ठिनः। अथ प्रतिकर्म दर्शिनः ॥

१—८ युञ्जानोऽष्टौ सावित्राणि सवितापश्यत् ॥

* 'तत्वाय' इति उव्वटमहीधरसम्मतः पाठः।

युञ्जानः) तत्त्व ज्ञान के लिये समहित या एकाग्र करता हुआ (अग्नेः) ज्ञानवान् परमेश्वर के (ज्योतिः) परम ज्योति का (निचाय्य) निश्चित ज्ञान करके (पृथिव्या अधि) इस पृथिवी पर, अन्य वासियों को भी (आभरत्) प्राप्त कराता है ॥ शत० ६ । ३ । १ । १२ ॥

अथवा—(सविता) सूर्य के समान तीव्र सात्त्विक ज्ञानी (प्रथमं) सबसे प्रथम सृष्टि के आदि से (तत्त्वाय मनः धियः युञ्जानः) परम तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करने के लिये अपने मन और बुद्धि वृत्तियों को योग समाधि द्वारा समाहित, स्थिर, एकाग्र करता हुआ (अग्नेः) परम परमेश्वर के (ज्योतिः) ज्ञानमय प्रकाश को (पृथिव्याः अधि) पृथिवी पर (आभरत्) प्राप्त करता है, प्रकट करता है । इस योजना से आदित्य के समान अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा चारों एक ही कोटी के तेजस्वी ज्ञानियों द्वारा वेद-ज्ञान का योग द्वारा साक्षात् करना और पुनः प्रकाशित करना जाना जाता है ।

राजा के पक्ष में—(सविता) विद्वान् राज्यकर्त्ता पुरुष अपने मन, ज्ञान और नाना कर्मों को (तत्त्वाय) विस्तृत करके प्रथम जब (युञ्जानः) कर्त्ताओं को नियुक्त करता है तब (अग्नेः) मुख्य अग्रणी, नेता पुरुष के ही (ज्योतिः) पराक्रम और तेज को (निचाय्य) स्थित करके, उसको प्रबल करके (पृथिव्या अधि आभरत्) पृथिवी पर अधिष्ठाता रूप से फैला देता है ।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते । शंकुमती गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(वयम्) हम सब लोग (युक्तेन मनसा) योग द्वारा समाहित, एकाग्र, स्थिर (मनसा) चित्त से (सवितुः) सर्वोत्पादक

२—एकस्मिन् पञ्चके पाद छन्दः शकुमती । अनन्त० ।

(देवस्य) परम देव, परमेश्वर के (सवे) उत्पादित जगत् में (शक्त्या) अपनी शक्ति से (स्वर्ग्याय) परम सुख लाभ के लिये (ज्योतिः आ भरेम) उस परम ज्ञान को प्राप्त करें ।

राजा के पक्ष में—एकाग्र, शुद्ध चित्त से हम प्रेरक राजा के राज्य में अपनी शक्ति से सुखमय राष्ट्र की उन्नति के लिये यत्न करें ॥ शत० ६ । ३ । १ । १४ ॥

युक्त्वाय॑ सवि॒ता दे॒वान्त्स्व॑र्य॒तो धि॒या दिव॑म् ।
बृ॒हज्ज्योति॑ः करिष्य॒तः स॑वि॒ता प्रसु॑वाति॒ तान् ॥३॥

अधिदेवते पूर्ववत् । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(सविता) जगत् के समस्त प्रकाशमान पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर (स्वः यतः) सुख और प्रकाश और ताप को प्राप्त करने या देनेवाले (देवान्) विद्वानों, एवं दिव्य गुणों, सूक्ष्म दिव्य तत्त्वों को (धिया) अपनी धारण शक्ति और क्रिया शक्ति से (दिवम्) तेज के साथ (युक्त्वाय) युक्त करके बाद (बृहत् ज्योतिः करिष्यतः) बड़े भारी प्रकाश या विज्ञान को पैदा करनेवाले (तान्) उनको (प्र सुवाति) उत्तम रीति से प्रेरित करता है । उसी प्रकार (सविता) वैज्ञानिक पदार्थों का उत्पादक विद्वान् पुरुष (दिवं स्वः यतः) प्रकाश और सुख या ताप उत्पन्न करनेवाले (देवान्) दिव्य सूक्ष्म उन तत्त्वों को जो (बृहत् ज्योतिः करिष्यतः) बड़े २ भारी प्रकाश या विज्ञानसिद्ध कार्य को करने में समर्थ हैं उनको (प्र सुवाति) उत्पन्न करे, प्रेरित करे, संयोजित करे ॥ शत० ६ । ३ । ११ । १५ ॥

योगी के पक्ष में—सविता, आदित्य-योगी (स्वः यतः देवान्) सुख या परमानन्द की तरफ़ जानेवाले इन्द्रियरूप प्राणों या साधनों को (दिवम्) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के साथ (युक्त्वाय) योग द्वारा समाहित करके (सविता) सूर्य के समान या प्रजापति के समान बृहत् (ज्योतिः

करिष्यतः तान् प्र सुवाति) कालान्तर में महान् ज्योति को साक्षात् कराने में समर्थ उनको प्रेरित करे।

परमेश्वर के पक्ष में—सविता परमेश्वर (स्वः यतः दिवम्) सुख और मोक्ष की तरफ जानेवाले (देवान्) विद्वानों को अपने (धिया) ज्ञान से युक्त करके (बृहत् ज्योतिः) महान् ब्रह्म तेज का सम्पादन करनेवाले उनको (प्र सुवाति) और भी उत्कृष्टरूप से प्रेरित करता है।

राजा के पक्ष में—प्रेरक,आज्ञापक सेनापति अपनी बुद्धि में सुख और तेज को प्राप्त (देवान्) विजयेच्छु पुरुषों और विद्वानों को स्थान २ पर नियुक्त करके (बृहत् ज्योतिः करिष्यतः तान्) बड़े भारी वीर्य, बल या राज्य के वैभव को बनाने या देनेवाले उनको (सविता) प्रेरक आज्ञापक राजा (प्र सुवाति) उत्तम रीति से चलता है। इति दिक्।

युञ्जते मन॑ उत युञ्जते धियो विप्रा विप्र॑स्य बृहतो वि॑पश्चितः। वि होत्रा॑ दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य॑ सवितुः परि॑ष्टुतिः

॥ ४ ॥ ऋ० ५ । ८१ । १ ॥

ऋषिदेवते पूर्ववत् । जगती । निषादः ॥

भा०—(विप्राः) ज्ञान को विशेष रीति से पूर्ण करने वाले (होत्राः) दूसरों को ज्ञान देने और अन्यों से ज्ञान ग्रहण करनेवाले मेधावी, विद्वान् पुरुष (बृहतः) बड़े भारी (विपश्चितः) ज्ञान के संग्रही, सकल विद्याओं के भण्डार के समान स्थित, परम गुरु (विप्रस्य) विशेष रूप से समस्त संसार को अपने ज्ञान से पूर्ण करने हारे परमेश्वर के प्राप्त करने के लिये (मनः) अपने मनको उसमें (युञ्जते) योगाभ्यास द्वारा एकाग्र कर उसका चिन्तन करते हैं (उत) और (धियः) अपनी धारण समर्थ वृत्तियों को भी (युञ्जते) उसी से जोड़ते हैं और उससे ज्ञान प्राप्त करते हैं। वह (विप्रः) पूर्ण ज्ञानवान् परमेश्वर (एक इत्) एक ही ऐसा है जो (वयुना-वित्) समस्त प्रकार के विज्ञानों, कर्मों और लोकों को जानने हारा होकर

संसार को (विदधे) विविध रूप में बनाता और उसे विविध शक्तियों से धारण करता है। हे विद्वान् पुरुषो! (सवितुः) उस सर्वोत्पादक (देवस्य) ज्ञान-प्रकाशस्वरूप, समस्त अर्थों के द्रष्टा और प्रदाता परमेश्वर की (मही) बड़ी भारी (परि-स्तुतिः) सत्य वर्णन करने वाली वेदवाणी या बड़ी भारी स्तुति, या महिमा है॥ शत० ६।२।१।१६॥

इसी प्रकार जिस पूर्ण विद्वान् के पास अन्य ज्ञानपिपासु लोग मन और बुद्धियों को एकाग्र कर विद्याभ्यास करते हैं वह सविता आचार्य्य समस्त ज्ञानों को जानता है, उसकी बड़ी महिमा है।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्यऽपुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ ५॥ ऋ० १०।१३।१॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते। विराडार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो! और हे गुरुशिष्यो! हे राजा प्रजाजनो! (वाम्) आप दोनों के हित के लिये मैं विद्वान् पुरुष (नमोभिः) उत्तम आत्मा को विनय सिखानेवाले उपायों द्वारा, (पूर्व्यं) पूर्ण योगिजनों, ऋषियों से साक्षात् किये गये (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान को, वेद को, या परमेश्वर को (युजे) अपने चित्त में एकाग्र होकर साक्षात् करूं और आप लोगों को उसका उपदेश करूं। वह (श्लोकः) सत्यवाणी से युक्त, वेद ज्ञान अथवा सत्य ज्ञान से युक्त, विद्वान् अथवा (सूरेः श्लोकः) सूर्य के समान विद्वान् का वह 'श्लोक' अर्थात् ज्ञानोपदेश (वां) आप दोनोंके लिये (पथ्या इव) उत्तम मार्ग के समान (वि एतु) विविध उद्देश्यों तक पहुंचे। (ये) जो (दिव्यानि) दिव्य ज्ञानमय (धामानि) तेजों, प्रकाशों को या उच्च स्थानों, पदों को (आतस्थुः) प्राप्त हैं उन लोगों से हे (विश्वे पुत्राः) समस्त पुत्रजनो! आपलोग (अमृतस्य) उस अमृतस्वरूप परमेश्वरविषयक ज्ञान का (शृण्वन्तु) श्रवण करें॥ शत० ६।२।३।१७॥

यस्यं प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्यं महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना ॥ ६ ॥ ऋ० ५ । ८१ । ९३ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्त । निचृद् जगती । निषादः ॥

भा०—(यस्य देवस्य) जिस देव के (ओजसा) वीर्य से पराक्रमपूर्वक किये गये (प्रयाणम्) प्रकृष्ट या गमन के (अनु) पीछे पीछे (अन्ये देवाः) अन्य देव, विद्वान्‌गण (इत्) भी (ययुः) गमन करते हैं और जिसके (महिमानम् अनु ययुः) महान् सामर्थ्य का अन्य विद्वान् अनुगमन करते हैं और (यः) जो (पार्थिवानि) पृथिवी पर प्रसिद्ध (रजांसि) समस्त लोकों को (महित्वना) अपने महान् समर्थ्य से (विममे)विविध प्रकार से बनाता है। (सः) वह (एतशः) सर्व जगत् में व्यापक (देवः) प्रकाशस्वरूप देव ही (सविता) सविता, सबका उत्पादक है ॥ शत० ३ । २ । ३ । १८ ॥

राजा के पक्ष में—(यस्य देवस्य प्रयाणम् अनु) जिस देव, राजा के प्रयाण अर्थात् विजय यात्रा के पीछे (अन्ये देवाः ययुः) विजयेच्छुक अन्य राजा लोग गमन करते हैं, (ओजसा) बल पराक्रम से जिनके (महिमानम् अनुः ययुः) महान् सामर्थ्य का भी वे अनुकरण करते हैं, जो पृथिवी के समस्त जनों को अपने (महित्वना) बड़े भारी बल से (विममे) वश करता है, (सः एतशः) वह सूर्य के समान तेजस्वी (देवः) राजा (सविता इत्) 'सविता' कहा जाता है।

देवं सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥७॥
यजु० अ० ९ । १ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ९ । मं० १ ॥

हे (देव सवितः) सूर्य के समान सर्व कार्यों के प्रवर्त्तक तेजस्वी पुरुष ! विद्वान् ! तू (यज्ञं) सुखप्रद राष्ट्र-व्यवस्था को, (यज्ञ-पतिम्) राष्ट्र के पालक राजा को (भगाय प्रसुव २) ऐश्वर्य को प्राप्त करने के उत्कृष्ट मार्ग पर चला । (दिव्यः) विजय करने में समर्थ, उत्तम गुणवान् (गन्धर्वः) पृथ्वी या वाणी का पालक, सबको ज्ञान से पवित्र करने वाला (नः केतं पुनातु) हमारे ज्ञान को सदा पवित्र निर्मल बनाये । (वाचः पतिः) वाणी, वेद का रक्षक विद्वान् (नः) हमें (वाचं स्वदतु) वेदवाणी को आनन्दप्रद रीति से आस्वादन करावे ॥ शत० ६ । २ । ३ । १९ ।

इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यᳬं सखिविदᳬं सत्राजितं धनजितᳬं स्वर्जितम् । ऋचा स्तोमᳬं समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद्गायत्रवर्त्तनि स्वाहा ॥ ८ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते । शक्करी । धैवतः ॥

भा०—हे (देव सवितः) देव ! विद्वान् ! सवितः ! सर्वप्रेरक ! तू (इमम्) इस (नः यज्ञम्) हमारे यज्ञ को, राष्ट्र को, यज्ञ = प्रजापति राजा को भी (देवाव्यम्) विद्वानों का रक्षक, (सखि-विदम्) मित्रों का प्राप्त करनेवाला, (सत्राजितम्) सत्य की उन्नति करनेवाला या युद्ध-विजयी, (धन-जितं) धनैश्वर्य के विजय करनेवाला और (स्वर्जितम्) सुख के बढ़ानेवाला (प्रणय) बना, या उसको उत्तम मार्ग पर चला । (स्तोमं) स्तुति करने योग्य पुरुष या राष्ट्र को (ऋचा) ऋग्वेद के ज्ञान से (सम् अर्धय) समृद्ध कर । (गायत्रेण) ब्रह्म-यज्ञ से (रथन्तरं) रथों के बल पर तरण अर्थात् शत्रु संकट से पार करनेवाले क्षात्रबल को और (गायत्रवर्त्तनि) ब्राह्म-बलपर अपने मार्ग बनानेवाले (बृहत्) बड़े भारी राष्ट्र को (स्वाहा)उत्तम व्यवस्था और ज्ञानोपदेश से (समर्धय) समृद्ध कर ॥ शत० ६ ।२ । ३ । २० ॥

[१] अध्यात्म में—गायत्रः प्राणः । ता० १९ । १६ । ५ ॥ वाग् वै रथन्तरम् । ता० ७ । ६ । २९ ॥ अर्थात् प्राण के बल से वाणी को समृद्ध करो । मनो वै बृहत् । तां० ७ । ६ । १९ ॥ (गायत्रवर्त्तनि बृहत् स्वाहा समर्धय) प्राणमार्ग से चलनेवाले मन को उत्तम प्राणायाम विधि से समृद्ध, बलवान् करो ।

[२] भौतिक विज्ञान में—अग्निर्गायत्री गायत्रो वा अग्निः । कौ० १ । ७ ॥ इयं पृथिवी रथन्तरम् ॥ अग्नि, विद्युत् आदि के बल से पृथिवी को समृद्ध करो, अग्नि के द्वारा पृथिवी को, यन्त्र कला-कौशल आदि से सम्पन्न करो और (गायत्रर्तनि) अग्नि के द्वारा जलने वाले (बृहत्) बड़े बड़े कार्य सम्पन्न करो ।

[३] तेजो वै रथन्तरम् । तां० १५ । १० । ९ । रथन्तरं वै सम्राट् तै० । १ । ४ । १ । ९ ॥ गायत्रो वै ब्राह्मणः । ऐ० ९ । २८ ॥ गायत्री ब्रह्मवर्चसं । तै० २ । ७ । २ । ३ । वीर्यं वै गायत्री । तां० ७ । ३ । १३ ॥ बार्हतोऽसौ स्वर्गो लोकः । गो० ४ । १२ ॥ पशवो बृहती । कौ० १७ । २ ॥ अर्थात् ब्राह्मण-बल से सम्राट् को समृद्ध करो और उनके दिखाये मार्ग पर बड़ा भारी राष्ट्र समृद्ध हो । दूसरे, ब्रह्मचर्य से तेज बढ़ा कर और ब्रह्मचर्य के द्वारा ही पशुओं की वृद्धि करो । इत्यादि नाना पक्षों के अर्थ जानने चाहियें ॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । आद॑दे गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत्पृ॑थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वदाभ॑र॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत् ॥ ९ ॥

प्रजापतिः साध्या वा ऋषयः । सविता देवता । भुरिगति शक्करी । पञ्चमः ॥

भा०—हे वज्र ! हे वज्र धारक, राष्ट्र के बलधारिन् क्षत्रपते ! (त्वा)

९—आददे ऽभ्रिः । सर्वा० ।

तुझको (सवितुः) सूर्य के समान देव, राजा या परम विद्वान् के (प्रसवे) शासन में रह कर (अश्विनोः बाहुभ्याम्) प्राण और उदान, स्त्री पुरुषों, राजा प्रजा के बाहुओं या बाधक बलों से और (पूष्णः) पोषणकारी राजा के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (आददे) ग्रहण करता हूँ। (गायत्रेण छन्दसा) गायत्र च्छन्द से, (अंगिरस्वत्) अंगारों के समान जाज्वल्यमान (पुरीष्यम् अग्निम्) पुरीष्य अग्नि को (पृथिव्याः) पृथिवी के आश्रयपर (आ भर) प्राप्त कर और इसी प्रकार (त्रैष्टुभेन छन्दसा)त्रैष्टुभ छन्द, अंगारे के तुल्य अग्नि को स्वयं (अंगिरस्वत्) अंगारों के समान विद्याप्रकाश से प्रकाशमान होकर (आभर) प्राप्त करा ॥ शत० ६ । १ । ३ । ३८—३९ ॥

(१) (गायत्रेण छन्दसा अंगिरस्वत् पुरीष्यमग्निम् आभर)-गायत्रोऽयं भूलोकः । को० ८ । ९ ॥ इमे वै लोकाः गायत्रम् । ताँ० ७ । ३ । ९ ॥ यदु गायन्तं त्रायति तद् गायत्रस्य गायत्रत्वम् । जै० उ० ३ । ३८ । ४ ॥ अंगिरा हि अग्निः । श० १ । ४। १ । (पुरीष्यम्) इति वै तमाहुर्यः श्रियं गच्छति । श० २ । १ । १ । ७ ॥ पुरीषं वा इयं पृथिवी । श० १२ । ५ । २ । ५ । ॥ यत् पुरीषं स इन्द्रः । ५ । १० । ४ । १ । ७ ॥ देवाः पुरीषम् । श० ८ । ७ । ४ । १७ । प्रजाः पुरीषम् श० ९ । ७ । १६ । पशवः पुरीषम् । अर्थात् (गायत्रेण छन्दसा) पृथिवीलोक अर्थात् उसके निवासियों को अपने अभिलाषा के द्वारा अथवा विद्वान् पुरुषों की अनुमति से (पुरीष्यम्) इन्द्र पद के योग्य, ऐश्वर्यवान्, प्रजा, पशु और विद्वानों के हितकारी, (अङ्गिरस्वत्) अग्नि और अंगारों के समान तेजस्वी पुरुष को (आ हर) राजारूप से प्राप्त करा। कहां से प्राप्त करें ? (पृथिव्याः सधस्थात्) पृथिवी पर एकत्र निवास करनेवाले जन समुदायों में से ही । वह पुरुष किस प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी रहे ? (त्रैष्टुभेन छन्दसा अंगिरस्वत्) वज्रः त्रिष्टुप् । कौ० ३ । ११ । शत० ६ । ३ । २ । ३९ ॥ त्रिष्टुप् इन्द्रस्य वज्रः । ऐ० २ । २ ॥ बलं वै वीर्यं त्रिष्टुप् ।

कौ० ७ । २ ॥ त्रैष्टुभो वै राजन्यः । क्षत्र त्रिष्टुप् । कौ० ३ । ५ ॥ या या राका सा त्रिष्टुप् । ऐ० ३ । ४७ । ४८ ॥ हे राजा वज्र, आयुधबल और राजशक्ति या पूर्णिमा के समान सर्वप्रिय, सर्वाङ्गपूर्ण शासकशक्ति के (छन्दसा) स्वरूप से (अंगिरस्वत्) अग्नि सूर्य, और विद्युत् के समान तेजस्वी हो ।

अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निꣳ शकेम ।
खनितुꣳ सधस्थ आ। जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥१०॥

सविता देवता । भुरिगनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे वज्र ! तू (अभ्रिः असि) तू अभ्रि, पृथ्वी खोदने वाले यन्त्र के समान तीक्ष्ण स्वभाव, एवं शत्रु के बीच में विना किसी रोक के घुस जाने में समर्थ है । तुझे कोई भी रोकने में समर्थ नहीं है ! अतः (नारी असि) तू नारी, स्त्री के समान सर्वकार्यसाधिका, एवं सर्वथा शत्रु रहित या नेता पुरुषों द्वारा बनी हुई सेना वा सभा रूप है । (त्वया) तुझसे (वयम्) हम (सधस्थे) समान आश्रय-स्थान, इसी सभा भवन में, जिसमें हम और हमारे प्रतिद्वन्द्वी एवं आधीन लोग भी रहते हैं उस स्थान में (अग्निम्) सोने के समान दीप्तिमान् पदार्थों को जिस प्रकार रम्भी या कुदाली से (खनितुं शकेम) खोद या पा सकते हैं उसी प्रकार हम लोग (त्वया)तुझ अप्रतिहत वीर्यवाली सेना या सभा से (अग्निम्) अग्रणी पुरुष या अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को प्राप्त करें । वह अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष किस प्रकार का हो ? वह (जागतेन छन्दसा) जागत छन्द, अर्थात् वैश्यबल, धनबल अथवा ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य से (अंगिरस्वत्) अग्नि के समान तेजस्वी, ऐश्वर्यवान् हो ॥ शत० ६ । ३ । १ । ४१॥

(१) 'जागतेन छन्दसा'—जगती गततमं छन्दः । जज्जगतिर्भवति ।

१०—अभ्रिः । सर्वा० ।

क्षिप्रगतिः जज्मला कुर्वन् आसृजते इति ब्राह्मणम् । दे० य० ३ । १७ ॥ जगती हि इयं पृथिवी । श० २ । २ । १ । १० ॥ जगत्य ओषधयः । श० १ । २ । २ । २ ॥ पशवो वै जगती । गो० पु० ५ । ५ । ॥ जागतोऽश्वः प्राजापत्य । तै० ३ । ८ । ८ । ४ ॥ जागतो वै वैश्यः । ऐ० १ । २८ ॥ द्वादशाक्षरपदा जगती । तां० ६ । ३ । १३ ॥ अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती । जगत्यादित्यानां पत्नी । गो० उ० २ । ० ॥ जागतो वा एष य एष सूर्यः तपति । बलं वै वीर्यं जगती । कौ० ११ । २ ॥ जागतं श्रोत्रम् । तां० २० । १६ । ५ ॥ जागता वै ग्रावाणः । कौ० २९ । १ ॥ अर्थात् (१) युद्ध से तीव्रगति से राजा तेजस्वी बने । (२ (इस पृथिवी के राज्य से बलवान् हो । (३) पशु, ओषधि और अश्वादि सेना द्वारा प्रजा का पालक होकर तेजस्वी हो । (४) वैश्यों की समृद्धि, व्यापार, १२ पदाधिकारियों की संगठित सभा, सूर्य के समान प्रखरता, ब्रह्मचर्य बल, वीर्य द्वारा तेजस्वी हो और श्रोत्र द्वारा ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानवान् हो ।

अध्यात्ममें – वाणी अग्नि है । वेदवाणी के अभ्यास से हम विद्वानों को प्राप्त करें । और वह (जागतेन छन्दसा) ४८ वर्ष के आदित्य ब्रह्मचर्य से तेजस्वी हो ।

हस्त॑ आ॒धाय॑ सवि॒ता बिभ्र॒दभ्रिꣳ॑ हिर॒ण्ययी॑म् । अ॒ग्नेर्ज्योति॑र्नि॒चाय्य॑ पृथि॒व्या अध्याभ॑र॒दानु॑ष्टुभेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत् ॥११॥

प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । भुरिग् आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(सविता) शिल्पी जिस प्रकार (हिरण्ययीम्) लोहे की चमकती हुई (अभ्रिम्) कुदाली को (हस्ते आधाय) हाथ में लेकर (पृथिव्याः) पृथिवी के गर्भ से (अग्नेः ज्योतिः) अग्नि के मूलभूत ज्योतिर्मय सुवर्ण आदि पदार्थ को (अधि आभरत्) खन कर प्राप्त करता है उसी प्रकार पूर्वोक्त सर्वप्रेरक सविता, विद्वान् (हिरण्ययीम्) सुवर्णमण्डित या धातु के बने वज्र बल, तेज से बने या सेनाबल को अपने हाथ में रखकर

(पृथिव्याः अधि) पृथिवी के निवासियों में से ही (अग्नेः) अग्नि के समान तेजस्वीपुरुष के (ज्योतिः) वीर्य, अर्थात् बलानुसार अधिकार सामर्थ्य की (निचाय्य) उत्पन्न कर (अधि आभरत्) प्राप्त करता है। वह अग्रणी पुरुष किस प्रकार तेजस्वी हो ? वह (अनुष्टुभेन छन्दसा) आनुष्टुभ छन्द से (अङ्गिरस्वत्) अग्नि के अङ्गारों के समान तेजस्वी हो॥ शत० ६। २। १॥

'आनुष्टुभेन छन्दसा'—अनुष्टुप् अनुस्तोभनात्। दे० ३ । ७॥ ष्टुभ स्तम्भे। भ्वादिः। यस्याष्टौ ता अनुष्टुभम्। कौ० ९। २॥ द्वात्रिंशादक्षरानुष्टुप्। कौ० १३। १॥ अनुष्टुम्मित्रस्य पत्नी। गो० ३० २। ९॥ वाग् अनुष्टुप्। कौ० ५। ३॥ ज्यैष्ठ्यं वा अनुष्टुप्। यां० ८। ७। ३॥ प्रजापतिर्वा अनुष्टुप्। ता० ४। ८। ९॥ आनुष्टुभः प्रजापतिः। तै० २। ३। २। १॥ यस्य ते (प्रजापतेः) अनुष्टुप् छन्दोऽस्मि। ऐ० ३। १२॥ अनुष्टुप् सोमस्य छन्दः कौ० १५। १२॥ विश्वेदेवाः आनुष्टुभं समभरन्। जै० उ० १। १८। ७॥ आनुष्टुभो राजन्यः। तै० १। १। ८। २॥ सत्यानृते वा अनुष्टुप्। तै० १। २०। १०। ४॥ आनुष्टुभी रात्रिः। ऐ० ४। ६॥ उदीची दिक्। श० ८। ३। १। १२॥ वृष्टिः। तां० १२। ८। ८॥ अर्थात् शत्रुके स्तम्भन करने वाले बलसे, अष्टप्रधाना आमात्य-परिषद् से, मित्र अर्थात् मरण से त्राणकारी बल से, राजा की पालनी शक्ति, से सब से बड़े पद से, प्रजापति के पद से, सबके सन्तोषकारक, सत्य और अनृत के विवेक-बल से राजा तेजस्वी हो। विद्वान् पुरुष वाणी के अभ्यास से और ३२ वर्ष के ब्रह्मचर्य से तेजस्वी बने।

प्रतूर्त्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम्। दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्॥ १२॥

नाभानेदिष्ठ ऋषिः। वाजी देवता। आस्तारपङ्क्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे (वाजिन्) ज्ञान और बल से युक्त ! विद्वान् राजन् ! वीर ! ते (प्र-तूर्तं) अश्व जिस प्रकार अच्छी भूमि में बड़े वेग से जाता है

इसी प्रकार (वरिष्ठाम्) सबसे श्रेष्ठ (संवतम्) सेवन करने योग्य पदवी को (प्रतूर्तम्) अति वेग से, (आ द्रव) प्राप्त कर । (ते) तेरी (दिवि) तेजस्विता में, ज्ञान-प्राप्ति में और विजय में या विद्वानों की बनी राजसभा में ही (परमम् जन्म) परम, सर्वोत्कृष्ट प्रादुर्भाव होता है । (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष या वायु जिस प्रकार सब संसार पर आच्छादित है उसी प्रकार प्रजा के ऊपर पक्षपात रहित होकर, सबको सुखादि देकर पालन करने के कार्य में (ते नाभिः) तेरा बन्धन अर्थात् नियुक्ति की जाती है । और (पृथिव्याम् अधि) पृथिवी पर (तव) तेरा (योनिः) आश्रयस्थान है । अर्थात् पृथिवी की प्रजाओं में ही राजा का परम आश्रय है । प्रजा के आश्रय पर राजा स्थित है । भौतिक विज्ञानपक्ष में—हे विद्वान् शिल्पिन् ! शिल्पविद्या में तुम्हारा उत्तम प्रादुर्भाव है । अन्तरिक्ष में तुम्हारी (नाभिः) स्थित है । पृथिवी पर आश्रय है । तू विमानों द्वारा शीघ्र गति से जाने में समर्थ हो ॥ शत० ६ । ३ । १ । २ ॥

युञ्जाथा॒ᳪं रास॑भं यु॒वम॒स्मिन् यामे॑ वृषण्वसू ।
अ॒ग्निं भर॑न्तमस्म॒युम् ॥ १३ ॥

कुश्रिर्ऋषिः । रासभो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (वृषण्वसू) समस्त सुखों के वर्षक और सबको बसाने वाले स्त्री पुरुषो या विद्वान् गण ! (युवम्)तुम दोनों (याने) गमन करने में समर्थ रथ में जिस प्रकार (रासभम्) शब्द और दीप्त से युक्त अग्नि का शिल्पी लोग प्रयोग करते हैं उसी प्रकार, हे (वृषण्वसू) प्रजा पर सुख वर्षण करनेहारे वीर पुरुष ! और हे वसो ! वासशील प्रजाजन (युवं) आप लोग (अस्मिन् यामे) इस राज्य की नियम-व्यवस्था में (अस्मयुम्) हमें मुख्य उद्देश्य तक पहुंचाने में समर्थ या हमें चाहने वाले, हमारे प्रिय, हितैषी, (भरन्तम्) राष्ट्र के भरणपोषणकारी या कार्य्य-संचालन करनेहारे (रासभम्) विज्ञानोपदेश से प्रकाशमान, (अग्निं)

ज्ञानवान् पुरुष को (युञ्जाथाम्) उत्तम पदपर नियुक्त करो । अथवा (अग्निं भरन्तम् = हरन्तं) अग्नि के समान तेजस्वी विजिगीपु राजा को और सन्मार्ग पर लेजाने हारे विद्वान् पुरुष को नियुक्त करो ॥ शत० ६ । ३ । २ । ३ ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे सखाय इन्द्रमूतये ॥१४॥

शुनःशेप ऋषिः । इन्द्रः क्षत्रपतिर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रजनो ! (योगे-योगे) प्रत्येक नियुक्त होने के पद पर (तवस्तरम्) औरों से अधिक बलशाली (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष को (उतये) अपनी रक्षा के लिये (वाजे-वाजे) प्रत्येक संग्राम के अवसर पर (हवामहे) हम आदर से बुलावें । उसे अपना नेता बनावें ॥ शत० ३ । ३ । २ । ४ ॥

प्र तूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि ।
उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन्
पूष्णा सयुजा सह ॥ १५ ॥

अश्वरासभौ गणपतिर्वा देवता । आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! तू (तूर्वन्) अतिवेग से गमन करता हुआ (अशस्तीः) अशस्त, शासना को उल्लंघन करने वालों या उच्छृङ्खल दुष्ट पुरुषों को और शत्रु सेनाओं को या उनकी की हुई अपकीर्त्तियों को (अवक्रामन्) पददलित करता हुआ (प्र एहि) आगे बढ़ । और (मयोभूः) सबके सुख और कल्याण की भावना करता हुआ, (रुद्रस्य) शत्रुओं के रुलाने वाले सेना-समूह के (गाणपत्यं) गण के पति पद अर्थात् सेनापतित्व को (एहि) प्राप्त कर । और तू (स्वस्ति गव्यूतिः) सुखपूर्वक निष्कण्टक मार्गवाला होकर और (सयुजा) अपने साथ रहने वाले (पूष्णा) पुष्टिप्रद पृथिवी वासी राष्ट्र जन और पुष्ट

१५—विराड् रूपा यजुर्गर्भा । सर्वा० ॥

सेनाबल के (सह) साथ सब स्थानों को (अभयानि) भय रहित (कृण्वन्) करता हुआ (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष मार्ग को अथवा विशाल अन्तरिक्ष के समान सर्वाच्छादक सर्वोपरि विद्यमान राजपद को (विइहि) विशेष रूप से प्राप्त कर ॥ शत० ६ । ३ । २ । ७-८ ॥

पृथिव्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गि॒र॒स्वदाभ॑रा॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गि॒र॒स्वद॒च्छे॑मो॒ऽग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गि॒र॒स्वद्भ॑रिष्यामः ॥ १६ ॥

अग्निर्देवता । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष ! तू (पृथिव्याः) पृथिवी को (सधस्थात्) उस एक स्थान से ही जहां प्रजा बसी है (पुरीष्यम्) समस्त प्रजाओं को पालन करने में समर्थ, (अङ्गिरस्वत्) अग्नि या सूर्य के समान तेजस्वी (अग्निम्) अग्रणी नेता पुरुष को (आ भर) प्राप्त कर । हम लोग भी (पुरीष्यम्) पालन करने में समर्थ, समृद्ध (अङ्गिरस्वत्) सूर्य या विद्युत् के समान तेजस्वी, (अग्निम्) अग्नि के समान शत्रुसंतापक नेता को (अच्छ इमः) प्राप्त हों । (पुरीष्यम् अङ्गिरस्वद् भरिष्यामः) उक्त प्रकार के समृद्ध तेजस्वी नेता को हम भी धारण करेंगे और हम उसको प्राप्त करेंगे, उसका पालन पोषण करेंगे । शत० ६ । ३ । २ । ८-१ । ३ । । ३ ४ ॥

पृथिवी के जिस स्थान की प्रजा हो (सधस्थ) उसी स्थान का उनका शासक नेता होना चाहिये । वे उसको स्वयं चुनें, और उसको स्थापित करें ।

अन्व॒ग्निरु॒षसा॒मग्र॑मख्य॒दन्वहा॑नि प्रथ॒मो जा॒तवे॑दाः ।
अनु॒ सूर्य॑स्य पुरु॒त्रा च॑ र॒श्मीननु॒ द्यावा॑पृथि॒वी आत॑तन्थ ॥१७॥

पुरोधस ऋषयः । अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अग्निः) महान् अग्नि (प्रथमः) सबसे प्रथम (जातवेदाः) विद्यमान, ज्ञानवान् परमेश्वर ही (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) अग्र,

मुख्य भाग सूर्य को भी (अख्यत्) प्रकाशित करता है । (अनु) उसके पश्चात् स्वयं सूर्य तदनुसार अन्य उत्कृष्ट विद्वान् पुरुष भी व्यवहारों को प्रकाशित करें । (अनु अहानि अख्यत्) वही परमेश्वर दिनों को प्रकाशित करता है । (सूर्यस्य) वही सूर्य की (पुरुत्रा) बहुतसी (रश्मीन्) रश्मियों, किरणों को भी प्रकाशित करता है (अनु) वही (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी को भी (आततन्थ) सर्वत्र विस्तृत करता है । उसी प्रकार राष्ट्र में (प्रथमः जातवेदाः) सब से श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष भी (उषसाम् अग्रम्) उदय कालों को प्रकाशित कर (अहानि) प्राप्त दिनों को प्रकाशित करे । (सूर्यस्य पुरुत्रा रश्मीन्) सूर्य के समान तेजस्वी राजा के नाना प्रबन्ध-व्यवस्थाओं और कार्यों को प्रकाशित करे । वह (द्यावा पृथिवी) राजा प्रजा दोनों की वृद्धि करे ॥ शत० ६ । ३ । ३ । ६ ॥

आगत्यं वाज्यध्वानॅ᳖ सर्वा मृधो विधूनुते ।
अग्निᳬसधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते ॥ १८ ॥

मयोभुव ऋषयः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—जिस प्रकार (वाजी) वेगवान् अश्व (अध्वानम्) मार्ग पर आकर अपनी सब थकावटों को झाड़ फेंकता है उसी प्रकार (वाजी) बलवान् राजा (अध्वानम् आगत्य) राष्ट्र को प्राप्त करके (सर्वाः मृधः) समस्त संग्रामकारी शत्रुओं को (वि धूनुते) कंपा देने में समर्थ होता है । और (महति) बड़े महत्व युक्त प्रतिष्ठा के (सधस्थे) अपने योग्य स्थान पर ही (अग्निम्) ज्ञनवान् तेजस्वी पुरुष को (चक्षुषा) अपनी आंखों से (निचिकीषते) देख लेता है । या (चक्षुषा) दर्शन सामर्थ्य से युक्त (अग्निम्) विद्वान् को उस पद पर (निचिकीषते) युक्त कराता है । शत० ६ । ३ । ३ । ८ ॥

राजा बलपूर्वक शत्रुओं का दमन करके प्रजा के शासन कार्य पर विद्वान् को अपना स्थानापन्न नियुक्त करे ।

आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम् ।
भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम् ॥ १९ ॥

अग्निर्वाजी देवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (वाजिन्) वेगवान् अश्व के समान बलवान्, एवं संग्राम में शूर पुरुष ! (त्वम्) तू (पृथिवीम् आक्रम्य) पृथिवी पर आक्रमण करके (रुचा) दीप्ति या कान्ति या अपनी रुचि, प्रीती के अनुसार (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष या उस पद को (इच्छ) चाह । (भूम्या) भूमि पर (वृत्वाय) पूर्ण अधिकार करके तू (नः) हमें (ब्रूहि) स्वयं बतला (यतः) जहाँ से हम (तं) उस ज्ञानवान् तेजस्वी पुरुष को (खनेम) प्राप्त करें या जहां उसको स्थापित करें ॥ शत० ६ । ३ । ३ । ११ ॥

द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षꣳ समुद्रो योनिः ।
विख्याय चक्षुषा त्वमभि तिष्ठ पृतन्यतः ॥ २० ॥

क्षत्रपतिर्देवता । निचृदार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! प्रजापते ! (ते) तेरा (पृष्ठम्) पालन सामर्थ्य प्रजा को अपने ऊपर उठाने का बल (द्यौः) आकाश के समान महान् एवं सबको जल वर्षा कर अन्न-सुख देने हारा है । (सधस्थम्) रहने का स्थान, आश्रय (पृथिवी) पृथिवी या पृथिवी के समान विस्तृत और ध्रुव है । (आत्मा) अपना स्वरूप (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष या वायु के समान सब का आच्छादक, शरणदायक है (योनिः) तेरा आश्रय तुझे राजा बनानेवाले, तेरा राज्य स्थापन करने वाले अमात्य आदि या, अन्य कारण (समुद्रः) समुद्र के समान गम्भीर और अमर्यादित, अगाध है ।

१९—०'भूमे वृत्वाय०' इति काण्व० ।

२०—अश्वदेवत्या । अनन्त० ।

(चक्षुषा) अपने चक्षु, दर्शन शक्ति से (विख्याय) विशेषरूप से आलोचना करके (त्वम्) तू (पृतन्यतः) अपनी सेना से आक्रमण करने वाले शत्रुओं पर (अभि तिष्ठ) आक्रमण कर ॥ शत० ६ । ३ । ३ १२ ॥

उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन्। वयꣳ स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्याः ॥२१॥

द्रविणोदा वाजी देवता । आर्षी पङ्क्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (वाजिन्) ऐश्वर्य और बल से सम्पन्न राजन् ! तू (द्रविणोदाः) प्रजा और नियुक्त पुरुषों को यथोचित धन प्रदान करने में समर्थ होकर (महते) बड़े भारी (सौभगाय) यज्ञ में शोभनेयोग्य ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये (अस्मात् आस्थानात्) इस निवास स्थान से (उत्क्राम) ऊपर उठ । (वयम्) हम लोग (अस्याः पृथिव्याः) इसी पृथिवी के (उपस्थे) पीठ पर (अग्निम्) अग्नि के समान ज्ञानवान्, अग्रणी, तेजस्वी पुरुष को श्रम से (खनन्तः) प्राप्त करते हुए वा स्थापित करते हुए उसके (सु-मतौ) उत्तम ज्ञान और मन्त्रणा के अधीन (स्याम) रहें ॥ शत० ६। ३ । ३ । १२ ॥

उदक्रमीद् द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकꣳ सुकृतं पृथिव्याम्। ततः खनेम सुप्रतीकमग्निꣳ स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् ॥२२॥

द्रविणोदा वाजी देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अर्वा) अश्व के समान बलवान् एवं (वाजी) ज्ञानवान्, (द्रविणोदाः) प्रकाशप्रद सूर्य के समान विद्वान् राजा (उत् अक्रमीत्) उदय को प्राप्त होता है और (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (लोकम्) समस्त लोक, जन-समुदाय को (सुकृतम्) पुण्य आचारवान् श्रेष्ठ (सु अकः) बना देता है । हम लोग (उत्तमम्) उत्तम, सर्वोत्कृष्ट (नाकम्) सुखमय लोक को (अधिरुहाणाः) प्राप्त कर (ततः) वहां से (सुप्रतीकम्) उत्तम, कान्तिमान् सुन्दर (अग्निम्) स्वर्ण के समान

कान्तिमान्, विद्वान् पुरुष को (खनेम) प्राप्त करें । उत्तम राजा राज्य को उत्तम बनावे, प्रजा के उस उत्तम राज्य में से ही विद्वान् नर-रत्न उत्पन्न हों ॥ ६ । ३ । ३ । १४ ॥

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा । पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम् ॥ २३ ॥

गृत्समद ऋषिः । अग्निः प्रजापतिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(घृतेन) घी से जिस प्रकार अग्नि को आहुति द्वारा सेचन किया जाता है उसी प्रकार (विश्वा भुवनानि) समस्त पदार्थों के भीतर (प्रति-क्षियन्तम्) निवास करनेवाले, व्यापक (त्वा) तुझ शक्ति को (मनसा) मन से, ज्ञान द्वारा (आ जिघर्मि) प्रज्वलित करता हूं। (तिरश्चा) तिरछे गति करनेवाले, (वयसा) जीवन सामर्थ्य से (पृथुम्) अति विस्तृत, (बृहन्तम्) महान्, (व्यचिष्ठम्) सबसे अधिक व्यापक, अति सूक्ष्म । (रभसम्) बलस्वरूप, (दृशानम्) दर्शनीय उस आत्मा को (अन्नैः) अन्न और उसके समान भोगयोग्य सुखों द्वारा (आ जिघर्मि) प्रदीप्त करता हूं । इसी प्रकार राजा और विद्वान् के पक्ष में—समस्त पदों पर अपने बल से रहनेवाले विद्वान् राजा को दूरगामी बल से विशाल, बड़े, व्यापक सामर्थ्यवान्, दर्शनीय, बलवान् पुरुष को हम (अन्नैः) अन्नादि भोग्य पदार्थों से उसी प्रकार जैसे घृत से अग्नि को प्रदीप्त करते हैं, सत्कार करें ॥ शत० ६ । ३ । ३ । १९ ॥

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत । मर्यश्री स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः ॥ २४ ॥

गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—जिस प्रकार अग्नि में घृत का आसेचन करके उसको प्रज्वलित और अधिक दीप्तिमान् किया जाता है उसी प्रकार हे राजन् ! मैं (विश्वतः) सब ओर से (प्रत्यञ्चं) शत्रु के प्रति आक्रमण करनेवाले तुझको

(आजिघर्मि) सब प्रकार से उत्तेजित, प्रदीप्त करूं । वह राजा (तत्) इस प्रेम से दिये उत्तेजना-सामग्री को (अरक्षसा) निर्विघ्न, राक्षस या क्रूर स्वभाववाले दुष्ट पुरुष से विपरीत, सज्जनस्वभावयुक्त, (मनसा) चित्त से (जुषेत) स्वीकार करे । वह (अग्निः) अग्रणी, राजा (मर्य-श्रीः) मनुष्यों द्वारा आश्रय करने योग्य या मनुष्यों के बीच विशेष शोभावान्, उनका शिरोमणिस्वरूप और (स्पृहयद्-वर्णः) प्रेमयुक्त पुरुषों द्वारा अपना नेता चुना गया, या कान्तिमान् अग्नि के समान तेजस्वी (तन्वा) अपने विस्तृत शक्ति या अपने स्वरूप से (जर्भुराणः) अंगों को ऊपर नीचे नमाता हुआ, लचकती ज्वलाओं से (अग्निः) अग्नि जिस प्रकार अति तीक्ष्ण होकर (अभिमृशे न) स्पर्श करने के योग्य नहीं होता, उसको कोई छू नहीं सकता उसी प्रकार वह भी युद्ध में जब अति तीक्ष्ण होकर अपने गात्र नमाता या पैतरे चलता है तब (अग्निः) आग के समान तेजस्वी होकर (अभिमृशे न) वह किसी भी द्वारा अभिमर्शन, या तिरस्कार करने योग्य नहीं रहता, उसका कोई अपमान नहीं कर सकता ॥ शत० ३ । ३ । ३ । १५ ॥

परि॒ वाज॑पतिः क॒विर॒ग्निर्ह॒व्यान्य॑क्रमीत् ।
दध॒द्रत्ना॑नि दा॒शुषे॑ ॥ २५ ॥

सोमक ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०— (वाजपतिः) संग्राम का पालक, सेनापति (कविः) दूर देश तक दर्शन करने में समर्थ, क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, एवं अग्रणी होकर (हव्यानि) प्राप्त करने योग्य, विजय करने योग्य स्थानों पर (परि अक्रमीत्) सब ओर से आक्रमण करे और (दाशुषे) करादि दान देनेवाले या दान देने योग्य प्रजाजनों को (रत्नानि) नाना रमणीय, रत्न, सुवर्ण आदि पदार्थ (दधत्) प्रदान करे ।

गृहपति के पक्ष में—(वाज-पतिः) अन्नादि का पालक विद्वान् अग्नि

के समान तेजस्वी होकर (हव्यानि) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को प्राप्त करे । (दाशुषे) दान योग्य ब्राह्मण, अतिथि आदि को (रत्नानि दधत्) सुवर्ण रत्नादि प्रदान करे ।

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रꣳ सहस्य धीमहि।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावताम् ॥ २६ ॥

ऋ० १० । ८७ । २२ ॥

पायुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी, अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! हे (सहस्य) अपने बल को चाहने वाले ! (वयम्) हम प्रजा के लोग (विप्रम्) विविध प्रकारों से राष्ट्र को पूर्ण करने वाले और (पुरम्) नगर के कोट के समान पालन करने में समर्थ (दिवेदिवे) प्रतिदिन, नित्य (भङ्गुरावताम्) विनाश करने योग्य, दुष्ट स्वभावों वाले पुरुषों के (हन्तारम्) नाश करनेवाले और (धृषद्-वर्णम्) प्रगल्भ, तीक्ष्ण, असह्य वर्ण अर्थात् स्वभाव वाले, तेजस्वी (त्वा) तुझको अपने (परि धीमहि) चारों तरफ़ रक्षा करने के लिये नियुक्त करते हैं । वीर पुरुष को रक्षा के लिये चारों तरफ़ नियुक्त करना चाहिये ।

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि ।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥ २७ ॥

ऋ० २ । १ । १ ॥

गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी ! तेजस्विन् ! (नृपते) मनुष्यों

२६—०'दिवे भत्तारं भङ्गु०' इति का०व०।

२७—त्रिष्टुप् इति सर्वा० । पंक्तिः । विराट्स्थाना त्रिष्टुप् वा । जगती । ऋक् सर्वा० ।

के पालक राजन् ! (त्वं द्युभिः जायसे) जिस प्रकार प्रकाशमान किरणों से सूर्य प्रकाशित होता है और प्रकाशमान तेजों से अग्नि दीप्त होता है, उसी प्रकार न्याय, विनय, प्रताप आदि तेजस्वी गुणों से तू भी प्रकाशमान होता है। (त्वम् आशुशुक्षणिः) अग्नि या सूर्य जिस प्रकार शीघ्र ही अन्धकार का नाश करता है उसी प्रकार तू भी दुष्टों का शीघ्र नाश करता है। (अश्मनः परि) जिस प्रकार विद्युत् मेघ से उत्पन्न होता और प्रकाशित होता है उसी प्रकार (त्वम्) तू (अश्मनः) व्यापक सामर्थ्य या वज्ररूप शस्त्र-बल के ऊपर (परि जायसे) वृद्धि को प्राप्त होता है। (वनेभ्यः) किरणों से जिस प्रकार सूर्य प्रकाशित होता है और वनों से जिस प्रकार सर्वदाहक दावानल पैदा होता है उसी प्रकार (त्वं) तू भी (वनेभ्यः) सेवन करने योग्य प्रजाजनों के बीच में से उत्पन्न होता है। (त्वम् ओषधीभ्यः) ओषधियों के बीच में से, काष्ठ आदि में से जिस प्रकार अग्नि प्रकट होती है अथवा जिस प्रकार ओषधि-रसों से, तेजस्वरूप दाहक रस उत्पन्न होता है, अथवा दाह या ताप धारण करनेवाले रश्मियों से जैसे सूर्य प्रकट होता है उसी प्रकार तू (ओषधीभ्यः) दाह, प्रताप, पराक्रम को धारण करनेवाले वीरों के बीच में से प्रकट होता है। (त्वं नृणाम् शुचिः) तू समस्त मनुष्यों को शुद्ध, उज्वल करनेवाला और उन सब में स्वयं (शुचिः) शुद्ध, तेजस्वी, एवं निश्छल, निष्कपट, शुद्ध व्यवहारवान्, सत्यवादी, निष्पाप होकर (जायसे) प्रकट होता है।

'शुचिः' शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । अयमपि इतरः शुचिरेतस्मादेव निषिक्तमस्मात् पापकम् इति नैरुक्ताः । निरु० ६ । १ ॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । पृ॒थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वत् खना॑मि । ज्योति॑ष्मन्तं त्वाग्ने सु॒प्रती॑क॒मज॑स्रेण भा॒नुना॒ दीद्य॑तम् । शि॒वं प्र॒जाभ्यो॒ऽहिं॑सन्तं पृथि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गि॑र॒स्वत् खना॑मः २८॥

अग्निर्देवता । भुरिक् प्रकृतिः । धैवतः ॥

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् ! (सवितुः देवस्य प्रसवे) सर्वप्रेरक देव, राजा और परमेश्वर के शासन में रहकर (अश्विनोः बाहुभ्याम्) इस संसार में द्यौ, और पृथिवी के धारण और आकर्षण के समान राजा और प्रजा, स्त्री और पुरुष दोनों के (बाहुभ्याम्) बाहुओं से और (पूष्णः) पुष्टिकारक, प्राण के बल और पराक्रम के समान पोषक राजा के बल पराक्रम स्वरूप (हस्ताभ्याम्) हनन करने के अस्त्र और शान्तरूप साधनों से (अंगिरस्वत्) शरीर में विद्यमान प्राणवायु, अन्तरिक्ष में व्यापक वायु या आदित्य के समान बलवान् तेजस्वी, (पुरीष्यम्) राष्ट्र के पूर्ण करने वाले साधनों से सम्पन्न, (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को (पृथिव्याः सधस्थात्) पृथिवी अर्थात्, पृथिवी निवासी प्रजाजन के एकत्र होने के सभाभवनरूप स्थान से (खनामि) पृथिवी से खोदकर जिस प्रकार अंग में रसस्वरूप, पुष्टिकारक, पशव्य अग्नि अर्थात् पशूपयोगी घास आदि पदार्थ को या अङ्गिरस्वत्, तेजोमय शोभा जनक सुवर्ण आदि धातु को खना जाता है उसी प्रकार राजा को मैं मुख्य पुरोहित, प्रजा की परिषद् में छुपे हुए गुप्त, वीर्यवान्, उत्तम पुरुष को ऊपर उठाता हूं, उसे मानो नरसभा में से खोदता हूं, उच्च पद प्रदान करता हूं । हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्वी पुरुष ! (सु-प्रतीकम्) सुन्दर शोभावान् (अजस्रेण भानुना) निरन्तर कान्ति, दीप्ति से (दीद्यतम्) चमकनेवाले, (ज्योतिष्मन्तम्) ज्योतिष्मान्, सूर्य के समान देदीप्यमान, कान्तिमान्, यशस्वी, तेजस्वी, ऐश्वर्यवान्, (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (शिवं) कल्याणकारी, (अहिंसन्तम्) प्रजा का नाश न करते हुए (त्वा) तुझको (पृथिव्याः सधस्थात्) इस पृथिवी से उपर के निवासियों के एकत्र होने के सभास्थान से (अंगिरस्वत् पुरीष्यम्-अग्निम्) अंगारों के समान जाज्वल्यमान, समृद्धि से सम्पन्न, अग्रणी नेता को (खनामः) रत्न सुवर्णादि के ही समान यत्नपूर्वक ऊपर खोदते, निकालते, अर्थात नीचेसे उच्च पद पर लाते हैं ॥ शत० ६ । ४ । १ । २ ॥

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् । वर्धमानो महाँ२ऽ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥ २९ ॥

अग्निर्देवता । स्वराट् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे राजन् ! (अपाम्) जिस प्रकार जलों का (पृष्ठम्) पृष्ठ या पृष्ठ पर स्थित पद्मपत्र आदि पदार्थ उसके ऊपर विद्यमान रहता है उसी प्रकार तू भी (अपां) प्रजाओं के भीतर (पृष्ठम्) उनका पृष्ठ स्वरूप, पोषकरूप, उनका धारक, उनके ऊपर आच्छादक, रक्षकरूप में रहकर उनसे ऊपर और उनसे अधिक वीर्यवान् होकर (असि) रहता है। हे विद्वान् ! तू (अग्नेः योनिः असि) जिस प्रकार वेदि अग्नि का आश्रय है उसी प्रकार तू (अग्नेः) अग्नि के समान तेजस्वी राजा के पद, प्रताप का (योनिः) आश्रय है । तू (अभितः) सब ओर (पिन्वमानम्) ऐश्वर्य द्वारा सुखों का वर्षण करते हुए या बढ़ते हुए, (समुद्रम्) समुद्र के समान गम्भीर राजपद को वेला के समान धारण कर । और तू (पुष्करे) महान् आकाश में सूर्य के समान, (पुष्करे) अपने पुष्टिकर्त्ता राष्ट्र के आधार पर तेजस्वी होकर (वर्धमानः) नित्य बढ़ता हुआ, (महान् च) सबसे अधिक महान् होकर (दिवः) सूर्य की (मात्रया) तेजःशक्ति से और (वरिम्णा) पृथिवी की विशालता से (आ प्रथस्व च) चारों ओर स्वयं विस्तृत राज्यसम्पन्न हो ॥ शत० ६ । ४ । १ । ८ ॥

इस मन्त्र में राजा और उसके पोषक दोनों का वर्णन है । जो अगले मन्त्र में स्पष्ट है ।

शर्म च स्थो वर्म च स्थोऽछिद्रे बहुलेऽउभे । व्यचस्वती संवसाथां भृतमग्निं पुरीष्यम् ॥ ३० ॥

दम्पती देवते । विराडार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

२९—अपां पुष्करपर्णं स्वराट् पंक्तिः ॥ सर्वा० ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! हे राजा और प्रजा, तुम दोनो ! (शर्मं च स्थः) एक दूसरे के सुखकारी, गृह के समान आश्रयप्रद हो। (वर्मं च स्थः) कवच के समान एक दूसरे की सब ओर से रक्षा करनेवाले हो। (उभे) तुम दोनों (अच्छिद्रे) छिद्र रहित, कष्ट न देनेवाला और (बहुले) बहुत से पदार्थ, एवं सुखों को प्राप्त करानेवाले, (व्यचस्वती) एक दूसरे के लिये विशाल अवकाश वाले होकर (सं-वसाथाम्) एक दूसरे को अच्छी प्रकार वस्त्र के के समान आच्छादित किये रहो, धारण किये रहो। और जिस प्रकार स्त्री पुरुष मिलकर वीर्य धारण करते और गर्भस्थ बालक की रक्षा और धारण पोषण करते हैं उसी प्रकार तुम दोनों राजवर्ग और प्रजावर्गो ! (पुरीष्यम् अग्निम्) पालन-कार्यों में उत्तम, अग्नि के समान तेजस्वी, ऐश्वर्यवान् पुरुष को (भृतम्) धारण करो, उसे सुरक्षित और सुपुष्ट बनाये रक्खो। शत० ६।४।१।१०॥

संवसाथाᳬ स्वर्विदा समीची उरसा त्मना।
अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित् ॥३१॥

जायापती देवते। विराड् अनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—(स्वर्विदा) सुख को प्राप्त करनेवाले (उरसा) उरःस्थल से उरःस्थल को और (त्मना) पूर्ण देह से (समीची) पूर्ण देह को आलिंगन करते हुए एक दूसरे से (ज्योतिष्मन्तम्) तेजोयुक्त, शुद्ध, (अजस्रम्) अविनाशी, (अग्निम्) तेज या वीर्य को (अन्तः भरिष्यन्ती) गर्भ के भीतर धारण करते हुए स्त्री पुरुष जिस प्रकार (सं वसाथाम्) एकत्र संगत होते हैं, गृहस्थ बनकर सन्तानोत्पत्ति करते हैं, उसी प्रकार हे राजा-प्रजाजनो ! आप दोनों (स्वर्विदा) एक दूसरे को सुख प्रदान करते हुए (उरसा) राजा अपने उरःस्थल से अर्थात् क्षात्रबल से

३०,३१—शर्म द्वे अनुष्टुभौ कृष्णाजिनपुष्कर पर्णे॥ सर्वा०॥

और प्रजाजन (त्मना) अपने वैश्य भाग से (ज्योतिष्मन्तम्) तेजस्वी अजस्रम् इत्) और अविनाशी, अक्षय (अग्निम्) ऐश्वर्य को (भरिष्यन्ती) धारण करते हुए (समीची) एक दूसरे से संगत, परस्पर सुसंबद्ध रहकर (सं वसाथाम्) एकत्र होकर रहो, एक दूसरे की रक्षा करो ॥ शत० ६। ४। २। ११ ॥

पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ३२॥

भरद्वाज ऋषिः। अग्निर्देवता त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! तेजस्वी पुरुष! तू (पुरीष्यः असि) पुरीष्य अर्थात् नाना ऐश्वर्यों से सम्पन्न है। तू (विश्व-भराः असि) सूर्य के समान समस्त विश्व का भरण-पोषण करने में समर्थ है, (त्वा) तुझको (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ, सबसे प्रथम विद्वान् (अथवा) प्रजापालक, अहिंसक विद्वान्, अग्नि को जिस प्रकार मथकर निकालता है उसी प्रकार परस्पर संघर्ष या प्रतिस्पर्द्धा द्वारा (निः अमन्थत) मथन करके प्राप्त करता है। हे (अग्ने) तेजस्विन् राजन्! (अथर्वा) अथर्वा, व्यापकशील वायु जिस प्रकार विद्युत् को (पुष्करात्) पुष्कर, अन्तरिक्ष से मथन करके प्रकट करता है और जिस प्रकार (अथर्वा) अथर्वा, प्राण, हे अग्ने! जाठर अग्ने! तुझको (पुष्करात्) पुष्टिकर अन्न से प्राप्त करता है, इसी प्रकार हे अग्ने! राजन् (वाघतः) मेधावी, (अथर्वा) प्रजाओं में से वीर पुरुष को ढूंढकर प्राप्त करने में कुशल वेदवित् विद्वान् (विश्वस्य) समस्त राष्ट्र के (मूर्ध्नः) मूर्धास्थल, उच्चपद पर विराजमान (पुष्कराद्) पुष्टिकारी अंश से ही (त्वाम् निः अमन्थत) तुझे अग्नि के समान संघर्ष या प्रति स्पर्धा द्वारा मथन करके ही प्राप्त करता है ॥ शत० ६। ४। २। १॥

तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ऽईधे ऽअथर्वणः।
वृत्रहणं पुरन्दरम् ॥ ३३ ॥

भरद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे अग्ने ! तेजस्विन् ! राजन् ! (तम् त्वा उ) उस तुझको (अथर्वणः) अहिंसक, रक्षक विद्वान् के (दध्यङ्) प्रजा के धारण करने वाले समस्त साधनों को प्राप्त करने में समर्थ, (पुत्रः) पुरुषों का त्राणकर्त्ता, (वृत्रहणम्) मेघों के सूर्य के समान शत्रु के हन्ता और (पुरन्दरम्) शत्रुओं के गढ़ तोड़ने में समर्थ तुझको (ईंधे) तेजस्वी, मन्यु और पराक्रम से प्रज्वलित करे ॥ शत० ६ । ४ । २ । ३३ ॥

तमु॑ त्वा पा॒थ्यो वृषा॒ समी॑धे दस्यु॒हन्त॑मम्
धन॒ञ्जय॑ꣳ रणे॑रणे ॥ ३४ ॥ ऋ० ६ । १६ । १५ ॥

भरद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री षड्जः ॥

भा०—(पाथ्यः वृषा) पाथस् = अन्तरिक्ष में उत्पन्न, वर्षण समर्थ वायु जिस प्रकार विद्युत् रूप अग्नि को संघर्षण द्वारा मेघों के जलों में उत्पन्न करता है उसी प्रकार (पाथ्यः) राष्ट्रपालन के समस्त मार्गों का उत्तम ज्ञाता, (वृषा) सब पर उत्तम व्यवस्था-बन्धन करने वाला विद्वान् (दस्यु-हन्तमम्) प्रजा के नाशकारी चोर डाकुओं के सब से प्रबल विनाशक, (रणे-रणे धनञ्जयम्) प्रत्येक संग्राम से ऐश्वर्य-धन के विजय करने हारे (तम् त्वा उ) उस तुझको ही (सम्-ईंधे) युद्धादि में भली प्रकार प्रदीप्त करता है, पराक्रम से युद्ध करने के लिये उत्तेजित करता है ॥ शत० ६ । ४ । २ । ४ ॥

सीद॑ होतः॒ स्व उ॑ लो॒के चि॑कि॒त्वान्त्सा॒दया॑ य॒ज्ञꣳ सु॑कृ॒तस्य॒ योनौ॑।
दे॒वा॒वीर्दे॒वान्ह॒विषा॑ यजा॒स्यग्ने॑ बृ॒हद्यज॑माने॒ वयो॑ धाः ॥ ३५ ॥
ऋ० ३ । २९ । ८ ॥

देवश्रवो देववातश्च ऋषी । अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—हे (होतः) राजपद या उसके किसी विभाग के दानाध्यक्ष के पदाधिकार को स्वीकार करने वाले योग्य विद्वान् ! तू (स्वे उ)

अपने ही या सुखमय या शन्तिप्रद (लोके) स्थान, प्राप्त पद या अधिकार में (सीद) प्रतिष्ठित हो। और (यज्ञम्) धर्मानुकूल परस्पर संगत, राजा-प्रजा के व्यवहाररूप राज्य-कार्य को (सु-कृतस्य) उत्तम पुण्याचारवान् धार्मिक (योनौ) आश्रय या आधार, मूल पर (सादय) स्थापित कर। हे (अग्ने) तेजस्विन् ! विद्वन् ! तू (देवावीः) विद्वानों और उत्तम गुणों की रक्षा करने हारा, वा स्वयं सुरक्षित होकर (हविषा) उनके अन्न आदि दातव्य वेतनादि पदार्थों द्वारा (देवान्) विद्वान्, शासक अधिकारियों को (यजासि) प्राप्त कर, राष्ट्र में नियुक्त कर। और (यजमाने) समस्त राज्य व्यवस्था को संचालन करने, सर्वोपरि राजा में या करादि देने वाले प्रजाजन में (बृहत् वयः) बड़ा भारी दीर्घ जीवन और ऐश्वर्य (धाः) धारण कर॥ शत० ३। ४। २। ६॥

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ२ऽ असदत्सुदक्षः।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः॥ ३६॥

ऋ० २। ९। ११॥

गृत्समद ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(विदानः) विद्वान् पुरुष, (त्वेषः) सूर्य या अग्नि के समान कान्तिमान्, (दीदिवान्) तेजस्वी, (सु-दक्षः) उत्तम कार्यानुकूल, समर्थ, प्रज्ञावान् होकर (होता) आदान-प्रतिदान करने में चतुर अधिकारी (होतृ-सदने) 'होता' के पद पर (नि असदत्) विराजे। वह (वसिष्ठः) सब से अधिक वसुमान्, ऐश्वर्यवान्, सब को बसाने वाला, सबका रक्षक (सहस्रम्भरः) सहस्रों, अपरिमित प्रजाजनों के पालन-पोषण करने में समर्थ, (शुचि-जिह्वः) शुद्ध सत्य वाणी बोलने वाला (अदब्धव्रत-प्रमतिः) अखण्डित व्रतों, ब्रह्मचर्य, धर्माचरण और नियम, व्यवहारों द्वारा उत्कृष्ट मतिमान् पुरुष भी (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी और ज्ञानवान् 'अग्नि' कहाने योग्य है॥ शत० ३। ४। २। ७॥

सꣳसीदस्व महाँ२ऽ असि शोचस्व देववीतमः । वि धूम-मग्ने ऽअरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥३७॥ ऋ० १।३६।९॥

प्रस्कण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! योग्य अधिकारिन् ! राजन् ! तू अपने पद, आसन पर (सं सीदस्व) अच्छी प्रकार विराजमान हो । तू (महान् असि) महान् है । तू (देव-वीतमः) देवों, विद्वानों, अधीन राजाओं और शुभ गुणों से, प्रकाश युक्त किरणों से सूर्य और अग्नि के समान (शोचस्व) कान्ति युक्त हो । और हे (मियेध्य) दुष्टों के दलन करने हारे ! और हे (प्रशस्त) सबसे श्लाध्यतम ! राजन् ! विद्वन् ! अग्ने ! (वि-धूमम्) धूम से रहित (अरुषम्) उज्ज्वल, (दर्शतम्) दर्शनीय, तेजोमय अग्नि के समान तू भी (वि-धूमम्) भय न दिलाने वाले, सौम्यी (अरुषम्) रोषरहित, प्रेमयुक्त, (दर्शतम्) दर्शनीय, सुन्दर, कल्याण स्वरूप को (सृज) प्रकट कर ॥ शत० ६ । ४ । २ । ९ ॥

अपो देवीरुप सृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः ।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥ ३८ ॥

सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । न्यङ्कुसारिणी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष ! हे राजन् ! हे सद्वैद्य ! तू (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के (अयक्ष्माय) रोगों को नाश करने के लिये (मधुमतीः) मधुर गुण युक्त, (देवीः) दिव्य गुणसम्पन्न (अपः) जलों को (सृज) उत्पन्न कर । (तासाम्) उन जलों के (आस्थानात्) आश्रय स्थान से या देश में सर्वत्र बने रहने से ही (सु-पिप्पलाः) उत्तम फल वाली (ओषधयः) ओषधियां, (उत् जिहताम्) उत्पन्न हों, उगें । शत० १ । ४ । ३ । २ ॥

सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम् ।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम् ॥ ३९ ॥

३९—सन्ते त्रिष्टुप् पार्थिवा ऽर्धो वायव्यो ऽर्धः । सर्वा० ॥

पृथिवी वायुश्च देवते । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जिस प्रकार (उत्तानायाः) ऊपर को विस्तृत रूप से फैली पृथिवी का (यद् हृदयम्) जो हृदय के समान भीतरी भाग, गढ़ा आदि (विकस्तम्) खुल जाता है उसको (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में गति करनेवाला (वायुः) वायु भर देता है उसी प्रकार हे स्त्री ! (मातरिश्वा) अन्तःकरण में प्रियतम रूप से व्यापक, हृदयगत (वायुः) विवाहित पति ,प्रजापति, स्वामी भी (यत्) जब (ते) तेरा (हृदयं) हृदय (विकस्तम्) खूब खिले प्रसन्न हो (उत्तानायाः) तब उत्सुक एवं उतान हुई तेरे साथ (दधातु) संग कर गर्भ धारण करावे । स्त्री कहे—हे (देव) स्वामिन् देव ! जो तू (देवानां) विद्वान् उत्तम पुरुषों के बीच में मेरे (प्राणथेन) प्राण के समान प्रिय होकर (चरसि) विचरते हो (तुभ्यम्) तुझ (कस्मै) क = प्रजापति स्वरूप, सुखप्रद पति के लिये (वषड् अस्तु) सदा सत्कार हो और मेरा सर्वार्पण या कल्याण हो ॥ त० ६ । ४ । ३ । ४ ।

राजा के पक्ष में—हे पृथिवीवासिनि प्रजे ! (मातरिश्वा वायुः) आकाशचारी वायु के समान पृथिवी या माता अर्थात् राष्ट्र निर्माताओं की राजसभा में प्राणरूप से विराजमान वायु, प्रजापति, राजा (यत) जब (उत्तानायाः) उत्सुक हुई प्रजा का (हृदयं विकस्तं) हृदय उसके प्रति खिले, अति प्रसन्न होः, तब २ वह (ते संधातु) प्रजा के साथ भली प्रकार मिले, संधि से रहे, या उसे खूब भरण पोषण करे । (यः) जो राजा (देवानां) राजाओं और अधीन शासकों, विद्वानों के बीच प्रजा के (प्राणथेन) प्राणरूप से (चरसि) विचरे, हे (देव) देव, राजन् ! (कस्मै) प्रजा के सुखप्रद प्रजापति स्वरूप (तुभ्यम् वषट् अस्तु) तुझे सत्कार, यश, बल, क्षेम प्राप्त हो ।

'वायुः'—वायुर्वा उशन् । तां० ७ । ५ । १९ ॥ वायुर्वै देवः । जै० उ० ३ । ४ । ८ ॥ एतद् वै प्रजापतेः प्रत्यक्षं रूपम् । कौ० १९ । २ ॥

अयं वै पूषा । श० १४ । २ । १ । ९ ॥ एष स्वर्गस्य लोकस्य अभिवोढा । ऐ० ४ । २० ॥ वायुरेव सविता (उत्पादकः) । श० १४ । २ । २ । ९ ॥

'वषड्' – वाग्वै वषट्कारः । वाग् रेतः । रेत एव एतत् सिञ्चति वषड् इति । तदृतुष्वेवैतद्रेतः सिञ्चति । तदृतवः रेतसिक्तमिमा प्रजाः प्रजनयति तस्मादेव वषट् करोति । एते वै वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्च सहश्च । ऐ० ३ । ८ ॥

सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत्स्वः ।
वासो अग्ने विश्वरूपꣳ संव्ययस्व विभावसो ॥ ४० ॥

अग्निर्देवता । भुरिग् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०— हे (अग्ने) अग्ने ! तेजोमय राजन् ! तू (ज्योतिषा सह) ज्योति, प्रकाश और तेज के साथ (सु-जातः) उत्तम रूप से प्रकट होकर (वरूथम्) श्रेष्ठ, उत्तम (स्वः) सुखकारी (शर्म) गृह को (आसदत्) प्राप्त है । हे (विभावसो) विशेष कान्ति से युक्त ऐश्वर्यवान् स्वामिन् ! तू (विश्व-रूपं) उत्तम गृहपति के समान विविध प्रकार के चित्र विचित्र स्वरूप के (वासः) वस्त्र को (सं व्ययस्व) सुसज्जित दुलहे के समान धारण कर. । शतपथ में यह प्रजोत्पत्ति सम्बन्धी प्रकरण अद्भुत रहस्य के साथ वर्णित है, जो प्रजनन-संहिता के व्याख्यान में संगत होता है । हमारा अभिमत राजोत्पत्ति प्रकरण है इसलिये यहां उस परक संगति दर्शाई है ॥ शत० ३ । ४ । ६८ ॥

उदु तिष्ठ स्वध्वरावा नो देव्या धिया ।
दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिराग्ने याहि सुशस्तिभिः ॥ ४१ ॥

ऋ० । ८ । २३ । ५, ६ ॥

विश्वमना वैयश्व ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् । गान्धारः ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! राजन् ! तू (सु-अध्वरावा) उत्तम अहिंसक, यज्ञमय रक्षा के कार्य व्यवहारों वाला होकर (नः)

हमारे बीच में से (देव्या) देवी, अपनी धर्मपत्नी, रानी सहित और (धिया) धारण-पोषण समर्थ शक्ति एवं ध्यान करने में समर्थ बुद्धि के साथ (उत् तिष्ठ उ) उठ खड़ा हो, उन्नत पद पर स्थित हो। और (बृहता भासा) बड़े भारी प्रकाश, तेज से सूर्य के समान (सु-शुक्वनिः) उत्तम पवित्र, कान्ति या पवित्र आचारों से युक्त हो कर (सु-शस्तिभिः) उत्तम कीर्तियों और उत्तम शिक्षाओं और उत्तम गुणों सहित, उत्तम सधे घोड़ों से रथी के समान (आ याहि) हमें प्राप्त हो ॥ शत० ६। ४। ३। ९॥

ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न संविता। ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदुञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥४२॥ ऋ० १। ३६। १३॥

कण्व ऋषिः। अग्निर्देवता। उपरिष्टाद् बृहती। मध्यमः॥

भा०—हे राजन्! विद्वन्! (देवः सविता न) प्रकाशमान सूर्य के समान आप भी (देवः) विद्या और बल से तेजस्वी, विजयशील होकर (ऊतये) राष्ट्र की उत्तम रीति से रक्षा करने के लिये (नः) हमारे (ऊर्ध्वः ऊँ) ऊपर उच्च पदस्थ होकर ही (तिष्ठ) विराजमान हो। तू (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्व, सबसे ऊपर सूर्य के समान रहकर अपने (अञ्जिभिः) प्रकाशमय (वाघद्भिः) सूर्य की किरणों के समान ज्ञानों के प्रकाशक विद्वानों द्वारा अथवा अति गतिशील योद्धाओं द्वारा (वाजस्य सनिता) अन्न, बल और युद्ध विजय का देनेहारा हो। तुझको हम (वि ह्वयामहे) विविध प्रकारों से स्तुति करें ॥ शत० ३। ४। ३। १०॥

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु। चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून् प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद्गाः॥४३॥ ऋ० १०। १। २॥

त्रित ऋषिः। अग्नोऽग्निर्देवता। विराट् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (अग्ने) राजन्! हे विद्वन्! (सः) वह आप (जातः)

नव उत्पन्न (गर्भः) गर्भ के समान है । (रोदस्योः) आकाश और पृथिवी के बीच में सूर्य के समान (चारुः) अति सुन्दर और (ओषधीषु) माता पिताओं के द्वारा धारण किया गया गर्भ जिस प्रकार ओषधियों के द्वारा (विभृतः) विशेषरूप से धरित-पोषित होता है उसी प्रकार हे राजन् ! हे विद्वन् ! (ओषधीषु) दुष्टों के सन्तापजनक वीर पुरुषों के बीच में विशेषरूप से स्थित, एवं (ओषधीषु विभृतः) तापधारक रश्मियों के भीतर विशेषरूप से विद्यमान, तेजस्वी सूर्य के समान है । आप (चित्रः) नानावर्ण की रश्मियों से विचित्र, एवं (शिशुः) बालक के समान अद्भुत और अद्भुत पराक्रमी, (शिशुः) प्रशंसनीय है । और सूर्य जिस प्रकार (अक्तून्,) रात्रिरूप (तमांसि) अन्धकारों को (मातृभ्यः) परिमाण करनेवाली दिशाओं से (परि) दूर करता हुआ (अधि कनिक्रदत् प्रगाः) पृथिवी के भागों पर फैलता हुआ आता है । और बालक जिस प्रकार (मातृभ्यः) अपने मान करने योग्य माताओं से (तमांसि अक्तून्) शोकादि अन्धकारों को दूर करता हुआ (अधि कनिक्रदत् प्र गाः) हर्षध्वनि करता हुआ जाता है उसी प्रकार तू सुप्रसन्न होकर (रोदस्योः गर्भः जातः) रोधकारी, मर्यादाशील राजप्रजा वर्गों के बीच वश करने में समर्थ होकर (ओषधीषु चारुः विभृत) शत्रुसन्तापक वीर पुरुषों के बीच संचरण करनेवाला एवं सुरक्षित, (चित्रः) पूजनीय, चेतनावान् ज्ञानवान्, (शिशुः) अतिप्रशस्त (तमांसि अक्तून् परि) घोर अन्धकार अज्ञानों को दूर करता हुआ (मातृभ्यः) राष्ट्र के बनानेवाले, बड़े अनुभवी पुरुषों से अथवा (मातृभ्यः = प्रमातृभ्यः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् गुरुओं से (अधि कनिक्रदत्) विद्याओं का अध्ययन करके (प्र गाः) आवे ॥ शत० ६ । ४ । ४ २ ॥

इसमें वाचकलुप्तोपमा द्वारा गर्भजात बालक और सूर्य की उपमा देकर विद्वान् राजा का श्लिष्ट वर्णन किया है ।

स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन् ।
पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः ॥ ४४ ॥

रासभो ऽग्निर्देवता । विराड् अनुष्टुप् स्वराडुष्णिग् वा । गांधार ऋषभाः ॥

भा०—हे (अर्वन्) विज्ञानयुक्त ! अति शीघ्रगामिन् ! विद्वान् वीर ! ब्रह्मचारिन् ! तू (स्थिरः) स्थिर (वीड्वङ्गः) दृढ़ अंगों वाला, (आशुः) अश्व के समान वेगवान् और (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान्, ऐश्वर्यवान् (भव) हो । (त्वम्) तू (पृथुः) विशाल शरीरवाला (सु-षदः) सुख से आश्रय करने योग्य, या गुणों का उत्तम आश्रय और (अग्नेः) अग्रणी राजा के लिये (पुरीष-वाहनः) उसके ऐश्वर्य को वहन करनेवाला (भव) हो । अश्व के पक्ष में स्पष्ट है ॥ शत० ६ । ४ । ४ ३ ॥

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः । मा द्यावापृथिवी अभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन् ॥४५ ॥

अग्निर्देवता । विराट् पथ्या बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (अङ्गिरः) सूर्य के समान तेजस्विन् ! हे प्राण के समान प्रिय विद्वन् ! (त्वम्) तू (मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः) मानव प्रजाओं के लिये (शिवः भव) कल्याणकारी हो । तू (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी, इन दोनों के बीच के प्राणियों को (मा अभि शोचीः) संतप्त मत कर । (अन्तरिक्षम् मा) अन्तरिक्षस्थ प्राणियों को भी मत सता । (वनस्पतीन् मा) वनस्पतियों को भी कष्ट मत दे, उनका व्यर्थ नाश मत कर ॥ शत० ६ । ४ । ४ । ४ ॥

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा । भरन्नग्निं पुरीष्यं मा

४४—स्थिरो रासभेऽग्न्यनुष्टुबुष्णिग्वा । सर्वा० ॥

४५—शंनोभवाजी पथ्याबृहती । सर्वा० । अनुष्टुप् बृहती वेति संहिता-भाष्ययोः । अनन्त० । ०'रासभस्पत्वा'० इति काण्व० ।

प्राग्ायुषः पुरा । वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम् ।
अग्न आयाहि वीतये ॥ ४६ ॥ अग्ने ऋ० ३ । १६ । १० ॥

वाजी रासभाग्निर्देवता । ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(वाजी) ज्ञानवान् पुरुष, (कनिक्रदद् प्रएतु) उपदेश करता हुआ आवे । अथवा—(वाजी) बलवान् पुरुष (कनिक्रदद्) मेघ के समान गर्जन करता हुआ, या विद्युत् के समान कड़कता हुआ (प्र एतु) शत्रु पर आगे बढ़े । (रासभः) बल से शोभायमान या ज्ञानसे तेजस्वी पुरुष (पत्वा) शीघ्रगामी अश्व के समान, एवं विद्याओं में गतिशील होकर (नानदत्) सिंह के समान गर्जता हुआ (प्र एतु) आगे बढ़े। (पुरीष्यम्) प्रजाओं के पालन करनेवाले, समृद्धिशाली (अग्निम्) तेजस्वी राजा को (भरन्) पुष्ट करता हुआ (आयुषः पुरा मा पादि) आयु के पूर्व न मरे । अथवा विद्वान् पुरुष (पुरीष्यम् अग्निम् भरन्) पालन या रक्षा कार्यों में समर्थ विद्युत् अग्नि को धारण करता हुआ (आयुषः पुरा मा पादि)अपनी आयु के पूर्व विनष्ट न हो । (वृषा) बलवान् वायु जिस प्रकार (समुद्रियम्) समुद्र या अन्तरिक्ष से उत्पन्न होनेवाले (अपां-गर्भम्) जलों के भीतर छुपे, (वृषणम्) वर्षणशील विद्युत् को (भरन्) धारण करता है उसी प्रकार (वृषा) बलवान् पुरुष (समुद्रियम्) सेना के महा-समुद्र के बीच में तेजस्वी (अपां गर्भम्) आप्त प्रजाओं को वश करने में समर्थ, उनके मध्य में विराजमान, (वृषणं) सुखों के वर्षक, एवं स्वतः बलवान् राजा या सेनापति को (भरन्) धारण करे । हे (अग्ने) अग्रणी, ज्ञानवान् तेजस्विन् ! राजन् ! आप (वीतये) कान्ति या प्रकाश के लिये या विविध ऐश्वर्यों के भोग करने के लिये (आ याहि) हमें प्राप्त हों ॥ शत० ६ । ४ । ४ । ७ ॥

४६—महापंक्तिस्त्र्यवसाना । अग्नेगायत्र्यकपदा । सर्वा० । षडष्टका महापंक्तिः । अनन्त० ॥

ऋतꣳ सत्यमृतꣳ सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः। ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳ शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः। व्यस्यन् विश्वा अनिरा अमीवा निषीदन्नो अप दुर्मतिं जहि ॥ ४७ ॥

अग्निर्देवता। विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—(अङ्गरिस्वत्) वायु जिस प्रकार (पुरीष्यम् अग्निम्) रक्षाकारी साधनों में सबसे उत्तम मेघस्थ विद्युत् को धारण करता है। और जिस प्रकार (अङ्गिरस्वत्) तेजस्वी विद्वान् (पुरीष्यम्) पालन करने में समर्थ सम्पन्न (अग्निम्) अग्नि के समान परंतप राजा को पुष्ट करता है उसी प्रकार हम लोग (सत्यम्) सत्य, यथार्थ ज्ञान को या (सत्यम्) सत् पुरुषों में विद्यमान, (ऋतम्) यथार्थ ज्ञान प्रकाश, और कर्म को, या वेदज्ञान को (भरामः) धारण करें। (ओषधयः) जिस प्रकार बिजली प्राप्तकरके जैसे ओषधियां अति प्रसन्न होकर लहलहाती हैं उसी प्रकार हे (ओषधयः) वीर्यों को धारण करने वाले वीर पुरुषो ! आप लोग (शिवम्) कल्याणकारी (युष्माः अभि) आप लोगों के प्रति (अत्र आयन्तम्) इधर, इस राष्ट्र में प्राप्त होते हुए (एतम् अग्निम्) इस तेजस्वी शत्रुसंतापक राजा को प्राप्त कर (प्रति मोदध्वम्) सत्कारों द्वारा हर्ष प्रकट करो। हे राजन् ! हे विद्वन् ! तू (विश्वाः) समस्त प्रकार के (अनिराः) अन्नादि समृद्धियों को न देने वाली अथवा (अनिराः) अन्नादि के नाशक दैवी विपत्तियों को (वि-अस्यन्) दूर करता हुआ (अमीवाः) स्वयं रोग रहित होकर (नि षीदन्) विराजमान होकर (नः) हमारे (दुर्मतिम्) दुष्टमति या दुष्ट मार्गों में जाने वाली दुःखदायी मति को या (नः दुर्मतिम्) हममें से दुष्ट बुद्धि वाले पुरुष को (अप जहि) विनाश कर। दूर कर शत० ६। ४। ४ १०—१६ ॥

कालिदास ने वसिष्ठ का वर्णन इस प्रकार रघुवंश में लिखा है:—

पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्काः निरीतयः।

यन्मदीयाः प्रजास्त हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥ १ । ६३ ॥
उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्त्ता त्वमापदाम् ॥ १ । ६० ॥
हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥ १ । ६२ ॥

**ओष॑धय॒: प्रति॑गृभ्णीत॒ पुष्प॑वतीः सुपिप्प॒लाः ।
अ॒यं वो॒ गर्भ॑ ऋ॒त्वियः॑ प्र॒त्नꣳ स॒धस्थ॒मास॑दत् ॥ ४८ ॥**

अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०— जिस प्रकार (पुष्पवतीः) फूल२वाली और (सुपिप्पलाः) उत्तम फल देनेवाली (ओषधयः) ओषधियां गर्भ ग्रहण करती हैं उसी प्रकार हे (ओषधयः) वीर्य को धारण करने में समर्थ स्त्रियो ! आप सभी (पुष्पवतीः) रजस्वला एवं (सुपिप्पलाः) उत्तम, सफल होकर (प्रतिगृभ्णीत) प्रत्येक, पृथक् २ गर्भ ग्रहण करो । (वः) तुम्हारा (अयं) यह (गर्भः) ग्रहण किया हुआ गर्भ (ऋत्वियः) ऋतुकाल में प्राप्त होकर (प्रत्नम्) अपने प्रथम प्राप्त (सधस्थम्) स्थान पर ही (आसदत्) स्थिर रहे ।

राजा के पक्ष में—हे(ओषधयः) वीर प्रजाजनो ! आप लोग (पुष्पवतीः) पुष्टिप्रद अन्न आदि से समृद्ध और (सु-पिप्पलाः) उत्तम रक्षा-साधनों से युक्त होकर (प्रतिगृभ्णीत) प्रत्येक सुरक्षित रहो । (अयं-वः) यह राजा तुम्हें (गर्भः) ग्रहण या वश करने में समर्थ है । वह (प्रत्नं) पूर्व प्राप्त (सधस्थम्) उच्च आश्रय को (आसदत्) प्राप्त किये रहे, अपने पूर्व पद से न गिरे ॥ शत० ६ । ४ । ४ । १७ ॥

**वि पाज॑सा पृ॒थुना॒ शोशु॑चानो॒ बाध॑स्व द्वि॒षो र॒क्षसो॒ऽअमी॑वाः ।
सु॒शर्म॑णो बृ॒ह॒तः शर्म॑णि स्याम॒ग्नेर॒हꣳ सु॒हव॑स्य॒ प्रणी॑तौ ॥४९॥**

ऋ० ३ । १५ । १ ॥

४७—४८—ओषधयस्त्रिष्टुबनुष्टुबावोषधिदेवत्ये । सर्वा० ।

उत्कील कात्य ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राजन् ! पृथिवीपते ! पालक ! तू (पृथुना) बड़े (विस्तृत पाजसा) वीर्य, बल से (शोशुचानः) तेजस्वी होता हुआ (अमीवाः) राष्ट्र के रोग स्वरूप (रक्षसः) विघ्नकारी, दुष्ट (द्विषः) शत्रुओं को (वि बाधस्व) नाना प्रकार से पीड़ित कर । (बृहता) बड़े भारी (सु-शर्मणः) उत्तम सुखकारी शरणवाले (अग्नेः) अग्नि के समान तेजस्वी राजा के (शर्मणि) गृह में, पति के गृह में पत्नी के समान (अहम्) मैं प्रजा वर्ग (सु-हवस्य) उत्तम रूप से ग्रहण करने वाले एवं उत्तम ऐश्वर्य, वीर्य के देने वाले पालक स्वामी के (प्र-नीतौ) उत्कृष्ट नीति में (स्याम्) रहूं ॥ शत० ६ । ४ । ४ । २० ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ ५० ॥ [ऋ० १० । ९ । १॥ यजु० ३६ । ४ ॥

सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (आपः) आप्तजनो ! आप लोग अपनी जलधारा के समान शीतल एवं ज्ञानरस से युक्त (हि) ही सदा (स्थ) रहते हो, अतः (ताः) वे आप लोग (मयोभुवः) सुख को उत्पन्न करनेहारे होकर (ऊर्जे) बल, पराक्रम और (महे) बड़े भारी (चक्षसे) दर्शनीय (रणाय) संग्राम के समान साहस योग्य उत्तम कार्य करने के लिये (नः) हमें (दधातन) पुष्ट करो ॥ शत० ६ । ५ । १ ५ ॥

विद्वानों के पक्ष में—(आपः) आप्त पुरुष (ऊर्जे) बलस्वरूप (महे) बड़े पूजनीय, (चक्षसे रणाय) दर्शनीय, परम रमणीय उपास्य देव की प्राप्ति के लिये हमें (दधातन) धारण करें, अपने शिष्यरूप से स्वीकार करें ।

स्त्रियों के पक्ष में—(आपः) जल के समान शीतल,सरल स्वभाववाली स्त्रियें हमें (महे रणाय चक्षसे) बड़े भारी, दर्शनीय, उत्तम कारण अर्थात् रमणीय कार्य,गृहस्थ आदि के लिये (दधातन) पति आदि रूप से स्वीकार करें ।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ ५१ ॥ यजु० ३६ । १५ ॥ ऋ० १० । ९ । २ ॥

सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(उशतीः मातरः इव) पुत्रों के प्रति कामना युक्त, स्नेह से युक्त माताएं जिस प्रकार अपने उत्तम कल्याणकारी दुग्धरस से उनको पुष्ट करती हैं उसी प्रकार, हे (आपः) जलो ! और जलों के समान ज्ञान-रस से पूर्ण आप्त पुरुषो ! एवं स्त्रीजनो ! आपका जो (शिव-तमः) सब से अधिक कल्याणकारी (रसः) रस, बल, प्रेम है । (तस्य) उसको (इह) इस लोक में (नः) हमें (भाजयत) प्राप्त कराओ ॥ शत० ६ । ५ । १ ५ ॥

तस्मा ऽअरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ५२ ॥ ऋ० १० । ९ । ३ ॥ यजु० ३५ । १६ ॥

ऋषिदेवताच्छन्दःस्वराः पूर्वोक्ताः ॥

भा०—हे (आपः) आप्त पुरुषो ! आप लोग (यस्य) जिस ज्ञान-रस से (क्षयाय) सुखपूर्वक इस संसार में निवास करने के लिये (जिन्वथ) समस्त प्राणियों को तृप्त करते हो, अपना ज्ञानरस प्रदान करते हो, हम (तस्मै) उस रस को (अरम्) पर्याप्त रूप से (गमाम) प्राप्त हों । और हे (आपः) आप्त पुरुषो ! आप लोग (नः च) हमें भी (जनयथ) योग्य बनाओ ॥ शत० ५ । १ । २ ॥

स्त्रियों के पक्ष में--हे (आपः) जल के समान शीतल स्वभाववाली स्त्रियो ! (यस्य) जिस आनन्द-रस के प्रेम और बल से (क्षयाय) गृहस्थ कार्य के सम्पादन के लिये तुम (जिन्वथ) सबको प्रसन्न एवं तृप्त करती हो हम (तस्मै) उसी प्रेम-सुख को (अरम् गमाम) भली प्रकार प्राप्त करें और तुम ही (नः च जनयथ) हमारे लिये सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ होवो ।

मि॒त्रः स॒ꣳसृ॒ज्य पृ॑थि॒वीं भूमिं॑ च॒ ज्योति॑षा स॒ह ।
सु॒जा॒तं जा॒तवे॑दसमय॒क्ष्माय॑ त्वा॒ सꣳसृ॑जामि प्र॒जाभ्यः॑ ॥ ५३ ॥

मित्रो देवता । उपरिष्टाद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(मित्रः) सूर्य के समान स्नेही परमेश्वर (पृथिवीम्) विस्तृत अन्तरिक्ष और (भूमिम् च) भूमि को (ज्योतिषा) अपने प्रकाश से (संसृज्य) संयुक्त करके जिस प्रकार (सु-जातम्) उत्तम गुणों से युक्त, (जातवेदसम्) अग्नि को भी (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के (अयक्ष्माय) रोगों के नाश के लिये (ज्योतिषा सह संसृजति) तेज के सहित उत्पन्न करता है उसी प्रकार (मित्रः) सबका स्नेही राजा मैं (पृथिवीम्) विशाल राजशक्ति और (भूमिम् च) जनपद, भूमि को (ज्योतिषा सह संसृज्य) तेजोमय ऐश्वर्य से युक्त करके (प्रजाभ्यः अयक्ष्माय) प्रजाओं के रोग-सन्ताप के नाश करने के लिये (त्वा) तुझे (सु-जातम्) उत्तम गुणों और विद्याओं में सुविख्यात (जात-वेदसम्) विज्ञानवान् विद्वान् पुरुष को (सं सृजामि) भली प्रकार नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ६ । ५ । १ । ५ ॥

रु॒द्राः स॒ꣳसृ॒ज्य पृ॑थि॒वीं बृ॒हज्ज्योतिः॒ समी॑धिरे ।
तेषां॑ भा॒नुरज॑स्र॒ इच्छु॒क्रो दे॒वेषु॑ रोचते ॥५४॥

रुद्रा देवताः । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(रुद्राः) प्राणरूप से सूक्ष्म, प्राकृतिक, जीवनप्रद, परमाणु रूप वायुएं या रश्मियां जिस प्रकार (बृहत् ज्योतिः) महान् दीप्ति स्वरूप सूर्य तेजको (संसृज्य) परस्पर मिलकर उत्पन्न करके (पृथिवीम्) पृथिवी को भी (सम् ईधिरे) खूब प्रज्वलित और प्रकाशित करते हैं (तेषाम्) उनमें से (भानुः इत्) यह ज्योतिर्मय 'अग्नि तत्त्व' है जो (अजस्रः) कभी क्षीण न होकर, (शुक्रः) सदा कान्तिमान् होकर, समस्त (देवेषु) देव, दिव्य पदार्थों में (रोचते) प्रकाशित होता है।

उसी प्रकार (रुद्राः) दुष्टों को रुलाने वाले वीर पुरुष (संसृज्य) परस्पर मिल कर एक व्यवस्थित राष्ट्र बनाकर (पृथिवीम्) पृथिवी पर (बृहत् ज्योतिः) सूर्य के समान बड़े भारी तेजस्वी सम्राट् को (सम् ईधिरे) मिल कर प्रज्वलित करते, उसको बहुत तेजस्वी बना देते हैं। (तेषाम्) उनमें से (अजस्रः) शत्रुओं से कभी विनष्ट न होने वाला (भानुः) सूर्य के समान तेजस्वी, (शुक्रः) शुद्ध, कान्तिमान् वह राजा (इत्) ही (देवेषु) विद्वानों और राजाओं में (रोचते) बहुत प्रकाशित होता है। शत० ६।५।१।७॥

संसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम्।
हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम्॥ ५५॥

सिनीवाली देवता। विराडनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—जिस प्रकार (हस्ताभ्याम्) हाथों से (मृदम्) मिट्टी को (मृद्वीं कृत्वा) कोमल करके, सान २ करके, जलों से मिलाकर शिल्पी या कुम्भार उसको (कर्मण्यां करोति) घड़ा आदि नाना पदार्थों को बनाने के काम का बना लेता है, उसी प्रकार (सिनीवाली) परस्पर बांधने में समर्थ शक्तियों को अपने में गूढ़रूप से धारण करनेवाली, महती ब्रह्मशक्ति (धीरैः) क्रियाशील, धारणपोषणसमर्थ, (वसुभिः) जीवों को वास करानेवाले आठ विकारों और (रुद्रैः) रोदनकारी, रोगहारी, प्राणों से (संसृष्टाम्) भली प्रकार संयुक्त हुई (मृदम्) सब प्रकार से मर्दन करने योग्य, नाना विकारवती प्रकृति को (हस्ताभ्यां) संयोग, विभागरूप हाथों से (मृद्वीं कृत्वा) मृदु, विकृत होने योग्य करके (कर्मण्याम्) सृष्टि के नाना पदार्थों के रचने योग्य (कृणोतु) करती है। इसी प्रकार कन्याओं के पक्ष में—(सिनीवाली) प्रेमबद्ध कन्याओं की रक्षिका, हाथों

५५—ससृष्टोद्ध सिनीवाली देवस्य। सर्वा०॥

से कोमल करके मिट्टी को जिस प्रकार जलों से मिलाकर योग्य बना लेते हैं उसी प्रकार (वसुभिः) २४ वर्ष के, (रुद्रैः) ३६ वर्ष के (धीरैः) बुद्धिमान् धारणावान् विद्वान् पुरुषों से (संसृष्टां) संसर्ग को प्राप्तहोने, योग्य कन्याओं को (कर्मण्यां कृणोतु) गृहस्थ के प्रजोत्पादन आदि कार्यों के योग्य (कृणोतु) बनावें ॥ शत० ६ । ५ । १ । ९ ॥

राजपक्ष में—(सिनीवाली) राष्ट्र को नियम में बांधनेवाली राजसभा (वसुभिः) विद्वान् ,(रुद्रैः) वीर्यवान्, धीर पुरुषों से (संसृष्टां) बनी हुई (मृदम्) पृथिवीवासिनी प्रजा को (हस्ताभ्यां) दमन करने के बाह्य और आभ्यन्तर, प्रकट और अप्रकट साधनों से (मृद्वीं) कोमल, विनीत बनाकर (कर्मण्यां करोतु) उत्तम कर्म करनेवाली बनाये । 'मृत्' यहां सामान्य प्रजा का वाचक उसी प्रकार है जैसे वह प्रजा का वाचक है।

सि॒नी॒वा॒ली सु॑कप॒र्दा सु॑कुरी॒रा स्वौ॑प॒शा ।
सा तुभ्य॑मदिते म॒ह्योखां द॑धातु॒ हस्त॑योः ॥ ५६ ॥

अदितिर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः स्वरः ॥

भा०—हे (अदिते) अखण्डित प्रजातन्तुरूप आनन्दवाली गृहिणी ! हे (महि) पूजनीय ! जो (सिनीवाली) प्रेमबन्धन से युक्त, (सु-कपर्दा) उत्तम केशवाली, (सु-कुरीरा) उत्तम आभूषणवाली, (स्वौपशा) उत्तम अंगोंवाली है (सा) वह (तुभ्यम्) तेरे लिये (हस्तयोः) हाथों में (उखाम् इव) डेग या पात्र के समान (उखाम्) 'उखा' अर्थात् अर्थात् प्रजापति के सन्तान प्रसव के कर्म को (आदधातु) धारण करे ॥ शत० ६ । ५ । १ । १० ॥

अर्थात् घर में सुन्दर सुभुषित, सुकुमारियां वधू आवें और वे गर्भ धारण कर उत्तम सन्तान उत्पन्न करें ।

५६—उखामादित्या । अनन्त० ॥

'उखा'—आत्मा वा उखा । श० ६ । ५ । ३ । ४ ॥ उदरम् उखा । श० ७ । ५ । १ । ३८ ॥ योनिर्वा उखा । श० ७ । ५ । १ । २ ॥ इमे वै लोका उखा । श० ६ । ५ । २ । १९ ॥ प्राजापत्यम् एतत् कर्म यदुखा । श० ६ । ५ । २ । १७ ॥

ब्रह्मपक्ष में—हे अदिते ! अखण्ड आनन्दमय ब्रह्मशक्ते ! (तुभ्यम्) तेरे प्राप्त करने के लिये (सिनीवाली) सर्वनियमकारिणी (सु-कपर्दा) सुखमयी (सु-कुरीरा) उत्तम कर्ममयी, (स्वौपशा) उत्तम योग-निद्रा, समाधिकाल में स्थिर (सा) वह चित्तस्थिति (उखां आदधातु) ऊर्ध्व पद को प्राप्त करनेवाले आत्मा को सदा धारण करे ।

राष्ट्र पक्ष में--हे (अदिते) अखण्ड शासनशक्ति ! सिनीवाली नामक सभा ! उत्तम कपर्द = अर्थात् राज्य प्रबन्धवाली वह राजनीति उत्तम कर्मवाली, उत्तम व्यवस्थावाली, तेरे समस्त पृथिवीनिवासी लोगों को हाथ में कलसी के समान धारण करे ।

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया । माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्त्तु गर्भ आ । मखस्य शिरोऽसि ॥ ५७ ॥

अदितिर्देवता । भुरिग् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—शिल्पी जिस प्रकार (बाहुभ्याम्) अपनी बाहुओं से (उखां कृणोति) मट्टी से हांडी बनाता है उसी प्रकार परमेश्वर (धिया) धारण आकर्षण करने वाली (शक्त्या) शक्ति से (उखां) इस पृथ्वी को (कृणोतु) बनाता है । और (यथा) जिस प्रकार (माता)माता (उपस्थे) अपनी गोद में (पुत्रं आ बिभर्त्ति) पुत्र को धारण और पालन करती है उसी प्रकार (सः) वह (उखा) पृथिवी (गर्भे) अपने भीतर (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी राजा को (आ बिभर्त्तु) धारण करे और उसी

५७—मखस्य मृत्पिण्डः । सर्वा० ॥

प्रकार (सा) वह पृथिवी के समान (उखां) उत्तम सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ स्त्री भी (गर्भे) अपने गर्भ में (अग्निम्) तेजस्वी वीर्य को (आ विभर्तु) [क्र]म से धारण करे । हे राजन् ! हे गृहपते ! तू (मखस्य शिरः असि) [य]ज्ञ और ऐश्वर्यमय राष्ट्र का शिर, मुख्य है । इसी प्रकार हे गर्भगत वीर्य ! तू (मखस्य) शरीर रचना रूप यज्ञ का (शिरः असि) आश्रय रूप मुख्य अंश या प्रारम्भरूप है ॥ शत० ६ । ५ । १ । ११ ॥

[१]वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाᳪं रायस्पोषं गौपत्यᳪं सुवीर्यᳪं सजातान्यजमानाय [२]रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजाᳪं रायस्पोषं गौपत्यᳪं सुवीर्यᳪं सजातान्यजमानाया[३]दित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवासि द्यौरसि धारया मयि प्रजाᳪं रायस्पोषं गौपत्यᳪं सुवीर्यᳪं सजातान्यजमानाय [४]विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशोऽसि धारया मयि प्रजाᳪं रायस्पोषं गौपत्यᳪं सुवीर्यᳪं सजातान् यजमानाय ॥ ५८ ॥

वसुरुद्रादित्यविश्वदेवा देवताः । (१,२) भुरिग् जगती । (३) जगती (४) भुरिगतिजगती । निषादः ॥

भा०—गृहस्थ प्रकरण में–हे स्त्रि ! तुझे (वसवः) राष्ट्र में बसने वाले विद्वान् पुरुष (गायत्रेण छन्दसा) गायत्र छन्द से (अंगिरस्वत्) शरीर में विद्यमान प्राण के समान मेरे हृदय-गृह में प्रिय (कृण्वन्तु) बनावें । तू (ध्रुवा असि) गृहस्थ व्रत में अचल हो, (पृथिवी असि) पृथिवी के समान सबका आश्रय (असि) हो । (मयि)

१—चतुर्थ्यर्थे सप्तमी ।

मेरे लिये (प्रजाम्) सन्तान को अपने भीतर (धारय) धारण कर,(रायस्पोषं) धनैश्वर्य की समृद्धि,(गौपत्यम्) गौ आदि पशुओं की सम्पत्ति और (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य से उत्पन्न, अनुरूप पुत्रों और भाइयों को (यजमानाय) विद्या के प्रदान करने वाले आचार्य के अधीन कर। इसी प्रकार स्त्री भी वरण योग्य पति से कहे–हे प्रियतम ! (वसवः) वसु नाम विद्वान् गण (गायत्रेण च्छन्दसा) वेदोपदिष्ट प्राणों, इन्द्रियों और वीर्यों की रक्षा के सुदृढ़ उपाय से तुझको (अङ्गिरस्वत् कृण्वन्तु) अग्नि के समान तेजस्वी और अंग या शरीर में रस के समान प्रवाहित होने वाले प्राणके समान प्रिय बना देवें। हे प्रिययम ! आप (ध्रुवः पृथुः असि) पर्वत के समान अचल और पृथ्वी के समान विशाल सर्वाश्रय हो। आप (मयि) मुझ अपनी प्रियतमा स्त्री में (प्रजाम्) प्रजा (रायः-पोषम्) धन समृद्धि (गौपत्यम्) पशु सम्पत्ति (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य (धारय) धारण कराओ और (सजातान्) हम दोनों के समान वीर्य से उत्पन्न पुत्रों को (यजमानाय) विद्या के प्रदाता आचार्य विद्वान् पुरुष के अधीन रख। इसी प्रकार (रुद्रः) रुद्र नामक विद्वान् नैष्ठिक पुरुष (त्रैष्टुभेन छन्दसा) वेदोक्त त्रिष्टुभ् छन्द से (अङ्गिरस्वत् कृण्वन्तु) ज्ञान और वीर्य से तेजस्वी बनावें। (आदित्याः) आदित्य के समान तेजस्वी विद्वान् (जागतेन छन्दसा) जागत, अर्थात् लोकोपकारी वृत्ति की शिक्षा से तुझे (अङ्गिरस्वत्) ज्ञानवान, तेजस्वी बनावें। और (वैश्वानराः) समस्त नेता पुरुषों के नेताओं में भी उच्चपदों पर विराजमान (विश्वे देवाः) समस्त दानशील एवं दर्शनशील राजा और विद्वान् लोग (आनुष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् कृण्वन्तु) आनुष्टुभ छन्द से अर्थात् परस्पर एक दूसरे के अनुकूल व्यवस्था पूर्वक रहने की शिक्षा से सूत्रात्मक वायु के समान प्रिय बनावें (ध्रुवा असि० यजमानाय २ इत्यादि) पूर्ववत्। शत० ३। ५। १। ३—३॥

राजपक्ष में—हे पृथिवि ! हे राजन् ! तुझको (गायत्रेण छन्दसा)

गायत्रछन्द, अर्थात् ब्राह्मण बल से (वसवः) वसु नामक विद्वान्‌गण (अंगिरस्वत्) अग्नि, सूर्य और वायु और आकाश के समान तेजस्वी बलवान् और व्यापक बनावें । (रुद्राः) शत्रुओं को रुलाने में समर्थ वीर सैनिक (त्रैष्टुभेन छन्दसा) क्षात्रबल से तुझको तेजस्वी बनावें । (आदित्यैः) आदान कुशल वैश्यगण से तुझको तेजस्वी ऐश्वर्यवान् बनावें । (वैश्वानराः) समस्त प्रजा के नेता लोग (आनुष्टुभेन छन्दसा) परस्परानुकूल व्यवहार से युक्त श्रमी वर्ण के बल से तुझे बलवान् बनावें । हे पृथिवी ! तू पृथिवी है । तू (ध्रुवा असि) ध्रुव, स्थिर है । तू (मयि) मुझ राष्ट्रपति के लिये (प्रजां, रायःपोषम्, गौपत्यं, सुवीर्यं धारय) प्रजा, धनैश्वर्य, पशु समृद्धि, उत्तम वीर्य धारण कर । (यजमानाय सजातान्) मेरे समान बलशाली राजाओं को भी मुझ यज्ञशील राष्ट्रपति के अभ्युदय के लिये (धारय) धारण कर ।

अदि॑त्यै रास्ना॒स्यदि॑तिष्टे॒ बिलं॑ गृभ्णातु । कृ॒त्वाय॒ सा म॒हीमु॒खां मृ॒न्मयीं॒ योनि॑म॒ग्नये॑ । पु॒त्रेभ्य॒: प्राय॑च्छ॒ददि॑तिः श्र॒पया॒निति॑ ॥५९॥

अदितिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे विदुषि स्त्रि ! तू (अदित्यै) अदिति अर्थात् अखण्ड विद्या का (रास्ना) दान करनेवाली (असि) है । हे विद्ये ! (ते बिलम्) तेरे विज्ञानप्रकाश, या गूढ़ रहस्य को (अदितिः) अखण्ड व्रत का पालन करनेवाला कुमार और कुमारी (गृभ्णातु) ग्रहण करे । (अदितिः) पुत्रों की माता जिस प्रकार (मृन्मयीम् उखां कृत्वाय) मट्टी की हांडी को बना कर (पुत्रेभ्यः प्रायच्छत्) पुत्रों को दे देती है और आज्ञा दे दिया करती है कि (श्रपयान् इति) उसको आग पर पकाओ । उसी प्रकार (सा) वह विदुषी माता (महीम्) पूजनीय

५९—अदित्यै रास्ना देवता । सर्वा० ।

(अग्नये) अग्निस्वरूप ज्ञानवान् आचार्य्य के अधीन (योनिम्) अपने पुत्र पुत्रियों के आश्रय निवासस्थान में प्राप्त होनेवाली (उखाम्) उत्तम फलदात्री विद्या को (कृत्वाय) प्राप्त करके (अदितिः) स्वयं अखण्ड व्रत होकर, विद्या का प्रदानकर्ता आचार्य, (पुत्रेभ्यः प्रायच्छत्) पुत्रों को विद्या प्रदान करे । और कहे कि इस ब्रह्मविद्या रूप परम आनन्दरस की दात्री को (श्रपयान् इति) तप द्वारा परिपक्व करो ॥ शत० ६ । ५ । ५ । १२ ॥

वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् । विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु ॥ ६० ॥

वस्वादयो लिङ्गोक्ता देवताः । स्वराट् संकृति गान्धारः ॥

भा०—हे पृथिवि ! (गायत्रेण) पूर्वोक्त गायत्र छन्द, (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रैष्टुभ छन्द और (जागतेन छन्दसा) जागत छन्द और (आनुष्टुभेन छन्दसा) वेदोक्त अनुष्टुभ छन्द इन सबके अध्ययन, मनन-द्वारा एवं पूर्वोक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं श्रमी प्रजाओं के परस्पर प्रेम व्यवहार से (अङ्गिरस्वत्) अग्नि या ज्ञानवान् के समान विदुषी, तेजस्विनी, समृद्ध (त्वा) तुझको (वसवः) वसु नामक विद्वान् प्रजा-गण, (रुद्राः) रुद्र नामक नैष्ठिक, राष्ट्र के प्राणस्वरूप शत्रुनाशक लोग (आदित्याः) आदित्य के समान तेजस्वी और (विश्वेदेवाः) समस्त देवगण जो (वैश्वानरा) वैश्वानर अग्नि के समान सर्व प्रकार या समस्त प्रजा के नेता लोग हैं वे लोग (धूपयन्तु) तुझे सुसंस्कृत करें तुझे शिक्षित करें । (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (वरुणः त्वा धूपयतु) सर्व श्रेष्ठों का वारक, शासक तुझे उत्तम संस्कृत करे । (विष्णुः) व्यापक शक्तिका स्वामी राजा (त्वा धूपयतु) तुझे शुद्ध

एवं संस्कृत, सुशिक्षित करे। ब्रह्मचारिणी पक्ष में—वसु आदि विद्वान् गायत्री आदि वेदोक्त मन्त्रों द्वारा कन्याओं और कुमारों को शिक्षित और संस्कार युक्त करें। (वरुणः विष्णुः) आचार्य, विद्या के लिये गुरुरूप से वरण करने योग्य और समस्त विद्याओं में व्यापक विद्वान् आचार्य जन भी तुझे शिक्षित करे॥ शत० ६।५।३।१०॥

'धूपयन्तु'—धूप भाषार्थः। चुरादिः॥ 'सुगन्धान्नादिभिः, विद्या सुशिक्षाभ्यां, सत्यव्यवहारग्रहणेन, राजविद्यया राजनीत्या संस्कुर्वन्तु, इति श्रीदयानन्दर्षिः।

[1]अदि॑तिष्ट्वा दे॒वी वि॒श्वदे॑व्यावती पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत् ख॑नत्ववट देवानां॑ त्वा पत्नी॑र्दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वद्द॑धतूखे धि॒षणा॑स्त्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वद॒भीन्धताम् [2]उखे वरू॒त्रीष्ट्वा॑म् दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वच्छ्र॑पयन्तूखे ग्नास्त्वा॑ दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वत् प॑चन्तूखे जन॑य॒स्त्वाच्छि॑न्नपत्रा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे॥ ६१॥

अदित्यादयो लिङ्गोक्ता देवताः। (१) भुरिक् कृतिः। निषादः।
(२) प्रकृतिः। धैवतः॥

भा०—विद्वान् पुरुष जिस प्रकार गढ़े को खोदता है उसी प्रकार हे (अवट) रक्षण करनेहारे पुरुष! (विश्वादेव्य-वतीः *) समस्त विद्वानों के योग्य ज्ञानों से पूर्ण (अदितिः) अखण्डित राजशक्ति (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के पीठ पर (अङ्गिरस्वत्) शरीर में प्राणशक्ति के समान (त्वा) तुझे (खनतु,) खने, गुप्तरूप में छिपे, तुझे खोद के

६१—अदितिरावम्। देवानां पञ्चोखानि। सर्वा०॥मतौ दीर्घः पा० ६।३।१३१॥

प्राप्त करे। और (देवानां पत्नीः) देवों ,विद्वानों और राजा के पालन करनेवाली राजसभाएं, राजर्षि महर्षिओं के समान (विश्वदेव्य-वतीः) समस्त विद्वानों से प्राप्त ज्ञानों से युक्त होकर (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर, हे (उखे) उखे ! पृथिवी ! (त्वा दधतु) तुझे वे धारण करें। हे (उखे) उखे ! पृथिवी ! (विश्वदेव्य-वतीः) विद्वानों के ज्ञानों से पूर्ण (धिषणाः देवीः) उत्तम वाणी से युक्त बुद्धियां या सभाएं (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर (त्वा अभि इन्धताम्) तुझे प्रज्वलित करें। तुझे तेजस्वी और यशस्वी करें। हे (उखे) उखे ! पृथिवि ! प्रजे ! (विश्वदेव्य-वतीः) समस्त ज्ञानों से युक्त (वरूत्रीः देवीः) श्रेष्ठ, राजशक्तियां (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर (त्वा श्रपयन्तु) तुझे परिपक्व, तपस्वी और दृढ़ बलवान् बनावें। हे (उखे) पृथिवि ! प्रजे ! (विश्वदेव्य-वतीः ग्नाः देवीः) समस्त ज्ञानों और राजबलों से युक्त व्यापक वेदवाणियां और स्त्रियां या व्यापक राजशक्तियां (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर (अङ्गिरस्वत्) आग पर रक्खी हांडी के अंगारों के समान (त्वा पचन्तु) तुझे परिपक्व करें। और (अछिन्नपत्राः) अछिन्न या अखण्डित रथों वाली (जनयः) प्रजाएं (विश्वदेव्य-वतीः) समस्त विजयोपयोगी सामग्री से युक्त इस (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर, हे (उखे) उखे ! पृथिवि ! हे प्रजे ! (त्वा) तुझको (अङ्गिरस्वत्) हांडी को अंगारों के समान (पचन्तु) पक्व करें। कन्या आदि सन्तानों के पक्षमें —(अदितिः) विदुषी माता (अवटं त्वा खनतु) तुझ बालक को प्राप्त करें। (धिषणाः) विदुषी स्त्रियां, (वरूत्रीः) श्रेष्ठ रक्षाकर्त्री स्त्रियां, (ग्नाः) वेदवाणियों के समान ज्ञानपूर्ण वा उत्तम आचारवाली स्त्रियां और (अछिन्नपत्राः जनयः) अखण्डिताचार वाली स्त्रियां, अंगारों पर जिस प्रकार हांडी पकाई जाती है उसी प्रकार प्रजा को भी (दधतु) धारण पोषण करें, (अभि इन्धताम्) विद्यादि गुणों से प्रज्वलित करें, (श्रपयन्तु,

पचन्तु, पचन्तु) ब्रह्मचर्य व्रत पालनादि से मन वाणी और शरीर को परिपक्व, दृढ़ करें ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १-८ ॥

मि॒त्रस्य॑ चर्षणी॒धृतो॒ऽवो॑ दे॒वस्य॑ सा॒न॒सि ।
द्यु॒म्नं चि॒त्रश्र॑वस्तमम् ॥ ६२ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । मित्रो देवता निचृद् गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

भा०—(मित्रस्य) प्रजा को मरने से बचानेवाले (चर्षणी-धृतः) प्रजाओं को धारण पोषण करने में समर्थ, (देवस्य) देव, राजा के (सानसिं) सदा से चले आये, (चित्रश्रवः-स्तमम्) विचित्र अन्न आदि भोग्य पदार्थों से समृद्ध (द्युम्नम्) ऐश्वर्य को हे प्रजे ! हे पृथिवि ! तू (अवः) प्राप्त हो । इसी प्रकार स्त्री के पक्ष में—स्त्री अपने मित्रभूत, प्रजा के पालक (देवस्य) कमनीय पति की नाना धनःसम्पत्ति को प्राप्त करे ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १० ॥

दे॒वस्त्वा॑ सवि॒तोद्व॑पतु सुपा॒णिः स्व॑ङ्गु॒रिः सु॑बा॒हुरु॒त शक्त्या॑ ।
अव्य॑थमाना पृथि॒व्यामा॒शा दिश॒ आपृ॑ण ॥ ६३ ॥

सविता देवता । भुरिग्बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(सविता देवः) सूर्य के समान तेजस्वी राष्ट्र का संचालक देव, विद्वान् राजा हे पृथिवि ! (सु-पाणिः) उत्तम पालन करनेवाले साधनों से युक्त, (सु-अङ्गुरिः) उत्तम अंगों, राज्य के समस्त अंगों से सम्पन्न, (सु-बाहुः) शत्रुओं को बांधनेवाले उत्तम सेना, आयुध आदि से युक्त होकर (उत) और (शक्त्या) शक्ति से युक्त होकर (त्वा) तुझको (उद् वपतु) स्वीकार करे और उत्तम बीज वपन करे। इसी प्रकार (सु-पाणिः) उत्तम हाथोंवाला (सु-अङ्गुरिः) उत्तम अंगुलियों वाला, (सु-बाहुः) उत्तम बाहुबल (उत शक्त्या) और उत्तम शक्ति से युक्त होकर हे स्त्रि ! (त्वा उद्वपतु) तुझ में सन्तानार्थ बीज वपन करे। हे प्रजे ! तू (अव्यथमाना) किसी प्रकार का कष्ट न पाती हुई (पृथिव्याम्)

इस भूतल पर (आशाः दिशः) समस्त दिशाओं और उपदिशाओं को भी (आ पृण) पूर ले, अर्थात् फल फूलकर सर्वत्र फैल जा। और हे स्त्री ! तू अपने पति द्वारा कभी पीड़ित न होकर इस पृथिवी पर (आशाः दिशः) अपनी समस्त कामनाओं और दिशाओं, उत्तम शिक्षाओं को भी पूर्ण कर ॥ शत० ॥ ६। ५। ४। ११, १२ ॥

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्।
मित्रैतां त उखां परिददाम्यभित्या ऽएषा मा भेदि ॥ ६४ ॥

उखा [कन्या] मित्रश्च देवते। अनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—हे प्रजे ! तू (उत्थाय) उठकर, अभ्युदयशील होकर (बृहती भव) बहुत बड़ी हो। तू (उत् तिष्ठ) उदय को प्राप्त हो, उठ, (ध्रुवा त्वम्) तू ध्रुवा है, सदा स्थिर रहने वाली है। हे (मित्र) प्रजा के सुहृद्-रूप स्नेही राजन् ! (उखाम्) नाना ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली इस प्रजा को हांडी के समान (ते परि) तेरे अधीन (अभित्यै) कभी छिन्न भिन्न न होने देने के लिये (ददामि) प्रदान करता हूँ। देखना, (एषा) यह (मा भेदि) कभी टूट न जाय, कभी छिन्न भिन्न न हो, कलह से नष्ट न हो ॥

इसी प्रकार हे स्त्री ! तू उठकर बड़े पुरुषार्थ वाली हो। उठ, तू स्थिर होकर खड़ी हो। हे मित्रवर ! स्नेहशील इस (उखां) प्रजाको खनन या प्राप्त कराने वाली स्त्री को तुझे सौंपता हूं, तुझ से कभी अलग न होने के लिये प्रदान करता हूँ। यह तुझ से भिन्न होकर न रहे ॥ शत० ६। ५। ४। १३ ॥

वसवस्त्वाछृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाछृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाछृन्दन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा ऽआछृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ ६५ ॥

६४—उत्थाय पूर्वार्धर्च औख उत्तरो मैत्रः। सर्वा० ॥

वस्वादयो लिङ्गोक्ता देवताः । भुरिग् धृतिः । षड्जः ॥

भा०—हे उखे ! पृथिवीवासिनी प्रजे ! (त्वा) तुझको (वसवः) प्रजाओं को बसाने में समर्थ वसु नामक विद्वान् (गायत्रेण छन्दसा) पूर्वोक्त गायत्र छन्द, ब्राह्मण शक्ति से (अंगिरस्वत्) अग्नि के समान तेज से युक्त होकर (आछृन्दन्तु) तेजस्वी बनावें । (रुद्राः त्रैष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् आछृन्दन्तु) अंगारे जिस प्रकार हंडिया को तपाते हैं उसी प्रकार रुद्र नामक विद्वान् तेजस्वी पुरुष तुझको त्रिष्टुप् छन्द से तेजस्वी, और ज्ञानवान् करें । (आदित्याः त्वा जागतेन छन्दसा आछन्दन्तु अङ्गिरस्वत्) आदित्य नामक विद्वान् अग्नि के समान तुझको जागत छन्द से तेजस्वी, पराक्रमशील समृद्धिमान् करें । (वैश्वानराः) समस्त प्रजाओं के नेता (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुष (आनुष्टुभेन छन्दसा) अनुष्टुभ् छन्द से (अङ्गिरस्वत्) प्रदीप्त अग्नि के समान या सूर्य की किरणों के समान (त्वा आछृन्दन्तु) मुझे प्रदीप्त, उज्वल, सम्पन्न, वैभवयुक्त करें ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १७ ॥

हे स्त्री वा पुरुष ! तुमको वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वेदेव नामक विद्वान्गण गायत्री आदि वेद मन्त्रों से ज्ञानवान् तेजस्वी करें ।

आकूतिमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा । प्रजापतये मनवे स्वाहाग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥६६॥

अग्न्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(आकूतिम्) समस्त अभिप्रायों का ज्ञान करनेवाली, प्रोत्साहक शक्ति और उसके (प्रयुजम्) प्रयोग करनेहारे (अग्निम्) ज्ञानवान् आत्मा को (स्वाहा) यथार्थ सत्य क्रिया के अभ्यास से जानो । (मनः) मनन करनेवाले अन्तःकरण और (मेधाम्) धारणावती बुद्धि को और (अग्निम्

६६—आकूति लिगोक्तान्यग्निभणानि । सर्वा० ।

प्रयुजम्) उसके प्रेरक अग्नि आत्मा को या विद्युत् शक्ति को (स्वाहा) उत्तम योग-क्रिया द्वारा प्राप्त करो। (चित्तम्) चिन्तन करनेवाले (विज्ञातम्) विशेष ज्ञान के साधन और (प्रयुजम्) उसके प्रेरक (अग्निम्) अग्नि के समान प्रकाशित आत्मा को (स्वाहा) उत्तम रीति से जानो। (वाचः विधृतिम्) वाणी को विशेषरूप से धारण करनेवाले अग्नि, विद्युत् शक्ति को (स्वाहा) उत्तम रीति से प्राप्त करो। हे पुरुषो ! आप लोग (मनवे) मननशील (प्रजापतये) प्रजा के पालक पुरुष का (स्वाहा) उत्तम आदर सत्कार करो, (वैश्वानराय) समस्त पुरुषों से प्रकाशमान, सबके हितकारी (अग्नये) सबके प्रकाशक, परमेश्वर या विद्वान् का (स्वाहा) उत्तम रीति से स्तवन, गुणगान करो ॥ शत० ३। ६। १। १५–२० ॥

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्त्तो॑ वुरीत स॒ख्यम् ।
विश्वो॑ रा॒य ऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥ ६७ ॥

आत्रेय ऋषिः । सविता देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(विश्वः मर्त्तः) समस्त मनुष्य (देवस्य नेतुः) सबके नायक राजा और विद्वान् एवं सब सुखों के प्रापक परमेश्वर के (सख्यं वुरीत) प्रेम या मित्रता को चाहें। (विश्वः) समस्त मनुष्य ही (राये) ऐश्वर्य के लिये (इषुध्यति) ईश्वर से प्रार्थना करते अथवा (इषुध्यति) पराक्रम से शस्त्रादि धारण करते या आकांक्षा करते हैं और (पुष्यसे) पुष्ट होने के लिये (स्वाहा) सत्य व्यवहार द्वारा वे (द्युम्नं वृणीत) धन ऐश्वर्य को प्राप्त करें ॥ शत० ६। ६। १। २१ ॥

मा सु भि॑त्था मा सु रि॑षोऽम्ब॑ धृष्णु वी॒रय॑स्व॒ सु ।
अ॒ग्निश्चे॒दं क॑रिष्यथः ॥ ६८ ॥

अम्बा देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अम्ब) राजा के मातृवत् मान्य प्रजे ! एवं पुरुष के आदर योग्य

स्त्री ! तू (मा सु भित्थाः) राजा एवं अपने पालक पति से भेद या द्रोह मत कर। (मा सु रिषः) अपने हित के लिये कभी विनष्ट मत हो, अपना नाश मत कर या अपने पालक पति या राजा का घात मत कर। हे (अम्ब) हे स्त्रि ! पुत्रों की माता के समान तू (धृष्णु) दृढ़ता से (सु वीरयस्व) अपने ही हितार्थ पराक्रम और बल के कार्य कर। तू (अग्निः च) अग्नि के समान तेजस्वी राजा और प्रजा दोनों मिलकर राज्य के समस्त कार्य करें और अग्नितत्त्व-प्रधान पति, वीर्यवान् पुरुष और सोम प्रधान स्त्री दोनों मिलकर गृहस्थ कार्य (करिष्यथः) करें ॥ शत० ६। ६। २। ५॥

दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय॑ऽआसुरी माया स्वधया॑ कृताऽसि। जुष्टं॑ देवेभ्य॑ऽइदम॑स्तु हव्यमरि॑ष्टा त्वमुदि॑हि यज्ञेऽअस्मिन् ॥६९॥

अम्बा देवता। त्रिष्टुप्। षड्जः॥

भा०—हे (देवि पृथिवि) देवि ! पृथिवि ! तू (स्वधया) अन्न और जल से या स्वधा = अर्थात् शरीर को धारण पोषण करने वाली शक्ति से (असुरी माया) प्राणों की या प्राणों में रमण करने वाली जीवों या बलवान् बुद्धिमान् पुरुषों की प्रज्ञा या बुद्धि या चमत्कार करने वाली अदभुत शक्ति से (कृता असि) बनाई जाती है, तैयार की जाती है। तू (स्वस्तये) कल्याण के लिये (दृंहस्व) दृढ़ हो, वृद्धि को प्राप्त हो। (इदम् हव्यम्) यह अन्न, उपादेय भोग्य पदार्थ (देवेभ्यः) विद्वान्, विजयी पुरुषों को (जुष्टम्-अस्तु) प्रिय लगे। (त्वम्) तू (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में, इस यज्ञ, प्रजापति राजा के आश्रय रहकर (अरिष्टा) विना क्लेश पाये, अपीड़ित, सुखी, प्रसन्न रहती हुई (उद् इहि) उदय को प्राप्त हो, उन्नतिशील हो। पृथिवी के भीतर अग्नि है, उखा नाम हांडी के भीतर अग्नि रक्खी जाती है, आसुरी अर्थात् विस्फोटक बॉम्ब आदि में भीतर अग्नि है, इस उपमा के बल से

६८, ६९—मास्वौख्यौ। सर्वा०॥

पृथिवी निवासी प्रजा भी अपने भीतर राजा, विद्वान् रूप अग्नि को धारण करके और गृहपत्नी पति के वीर्य रूप अग्नि (तेज) को धारण करके आसुरी माया प्राणधारक जीवन को गर्भ में धारनेवाली भूमि के समान हो जाती है ॥ शत० ६ । ६ । २ । ३

स्त्री-पक्ष में हे देवि ! तू (स्वधया कृता असि) अन्न से पुष्ट होकर कल्याण के लिये (दृंहस्व) वृद्धि को प्राप्त हो । तेरा यह अन्न विद्वानों को तृप्तिकर हो । तू इस यज्ञ, प्रजापति या गृहस्थ कार्य से (उदिहि) उदय को प्राप्त हो ।

द्रुवन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः ।
सहसस्पुत्रोऽअद्भुतः ॥ ७० ॥ ऋ० २ । ७ । ३ ॥

सोमाहुतिर्भार्गव ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(द्रु-अन्नः) अग्नि जिस प्रकार काष्ठों को जलाता है, वे ही उसके अन्न हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी (द्रु-अन्नः) 'द्रु' अर्थात् ओषधि वनस्पतियों का आहार करने हारा है । (सर्पिरासुतिः) अग्नि जिस प्रकार घी से बढ़ता है इसी प्रकार तू भी घृत के सेवन से वृद्धि को प्राप्त होने वाला अथवा सर्पिः, अर्थात् वीर्य को आसेचन करने में समर्थ है। वह (प्रत्नः) सदा से (वरेण्यः) स्वीकार करने योग्य, (होता) वीर्य आदि का आधानकर्त्ता, एवं पत्नी का ग्रहीता है । वह (सहसः पुत्रः) बल से उत्पन्न एवं बलवान् पुरुष से उत्पन्न होकर पुत्र रूप से (अद्भुतः) आश्चर्यजनक गुण, कर्म, स्वभाव वाला होता है ॥ शत० ६ । ६ । २ । १४ ॥

राजा पक्ष में—पृथिवी रूप उखा में राजा रूप अग्नि (द्रु-अन्नः) काष्ठादि को जलाने वाले अग्नि के समान तेजस्वी, (सर्पिरासुतिः) तेज से उत्पन्न, (प्रत्नः वरेण्यः होता) सभापतिरूप से वरने योग्य, सबका दाता, प्रतिग्रहीता, (सहसः) अपने बल पराक्रम से युक्त, (पुत्रः) बहुतों को दुःखों से त्राण करने में समर्थ (अद्भुतः) आश्चर्यकारी, प्रतापवान् है ।

इसी प्रकार स्त्री रूप उखा में ओषधि वनस्पतियों का परिणाम भूत वीर्य, तेजोमय, स्वीकार करने योग्य, गर्भ में आहुति के तुल्य है। वह बल से उत्पन्न आश्चर्यकारी है, जो पुत्र रूप से उत्पन्न होता है।

परस्या अधि संवतोऽवराँ२ऽ अभ्यातर।
यत्राहमस्मि ताँ२ऽ अव ॥ ७१ ॥ ऋ० ८ । ६४ । १५ ॥

विरूप आंगिरस ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—स्त्री-पक्ष में—हे कन्ये! परस्याः) उत्कृष्ट गुणोंवाली कन्या की अपेक्षा (संवतः अधि)समान कोटि के और (अवरान्) नीची कोटि के पुरुषों को तू (अभि आतर) त्याग दे, मत वर। और (यत्र) जिस पदपर (अहम् अस्मि) मैं उत्कृष्ट पद का पुरुष स्थित हूं तू भी (तान्-अव) उनको वरण कर, उनको प्राप्त हो।

राजा के पक्ष में—हे राजन् अग्ने! (परस्याः) शत्रु सेना के साथ होनेवाले (संवतः अधि) युद्ध में स्थित हम (अवरान् अभ्यातर) समीपस्थों की रक्षा कर (यत्र अहम् अस्मि) मैं जहां स्थित हूं (तान् अव) उन सब की रक्षा कर ॥ शत० ६ । ६ । २ । १ ।

परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहागहि।
पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरा मृधः ॥ ७२ ॥

आरुणिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे राजन्! तू (रोहिदश्वः) लाल वर्ण के या वेगवान् अश्वों से युक्त होकर (परमस्याः) दूर से दूर की दिशा के (परावतः) दूर देश से भी (आ गहि) यहां आकर प्राप्त हो। हे अग्ने! शत्रुतापक राजन्! तू (पुरीष्यः) समृद्धिमान्, इन्द्रपद के योग्य, (पुरु-प्रियः) बहुत सी प्रजाओं को प्रिय होकर (त्वं मृधः) तू शत्रु सेनाओं को (तर) विनाश कर।

गृहपति पक्ष में—हे अग्नि के समान तेजस्विन्! पुरुष! अग्नि आदि वाहन-साधनों से सम्पन्न होकर (परमस्याः कृते) परम श्रेष्ठ स्त्री को प्राप्त

करने के लिये (परावतः) दूर देश से भी (इह आगहि) यहां आ और (मृधः तर) शत्रुओं या रोगों, कष्टों को विनाश कर, उनसे पार हो ॥शत० ६।६।३।४॥

यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि ।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥७३॥ ऋ० ८। ९१। २० ॥

जमदग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप तेजस्विन् अग्ने ! (यत्) जब (ते) तेरे लिये (कानि कानि चित्) जो कुछ भी नाना प्रकार के (दारुणि = दारूणि) काष्ठ जिस प्रकार अग्नि में रक्खे जाते हैं और उनको प्रज्वलित करते हैं उसी प्रकार, हे राजन् ! (ते) तुझे हम (कानि-कानि चित्) नाना प्रकार के कितने ही (दारुणि) हिंसा जनक, शत्रु के भयजनक, शत्रु सेनाओं के विदारण करने में समर्थ शस्त्रास्त्र, साधन, अथवा आदर योग्य उत्तम २ पदार्थ (आ दध्मसि) प्रदान करते हैं (तत्) वह (सर्वम्) सब (ते) तेरा (घृतम्) तेजोवर्धक, प्रिय (अस्तु) हो । हे (यविष्ठय) बलवन्, सबसे महान् (तत्) उसको (जुषस्व) तू प्रेम से स्वीकार कर ॥ शत० ६ । ६ । ३ । ५ ॥

'दारुणि'—दारूणि इति यावत् । 'दारूणि' इति ऋग्वेदीयः शतपथीयश्च पाठः । 'दारुणि' इत्यत्र 'रु' इति ह्रस्वश्छान्दसः । दारु दृणातेर्द्रुणातेर्वा, तस्मादेव द्रुः । इति निरु० ४ । ३ । ७ ॥ 'दसनि' ० इति उणादि ञुण् । दारु । दङ् आदरे, दृ भये, भ्वादी । दृ हिंसायाम्, भ्वादिः । दृ विदारणे क्र्यादिः । द्रञ् हिंसायाम् क्र्यादिः । तेभ्यो ञुण् । हिंसासाधनानि, आदरयोग्यानि, दारणसाधनानि आयुधानि दारूणि । 'दारुणि' इति सप्तम्यन्तं पदम् इति श्री दया० ॥

पति पक्ष में—हे पते ! हम जितने भी (दारूणि) अग्नि में काष्ठों के समान आदर योग्य पदार्थ तुझे प्रदान करें वे सब तुझे घृत के समान पुष्टिजनक, तेजोवर्धक हों । हे उत्तम युवक ! उनको तू स्वीकार कर ।

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो ऽअतिसर्पति। सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥७४॥ ऋ० ८। ९१। २१॥

जमदग्निर्ऋषिः। अग्निर्देवता। विराडनुष्टुप्। गांधारः॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार (उपजिह्विका) दीमक (अत्ति) काठ को खाजाती है और (यत्) जिस प्रकार (वम्रः) बड़ा दीमक(अतिसर्पति) फैलकर लग जाता है और जिस प्रकार आग तीव्रता से प्रज्वलित होता है (तत्) उसी प्रकार (सर्वं ते घृतम् अस्तु) सब पदार्थ तेरा 'घृत' के तुल्य तेज बढ़ानेवाला हो और तू उसे (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर। अथवा = हे राजन्! (उपजिह्विका) शत्रु के बीच उपजाप करनेवाली संस्था और (यत्) जो कुछ खाजाती है (वम्रः) दीमक के समान समस्त वृत्तान्त को राजा के सन्मुख वमन करनेवाला चर-विभाग (यत्) जिस पदार्थ तक भी (अति सर्पति) पहुंच जाय (तत् सर्वं) वह सब (ते घृतम् अस्तु) तेरे लिये यशोजनक एवं तेजोवर्धक ही हो। हे (यविष्ठ्य) उत्तम बलवान् राजन्! (तत् जुषस्व) उसका तू सेवन कर॥ शत० ६। ६। ३। ६॥

स्त्री पक्ष में—हे पुरुष (उप-जिह्विका) जिह्वा को वश करनेहारी निर्लोभ स्त्री जो पदार्थ और जो (वम्रः) प्राणों द्वारा बाहर आवे वह सब तुझे पुष्टिकारक हो।

अहरहरप्रयावं भरन्तो ऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो ऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम॥७५॥

अथर्व० १९। ५५। १॥

नाभानेदिष्ठ ऋषिः। अग्निर्देवता। विराट् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(तिष्ठते अश्वाय घासम् इव) घर पर खड़े घोड़े को जिस प्रकार नित्य नियम से, विना नागा, घास दिया जाता है उसी प्रकार हे राजन्! हम लोग (अहः-अहः) प्रतिदिन (घासम्) खाने पीने योग्य

भोग्य-सामग्री को (भरन्तः) प्राप्त करते हुए और तुझे प्रदान करते हुए (रायः पोषेण) धनैश्वर्य की समृद्धि से और (इषा) अन्न की समृद्धि से (सम् मदन्तः) अति हर्षित, आनन्द, तृप्त होते हुए, हे (अग्ने) गृहपते ! राज्यपते ! हम लोग (ते प्रतिवेशाः) तेरे पड़ोसियों के समान तेरे में प्रविष्ट, तेरे अधीन, तेरी बनाई धर्म-मर्यादाओं में रहते हुए हम (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों ॥ शत० ६ । ६ । ३ । ७ ॥

नाभा पृथिव्याः समिधानेऽअग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम् ॥७६॥

नाभानेदिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(पृथिव्याः नाभा) पृथिवी के नाभिस्थान, केन्द्र या मध्य भाग में (समिधाने) अति प्रदीप्त (अग्नौ) अग्नि में जिस प्रकार आहुति दी जाती है उसी प्रकार हम लोग (बृहते) बड़े भारी (रायः पोषाय) ऐश्वर्यों की वृद्धि के लिये (इरम्मदम्) अन्नादि पदार्थों और पृथ्वी आदि ऐश्वर्य से प्रसन्न होनेवाले, (बृहदुक्थम्) महान् कीर्ति से युक्त, (यजत्रम्) दानशील (पृतनासु) संग्रामों में (सासहिम्) शत्रु को बराबर पराजय करने में समर्थ (जेतारम्) विजयी (अग्निम्) अग्नि, तेजस्वी, प्रतापी पुरुष को (हवामहे) हम लोग आदर से बुलावें, उसका आदर करें ॥ शत० ६ । ६ । ३ । ९ ॥

याः सेनाऽअभीत्वरीराव्याधिनीरुगणाऽउत ।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्तेऽअग्नेऽपिदधाम्यास्ये ॥ ७७ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् । गान्धारः ।

भा०—राजा को आग्नेय स्वरूप । हे (अग्ने) शत्रुसंतापक राजन् ! (याः) जो (अभीत्वरीः) हम पर आक्रमण करनेवाली, (आव्याधिनीः) सब ओर से शस्त्र प्रहार करने वाली, (उगणाः) शस्त्र आदि उठाये हुए (सेनाः) सेनाएं हों (उत) और (ये स्तेनाः) जो चोर और (ये च)

जो (तस्कराः) नाना हत्या आदि पाप करनेवाले डाकू हैं (तान्) उन सबको (ते) तेरे (आस्ये) शत्रुओं के विनाशकारी बल में, मुख में जिस प्रकार ग्रास डाला लिया जाता है उसी प्रकार (दधामि) झोंक दूं। तू उनको ग्रस जा, विनाश कर ॥ शत० ६ । ३ । ३ । १० ॥

दꣳष्ट्राभ्यां मलिम्लूञ्जम्भ्यैस्तस्कराँ २ऽ उत । हनुभ्याꣳ स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान् ॥ ७८ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—जिस प्रकार मनुष्य अपनी (दंष्ट्राभ्याम्) दाढ़ों से चबाकर (जम्भ्यैः) मुखके, अगले कुतरनेवाले दांतों से कुतर २ कर (हनुभ्याम्) दोनों दाढ़ों और जबाड़ों से कुचिल २ कर उत्तम रीति से (सु-खादितान्) चबाये गये ग्रासों को खा जाता है, उसी प्रकार हे अग्ने ! राजन् ! हे (भगवः) ऐश्वर्यवन् राजन् ! (दंष्ट्राभ्याम्) दांतों के समान दशन करनेवाले शस्त्रों के दोनों दलों से (मलिम्लून्) मलिन कार्य करने, एवं प्रजाओं की मृत्यु करनेवाले उपायों और दुष्टों को और (तस्करान्) छुपे पापों, हत्याओं को करनेवाले पुरुषों को (जम्भ्यैः) बांध २ कर मारनेवाले उपायों से, और (हनुभ्याम्) हनन करनेवाले द्विविध उपायों से (स्तेनान्) चोर, डाकू पुरुषों को (त्वं) तू (खाद) चबा डाल, कुचिल २ कर ग्रस ले ॥ शत० ६।३।३।१० ॥

**ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने ।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः ॥ ७९ ॥**

नाभानेदिष्ठ ऋषिः । सेनापतिरग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो (जनेषु) प्रजा के लोगों में (मलिम्लवः) मलिनाचार वाले और जो (वने) वन में (स्तेनासः) चोर और (तस्करासः) डाकू छिपे हों, (कक्षेषु) हमारे गृहों के इधर उधर या नदी पर्वतादि के तटों में या राजा के पार्श्ववर्त्ती सामन्त राजाओं और अमात्य आदि में (अघायवः) अपने पाप से दूसरों पर पापाचार करना चाहते हैं

(तान्) उन सबको (जम्भयोः) दाढ़ों में ग्रास के समान (ते) तेरे वश में (दधामि) धरता हूं ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १० ॥

यो ऽअस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद्यो ऽअस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु ॥ ८० ॥

अध्यापकोपदेशकोऽग्निर्देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (अस्मभ्यम्) हमारे प्रति (अरातीयात्) शत्रु के समान वर्ताव करे (यः च) और जो (जनः) जन (नः) हम से (द्वेषते) द्वेष, अप्रीति का वर्ताव करे। (यः च) जो (अस्मान्) हमारी (निन्दात्) निन्दा करे और (धिप्सात् च) हमें मारना या हम से छलकर हमें हानि पहुंचाना चहाता है (सर्वं तम्) उन सबको हे राजन्! (मस्मसा कुरु) दांतों में अन्न के समान पीस डाल ॥ शत० ६।६।३।१० ॥

सꣳशितं म ब्रह्म सꣳशितं वीर्युं बलम् । सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥ ८१ ॥ अथर्व० ३ । १९ । १ ॥

अग्निः पुरोहितो यजमानश्च देवते । निचृदार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यस्य) जिसका (अहम्) मैं (पुरोहितः) पुरोहित, मार्ग-दर्शी (अस्मि) होऊं। उसका (जिष्णुः) जयशील (क्षत्रं) क्षात्रबल अथवा वही (जिष्णु क्षत्रम्) विजयशील क्षत्रिय कुल (संशितम्) खूब अच्छी प्रकार तीव्र रहे । और (मे) मेरा (ब्रह्म) ब्रह्म,वेदज्ञान और ब्रह्मचर्य बल भी (संशितम्) खूब तीक्ष्ण रहे । और मेरा (वीर्यं बलम्) वीर्य और बल पराक्रम भी (संशितम्) खूब तीक्ष्ण, प्रचण्ड रहे ॥ शत० ६।६।१४॥

उदेषां बाहू ऽअतिरमुद्वर्चो ऽअथो बलम् । क्षिणोमि ब्रह्मणा-मित्रानुन्नयामि स्वाँ२ऽअहम् ॥ ८२ ॥ अथर्व० ३ । २७ । ३ ॥

८०—०'भस्मसा कुरु' इति० द० । तन्मते भस्मसात् इत्यत्र छान्दसस्तलोपः। मस्मसा इति सर्वत्र पाठः । 'सर्वान् निमष्मषाकरं दृषदा खल्वां इव', [इति अथर्व० ५ । ३ । ८ ॥] अथर्वगतः पाठस्तत्रानुसंधेयः ।

८१—सशितं म इदं ब्रह्म० क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषाम० इति अथर्वपाठः ॥

अग्निः सभापतिर्यजमानो वा देवता । विराड्नुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(एषाम्) मैं इन दुष्ट पुरुषों एवं शत्रुओं के (बाहू) बल वीर्यों को (उत् अतिरम्) उल्लंघन कर जाऊं। (अथो) और उनके (वर्चः) तेज और (बलम्) शरीर-बल या सेना-बलको भी (उद् अतिरम्) अतिक्रमण कर जाऊं, उनसे अधिक होजाऊं । (ब्रह्म) वेद-ज्ञान के बल से अथवा अपने बड़े भारी क्षात्रबल से मैं (अमित्रान्) शत्रुओं का (क्षिणोमि) विनाश करूं। और (अहम्) मैं (स्वान्) अपने पक्ष के योद्धा, वीर पुरुषों को (उत् नयामि) ऊंचा उठाऊं, उनको उन्नत पद प्रदान करूं ॥ शत० ६ । ३ । ३ । १५ ॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्रप्र दातारं तारिषऽऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ ८३ ॥

अन्नपतिर्यजमानः पुरोहितश्च देवताः । उपरिष्टाद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (अन्नपते) अन्नों के पालक स्वामिन् ! तू (नः) हमें (शुष्मिणः) बलकारी, (अनमीवस्य) रोगरहित (अन्नस्य) अन्न (देहि) दे और (दातारम्) दानशील पुरुष को (प्र-प्र तारिषः) खूब बढ़ा । उसे भरा पूरा, सन्तुष्ट रख । (नः) हमारे (द्वि-पदे) दो पाये मनुष्य आदि और (चतुष्पदे) चौपाये गौ आदि पशुओं के लिये (ऊर्जं धेहि) बलकारी अन्न प्रदान कर ॥ शत० ६ । ६ । ४ । ७ ॥

॥ इत्येकादशोऽध्यायः ॥
[तत्र त्र्यशीतिर्मन्त्राः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्य एकादशोऽध्यायः ॥

८३—विश्वकर्मणे स्वाहा । इति काण्व० ।

अतः परं १२ । ४४ मन्त्रः पठ्यते । काण्व० ।

अथ द्वादशोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ दृशानो रुक्म ऽउर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः। अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः ॥ १॥

ऋ० १० । ४५ । ८ ॥

वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(दृशानः) साक्षात् स्वयं दीखता हुआ, और समस्त पदार्थों को दिखानेवाला, स्वयंद्रष्टा, (रुक्मः) दीप्तिमान्, (उर्व्या) बड़ी भारी कान्ति से या विशाल इस पृथ्वी सहित (श्रिये) अपनी परम कान्ति से (रुचानः) प्रकाशित होता हुआ, सूर्य जिस प्रकार (दुर्मर्षम् आयुः) अविनाशी, जीवन सामर्थ्य, अन्नादि को (वि अद्यौत्) विविध प्रकार से प्रकाशित करता है । उसी प्रकार (दृशानः) सर्व पदर्थों को विज्ञान द्वारा दर्शाने वाला, (श्रिये रुचानः) महान् लक्ष्मी की इच्छा करता हुआ, (रुक्मः) कान्तिमान्, तेजस्वी, ऐश्वर्यवान्, विद्वान् राजा (दुर्मर्षम्) शत्रुओं और बाधक कारणों से अपराजित जीवन को (उर्व्याः) इस विशाल पृथ्वी पर (वि अद्यौत्) नाना तेजों से प्रकट करता है और अपना तेज दिखाता है । (अग्निः) अग्नि, दीप्तिमान् सूर्य जिस प्रकार (वयोभिः) अपनी शक्तियों, तेजों, किरणों से (अमृतः) अमृत, अमर (अभवत्) है उसी प्रकार (अग्निः) विद्वान् ज्ञानी एवं अग्रणी के समान तेजस्वी राजा भी (वयोभिः अमृतः अभवत्) अपने ज्ञानबलों और अन्नों से, अपने वयोवृद्ध सहायकों से अमृत, अमर, अखण्डित होकर रहता है । (यत्) क्योंकि (एनं) उस सूर्य को (सु-रेताः) उत्तम वीर्य वाला,

१—अतः परमुखाधारणम् [१—४५]

समस्त ब्रह्माण्ड के उत्पादन सामर्थ्य से युक्त, (द्यौः) तेजोयुक्त, महान् हिरण्यगर्भ (अजनयत्) उत्पन्न करता है। इसी प्रकार (एनम्) इस विद्वान् को और तेजस्वी राजा को भी (सुरेताः द्यौः) उत्कृष्ट वीर्यवान् तेजस्वी पिता और आचार्य (अजनयत्) उत्पन्न करता है । असह्य पराक्रमी, तेजस्वी पुरुष को तेजस्वी पिता माता ही उत्पन्न करते हैं । शत० ६ । ७ । २ । १ ॥

नक्तोषासा सर्मनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳ समीची। द्यावाक्षामा रुक्मोऽअन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाः॥२

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जिस प्रकार (नक्तोषासा) रात्रि और दिन दोनों (वि-रूपे) एक दूसरे के विपरीत कान्ति वाले, तमः स्वरूप और प्रकाशस्वरूप होकर (समीची) परस्पर अच्छे प्रकार मिल कर सूर्य को धारण करते हैं उसी प्रकार माता पिता दोनों (समनसा) एकचित्त होकर (वि-रूपे) विचित्र स्वरूप, या विविध रुचिवाले और (समीची) परस्पर संगत होकर (एकम्) एक (शिशुम्) बालक को (धापयेते) दुग्ध-रसपान कराते और अन्न से पुष्ट करते हैं उसी प्रकार (नक्त-उषासा) रात दिन के समान अप्रकाश, अज्ञानी, या निस्तेज निर्बल और ज्ञानी, सतेज और सबल दोनों प्रकार के जन (समीची) परस्पर संगत होकर (शिशुम्) बालक के समान ही प्रेमपात्र (एकम्) एकमात्र राजा को (धापयेते) रस, अन्न और बलद्वारा पुष्ट करते हैं। वह भी (द्यावाक्षामा) आकाश और पृथिवी के (अन्तः) भीतर (रुक्मः) दीप्तिमान् सूर्य के समान तेजस्वी और पुत्र के समान माता पिता के बीच निर्बल प्रजा और सबल शासकों के बीच तेजस्वी होकर राजा (वि भाति) प्रकाशित होता है। (द्रविणोदाः) वीर्य, बल, अन्न को प्रदान करनेवाले (देवाः) वीर, विजयी, पराक्रमी राजगण, उस (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को (धारयन्) धारण करें ॥ शत० ६ । ७ । २ । ३ ॥

द्रविणोदाः कस्मात्। धनं द्रविणमुच्यते यदेनमभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति। तस्य दाता द्रविणोदाः। निरु० ८। १। २॥

विश्वा॑ रू॒पाणि॒ प्रति॑मुञ्चते क॒विः प्रासा॑वीद्भ॒द्रं द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे। वि नाक॑मख्यत्सवि॒ता वरे॑ण्यो॒ऽनु॑ प्र॒याण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति ॥३॥

श्यावाश्व ऋषिः। सविता देवता। विराड् जगती। निषादः॥

भा०—(कविः) क्रान्तदर्शी, विद्वान् पुरुष (विश्वा रूपाणि) समस्त प्रकार के पदार्थों को (प्रति मुञ्चते) धारण करता, और प्रकट करता है और (द्विपदे) दो पाये, मनुष्यों और (चतुष्पदे) चौपाये, पशुओं के लिये (भद्रं) सुख, कल्याण को (प्रासावीत्) उत्पन्न करता है और वह सब का (सविता) प्रेरक, (वरेण्यः) सब के वरण करने योग्य, सर्वश्रेष्ठ पुरुष, (नाकम्) अत्यन्त सुखस्वरूप, स्वर्ग और मोक्ष को भी (वि अख्यत्) विशेषरूप, से प्रकाशित करता, उसका उपदेश करता है। और (उपसः प्रयाणम्) प्रातः, प्रभात के प्राप्त होने के (अनु) समय में, जिस प्रकार सूर्य चमकता है उसी प्रकार वह भी (उपसः) अपने दाहक, शत्रुनाशक तेज के (प्रयाणम् अनु) अच्छी प्रकार प्राप्त हो जाने पर (विराजति) तेजस्वी होकर विराजता है॥ शत० ६। ७। २। ४॥

सु॒प॒र्णो॑ऽसि ग॒रुत्माँ॑स्त्रि॒वृत्ते॒ शिरो॑ गाय॒त्रं चक्षु॑र्बृहद्रथन्त॒रे प॒क्षौ। स्तोम॑ऽआ॒त्मा छन्दा॒ᳪं स्यङ्गा॑नि॒ यजू॑ᳪं षि॒ नाम॑। साम॑ ते त॒नूर्वा॑मदे॒व्यं य॑ज्ञाय॒ज्ञियं॒ पुच्छं॒ धिष्ण्या॑: श॒फाः। सु॒प॒र्णो॑ऽसि ग॒रुत्मा॒न्दिवं॑ गच्छ॒ स्व॑: पत ॥ ४॥

गरुत्मान् देवता। भुरिग् धृतिर्निचृत् कृतिर्वा व्यूहेन। ऋषभो निषादो वा॥

भा०—तू (सुपर्णः) उत्तम ज्ञानवान्, उत्तम पालन करने के

४—सुपर्णः कृतिश्चतुरवासाना गारुत्मी त्रिपञ्चनी। सर्वा०॥

साधनों से सम्पन्न, 'सुपर्ण', और (गरुत्मान्) महान् गम्भीर आत्मा-वाला है। (त्रिवृत्) कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से युक्त साधना (ते शिरः) शरीर में जिस प्रकार शिर मुख्य है उसी प्रकार तेरा मुख्य व्रत हैं, जो (शिरः) स्वयं समस्त दुःखों को नाश करता है। अथवा (त्रिवृत्) तीनों लोकों में व्यापक वायु के समान बलशाली पराक्रम, अङ्गार, अर्चि और धूम के समान शत्रुओं के जलाने, अपने गुणों के प्रकाशमान और सबको भय से कंपाने इन तीनों गुणों से युक्त तेज होना हे राजन्! (ते शिरः) तेरा शिर के समान मुख्य स्वरूप है। (गायत्रं चक्षुः) गायत्री से प्राप्त वेदज्ञान तेरी चक्षु है। अथवा गायत्र अर्थात् ब्राह्मण, विद्वान्, वेदज्ञ पुरुष और स्वतः गान करनेवाले को विपत्तियों से ज्ञान द्वारा त्राण करने में समर्थ वेद का परमज्ञान (ते चक्षुः) तेरे लिये सब पदार्थों का दर्शन करानेमें समर्थ चक्षु के समान है। (बृहद् रथन्तरे पक्षौ) बृहत् और रथन्तर ये दोनों साम जिस प्रकार यज्ञ के पक्ष या बाजू के समान हैं उसी प्रकार यज्ञमय प्रजापति राजा के बृहत् अर्थात् सर्वश्रेष्ठता, सर्वज्येष्ठता, अथवा उसका अपना ज्येष्ठ पुत्र युवराज या विशाल क्षात्रबल और 'रथन्तर' अर्थात् यह समस्त पृथिवी निवासी प्रजाजन और या वेदवाणी का ज्ञाता विद्वान्, या सेनापति या सम्राट् ये दोनों तुझ राजशक्ति के दो पक्ष अर्थात् बाजू हैं। (स्तोमः आत्मा) स्तोम अर्थात् ऋग्वेद तेरी आत्मा अर्थात् अपना स्वरूप या देह के मध्य भाग के समान है। अथवा (स्तोमः आत्मा) परम वीर्य ही तुझ प्रजापालक प्रजापति, राजा का आत्मा स्वरूप है। (अंगानि छन्दांसि) नाना छन्द जिस प्रकार यज्ञ के अङ्ग हैं उसी प्रकार प्रजापति रूप राष्ट्र के अन्तर्गत राष्ट्र को विपत्तियों से बचाने वाले एवं प्रजा के आश्रय स्थान होने से वे उसके अङ्ग हैं। (यजूंषि नाम) यजुर्वेद की श्रुतियां ही उसके स्वरूप के समान हैं। अर्थात् यजुर्वेद में प्रतिपादित

राष्ट्र के पालकों के विभाग ही राजा के कीर्तिजनक हैं। (वामदेव्यम् साम ते तनूः) हे यज्ञ ! तेरा शरीर वामदेव्य नामक साम है। जिस साम को वाम, वननीय एकमात्र उपास्य देव परमेश्वर ने ही सबको दर्शाया है। वह साम यज्ञ का स्वरूप है। और राष्ट्रमय प्रजापति का भी (वामदेव्यं) समस्त प्रजा के पालन करने का सामर्थ्य, सबके सम्भजन या शरण करने योग्य राजा का अपना (साम) शान्तिदायक सुखकारी उपाय ही (ते तनूः) तेरा विस्तारी राज्य है। (यज्ञायज्ञियं पुच्छम्) यज्ञ का यज्ञायज्ञिय नामक साम पुच्छ के समान है। प्रजापति का भी (यज्ञायज्ञियम्) पशु और अन्न आदि भोग्य समृद्धि और जन समृद्धि राष्ट्र या प्रजापालक राज्य के (पुच्छम्) पुच्छ अर्थात् आश्रय-स्थान के समान है। उसी प्रकार (धिष्ण्याः शफाः) यज्ञ के धिष्ण्य नामक अग्नि यज्ञ का आश्रय होने से वे शरीर में शफों या खुरों के समान हैं। उसी प्रकार राष्ट्रमय प्रजापति रूप यज्ञ के (धिष्ण्याः) धारण करने, और मार्गोपदेश करने में कुशल, विद्यावान्, वाग्मी या अन्तपाल अधिकारी लोग (शफाः) शफ, खुरों या चरणों के समान आश्रय हैं। इस प्रकार हे यज्ञ और राष्ट्रमय प्रजापति ! तू (गरुत्मान्) पक्षवाले (सुपर्णः) विशाल पक्षी के समान (गरुत्मान्) महान्, शक्तिमान् और (सु-पर्णः) उत्तम पालनकारी साधनों से युक्त (असि) है, तू (दिवं) सुन्दर विज्ञान, प्रकाशमय लोक या राजसभाभवन को (गच्छ) प्राप्त हो। (स्वः पत) और सुख को प्राप्त कर ॥ शत० ६। ७। २। ६॥

१. 'त्रिवृत्' — वायुर्वा आशुः त्रिवृत्। स एष त्रिषु लोकेषु वर्तते। श० ८। ४। १। ९॥ त्रिवृत् अग्निः। श० ६। ३। १। १५॥ ब्रह्म वै त्रिवृत्। तां० २। १६। ४ तेजो वै त्रिवृत्। तां० २। १७। २॥ वज्रो वै त्रिवृत् श० ३। ३। ४॥

२. 'गायत्रं'—यद् गायन्नत्रायत तद् गायत्रस्य गायत्रत्वम् । जै० उ० । ३ । ३८ । ४ ॥ गायत्री वा इयं पृथिवी । श० ४ । ३ । ४ । ९ ॥ गायत्रो वै ब्राह्मणः । ऐ० १ । १८ ॥ ब्रह्म वै गायत्री । ऐ० ४ । १ ॥

३ 'बृहत्'—श्रैष्ठ्यं वै बृहत् । तां० ८ । ९ । ११ ॥ ज्यैष्ठ्यं वै बृहत् । ऐ० । ८ । २ ॥ यथा वै पुत्रो ज्येष्ठः एवं वै बृहत् प्रजापतेः ॥ तां० ७ । ६ । ६ ॥ द्यौर्बृहत । तां० १६ । १० । ८ ॥ क्षत्रं बृहत् । ऐ० ८ । १२ ॥

४. 'रथन्तरं' साम—अयं वै लोको रथन्तरम् । ऐ० ८ । २ ॥ वाग् वै रथन्तरम् । ऐ० ४ । १८ ॥ रथन्तरं वै सम्राट् । तै० १ । ४ । ४ । ९ ॥ अग्निर्वै रथन्तरम् । ए० ५ । ३० ॥

५. स्तोमः—वीर्यं वै स्तोमाः । ता० १ । ५ । ४ ॥

६. (छन्दांसि) इन्द्रियं वीर्यं छन्दांसि । श० ७ । ३ । १ । ३७ ॥ प्राणाः वै छन्दांसि । कौ० ७ । ९ ॥ छन्दांसि वै देवाः साध्याः । ते अग्रे अग्निना अग्निमयजन्त । ऐ० १ । १६ ॥ प्रजापतेर्वा एतान्यंगानि यच्छन्दांसि । ऐ० २ । १८ ॥

७. 'वामदेव्यं साम'—पिता वै वामदेव्यं पुत्राः पृष्ठानि ता० ७ । ९ । १ ॥ प्रजापतिर्वै वामदेव्यम् । तां० ४ । ८ । १५ ॥ श० १३ । ३ । ३ । ४ ॥ पशवो वै वामदेव्यम् । तां० ४ । ८ । १५ ॥

८. 'यज्ञायज्ञियम्'—अतिशयं वै द्विपदां यज्ञायज्ञियम् । तां० ५ । १ । १६ ॥ वाग् यज्ञायज्ञियम् । ५ । ३ । ७ ॥ पशवोऽन्नाद्यं यज्ञायज्ञियम् । तां० १५ । ९ । १२ ॥

९. 'धिष्ण्याः'—वाग् वै धिषणा । श० ६ । ५ । ४ । ५ ॥ विद्या वै धिषणा तै० ३ । २ । २ । १ ॥ अन्तो वै धिषणा । ऐ० ५ । २ ॥ [स्वानः भ्राजः अंघारिः बम्भारिः हस्तः सुहस्तः कृशानुः] एतानि वै धिष्ण्यानां नामानि । श० ३ । ३ । ३ । ११ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द ऽआरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द ऽआरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व। विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्दऽआरोह दिवमनु वि क्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयता हन्तानुष्टुभं छन्दऽआरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥५॥

विष्णुर्देवता। भुरिगुत्कृतिः। षड्जः॥

भा०—हे यज्ञमय प्रजापति, प्रजापालक के प्रथम क्रम अर्थात् प्रथम व्यवहार ! तू (विष्णोः) राष्ट्र में व्यापक सत्तावाले राजा का (सपत्नहा) शत्रु को नाश करनेवाला (क्रमः असि) क्रम, अर्थात् प्रथम चरण, कार्य का प्रथम भाग है। तू (गायत्रं छन्दः आरोह) गायत्र छन्द अर्थात् विद्वान् वेदज्ञ पुरुषों के त्राण करनेवाले पवित्र कार्य पर आरूढ़ हो। तू (पृथिवीम् अनु) पृथिवी और पृथिवी वासी प्रजा के अनुकूल रह कर (वि क्रमस्व) विविध प्रकार के कार्य कर। इसी प्रकार तू (विष्णोः क्रमः असि) व्यापक शक्ति का दूसरा स्वरूप है (अभिमातिहा असि) अभिमानी वैरी लोगों का नाश करनेहारा है। तू (त्रैष्टुभं छन्दः) तीन प्रकार के बलशाली क्षात्रबल पर (आरोह) आरूढ़ हो। और (अन्तरिक्षम् अनु विक्रमस्व) अन्तरिक्ष के समान सर्वाच्छादक एवं सर्वप्राणप्रद वायु के समान विक्रम कर। तू (विष्णोः क्रमः) विष्णु, सूर्य के समान समुद्रादि से जलादि ग्रहण करनेवाले व्यापक शक्ति का स्वरूप है। तू (अरातीयतः) कर-दान न करनेवाले शत्रुओं का (हन्ता) विनाशक है। तू (जागतं छन्दः) आदित्यों के कार्य व्यवहार पर और वैश्यवर्ग पर (आरोह) बल प्राप्त कर। तू (दिवम् अनु विक्रमस्व) सूर्य या मेघ के समान पृथ्वी पर से जल लेकर उसी पर वर्षा कर, जगत् के उपकार करने का व्रत धारण कर, अपना (वि क्रमस्व) पराक्रम कर। (विष्णोः क्रमः असि व्यापक वायु के समान कार्य करने में कुशल उसका प्रतिरूप है। (तू)

(शत्रुयताम् हन्ता) शत्रु के समान आवरण करने वाले द्रोहियों को नाश करने हारा है। तू (आनुष्टुभं छन्दः आरोह) समस्त प्रजा के अनुकूल सुख वृद्धि के कार्य-व्यवहार को प्राप्त कर। (दिशः अनु विक्रमस्व) तू दिशाओं को विजय कर अर्थात् दिशाओं के समान सब प्रजाओं को आश्रय देने में समर्थ हो ॥ शत० ६ । ७ । २ । १३-१६ ॥

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो ऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ६

ऋ० १० । ४५ । ४ ॥

वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—(अग्निः) अग्नि, विद्युत् जिस प्रकार (अक्रन्दत्) गर्जना करता है और (द्यौः) जल दान करनेवाला मेघ जिस प्रकार (स्तनयन् इव) गर्जना करता है उसी प्रकार (अग्निः) ज्ञानी, विद्वान् गम्भीर स्वर से उपदेश करे और मेघ के समान समान भाव से सबको ज्ञान प्रदान करे, इसी प्रकार तेजस्वी राजा सिंह गर्जना करे और मेघ के समान गम्भीर ध्वनि करे। मेघ (क्षामाः) क्षामा अर्थात् पृथ्वी को जिस प्रकार जलधारा रूप से प्राप्त होकर (वीरुधः सम् अञ्जन्) नाना प्रकार से उत्पन्न होने वाली लताओं को प्रकट करता है उसी प्रकार वह तेजस्वी राजा भी (क्षामाः) पृथिवी को (रेरिहत्) स्वयं भोग करता हुआ (वीरुधः) नाना प्रकार से उन्नतिशील प्रजाओं को (सम् अञ्जन्) ज्ञानादि से प्रकाशित करता है। वह (सद्यः) शीघ्र ही (जज्ञानः) प्रकट होकर अपने गुणों से (इद्धः) तेजस्वी एवं प्रकाशित होकर (हि) निश्चय से (ईम्) इस लोक को (वि अख्यत्) विशेष प्रकार से प्रकाशित करता है। और (रोदसी) आकाश और पृथिवी के (अन्तः) बीच में सूर्य के समान राजा प्रजा के बीच और विद्वान् पुत्र माता पिता के बीच

(भानुना) अपनी कान्ति से (आ भाति) प्रकाशित होता है ॥ शत० ६ । ७ । ३ । २ ॥

अग्ने॑ऽअभ्यावर्त्तिन्न॒भि मा॒ नि व॑र्त्त॒स्वायु॑षा॒ वर्च॑सा प्र॒जया॒ धने॑न । स॒न्या मे॒धया॑ र॒य्या पोषे॑ण ॥ ७ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अभ्यावर्तिन् अग्ने) सम्मुख आनेवाले या घर में पुनः आनेवाले गृहपते ! एव शत्रुओं को बार २ विजय करके पुनः लौटने वाले वीर विजयशील राजन् ! तू (मा अभि) मेरे प्रति (आयुषे) दीर्घ जीवन, (वर्चसा) तेज, (प्रजया) प्रजा, (धनेन) धन, (सन्या) धन लाभ (मेधया) मेधा बुद्धि, (रय्या) ऐश्वर्य और (पोषेण) पुष्टि इन सब के साथ (नि वर्त्तस्व) सम्पन्न होकर पुनः प्राप्त हो ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ६ ॥

अग्ने॑ ऽअङ्गिरः श॒तं ते॑ सन्त्वा॒वृतः॑ स॒हस्रं॑ त ऽउपा॒वृतः॑ । अधा॒ पोष॑स्य॒ पोषे॑ण॒ पुन॑र्नो न॒ष्टमाकृ॑धि॒ पुन॑र्नो र॒यिमा कृ॑धि ॥ ८ ॥

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—हे (अङ्गिरः अग्ने) ज्ञानवन् ! अंगारों के समान देदीप्यमान अग्ने ! तेजस्विन् ! राजन् ! (ते आवृतः) तेरे हमारे प्रति लौट कर आगमन भी (शतं सन्तु) सैकड़ों हों और (ते) तेरे (उपावृतः) हमारे समीप आगमन भी (सहस्रं सन्तु) हज़ारों हों । (अथ) और (पोषस्य) पुष्टिकारक धन-समृद्धि की (पोषेण) बहुत अधिक वृद्धि से (नः नष्टम्) हमरे हाथ से गये धन को भी (पुनः कृधि) हमें पुनः प्राप्त करा (नः) हमारे (रयिम्) ऐश्वर्य को (पुनः आ कृधि) फिर २ प्रदान कर ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ६ ॥

पुन॑रू॒र्जा निव॑र्त्तस्व॒ पुन॑रग्न ऽइ॒षायु॑षा । पुन॑र्नः पा॒ह्यꣳह॑सः ९॥

७–८—अग्न ऊर्ध्व बृहता । अग्न महाबृहता । सर्वा० ।

अग्निर्देवता । निचृदार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! राजन् ! तू (पुनः) वार २ (ऊर्जा) बल पराक्रम से युक्त होकर और (पुनः) वार २ (इषा) अन्न और (आयुषा) दीर्घ आयु से युक्त होकर (निवर्त्तस्व) लौट आ ; (नः) हमें (पुनः) वार २ (अंहसः) पाप से (पाहि) बचा ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ६ ॥

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ १० ॥

अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! राजन् ! तेजस्विन् ! तू (रय्या) ऐश्वर्य के (सह) साथ और (विश्वप्स्न्या) समस्त योग्य पदार्थों का भोग प्राप्त करानेहारी और (धारया) धारण करनेहारी विद्या और शक्ति से (विश्वतः परि) सब देशों से ऐश्वर्य को ला-लाकर (पिन्वस्व) देश को समृद्ध कर और (नि वर्त्तस्व) पुनः अपने देश में आ ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ६ ॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥ ११ ॥
ऋ० १० । १७३ । १ ॥

ध्रुव ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—मैं पुरोहित, हे राजन् ! (त्वा आहार्षम्) तुझको स्थापित करता हूं । तू (अन्तः) प्रजा के भीतर (अभूः) सामर्थ्यवान् हो । तू (अविचाचलिः) अचल, (ध्रुवः) ध्रुव, स्थिर, दृढ़ होकर (तिष्ठ) बैठ । (त्वा) तुझको (सर्वाः) समस्त (विशः) प्रजाएं (वाञ्छन्तु) चाहें । (त्वत्) तेरे हाथ से कहीं (राष्ट्रम्) राष्ट्र, राज्य का वैभव (मा अधिभ्रशत्) न निकल जाय ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ७ ॥

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय।
अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ऽअदि॑तये स्याम ॥ १२ ॥

ऋ० १ । २४ । १५ ॥

शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (वरुण) शत्रुओं को बांधने वाले या वारण करने हारे राजन् ! (अस्मत्) हम से (उत्तमम् पाशम्) शरीर के ऊपर के भाग में बंधे बन्धन को (उत् श्रथय) ऊपर से दूर कर । (अधमं पाशम् अव श्रथय) नीचे के बन्धन को नीचे गिरादे । (मध्यमं वि श्रथय) बीच के बंधे बंधन को विशेष रीति से शिथिल कर । (अथ) और हे (आदित्य) सूर्य के समान समस्त राष्ट्र को अपने वश में होकर लेनेहारे तेजस्वी पुरुष ! (वयम्) हम (तव व्रते) तेरी रक्षण-व्यवस्था में रहते हुए (अदितये) अखण्ड राज्य भोग के लिये (अनागसः) अपराध रहित होकर (स्याम) रहें ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ८ ॥

अग्ने॑ बृ॒हन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वो अ॑स्थान्निर्जग॒न्वान् तम॑सो॒ ज्योति॒षागा॑त्।
अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ग॒ऽआ जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॒न्यप्राः॥१३॥

त्रित ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(अग्ने) सब से प्रथम (बृहत्) महान् सूर्य जिस प्रकार (उषसाम् ऊर्ध्वः) उषा कालों, प्रभात वेलाओं के भी ऊपर (अस्थात्) प्रखर तेज से विराजता है और (ज्योतिषा) अपनी दीप्ति से (तमसः) अन्धकार को (निः जगन्वान्) दूर हटाता हुआ (अगात्) उदित होता है (अग्निः) दीप्तिमान् सूर्य (रुशता) कान्तिमान् (भानुना) अपने तेज से (स्वङ्गः) सुन्दर शोभा वाला होकर (विश्वा सद्मानि) सब घरों को भी (अप्राः) प्रकाश से पूर्ण करता है, उसी प्रकार हे राजन् ! तू भी (बृहत्) महान् शक्ति-सम्पन्न, (उषसाम् ऊर्ध्वः) शत्रुदाहक सेनाओं के ऊपर, उनका नायक होकर (ज्योतिषा) अपने पराक्रम रूप तेज से (तमसः) आवरण-

कारी शत्रुरूप अन्धकार को दूर हटाता हुआ उदित हो। ऐसा तेजस्वी होकर (रुशता भानुना) शत्रु के नाश करने वाले तेज से (जातः) सब प्रकार से समृद्ध होकर (सु-अङ्गः) उत्तम राज्य के अँगों से बलवान्, स्वयं भी सुदृढ़ अँगों वाला होकर (विश्वा सद्मानि) सब स्थानों को, सब के घरों को, समस्त विभागों को (आ अप्राः) पूर्ण कर, समृद्ध कर। शत० ६। ७। ३। १०॥

हुꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऽऋतजा ऽअद्रिजा ऽऋतं बृहत्॥ १४॥ ऋ० १०। ४०। ५॥ यजु० १०। २४॥

जीवेश्वरौ देवते। भुरिग् जगती। निषादः॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १०। २४॥ शत० ६।७। ३।११।१२॥

सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान्। मैनां तपसा मार्चिषाऽभिशोचीरन्तरस्याꣳ शुक्रज्योतिर्विभाहि। १५॥

अग्निर्देवता। विराट् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(मातुः) माता के (उपस्थे) समीप जिस प्रकार, विद्वान् पुत्र विराजता है और उसके सुख का कारण होता है, उसी प्रकार, हे (अग्ने) अग्ने! सूर्य के समान तेजस्विन्! हे राजन्! (त्वम्) तू (मातुः) अपने बनाने वाले, उत्पादक ज्ञानवान् पुरुष, अथवा भूमि या प्रजा के (उपस्थे) समीप, उसके पृष्ठ पर (विश्वानि वयुनानि) समस्त उत्कृष्ट ज्ञानों को जानता हुआ (सीद) विराजमान हो। (एनाम्) उसको (तपसा) तप से, तापजनक (अर्चिषा) ज्वाला के समान शस्त्र बल से (मा अभि-शोचीः) संतप्त मत कर। तू (अस्याम् अन्तः) उसके भीतर (शुक्र-ज्योतिः) शुद्ध, प्रकाशवान्, तेजस्वी, बलवान्, निष्पाप रीति से ऐश्वर्यवान् होकर (वि भाहि) विविध रूपों और गुणों से प्रकाशित हो॥ शत० ६।७।३।१५॥

१४—अन्ते बृहदिति यजुः। सर्वा०॥

अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायाः सदने स्वे ।
तस्यास्त्वꣳ हरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव ॥ १६ ॥

अग्निर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् ! राजन् ! (त्वम्) तू (उखायाः अन्तः) नाना ऐश्वर्यों को खोदकर निकालने की एकमात्र खान रूप भूमि एवं राष्ट्र की प्रजा के भीतर और (स्वे सदने) अपने आश्रयस्थान या आसन पर विराजमान रहकर (रुचा) दीप्ति से सूर्य के समान प्रज्वलित हो । और (त्वं) तू (हरसा) अपने ज्वालावत् तीव्र तेज के समान परराष्ट्र के हरण करने में समर्थ बल से (तपन्) तपता हुआ भी, हे (जातवेदः) ऐश्वर्यों से महान् ! तू (तस्याः) उस प्रजा के लिये (शिवः भव) सूर्य और अग्नि के समान ही कल्याणकारी हो ॥ शत० ६ । ७ । ३ । १५ ॥

शिवो भूत्वा मह्यमग्ने ऽअथो सीद शिवस्त्वम् ।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥ १७ ॥

अग्निर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तू (मह्यम्) मुझ राष्ट्रवासी प्रजा के लिये (शिवः भूत्वा) कल्याणकारी होकर (सीद) सिंहासन पर विराज । (त्वम् शिवः) तू कल्याणकारी है । इसलिये (सर्वाः दिशः) समस्त दिशाओं को (शिवाः कृत्वाः) कल्याणमय, सुखकारिणी बनाकर (इह) इस राष्ट्र में (स्वं योनिम्) अपने आश्रय स्थान, प्रजा के ऊपर (आ सदः) विराजमान हो ॥ शत० ६ । ७ । ३ । १५ ॥

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे ऽअग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणा ऽअजस्रमिन्धान ऽएनं जरते स्वाधीः १८ ॥

१८-१९—वत्सप्रीर्भालन्दन ऋषिः ।

अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(प्रथम) सब से प्रथम (दिवः परि) आकाश में विद्यमान सूर्य के समान ज्ञान में निष्ठ (अग्नि) अग्नि, अग्रणी विद्वान् (जज्ञे) उत्पन्न होता है। (द्वितीयम्) दूसरे (अस्मत्) हममें से (जातवेदाः) वेदों का विद्वान्, एवं ऐश्वर्यवान् भी अग्नि, विद्युत् के समान है। (तृतीयम्) तीसरा (अप्सु) जलों में विद्यमान रस के समान, बडवानल के समान है जो (नृमणाः) मनुष्यों में सबसे अधिक विचारवान् है। जो स्वयं (अजस्रम्) नित्य-निरन्तर (इन्धानः) तेज से प्रकाशमान रहता है। (एनम्) उसको (स्वाधीः) उत्तम रीति से धारण करने में समर्थ विचारशील प्रजाजन (जरते) उसकी स्तुति करते हैं ॥ शत० ६ । ७ । ५ । २ ॥

वि॒द्मा ते॑ ऽअग्ने त्रे॒धा त्र॒याणि॑ वि॒द्मा ते॒ धाम॒ विभृ॑ता पुरु॒त्रा।
वि॒द्मा ते॒ नाम॑ पर॒मं गुहा॒ यद्वि॒द्मा तमुत्सं॒ यत॑ऽ आज॒गन्थ॑ ॥१६॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! (ते) तेरे (त्रेधा) तीन प्रकार के (धाम) धाम, तेजों को हम (विद्म) जानें। और (पुरुत्रा) समस्त प्रजाओं के पालने में समर्थ (त्रयाणि) तीनों (विभृता) विविधरूपों से धारण किये हुए (धाम) धारण सामर्थ्यों, और बलों को भी (विद्म) जानें। और (ते) तेरा (गुहा यत्) गुहा में, विद्वानों के हृदय में वा वाणी में छिपे या विख्यात तेरा जो (नाम) नाम, नमनकारी अर्थात् शत्रुओं को झुकाने वाला बल या ख्याति है उसको भी (विद्म) जानें और तू (यतः) जहां से, जिस स्थान से (आजगन्थ) आता था प्रकट होता है हम (तम्) उस (उत्सम्) बल आदि से सम्पन्न तेरे निकास को भी (विद्म) जानें ॥ शत० ६ । ७ । ४ । ४ ॥

'त्रेधा धाम'—अग्नि, विद्युत् और सूर्य।

'त्रयाणि धामानि' भवन्ति स्थानानि, नामानि, जन्मानि। निरुक्त अथवा आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्न्यादीनि ।

समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ऽईधे ऽदिवो अग्न ऽऊधन् ।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवासंमपामुपस्थे महिषा ऽअवर्धन् २०

अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(नृमणाः) मनुष्यों के भीतर अपने चित्त को देने वाला, लोकोपकारक पुरुष (त्वा) तुझ अग्नि को (समुद्रे) समुद्र के बीच और (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर से भी विद्युत् या बड़वानल के रूप में जिस प्रकार (ईधे) प्राप्त करता है उसी प्रकार (समुद्रे अप्सु अन्तः त्वा ईधे) उत्तम अभ्युदय के मार्ग पर प्रजाओं के बीच राजा को प्रज्वलित करता है। (नृ-चक्षाः) मनुष्यों को ज्ञानदर्शन करानेवाला विद्वान् जन ही (दिवः ऊधन्) सूर्य प्रकाश के उद्गम-स्थान, या आकाश के ऊधस्, अर्थात् गाय के थान के समान नित्य रस प्रदान करनेवाले मेघ में विद्युत् के समान (दिवः ऊधन्) ज्ञान-प्रकाश के उद्गम-स्थान आचार्य पद पर (ईधे) प्रज्वलित करता है और (तृतीये) तीसरे सर्वोच्च (रजसि) लोक वा आश्रम में (तस्थिवांसम्) विराजमान (त्वा) तुझको (महिषाः) बड़े २ विद्वान् लोग (अपाम् उपस्थे) प्रजाओं के बीच, जलों के बीच, विद्युत् के समान (अवर्धन्) बढ़ावें ॥ शत० ६ । ७ । ४ । ५ ॥

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो ऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः २१

भा०—व्याख्या देखो अ० १२ । ६ ॥

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः ।
वसुः सूनुः सहसोऽअप्सु राजा वि भात्यग्र ऽउषसामिधानः २२

अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(श्रीणाम्) लक्ष्मियों, ऐश्वर्यों का (उदारः) सत्पात्रों में दान करने हारा, (रयीणाम् धरुणः) ऐश्वर्यों का आश्रय स्थान, उनका धारण करनेवाला, (मनीषाणाम्) नाना ज्ञान करानेवाली मतियों को (प्रार्पणः) प्राप्त करानेवाला, (सोमगोपाः) सोम, ऐश्वर्यमय राष्ट्र या विद्वानों का रक्षक, (वसुः) प्रजाओं का बसाने वाला, (सहसः) शत्रु के पराजय करने वाले बल का (सूनुः) प्रेरक, सञ्चालक, सेनानायक (राजा) राजा (उषसाम् अग्रे) दिनों के प्रारम्भ में उदय होनेवाले सूर्य के समान (इधानः) स्वयं अपने प्रताप से दीप्त होनेवाला, (अप्सु) जलों या समुद्र के तल पर उठते सूर्य के समान प्रजाओं के बीच (वि भाति) विविध प्रकार से शोभा देता है ।

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी ऽअपृणाज्जायमानः ।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ २३ ॥

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा० — सूर्य जिस प्रकार (विश्वस्य) अपने प्रकाश से समस्त संसार का (केतुः) ज्ञान कराने वाला है और (भुवनस्य) समस्त लोक को (गर्भः) अपने वश में करने वाला, एवं उसमें नियामक शक्ति के रूप में व्यापक है और (जायमानः) प्रकट होता हुआ (रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (आ अपृणात्) सर्वत्र व्याप लेता है उसी प्रकार जो विद्वान् पुरुष (विश्वस्य केतुः) सबको अपने ज्ञान से ज्ञान कराने वाला, और (जायमानः) उदित होकर (रोदसी) राजवर्ग और प्रजावर्ग दोनों को (आ अपृणात्) पूर्ण और पालन करने में समर्थ है और वायु जिस प्रकार (अद्रिम् अभिनत्) मेघ को और विद्युत् पर्वत को काट देती है उसी प्रकार (वीडुम् अद्रिम्) बलवान्, अभेद्य शत्रुगण को (परा-यन्) उनपर

२३—'वाळुं'० इति काण्व० ।

आक्रमण करता हुआ (अभिनत्) तोड़ डालता है और (यत्) जिस (अग्निम्) अग्रणी नायक, ज्ञानवान् पुरुष को (पञ्च) पाचों जन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और निषाद (अयजन्त) आदर करते हैं वह राजा सूर्य के समान प्रकाशित होता है ।

उशिक् पा॑व॒को अ॑र॒तिः सु॑मे॒धा मर्त्ये॑ष्व॒ग्निर॒मृतो॒ नि धा॑यि ।
इय॑र्त्ति धू॒मम॑रु॒षं भरि॑भ्र॒दुच्छु॒क्रेण॑ शो॒चिषा॒ द्यामिन॑क्षन् ॥ २४ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(मर्त्येषु) मरणधर्मा देहों में (अमृतः) अविनाशी, अमृत स्वरूप जिस प्रकार विद्यमान है, उसी प्रकार मनुष्यों के बीच (उशिक्) सबका वशयिता, कान्तिमान्, (पावकः) सबको पवित्र करने वाला, (अरतिः) अत्यधिक मतिमान्, (सु-मेधाः) उत्तम बुद्धि सम्पन्न, विद्वान्, (नि-धायि) स्थापित किया जाय । (अग्निः) जिस प्रकार (अरुषं धूमम् इयर्त्ति) कान्तिरहित धूम को छोड़ता है उसी प्रकार वह विद्वान् भी (अरुषम्) रोषरहित (धूमम्) शत्रुओं को अपने पराक्रम से कंपाने वाले वीर्य या बल को (उत् इयर्त्ति) उन्नत करता है । समस्त राष्ट्र का (भरिभ्रत्) भरण पोषण करता हुआ (शुक्रेण शोचिषा) अति उज्ज्वल प्रकाश से सूर्य (द्याम् इनक्षन्) जिस प्रकार आकाश को व्यापता है उसी प्रकार वह भी उज्ज्वल प्रकाश से (द्याम्) तेजस्वी लोकों को या ज्ञानवान् पुरुषों को (इनक्षन्) प्राप्त होता है ।

दृ॒शा॒नो रु॒क्म उ॒र्व्या व्य॑द्यौद्दु॒र्मर्ष॒मायुः॑ श्रि॒ये रु॑चा॒नः ।
अ॒ग्निर॒मृतो॑ अभव॒द्वयो॑भि॒र्यदे॑नं॒ द्यौरज॑नयत्सु॒रेताः॑ ॥२५॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १२ । १ ॥

यस्ते॑ अ॒द्य कृ॒णव॑द्भद्रशोचे॒ऽपू॒पं दे॑व घृ॒तव॑न्तमग्ने ।
प्र तं न॑य प्रत॒रं वस्यो॒ अच्छा॒भि सु॒म्नं दे॒वभ॑क्तं यविष्ठ ॥२६॥

अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (देव) देव, राजन् ! (यः) जो (अद्य) आज, नित्य (ते) तेरे लिये (घृतवन्तम्) घृत से भरा हुआ (अपूपम्) अपूप, मालपूए के समान, भोज्य पदार्थ को (कृणवत्) तैयार करता है (तं) उस (प्रतरम्) उत्कृष्ट पुरुष को (प्र नय) प्राप्त कर । हे (यविष्ठ) बलवान् पुरुष ! तू (वस्यः) सर्व श्रेष्ठ (सुम्नम्) सुखकारी (देवभक्तम्) विद्वान् सात्विक पुरुषोचित अन्न को (अच्छ अभि) प्राप्त करे ॥

सेनापति पक्ष में—हे (भद्र-शोचे) कल्याण, कमनीय तेजवाले देव ! अग्ने ! राजन् ! (यः ते) जो तेरे (घृतवन्तम् अपूपम्) तेजोयुक्त इन्द्रिय और राज्य-सामर्थ्य को (कृणवत्) करता है (तं) उस (प्रतरं) राज्य कार्य को पार लगानेवाले राज्यकर्त्ता पुरुष को (वस्यः नय) उत्तम धन प्राप्त करा । हे (यविष्ठ) युवतम ? वीर्यवन् ? उस (देवभक्तं) राजा के सेवन योग्य (सुम्नं अच्छ अभि) सुखदायी धन भी प्रदान कर ॥

आ तं भज सौश्रवसेष्वग्न ऽउक्थ ऽउक्थ ऽआ भज शस्यमाने प्रियः सूर्ये प्रियो ऽअग्ना भवात्युज्जातेन भिनदुदुज्जनित्वैः २७

अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्वी, राजा के पद पर (प्रियः) सबको प्रिय, हितकारी और (अग्नौ) अग्नि, शत्रुतापक, अग्रणी सेना-नायक के पद पर भी (प्रियः) सर्वप्रिय (भवति) हो और (जातेन) अपने किये हुए कार्य से और (जनित्वैः) आगे होनेवाले कार्यों से भी (उत् भिनदत्) शत्रुओं को उखाड़ता और प्रजा के उपकार के कार्यों को उत्पन्न करता है । (तम्) उसको, हे राजन् ! (सौश्रवसेषु) उत्तम कीर्त्ति के पदों और अवसरों पर (आ भज) नियुक्त कर और (उक्थे उक्थे शस्यमाने) प्रत्येक प्रशंसा योग्य यज्ञादि कार्य के वर्णन करने के अवसर पर भी (तं आ भज) उसकी शुश्रूषा कर, उसको मान-पद प्राप्त करा ॥

त्वाम॑ग्ने यज॑मानाऽअनु द्यून् विश्वा वसु॑ दधिरे वार्या॑णि ।
त्वया॑ स॒ह द्रवि॑णमि॒च्छमा॑ना व्र॒जं गोम॑न्तमु॒शिजो॒ वि व॑व्रुः ॥२८॥

अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—हे (अग्ने) विद्वान् राजन् ! (त्वां यजमानाः) तेरे से संगति करनेहारे, तेरे सहयोगी, (अनु द्यून्) प्रतिदिन (वार्याणि) नाना वरण करने योग्य (विश्वा) सब प्रकार के (वसु) धनैश्वर्यों को (दधिरे) धारण करते हैं । और वे (त्वया सह) तेरे साथ ही उद्योग से (द्रविणम्) ऐश्वर्य को प्राप्त करना (इच्छमानाः) चाहते हुए (उशिजः) वशी एवं कामनावान् विद्वान् पुरुष (गोमन्तं व्रजं) उत्तम किरणों से युक्त सूर्य और विद्युतों से युक्त मेघ को जिस प्रकार किसान चाहते हैं, धनी लोग जिस प्रकार गौओं से भरी गोशाला को चाहते हैं, उसी प्रकार (गोमन्तं) किरणों से युक्त (व्रजम्) सूर्य के समान तेजस्वी, एवं वेद-वाणियों से युक्त (व्रजम्) सब से अभिगन्तव्य परिव्राट् के समान विद्वान् को (विवव्रुः) वरण करते हैं, उसके शरण में आते, उसको घेर कर बैठते हैं।

अस्ता॑व्य॒ग्निर्न॒राᳬसु॒शेवो॑ वैश्वान॒रऽऋषि॑भिः॒ सोम॑गोपाः ।
अ॒द्वे॒षे द्यावा॑पृथि॒वी हु॑वेम॒ देवा॑ ध॒त्त र॒यिम॒स्मे सु॒वीर॑म् ॥२९॥

अग्निर्देवता । विराडार्षी । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(नरां सु-शेवः) मनुष्यों को उत्तम सुख देनेवाला, (वैश्वानरः) समस्त मनुष्यों का हितकारी, प्रजापति, (सोम-गोपाः) सोम, राजपद या राष्ट्र के ऐश्वर्य का रक्षक (अग्निः) तेजस्वी राजा, नेता (ऋषिभिः) मन्त्रद्रष्टा विद्वान्, ऋषियों द्वारा (अस्तावि) स्तुति किया जाता है । हम (द्यावा-पृथिवी) राजा और प्रजा को, पिता और माता के समान (अद्वेषे) द्वेष रहित रहने का (हुवेम) उपदेश करते हैं । हे (देवाः) देवगण विद्वान् शासको ! विजयशील योद्धाओ और दानशील धनाढ्य पुरुषो ! आप लोग

(अस्मे) हमें (सुवीरम् रयिम्) उत्तम वीर पुरुषों से युक्त ऐश्वर्य को (धत्त) प्रदान करो ॥

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ ३० ॥

विरूपाक्ष आंगिरस ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ३ । १ ॥ शत० ६ । ८ । १ । ६ ॥

उदु त्वा विश्वे देवाऽअग्ने भरन्तु चित्तिभिः ।
स नो भव शिवस्त्वꣳ सुप्रतीको विभावसुः ॥ ३१ ॥

तापस ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् गांधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! राजन् ! (त्वा) तुझ को विश्वे-देवाः) समस्त विजयशील विद्वान् एवं दानशील पुरुष (चित्तिभिः) अपनी विद्याओं से और संचित शक्तियों से या बुद्धि पूर्वक किये कार्यों से (उद् भरन्तु) पूर्ण करें, उन्नत करें, तुझे बढ़ावें और (सः) वह तू (नः) हमारे लिये (सु-प्रतीकः) सुरूप, शत्रु के प्रति उत्तमता से जाने में समर्थ, (विभावसुः) विशेष तेजस्वी, ऐश्वर्यवान्, और सूर्य के समान दीप्तिमान्, (शिवः) कल्याणकारी (भव) हो ॥ शत० ६ । ८ । १ । ७ ॥

प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम् ।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिꣳसीस्तन्वा प्रजाः ॥ ३२ ॥

अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! विद्वन् ! (ज्योतिष्मान्) परम तेजस्वी होकर भी (त्वम्) तू (शिवेभिः अर्चिभिः) अपनी कल्याणकारी ज्वालाओं, एक मात्र शस्त्रमालाओं से (प्र इत् याहि) प्रयाण कर और (बृहद्भिः) अपने बड़े (भानुभिः) सूर्य के समान तेजों से (भासन्) प्रकाशित होता हुआ भी (प्रजाः) अपनी प्रजा को (तन्वा) शरीर से (मा हिंसीः)

कभी नष्ट मत कर । प्रजाओं को शारीरिक वध का दण्ड मत दे । उनको मत सता । अथवा (तन्वा प्रजाः मा हिंसीः) अपनी विस्तृत शक्ति से प्रजा का नाश मत कर । शत० ६ । ८ । १ । ॥ १० ॥

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् । सद्यो जज्ञानो विहीमिद्धो ऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥३३॥

भा०—व्याख्या देखो १२ । ६ ॥ शत० ६ । ८ । १ । १३ ॥

प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः । अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्यो ऽअतिथिः शिवो नः ॥ ३४ ॥

ऋ० ७ । ८ । ४ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह तेजस्वी राजा (यत्) जब (भरतस्य) अपने भरण पोषण, एवं पालन करने योग्य राष्ट्र के (प्र प्र शृण्वे) समस्त सुख दुःख स्वयं भली प्रकार सुनता है, उसके कष्टों पर कान देता है, तब (बृहद्भाः) विशाल तेजस्वी राजा (सूर्यः न) सूर्य के समान (रोचते) प्रकाशित होता है । और (यः) जो राजा (पृतनासु) सेनाओं से (पूरुम्) पूर्ण बलवान् शत्रु पर भी (अभि तस्थौ) चढ़ जाने में समर्थ है वह (दैव्यः) दिव्य शक्तियों से युक्त होकर (दीदाय) प्रकाशित होता है । और वह (नः) हमारा मंगलकारी होने से (अतिथिः) अतिथि के समान पूजनीय है ॥ शत० ६ । ८ । १ । १४ ॥

आपो देवीः प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत्स्योने कृणुध्वꣳ सुरभा ऽउ लोके । तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनत् ॥ ३५ ॥

आपो देवताः । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (देवीः आपः) दिव्य गुण वाले, विजय शक्ति से युक्त, एवं दानशील बलों के समान शुभ, शान्ति आदि गुणों में व्यापक एवं आप्त प्रजाओ ! तुम लोग (एतत्) इस (भस्म) राजा के अनुरूप तेज को

(प्रतिगृभ्णीत) धारण करो । (स्योने) सुखकारी, (सुरभौ लोके) ऐश्वर्यवान् लोक में, या उत्तम नियमकारी पद पर इसको (कृणुध्वम्) रखो, पालन करो । (तस्मै) उसके सुख के लिये (सु-पत्नीः) उत्तम पत्नी रूप (जनयः) स्त्रियां जिस प्रकार वीर्य धारण करने के लिये अपने प्रिय पति के सामने आदर से (नमन्तां) झुकती हैं । उसी प्रकार प्रजाएँ अपने राजा के प्रति आदर से झुकें । और (पुत्रः माता इव) पुत्र को जिस प्रकार माता पालती पोपती है उसी प्रकार हे आप्त प्रजाजनो ? आप लोग भी (एतत्) इस राजकीय तेज को (अप्सु) अपने उत्तम कार्यों और व्यवहारों द्वारा (बिभृत) पुष्ट करो ॥ शत० ६ । ८ । २ । ३ ॥

स्त्रियों के पक्ष में—हे पुरुषो ! (आपः देवीः) आप्त, शुभ गुणों वाली देवियों को आप लोग (एतत् भस्म प्रति गृभ्णीत) इस तेज को ग्रहण कराओ। (स्योने सुरभौ लोके उ कृणुध्वम्) उनको सुखमय स्थानों में रक्खो। पति के (एतत् भस्म) इस तेजस्वी वीर्य को (सुपत्नीः जनयः) उत्तम पत्नियें (नमन्ताम्) आदर से स्वीकार करें । और (माता पुत्रः इव एतत् बिभृत) पुत्र को माता के समान, उस वीर्य को धारण कर पोषण करें ।

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे ।
गर्भे सन् जायसे पुनः ॥ ३६ ॥ ऋ० ८ । ४ । । ९ ॥

विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—गर्भों में बीजोत्पत्ति की समानता से राजोत्पत्ति का वर्णन करते हैं । हे (अग्ने) तेजस्विन् ! राजन् ! जिस प्रकार जीव की (अप्सु संधिः) जलों में स्थिति है इसी प्रकार हे राजन् ! (अप्सु ते संधिः) आप्त प्रजाजनों में तेरा निवासस्थान है । जीव, जिस प्रकार (ओषधीः अनुरुध्यसे) ओषधियों को प्राप्त होता है, ओषधिरूप में उत्पन्न होता है, अथवा (सः) वह जीव (ओषधीः अनु) ओषधियों के समान (रुध्यसे) गर्भों

में उत्पन्न होता है वह ठीक ओषधियों के समान ही मातृ-योनि-कमल में गर्भित होकर, अपना मूल जमा कर उत्पन्न होता है। हे जीव ! तू (गर्भे सन् पुनः जायसे) गर्भ में रह कर पुनः पुत्ररूप से या शरीरधारीरूप से उत्पन्न होता है। उसी प्रकार राजा का भी (अप्सु संधिः) प्रजाओं के बीच में निवासस्थान है। हे राजन् (सः) ! वह तू (ओषधीः अनुरुद्ध्यसे) प्रजाओं के हित के लिये ही राज्यपद ग्रहण के लिये आग्रह किया जाता है। उनके बीच (गर्भे सन्) उनको ग्रहण या वश करने में समर्थ होकर, तू (पुनः जायसे) पुनः, २ शक्तिमान् होकर प्रकट होता है॥ शत० ६ । ८ । २ । ४ ॥

गर्भो॑ऽअ॒स्योष॑धीनां॒ गर्भो॒ वन॒स्पती॑नाम् ।
गर्भो॒ विश्व॑स्य भू॒तस्या॑ग्ने॒ गर्भो॑ऽअ॒पाम॑सि ॥ ३७ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे जीव ! अग्ने ! तू (ओषधीनां गर्भः असि) ओषधियों का गर्भ है, तू उनके भी बीच में विद्यमान है। तू (वनस्पतीनां गर्भः असि) वनस्पति, बड़े २ वृक्षों का गर्भ है, अर्थात् उनके बीच में भी विद्यमान है। (विश्वस्य भूतस्य गर्भः) समस्त उत्पन्न प्राणियों के बीच में विद्यमान है और (अपां गर्भः असि) जलों वा प्राणों के भीतर भी विद्यमान है। इसी प्रकार अग्नि या विद्युत् ओषधियों के रसों में, वनस्पतियों के काष्ठों में और समस्त पदार्थों के बीच और जलों के भीतर भी विद्यमान है। राजा के पक्ष में—(ओषधीनां) तापधारक वीर पुरुषों के (गर्भः) ग्रहण करने या वश करने में समर्थ है, (वनस्पतीनाम्) महावृक्ष के समान सर्वाश्रय बड़े २ पुरुषों को भी (गर्भः) वश करने में समर्थ है। (विश्वस्य भूतस्य गर्भः) समस्त प्राणियों को वश करने में समर्थ है। और (अपां गर्भः असि) आप्तजन, प्रजाओं को भी वश करने में समर्थ, उनसे स्वीकार किये जाने योग्य है॥ शत० ६ । ८ । २ । ४ ॥

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने ।
सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः ॥ ३८ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—जीवपक्ष में—हे (अग्ने) जीव ! तू (भस्मना) अपने देह को भस्म से (पृथिवीम् प्रसद्य) पृथिवी में मिलकर और (भस्मना) तेजमय वीर्य रूप से ही (अपः) जलों और (योनिं च) मातृयोनि को भी प्राप्त होकर (मातृभिः) माताओं के साथ पितृ रूपों में (संसृज्य) संयुक्त होकर (ज्योतिष्मान्) तेजस्वी बालक होकर (पुनः आसदः) पुनः इस लोक में आता है । अग्नि-पक्ष में—अग्नि भस्म होकर पुनः पृथिवी पर लीन हो जाता है और जलों से मिलकर फिर (मातृभिः) ईश्वर की निर्माणकारिणी शक्तियों से युक्त होकर वृक्षादि रूप में पुनः काष्ठ होकर उत्पन्न होता है और जलता है ॥ शत० ६ । ८ । २ । ३ ॥

राजा के पक्ष में—हे (अग्ने) तेजस्विन् राजन् ! (भस्मना) अपने तेज से (योनिम्) अपने मूलकारण उत्पादक और आश्रयरूप (अपः) प्रजाओं और (पृथिवीम्) पृथिवी को (प्रसद्य) प्राप्त होकर (मातृभिः) ज्ञानशील पुरुषों के साथ (संसृज्य) मिलकर (ज्योतिष्मान्) सूर्य के समान तेजस्वी होकर (पुनः) बार २ (आ सदः) अपने आसन पर आदर पूर्वक विराज ।

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने ।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याꣳ शिवतमः ॥ ३९ ॥

अग्निर्ऋषिः । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मातुः उपस्थे) माता की गोद में बालक सोता है, उसी प्रकार हे (अग्ने) राजन् ! तेजस्विन् ! तू भी (पुनः) फिर अपने (सदनम्) सिंहासन पर (आसद्य) बैठकर

(अपः पृथिवीम्) समस्त प्रजाओं और पृथिवी को (आसद्य) प्राप्त कर, उसपर अधिष्ठित होकर (अस्याम्) इस पृथिवी के भीतर (शिव-तमः) सब से अधिक कल्याणकारी होकर (शेपे) व्याप्त, प्रसुप्त, गम्भीर होकर रह ॥ शत० ६ । ८ । १ । ३ ॥

पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न ऽइषायुषा। पुनर्नः पाह्यंहसः ॥४०॥
सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ ४१ ॥

भा०—व्याख्या देखो १२ । ९,१० ॥ शत० ६ । ८ । २६ ॥

बोधा मेऽअस्य वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पीयति त्वोऽअनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्देऽअग्ने ॥४२॥
ऋ० १ । १४७ । २ ॥

दीर्घतमा ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (यविष्ठ) युवतम ! हे बलवन् ! हे (स्वधावः) स्वच्छ शरीर को धारण करने योग्य अन्न के स्वामिन् ! (मे अस्य) मुझ इस प्रार्थी के (मंहिष्ठस्य) अत्यन्त अधिक आवश्यक रूप से कहने योग्य और (प्र-भृतस्य) उत्तम रीति से यथाविधि आप तक पहुंचाये गये (वचसः) वचन को (बोध) यथावत् जानो । इस न्यायकार्य में (त्वः) कोई (पीयति) तेरी निन्दा करेगा और (अनु त्वः गृणाति) और कोई तेरी स्तुति करेगा । अथवा इस मेरे वचन को (त्वः पीयति) एक काटे और (त्वः) दूसरा (अनुगृणाति) उसके पक्ष में कहे । इस प्रकार दोनों पक्षों की सुन कर आप निर्णय करें । और मैं (वन्दारुः) वन्दना करने वाला, विनीत प्रार्थी, हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! सत्य असत्य के विवेक करनेवाले विद्वन् ! राजन् ! (ते तन्वं) तेरे शरीर, या विस्तृत शासन का (वन्दे) गुणानुवाद करता हूँ । राजा या विवेकी विद्वान् धर्माध्यक्ष के पास जाकर कोई अपना वचन लिखित

प्रार्थनापत्र आदि उचित रीति से कहे। एक उसके विपक्ष में और एक पक्ष में कहे। फैसला होने पर विनीत प्रार्थी आदरपूर्वक विदा हो॥ शत० ६।८।२।९॥

अध्ययनाध्यापन पक्ष में—हे (यविष्ठ) बलवन्! युवतम! (प्र-भृतस्य) उत्तम ज्ञान के धारण करनेवाले, (मंहिष्ठस्य) तुझ बड़े विद्वान् पुरुष का (वचसः बोध) वचन का ज्ञान प्राप्त कर। हे (अग्ने) ज्ञानवन् पुरुष! (पीयति त्वः अनुगृणाति त्वः) चाहे तुमारी कोई निन्दा करे या स्तुति करे, (वन्दारुः) अभिवादनशील शिष्य मैं (ते तन्वं बन्दे) तेरे शरीर के चरणों में नमस्कार करता हूं।

स बौधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्।
युयोध्युस्मद् द्वेषांᳮसि विश्वकर्मणे स्वाहा॥ ४३॥

सोमाहुतिर्ऋषिः। अग्निर्देवता। आर्ची पंक्तिः। पंचमः॥

भा०—हे (वसु-पते) धन ऐश्वर्य के पालक! हे (वसु-दावन्) धनप्रदाता! (मघवा) ऐश्वर्यवान् (सूरिः) विद्वान् (सः) वह तू (बोधि) हमारे समस्त अभिप्राय को या सत्य-असत्य को जान। और (अस्मत्) हम से (द्वेषांसि) द्वेष या परस्पर के अप्रीति के कारणों को (युयोधि) दूर कर। हममें न्यायपूर्वक फैसला कर। (विश्व-कर्मणे) समस्त राष्ट्र के कार्यों को उत्तम रीति से करनेहारे तेरे लिये (स्वाहा) हम सदा आदर वचन का प्रयोग करते हैं॥ शत० ६।८।२।९॥

पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः। घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः॥

अग्निर्देवता। स्वराडार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा० —(आदित्याः) आदित्य के समान विद्वान् (रुद्राः) रुद्र

४४—'कामास्स्वाहा' इति काण्व०।

ब्रह्मचारी, (वसवः) वसु ब्रह्मचारी (त्वाम्) तुझको (पुनः समिन्धताम्) वार २ प्रदीप्त करें । (ब्रह्माणः) ब्रह्म, वेद के विद्वान् लोग (यज्ञैः) यज्ञों या सत्संगों द्वारा, हे (वसुनीथ) ऐश्वर्य के प्राप्त करानेहारे ! (पुनः सम् इन्धताम्) वार वार तुझे प्रदीप्त करें, पुनः ज्ञानवान् करें और (त्वम्) तू (घृतेन) घी से अग्नि के समान, पुष्टिकारक पदार्थ से अपने (तन्वं) शरीर को (वर्धयस्व) पुष्ट कर । (यजमानस्य) दानशील या संगति करनेहारे पुरुष के (कामाः) समस्त संकल्प, समस्त आशाएं (सत्याः सन्तु) सत्य हों ॥

अपे॑त॒ वी॑त॒ वि च॑ सर्प॒तातो॒ येऽत्र॒ स्थ पु॑रा॒णा ये च॒ नूत॑नाः ।
अदा॑द्य॒मो॒ऽव॒सानं॑ पृथि॒व्या ऽअक्र॑न्नि॒मं पि॒तरो॑ लो॒कम॑स्मै ॥४५॥

पितरो देवताः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (पितरः) राष्ट्र के पालक पुरुषो ! आप लोगों में से (अत्र) इस राज्यपालन के कार्य में (ये पुराणाः) जो पुराने, पहले से नियुक्त और (ये च) जो (नूतनाः) नये नियुक्त हैं । वे (अप इत) दूर २ देशों में भी जायें, (वि इत) विविध देशों में भ्रमण करें, (वि सर्पत) विविध उपायों से सर्वत्र फैल कर गुप्त दूतों का भी काम करें । (यमः) सर्वनियन्ता राजा (पृथिव्याः) पृथिवी में (अवसानम्) तुम लोगों को अधिकार और स्थान (अदात्) प्रदान करता है । और (पितरः) राज्य के पालक लोग (अस्मै) इस राजा के लिये (इमं लोकम्) इस भूलोक को (अक्रन्) वश करते हैं ।

शिक्षा-पक्ष में—(ये पुराणा ये च नूतनाः) जो पुराने वृद्ध और नये (पितरः) पिता लोग हैं वे (अपेत) अधर्म से परे रहें । (वि इत) विशेष धर्म का पालन करें (अत्र वि सर्पत च) यहां ही विचरण करें । (यमः)

४५—अथ गार्हपत्यचयनम् ।

नियामक आचार्य (पृथिव्या अवसानं अदात्) पृथिवी में तुमको अधिकार पद दे, आप लोग इसके लिये इस सत्य संकल्पवान् पुरुष के लिये (इमं लोकम् अक्रन्) इस आत्मा का ज्ञान लाभ करावें ॥ शत० ७ । १ । १ ।२-४ ॥

संज्ञानमसि कामधरणम्मयि ते कामधरणं भूयात्। अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि चितस्थ परिचितऽऊर्ध्वचितः श्रयध्वम्॥४६॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे अग्ने! विद्वन्! तू (संज्ञानम् असि) समस्त प्रजा को ज्ञान देनेहारा है। (ते) तेरा (कामधरणम्) अपनी अभिलाषा को पूर्ण करने का जो सामर्थ्य है वह (मयि) मेरे में भी (कामधरणम् भूयात्) मेरी अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाला हो। हे विद्वन्! तू (अग्नेः) अग्रणी, नेता पुरुष का (भस्म असि) भस्म अर्थात् तेजःस्वरूप है तू (अग्नेः पुरीषम् असि) तेजस्वी सूर्य का लक्ष्मीसम्पन्न समृद्ध रूप है। हे प्रजाओ! एवं अधिकारी पुरुषो! आप लोग (चितः स्थ) ज्ञानवान् हो। आप लोग (परि-चितः) सब ओर से ज्ञान संग्रह करनेहारे और (ऊर्ध्वचितः स्थ) मोक्ष पद का प्रवचन या ज्ञान करनेहारे भी हो। आप लोग (श्रयध्वम्) इस राष्ट्र में सुख से आश्रय पाइये। अथवा—हे (परिश्रितः) राजा के आश्रित एवं उसके रक्षक प्रजा के सभासद् पुरुषो! आप लोग (चितः स्थ) विज्ञानवान् एवं धन सञ्चय करने में कुशल हैं। (परिचितः स्थ) सब और से उत्तम पदार्थों के संग्रहशील एवं (ऊर्ध्वचितः) उत्कृष्ट पदार्थों के संग्रहशील हो। आप लोग सञ्चित ईंटों के समान राष्ट्र की भित्ति में (श्रयध्वम्) एक दूसरे के आश्रय बनकर रहो। या राजा का आश्रय करके रहो, उसकी सेवा करो ॥ शत० ७ । १ । १ । ८ ॥

४६—संज्ञानमसि कामधरणम् ॥ सर्वा०

अयᳬं सोऽअग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः।
सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिᳬं ससवान्त्स्तूयसे जातवेदः ॥४७॥

ऋ० ३ । २२ । १ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयं सः अग्निः) यह वह अग्नि, ज्ञानवान् तेजस्वी पुरुष है (यस्मिन्) जिसके आश्रय पर (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (वावशानः) अति अधिक सन्तुष्ट, एवं अभिलाषावान् होकर (सहस्रियं) सहस्रों ऐश्वर्यों से सम्पृद्ध (वाजम्) अन्नादिक (अत्यं न सप्तिम्) अति वेगवान् अश्व के समान आरोहण योग्य (सुतम्) व्यवस्थित, शासित (सोमम्) समृद्ध राष्ट्र को (जठरे) अपने वश करनेवाले अधिकार में (दधे) धारण करता है । हे (जातवेदः) ऐश्वर्यवान् एवं प्रजावान् पुरुष ! तू (ससवान् सन्) दान करता हुआ ही (स्तूयसे) स्तुति किया जाता है ॥ शत० ७ । १ । १ । १ २१ ॥

यहां 'सहस्रियं वाजम्' यह पाठ महर्षि दयानन्दसंमत विचारणीय है।

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र ।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥ ४८ ॥

ऋ० ३ । २२ । २ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! तेजस्विन् सूर्य के समान राजन् ! (यत् ते वर्चः) जो तेरा असह्य तेज (दिवि) सूर्य में विद्यमान है और (यत् ते वर्चः पृथिव्याम्) जो तेरा तेज पृथिवी में विद्यमान है और (यत् ओषधीषु) जो तेरा तेज ओषधियों और शत्रुसंतापकारी सैनिकों में है और हे (यजत्र) उपासनीय पूज्य पुरुष ! जो तेरा तेज (अप्सु) जलों के समान

४७—'सहस्रियं वाजम्' इति पाठो दयानन्दसम्मतश्चिन्त्यः ॥

शान्त-स्वभाव प्रजाजनों में है, (येन) जिस तेज से (उरु) विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी तू (आततन्थ) व्यापता है, (सः) वह तेरा तेज (भानुः) अति दीप्ति युक्त, (त्वेषः) कान्तिमान् अति तीक्ष्ण होकर भी (अर्णवः) व्यापक या जल से पूर्ण समुद्र के समान गम्भीर, ज्ञानवान् और (नृ-चक्षाः) समस्त मनुष्यों के शुभाशुभ कर्मों का सूर्य के समान द्रष्टा है ॥ शत० ७ । १ । १ । २३ ॥

अग्ने दिवोऽअर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ२ऽऊचिषे धिष्ण्या ये ।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्तऽआपः ॥४६॥

ऋ० ३ । २२ । ३ ॥

विश्वामित्र ऋषिः अग्निर्देवताः । भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! तेजस्विन् ! तू (दिवः) सूर्य या प्रकाश के (अर्णम्) विज्ञान को (अच्छ जिगासी) भली प्रकार प्राप्त करता है । (ये धिष्ण्याः) और जो बुद्धियों को प्रेरणा करनेवाले, विद्वान् पदाधिकारी पुरुष हैं उन (देवान्) मुख्य तेजस्वी पुरुषों को (ऊचिषे) तू उपदेश और अनुज्ञा प्रदान करता है । और (याः) जो (आपः) आप्तजन (सूर्यस्य) सूर्य के समान तेजस्वी राजा के (रोचने) अभिमत कार्य में (परस्तात्) दूर २ देश में जाते हैं और (याः च अवस्तात्) जो आप्तजन उसके समीप (उपस्थित) रहते हैं, तू उनको भी (जिगासि) अपने वश कर और उनको (ऊचिषे) शिक्षा आज्ञा कर । शत० ७ । १ । १ । २४ ॥

पुरीष्यासोऽअग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः ।
जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवाऽइषो महीः ॥ ५० ॥ ऋ० ३ । २२ । ४ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्ची पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(पुरीष्यासः) प्रजाओं के पालन करने में समृद्ध, ऐश्वर्यवान् (प्रावणेभिः) उत्कृष्ट सम्पत्तियों के लाभ करने के साधनों और विद्वानों

द्वारा (स-जोषसः) सबके प्रति समान प्रेम से वर्त्ताव करनेवाले, (यज्ञम्) व्यवस्थित राष्ट्र के प्रति (अद्रुहः) कभी द्रोह न करनेहारे (अग्नयः) तेजस्वी, अग्रणी, नायक विद्वान् पुरुष (अनमीवाः) रोगरहित (महीः इषः) बड़ी २ अन्न आदि सम्पत्तियों को (जुषन्ताम्) सेवन करें, प्राप्त करें ॥ शत० ७ । १ । १ । २५ ॥

इडा॑मग्ने पुरु॒दꣳस॑ꣳ स॒निं गोः श॑श्वत्त॒मꣳ हव॑मानाय साध ।
स्यान्नः॑ सू॒नुस्तन॑यो वि॒जावाग्ने॒ सा ते॑ सुम॒तिर्भू॑त्व॒स्मे ॥ ५१ ॥

ऋ० ३ । २२ । ५ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! राजन् ! (हवमानाय) बल से स्पर्द्धा करनेवाले के लिये (इडाम्) अन्न और भूमि और (पुरु-दंसम्) बहुत से कार्य-व्यवहारों को पूर्ण करने वाले (गोः सनिम्) पृथ्वी या पशुओं के विभाग को (शश्वत्-तमम्) सदा के लिये (साध) उन्नत कर । (नः) हमारा (सूनुः) उत्पन्न (पुत्र (विजावा स्यात्) विविध ऐश्वर्यों का जनक वा विजयशील हो । हे (अग्ने) राजन् ! (सा) वह (ते सुमतिः) तेरी दी हुई उत्तम व्यवस्था (अस्मे) हमारे कल्याण के लिये (भूतु) हो ।

अध्यापक के पक्ष में—हे अग्ने ! आचार्य ! तेरा (पुरुदंसं) बहुतसे कामों का साधक वा स्तुति योग्य (गोः सनिम्) वेदवाणी का दान और (शश्वत्तमम्) सदातन का नित्य वेदज्ञान (हवमानाय साध) विद्या के लिये अति उत्सुक पुरुष को प्रदान कर । हमारा पुत्र विविध ऐश्वर्यों को उत्पन्न करने वा विजय करने वाला हो । तेरी शुभ मति या उत्तम ज्ञान हमारे कल्याण के लिये हो ।

अ॒यन्ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्वियो॒ यतो॑ जा॒तो अरो॑चथाः ।
तं जा॒नन्न॑ग्न॒ ऽआरो॒हाथा॑ नो वर्धया र॒यिम् ॥ ५२ ॥

ऋ० ३ । २९ । १० ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ३ । १४ ॥

चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद
परि चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ ५३ ॥

अग्निर्देवता । स्वराडनुष्टुप । गान्धारः ॥

भा०—हे राजसभे ! (चित् असि) तू 'चित्' समस्त भोग्य सुख साधनों का सञ्चय करनेवाली, शरीर में 'चित्' अर्थात् चेतना के समान शक्ति है । तू (तया) उस (देवतया) राजशक्ति या विजयिनी शक्ति से युक्त होकर (अंगिरस्वत्) प्राण या अग्नि के समान या विद्वान् पुरुषों से युक्त होकर, (ध्रुवा) ध्रुव, स्थिर, निष्कम्प भाव से अचल होकर (सीद) विराज । इसी प्रकार तू (परि-चित् असि) सब ओर से अपने अपने बल को संग्रह करनेवाली है । तू (तया देवतया) उस उत्कृष्ट विजय करनेवाली राजशक्ति से (अङ्गिरस्वत्) अग्नि या सूर्य के समान (ध्रुवा) स्थिर होकर (सीद) विराजमान हो ।

स्त्री के पक्ष में—हे स्त्री तू 'चित्', विद्या को जाननेहारी है, तू (तया देवतया) उस प्रजा के समान प्रिय, देवी रूप होकर, देह में प्राण के समान, गृह में स्थिर होकर रह ।

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥ ५४ ॥

अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे राजसभे ! अथवा हे राजन्, तू (लोकं पृण) समस्त लोकों का पालन कर । (छिद्रं पृण) जो कुछ 'छिद्र' अर्थात् त्रुटि या न्यूनता हो उसको नित्य पूर्ण कर । (अथो) और (त्वम्) तू (ध्रुवा) पतिगृह में स्त्री के समान स्थिर होकर (सीद) विराजमान हो । (इन्द्राग्नी) इन्द्र और

५४—'० योना असीषदन्' इति काण्व० ॥

अग्नि, सेनापति और राजा (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पालक (त्वा) तुझको (अस्मिन् योनौ) इस आश्रयस्थान में (असीषदन्) प्राप्त कराते हैं, स्थापित करते हैं।

कन्या के पक्ष में—(इन्द्र–अग्नी) माता-पिता और (बृहस्पतिः) आचार्य तुझको इस (योनौ) निवासगृह में स्थापित करते हैं। तू स्थिर रहकर लोक का पालन कर अर्थात् छिद्र और त्रुटि को पूर्ण कर।

ता अस्य सूददोहसः सोमंꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ ५५ ॥

ऋ० ८ । ५८ । ३ ॥

इन्द्रपुत्रः प्रियमेधा ऋषिः। आपो देवताः। विराडनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—जिस प्रकार (ताः) वे (सूद-दोहसः) जलों को पूर्ण करने वाले (पृश्नयः) आदित्य के रश्मिगण (अस्य) इसके लिये (सोमं श्रीणन्ति) सोम, अन्न को परिपक्व करते हैं। और (देवानां जन्मन्) देवों, ऋतुओं के उत्पादक पूर्ण संवत्सर में (दिवः) सूर्य के (त्रिपु) तीनों प्रकार के (आरोचने) दीप्ति युक्त सवनों अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा और शरत् में (विशः) व्यापक रश्मियें होती हैं, उसी प्रकार (सूद-दोहसः) बलों को बढ़ाने वाली (पृश्नयः विशः) नानाविध प्रजाएं (दिवः) तेजस्वी राजा के (त्रिपु आरोचने) तीनों तेजों से युक्त रूपों में (देवानां जन्मनि) विद्वानों के उत्पन्न करने वाले राष्ट्र में (अस्य) इस राजा के लिये (सोमं श्रीणन्ति) समृद्ध राष्ट्र को परिपक्व करती हैं।

स्त्रियों के पक्ष में—(देवानाम्) विद्वान् पतियों के (ताः) वे (पृश्नयः) स्पर्शयोग्य कोमलाङ्गी (विशः) गमनयोग्य स्त्रियां (सूद-दोहसः) उत्तम रस पाचन और दोहन करने में कुशल होकर (दिवः) दिव्य (आरोचने) रुचिकर व्यवहार में (त्रिपु) तीनों कालों में (जन्मनि) इस जन्म में या द्वितीय जन्म विद्यादि द्वारा गृहस्थ धारण

करके (अस्य सोमं श्रीणन्ति) इस ब्रह्मचर्य या गृहस्थ-आश्रम में भी परम सौभाग्यमय फल वीर्य या पुत्रादि को परिपक्व करती हैं।

अथवा—(ताः) वे स्त्रियें (सूद-दोहसः) प्रस्रवणशील दुग्धादि को प्रदान करने वाली (पृश्नयः) गौवें जिस प्रकार (सोमं श्रीणन्ति) दुग्धरूप सोम का परिपाक करती हैं और प्रदान करती हैं उसी प्रकार (सूद-दोहसः) वीर्य को पूर्ण करने वाली (पृश्नयः) स्पर्श योग्य, कोमलाङ्गी स्त्रियें भी (सोमं श्रीणन्ति) परम रसस्वरूप वीर्य को परिपक्व करती हैं। (दिवः) सूर्य के (त्रिपु आरोचने) जिस प्रकार तीनों प्रकार के सवनों में (देवानां जन्मनि) देव-रश्मियों के उद्भव होजाने पर (विशः) प्रजाएं जिस प्रकार (सोमं आ) अन्न को प्राप्त करती हैं। उसी प्रकार विशः) पतियों के साथ संवेश-अर्थात् शयन करनेहारी पत्नियां भी (दिवः) क्रीड़ाशील पति के (त्रिपु रोचनेपु) वाचिक, मानस, शारीरिक तीनों प्रकार के रुचिकर, प्रीतिकर व्यवहारों में (देवानां) सात्विक विकारों के (जन्मन्) उदय होजाने पर (सोमं आ) परिपक्व वीर्य को प्राप्त करती हैं अर्थात् वीर्य धारण कर संतान उत्पन्न करती हैं।

इन्द्रं विश्वा॑ अवीवृधन्त्समु॒द्रव्य॑चसं॒ गिरः॑।
र॒थीत॑मꣳ र॒थीनां॒ वाजा॑नाꣳ सत्प॑तिं॒ पति॑म्॥ ५६

ऋ० १।११।१॥

जेता माधुच्छन्दस ऋषिः। इन्द्रो देवता। निचृदनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—(विश्वाः गिरः) समस्त वेदवाणियां (समुद्र-व्यचसम्) समस्त प्रकार की शक्तियों के उद्भवस्थान, उस महान् व्यापक (इन्द्रम्) परमेश्वर की महिमा को (अवीवृधन्) बढ़ाती हैं। वही (रथीनाम् रथीतमं) रथी योद्धाओं के बीच महारथी के समान समस्त देहवान् प्राणियों के बीच सब से श्रेष्ठ 'रथीतम' महारथी, सब से बड़े, विराट् और (सत्-पतिम्) सत् पदार्थों के पालक, (वाजानां) समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी

की (अवीवृधन्) महिमा को बढ़ाती हैं । उसी प्रकार (विश्वा गिरः) समस्त स्तुतियां (समुद्र-व्यचसम्) समुद्र के समान विविध ऐश्वर्यों से पूर्ण या विस्तृत व्यापक, (रथीनां रथीतमम्) रथी योद्धाओं में महारथी (वाजानां) संग्रामों, अन्नों और ऐश्वर्यों के (पतिम्) पालक, (सत्-पतिम्) उत्तम प्रजाजनों के स्वामी राजा को (अवीवृधन्) बढ़ावें ।

गृहस्थ प्रकरण में—(विश्वाः गिरः) समस्त स्तुतिशील स्त्रियें अपने पति की प्रशंसा करनेवाली होकर उसके यश, धन और मान को बढ़ावें ।

समितꣳ सं कल्पेथाꣳ संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ ।
इषमूर्जमभि संवसानौ ॥ ५७ ॥

द्व्यग्नी देवते । भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे पति-पत्नी भाव से बद्ध स्त्री पुरुषो ! या राजा प्रजाओ तुम दोनों ! (संप्रियौ) एक दूसरे के प्रति अति प्रेमयुक्त, (रोचिष्णू) एक दूसरे के प्रति रुचिकर, एक दूसरे को प्रसन्न करनेहारे एवं (सु-मन-स्यमानौ) एक दूसरे के प्रति शुभ चिन्तन करते हुए, (सं-वसानौ) एकत्र निवास करते हुए या एक दूसरे की रक्षा करते हुए (इषम् अन्नादि अभिलषित पदार्थ और (ऊर्जम्) परम अन्नरस या बल-पराक्रम को (अभि) लक्ष्य करके (सम् इतम्) एक साथ चलो, (सं-कल्पेथाम्) एक साथ समानरूप से उद्योग करो या समानरूप से संकल्प करो ।

इसी प्रकार दो विद्वान्, या दो राजा, या राजा और प्रजा दोनों भी परस्पर मित्र रहकर एक दूसरे का शुभ चिन्तन करके एक दूसरे की रक्षा करते हुए, अन्न और बल के लिये एक साथ यत्न करें ॥

सं वां मनांꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम् ।
अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न ऽइषमूर्जं यजमानाय धेहि ॥५८॥

अग्निर्देवता । भुरिगुपरिष्टाद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—मैं आचार्य या पुरोहित (वाम्) तुम दोनों के (मनांसि

मन के संकल्प विकल्पों को (सं आ अकरम्) समान करता हूं । (व्रता सम्) व्रत, प्रतिज्ञाओं को भी समानरूप करता हूं । (चित्तानि) चित्तों या ज्ञानपूर्वक किये कर्मों को भी (सम् आ अकरम्) समानरूप से करता हूं । हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! विद्वन् ! हे (पुरीष्य) पुर में सब से अधिक इष्ट, समृद्ध राजन् ! (त्वम् अधिपाः भव) तू सबका स्वामी हो । (इषम् ऊर्जम्) अन्न और बल को तू (नः यजमानाय) हमारे में से दानशील, सत्संगी या देवोपासक धर्मात्मा पुरुष को (धेहि) प्रदान कर ।

अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमाँ२ऽ असि ।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥ ५९ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! राजन् ! पुरुष ! (त्वं पुरीष्यः) तू समृद्धिमान्, (रयिमान्) ऐश्वर्यवान्, (पुष्टिमान्) पशु सम्पत्ति से भी युक्त, (असि) है (सर्वाः दिशः) समस्त दिशाओं को, देशों को और वहां की प्रजाओं को (शिवाः) कल्याणकारी, सुखी (कृत्वा) करके (स्वं योनिम्) अपने आश्रयस्थान, पद पर (इह) यहां (आसदः) विराजमान हो ।

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ ६० ॥

दम्पती अग्नी देवते । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! (नः) हमारे लिये तुम दोनों (समनसौ) एक समान मन वाले, (सचेतसौ) समान चित्त वाले और (अरेपसौ) एक दूसरे के प्रति अपराध न करने वाले, एवं निष्पाप, स्वच्छ चित्त होकर (भवतम्) रहो । (यज्ञं) इस यज्ञ, परस्पर की संगति को (मा हिंसिष्टम्) मत विनाश करो, मत तोड़ो । (यज्ञपतिं मा) परस्पर की इस

संगति के पालक को भी मत विनाश करो। (अद्य) आज (नः) हमारे हित के लिये तुम दोनों (जात-वेदसौ) ज्ञानवान् और ऐश्वर्यवान् होकर (शिवौ भवतम्) सुखकारी होओ। यही बात मध्यस्थ पुरुष से सन्धि से मिले हुए दो राजाओं, राजा और मन्त्री दोनों के लिये भी समझें।

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳ स्वे योनावभारुखा। तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि मुञ्चतु ॥ ६१ ॥

पत्नी उखा देवता। आर्षी पंक्तिः। पञ्चमः ॥

भा०—(माता) माता (पुत्रम् इव) पुत्र को जिस प्रकार (स्वे योनौ अभाः) अपने गर्भाशय में धारण करती है, उसी प्रकार (उखा) हांडी के समान गोल (पृथिवी) पृथिवि भी (स्वे योनौ) अपने गर्भ में, अपने भीतर (पुरीष्यम्) सबको पालन करने में समर्थ (अग्निम्) अग्नि और सूर्य को (अभाः) धारण करती है। उसी प्रकार (पृथिवी उखा) उत्तम ज्ञानवती पृथिवीनिवासिनी प्रजा भी (पुरीष्यम्) अति समृद्ध, ज्ञान, बल और ऐश्वर्य से युक्त (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को (स्वे योनौ) अपने लोक में (अभाः) धारण करती है। (प्रजा-पतिः) प्रजा का पालक, पति और राजा (विश्व-कर्मा) समस्त राष्ट्र के उत्तम कार्यों के करने में समर्थ (विश्वैः) समस्त (ऋतुभिः) ज्ञानवान् सदस्यों और (विश्वैः देवैः) और समस्त देव, विद्वान् शूरवीर योद्धा, एवं व्यवहारज्ञ पुरुषों से (संविदानः) सहमति और सहयोग लेता हुआ (तां) उसको (वि मुञ्चतु) विविध उपायों से धारण करता है, उसकी रक्षा करता है।

सूर्य पक्ष में—(विश्वकर्मा समस्त कार्यों का कर्ता, वृष्टि, आंधी आदि परिवर्तनों का कर्त्ता, (प्रजा-पतिः) सूर्य (विश्वैः देवैः ऋतुभिः) समस्त

६१—० 'योना अभा०' इति काण्व० ।

दिव्य ऋतुओं के साथ मिलकर पृथ्वी को (वि मुञ्चतु) पालता है ।

असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य । अन्यमस्मदिच्छ सा त ऽइत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु ॥६२॥

निर्ऋतिर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (निऋते) दुष्टों को दमन करने वाली दण्डशक्ते ! तू (असुन्वन्तम्) राजा को कर न देने वाले और (अयजमानम्) राजा का आदर न करने वाले को (इच्छ) पकड़ । (स्तेनस्य) चोर और (तस्करस्य) निन्दनीय कार्यों के करने वाले पापी पुरुष की (इत्याम्) चाल का (अनु इहि) पीछा कर । चोर, डाकू आदि रात को धनापहरण करके जहाँ भी छुपे हों उनके चरण-चिन्हों से उनकी चाल पता लगाकर उनकी खोज कर । (अस्मत् अन्यम्) हम से भिन्न, हमारे शत्रु को (इच्छ) पकड़ । (ते सा) तेरी वही (इत्या) चलने योग्य चाल है । हे (निऋते देवि) व्यवहार कुशले ! निऋते ! सर्वत्र व्यापक दमन शक्ते ! (तुभ्यम् नमः अस्तु) तुझे ही सब दुष्टों को नमाने वाला बल प्राप्त हो ।

इस मन्त्र में—'मा इच्छ' इस प्रकार की महर्षि दयानन्दकृत योजना विचारास्पद है ।

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम् । यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके ऽअधि रोहयैनम् ॥ ६३॥

निर्ऋतिर्देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे निऋते ! व्यापक दण्डशक्ते ! (तिग्म-तेजः) दुःसह तेज से युक्त (ते नमः) तेरा नमनकारी बल, वज्र है । और तू (एतम्) इस (अयस्मसं बन्धम् वि चृत) लोहे से बने दृढ़ बन्धन को दूर कर । (त्वं) तू (यमेन) नियन्ता राजा और (यम्या) नियमकारिणी राजसभा, राजशक्ति से(संविदाना) अच्छी प्रकार सम्मति करती हुई (एनम्) इस अपने राजा को (उत्तमे) उत्तम (नाके) सुखमय लोक में (अधि रोहय)

स्थापित कर ।

यस्या॑स्ते घोर ऽआ॒सञ्जुहोम्ये॒षां ब॒न्धाना॑मव॒सर्ज॑नाय । यां त्वा॒ जनो॒ भूमि॒रिति॑ प्र॒मन्द॑ते॒ निर्ऋ॑तिं॒ त्वा॒हं परि॑ वेद वि॒श्वतः॑ ॥ ६४ ॥

निर्ऋतिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (घोरे) दुष्टों के प्रति भयंकर ! (यस्याः) जिस (ते) तेरे (आसनि) मुख में, तेरे मुख्य स्थान में (एषां) इन (बन्धानाम्) दुःखदायी बन्धनों के (अव-सर्जनाय) त्याग के लिये (जुहोमि) मैं, दण्ड आदि रूप से धन आदि पदार्थ प्रदान करता हूं । और (यां त्वा) जिस तुझको (भूमिः इति) भूमि, सर्व पदार्थों का आश्रय, एवं उत्पादक ऐसा कह कर (जनः) लोग (प्र मन्दते) तुझे प्रसन्न करते हैं या स्वयं प्रसन्न होते हैं उस (त्वा) तुझको (निर्ऋतिम्) पापी पुरुषों पर अधिष्ठात्री रूप से रहने वाली, आश्रयरूप से पृथिवी के समान एवं निःशेष जीवों को रमण करानेवाली नित्य, सत्याचरणवाली तुझे (विश्वतः) सब प्रकार से (अहं) मैं (परि वेद) प्राप्त करूं, तुझे जानूं ।

पत्नी के पक्ष में—हे घोरे पत्नि ! समस्त दुःखदायी कारणों को दूर करने के लिये, मैं अन्नादि पदर्थ तेरे मुख में प्रदान करूं । लोग तुझ नारी को 'भूमि' ऐसा कह कर तुझे प्रसन्न करते हैं । तू (निर्ऋतिम्) ही सब प्रकार से निःशेष सुखकारिणी सत्यशीला है, मैं ऐसा जानता हूँ ।

यं ते॑ दे॒वी निर्ऋ॑तिराब॒बन्ध॒ पाशं॑ ग्री॒वास्व॑विचृ॒त्यम् ।
तं ते॒ विष्या॒म्यायु॑षो॒ न मध्या॒दथै॒तं पि॒तुम॑द्धि॒ प्रसू॑तः ।
नमो॒ भूत्यै॒ येदं च॒कार॑ ॥ ६५ ॥

यजमानो देवता । आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०—(देवी निर्ऋतिः) राजा की दमनकारिणी व्यवस्था हे पुरुष ! (यम्) जिस (अविचृत्यम्) अखण्ड, कभी न टूटनेवाले, दृढ़ (पाशम्) पाश को (आ बबन्ध) बांधती है मैं (ते) तेरे (तं) उस

पाश को (आयुषः मध्याद् न) जीवन के बीच में ही (विष्यामि) काटता हूं, उस पाश का अन्त करूं। (अथ) और हे राजन्! (प्रसूतः) उत्कृष्ट रूप में उत्पन्न होकर तू (एतं पितुम्) उस अन्न या पवित्र भोग्य पदार्थ को (अद्धि) खा, भोग कर। (या) जो (देवी) देवी (इदम्) इस जीवोत्पादन के व्यवस्था और पालन के पवित्र कार्य को (चकार) करती है उस (भूत्यै) सर्वोत्पादक, ऐश्वर्यमयी देवी का (नमः) हम नित्य आदर करें।

इसी प्रकार अपराधी के अपराध समाप्त होजाने पर दमनकारिणी व्यवस्था द्वारा जो बन्धन अपरीधी जनों की गर्दनों में डाले जायं उनको न्यायकारी उनके जीवन के रहते २ अवधि के अन्त में काटे। और (प्रसूतः) मुक्त कोकर वह पुरुष अन्न का भोग करे। जो देवी, विद्वत्-समिति या पृथ्वी इस प्रकार जीवों को बन्धनमुक्त करके अमृत का भोग प्रदान करती है उसको हमारा नमस्कार है ।। नकारोऽत्र विनिग्रहार्थीयः ॥

अध्यात्म में—(निर्ऋतिः) अविद्या जिस पाश को जीवों के ऊपर बांधती है उसको मैं, आचार्य ज्ञानोपदेश से (आयुषः मध्यात् न) जीवन के बीच में ही काट दूं। (प्रसूतः) उत्कृष्ट स्थिति में जाकर मेरा जीव (पितुम्) अमृत का भोग करे। उस सर्वोत्पादक (भूत्यै) भूति नाम ईश्वरीय शक्ति को नमस्कार है जो (इदं चकार) इस विश्व को उत्पन्न करती है और जीवों को उत्पन्न कर अन्न देती है और कर्मबंधनों से मुक्त कर मोक्षामृत लाभ कराती है

निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः ।
देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम् ॥६६॥

ऋ० १० । १३६ । ३ ॥

विश्वावसुर्देवगन्धर्व ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सविता इव) सूर्य के समान (सत्य-धर्मा) सत्य धर्मों

का पालक । (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (देवः) राजा (वसूनां) राष्ट्र में बसनेवाली प्रजाओं को (निवेशनः) पृथ्वी पर बसानेहारा और (वसूनां) वासकारी जनों का (सङ्गमनः) एकत्र होने का आश्रय होकर (शचीभिः) अपनी शक्तियों से (विश्वा रूपा) समस्त प्राणियों को (अभि चष्टे) देखता है । और वह ही (पथीनाम्) शत्रुओं के साथ (समरे) युद्ध में सर्वोपरि (तस्थौ) स्थिर रहता है ।

परमात्मा के पक्ष में—वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (सविता) सर्वोत्पादक देव, परमेश्वर (वसूनां निवेशनः) जीवों का और योग्य लोकों का संस्थापक और (सागमनः) एक सा गन्तव्य एवं सर्वव्यापक (शचीभिः) अपनी शक्तियों से (विश्वा रूपा अभिचष्टे) समस्त पदार्थों को देखता या उपदेश करता है । सब का साक्षी है । वही युद्ध में इन्द्र, सेनापति के समान (समरे) सब के गन्तव्य संसार में (पथीनां) समस्त आवागमन करनेवाले जीवों के ऊपर (तस्थौ) अधिष्ठाता रूप से विराजमान है ।

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क् ।
धीरा॑ दे॒वेषु॑ सु॒म्न॒या ॥ ६७ ॥ ऋ० १० । १०१ । ४ ॥

बुधः सौम्य ऋषिः । कृषीवलाः कवयो देवताः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(कवयः) मेधावी, बुद्धिमान् पुरुष जिस प्रकार (सीरा) हलों को (युञ्जन्ति) जोतते हैं । और (धीराः) धीर, बुद्धिमान् पुरुष (देवेषु) देवों, विद्वानों को (सुम्नया) सुख हो ऐसी बुद्धि से (युगा) जुओं के, जोड़ों को (वि तन्वते) विविध दिशों में लेजाते हैं । उसी प्रकार विद्वान् योगीजन (सीराः युञ्जन्ति) नाड़ियों में योगाभ्यास करते हैं । (देवेषु) इन्द्रिय-वृत्तियों में (सुम्नया) सुषुम्ना द्वारा या सुखप्रद

६७-६८—सीरा द्वे सीरदैवत्ये बुधः सौम्यो गायत्रीत्रिष्टुभौ । सर्वा० ॥ विश्वेदेवा ऋत्विजो वा देवता इति ऋग्वेदे ॥ अथ क्षेत्रकर्षणौषधवपनादि ॥

धारणा वृत्ति से (युगा) प्राण अपान आदि नाना जोड़ों द्वन्द्वों का (पृथक्) अलग २ (वि तन्वते) विविध प्रकार से अभ्यास करते हैं।

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्। गिरा च श्रुष्टिः सभरा ऽअसन्नो नेदीयऽइत्सृण्यः पक्वमेयात्॥ ६८॥

ऋ० १० । १०१ । ३ ॥

बुधसौम्य ऋषिः । कृषीवलताः कवयः वा देवताः । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सीरा युनक्त) हलों को जोतो, (युगा वि तनुध्वम्) जुओं को नाना प्रकार से फैलाओ। (योनौ कृते) क्षेत्र के तय्यार हो जाने पर (इह) उसमें (बीजम् वपत) बीज बोओ। और (गिरा च) कृषिविद्या के अनुसार (श्रुष्टिः) अन्न की नाना जातियां (सभराः) खूब हृष्ट पुष्ट (असत्) हों। (नेदीयः इत्) और शीघ्र ही (सृण्यः) दातरी से काटने योग्य अनाज (नः) हमारे लिये (पक्वम् आ इयात्) पककर हमें प्राप्त हो।

शुनꣳ सुफाला विकृषन्तु भूमिꣳ शुनं कीनाशा ऽअभियन्तु वाहैः। शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पलाऽओषधीः कर्तनास्मै ॥ ६९ ॥ अथर्व० ३ । १७ । ५ ॥ प्रथमोर्द्धः ऋ० ४ । ५७ । ८ ॥

कुमार हारित ऋषिः । कृषीवला देवताः । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सु-फालाः) उत्तम हल के नीचे लगी लोहे की बनी फालियें (भूमिम्) भूमि को (शुनम्) सुख से (वि कृषन्तु) नाना प्रकार से खोदें। (कीनाशः) किसान लोग (वाहैः) बैलों से (शुनम्) सुखपूर्वक (अभियन्तु) जावें। (शुनासीरा) वायु और आदित्य दोनों के समान (हविषा) जल और अन्न से (तोशमाना) भूमि को सींचते हुए (अस्मै) इस प्रजाजन के लिये (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (सुपिप्पलाः)

६९—७२—शुनं चतस्रः सीतादेवत्याः । कुमारहारितो द्वे । सर्वा० ।

उत्तम फल युक्त (कर्तन) करो और उसकी कटाई करो ।

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्याववृत्स्व ॥७०॥

अथर्व० ३ । १७ । ९ ॥

कुमार हारित ऋषिः । कृषीवला देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सीता) काठ की पाटी, फाली या हल से विदीर्ण भूमि (घृतेन मधुना) जल और अन्न से (सम् अज्यताम्) युक्त हो । (विश्वैः देवैः) समस्त देवों, सूर्य किरणों और (मरुद्भिः) वायुओं से भी (अनुमता) युक्त होकर वह हे (सीते) हल की फाली या उससे खुदी भूमि तू ! (पयसा) जल से (पिन्वमाना) खूब सींची जाकर (ऊर्जस्वती) अन्न से समृद्ध होकर (पयसा) पुष्टिकारक अन्न और दुग्ध आदि पदार्थों से (अस्मान्) हम सब को (अभि आववृत्स्व) प्राप्त हो और सब प्रकार से हमें बढ़ा के समृद्ध कर ।

अथवा—'सीता' कृषि का उपलक्षण है । (विश्वैः देवैः मरुद्भिः च अनुमता सीता) समस्त विद्वानों से आदर प्राप्त कृषि (घृतेन मधुना समज्यताम्) घृत जल, और अन्न से युक्त हो । हे कृषे ! तू (पयस्वती उर्जस्वती) पुष्टिकारक जल या अन्न से स्वयं समृद्ध होकर (पयसा नः अभि आववृत्स्व) पुष्टिकारक दुग्ध, रस आदि सहित हमें प्राप्त हो ।

लाङ्गलं पवीरवत्सुशेवꣳ सोमपित्सरु । तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहणम् ॥ ७१ ॥ अथर्व० ३ । १७ । ३ ॥

कुमार हारित ऋषिः । कृषीवला देवताः । विराट् पंक्तिः । पञ्चमः ।

भा०—(सोमपित्सरु) अन्न का पालक, क्षेत्र में कुटिलता से चलने वाला, (सुशेवम्) सुखकारी, (पवीरवत्) फालवाला (लाङ्गलम्) हल (तत्) यह ही (गाम्) गौ आदि पशु, (अविम्) भेड़, बकरी आदि क्षुद्र पशु, (प्र-फर्व्यम् च) उत्तम रीति से गमन करने योग्य (पीवरीम्)

स्वस्थ हृष्ट पुष्ट शरीर की स्त्री और (प्रस्थावत्) प्रस्थान करने योग्य (रथ-वाहनम्) रथ और घोड़े आदि ऐश्वर्यों को (उद्वपति) उत्पन्न करता है। अर्थात् कृषि से ही समस्त ऐश्वर्य, पशु, रथ, अश्व, स्त्री आदि भी प्राप्त होते हैं ॥

कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च।
इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ऽओषधीभ्यः ॥ ७२ ॥

मित्रादयो लिंगोक्ता देवताः । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (कामदुघे) समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेहारी कृषे ! भूमे ! तू (मित्राय) अपने स्नेही, (वरुणाय) शत्रुओं के वारक, (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राजा के लिये और (अश्विभ्याम्) स्त्री पुरुषों के लिये (पूष्णा) पोषणकारी पिता माता और (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये और (ओष-धीभ्यः) ओषधियों वनस्पतियों के लिये (कामं धुक्ष्व) सब मनोरथों को पूर्ण कर ॥

वि मुच्यध्वमघ्न्या देवयाना ऽअगन्म तमसस्पारमस्य।
ज्योतिरापाम ॥ ७३ ॥ ऋ० १ । ७२ । ६ ॥

अघ्न्या देवताः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (अघ्न्याः) कभी न मारने योग्य, रक्षा करने योग्य,(देव-यानाः) देव-दिव्य भोगों को प्राप्त करानेवाले बैलों को (वि-मुच्यध्वम्) सायंकाल मुक्त कर दिया जावे। हम लोग (अस्य) इस (तमसः) रात्रि के अन्धकार के (पारम् अगन्म) पार प्राप्त होवें। (ज्योतिः आपाम) पुनः सूर्य के प्रकाश को प्राप्त करें। अर्थात् सायंकाल को बैल जुओं से खोल दिये जांय। रात बीतने पर प्रातःकाल पुनः कृषिकार्य में लगें।

अथवा—हे (अघ्न्याः) अविनाशी देवयान से गति करनेवाले

७३—विमुच्यध्वमानुडुही गायत्री । सर्वा० ॥

योगी जनो! (वि मुच्यध्वम्) विशेषरूप से मुक्त होने का यत्न करो। (तमसः पारम् अगन्म) हम सब अन्धकार-बन्धन से पार हों और (ज्योतिः आपाम) ब्रह्ममय ज्योति को प्राप्त करें।

सजूरब्दोऽअयवोभिः सजूरुषा ऽअरुणीभिः। सजोषसावश्विना दक्षसोभिःसजूःसूर एतशेन सजूर्वैश्वानर ऽइडया घृतेन स्वाहा॥७४

लिङ्गोक्ता अश्विनौ सूरो वैश्वानरश्च देवताः। आर्षी जगती। निषादः॥

भा०—जिस प्रकार (अब्दः) संवत्सर मिले जुले अन्नों से और मास अर्ध मास आदि काल के अवयवों से (सजूः) युक्त है। और जिस प्रकार (अरुणीभिः) किरणों से (उषाः) प्रभात वेला (सजूः) संयुक्त रहती है, (अश्विना) स्त्री और पुरुष, पति पत्नी दोनों जैसे (दंसोभिः) गृहस्थ कार्यों से (स जोषसौ) परस्पर प्रेमयुक्त होकर रहते हैं और (सूरः) सूर्य जिस प्रकार (एतशेन) अपने व्यापक प्रकाश से (सजूः) युक्त है और जिस प्रकार (वैश्वानरः) सर्व जीवों के भीतर विद्यमान आत्मा वा जीवनमय अग्नि (इडया) अन्न से और अग्नि जिस प्रकार (घृतेन) दीप्तिकारी प्रकाश या घृत से (सजूः) संगत होकर एक दूसरे को प्रकाशित करते हैं उसी प्रकार (स्वाहा) हम सब सत्य व्यवहार से युक्त होकर प्रेम से वर्तें॥

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहक्षं शतं धामानि सप्त च॥ ७५॥

ऋ० १०। ९७। १॥

आथर्वणो भिषगृषिः। ओषधिस्तुतिः वैद्यो देवता। अनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—ओषधि-विज्ञान (याः) जो (ओषधीः) ओषधियें (देवेभ्यः) दिव्यगुण के पदार्थ पृथिवी, जल आदि से, या ऋतुओं के अनुसार (पुरा) पहले (त्रि-युगम्) तीन वर्ष पहले तक को या वर्षा,

७४—' सजोषसा अश्विना० । ' इति काण्व० ॥

ग्रीष्म और शरद् तीनों कालों में (पूर्वाः जाताः) पहले से उत्पन्न होती हैं उन (बभ्रूणाम्) परिपाक होजाने से बभ्रू अर्थात् भूरे रंग की,पीली हुई हुई उन ओषधियों के (शतं) सौ और (सप्त च) सात अर्थात् १०७ प्रकार के (धामानि) धारण सामर्थ्यों से पालन पोषण के बलों को (नु) मैं (मनै) मनन करूं, जानूं ।

अथवा—(बभ्रूणां) पुष्टिकारक उन ओषधियों के १०७ वीर्यों को जानूं ।

अथवा— (शतं सप्त च धामानि बभ्रूणां ओषधीनां मनै) १०७ शरीर के मर्मस्थानों को पुष्ट करनेवाली ओषधियों का ज्ञान करूं । अथवा (बभ्रूणां) भरण-पोषण योग्य रोगियों के १०७ मर्म स्थानों में प्रभाव-जनक व्याप्त ओषधियों का ज्ञान करूं ॥ शत० ७ । २ । ४ । २६ ॥

शतं वो॑ऽअम्ब॒ धामा॑नि स॒हस्र॑मु॒त वो॒ रुहः॑ ।
अधा॑ शतक्रत्वो यूयमि॒मं मे॑ अग॒दं कृ॑त ॥ ७६ ॥

ऋ० १० । ९७ । २ ॥

पूर्वोक्ते ऋषिदेवते । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०— हे (अम्ब) माता के समान पुष्टिकारक ओषधियो ! (वः) तुम्हारे (शतं धामानि) सैकड़ों वीर्य हैं । (उत) और (वः) तुम्हारे (रुहः) प्ररोह, अंकुर, पुत्र संतति आदि भी (सहस्रम्) सहस्रों प्रकार के हैं । (अध) और (यूयम्) तुम सब भी (शत-क्रत्वः) सैकड़ों प्रकार के कार्य करनेवाली हो । अथवा–हे (शतक्रत्वः) सैकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त विद्वान् पुरुषो ! (यूयम्) आप लोग (मे) मेरे शरीर को (अगदं कृत) नीरोग करो ॥ शत० ७ । २ । ४ २७ ॥

ओष अर्थात् वीर्य को धारण करनेवाली हे सेनाओ ! (वः शतं-धामानि) तुम्हारे सैकड़ों वीर्य, बल हैं और (वः सहस्रं रुहः) तुम्हारे सहस्रों उन्नति स्थान और उत्पत्तिस्थान है (यूयं शतक्रत्वः) तुम सब सैकड़ों

वीर्यों से युक्त हो, (मे इमं अगदं कृत) मेरे इस राष्ट्र को क्लेशरहित करो।

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः ॥ ७७ ॥

ऋ० १० । ९७ । ३ ॥

ऋषिदेवते पूर्ववत् । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (ओषधीः) ओषधियो ! तुम (पुष्पवतीः) फूलोंवाली (प्र-सूवरीः) उत्तम फल उत्पन्न करनेहारी हो । (अश्वाः इव) अश्वारोही लोग जिस प्रकार (स-जित्वरीः) परस्पर मिलकर युद्ध में विजय करते हैं और (पारयिष्णवः) शत्रु सेना के पार करनेवाले वीर (वीरुधः) शत्रुओं को आगे बढ़ने से रोकते हैं, उसी प्रकार हे ओषधियो ! तुम भी रोगों पर मिलकर विजय करनेवाली, रोगों को रोकनेवाली और कष्टों से पार करनेवाली हो ।

हे (ओषधीः) वीर्यवान् प्रजाओ ! आप लताओं के समान (पुष्पवतीः प्रसूवरीः सत्यः प्रतिमोदध्वम्) ऐश्वर्यवान्, शोभावान् और उत्तम सन्तानों को उत्पन्न करनेवाली होओ । हे वीर प्रजाओ ! (अश्वाः इव स-जित्वरीः) अश्वों, घुड़सवारों के समान परस्पर मिलकर एक दूसरे का हृदय जीतनेवाली, (वीरुधः) विविध उपायों से बीज वपन करके उत्पन्न होनेवाली एवं (पारयिष्णवः) एक दूसरे को और राष्ट्र को पालन करनेहारी होओ । इसी प्रकार स्त्रियां भी लता और ओषधियों के समान फलें और फूलें, पतियों का हृदय जीतें और संसार के कार्यों से पार लगाने या पालन करने में समर्थ हों ॥

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे । सनेयमश्वं गां वासऽआत्मानं तव पूरुष ॥ ७८ ॥ ऋ० । १० । ९७ । ४ ॥

चिकित्सुर्देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—ओषधि के समान देवियो ! तुम (ओषधीः) वीर्य को

धारण करनेहारी हो । (इति) इसी कारण से तुम (मातरः) माता अर्थात् सन्तान को उत्पन्न करनेवाली जगत् की माता हो । (तत्) इसी कारण से (वः) आप (देवीः) देवियां हो । ऐसा करके मैं (ब्रुवे) बुलाता हूं । स्त्री कहती है—हे (पूरुष) पुरुष ! मैं (तव) तुझे (अश्वं, गां वासः) अश्व, गौ और वस्त्र और (आत्मानं) अपने आपतक को (सनेयं) सौंपती हूं ।

राजा-प्रजापक्ष में—हे वीर्यवती प्रजाओ ! तुम माता के समान मुझे अपना राजा बनाती हो । तुमको 'देवी' कहके पुकारता हूं । प्रजा कहे । हे प्रजापते ! मुझ प्रजा के अश्व आदि और हम अपने आपको भी तुझे सौंपते हैं ।

लता पक्ष में—हे ओषधियो ! माता के समान अन्नादि के पोषक हो । तुम बल जीवन देनेवाली होने से,'देवी' कहाती हो । ओषधियां कहती हैं—हे पुरुष ! हम तुझे गौ आदि पशु, अश्व, वेदवाणी, ज्ञान, या वाहन, वस्त्र और (आत्मानं) प्राण भी प्रदान करती हैं ।

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाजऽइत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम् ॥ ७९ ॥
ऋ० १० । ९७ । ५ ॥

वैद्या देवताः । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे प्रजाओ ! (वः) तुम्हारा (नि-सदनम्) आश्रय (अश्वत्थे) अश्वारोही सेना-बल पर है । (वः वसतिः) तुम्हारा निवास (पर्णे कृता) पालन करनेवाले राजा के आधार पर किया है । (यत्) जब भी (पूरुषम्) पौरुष से युक्त राजा की (सनवथ) सेवा करो, तो तुम भी (गो-भाजः) गौ आदि पशु और भूमि आदि सम्पत्ति को प्राप्त करनेवाली (असथ किल) अवश्य होजाओ ।

अथवा—हे मनुष्यो ! (वः निषदनम्) तुम जीव लोगों की जीवन

स्थिति (अश्वत्थे=अ-श्व-स्थे) कल तक भी स्थिर न रहनेवाले देह पर और (वः वसतिः) तुम लोगों का वास (पर्णे) चञ्चल पत्र के समान इस चञ्चल प्राण पर किया है। आप लोग (गोभाजः किल असथ) पृथ्वी का आश्रय लेनेवाले और इन्द्रियों से सुखदुःख भोगने वाले हो। और (पूरुषं सनवथ) पूर्ण पुरुष-देह को प्राप्त करो।

ओषधि पक्ष में—हे वीर्यवती ओषधियो ! (यत्) जब (अश्वत्थे) पीपल के वृक्ष पर तुम्हारी स्थिति है, और पत्तों पर तुम निवास करती हो तब (गोभाजः इत्) इन्द्रियों तक पहुचती हो तो तुम (पुरुषं सनवथ) पुरुष सन्तान प्राप्त कराती हो।

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ८० ॥

ऋ० १० । ९७ । ६ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । ओषधयो देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(यत्र) जहां या जिसके आश्रय पर (समितौ) संग्राम या राजसभा में (राजानः इव) क्षत्रिय राजाओं के समान (ओषधीः) ओषधियां हों। हे मनुष्यो ! वहां ही आप लोग (सम् अग्मत) जाओ। जो पुरुष (रक्षोहा) राक्षस, दुःखदायी पुरुषों के नाश करने में समर्थ हो (सः) वह (विप्रः) ज्ञानपूर्ण मेधावी और (भिषग्) रोग नाश करनेहारा पुरुष 'भिषक्' (उच्यते) कहाता है।

अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥ ८१ ॥

ऋ० १० । ९७ । ७ ॥

८०ओषधीः प्रतिगृभ्णीत राजानः समिता इव इति काण्व० ।

आथर्वणो भिषगृषिः । वैद्यो देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ।।

भा०—मैं (अश्वावतीम्) अति शीघ्र शरीर में व्यापने वाले गुणों से युक्त और (सोमावतीम्) वीर्यवती और (ऊर्जयन्तीम्) बल-पराक्रम-शालिनी, (उद्-ओजसम्) उत्कृष्ट ओजधातु की वृद्धि करनेवाली और उत्तम पराक्रम करनेहारी (ओषधीः) सन्ताप, बल को धारण करनेवाली ओषधियों को (अरिष्ट-तातये) घातक रोगों के नाश करने के लिये (आवित्सि) सब प्रकार से सब स्थानों से प्राप्त करूं । इसी प्रकार समस्त (ओषधीः) वीर्यवती प्रजाओं और सेनाओं को (अरिष्ट-तातये) अपने राष्ट्र को नाश होने से बचाने के लिये प्राप्त करूं । (अश्मावतीम्) क्षत्रियों से पूर्ण अथवा अश्मा = वज्र या शस्त्रों से युक्त (सोमावतीम्) सेना नायक से युक्त और (उदोजसम्) ऊत्कृष्ट पराक्रम से युक्त (ऊर्जयन्ती) बलशालिनी सेना को मैं प्राप्त करूं ।

उच्छुष्मा ऽओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते ।
धनꣳ सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष ॥ ८२ ॥

ऋ० १० । ९७ । ८ ॥

भिषगृषिः । ओषधयो देवताः । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा० - (गोष्ठात्) गौओं के बाड़े से जिस प्रकार (गावः ईरते) गौवें निकलती हैं उसी प्रकार हे (पूरुष) पुरुष ! प्रजापते ! राजन् ! (तव) तेरे (आत्मानम्) शरीर के प्रति, तेरे अपने उपकार के लिये (धनं) ऐश्वर्य को (सनिष्यन्तीनाम्) प्रदान करने वाली रस-वीर्यवती ओषधियों के समान वीर्यवती प्रजाओं में से जो (शुष्माः) अधिक बल-कारिणी हैं वे (स्वयं तव आत्मानम् उदीरते) स्वयं तेरे आत्मा को प्राप्त होती हैं और उन्नत करती हैं । अर्थात् ओषधियां जिस प्रकार पुरुष-शरीर में अधिष्ठाता आत्मा के बल की वृद्धि करती हैं इसी प्रकार बलवती प्रजाएं राजा के बल की वृद्धि किया करें ।

इष्कृतिर्नाम वो माताथो यूयं स्थ निष्कृतीः ।
सीराः पतत्रिणी स्थन यदामयति निष्कृथ ॥ ८३ ॥

ऋ० १० । ९७ । ९ ॥

भिषगृषिः । वैद्या देवताः । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे ओषधियो ! (वः माता) तुम्हारी माता (इष्कृतिः) 'इष्कृति' नाम से प्रसिद्ध है । अर्थात् तुम्हारो 'माता', निर्माणकारिणी शक्ति 'इष्कृति' अर्थात् 'इष्' अन्न के समान पुष्ट करने वाली है, अथवा तुम्हारी (माता) निर्माण-कर्त्री या शरीर रचना-शक्ति भी (इष्कृति = निष्कृतिः) रोगों को शरीर से बाहर निकाल देने वाली है । (अथो) इसी कारण (यूयम्) तुम सब (निष्कृतीः) शरीर में से रोगों को बहार निकाल देने से ही 'निष्कृति' भी कहाती (स्थ) हो । तुम (सीराः स्थन) अन्न के समान पुष्टिकारक होने से 'सीरा' कहाती हो । अथवा नदी जिस प्रकार भूमि के मल को बहाकर दूर लेजाती हैं उसी प्रकार तुम भी शरीर में से रोग को बहा देने से 'सीरा' कहाती हो । और (पतत्रिणीः स्थन) शरीर में व्याप्त होकर रोग को बाहर कर देने और शरीर की रक्षा करने में समर्थ होने से तुम 'पतत्रिणी' हो । (यत्) जो पदार्थ भी शरीर में (आमयति) रोग उत्पन्न करता है उसको (निष्कृथ) बाहर कर देती हो ।

बलवती वीर प्रजाओं के पक्ष में—हे वीर सेनाओ ! (वः माता इष्कृतिः) 'इष्कृति' शत्रु को राष्ट्र से बाहर निकालने वाली शक्ति ही राष्ट्र को बनाने वाली 'माता' के समान है । इसी से (यूयं निष्कृतीः स्थ) तुम सब 'निष्कृति' नाम से कहाती हो । तुम सदा (सीराः) अन्न आदि पदार्थों सहित होकर (पतत्रिणीः स्थन) शत्रु के प्रति गमन करती हो । भोजन का उत्तम प्रबन्ध करके चढ़ाई करो । और (यद् आमयति) राष्ट्र में रोग के समान पीड़ाकारी हो उसको (निष्कृथ) निकाल बहार कर दिया करो ।

अति विश्वाः परिष्ठा स्तेन इव व्रजमक्रमुः ।

ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो रपः ॥ ८४ ॥

ऋ० १० । ९७ । १० ॥

अथर्वणो भिषग् ऋषिः । वैद्या देवताः । विराडनुष्टुप् । गांधारः ।

भा०—(स्तेनः व्रजम् इव) चोर जिस प्रकार गौएं के बाड़े पर (अतिक्रामती) आक्रमण करता है उसी प्रकार (परिष्ठाः विश्वाः) सर्वत्र व्यापनशील या रोगों पर वश कर लेने वाली समस्त ओषधियां भी (व्रजम् अति अक्रमुः) रोग समूह पर आक्रमण करती हैं और (यत् किंच) जो कुछ भी (तन्वः) शरीर का (रपः) दुःखदायी रोग होता है उसको (ओषधीः) ओषधियां (प्राचुच्यवुः) दूर कर देती हैं ।

इसी प्रकार दुर्ग के चारों ओर (परिष्ठाः विश्वाः ओषधीः) घेरकर बैठने वाली बलवती सेनाएं (व्रजम् अति अक्रमुः) परकोट को फांद कर निकलती हैं । वे (तन्वः रपः) विस्तृत राष्ट्र शरीर में पापी शत्रु को (प्राचुच्यवुः) परे भगा देती हैं ।

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्तऽआदधे ।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥ ८५ ॥

ऋ० १० । ९७ । ११ ॥

आदिषेवते पूर्ववत् । अनुष्टप् । गान्धारः ॥

भा०—(यत्) जब (अहम्) मैं (इमाः ओषधीः) इन ओषधियों को (वाजयन्) अधिक बलशाली बनाकर (हस्ते आदधे) अपने हाथ में लेता हूँ (यथा पुरा) पूर्व के समान ही तब (जीवगृभः) जीवन को लेलेने वाले, प्राणघातक (यक्ष्मस्य) राजयक्ष्मा को भी (आत्मा) मूल कारण (पुरा नश्यति) पहले ही नष्ट होजाता है । अथवा (यथा

८४—तन्वो३रपः इति अ० । (८५—११०) ओषधिस्तुतिः । सर्वा० ॥ ऋग्वेदे च ॥

जीवगृभः) जिस प्रकार जोते जी पकड़े हुए अपराधी के आत्मा, प्राण (पुरा) पहले ही उड़ जाते हैं उसी प्रकार ओषधि लेते ही (यक्ष्मस्य पुरा आत्मा नश्यति) रोग का मूल कारण पहले ही दूर हो जाता है ।

इसी प्रकार मैं राजा जब (ओषधीः) वीर्यवती सेनाओं को (वाजयन्) संग्राम के लिये उत्तेजित करता हुआ अपने हाथ में लेता हूं । तो (यक्ष्मस्य) ओषधियों से राजयक्ष्मा के समान पीड़ाकारी (जीव-गृभः) प्राणघाती नर-पिशाच का भी (आत्मा पुरा नश्यति प्राण पहले ही) निकलने लगता है, निर्बल, वह निःसार होने लग जाता है ।

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं विबाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ८६ ॥

ऋ० १० । ९७ । १२ ।

ऋषिदेवते पूर्ववत् । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(ओषधीः) ओषधियां (यस्य) जिस रोगी पुरुष के (अङ्गम् अङ्गम्) अंग अंग और (परुः परुः) पोरु पोरु में (प्र सर्पथ) अच्छी प्रकार फैल जाती हैं तब (मध्यम-शीः) मर्मों तक को काट देने वाला या मध्यम, (उग्रः इव) प्रचण्ड बलवान् राजा जिस प्रकार शत्रु को नाश कर डालता है उसी प्रकार (ततः) उस शरीर से ओषधियां (यक्ष्मं) रोग को (वि बाधध्वे) विनष्ट कर देती हैं ।

इसी प्रकार हे (ओषधिः) वीर्यवती सेनाओ ! तुम जिस राष्ट्र के अंग २ और पोरू २ में फैल जाती हो (मध्यमशीः उग्रः इव) बीच के भागों को तोड़ने वाले या मध्यम, प्रचण्ड क्षत्रिय के समान ही तुम सब भी रोग के तुल्य दुःखदायी शत्रु का नाश करती हो ।

साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना ।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥ ८७ ॥

ऋ० १० । ९७ । १३ ।

ऋषिदेवते पूर्ववत् । विराडनुष्टुप् गांधारः ॥

भा०—हे यक्ष्म ! राजरोग ! तू (किकिदीविना) ज्ञानपूर्वक प्रयोग किये गये (चाषेण) भोजन के (साकम्) साथ ही (प्र पत) परे भाग जा । और (वातस्य साकं) प्राण वायु के प्रबलगति की साथ (प्र पत) दूर भाग जा अर्थात् प्राणायाम द्वारा नष्ट हो । और (निहाकया साकम्) रोग को निःशेष दूर करने की प्रक्रिया वा रोग-पीड़ा के साथ तू (नश्य) नष्ट हो।

इसी प्रकार रोग के समान शत्रो ! तू किकियाने वाले चाप नामक पक्षी और वायु के वेग के साथ और सर्वत्र (निहाकया) तीव्र भाग दौड़ के साथ (प्र पत, प्र नश्य) दूर भाग जा ।

अन्या वो॑ऽ अ॒न्याम॑वत्व॒न्यस्या॒ उपा॑वत ।
ताः सर्वाः॑ संविदा॒ना इ॒दं मे॒ प्राव॑ता वचः॑ ॥ ८८ ॥

ऋ० १० । ९७ । १४ ॥

ऋषिदेवते पूर्ववत् । विराडनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—ओषधियां (वः) सब (अन्या) एक (अन्याम्) दूसरी की (अवतु) रक्षा करें । और (अन्या अन्यस्याः) एक दूसरी के गुणों और प्रभावों की (उप अवत) रक्षा करें । (ताः सर्वाः) वे सब (संविदानाः) परस्पर सहयोग करती हुई (मे इदं वचः) मेरे इस वचन को (प्रवत) अच्छी प्रकार पालन करें । इसी प्रकार हे सेना के पुरुषो ! तुम एक दूसरे की रक्षा करो । परस्पर मिलकर मेरी आज्ञा का पालन करो ।

याः फ॒लिनी॒र्या ऽअ॑फ॒ला ऽअ॑पु॒ष्पा याश्च॑ पु॒ष्पिणीः॑ ।
बृह॒स्पति॑प्रसूता॒स्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वꣳह॑सः ॥ ८९ ॥

ऋ० १० । ९७ १५ ॥

ऋषिदेवतादि पूर्ववत् ॥

भा०—(याः) जो ओषधियां (फलिनीः) फलवाली हैं और (याः

अफलाः) जो फल रहित हैं, (याः अपुष्पाः) जो फूलवाली नहीं हैं (याः च पुष्पिणीः) और जो फूलवाली हैं (ताः) वे सब (बृहस्पति-प्रसूताः) बड़े २ लोकों के स्वामी परमेश्वर से उत्पादित वा बृहती आयुर्वेद-विद्या के पालक उत्तम विद्वानों द्वारा प्रयोग की जाकर (नः) हमें (अंहसः) रोगजन्य दुःखों से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ।

इसी प्रकार जो वीर प्रजाएं (फलिनीः) शस्त्र के फलों से युक्त, (या अफलाः) शस्त्र-अस्त्रों के फलों से रहित, (अपुष्पाः) पुष्टिकर पदार्थों से रहित, और (पुष्पिणीः) पुष्टिकर पदार्थों से युक्त हैं वे सब भी बड़े राष्ट्रपति व सैन्यपति से प्रेरित होकर हमें (अंहसः) पाप-कर्मों या शत्रु से होने वाले कष्टों से बचावें।

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशात्सर्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ ९०

ऋ० १० । ९७ । १६ ॥

बन्धुर्ऋषिः । वैद्या देवताः । विराडनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे ओषधियो ! ओषधियों के समान कष्टों के निवारक वीर, आप्त, प्रजाजनो ! जिस प्रकार ओषधियें (शपथ्यात्) कुपथ्य या निन्दा योग्य कर्म से होनेवाले कष्ट से, (वरुण्यात्) निवारण करने योग्य रोग से और (यमस्य पड्वीशात्) मृत्यु के बन्धन से और (देव-किल्बिषात्) इन्द्रियों में बैठे विकारों से मुक्त करती है, उसी प्रकार आप लोग भी (शपथ्यात्) आक्रोश या परस्पर निन्दा के वचनों से उत्पन्न पाप से, (अथ वरुण्यात् उत) और वरुण राजा या वरणीय श्रेष्ठ पुरुष के प्रति किये अपराध से उत्पन्न होनेवाले पाप से (अथो) और (यमस्य) नियन्ता, न्यायाधीश के द्वारा दिये जाने वाले (पड्वीशात्) बेड़ियों, कैद आदि बन्धन से और (सर्वस्मात्) सब प्रकार के (देव-किल्बिषात्)

९०—मुञ्चन्तुबन्धुर्द्वादशानारभ्याधीताः ॥ सर्वा० ॥ आसां कुत्रापि विनियोगो नास्ति इति अनन्त० ॥

विद्वानों के या राजा के प्रति किये अपराधों से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमें उन अपराधों से बचावें ।

अवपतन्तीरवदन्दिवऽओषधयस्परि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ ९१ ॥

ऋ० १० । ९७ । १७ ॥

बन्धुर्ऋषिः । वैद्या देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(दिवः) प्रकाशमान सूर्य से आनेवाली किरणों के समान ज्ञानवान् वैद्य पुरुष के पास से (अवपतन्तीः) आती हुई (ओषधयः) वीर्यवती ओषधियां (अवदन्) मानो कहती हैं कि (यं जीवम्) जिस प्राणधारी के शरीर को भी हम (अश्नवामहै) व्याप लेती हैं (सः पूरुषः) वह देहवासी आत्मा, पुरुष (न रिष्याति) कभी पीड़ित नहीं होता ।

इसी प्रकार (दिवः परि अवपतन्तीः) सूर्य के समान तेजस्वी एवं युद्धविजयी सेनापति के पास से जाती हुई वीर्यवती (ओषधयः) ताप और वीर्य्य को धारण करनेवाली सेनाएं कहती हैं कि (यं जीवम्) जिस जीवधारी प्राणी को हम (अश्नवामहै) अपये अधीन लेलेती हैं (सः पूरुषः न रिष्यति) वह पुरुष कभी कष्ट नहीं पाता ।

स्त्रियों के पक्ष में—(दिवः) तेजस्वी पुरुष के पास से गर्भित होकर (ओषधयः) वीर्य धारण करने में समर्थ स्त्रियें (अवपतन्तीः) पतियों से संगत होकर कहती हैं (यं जीवम् अश्नवामहै) जिस प्राणधारी जीव को हम गर्भ में धारण करलेती हैं (सः पूरुषः न रिष्यति) वह आत्मा कभी नष्ट या पीड़ित नहीं होता ।

या ऽओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शꣳ हृदे ॥ ९२ ॥

ऋ० १० । ९७ । १८ ॥

९१—बरुण ऋषिः द० ।

ऋपि देवते पूर्ववत् । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(याः) जो (ओपधीः) ओपधियें (सोम-राज्ञीः) सोमवल्ली के गुणों से प्रकाशित होती हैं और (शत-विचक्षणाः) सैकड़ों रोगों के दूर करने में नाना प्रकार से उपदेश की जाती हैं, उनके सैकड़ों गुण हैं (तासाम्) उनमें से हे विशेष ओपधे ! (त्वम्) तू सब से अधिक (उत्तमा असि) उत्तम है । तू (कामाय) यथेष्ट सुख के प्राप्त करने के लिये और (हृदे शम्) हृदय को शान्ति देने के लिये (अरम्) पर्याप्त है ।

वीर प्रजाओं के पक्ष में—(सोम-राज्ञीः) सोम, राजा को अपना राजा मानने वाली (याः बह्वीः ओपधीः) जो बहुत सी वीर्यवती, बलवती प्रजाएं (शत-विचक्षणाः) सैकड़ों कार्यों में कुशल हैं (तासाम्) उनमें से (त्वम् कामाय शं हृदे) कामना और हृदय की शान्ति के लिये सबसे तूही (उत्तमा असि) श्रेष्ठ है ।

स्त्री के पक्ष में— (सोम-राज्ञीः) वधू की कामना करनेवाले की रानी बननेवाली (बह्वीः) बहुत सी (शत-विचक्षणाः) सैकड़ों गुणों में विलक्षण, चतुर (ओपधीः) ओपधियों के समान वीर्यवती, वीर्य धारण में समर्थ स्त्रियें हैं । (तासाम्) उनमें से (त्वम्) तू (कामाय शम्) अनेक शुभ कामना की पूर्त्ति और (हृदे शम्) हृदय की शान्ति के लिये भी (उत्तमा असि) उत्तम हो । अथवा—अनेक गुणवाली ओपधियों को उत्तम विदुपी जाने । वह सब को शान्तिदायक हो ।

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु ।
बृहस्पतिप्रसूताऽअस्यै संदत्त वीर्य्यम् ॥ ९३ ॥

ऋ० १० । ९७ । १९ ॥

ऋषिदेवते पूर्ववत् । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(सोम-राज्ञीः) सोम वल्ली के गुणों से प्रकाशित होनेवाली

९३—१०१ वरुण ऋषिः । द० ॥

(याः ओषधीः) जो ओषधियां (पृथिवीम् अनु-विष्ठिताः) पृथिवी पर एक दूसरे के अनुकूल गुण होकर स्थित हैं वे (बृहस्पति-प्रसूताः) वेदविद्या के पालक विद्वान् द्वारा प्रयोग की गईं या परमेश्वर द्वारा उत्पादित हैं। वे (अस्यै) इस विशेष ओषधि को (वीर्यम् सं दत्त) विशेष बल प्रदान करें।

वीर प्रजाओं के पक्ष में—(सोम-राज्ञीः ओषधीः) सोम को राजा स्वीकार करनेवाली प्रजाएं जो पृथिवी पर परस्पर अनुकूल होकर विराजती हैं, वे बृहत्, महान् पति द्वारा प्रेरित होकर (अस्यै) इस विशेष सेना को (वीर्यम् सं दत्त) बल प्रदान करें। उसको पुष्ट करें।

याश्चेदमुप शृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः।
सर्वाः संगत्य वीरुधोऽस्यै सं दत्त वीर्यम् ॥ ९४ ॥

ऋ० १० । ९७ । २० ॥

भिषजो देवताः। विराड् अनुष्टुप्। गांधारः॥

भा०—(याः च) और जो ओषधियां (इदम्) इस प्रकार (उप शृण्वन्ति) सुनी जाती हैं और (याः च दूरं परागताः) और जो दूर २ तक फैलाई गई हैं। (सर्वाः संगत्य) वे सब मिलकर (वीरुधः) नाना प्रकार से उगनेहारी वृक्ष लता आदि (अस्यै वीर्यं सं दत्त) इस विशेष ओषधि को वीर्य प्रदान करें अथवा इस प्रजा को बल प्रदान करें।

वीर पुरुषों के पक्ष में—जो वीर सेनाएं (इदम्) सभापति के इस बचन को सुनती हैं और जो दूर तक चली गई हैं वे सब मिलकर (वीरुधः) विविध ऐश्वर्यपद प्राप्त करनेवाली अथवा विविध प्रकार से शत्रुओं को रोकने में समर्थ (अस्यै वीर्यम् सं दत्त) इस विशेष सेना को या पृथ्वी को बल प्रदान करें।

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः।

द्विपाच्चतुष्पादस्माकꣳ सर्वमस्त्वनातुरम् ॥९५॥ऋ० १०।९७।२०॥

वैद्या देवताः । विराडनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे ओषधियो ! (खनिता) तुमको खोदनेवाला तुम्हें (मा रिषत्) विनाश न करे । और (यस्मै च) जिसके लिये मैं (वः) तुमको (खनामि) खोदूं वह (द्विपात् चतुष्पात्) मनुष्य और पशु (सर्वम्) सब (अस्माकम्) हमारे (अनातुरम्) नीरोग, सुखी (अस्तु) हों । हे वीर पुरुषो ! तुम्हारा (खनिता) खनन करनेवाला, तुमको सामान्य प्रजा से अलग करनेवाला राजा (मा रिषत्) तुम्हें पीड़ित न करे और जिस राष्ट्र की रक्षा के लिये वह तुम्हें पृथक् करता है वे सब मनुष्य, पशु पक्षी भी, सुखी हों ।

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा ।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तꣳ राजन् पारयामसि ॥ ९६ ॥

ऋ० १० । ९७ । २२ ॥

वैधा देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(ओषधयः) वीर्य धारण करनेवाली ओषधियां (सोमेन) सोमलता के साथ (सम अवदन्त) मानो संवाद करती हैं कि हे (राजन्) हे राजन्, सोम ! (ब्राह्मणः) वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मण (यस्मै कृणोति) जिस के लिये हमें तैयार करके प्रदान करता है (तं) उसको हम (पारयामसि) पालन करती हैं । वीर्यवती प्रजाएं (सोमेन राज्ञा सह) प्रेरक बलवान् राजा के साथ मिलकर (सम् अवदन्त) आलाप करती हैं कि (ब्राह्मणः यस्मै कृणोति) वेदज्ञ पुरुष जिस प्रयोजन या देश की रक्षा के लिये हमें दीक्षित करता है हे राजन् ! (तं पारयामसि) उसका हम पालन करती हैं ।

९५—'द्विपच्चतुष्पदस्मा०' इति काण्व०

९६—'ओषधयः संवदन्ते' इति ऋ० ।

स्त्रियों के पक्ष में—वीर्य धारण करने में समर्थ, लता के समान स्वभाव की स्त्रियां वधू के इच्छुक तेजस्वी पुरुष के साथ (सम् अवदन्त) संगत होकर प्रतिज्ञा करती हैं कि (यस्मै) जिस गृहस्थ कार्य के लिये हमें (ब्राह्मणः) वेदज्ञ विद्वान् संस्कार द्वारा प्रदान करता है हे राजन् ! वर ! (तं पारयामसि) हम उसको संसार-सागर से तारती हैं, उसका पालन करती हैं। मन्त्र ९२, ९३, ९४, भी स्त्रीपक्ष में लगते हैं। (देखो दयानन्दभाष्य)।

नाशयित्री बलासस्यार्शसऽउपचितोमसि ।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी ॥ ९७ ॥

भिषग्वरा देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (बलासस्य) बल को नाश करनेवाले कफ रोग को (अर्शसः) अर्श, बवासीर और (उपचिताम्) दोषों के एकत्र होजाने से उठनेवाले गण्डमाला अदि रोगों की (नाशयित्री असि) नाश करनेवाली है। (अथ) और इसी प्रकार के (शतस्य यक्ष्माणाम्) सैंकड़ों रोगों के और (पाकारोः) पकनेवाले फोड़े को भी (नाशनी असि) नाश करदेने वाली हो।

वीर प्रजा के पक्ष में—(बलासस्य) बलपूर्वक आक्रामक (अर्शसः) हिंसाकारी, (उपचिताम्) अन्यों के धनों को अन्याय से संग्रह करनेवाले और (पाकारोः) परिणाम से पीड़ा देने वाले और इसी प्रकार (शतस्य-यक्ष्माणाम्) सैकड़ों गुप्त पीड़ाकारी दुष्टों का नाश करनेहारी हो।

त्वां गन्धर्वा अखनँस्त्वामिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः ।
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत ॥ ९८ ॥

वैद्या देवताः । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(त्वाम्) तुझको (गन्धर्वाः) गौ, वेदवाणी के ज्ञाता और भूमि के पालक या गन्ध सूंघकर ठीक २ वस्तु पा लेने वाले, (अखनन्)

खोदते हैं, प्राप्त करते हैं (त्वां) तुझको (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् (बृहस्पतिः) बड़े राष्ट्र का पालक और (सोमः राजा) राजा सोम और (विद्वान्) विद्वान् पुरुष भी प्राप्त करता है (यक्ष्मात्) और वह रोग से (अमुच्यत) मुक्त होता है।

वीर सेना के पक्ष में—(गन्धर्वाः) पृथ्वी के पालक, भूपति लोग (इन्द्रः) सेनापति और (सोमः राजा) राजा सोम सम्राट् सभी प्राप्त करते हैं और कष्ट से मुक्त होते हैं।

सहस्व मे अरातीः सहस्व पृतनायतः।
सहस्व सर्वं पाप्मानꣳ सहमानास्योषधे॥ ९९॥

अथर्व० १९।३२।६॥

ओषधिर्देवता। विराड् अनुष्टुप्। गांधारः॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधि के समान वीर्य को धारण करनेवाली सेने! (सहमाना असि) रोग के समान तू शत्रु को पराजित करने-हारी है। तू (सर्वं पाप्मानम्) समस्त पापाचार को (सहस्व) विनष्ट कर। (मे अरातीः) मेरे शत्रुओं को (सहस्व) पराजित कर और (पृतनायतः) सेना लेकर चढ़नेवालों को भी (सहस्व) बलपूर्वक पराजित कर।

दीर्घायुस्तऽओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम्।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात्॥ १००॥

वैद्या देवताः। विराड् बृहती। मध्यमः॥

भा०—(ते खनिता) तुझे खोदकर प्राप्त करनेवाला और (यस्मै च) जिसके लिये (त्वा) तुझको (अहम् खनामि) मैं खोदकर प्राप्त करता हूँ हे (ओषधे) वीर्यवति ओषधे! बलवति! (सः दीर्घायुः) वह दीर्घ आयुवाला होता। (अथो) और हे पुरुष! हे स्त्री! और हे औषधे! हे वीर्यवति प्रजे! (त्वं) तू भी (दीर्घायुः भूत्वा) दीर्घ आयुवाली होकर

(शतवल्शा) सैकड़ों अंकुरों सहित (वि रोहतात्) विविध प्रकार से उत्पन्न हो, उन्नत हो, पुष्ट हो वृद्धि को प्राप्त हो ।

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षाऽउपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं योऽअस्माँ २।। अभिदासति ॥१०१॥
अथर्व० ६ । १५ । १ ॥

भिषजो देवताः । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ।

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! वीर्यवति (त्वम् उत्तमा असि) तू सबसे श्रेष्ठ है । (वृक्षाः) अन्य वृक्ष भी (तव उपस्तयः) तेरे अधीन संघ बनाकर रहें । तेरे बल से (सः) वह (अस्माकम् उपस्तिः अस्तु) हमारे अधीन दृढ़ रहे (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) अनेक सुख प्रदान करता है ।

अथवा—हे ओषधे ! तू सबसे श्रेष्ठ है । (वृक्षाः) वट आदि वृक्ष तेरे समीप (उपस्तयः) संघ बनाकर ठहरते हैं । (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें सुख देता है वह (अस्माकं उपस्तिः अस्तु) हमारे पास सदा हमसे मिलकर रहे ।

सेना पक्ष में—(उपस्तयः) संघ बना कर रहनेवाली सेनाएं (तव वृक्षाः) तेरे काटने योग्य हैं । अथवा (वृक्षाः) काटने योग्य वृक्षों के समान छेद्य शत्रु (उपस्तयः = संहन्तव्याः) विनाश करने योग्य हैं । इसी प्रकार जो हमें (अभि दासति) विनष्ट करे (सः अस्माक उपस्तिः) वह भी हमारे लिये विनाश योग्य है ।

विशेष ओषधिसूक्त देखो ऋषि अथर्वा दृष्ट अथर्ववेद का० ८ । सू० ७ ॥

मा मां हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा

१०१—'उत्तमाउग्रस्यायधीनां'० इति अथर्व० । तत्रो द्दालक ऋषिः ॥ वनस्पतिर्देवता ॥

व्यानट् । यश्चापश्चन्द्राः । प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १०२ ॥

हिरण्यगर्भ ऋषिः । को देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा० —(यः) जो परमेश्वर (पृथिव्याः जनिता) पृथिवी का उत्पादक है और (यः वा) जो (सत्य-धर्मा) सत्य धर्मवाला, सत्य के बल से जगत् को धारण करनेवाला होकर (दिवं) द्यौलोक, आकाश और सूर्य को (वि आनड्) विविध प्रकार से व्याप्त है। और (यः) जो (प्रथमः) सबसे प्रथम विद्यमान होकर (अपः) जलों और वायुओं और प्राणों को (चन्द्राः) ज्योति वाले सूर्य चन्द्र आदि लोकों को (जजान) उत्पन्न करता है (कस्मै) उस सुखमय उपास्य देव की हम (हविषा) भक्ति और स्तुति से (विधेम) अर्चना करें। वह (मा मा हिंसीत्) मुझे कभी नाश न करे।

राजा के पक्ष में—जो पृथिवी का (जनिता) पिता के समान पालक सत्य नियमों वाला होकर (यः दिवं व्यानट्) जो सब व्यवहारों को चलाता है (चन्द्रा आपः) जो सबसे श्रेष्ठ होकर सब आह्लादकारी आप्त प्रजाओं को (जजान) प्रकट करता है। उस कर्त्तारूप प्रजापति की हम (हविषा) अन्न आदि उत्तम उपादेय पदार्थों से सेवा करें। वह राजा (मा मा हिंसीत्) मुझ राष्ट्र की प्रजा का नाश न करे ॥ शत० ७। ३। १। २० ॥

अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह ।
वपान्तेऽअग्निरिषितोऽअरोहत् ॥ १०३ ॥

अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक । ऋषभः ।

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवी ! हे स्त्री ! तू (यज्ञेन) यज्ञ परस्पर, के प्रेमपूर्वक संग और (पयसा) जल, पुष्टिकारक अन्न और वीर्य के (सह) साथ (अभि आवर्तस्व) सब प्रकार से प्राप्त हो, वर्तमान रह। (इषितः) कामनावान्, अभिलाषुक (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी

पुरुष राजा या पति (ते वपाम्) तेरी बीज-वपन करने की भूमि में (अरोहत्) बीज वपन करे और अन्न और पुत्र आदि प्राप्त करे।

अर्थात्—(पयसा सह यथा पृथिवी अभि आवर्तते) मेघ के जल से जिस प्रकार पृथिवी युक्त होती है उसी प्रकार (यज्ञेन पृथिवी अभ्यावर्तस्व) हे स्त्री ! तू यज्ञ अर्थात् संगत पति से युक्त होकर रह । और (अग्निः) तेजस्वी राजा जिस प्रकार इच्छानुकूल प्रजाओं द्वारा चाहा जाकर (वपाम्) उत्पादक शक्ति वीर भूमि, पर अधिष्ठाता रूप से विराजता है उसी प्रकार (अग्निः) तेजःस्वरूप वीर्य । (इषितः) स्त्री की इच्छानुसार प्राप्त होकर (ते वपां) तुझ स्त्री की सन्तानोत्पादक शक्ति को प्राप्त कर (अरोहत्) सन्तानरूप से बढ़े ॥ शत ७ । ३ । १ । १९ ।

अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियम् ।
तद् देवेभ्यो भरामसि ॥ १०४ ॥

अग्निर्देवता । भुरिग् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! (यत् ते शुक्रं) जो तेरा शुद्ध, उज्वल और (यत् चन्द्रं) जो चन्द्र, आह्लादकारी (यत् पूतं) जो पवित्र, (यत् च यज्ञियम्) और जो 'यज्ञ', प्रजापति होने योग्य तेज है (तत्) उसको हम प्रजागण (देवेभ्यः) विजयी वीर पुरुषों के लिये (भरामसि) प्राप्त कराते और स्वयं धारण हैं ।

सन्तानोत्पादक वीर्य के पक्ष में—अग्निरूप! वीर्य का जो शुद्ध, आह्लादकारी पवित्र क्रिया में हितकारी स्वरूप है उसको (देवेभ्यः) दिव्यगुणों और प्राणों की पुष्टि लिये प्राप्त करें । शत० ७ । ३ । १ । २२॥

इषमूर्जमहमित ऽआदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम् ।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम् ॥१०५॥

विद्वान् देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

१०५—आशीर्देवता । अनन्त० ॥

भा०—(अहम्) मैं (इतः) इस पृथ्वी से (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) बलकारक समस्त उत्तम भोजन (आदम्) प्राप्त करूं। (इतः) इस पृथ्वी से ही (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (योनिम्) कारणरूप (महिषस्य) महान् परमेश्वर के सत्य ज्ञान को (धाराम्) धारण करनेवाली वेदवाणी को भी प्राप्त करता हूँ। वह अन्न बल और सत्यज्ञान (मा आविशतु) मुझे प्राप्त हो। और वही अन्न, पुष्टिकारक पदार्थ (गोपु तनूपु) हमारी इन्द्रियों और शरीरों में भी प्राप्त हो। और (अनिराम्) अन्न से शून्य, उपवास करानेवाली, (अमीवाम्) रोगों से उत्पन्न (सेदिम्) और भुखमरी आदि प्राणनाशक विपत्ति का (जहामि) मैं त्याग करूं, उसको हटाऊं॥ शत० ७। ३। १। २३॥

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्तेऽअर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे॥ १०६॥

पावकोऽग्निर्ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृत् पंक्तिः। पंचमः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! ज्ञानवान् तेजस्विन्! हे (विभावसो) विशेष ज्ञानदीप्ति में बसनेवाले तेजोधन! एवं ज्ञानधन विद्वन्! (तव) तेरा (महि श्रवः) बड़ा भारी ज्ञान और (महि वयः) बड़ा भारी जीवन सामर्थ्य, और ये गुण सब (अर्चयः) अग्नि की ज्वालाओं के समान (भ्राजन्ते) प्रकाशित होते हैं। हे (बृहद्भानो) महान् दीप्तिवाले सूर्य के समान तेजस्विन्! एवं बृहती वेदवाणी के प्रकाश से युक्त हे (कवे) क्रान्तदर्शिन् मेधाविन्! विद्वन्! तू (शवसा) बल से (उक्थं वाजम्) ज्ञान और वीर्य को (दाशुषे) दानशील पुरुषों अथवा दानयोग्य विद्यार्थी पुरुष को (दधासि) प्रदान करता है॥ शत० ७। ३। १। २९॥

पावकवर्चाः शुक्रवर्चाऽअनूनवर्चाऽउदियर्षि भानुना।

पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी ऽउभे ॥ १०७ ॥

ऋ० १० । १४० । १ ॥

पावकोऽग्निर्ऋषिः । अग्निर्विद्वान् देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(पावकवर्चाः) अग्नि के समान, पवित्रकारी तेजवाला, (शुक्रवर्चाः) वीर्य के सामन विशुद्ध तेजवाला, एवं सामर्थ्यजनक, (अनूनवर्चाः) किसी से भी न्यून बल न होकर अति बलशाली, तेजस्वी राजा होकर (भानुना) अपने तेज से तू सूर्य के समान (उत् इयर्षि) ऊपर उठता है। और (मातरा) माता पिता दोनों के बीच (पुत्रः) जिस प्रकार पुत्र निः संकोच, निर्भय होकर विचरता है उसी प्रकार (उभे) दोनों (रोदसी) द्यौ और पृथिवी के बीच (पुत्रः) पुरुषों को त्राण करने में समर्थ होकर (विचरन्) विविध प्रकार से विचरता हुआ (उप अवसि) तू उन्हें प्राप्त हो और दोनों का (पृणक्षि) पालन पोषण कर ॥ शत० ७ । ३ । १ ३० ॥

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः ।
त्वे ऽइषः सं दधुर्भूरिवर्पसाश्चित्रोतयो वामजाताः ॥१०८॥

ऋ० १० । १४० । २ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥ निचृत्पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(ऊर्जः नपात्) अपने बल और पराक्रम को कभी धर्ममार्ग से न गिरने देनेवाले ! हे (जातवेदः) विद्वन्, ऐश्वर्यवान् ! राजन् ! तू (सु-शस्तिभिः) उत्तम शासन-क्रियाओं से और सुख्यातियों से (धीतिभिः) अंगुलियों के समान अग्रगामी धारण-शक्तियों से (हितः) प्रजा का हितकारी एवं सुस्थापित होकर (मन्दस्व) सुप्रसन्न हो। (त्वे) तुझ में (भूरि-वर्पसः) नाना धन, गौ आदि पशु, नाना रूप के ऐश्वर्यों से युक्त (चित्रोतयः) चित्र और विविध रक्षा साधनों से

१०७—०'उदय ऋषिः भानुना०' इति काण्व० ॥

सुरक्षित (वाम-जाताः) उत्तम वंशों में उत्पन्न हुई प्रजाएं (इषः सं दधुः) अन्न आदि भोग्य पदार्थ प्रदान करें ॥। शत० ७ । ३ । १ । ३१ ॥

इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो ऽअमर्त्य ।
स दर्शतस्य वपुषो विराजसि पृणक्षि सानसिं क्रतुम् ॥ १०९ ॥

ऋ० १० । १४० । ३ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—हे राजन् ! (सः) वह तू (दर्शतस्य वपुषः) दर्शनीय शरीर से (वि राजसि) विशेष दीप्ति से चमकता है, (सानसिम्) सनातन से चली आई, चिरकाल से प्राप्त (क्रतुम्) प्रज्ञा और शक्ति को (पृणक्षि) धारण और पूर्ण किये रहता है । और हे (अग्ने) अग्ने, प्रतापवन् ! विद्वन् ! तू (इरज्यन्) ऐश्वर्यवान् होता हुआ हे (अमर्त्य) नाशवान् साधारण मनुष्यों से भिन्न, विशेष पुरुष ! (जन्तुभिः) गौ आदि जन्तुओं से (अस्मै) हमारे उपकार के लिये (रायः) धन-ऐश्वर्यों को (प्रथयस्व) बढ़ा ॥ शत० ७ । ३ । १ । ३२ ॥

इष्कर्त्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तꣳ राधसो महः ।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिꣳ रयिम् ११०

ऋ० १० । १४० । ४ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । आर्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(अध्वरस्य) अहिंसारहित, पालक यज्ञ, व्यवस्था के (इष्कर्तारम् = निष्कर्त्तारम्) करनेवाले, (प्र-चेतसं) प्रकृष्ट ज्ञानवान्, (क्षयन्तम्) निवासी और (महः) बड़े भारी (वामस्य) अति सुन्दर, प्राप्त करने योग्य (राधसः) धन के (रातिम्) देनेवाले पुरुष को और (सु-भगाम्) उत्तम ऐश्वर्ययुक्त (महीम् इषं) बड़ी भारी अन्न-समृद्धि को और (सानसिम्) अनन्त, अनादि, सनातन, अक्षय (रयिम्) सम्पत्ति को भी (दधासि) धारण करता है,अतः तू पूजनीय है ॥ शत० ७।३।१।३३॥

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निᳪं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ।
श्रुत्कर्णᳪं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ॥ १११ ॥
ऋ० १० । १४० । ५ ॥

पावकोऽग्निऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराडार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(ऋतावानम्) सत्य ज्ञानवान्, सत्य कर्मवान्, (महिषं) महान् (विश्व-दर्शतम्) सब विद्याओं के द्रष्टा एवं सर्व प्रकार से दर्शनीय, (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानवान्, श्रवण किये हुए (श्रुत्-कर्णम्) गुरु के उपदेश को अपने कानों में सदा धारण करने वाले अथवा गुरु के उपदेशानुसार आचरण करनेवाले, (दैव्यम्) देव, विद्वानों में कुशल (त्वा) तुझ विद्वान् (अग्निम्) ज्ञानी, तेजस्वी पुरुष, राजा को (सुम्नाय) अपने सुख के लिये (पुरः) पालन करने में चतुर या पालन योग्य (जनाः) लोग (सुम्नाय) अपने सुख के लिये ही (दधिरे) स्थापित करते हैं। और (स-प्रथस्तमम्) विस्तृत यश के पात्र तुझको (मानुषा युगा) मनुष्यों के युग, जोड़े अर्थात् सभी नर नारी (गिरा) वाणी से भी (दधिरे) प्रतिष्ठित करते हैं ॥ शत० ७ । ३ । १ । ३४ ॥

आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् ।
भवा वाजस्य सङ्गथे ॥ ११२ ॥ ऋ० १० । १४० । ६ ॥

गोतम ऋषिः । सोमो देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (सोम) राजन् ! (ते) तेरा (वृष्ण्यम्) प्रताप, बलशाली कार्य (विश्वतः) सर्वत्र (सम्-एतु) प्राप्त हो । तू (विश्वतः आप्यायस्व) सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हो और (वाजस्य) वीर्यवान् वेग या ऐश्वर्य के निमित्त होनेवाले (सङ्गथे) संग्राम में तू विजयी (भव) हो ॥ शत० ७ । ३ । १ । ४६ ॥

सं ते पयाᳪंसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः ।

१११—उपरिष्टाज्ज्योतिः । सर्वा० ।

आप्यायमानोऽअमृताय सोम दिवि श्रवांᳬस्युत्तमानि धिष्व ११३

ऋ० । १ । ९१ । १८ ॥

गोतम ऋषिः सोमो देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (सोम) सोम ! (ते) तुझे (पयांसि) पुष्टिकारक पदार्थ (सं यन्तु) प्राप्त हों। और (अभिमाति-साहः) अभिमानी शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ (वाजाः सं यन्तु) वीर्यवान् और वेगवान् पदार्थ तुझे प्राप्त हों। इसी प्रकार (वृष्ण्यानि) सब प्रकार के बल भी तुझे (सं यन्तु) प्राप्त हों। हे सोम ! (दिवि) आकाश में चन्द्र के समान (आप्यायमानः) प्रतिदिन बढ़ती कलाओं से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (अमृताय) 'अमृत', मोक्ष सुख, या सन्तति-परम्परा से सदा अमर या चिरस्थायी या अमृत, अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त दीर्घ जीवन को प्राप्त करने के लिये (उत्तमानि) उत्तम २ (श्रवांसि) अन्नों को प्राप्त कर, उत्तम अन्न का सेवन कर ॥ शत० ७ । ३ । १ ४६ ॥

आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरᳬशुभिः ।
भवा नः सुप्रथस्तमः सखा वृधे ॥ ११४ ॥

ऋ० १ । ९१ । १७ ॥

सोमो देवता । आर्ष्युष्णिक । ऋषभः ॥

भा०—हे (मदिन्तम) अति प्रसन्नचित्त ! हे (सोम) ऐश्वर्ययुक्त राजन् ! तू (विश्वेभिः) समस्त (अंशुभिः) किरणों से (अप्यायस्व) वृद्धि को प्राप्त हो। तू (वृधे) वृद्धि के लिये ही (नः) हमारा (सप्रथस्तमः) अति अधिक विस्तृत यशों और गुणों से प्रसिद्ध कीर्त्तिमान् (सखा) मित्र (भव) हो।

आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।
अग्ने त्वाङ्कामया गिरा ॥ ११५ ॥ ऋ० ८ । ११ । ७ ॥

११३—न्यूह्य त्रिष्टुप् । सर्वा० ।

भवत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री । षड्जः ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् पुरुष ! (वत्सः) बछड़ा जिस प्रकार अपनी माता के साथ (आ यमत्) बांध दिया जाता है उसी प्रकार (परमात् चित् सधस्थात्) परम आश्रयस्थान से प्राप्त हुई (त्वां-कामया) जिस वाणी से हम तेरे प्रति अधिक प्रेम प्रदर्शन करते हैं उस (गिरा) वेद वाणी से ही तेरे चित्त को (आ यमत्) बांधा जाता है । तू उससे बद्ध होकर राष्ट्र की व्यवस्था करे । आत्मा के पक्ष में—(त्वां-कामया = आत्म-कामया) अपने आत्मा को ही दर्शन करने की इच्छावाली वाणी से (परमात् सधस्थात् चित्) परम आश्रय परमेश्वर से प्राप्त (गिरा) ज्ञान वेद वाणी द्वारा (ते मनः आ यमत्) तेरा मन बंध कर एकाग्र हो ॥ शत० ७ । ३ । २ । ८ ॥

स्त्री पुरुष के प्रति—हे अग्ने ! तेजस्विन् पुरुष ! (परमात् सधस्थात्) परमस्थान, हृदय से उत्पन्न (त्वां-कामया गिरा) तुझे चाहने वाली मेरी वाणी से तेरा (मनः) मन, गौ के साथ बछड़े के समान, (आ यमत्) सब तरफ से मेरे साथ बंधे ॥ ऋग्वेदे वत्सः काण्व ऋषिः ॥

तुभ्यं ताऽअङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक् ।
अग्ने कामाय येमिरे ॥ ११६ ॥ ऋ० ८ । ४३ । १८ ॥

विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अंगिरस्तम) अति अधिक ज्ञानी या जलते अंगारों वा अग्नि के समान तेजस्विन् ! (ताः सु-क्षितयः) वे नाना उत्तम प्रजाएं (पृथक्) पृथक् २ (कामाय तुभ्यं) कामना करने योग्य, कान्तिमान्, तुझ राजा को (येमिरे) प्राप्त हों ॥ शत ७ । ३ । २ । ८ ॥

स्त्री-पुरुष के पक्ष में—हे (अंगिरस्तम) अंग २ में रमण करनेवाले

११५—वत्सः काण्व ऋषिर्ऋग्वेदे ।

प्रियतम (ताः विश्वाः सु-क्षितयः) वे समस्त उत्तम भूमि रूप स्त्रियां (पृथक्) पृथक् २ (कामाय तुभ्यम्) काम्यस्वरूप सुन्दर, तुझे अपने हृदय की कामना पूर्त्ति के लिये (येमिरे) विवाहें ।

अंगिरस्तम इति जात्यैकवचनम् ।

अ॒ग्निः प्रि॒येषु॒ धाम॑सु॒ कामो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य ।
स॒म्राडेको॒ विरा॑जति ॥ ११७ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, अग्रणी जो (भूतस्य) उत्पन्न प्रजाओं और (भव्यस्य) आगामी काल में आनेवाले प्रजाजनों या सभासदों को (प्रियेषु) प्रिय लगनेवाले (धामसु) स्थानों पर भी (कामः) सबसे कामना करने योग्य, सब के मनोरथों का पात्र, कान्तिमान् हो वह (एकः) एक मात्र (सम्राड्) सम्राड् होकर (विराजति) राज्यसिंहासन पर विशेष रूप से शोभा प्राप्त करता है ॥ शत० ७।३।२।९॥

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥
(तत्र सप्तदशोत्तरशतमृचः ।]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ॥

———

॥ अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥

॥ ओ३म् ॥ मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निᳬ रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय । मामु देवताः सचन्ताम् ॥ १ ॥

अग्निर्देवता । आर्ची पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(अग्रे) सब से प्रथम (मयि) अपने में, अपने ऊपर नियन्ता रूप में (अग्निम्) ज्ञानवान्, विद्वान्, तेजस्वी पुरुष या परमेश्वर को (रायस्पोषाय) धनैश्वर्य समृद्धि के प्राप्त करने के लिये, (सु-प्रजास्त्वाय) उत्तम प्रजाएं प्राप्त करने के लिये, (सु वीर्याय) और उत्तम वीर्य, बल प्राप्त करने के लिये (गृह्णामि) मैं स्वीकार करता हूँ । जिसके अनुग्रह से (देवताः) उत्तम विद्वान् या उत्तम गुण (माम् उ सचन्ताम्) मुझे अवश्य प्राप्त हों ।

राजा अपने भी ऊपर विद्वान्, पुरोहित, ज्ञानवान्, पुरुष को, ऐश्वर्य वृद्धि, उत्तम प्रजाओं, बल वृद्धि के लिये नियुक्त करे । इसी प्रकार अभी प्रथम अपने ऊपर उपदेशप्रद गुरु, आचार्य रूप अग्नि को रखकर (रायः पोषाय) उत्तम गुणों की पुष्टि, वीर्यलाभ, ब्रह्मचर्य और उत्तम सन्तान के लिये रक्खें ॥ शत० ७ । ४ । १ । २ ॥

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् ।
वर्धमानो महाँ२ऽआ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व२

भा०—व्याख्या देखो (अ० ९ । २९) । शत० ७ । ४ । १ । ९॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेनऽआवः ।
स बुध्न्याऽउपमाऽअस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः॥३

अथर्व० ४ । १ । १ ॥ ५ । ६ । १ ॥

ब्रह्मा ऋषिः । आदित्यो देवता । निचृद् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(पुरस्तात्) सब से प्रथम (जज्ञानम्) प्रकट हुए। (प्रथमम्) सब से प्रथम, एवं सब से अधिक विस्तृत (ब्रह्म) सब से महान्, ब्रह्म रूप में परमात्मा की शक्ति को (वेनः) वही कान्तिमान्, प्रकाश स्वरूप परमेश्वर (सीमतः) समस्त लोकों के बीच में व्यवस्था रूप से व्याप्त होकर (सुरुचः) समस्त रुचिकर तेजस्वी सूर्यों को (वि आवः) विविध रूप से प्रकट करता है। (सः) वही परमेश्वर (अस्य) इस महान्शक्ति के (उपमाः) बतलाने वाले, निदर्शक (वि-स्थाः) नाना स्थलों में और नाना रूपों में स्थित (बुध्न्याः) आकाशस्थ लोकों को भी (वि आवः) विविध रूप से प्रकट करता है। और वही परमेश्वर (सतः च) इस व्यक्त जगत् के और (असतः च योनिम्) अव्यक्त मूल कारण के भी आश्रयस्थान आकाश को (वि वः) प्रकट करता है।

राष्ट्र पक्ष में—सब से प्रथम ब्रह्मशक्ति उत्पन्न होती है। वही मर्यादा से (सुरुचः) तेजस्वी क्षत्रियों को भी प्रकट करती है। वही (अस्य विष्ठाः उपमः) इस राष्ट्र के विशेष स्थितिवाले ज्ञानी (बुध्न्याः) आश्रय भूत वैश्यवर्ग को उत्पन्न करता है। और वही (सतः असतः च योनिम् विवः) सत् और असत् के आश्रय सामान्य प्रजा को भी उत्पन्न करती है॥ शत० ७। ४। १। १४॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४॥

ऋ० १०। १२१। १॥

हिरण्यगर्भ ऋषिः। कः प्रजापतिर्देवता। आर्ची त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(अग्रे) सृष्टि के आदि में (हिरण्यःगर्भः) स्वर्ण के समान दीप्त सूर्यों और ज्ञानी पुरुषों को अपने गर्भ में धारण करनेवाला, सब का वशी (भूतस्य) इस उत्पन्न होनेवाले विश्व का (एकः) एकमात्र (जातः) उत्पादक और (पतिः) पालक (आसीत्) रहा और (सम्

अवर्त्तत) उसमें व्याप्त होकर सदा रहता भी है। और (सः) वही (इमाम् पृथिवीम्) इस सर्वाश्रय पृथिवी को और (द्याम् उत) आकाश या तेजोदायी सूर्यादि को भी (दाधार) धारण करता है (कस्मै) उस सुखस्वरूप प्रजापति की हम (हविषा) भक्तिपूर्वक (विधेम) उपासना करें ॥ शत० ७ । ४ । १ ॥ १८ ॥

राष्ट्र के पक्ष में—(हिरण्यगर्भः) सुवर्ण, कोश का ग्रहण करनेवाला उसका स्वामी, समस्त राष्ट्र के उत्पन्न प्राणियों का एकमात्र पालक है। वह ही (पृथिवीम्) पृथिवीस्थ नारियों और (द्याम्) सूर्य के समान पुरुषों को भी पालता है। उसी प्रजापति राजा की हम (हविषा) अन्न और आज्ञा पालन द्वारा सेवा करें।

द्रुप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रुप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १७ । ११ ॥ अथर्व० १८ । ४ । २८ ॥

अथर्वा ऋषिः । ईश्वर, आदित्यो देवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् ॥

भा०—(द्रप्सः) आदित्य का तेज (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (चस्कन्द) प्रकाश और मेघजल के रूप में प्राप्त होता है। (अनु द्याम्) और फिर वह आकाश में जाता है। (यः च पूर्वः) जो स्वयं आदि में पूर्व या पूर्ण है वह (इमं च योनिम् अनु) इस स्थान को भी प्राप्त होता है। इस प्रकार (समानम् योनिम् अनु) अपने समान अनुरूप आश्रय-स्थान को प्राप्त करते हुए (द्रप्सं) हर्ष के कारणरूप आदित्य को जिस प्रकार (सप्त होत्राः) सातों आदानकारी दिशाओं में फैलता देखते हैं उसी प्रकार मैं (द्रप्सं) आनन्द और हर्ष के हेतु वीर्य को (सप्त होत्राः) सातों प्राणों में (अनु जुहोमि) संचारित करूं।

१—अथातः पुष्करपर्णादुपधानम् ॥ कण्व । सर्वा० ।

राष्ट्र पक्ष में—(द्रप्सः) प्रजा का हर्षजनक राजा (यः च पूर्वः) जो पूर्ण शक्तिमान् है वह (पृथिवीम् अनु द्याम्अनु च) पृथिवी को और सूर्य को अनुकरण करता हुआ (पृथिवीम् चस्कन्द) पृथिवी को प्राप्त होता है। (योनिम्) अपने भूलोक के समान (सं चरन्तं) समान रूप से संचरण करनेवाले (द्रप्सं) हर्षकारी, आदित्य के समान तेजस्वी पुरुष को (सप्त होत्राः अनु) सात प्राणों में वीर्य के समान सातों दिशाओं में सूर्य के समान (जुहोमि)[1] स्थापित करता हूँ ॥ शत० ७ । ४ । १ २०॥

नमो॑ऽस्तु सुर्पेभ्यो॒ ये के च॑ पृथि॒वीमनु॑ ।
ये ऽअ॒न्तरि॑क्षे॒ ये दि॒वि तेभ्य॑ः सुर्पेभ्यो॒ नमः ॥ ६ ॥

६–८ सर्पाः देवताः । भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(ये के च) जो कोई भी (पृथिवीम् अनु) इस पृथिवी पर और (ये) जो अन्तरिक्षे में और (ये दिवि) जो दूर आकाश में विद्यमान लोक हैं (तेभ्यः) उन (सर्पेभ्यः) सर्पण स्वभाव गतिमान् लोकों को (नमः) अन्न प्राप्त हो और (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः) उन सर्प के स्वभाव वाले दुष्ट पुरुषों का उत्तम रीति से दमन हो।

इमे वै लोकाः सर्पाः या एव एषु लोकेषु नाष्ट्रा, व्यद्वरो या शिमिदा तदेवैतत्सर्वं शमयति ॥ शत० ७ । ४ । १ । २८ ॥

अथवा राष्ट्र में राजाओं के प्रति जानेवाले, प्रजाओं में फैले हुए और अन्तरिक्ष अर्थात् शासक जनों में फैले हुए (सर्पेभ्यः) गुप्त रूप से गतिशील चरों की (नमः) हम नियम,व्यवस्था करें ।

या ऽइष॑वो यातु॒धाना॑नां॒ ये वा॒ वन॒स्पती॑ँ१ ऽरनु॑ ।
ये वा॑व॒टेषु॒ शेर॑ते॒ तेभ्य॑ः सुर्पेभ्यो॒ नमः ॥ ७ ॥

अनुष्टुप् छन्दः । गांधारः ।।

५—१ जुहोमि स्थापयामीति उवटः

भा०—(याः) जो (यातुधानानां) प्रजा को पीड़ा देनेवाले दुष्ट पुरुषों के (इषवः) शस्त्र हैं अर्थात् उनके द्वारा चलाये हथियारों के समान प्रजा के नाशकारी हैं (ये वा) और जो (वनस्पतीन् अनु) वृक्षों के आश्रित सर्पों के समान प्रजा को आश्रय देनेवाले माण्डलिक भूपतियों के अधीन रहते हैं। (ये अवटेषु) जो गढ़ों में रहने वाले सापों के समान प्रजा की निचली श्रेणियों में (शेरते) गुप्त रूप से रहते हैं (तेभ्यः सर्पेभ्यः) उन सब कुटिल स्वभाव के लोकों का भी (नमः) दमन हो ॥ शत० ७ । ४ । १ । २९ ॥

ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु ।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । निचृद् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(ये) जो (दिवः) सूर्य या विद्युत् के (रोचने) प्रकाश में और (ये वा) जो (सूर्यस्य रश्मिषु) सूर्य की रश्मियों में चलते फिरते हैं और (येषाम्) जिनका (अप्सु) जलों के भीतर (सदः) निवास स्थान, आश्रय दुर्ग (कृतम्) बना है (तेभ्यः) उन (सर्पेभ्यः) कुटिल लोगों को भी राजा (नमः) अपने वश करे ॥ शत० ७ । ४ । १ । ३० ॥

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ२ऽ इभेन ।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानो ऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥ ९ ॥

ऋ० । ४ । ४ । १ ॥

देवा वामदेवश्च ऋषयः । अग्निः प्रतिसरो देवता । रक्षोघ्नी ऋक् । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ।

भा०— हे राजन् ! हे सेनापते ! तू (पाजः कृणुस्व) बल को उत्पन्न कर,

९—१२—कृणुष्व पञ्च प्रतिसरा रात्तोघ्ना, देवानामार्षम् ॥ सर्वा० ॥
सर्वास्त्रिष्टुभः । आग्नेयीं वामदेवश्चापश्यत् । सर्वा० ॥

राष्ट्र के पालन और दुष्ट दमन के सामर्थ्य को उत्पन्न कर । तू (अमवान्) सहायक अमात्य पुरुषों से युक्त होकर (प्र-सितिम्) सुप्रबद्ध, सुव्यवस्थित पृथिवी को (इभेन) हस्तिबल से (राजा इव) राजा के समान (याहि) प्राप्त हो । अथवा—(प्रसितिं न पाजः कृणुष्व) तू अपने बल को विस्तृत जाल के समान बना । जिसमें समस्त प्रजाएं बंधें । (राजा इव अमवान् इभेन पृथिवीं याहि) राजा के समान सहायक पुरुषों से युक्त होकर हस्ति-बल से पृथ्वी को प्राप्त कर । और पृथ्वी, अति वेगवाली, बलवती (प्रसितिम् अनु) उत्कृष्ट बन्धनों से युक्त राजव्यवस्था के अनुसार (रक्षसः) विघ्नकारी दुष्ट पुरुषों को (द्रूणानः) विनाश करता हुआ तू उनपर (अस्ता असि) बाण आदि शस्त्रों के फेंकने वाला ही हो और (रक्षसः) विघ्नकारी पुरुषों को (तपिष्ठैः) अति संतापजनक साधनों या शस्त्रों से (विध्य) ताड़ना कर, दण्डित कर ॥ शत० ७ । ४ । १ । ३४ ॥

तव भ्रमासं ऽआशुया पतन्त्यनुं स्पृश धृषता शोशुचानः ।
तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसंन्दितो विसृज विष्वंगुल्काः ॥ १० ॥
ऋ० ४ । ४ । २ ॥

देवा वामदेवश्च ऋषयः । रक्षोहा अग्निर्देवता । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे राजन् ! जिगीषो ! (तव) तेरे (आशुया) शीघ्र गमन करने वाले (भ्रमासः) भ्रमणशील ीर जन (पतन्ति) वेग से जायं और तू (शोशुचानः) अति तेजस्वी हो (धृषता) शत्रु के मान नष्ट करने में समर्थ बल से युक्त होकर (अनु स्पृश) उनके पीछे लगा रह । हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! सेनानायक ! तू (असंदितः) शत्रु के जाल में न पड़ कर, अखण्डित बल होकर (जुह्वा) शस्त्रों को प्रेरण करनेवाली सेना से (तपूंषि) सन्तापकारी अस्त्रों को (विसृज) नाना प्रकार से छोड़ । (पतङ्गान्) तीव्र घोड़ों या घुड़सवारों या बाणों को (वि सृज) छोड़ और (विश्वग्) सब ओर को (उल्काः) टूटते

तारों के समान वेग और दीप्ति से आकाश मार्ग से जाने वाले अग्निमय अशनि नामक अस्त्रों को (वि सृज) चला ।

प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशोऽअस्याऽअदब्धः ।
यो नो दूरेऽअघशंसो यो अन्त्यग्ने मा किष्टे व्यथिरादधर्षीत् ११

ऋ० ४ । ४ । ३ ॥

देवा वाम देवश्च ऋषयः । अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यः अघशंसः) जो पापाचरण करने को कहता है वह (यः) और जो (नः) हमारे से (दूरे) दूर है और (यः) जो (अभि) हमारे पास है हे (अग्ने) अग्रनायक राजन् ! वह भी (व्यथिः) हमें व्यथादायी होकर (ते) तेरा (मा आदधर्षीत्) आज्ञा भंग कर अपमान न कर सके । इसलिये तू (तूर्णितमः) अति वेगवान् होकर (स्पशः) प्रतिहिंसक योद्धा, प्रतिभटों को और अपने दूतों को (प्रति वि सृज) शत्रु के प्रति भेज । और स्वयं (अदब्धः) शत्रु से मारा न जा कर, सुरक्षित रहकर (अस्याः विशः) इस प्रजा का (पायुः) पालन करने हारा (भव) हो ।

उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ२ऽ ओषतात्तिग्महेते ।
यो नोऽअरातिꣳसमिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम् १२

ऋ० ४ । ४ । ४ ॥

वामदेवो देवाश्च ऋषियः अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः पंचमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! सेनापते ! राजन् ! तू (उत् तिष्ठ) उठ, शत्रु के प्रति आक्रमण करने के लिये तैयार हो । (प्रत्ति आ तनुष्व) शत्रु के विपरीत अपने बल और राज्य को विस्तृत कर । हे तिग्महेते (तीक्ष्ण) शस्त्रों से युक्त राजन् ! तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (निः ओषतात्) सर्वथा जला डाल । हे (सम्-इधान) उत्तम तेजस्विन् ! (यः) जो (नः) हमारे साथ (अरातिम्) शत्रुओं का व्यवहार (चक्रे) करता है । (तम्) उसको (शुष्कम्) सूखे वृक्ष को अग्नि के समान (नीचा धक्षि) नीचे गिराकर जला डाल ।

ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने ।

अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्रमृणीहि शत्रून् ।
अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामि ॥ १३ ॥ ऋ० ४ । ४ । ५ ॥

वामदेवो देवाश्च ऋषयः । अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यतिजगती । निषादः ।

भा०—हे अग्ने ! तेजस्विन् राजन् ! तू (ऊर्ध्वः) सब से ऊंचा हो कर (भव) रह । (दैव्यानि) दिव्य पदार्थों से बने विद्वान् पुरुषों के बनाये अस्त्रों को (आविः कृणुष्व) प्रकट कर । (स्थिरा) स्थिर, दृढ़ धनुषों को (अव तनुहि) नमा । (यातुजूनाम्) वेग से चढ़ाई करने वाले शत्रुओं के (जामिम्) सम्बन्धी और (अजामिम्) असम्बन्धी अथवा (यातुजूनां जामिम् अजामिम्)आक्रमण वेग में आने वाले शत्रुओं के भोजन द्रव्य, तथा उससे अतिरिक्त द्रव्य को अपने वश करके (शत्रून् प्र मृणीहि) शत्रुओं का नाश कर । हे राजन् ! हे वज्र !(त्वा) तुझको (अग्नेः) अग्नि के (तेजसा) तेज से (सादयामि) स्थापित करता हूँ ॥शत० ७ । ४ । १ । ७ ॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम् ।
अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वति । इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि ॥१४॥
ऋ० ८ । ४४ १६ ॥

भुरिगनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—व्याख्या देखो० अ० ३ । १२ ॥ जिस प्रकार (दिवः मूर्धा) द्यौलोक का शिरोभाग (अग्निः) सूर्य है और वह ही (ककुत्पतिः) सबसे बड़ा स्वामी है और (पृथिव्याः) पृथिवी का भी स्वामी है उसी प्रकार (अयम्) यह (अग्निः) तेजस्वी पुरुष, राजा भी (दिवः) प्रकाशमान तेजस्वी पुरुषों या राजसभा का (मूर्धा) शिर, उनमें शिरोमणि, (ककुत्) सर्वश्रेष्ठ, (पृथिव्याः) पृथिवी का (पतिः) पालक, स्वामी है । (अपाम्) सूर्य जिस प्रकार जलों के(रेतांसि) वीर्यों को या सार-भागों को ग्रहण करता है उसी प्रकार यह राजा भी (अपां) आप्त प्रजाओं के सार भाग, वीर्यों और बलों को (जिन्वति) परिपूर्ण करता है, । वश करता है । हे

तेजस्विन् ! (त्वा) तुझको (इन्द्रस्य ओजसा) इन्द्र, वायु और सूर्य के (तेजसा) बल पराक्रम के साथ (सादयामि) स्थापित करता हूँ ॥ शत० ७ । १ ४१ ॥

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्द्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ १५ ॥

ऋ० १० । ८ । ६ ॥

त्रिशिरा ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तेजस्विन् ! सूर्य और अग्नि जिस प्रकार (भुवः यज्ञस्य रजसः च नेता) पृथिवी, वायु और लोकों का नायक है और वह (नियुद्भिः शिवाभिः) मङ्गलकारिणी वायु की शक्तियों से युक्त होता है और (दिवि मूर्धानम् दधिषे) द्यौलोक में शिरो भाग के समान सर्वोच्च स्थिति को धारण करता है और अग्नि जिस प्रकार (हव्य-वाहं जिह्वां चकृषे) हवि को खाने वाली ज्वाला को भी प्रकट करता है उसी प्रकार (यत्र) जिस राष्ट्र में तू (भुवः) समस्त पृथिवी का (नेता) नायक और (यज्ञस्य नेता) समस्त राष्ट्र-व्यवस्था का नायक और (रजसः च नेता) समस्त लोकसमूह, जनसमूह और समस्त ऐश्वर्यों का नेता, प्राप्त करनेवाला होकर (शिवाभिः) मङ्गलकारिणी (नियुद्भिः) वायु के समान तीव्र वेगवाली, शत्रु को छेदन-भेदन करनेवाली सेनाओं से भी (सचसे) युक्त होकर रहता है और (दिवि) न्याय-प्रकाशयुक्त श्रेष्ठ व्यवहार से (मूर्धानं) शिरोभाग, सर्वोच्च पद को (दधिषे) धारण करता है और (हव्य-वाहम्) ग्रहण करने योग्य, ज्ञान से पूर्ण आज्ञावचनों को प्राप्त करानेवाली (स्वः-साम्) सुखदायिनी (जिह्वाम्) वाणी, आज्ञा को भी (चकृषे) प्रकट करता है ॥ शत० ७ । ४ । १ । १५ ॥

ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा ।
मा त्वा समुद्रऽउद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीं दृंह १६

१६—ऊर्ध्वबृहती। सर्वा० ।

अग्निर्देवता । स्वराडार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ।

भा०—हे पृथिवि ! हे राजशक्ते ! हे स्त्रि ! तू (ध्रुवा असि) ध्रुव, सदा निश्चल भाव से रहनेवाली (असि) हो । (धरुणा) तू समस्त लोकों का आश्रय है और तू (विश्व-कर्मणा) समस्त उत्तम कामों को करने में समर्थ शिल्पियों या प्रजापति, राजा द्वारा (आस्तृता) नाना उत्तम उपयोगी पदार्थों से आच्छादित एवं सुरक्षित रह । (समुद्रः) समुद्र या आकाश (त्वा) तुझको (मा उद्वधीत्) विनाश न करे । (सुपर्णः) उत्तम पालन करने वाले राज्यसाधनों से युक्त राजा भी (त्वा मा उद् वधीत्) तुझे न मारे । तू (अव्यथमाना) स्वयं पीड़ित न होकर (पृथिवीं) पृथिवी को या पृथिवी निवासिनी विशाल प्रजा को (दृंह) बढ़ा ।

यज्ञ में इस मन्त्र से 'आतृण्णा' का स्थापन करते हैं । 'आतृण्णा' पद से ब्राह्मणकार ने पृथिवी, अन्न, प्राण, प्रतिष्ठा, स्त्री और पृथ्वीनिवासी लोक प्रजा का ग्रहण किया है । अन्नं वै स्वयम् आतृण्णा । प्राणो वै स्वयमातृण्णा । इयं (पृथिवी) स्वयमातृण्णा । या सा प्रतिष्ठा एषा सा प्रथमा स्वयमातृण्णा । इमे वै लोकाः स्वयमातृण्णा । इमे वै लोकाः प्रतिष्ठा ॥ शत० ७ । ४ । २ । १ । १० ॥

स्त्री पक्ष में—हे स्त्रि ! तू ध्रुव, तू सब गृहस्थ सुखों का (धरुणा) आश्रय है तू (विश्वकर्मणा अस्तृता) समस्त धर्म कार्यों के करने वाले पति द्वारा सुरक्षित हो, (समुद्रः त्वा मा उद्वधीत्) समुद्र के समान उमड़ने वाला कामोन्माद तुझे नाश न करे (सुपर्णः) उत्तम पालक साधनों से सम्पन्न पति भी तुझे न मारे । तू (अव्यथमाना) निर्भय, पीड़ा, कष्ट से रहित रहकर (पृथिवीं) पृथिवी के समान अपने शरीर में विद्यमान पुत्र-प्रजननाङ्ग रूप भूमि को (दृंह) दृढ़ कर, उसको हृष्ट पुष्ट कर ॥ शत० ७ । ४ । २ । ५ ॥

समुद्र इव हि कामः । नहि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य । तै० २।२।५।६॥

पृथिवी पक्ष में—वह ध्रुव, स्थिर, सर्वाश्रय है। बड़े २ शिल्पी उसको बड़े २ महल, सेतु, उद्यान आदि आश्चर्यजनक पदार्थों और रक्षा साधन आदि द्वारा सुरक्षित रखें। समुद्र, अन्तरिक्ष और (सुपर्णः) सूर्य और वायु ये पृथ्वी की शक्तियों का नाश न करें। प्रत्युत वे अपनी निवासिनी प्रजा की ही वृद्धि करें।

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि ॥ १७ ॥

प्रजापतिर्देवता। अनुष्टुप्। गांधारः।

भा०—हे पृथिवी-निवासिनी प्रजे! अथवा राज्यशक्ते! (व्यचस्वतीम्) नाना प्रकार के उत्तम गुणों वाली (प्रथस्वतीम्) उत्तम रूप से विस्तारशील (त्वा) तुझको (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी (अपां पृष्ठे) जलों के पृष्ठ पर नौका के समान और (समुद्रस्य एमन्) समुद्र के यात्रायोग्य स्थान में (सादयतु) स्थापित करे। हे प्रजे! हे राजशक्ते! तू (पृथिवी असि) विस्तृत होने से 'पृथिवी' कहाती है ॥ शत० ७। ४। २। ६ ॥

स्त्री के पक्ष में—(प्रजापतिः) प्रजा का पालक पति (समुद्रस्य एमन्) समुद्र के समान अपार कामोपभोगों में भी (अपां पृष्ठे) आप्त पुरुषों के अथवा समस्त कार्यों के आश्रय में (वि- अचस्वतीं) विविध णों से प्रकाशित और (प्रथस्वतीम्) गुणों से विख्यात, प्रजा का विस्तार करने हारी तुझको (सादयतु) स्थापित करे, उनके बतलाये धर्म-मार्ग पर चलावे। तू पृथिवी के समान प्रजोत्पत्ति करने हारी है।

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः ॥ १८ ॥

अग्निर्देवता। प्रस्तारपंक्तिः। पंचमः ॥

भा०—हे पृथिवि! हे स्त्रि! तू (भूः असि) सब को उत्पन्न करने में समर्थ होने से 'भूः' है। (भूमिः असि) सब का आश्रय होने से

'भूमि' है। (अदितिः असि) अखण्डित, अहिंसनीय, अखण्डित बल और चरित्र वाली होने से 'अदिति' है। (विश्व-धाया) समस्त प्रजाओं को धारण करने वाली होने से 'विश्वधाया' है। (विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री) समस्त 'भुवन', उत्पन्न होने वाले प्राणियों और राज्य-कार्यों को धारण-पोषण करने हारी है। हे राजन् ! तू इस (पृथिवीं यच्छ) पृथिवी को और हे पते ! तू इस प्रजा और भूमि रूप स्त्री को (यच्छ) नियम में सुरक्षित रख या विवाह कर (पृथिवीम् दंह) इस पृथिवी को बढ़ा, दृढ़ कर (पृथिवीं मा हिंसीः) इस पृथिवी को विनाश मत कर, मत मार, पीड़ा मत दे ॥ शत० ७ । ४ । २ । ७ ॥

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय । अग्निष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १६॥

अग्निर्देवता । भुरिगति जगती । निषादः ॥

भा०—(विश्वस्मै = विश्वस्य) समस्त जंगम संसार के (प्राणाय) प्राण रक्षा, जीवन वृद्धि के लिये, (अपनाय) अपान के लिये या दुःख निवारण के लिये, (व्यानाय) व्यान या विविध व्यवहारों के लिये, (उदानाय) उदान के लिये और उत्तम बल-प्राप्ति के लिये (प्रतिष्ठायै) प्रतिष्ठा और (चरित्राय) सच्चरित्रता की रक्षा के लिये (त्वा) तेरी (अग्निः) ज्ञानवान् अग्रणी नायक राजा और पति भी (मह्या) बड़ी (स्वस्त्या) सुख सामग्री से और (शंतमेन) अतिशान्तिदायक कल्याण-कारिणी (छर्दिषा) गृहादि समृद्धि से (अभियातु) सब प्रकार से रक्षा करे, पालन करे। तू भी (तया देवतया) उस देवस्वरूप पति, पालक या राजा के संग (अंगिरस्वत्) अग्नि के समान तेजस्विनी होकर (ध्रुवा)

१६—१९—आसां (ध्रुवासी त्यादि) स्वयमातृण्णा देवता विश्वस्मा एतस्य च यजुषः ॥

स्थिर, दृढ़ होकर (सीद) विराजमान हो, प्रतिष्ठा को प्राप्त हो ॥ शत० ७ । ४ । २ । ८ ।

काण्डा॑त्काण्डात्प्ररोह॑न्ती परु॑षः परुषस्परि॑ ।
एवा नो॑ दूर्वे॒ प्र त॑नु स॒हस्रे॑ण श॒तेन॑ च ॥ २० ॥

अग्निर्ऋषिः पत्नी देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (दूर्वे) दूर्वे ! कभी पराजित न होने वाली, अदम्य राजशक्ते ? दूर्वा या दूब, घास जिस प्रकार (काण्डात् काण्डात्) प्रत्येक काण्ड पर (प्ररोहन्ती) अपने मूल जमाती हुई और (परुषः परुषः परि) प्रत्येक पोरु २ पर से (प्ररोहन्ती) अपनी जड़ पकड़ती हुई फैलती है उसी प्रकार वह राज्यशक्ति भी पृथ्वी पर (काण्डात् काण्डात्) प्रत्येक काण्ड से और (परुषः परुषः) प्रत्येक पोरु से प्रत्येक अंग और विभाग से, स्थान २ पर दृढ़ आसन या मूल जमाती हुई (सहस्रेण) हज़ारों और (शतेन च) सैकड़ों प्रकार के बलों से (प्र तनु) अपने आप को खूब विस्तृत करे ॥ शत० ७ । ४ । २ । १४ ॥

'दूर्वा'—अयं वाव मा धूर्वीत् इति यदब्रवीद् 'धूर्वीन् मा' इति तस्मात् धूर्वा । धूर्वा ह वै तां दूर्वेत्याचक्षते परोक्षम् ॥ शत० ७ । ४ । २ । १२ ॥

स्त्री पक्ष में—वह स्त्री (काण्डात् काण्डात्) ग्रन्थि २ पर और पोरु २ पर बढ़ती हुई दूब के समान बरोबर दृढ़ मूल होकर सहस्रों शाखाओं से हमारे कुल को बढ़ावे ।

या श॒तेन॑ प्रत॒नोषि॑ स॒हस्रे॑ण वि॒रोह॑सि ।
तस्या॑स्ते देवीष्टके वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ २१ ॥

पत्नी देवता । अग्निर्ऋषिः । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे दूर्वा के समान पृथ्वी पर फैलने वाली राज्यशक्ते ! तू (या) जो (शतेन) सैकड़ों बलों से (प्र तनोषि) अपने को विस्तृत

२०—दूर्वेष्टकदेवतम । अनन्त० ।

करती है और (सहस्रेण) अपने हज़ारों वीरों योद्धाओं द्वारा (वि रोहसि) विविध रूपों में अपना जड़ जमाती है। हे (देवि) देवि! विजयशीले! धन-दात्रि! हे (इष्टके) सब को इष्ट या प्रिय लगनेवाली, सबकी व्यवस्था करने वाली! (तस्याः ते) उस तेरा (वयम्) हम (हविषा) अन्न आदि, कर आदि रूप में दातव्य और राजा द्वारा उपादेय पदार्थों से या ज्ञानपूर्वक (विधेम) सेवन या विधान या निर्माण करें ॥ शत० ७ । ४ । २ । १४ ॥

यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः ।
ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥ २२ ॥

इन्द्राग्नी ऋषी । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् राजन्! जिस प्रकार सूर्य में विद्यमान (रुचः) कान्तियां (रश्मिभिः) सूर्य की किरणों से (दिवम्) द्यौलोक को (आ तन्वन्ति) घेर लेती हैं उसी प्रकार (याः) जो (ते) तेरी (सूर्ये) सूर्य के समान उज्ज्वल, मानास्पद स्वरूप में विद्यमान (रुचः) दीप्तियां, उत्तम ख्यातियां, या उत्तम कामनाएं, या अभिलाषाएं (रश्मिभिः) सब को प्रकाश देने वाले साधनों से (दिवम् आ तन्वन्ति) प्रकाश को फैलाती हैं, (ताभिः सर्वाभिः) उन सब अभिलाषाओं से (अद्य) अब, सदा तू (नः) हमारी और (जनाय) प्रजा जन की (रुचे) अभिलाषा पूर्त्ति के लिये (कृधि) प्रयत्न कर। और (नः) हमें भी (जनाय रुचे कृधि) प्रजा की अभिलाषा पूर्त्ति के लिये समर्थ कर॥ शत० ७ । ४ । २ । २१ ॥

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥ २३ ॥

इन्द्राग्नी ऋषी । बृहस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (देवाः) ज्ञानप्रद एवं ऐश्वर्यप्रद विद्वान् पुरुषो! और राजा लोगो! (वः) तुम लोगों की (याः) जो (सूर्ये रुचः) सूर्य में

विद्यमान दीप्तियों के समान फुरने वाली कान्तियां या अभिलाषाएं या रुचिकर प्रवृत्तियें हैं और (याः रुचिः) जो मनोहर लक्ष्मी, सम्पत्ति या रुचि (गोषु अश्वेषु) गौओं और अश्वों में हैं (ताभिः सर्वाभिः) उन सब रुचिकर समृद्धियों वा अभिलाषाओं से हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र ! हे अग्ने ! और हे (बृहस्पते) हे सेनापते ! हे राजन् ! हे विद्वन् ! ब्रह्मन् ! आप सब लोग (नः) हमें (रुचः) समस्त रुचिकर सम्पत्तियां (धत्त) प्रदान करें ॥ शत० ७ । ४ । १ । २१ ॥

विराड्ज्योतिरधारयत्स्वराड्ज्योतिरधारयत् ।
प्रजापतिष्ट्वा सादयतु पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ।
अग्निष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ २४ ॥

प्रजापतिर्देवता । निचृद् ब्राह्मी बृहती । ऋषभः ॥

भा०—(विराट्) विविध प्रकारों से और विविध ऐश्वर्यों से प्रकाशमान विराट्, पृथिवी जिस प्रकार (ज्योतिः) अग्नि को या सूर्य के तेज को अपने भीतर (अधारयत्) धारण करती है उसी प्रकार (विराट्) विविध गुणों से कान्तिमती विराट् पत्नी (ज्योतिः) अपने पति के तेजस्वरूप वीर्य को धारण करती है ।

(स्वराट् ज्योतिः अधारयत्)स्वयं अपने प्रकाश से दीप्त होने वाला सूर्य जिस प्रकार (ज्योतिः अधारयत्) तेज को धारण करता है उसी प्रकार अपने वीर्य या बाहु पराक्रम से प्रकाशमान राजा और अपने गुणों से प्रकाशमान पति, पुरुष भी तेज को धारण करे । हे पत्नि ! (त्वा ज्योतिष्मतीम्) तुझ उत्तम तेज से सम्पन्न महिला को (प्रजापतिः) प्रजा का पालक (पृथिव्याः पृष्ठे सादयतु) पृथिवी के पृष्ठ पर स्थापित करे । अथवा पति तुझ उत्पादक भूमि में वीर्य आधान करे । इसी प्रकार (प्रजापतिः) प्रजा का पालक राजा हे प्रजे ! (त्वा ज्योतिष्मतीम्) तुझ ऐश्वर्य वाली को (पृथिव्याः पृष्ठे)

पृथ्वी-तल पर (सादयतु) बसावे । (विश्वस्मै प्राणाय, अपानाय, व्यानाय) सब प्रजाजनों के प्राण, अपान और व्यान इन शक्तियों की वृद्धि के लिये यत्न करे । हे राजन् ! (तू विश्वं ज्योतिर्यच्छ) सब प्रकार का तेज प्रदान कर । हे पृथिवि ! हे पत्नि ! (ते अधिपतिः) तेरा अधिपति, स्वामी, (अग्निः) अग्नि या सूर्य के समान तेजस्वीहो । (तया देवतया) उस देव-स्वभाव अधिपति के साथ या देव, राजागण के संग तू भी (अंगिरस्वत्) अग्नि के समान देदीप्यमान विद्वान् शिल्पियों से समृद्ध होकर (ध्रुवा) स्थिर होकर (सीद) विराज ॥ शत० ७ । ४ । २ । १३ । १८ ॥

इसी प्रकार स्त्री (अस्मै विश्वं ज्योतिः) अपने पति के समस्त सर्वाङ्ग तेजोरूप वीर्य को प्रजा के प्राण, अपान, व्यान के लिये नियम में रक्खे ।

[1]मधु॑श्च॒ माध॑वश्च॒ वास॑न्तिकावृ॒तू ऽअ॒ग्नेर॑न्तः श्ले॒षो॒ऽसि॒ कल्पे॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्ता॒माप॒ ऽओष॑धयः॒ कल्प॑न्ताम॒ग्नयः॒ पृथ॒ङ् मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ताः । [2]ये ऽअ॒ग्नयः॒ सम॑नसोऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी ऽइ॒मे वास॑न्तिकावृ॒तू ऽअ॑भि॒कल्प॑माना॒ ऽइन्द्र॑मिव दे॒वा ऽअ॑भि॒संवि॑शन्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् ॥२५॥

ऋतवो देवताः । (१) भुरिगतिजगती । निषादः । (२) भुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(मधुः च) मधु और (माधवः च) माधव अर्थात् चैत्र और वैशाख के दोनों (वासन्तिकौ ऋतू) वसन्त के दो ऋतु अर्थात् मास रूप से दो स्वरूप हैं । ये दोनों जिस प्रकार संवत्सर स्वरूप अग्नि के बीच में(श्लेष) जोड़ने वाले हैं, उसी प्रकार मधु के समान मधुर गन्ध और पुष्पयुक्त और माधव या वैशाख के समान फलोत्पादक दोनों प्रकार के पुरुष मानों (अग्नेः) राजा रूप प्रजापति के दोनों वसन्त ऋतु के दो मासों के समान उसके (अन्तः) भीतर (श्लेषः असि) स्नेहशील होते हैं और दो राजाओं के बीच सन्धि कराने में कुशल होते हैं । इनके द्वारा ही (द्यावापृथिवी)

२५—'वासन्तिका ऋतू०' इति काण्व० ।

सूर्य और भूमि के समान नर और नारी, राजा और प्रजा (कल्पेताम्)कार्य करने में समर्थ होते हैं। (आपः ओषधयः कल्पन्ताम्) और जिस प्रकार वसन्त के दोनों मासों के द्वारा सम्पूर्ण ओषधियां वीर्यवान् होती हैं उसी प्रकार वीर्यवती बलवती वीर प्रजायें भी मधु और माधव के समान पुष्प-फलजनक हों और प्रजाएं भी कार्य-कारण को देख परस्पर सन्धि के कराने वाले सदस्य जनों के द्वारा समर्थ होती हैं। और जैसे वसन्त के दोनों मास ज्येष्ठ मास में होने वाले ओषधि आदि के कारण होते हैं उसी प्रकार सभी (अग्नयः) अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् लोग (मम) मुझ राजा के सर्वश्रेष्ठ पदाधिकार की प्राप्ति और रक्षा के लिये (स-व्रताः) समान कार्य में दीक्षित होकर (पृथक्) अलग २ भी (कल्पन्ताम्) अपना २ कार्य करने में समर्थ हों। और (ये)जो (द्यावापृथिवी) द्यौ और भूमि दोनों के बीच या राजा और प्रजा के बीच में (स-मनसः) एक समान चित्त वाले, प्रेमी (अग्नयः) विद्वान् पुरुष हैं वे सब भी (वासन्तिकौ ऋतू) वसन्त काल के दो मास चैत्र और वैशाख के समान मधुर गुणों से युक्त होकर राजा के लिये सुखकारी और (अभि-कल्पमानाः) सामर्थ्यवान् होकर, (देवाः इन्द्रम् इव) प्राणगण जिस प्रकार आत्मा के आश्रय पर रहते हैं उसी प्रकार वे सब अग्नि-स्वभाव तेजस्वी विद्वान् सदस्य और माण्डलिक राजगण भी (इन्द्रम् अग्निम् संविशन्तु) बड़े सम्राट् के चारों ओर विराजें। हे (ध्रुवे) द्यौ और पृथिवी! हे राजा प्रजागण! (तया देवतया) उस महान् देव, राजा से और उस राजगण से (अङ्गिरस्वत्) तेजस्वी और पूर्णाङ्ग होकर तुम दोनों (सीदतम्) स्थिर होकर विराजो॥ शत० ७।४।२।२९॥

अषा॑ढासि॒ सह॑माना॒ सह॒स्वारा॑ती॒: सह॑स्व पृतनाय॒तः।
स॒हस्र॑वीर्य्यासि॒ सा मा॑ जिन्व॥ २६॥

सविता देवाः वा ऋषयः। क्षत्रपतिरषाढा देवता। निचृदनुष्टुप्। गांधारः॥

२६—अतःपर। १२। १९। मन्त्रः पठ्यते, काण्व ०।

भा०—हे सेने ! तू (अषाढ़ा असि) शत्रु से कभी पराजित न होने वाली होने से 'अषाढ़ा', असह्य पराक्रम वाली है। तू (सहमाना) विजय करती हुई (अरातीः) कर न देने वाली शत्रुओं को (सहस्व) विजय कर। और (पृतनायतः) सेना बनाकर हम से युद्ध करना चाहने वालों को भी (सहस्व) पराजित कर। तू (सहस्रवीर्यासि) सहस्रों वीर पुरुषों के बलों से युक्त है। (सा) वह तू (मा) मुझ राष्ट्रपति और क्षत्र-पति को (जिन्व) हृष्ट-पुष्ट कर वा पाल॥ शत० ७। २ ३३। ७०॥

गृहस्थ में— स्त्री भी शत्रु द्वारा असह्य हो, वह सब विरोधियों को दबा कर पति को प्रसन्न करे। अध्यात्म में--अषाढा = वाक्।

मधु वाताऽऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥ २७॥ ऋ० १। ९०। ६॥

२७—२९ गोतम ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। निचृद्गायत्री। षड्जः॥

भा०—(मधु) मधुर (वाताः) वायुएं (ऋतायते) जल के समान शीतल लगें। अथवा (ऋतायते) सत्य, ज्ञान, यज्ञ और, ब्रह्मचर्य की साधना या कामना करने वाले के लिये (वाताः) वायुएं और (सिन्धवः) समुद्र भी (मधु क्षरन्ति) मधुर रस ही बहाते हैं। (नः) हमारी (ओषधीः) ओषधियें भी (माध्वीः) मधुर रस से पूर्ण (सन्तु) हों॥ शत० ७। ५। १। ३। ४॥

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता॥ २८॥ ऋ० १। ९०। ७॥

ऋष्यादि पूर्ववत्। गायत्री। षड्जः॥

भा०—(नक्तम्) रात्रि (नः) हमारे लिये (मधु) मधुर (उत) और (उषसः) प्रभात समय भी हमें मधुर हों। (पार्थिवं रजः) पृथिवी लोक अथवा पृथिवी की धूलि भी (मधुमत्) हमें मधुर, मधु के समान सुखप्रद हो। (नः) हमारे पिता के समान पालक (द्यौः) प्रकाश-

मान सूर्य या आकाश, अन्तरिक्ष भी (नः मधु अस्तु) हमें मधुर लगे ॥ शत० ७ । ५ । १ । ३ । ४ ॥

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ऽ अस्तु सूर्य्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ २९ ॥ ऋ० १ । १० । ८ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । निचृद्गायत्री । षड्जः ।

भा०—(वनस्पतिः) पीपल, वट, आम्र आदि वृक्ष (नः) हमारे लिये (मधुमान्) मधु के समान मधुर गुण वाले आनन्दप्रद, रोग-नाशक हों । (सूर्यः मधुमान् अस्तु) सूर्य हमें मधु के समान मधुर गुण वाला, पुष्टिकर, अन्नप्रद हो । (नः गावः) किरणें, गौवें और पृथिवियें (माध्वीः भवन्तु) मधुर सुख, अन्न रस बहाने वाली हों ॥ शत० ७ । ५ । १ । ३ । ४ ॥

अपां गर्म्भन्त्सीद मा त्वा सूर्य्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः ।
अच्छिन्नपत्राः प्रजाऽअनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥ ३० ॥

प्रजापतिर्देवता । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे पुरुष ! प्रजापते ! राजन् ! तू (अपां गर्म्भन्) जलों को धारण करने वाले मेघ या सूर्य के समान प्रजाओं और आप्त पुरुषों को वश करने वाले राजपद पर (सीद) विराजमान हो । (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी, तुझ से अधिक बलवान् पुरुष भी (त्वा मा अभि-ताप्सीत्) तुझे संतापित या पीड़ित न करे । (वैश्वानरः) समस्त विश्व का हितकारी नायक, (अग्निः) प्रजा का अग्रणी भी (मा) तुझे मत सतावे । तू केवल (प्रजाः) प्रजाओं को (अच्छिन्न-पत्राः) विना किसी प्रकार के आघात पाये, सर्वाङ्ग, हृष्ट पुष्ट (अनुवीक्षस्व) सुःखी देख, उनको कटे-मुंडे वृक्ष लतादि के समान हीन, क्षीण, दुःखी, पीड़ित मत होने दे । (त्वा अनु) तेरे अनुकूल ही (दिव्या वृष्टिः) आकाश से होने वाली वृष्टि और सुखदायी पदार्थों की वृष्टि भी (सचताम्) प्राप्त हो ॥ शत० ७ । ५ । १ । ८ ॥

त्रीन्त्स॑मु॒द्रान्त्सम॑सृपत् स्व॒र्गान॒पां पति॑र्वृष॒भ ऽइष्ट॑कानाम् ।
पुरी॑षं॒ वसा॑नः सुकृ॒तस्य॑ लो॒के तत्र॑ गच्छ॒ यत्र॒ पूर्वे॒ परे॑ताः ॥३१॥

वरुणो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे सूर्य ! प्रजापते ! तू (त्रीन्) तीन (स्वर्गान्) सुखदायी (समुद्रान्) समस्त पदार्थों के उत्पादक, तीनों लोकों और तीनों कालों को सम् असृपत्) व्याप्त होता है । तू ही (इष्टकानाम्) समस्त अभीष्ट सुख साधनों का या अभीष्ट (अपाम्) जलों के वर्षक मेघ के समान प्रजाओं का (पतिः) पालक (वृषभः) सब सुखों का वर्षक है । तू (पुरीषं वसानः) मेघ जिस प्रकार जल को धारण करता हुआ (सुकृतस्य पुण्य के (तत्र) उस (लोके) लोक या पद या उत्तम प्रतिष्ठा को (गच्छ) प्राप्त हो (यत्र) जहां (पूर्वे) पूर्व के (परेताः) परम पद को प्राप्त उत्तम पुरुष जाते हैं ॥ शत० ७ । ५ । १ । ९ ॥

म॒ही द्यौः पृ॑थि॒वी च॑ न॒ऽइ॒मं य॒ज्ञं मि॑मिक्षताम् ।
पि॒पृ॒तां नो॒ भरी॑मभिः ॥ ३२ ॥ ऋ० १ । २२ । १३ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ८ । ३२ ॥ शत० ७ । ५ । १ । १० ॥

विष्णोः॑ कर्मा॑णि पश्यत॒ यतो॑ व्र॒तानि॑ पस्प॒शे ।
इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥ ३३ ॥ ऋ० १ । २२ । १९ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ६ । ४ ॥ शत० ७ । ५ । १ । १० ॥

ध्रु॒वासि॑ ध॒रुणे॒तो ज॑ज्ञे प्रथ॒मम॒भ्यो योनि॑भ्यो॒ ऽअधि॑ जा॒तवे॑दाः ।
स गा॑य॒त्र्या त्रि॒ष्टुभा॑नु॒ष्टुभा॑ च दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यं व॑हतु प्रजा॒नन् ॥३४॥

जातवेदा देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे पृथिवी ! एवं हे स्त्रि ! (त्वं ध्रुवा असि) तू ध्रुवा, स्थिर रहने वाली है । तू (धरुणा) जगत् के समस्त प्राणियों का आश्रय है ।

३०—३१—कौर्म्यद्व्यृचम् । सर्वा० । प्रजापतिरादित्यो वेति संहिता भाष्ये । अनन्तः)

(जातवेदाः) धनसम्पन्न और विद्वान् ज्ञानसम्पन्न पुरुष (प्रथमम्) पहले (इतः) इससे ही हुआ है वह (प्रजानन्) उत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर ही (अधि) बाद में (एभ्यः योनिभ्यः) इन उत्पत्ति स्थानों से (जज्ञे) उत्पन्न होता है । (गायत्र्या) गायत्री, (त्रिष्टुभा) त्रिष्टुप् और (अनुष्टुभा च) अनुष्टुप् इन छन्दों, वेद मन्त्रों से ही (देवेभ्यः) देव, विद्वान् पुरुषों के लिये (हव्यम्) अन्नादि उपादेय पदार्थ को (वहतु) प्राप्त करे,करावे ।

अथवा गायत्री ब्राह्म बल । त्रिष्टुप-क्षात्र बल और अनुष्टुप् सर्वसाधारण प्रजा का बल । इन तीनों से समस्त (हव्यानि) उपादेय भोग्य ऐश्वर्यों को प्राप्त करे और विद्वान् देवों, राजाओं को प्राप्त करावे ॥ शत० ७ । ५ । १ । ३८ ॥

स्त्री के पक्ष में—स्त्री ध्रुव और गृहस्थ का आश्रय है । यह पुरुष (प्रथमम् इतः जज्ञे) प्रथम इस माता से उत्पन्न होता है और फिर (एभ्यः योनिभ्यः) इन गुरु आदि अनेक आश्रय स्थानों से उत्पन्न होता है ।

इषे राये रमस्व सहसे द्युम्न ऽऊर्जे अपत्याय ।
सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम् ॥ ३५ ॥

जातवेदा देवता । निचृद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे प्रजापते ! पुरुष ! हे राजन् ! तू (इषे) अन्न, (राये) ऐश्वर्य, (सहसे) बल, (द्युम्ने) तेज वा यश और (ऊर्जे) पराक्रम और (अपत्याय) सन्तानों के लाभ के लिये (रमस्व) यत्न कर, इसी प्रकार हे स्त्री ! एवं पृथिवीनिवासिनी प्रजे ! तु भी इस अपने प्रजापति राजा और पति के साथ अन्न, धन, बल, यश,पराक्रम और सन्तान के लाभ के लिये (रमस्व) क्रीड़ा कर,उसके साथ प्रसन्नता पूर्वक रह । हे राजन् ! तू स्वराट् स्वयं प्रकाशमान है । (सारस्वतौ उत्सौ) सरस्वती, वेद-ज्ञान के दोनों निकास, मन और वाणी राष्ट्र के नर और नारी, पृथिवी के जड़ और

३४—३५—श्रीखंद्वचृचम् । सर्वा० । सम्राळसि' 'स्वराळसि' इति काण्व० ।

चेतन, अध्यापक और उपदेशक दोनों प्रकार के पदार्थ, (त्वा) तेरी (प्र अवताम्) उत्तम रीति से रक्षा करें ॥ शत ७ । ५ । १ ॥ ३१ ॥

मनो वा सरस्वान् वाक् सरस्वती । एतौ सारस्वतावुत्सौ ॥ द्वयं हवैतद्रूपं मृच्चापश्च ॥ शत० ७ । ५ । १ । १ । २१ ॥

अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
अरं वहन्ति मन्यवे ॥ ३६ ॥ ऋ० ६ । १६ । ४३ ॥

भारद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) शत्रु संतापक राजन् ! हे (देव) विद्वन्, विजिगीषो ! (ये) जो (तव) तेरे (साधवः) कार्यसाधक (अश्वासः) अश्व (मन्यवे) शत्रु के स्तम्भन करने के लिये, उस पर आये क्रोधशमन करने के लिये रथादि को (अरं वहन्ति) खूब अच्छी प्रकार वहन करते हैं उनको (युक्ष्व) रथ में नियुक्त कर । और हे देव ! राजन् ! हे पुरुष ! जो तेरे कार्यसाधक अश्वों के समान व्यापक, गतिशील प्राण हैं या (साधवः) उत्तम पुरुष हैं जो (मन्यवे अरं वहन्ति) मन्यु अर्थात् मनन करने योग्य ज्ञान तक पर्याप्त रूप से पहुंचाते हैं उनको (युंक्ष्व) राज्य कार्य में नियुक्त कर और प्राणों को योग्याभ्यास में नियुक्त कर ॥ शत० ७ । ५ । १ । २ । ३ ॥

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२ऽ अश्वाँ२ऽ अग्ने रथीरिव ।
नि होता पूर्व्यः सदः ॥ ३७ ॥ ऋ० ८ । ७५ । १ ॥

विरूप आंगिरस ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी ! नायक ! राजन् ! (रथीः) रथ का स्वामी जिस प्रकार (अश्वान्) घोड़ों को रथ में जोड़ता है उसी प्रकार (देव-हूतमान्) विद्वानों द्वारा शिक्षाप्राप्त पुरुषों और उत्तम गुण, विद्या-प्रकाशादि को ग्रहण करने वाले योग्य, शिक्षित पुरुषों को (युक्ष्व हि) निश्चय से अपने राज्य-कार्य में नियुक्त कर । तू ही (पूर्व्यः) सब पूर्व के

विद्वानों द्वारा शिक्षित अथवा सब से पूर्व, अग्रासन पर विद्यमान (होता) सर्व ऐश्वर्यों का दाता या ग्रहीता होकर (नि सदः) नियत, उच्च आसन पर विराजमान हो ॥ शत० ७ । ५ । १ । ३३ ॥

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना॑ऽअन्तर्हृदा मन॑सा पूयमा॑नाः ।
घृतस्य धारा॑ऽअभिचा॑कशीमि हिरण्यय॑यो वेतसो मध्ये॑ऽअग्नेः॥३८॥

ऋ० ४ । ५८ । ६ ॥

वामदेवो गौतम ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् धैवतः ॥

भा०—(सरितः न) जिस प्रकार नदियें या जल-धाराएं बहती हैं उसी प्रकार (अन्तः) भीतर (हृदा) धारणशील हृदय और (मनसा) मननशील चित्त से (पूयमानाः) पवित्र की हुई (धेनः) वाणियें भी (सम्यक्) भली प्रकार से विद्वान् पुरुष के मुख से (सरितः न) जल-धाराओं के समान ही (स्रवन्ति) प्रवाहित होती हैं । यह आत्मा (हिरण्ययः) सुवर्ण के समान देदीप्यमान, तेजोमय, अति रमणीय (वेतसः) दण्ड के समान है । अथवा वह भोक्ता स्वरूप है । उससे निकलती या उठती ज्ञान-धाराओं को भी (अग्नेः मध्ये) आग के बीच में (घृतस्य धाराः) घृत की धाराओं के समान अति उज्वल ज्वाला रूप में परिणत होती हुई (अभिचाकशीमि) देखता हूं । अथवा—मैं (हिरण्ययः) अति रमणीय तेजस्वी पुरुष उन वाणियों को अग्नि के बीच में (वेतसः) वेग से पड़ती (घृतस्य धाराः) घृत की धाराओं के समान, अथवा—(अग्नेः) विद्युत् के बीच में से निकलती (घृतस्य धारा इव) जल वा तेज की धाराओं के समान ही देखता हूं ॥ शत० ७ । ५ । २ । १ ॥

ऋचे त्वा॑ रुचे त्वा॑ भासे त्वा ज्योति॑षे त्वा ।
अभूदिदं विश्वस्य भुव॑नस्य वाजि॑नमग्नेर्वैश्वानरस्य॑ च॥३९॥

अग्निर्देवता । निचृद् बृहती । मध्यमः ॥

३८—अग्निः सूर्यो वापो वा गावो वा घृतस्तुतिर्वा देवता ऋग्वेदे ॥

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझ को (ऋचे) यथार्थ ज्ञान के लिये, (त्वा रुचे) तुझ को कान्ति, यथोचित प्रीति और अभिलाषा पूर्त्ति के लिये, (भासे त्वा) तुझे दीप्ति के लिये, (ज्योतिषे त्वा) तुझे तेज को प्राप्त करने के लिये प्राप्त करता हूं । (इदं) यह (विश्वस्य भुवनस्य) समस्त विश्व का (वाजिनम्) प्रेरक बल है और यही (अग्नेः) ज्ञानवान् और (वैश्वानरस्य) समस्त नरों या नेताओं में व्यापक रूप से विद्यमान प्रजापति के भी (वाजिनम्) वीर्य या उनको समस्त वाणी का ज्ञान करने वाला है ॥ शत० ७ । ५ । २ । १२ ॥

अ॒ग्निर्ज्योति॑षा॒ ज्योति॑ष्मान् रु॒क्मो वर्च॑सा॒ वर्च॑स्वान् ।
स॒ह॒स्र॒दा ऽअ॑सि स॒हस्रा॑य त्वा ॥ ४० ॥

अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! राजन् ! अग्ने ! तू (ज्योतिषा) तेज से (ज्योतिष्मान्) तेजस्वी होने से (अग्निः) 'अग्नि' है । (वर्चसा) कान्ति से (वर्चस्वान्) कान्तिमान् होने के कारण (रुक्मः) 'रुक्म' अर्थात् सुवर्ण के समान कान्तिमान् है । तू (सहस्रदाः असि) सहस्रों ऐश्वर्यों और ज्ञानों का देने वाला है । (त्वा) तुझे (सहस्राय) अनन्त ऐश्वर्यों और ज्ञानों की रक्षा और प्राप्ति के लिये नियुक्त करता हूं ॥ शत०७।५।२ १२।१३॥

आ॒दि॒त्यं गर्भं॒ पय॑सा॒ सम॑ङ्ग्धि स॒हस्र॑स्य प्र॒ति॒मां वि॒श्वरू॑पम् ।
परि॑वृङ्ग्धि॒ हर॑सा॒ माभि मं॑स्थाः श॒तायु॑षं कृणुहि ची॒यमा॑नः ॥४१॥

अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—व्याख्या देखो० १२ । ३१ ॥ शत० ७ । ५ । २ । १७ ॥

वात॑स्य जू॒तिं वरु॑णस्य॒ नाभि॒मश्वं॑ जज्ञा॒नꣳ स॑रि॒रस्य॒ मध्ये॑ ।
शिशुं॑ न॒दीनां॒ हरि॒मद्रि॑बुध्न॒मग्ने॒ मा हि॑ꣳसीः पर॒मे व्यो॑मन् ॥४२॥

अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! विद्वन् !

(वातस्य जूतिम्) वायु के वेग को जिस प्रकार कोई विनाश नहीं करता, इसी प्रकार वायु के वेग के समान इसे भी (परमे व्योमन्) परम आकाश या परम रक्षाकार्याधिकार, राजत्व पद में स्थित (वरुणस्य नाभिम्) जलमय समुद्र के बांधने वाले (हरिम्) आकर्षण वेग के समान ज्ञानमय, दूसरों को पापों से वारण करने वाले आचार्य, (नाभिम्) बांधने वाले, उसके आश्रय और (सरिरस्य) महान् आकाशके (मध्ये) बीच में उत्पन्न सूर्य के समान प्रजा जनों के बीच या सेना-सागर के बीच में (जज्ञानं) पैदा होने वाले, (नदीनां) नदियों के समान अति समृद्ध, नित्य दुग्ध पिलानेवाली माताओं के बीच (शिशुम्) बालक के समान अति गुप्तरूप से व्यापक, (अद्रि-बुध्नम्) मेघ के आश्रयभूत वायु, या आकाश के समान अति व्यापक, (हरिम्) हरणशील यन्त्रों, रथों और राष्ट्रों के सञ्चालन में समर्थ अश्व और विद्वान् को तू (मा हिंसीः) मत विनाश कर ॥ शत० ७ । ५ । २ ॥ १८ ॥

अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः ।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ॥४३॥

अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अजस्रम्) अहिंसक और अविनाशी (इन्दुम्) ऐश्वर्यवान्, जल के समान शीतल और स्वच्छ (अरुषम्) रोषरहित, तेजस्वी, (भुरण्युम्) सब के पोषक, (पूर्वचित्तिम्) पूर्ण ज्ञानवान् (अग्निम्) ज्ञानवान् परमेश्वर या राजा को (नमोभिः) नमस्कारों द्वारा (ईडे) मैं स्तुति करता हूं। अथवा (नमोभिः पूर्व-चित्तिम्) अन्नों द्वारा पूर्व ही संग्रह करने वाले धनाढ्य पुरुष को मैं (ईडे) प्राप्त करूं। (सः) वह तू (पर्वभिः) पालनकारी सामर्थ्यों से (ऋतुशः) सूर्य जिस प्रकार अपने ऋतु से सबको चलाता है उसी प्रकार राजा (ऋतुभिः) अपने राजसभा के सदस्यों से (कल्पमानः) सामर्थ्यवान् होता है । वह तू (विराजम्) विविध पदार्थों, गुणों से

प्रकाशित (गाम्) गौ और पृथिवी को (मा हिंसीः) मत विनष्ट कर ॥ शत० ७ । ५ । २ । १९ ॥

'पूर्वचितिम्' इति दयानन्दसम्मतः पाठः, 'पूर्वचित्तिम्, इति सर्वत्र ।

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाᳬं रजसः परस्मात् ।
महीᳬं साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिᳬंसीः परमे व्योमन् ॥४४॥

अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा० – (त्वष्टुः) समस्त संसार को गढ़ने वाले परमेश्वर की (वरूत्रीम्) वरण करने वाली, उसी को एक मात्र अपना आश्रय स्वीकार करने वाली, (वरुणस्य नाभिम्) जगत् के मूलकारण रूप जल के (नाभिम्) बन्धनकारिणी, उसको स्तम्भन करने में समर्थ, (परस्मात्) सबसे उत्कृष्ट (रजसः) लोक, परमपद परमेश्वर से ही (जज्ञानाम्) प्रादुर्भूत होने वाली (असुरस्य) मेघ के समान सबको प्राण देने में समर्थ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की (महीम्) बड़ी भारी, (साहस्रीम्) असंख्य शक्तियों से युक्त, समस्त जगत् की उत्पादक, (अविम्) वस्त्रादि से भेड़ के समान, सबकी पालक, सब की आच्छादक (मायाम्) निर्माण करनेवाली शक्ति या सब ज्ञानों को ज्ञापन कराने वाली परमेश्वरी शक्ति को (अग्ने) हे ज्ञानवन् विद्वन् ! तू (परमे व्योमन्) परम्, सब से ऊंचे पद पर विराज कर (मा हिंसीः) विनाश मत कर ॥ इसी प्रकार भेड़ पशु कभी नाश न कर । शत० ७ । ५ । २ । २० ॥

यो ऽअग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या ऽउत वा दिवस्परि ।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु ॥४५॥

अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यः) जो (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुष (अग्नेः अधि) एक दूसरे उत्कृष्ट, परम ज्ञानी पुरुष के संग से, अग्नि से दीप्त अग्नि और दीपक से जलाये गये दीपक के समान ज्ञानवान् (अधि अजायत) होता है। और जो (पृथिव्याः शोकात्) पृथिवी और माता के तेज से (उत) और जो

(दिवः शोकात्) तेजस्वी सूर्य या पिता के तेज से (परि अजायत) सर्वत्र प्रकाशमान है, (येन) जिसके द्वारा (विश्व-कर्मा) समस्त कार्यों का कर्त्ता, धर्त्ता प्रजापति, राजा (प्रजाः) समस्त प्रजाओं को (जजान) उत्तम बनाता है (तम्) उस विद्वान् पुरुष को हे (अग्ने) राजन् ! पर-संताप द ! (ते हेडः) तेरा क्रोध और अनादर (परि वृणक्तु) छोड़ दे अर्थात् उसके प्रति तू न क्रोध कर, न उसका अनादर कर। अर्थात् विद्वान् शिष्य स्नातक और योग्य माता और तेजस्वी पिता के विद्वान् पुत्र के प्रति राजा कभी अनादर न करे ॥ शत० ७ । ५ । १ । २ २१ ॥

ईश्वर-पक्ष में—(यः अग्नेः अधि अग्निः अजायत) जो ज्ञानवान योगी से भी अधिक ज्ञानवान् है । (यः शोकात् पृथिव्याः उत दिवः परि अजायत) और जो अपने तेज से पृथिवी और सूर्य के भी ऊपर अधिष्ठाता रूप से है, और (येन) जिस तेज से (विश्व-कर्मा) विश्व का स्रष्टा प्रजापति (प्रजाः जजान) प्रजाओं को उत्पन्न करता है (तम्) उस परमेश्वर के प्रति हे विद्वान् पुरुष ! (ते हेडः परिवृणक्तु) तेरा अनादर भाव न हो ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳसूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥४६॥

ऋ० १ । १ । ५ । १ ॥

सूर्यो देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो (देवानाम्) पृथिवी आदि का एक मात्र (चित्रं) संचित, (अनीकम्) बलस्वरूप होकर (उत् अगात्) उदय को प्राप्त होता है। और जो (मित्रस्य) मित्र, सूर्य, प्राण (वरुणस्य) जल, उदान और मृत्यु का भी (चक्षुः) ज्ञापक है और जो (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी, प्रकाश और अन्धकार से युक्त दोनों प्रकार के लोकों को और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी (आ अप्राः) सब प्रकार से व्याप्त और पूर्ण कर रहा है। वह (सूर्यः) सूर्य के समान (जगतः) जंगम और (तस्थुषः च) स्थावर

सबका (आत्मा) आत्मा सर्वान्तर्यामी, सबका प्रेरक, और धारक है ॥ शत० ७ । ५ । २ । १७ ॥

इमं मा हिᳬंसीर्द्विपादं पशुᳬं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः ।
मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४७ ॥

अग्निर्देवता । विराड् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे राजन् ! हे पुरुष ! तू (मेधाय) सुख प्राप्त करने और अन्न के लिये (चीयमानः) निरन्तर बढ़ता हुआ, (इमं) इस (द्विपादं) दोपाये पुरुष को और (पशुं) उसके उपयोगी चौपाये पशु को भी (मा हिंसीः) मत नाश कर, मत मार । हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! नेतः ! तू (मेधम्) पवित्र अन्न उत्पन्न करनेवाले (मयुम् पशुम्) जंगली पशु को भी (जुषस्व) प्रेम कर, उसकी वृद्धि चाह । और (तेन) उससे भी (चिन्वानः) अपनी सम्पत्ति को बढ़ाता हुआ (तन्वः) अपने शरीर के बीच में हृष्ट-पुष्ट होकर (निषीद) रह । (ते शुग्) तेरा संतापकारी क्रोध या तेरी पीड़ा भी (मयुम्) हिंसक जंगली पशु को (ऋच्छतु) प्राप्त हो । और (यं द्विष्मः) जिससे हम प्रेम नहीं करते (तं) उसको (ते) तेरा (शुक्) संतापकारी क्रोध या तेरी पीड़ा (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ शत० ७।५।२।३।८॥

इमं मा हिᳬंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु ।
गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४८ ॥

अग्निर्देवता । विचृद् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे पुरुष ! (इम) इस (कनिक्रदम्) हर्ष से ध्वनि करने या हिनहिनाने वाले या सब प्रकार के कष्ट सहने में समर्थ (एक-शफं) एक खुर के (वाजिनेषु) वेगवान्, अश्व, गधे, खच्चर आदि (पशुं) पशु को (मा

४७—'सहस्राक्ष मेधा या' इति काण्वः ।

हिंसीः) मत मार । (आरण्यम् गौरम्) जंगल के गौर नामक बारहसींगे को लक्ष्य करके भी (ते अनु दिशामि) तुझे मैं यही उपदेश करता हूँ कि (तेन चिन्वानः) उसकी वृद्धि से भी तू अपनी वृद्धि करता हुआ (तन्वः निषीद) अपने शरीर की रक्षा किया कर । (ते शुक्) तेरा शोक, संताप या क्रोध, पीड़ा, श्रम भी (गौरम् ऋच्छतु) उस गौर नामक, खेती को हानि पहुंचाने वाले मृग को प्राप्त हो । (यं द्विष्मः) जिसके प्रति हमारे प्रीति नहीं है (ते शुक्) तेरा शोक, संताप या क्रोध (तम् ऋच्छतु) उसको ही प्राप्त हो ॥ शत० ७।५।२।३३॥

इमꣳ साहस्रꣳ शतधारमुत्सं व्यच्यमानꣳ सरिरस्य मध्ये ।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन् ।
गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४६ ॥

अग्निर्देवता । कृतिः । निषादः ॥

भा० – (सरिरस्य मध्ये) आकाश, अन्तरिक्ष के बीच में (व्यच्यमानं) विविध प्रकार से फैलने वाले (शत-धारम्) सैकड़ों धार बरसाने वाले (उत्सं) जल देनेवाले मेघ के समान (सरिरस्य मध्ये व्यच्यमानम्) लोक में विद्यमान सैकड़ों के धारक पोषक और (साहस्रम्) हज़ारों सुखप्रद पदार्थों के उत्पादक (इमम्) इस बैल को और (जनाय) मनुष्यों के हित के लिये (घृतम्) घी, दूध, अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थ (दुहानाम्) प्रदान करनेवाली (अदितिम्) अहिंसनीय, पृथिवी के समान गौ को भी हे (अग्ने) राजन् ! (परमे व्योमन्) अपने सर्वोत्कृष्ट रक्षास्थान में या अपने रक्षण-कार्य में तत्पर होकर (मा हिंसीः) मत मार । (ते) तुझे मैं (गवयम् आरण्यम्) जगली पशु गवय का भी (अनुदिशामि) उपदेश करता हूँ । (तेन) उससे भी (चिन्वानः) अपने ऐश्वर्य की वृद्धि करता हुआ (तन्वः निषीद) अपने शरीर को स्थिर कर, । (ते शुक् गवयम् ऋच्छतु) तेरा शोक, संताप श्रम या क्रोध 'गवय' नाम के पशु को प्राप्त हो । और

(यं द्विष्मः तं ते शुक् ऋच्छतु) जिस शत्रु से हम द्वेष करते हैं तेरा संताप और पीड़ाजनक क्रोध उसको प्राप्त हो ॥ शत० ७ । ५ । २ । ३४ ॥

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम् ।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ।
उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ५० ॥

अग्निर्देवता । भुरिक् कृतिः । निषादः ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू (परमे व्योमन्) परम, सर्वोच्च 'व्योम' अर्थात् विविध प्राणियों के रक्षाधिकार में नियुक्त होकर (त्वष्टुः) सर्व-जगत् के रचयिता परमेश्वर की (प्रजानाम्) प्रजाओं के (प्रथमं) सब से उत्तम या सब से प्रथम (जनित्रम्) उत्पादक कारण, मेघ के समान सुखों के उत्पादक, (वरुणस्य) वरुण अर्थात् वरण करने योग्य सुख के (नाभिम्) मूलकारण, (द्विपदां चतुष्पदां) दो पाये और चौपाये (पशूनां) पशुओं में ही (त्वचं) शरीरों को कम्बलादि से ढंकने वाले (इमम्) इस (ऊर्णायुं) ऊन को देने वाले भेड़ जन्तु को (मा हिंसीः) मत मार । (ते) तुझे (आरण्यम् उष्ट्रम् अनुदिशामि) मैं जंगली ऊंठ का उपदेश करता हूँ । (तेन चिन्वानः) उससे समृद्ध होकर (तन्वः निषीद) शरीर के सुखों को प्राप्त कर । (ते शुक्) तेरी पीड़ाजनक प्रवृत्ति (उष्ट्रम् ऋच्छतु) दाहकारी पीड़ाजनक जीव को प्राप्त हो । और (ते शुक्) तेरा दुःखदायी क्रोध (तम् ऋच्छतु) उसको प्राप्त हो (यं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हों ॥ शत० ७ । ५ । २ । ३५ ॥

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे ।
तेन देवा देवतामग्रमायँस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः ।
शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ५१ ॥

अग्निर्देवता । भुरिक् कृतिः । निषादः ॥

भा०—(आजः) अज, अजन्मा, ज्ञानी आत्मा, जीव (अग्नेः) अग्नि, ज्ञानमय तेजोमय परमेश्वर के (शोकात्) तेज से (अजनिष्ट) ज्ञानवान् और तेजस्वी हो जाता है। तभी वह (अग्रे) अपने से भी पूर्व विद्यमान (जनितारम्) समस्त जगत् के और अपने भी उत्पादक परमेश्वर का (अपश्यत्) साक्षात् करता है। (तेन) उसी अजन्मा आत्मा के द्वारा (देवाः) विद्वान् जन अथवा इन्द्रिय-क्रीड़ी पुरुष भी (अग्रम्) उत्तम (देवताम्) देव भाव को (आयन्) प्राप्त होते हैं। और (तेन) उसी के बल पर (मेध्यासः) पवित्रात्मा जन या ज्ञानवान् पुरुष (रोहम्) उन्नत पद को या पुनः जन्मभाव को (आयन्) प्राप्त करते हैं (ते) तुझको मैं (आरण्यं शरभम्) जंगली शरभ अर्थात् हिंसक व्याघ्र पशु का (अनु दिशामि) स्वरूप दर्शाता हूं। (तेन) उसके समान (चिन्वानः) अपने रक्षा साधनों का संग्रह करता हुआ बलवान् होकर तु (तन्वः) अपने शरीर की रक्षा के लिये (निषीद) स्थिर होकर रह। (ते शुक्) तेरा शोक संताप और पीड़ा जनक कार्य (शरभम् ऋच्छतु) 'शरभ' नाम पशु या हिंसक पुरुष को प्राप्त हो। और (यं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं (तं ते शुक् ऋच्छतु) उसको तुम्हारा पीड़ा-संताप-जनक क्रोध प्राप्त हो ॥ शत० ७ । ५ । २ । ३६ ॥

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः ।
रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ५२ ॥ ऋ० ८ । ८४ । ३ ॥

उशना ऋषिः । अनिरुक्तोऽग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । । षड्जः ॥

भा०—हे (यविष्ठ) अति अधिक बलवान् पुरुष ! तू (दाशुषः नॄन्) दानशील और कर आदि देने वाले प्रजा जनों को (पाहि) पालन कर। और प्रेम से (गिरः) उनकी कही वाणियों को (श्रृणुधि) श्रवण कर। (उत) और (त्मना) स्वयं ही उनकी (तोकम्) पुत्र के समान (रक्ष) रक्षा कर ॥ शत० ७ । ५ । २ । ३१ ॥

उशना ऋषिः । आपो देवताः । (१) भुरिक् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः । (२) ब्राह्मी जगती । निषादः । (३) निचृद् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

[१]अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्मन्त्सादयाम्यपां त्वा भस्मन्त्सादयाम्यपां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि । [२]सरिरे त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा सधिषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपां त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामि [३] गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥ ५२ ॥

भा०—[१]हे राजन् ! (त्वा) तुझको मैं(अपाम् एमन्)जलों,प्राणों या प्रजाओं के गन्तव्य,या प्राप्त करने योग्य जीवन रूप वायु पद पर (सादयामि) स्थापित करता हूँ । अर्थात् मेघ के जलों को इधर उधर लेजाने वाला वायु जिस प्रकार यथेष्ट दिशा में मेघों को ले जाता है और जिस प्रकार समस्त प्राणों का आश्रय वायु है उसी प्रकार राजा को भी प्रजाओं के संचालन और उनके जीवन प्रदान, निग्रहानुग्रह के अधिकार पर स्थापित करता हूँ । [२] (त्वा अपां ओद्मन् सादयामि) तुझको जलों के दलदल भाग में जहां नाना ओषधियां उत्पन्न होती हैं उस पद पर स्थापित करता हूँ । अर्थात् जलों के एकत्र हो जाने पर दल २ में जिस प्रकार वहां ओषधियां बहुत उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार तू भी प्रजाओं का एकत्र हो जाने का केन्द्र है । तुझको मुख्य पद पर स्थापित कर नाना वीर्य धारक प्रजाओं और शासक पुरुषों के उत्पन्न कर लेने का अधिकार प्रदान करता हूँ ॥ शत० ७ । ५ । २ । ४६—६२ ॥

[३] (त्वां अपाम् भस्मन् सादयामि) जलों के तेजोरूप भाग मेघ

के पद पर तुझको स्थापित करता हूँ । अर्थात् जलों का सूर्य किरणों से बना मेघ जिस प्रकार सब पर छाया और निष्पक्षपात होकर जल वर्षण करता है उसी प्रकार प्रजाओं पर तू समस्त सुख कर ऐश्वर्यों का वर्षण और छत्रछाया कर । इसी निमित्त तुझे स्थापित करता हूँ ।

[४] (अपां ज्योतिषि त्वा सादयामि) तुझे जलों की ज्योति अर्थात् विद्युत् के पदपर स्थापित करता हूँ । अर्थात् जिस प्रकार जलों में विद्युत् अति तीव्र, बलवती शक्ति है उसी प्रकार तू भी प्रजाओं के बीच अति तीव्र बलवती शक्ति वाला होकर रह । उसी पद पर तुझको मैं नियुक्त करता हूँ ।

[५] (त्वा अपाम् अयने सादयामि) तुझको जलों के एकमात्र आश्रय, इस भूमि के पदपर स्थापित करता हूँ । अर्थात् जिस प्रकार समस्त जलों का आधार भूमि है उसी प्रकार समस्त प्रजाओं का आश्रय होकर तू रह ।

[६] (अर्णवे त्वा सदने सादयामि) तुझको 'अर्णव' = जीवन प्राण के 'सदन', आसन पर स्थापित करता हूँ । अर्थात् प्राण जिस प्रकार समस्त इन्द्रियों का आधार है, उसी प्रकार तू भी समस्त प्रजाओं और शासक वर्गों का आश्रय और उनका संचालक होकर रह ।

[७] (समुद्रे त्वा सदने सादयामि) तुझको मैं समुद्र अर्थात् मन के आसन पर स्थापित करता हूँ । अर्थात् जिस प्रकार समस्त रत्न समुद्र से निकलते हैं वही उनका उद्गम-स्थान है, और जिस प्रकार समस्त वाणियों का उद्गमस्थान मन-है, उसी प्रकार समस्त प्रजाओं का उद्गम स्थान तू बन कर रह ।

[८] (त्वाम् अपां क्षये सादयामि) जलों के निवासस्थान तड़ाग अथवा शरीर में जलों के नित्य आश्रय चक्षु के पद पर तुझको नियुक्त करता हूँ । अर्थात् सुख दुःख में जिस प्रकार ग्राम-जनता तालाब या कूप के आश्रय पर रहती है और सुख दुःख में जिस प्रकार शरीर में आंख ही दुःखाश्रु

और आनन्दाश्रु बहाती है, अथवा वही सब पर निरीक्षण करती है उसी प्रकार तू प्रजा के सुख दुःख में सुखी दुःखी हो और उनपर रेख देख रख।

[९] (अपां त्वा सधिषि सादयामि) समस्त जलों को समान रूप से धारण करने वाले गम्भीर जलाशय के पद पर और समस्त प्रजाओं के निष्पक्ष होकर वचन सुनने वाले 'श्रवण' के पद पर स्थापित करता हूँ। अर्थात् समस्त प्रजाओं के तू निष्पक्ष होकर वचन सुन और निर्णय कर।

[१०] (सरिरे सदने त्वा सादयामि) तुझे सर्वत्र प्रसरणशील और प्रेरक जल के पदपर स्थापित करता हूं और अध्यात्म में स्वयं सरण करने वाली वाणी के पद पर नियुक्त करता हूं। वहां तू अपनी आज्ञा से सबको संचालित कर।

[११] (अपां त्वा सदने सादयामि) सूक्ष्म जलों का आश्रयस्थान द्यौलोक या समस्त लोकों के आश्रयभूत महान् आकाश के पद पर तुझे स्थापित करता हूं। अर्थात् उसके समान तू सब प्रजाओं को अपना आश्रय देने वाला हो।

[१२] (अपां त्वा सधस्थे सादयामि) जलों को एकत्र धारण करने वाले अन्तरिक्ष के पद पर तुझको स्थापित करता हूं अर्थात् अन्तरिक्ष जिस प्रकार मेघ आदि रूप से जलों को और सूर्यरश्मियों को भी एकत्र रखता है उसी प्रकार राजपुरुषों और प्रजा जन दोनों को तू समान रूप से धारण कर।

[१३] (अपां त्वा योनौ सादयामि) समस्त नद नदियों के चारों तरफ़ से आकर मिलने के एक मात्र स्थान समुद्र के पद पर तुझको मैं स्थापित करता हूं। अर्थात् तू समस्त देश-देशान्तरों से आई प्रजाओं को तू शरण देने वाला हो।

[१४] (अपां त्वा पुरीषे सादयामि) तुझको मैं जलों के भीतर दीप्ति सहित विद्यमान रेती के पदपर स्थापित करता हूं। जैसे रेती जलों को

स्वच्छ रखती और उसकी शोभा को बढ़ाती है। उसी प्रकार तू प्रजाओं को स्वच्छ रख और उसकी शोभा को बढ़ा।

[१५] (अपां त्वा पाथसि सादयामि) जलों के भीतर विद्यमान, पालनकारी तत्त्व अन्न के पद पर तुझको मैं स्थापित करता हूं। अर्थात् जिस प्रकार जलों से उत्पन्न अन्न सबको प्राणप्रद जीवनप्रद, और पालक है उसी प्रकार तू भी सबका जीवनप्रद, पालक हो।

[१६] (त्वा गायत्रेण छन्दसा सादयामि) तुझको गायत्र छन्द से स्थापित करता हूं अर्थात् ब्राह्मणों विद्वानों के विद्या-बल से तुझको स्थापित करता हूं।

[१७] (त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि) तुझको मैं त्रैष्टुभ छन्द से स्थापित करता हूं। अर्थात् तुझको क्षात्र-बल से स्थिर करता हूं।

[१८] (जागतेन त्वा छन्दसा स्थापयामि) तुझको मैं जागत छन्द अर्थात् वैश्यों के बल से स्थापित करता हूं।

[१९] (आनुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि) आनुष्टुभ छन्द अर्थात् सर्व साधारण लोक के बल से तुझको स्थापित करता हूं।

[२०] (पांक्तेन त्वा छन्दसा सादयामि) तुझको मैं पांक्त छन्द अर्थात् दशों दिशाओं अथवा पांचों जनों के बल से स्थापित करता हूं।

अ॒यं पु॒रो भु॒वस्तस्य॑ प्रा॒णो भौ॑वाय॒नो व॑स॒न्तः प्रा॑णाय॒नो गा॑य॒त्री वा॑स॒न्ती गा॑य॒त्र्यै गा॑य॒त्रं गा॑य॒त्रादु॑पा॒ꣳशुरु॑पा॒ꣳशोस्त्रि॒वृत् त्रि॒वृतो॑ रथन्त॒रं व॑सि॒ष्ठ ऽऋषि॑ः। प्र॒जाप॑तिगृहीतया॒ त्वया॑ प्रा॒णं गृ॑ह्णामि प्र॒जाभ्य॑ः॥ ५४॥

प्राणा देवताः। स्वराड् ब्राह्मी जगती। निषादः॥

भा०—(अयम्) यह अग्निस्वरूप वाला (पुरः) पूर्व दिशा से और (भुवः) सबका मूल कारण, प्राण का प्राण, स्वयं सत्-रूप से विद्यमान था। (तस्य) उसका ही यह सामर्थ्य स्वरूप (प्राण) प्राण है। इसी से वह

(भौवायनः) 'भुव' का अपत्य उससे उत्पन्न होने से 'भौवायन' कहाता है। (प्राणायनः) प्राण से उत्पन्न होने वाला प्राणों का आश्रय (वसन्तः) 'वसन्त' है अर्थात् प्राणों से ही वह तत्त्व उत्पन्न हुआ है जिसमें समस्त जीव बसते हैं। (वासन्ती गायत्री) 'वसन्त' सबको बसाने वाले तत्त्व से 'गायत्री', प्राणों की रक्षा करने वाली शक्ति या वाणी उत्पन्न हुई। (गायत्र्यै गायत्रम्) गायत्री शक्ति से गायत्र अर्थात् प्राण रक्षक बल उत्पन्न हुआ (गायत्राद् उपांशुः) गायत्र बल से 'उपांशु, नाम प्राण-उत्पन्न हुआ (उपांशोः त्रिवृत्) उपांशु प्राण से 'त्रिवृत्' नामक प्राण उत्पन्न होता है। (त्रिवृतः रथन्तरम्) त्रिवृत् नाम प्राण से रथन्तर नाम प्राण का बल जिससे इन्द्रियों में ग्राह्य विषय ग्रहण किये जाते हैं वह उत्पन्न होता है। उन सबका (ऋषिः) प्रवर्त्तक और द्रष्टा (वसिष्ठः) सब प्राणों में मुख्य रूप से बसने वाला 'प्राण' वसिष्ठ कहाता है। हे चितिशक्ते! या हे वाणि! (प्रजापति-गृहीतया) प्रजा के पालक मुख्य प्राण द्वारा वशीकृत (त्वया) तुझ द्वारा मैं (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के (प्राणं गृह्णामि) प्राण को वश करता हूं। शत० ८।१।१।१-२॥

राजा और राष्ट्र-पक्ष में—यह प्राण राजा 'भुवः' है। उसके प्राण रूप अमात्य आदि 'भौवायन' है। उनमें उत्तरोत्तर वसन्त गायत्री, (सेना) गायत्र, (बल) उपांशु, (सेनापति) त्रिवृत् त्रिवृर्ण, रथन्तर, रथ बल उत्पन्न होते हैं। सब का द्रष्टा मुख्य राजा का पुरोहित 'वसिष्ठ' है। प्रजापति, प्रजा के पालक राजा से वशीकृत तुझ प्रजा या पृथिवी से मैं प्राण को या अन्न को प्रजा के हितार्थ प्राप्त करता हूं।

अ॒यं द॑क्षि॒णा वि॒श्वक॑र्मा॒ तस्य॒ मनो॑ वैश्वकर्म॒णं ग्री॒ष्मो मा॑न॒साస్त्रि॒ष्टुब् ग्रै॒ष्मी॑ त्रि॒ष्टुभः॑ स्वा॒रᳬ स्वा॒राद॒न्तर्या॒मो॑ऽन्तर्या॒मात्प॑ञ्चद॒शः प॑ञ्चद॒शाद् बृ॒हद् भ॒रद्वा॑ज॒ऽऋषिः॑ प्र॒जाप॑तिगृहीतया॒ त्वया॒ मनो॑ गृह्णामि प्र॒जाभ्यः॑ ॥ ५५ ॥

५४—५८—अयं पुरः पञ्चाशत् प्राणभृद्-दैवत्यानि । सर्वा० ॥

प्रजापतिः (प्राणभृद) देवता । भुरिगतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(दक्षिणा) दक्षिण दिशा में (अयं) यह स्वयं (विश्वकर्मा) समस्त कर्म करने में समर्थ है । (तस्य) उसके ही (वैश्वकर्मणं) विश्वकर्मा रूप से उत्पन्न (मनः) मन अन्तःकरण है । (मानसः ग्रीष्मः) मन से ही उत्पन्न ग्रीष्म ऋतु है । मन की पुष्टि से ही अर्थात् विचार से ही पराक्रम की उत्पत्ति होती है (ग्रैष्मी) सूर्य के प्रखर ताप वाला ऋतु के मानस तेज से ही (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् अर्थात् मन, वाणी और कर्म तीनों में हिंसा करने वाला क्षात्र-बल उत्पन्न होता है । (त्रिष्टुभः स्वारम्) उस त्रिष्टुप्, क्षात्र-बल से स्वर समूह अर्थात् स्वयं राजमान राजा गण उत्पन्न होते हैं । (स्वाराद् अन्तर्यामः) स्वयं तेजस्वी राज गण से पृथिवी का अन्तर्यमन अर्थात् प्रबन्ध या राज्यव्यवस्था उत्पन्न होती है । (अन्तर्यामात् पञ्चदशः) उस व्यवस्था से राष्ट्र के १५ हों अंगों पर आत्मा के समान शासक मुख्य राजा की उत्पत्ति होती है । (पञ्चदशात् बृहत्) उस मुख्य राजा से बृहत्, बड़े भारी राष्ट्र की उत्पत्ति होती है । (ऋषिः भरद्वाजः) उसका द्रष्टा और सञ्चालक स्वयं प्राण के समान 'भरद्वाज' है । अर्थात् मुख्य प्राण जिस प्रकार सब अन्नों को स्वयं प्राप्त करता है उसी प्रकार राजा समस्त ऐश्वर्यों और भोगों को प्राप्त करने में समर्थ होता है । हे राजशक्ते ! (प्राजापति-गृहीतया त्वया) प्रजापति राजा द्वारा वशीकृत तुझसे मैं (प्रजाभ्यः मनः गृह्णामि) प्रजाओं के मन को अपने वश करता हूं । शत ० ८ । १ । १ । ७-९ ॥

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं वर्षाश्चाक्षुष्यो जगती वार्षी जगत्या ऋक्समम् ऽऋक्समाच्छुक्रः शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५६ ॥

प्रजापतिर्देवता । भुरिगतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(अयम्) यह प्रजापति (पश्चात्) पश्चिम दिशा में (विश्व-व्यचाः) तेज द्वारा समस्त विश्व में फैलने वाले सूर्य के समान है (अस्य) उसका (चक्षुः) चक्षु भी (वैश्वव्यचसम्) विश्व में व्यापक सूर्य के प्रकाश से जिस प्रकार पुरुष की आंख उत्पन्न होती है उसी प्रकार प्रजापालक परमेश्वर की भी चक्षु सूर्य की बनी हुई है । अर्थात् सूर्य ही अलंकार रूप से ईश्वर की चक्षु है । (वर्षाः चाक्षुष्यः) जैसे आंखों से प्रेम-अश्रु बहते हैं उसी प्रकार मानो ये समस्त वर्षाएं भी सूर्य से उत्पन्न होकर, परमेश्वर की चक्षु से बहती हैं । और राजा के ज्ञानवान् पुरुष ही चक्षु हैं उनके द्वारा ही समस्त ऐश्वर्यों की वृष्टि होती है । (जगती वार्षी) यह समस्त सृष्टि वर्षा से ही उत्पन्न होती है । इसी प्रकार राजा के राज्य में सब कारबार विद्वानों द्वारा उत्पादित ऐश्वर्यों द्वारा ही चलते हैं । (जगत्याः ऋक्-समम्) जगती छन्द से जिस प्रकार 'ऋक्सम' नाम साम की उत्पत्ति है और जगत् की रचना देख कर ज्ञान की प्राप्ति होती है । (ऋक्-समात् शुक्रः) ऋक्सम नामक साम से जैसे शुक्र 'ग्रह' उत्पन्न होता है। और ज्ञान प्राप्ति के बाद, वीर्य, शुद्ध बल, उत्पन्न होता है। और जिस प्रकार, ऋक् अर्थात् स्त्री का सोम पति है और पति पत्नी के मिलने पर वीर्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार राष्ट्र में ऋक्-सम अर्थात् प्रजा को समान रूप से प्राप्त करके ही राजा को बल प्राप्त होता है । (शुक्रात् सप्तदशः) शुक्र ग्रह से यज्ञ में 'सप्तदश' स्तोम की उत्पत्ति होती है । अध्यात्म में वीर्य से सप्तदश नाम आत्मा के शरीर की उत्पत्ति होती है । राजा प्रजा के बल से १७ अंगों वाले सप्तदशाङ्ग राज्य और उसपर स्थित राजा की उत्पत्ति होती है ।(सप्तदशात् वैरूपम्) 'सप्तदश' नाम आत्मा से ही वैरूप अर्थात् विविध जीवसृष्टि का प्रादुर्भाव होता है । साम में सप्तदश स्तोम से वैरूप नाम 'पृष्ठ' का उदय होता है । राष्ट्र में, सप्त दश अङ्गों से युक्त राजा के द्वारा राज्य की विविध रचना होती है । (जमदग्निः ऋषिः) वह चक्षु सूर्य ही जमदग्नि है, वही सबका द्रष्टा है । परमेश्वर उसी द्वारा

जगत् को देखता और उसीसे देख कर उनको वश करता है। इस शरीर में चक्षु ही जमदग्नि है। राष्ट्र में सर्वोपरि द्रष्टा पुरुष ही जमदग्नि है।

(प्रजापति-गृहीतया त्वया) प्रजा के पालक परमेश्वर द्वारा स्वीकार की गई पत्नी के समान तुझ निर्मात्री शक्ति से, एवं देह में आत्मा द्वारा प्राप्त चितिशक्ति से, राष्ट्र में राज्य शक्ति से मैं (प्रजाभ्यः चक्षुः) प्रजाओं की चक्षु को (गृहणामि) अपने वश करता हूं। शत० ८।१।२।१-३॥

इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रंᳬ सौवᳬशरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभ ऽऐडमैडान्मन्थी मन्थिनऽएकविᳬंश ऽएकविᳬंशाद्वैराजं विश्वामित्र ऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५७ ॥

प्रजापतिर्देवता। स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

(इदम् उत्तरात् स्वः) यह उत्तर दिशा में या सब से ऊपर महान् आकाश 'स्वः' है। (तस्य) उस प्रजापति का मानो वह आकाश ही महान् 'श्रोत्र' है। इसलिये (सौवं श्रोत्रम्) उसका श्रोत्र 'स्वः' होने से 'सौव' कहाता है। इसी प्रकार इस शरीर में 'स्वः' अर्थात् सुख का साधन आकाश की तन्मात्रा से ही बना हुआ 'श्रोत्र' है। (श्रौत्री शरत्) 'संवत्सर' रूप प्रजापति में शरत् ऋतु ही श्रोत्र के समान है। वर्षा के बाद आकाश और दिशाएं खुल जाने से शरद् ऋतु उत्पन्न होती है, इसी से शरत् मानो प्रजापति के श्रोत्र रूप आकाश या दिशाओं से उत्पन्न होती है। (शारदी अनुष्टुप्) शरद् ऋतु से अनुष्टुप् छन्द उत्पन्न होता है। अर्थात् छन्दों में जिस प्रकार अनुष्टुप् सर्व प्रिय है उसी प्रकार ऋतुओं में 'शरद्' है। (अनुष्टुभः ऐडम्) अनुष्टुप् से 'ऐड' नाम साम की उत्पत्ति होती है। अर्थात् अनुष्टुप् नाम छन्द से ऐड अर्थात् 'इड़ा' वाणी का विस्तार होता है। (ऐडात् मन्थी) ऐड नाम साम से यज्ञ में मन्थिग्रह

५७—'ऐळमैळान्' इति काण्व०।

उत्पन्न होता है। वाणी के विस्तार से इन्द्रियों और हृदय को मथन करने की शक्ति उत्पन्न होती है। (मन्थिनः एकविंशः) मन्थिग्रह से यज्ञ में 'एकविंश' नाम साम की उत्पत्ति होती है। वाणी के बल पर हृदय मथन हो जाने पर २० अंगों सहित इक्कीसवां आत्मा स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होता है। (एकविंशाद् वैराजम्) यज्ञ में एकविंशस्तोम से 'वैराज' साम की उत्पत्ति होती है। आत्मा से ही विविध तेजों से राजमान देह की उत्पत्ति होती है। 'एकविंश' राजा से ही विविध राष्ट्र के कार्यों की उत्पत्ति होती है। (विश्वामित्र ऋषिः) शरीर में श्रोत्र ही विश्वामित्र ऋषि है; वह ज्ञानवान् पुरुष राष्ट्र में कर्म के समान समस्त प्रजाओं के दुःख पीड़ाओं को सुनता है। वह भी ऋषि द्रष्टा 'विश्वामित्र' सबका परम स्नेही है। (प्रजापति-गृहीतया त्वया) प्रजापति द्वारा स्वीकृत तुझ परम प्रकृति से जिस प्रकार (प्रजाभ्यः) समस्त उत्पन्न पदार्थों के हितार्थ (श्रोत्रं) आकाश रूप श्रोत्र का उपयोग किया गया है, उसमें समस्त सृष्टि फैली है। उसी प्रकार राजा द्वारा राजशक्ति के वश कर लेने पर प्रजाओं के 'श्रोत्र' अर्थात् सुख दुःख श्रवण करने वाले न्यायाधीश को मैं (गृह्णामि) स्वीकार करूं। इसी प्रकार हे स्त्री! प्रजापति, गृहपति द्वारा स्त्री रूप में स्वीकृत तुझ द्वारा मैं प्रजा के हित के के लिये अपने श्रोत्र का उपयोग करूं। जत० ८।१।२।४-६॥

इ॒यमु॒परि॑ म॒तिस्तस्यै॒ वाङ् मा॒त्या हे॑म॒न्तो वा॒च्यः प॒ङ्क्ति- हैम॒न्ती प॒ङ्क्त्यै नि॒धन॑वन्नि॒धन॑वत ऽआग्रय॒णः ऽआ॒ग्रय॒णात् त्रि॑- णवत्रयस्त्रि॒ꣳशौ त्रि॑णवत्रयस्त्रि॒ꣳशाभ्या॑ꣳ शाक्वररैव॒ते वि॒श्व- क॑र्म॒ ऽऋषिः प्र॒जाप॑तिगृहीतया त्व॒या वाचं॑ गृह्णामि प्र॒जाभ्यः॑ ॥५८॥

प्रजापतिर्देवता । विराडाकृतिः । पञ्चमः ॥

भा०—(इयम् उपरि मतिः) यह सबसे ऊपर विराजमान मति, मनन

५८—अवसाने लोकं, ता, इन्द्रम् क्रमशः (अ० १२। ५४, ५५, ५६) इति मन्त्रत्रयस्य प्रतीकानि।

शील प्रज्ञा है जो विराट् शरीर में चन्द्रमा के तुल्य अज्ञान अन्धकार में भी प्रकाश करने हारी है। (तस्यै मात्या वाङ्) उससे उत्पन्न होने वाली वाणी मति से उत्पन्न होने के कारण मात्या, वाक्, है। (वाच्यः हैमन्तः) हेमन्त जिस प्रकार अति शीतल है उसी प्रकार वाणी से हृदय की शान्ति होती है। इससे मानों वाणी से हेमन्त उत्पन्न होता है। संवत्सर प्रजापति के रूप में शरत् काल के चन्द्र ज्योति के बाद तीव्र गर्जनाकारी वाणी रूप मेघ और उसके बाद हेमन्त उत्पन्न होता है! हेमन्त से पंक्ति उत्पन्न होती है। अर्थात् हेमन्त काल के बाद अन्न पकना प्रारम्भ होता है। संवत्सर में पंचम ऋतु हेमन्त से मानो यज्ञ में पंक्ति छन्द की उत्पत्ति हुई। राष्ट्र में प्रजा के हृदयों को शमन करने से ही शत्रु परिपाक की शक्ति प्राप्त होती है, अथवा पञ्चाङ्ग सिद्धि प्राप्त होती है। (पङ्क्त्यै निधनवत्) यज्ञ में पंक्ति छन्द से 'निधनवत् साम' की उत्पत्ति है। (निधनवतः आग्रयणः) निधनवत् साम से 'आग्रयण' ग्रह की उत्पत्ति होती है और (आग्रयणात् त्रिणव-त्रयस्त्रिंशौ) आग्रयण ग्रह से त्रिनव और त्रयस्त्रिंश दोनों स्तोम उत्पन्न होते हैं (त्रिनव-त्रयस्त्रिंशाभ्यां शाक्कररैवते) त्रिनव और त्रयस्त्रिंश दोनों स्तोमों से शाक्वर और रैवत दो 'पृष्ठ' उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार राष्ट्र में शत्रु संतापक पंक्ति नामक सैन्य पांचों जनों की सम्मति, सैन्य शक्ति से 'निधनवत्' अर्थात् शत्रुहनन होता है। उससे आग्रयण अर्थात् आगे बढ़ने वाले शूरवीरों का पद नियत होता है। उससे आग्रयण अर्थात् आगे बढ़ने वाले शूरवीर का पद नियत होता है। उससे त्रिनव और त्रयस्त्रिंश २७ और ३३ के स्तोम अर्थात् संघों की रचना होती है और उनसे शाक्कर अर्थात् शक्तिशाली और रैवत, धनाढ्य राष्ट्रों की उत्पत्ति होती है। इस सबका (ऋषिः विश्वकर्मा) ऋषि द्रष्टा और नेता सञ्चालक विश्वकर्मा प्रजापति है। (प्रजापतिगृहीतया त्वया प्रजाभ्यः वाचं गृणामि) प्रजापति राजा द्वारा वशीकृत राजशक्ति रूप तुझ से प्रजा के हित के

लिये आज्ञा प्रदान करने वाली वाणी को अपने वश करूं। शत० ८।१। २।७-९॥

'लोकं,० ता०, ऽइन्द्रम्० ॥'

१२ अ० के ५४,५५,५६ इन तीन मन्त्रों की प्रतीक मात्र रक्खी है। लोकं पृण० (१२।५४) ता अस्य सूद० (१२।५५) इन्द्रं विश्वा० १२।५६ ॥)

॥ इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

[तत्र अष्टापञ्चाशदृचः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्माकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥

१—लोकं ता इन्द्रं तिस्रः प्रतीकोक्ताः ॥ सर्वा० ॥ एवं सर्वत्र ॥ इति प्रथमा-चितिः ॥ 'श्लोकं' पृणता अस्येन्द्रं विश्वाः इति काण्व०

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

॥ओ३म्॥ ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाऽश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥१॥

अश्विनौ देवते। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे पृथिवी! तू (ध्रुवक्षितिः) स्थिर निवास स्थान या स्थिर जनपद वाली है। तू (ध्रुवयोनिः) स्थिर गृह और स्थान वाली है। तू स्वयं भूमि और आश्रय होकर (ध्रुवा) ध्रुव, अप्रकम्प, बसने वाली प्रजा का स्थिर आश्रय है। तू (ध्रुवं योनिम्) अपने स्थिर आश्रय पर ही (साधुया) उत्तम राज्यप्रबन्ध से (आसीद) आश्रित होकर रह। तू (प्रथमं) सर्वश्रेष्ठ, सब से प्रथम (उख्यस्य) 'उखा', पृथिवी के योग्य (केतुं) ज्ञान को (जुषाणा) सेवन करने वाली हो। (अध्वर्यू) स्थिर, नित्य राष्ट्र यज्ञ के सम्पादक (अश्विना) विद्या के परं पारंगत, ज्ञानी और कर्मिष्ठ विद्वान् शासनादि के अधिकारी दोनों (त्वा) तुझको (इह) इस आश्रय पर (सादयताम्) स्थिर करें।

स्त्री के पक्ष में—तू स्थिर निवास स्थान वाली, स्थिर आश्रय वाली होने से ध्रुवा है। तू (साधुया) उत्तम आचरण पूर्वक और स्थिर पति का आश्रय लेकर विराज। (उख्यस्य केतुम्) उखा अर्थात् स्थाली के योग्य पाक आदि विद्या को (प्रथमं जुषाणा) अति प्रेम से करने वाली होकर रह। तुझे (अध्वर्यू अश्विनौ) अध्वर अर्थात् गृहस्थ यज्ञ या अविनाशी प्रजा तन्तु रूप यज्ञ के अभिलाषी माता पिता विद्वान् जन (इह सादयताम्) इस गृहाश्रम में स्थिर करें ॥शत० ८।२।१।४॥

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः।

१—अथ द्वितीया चितिः। सर्वा०॥

अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ २ ॥

अश्विनौ देवते । ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे पृथिवी! हे प्रजे! तू (कुलायिनी) 'कुलाय' अर्थात् गृह वाली और (घृतवती) तेज और स्नेह या ऐश्वर्य से युक्त एवं (पुरंधिः) पालक-पति वा पुर को धारण करने वाली है । (पृथिव्याः) पृथिवी के (स्योने सदने) सुखकारी, ऊपर बने गृह या आश्रय पर (सीद) विराजमान हो । (त्वा) तुझको (रुद्राः) उपदेश करने हारे विद्वान् और (वसवः) वसु ब्रह्मचारी वा निवास करने हारे विद्वान् लोग (अभि गृणन्तु) नित्य उपदेश करें । (सौभगाय) सौभाग्य की वृद्धि के लिये तू (इमा ब्रह्म) इन वेद मन्त्रों में स्थित ज्ञानों को (पीपिहि) प्राप्त कर । (अश्विना अध्वर्यू, इत्यादि) पूर्ववत ॥ शत० ८ । २ । १ । ५ ॥

स्त्री के पक्ष में—तू गृहवाली, घृत–पुष्टि कारक अन्न और जल से पूर्ण या स्नेह से पूर्ण होकर (पुरन्धिः) 'पुर' = पालनकारी घर को धारण करने वाली स्त्री है । पृथिवी के तल पर बने सुखप्रद गृह में विराज । रुद्र वसु आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी लोग तुझे (ब्रह्म अभि गृणन्तु) वेदों का उपदेश करें । तू अपने सौभाग्य की वृद्धि के लिये उनको प्राप्त कर । यज्ञकर्त्ता विद्वान् माता पिता तुझे यहां स्थिर करें ।

अध्यात्म में – चिति शक्ति पुरन्धि है, वह शरीररूप गृह वाली है । शरीर में बसने वाले प्राण उसकी स्तुति करते हैं, वह अन्न को प्राप्त करे । (अध्वर्यू अश्विनौ) जीवन-यज्ञ के कर्त्ता प्राणापान उसे वहां स्थित रखें ।

स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद देवानाँ सुम्ने बृहते रणाय ।
पितेवैधि सूनव आ सुशेवा स्वावेशा तन्वा संविशस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ३ ॥

अश्विनौ देवते । निचृद् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—राजा और पालक पुरुष के कर्त्तव्य। हे बलवान् पुरुष! हे स्वामिन्! राजन्! तू (स्वैः दक्षैः) अपने बलों और ज्ञानों द्वारा और अपने चतुर बलवान् भृत्यों के बल से (दक्षपिता) कार्य-कुशल पुरुषों का पालक, बल और ज्ञान का पालक, पिता के समान होकर और (बृहते रणाय) बड़े भारी संग्राम के लिये (देवानां) विद्वानों और विजयी पुरुषों के बीच में (सुम्ने) सुखकारी पद पर या राष्ट्र या गृह में (सीद) विराजमान हो। (सूनवे) पुत्र के लिये (पिता इव) जिस प्रकार पिता हितकारी और उसका पालक होता है उसी प्रकार तू भी (एधि) हो। हे पृथिवी, मातः! तू भी पालक पिता के समान हो। (आ सुशेवा) सब प्रकार से सुखकारिणी और (सु आवेशा) उत्तम प्रकार से, सुख से प्रवेश करने योग्य, सुख से बसने योग्य हो। तू (तन्वा) अपनी विस्तृत राज्य शक्ति से (संविशस्व) बस, प्रवेश कर। (अश्विना अध्वर्यू० इत्यादि) पूर्ववत्॥ शत० ८। २। १। ६॥

पुरुष स्त्री के पक्ष में—हे पुरुष! तू भृत्यों और अपने बल का पालक होकर विद्वान् पुरुषों को सुख और बड़े भारी रमण योग्य उत्तम कार्य के लिये स्थिर हो। पुत्र के लिये पिता के समान हो। हे स्त्री! तू पति को सुखकारिणी, सुखपूर्वक गृहस्थ-सुख देने वाली, उत्तम वेश धारण करके अपने (तन्वा संविशस्व) देह से पति के साथ संगत, एक होकर रह।

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे ऽअभिगृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणायजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥ ४॥

अश्विनौ देवते। स्वराड् ब्राह्मी बृहती। मध्यमः॥

भा०—हे राजशक्ते! तू (पृथिव्याः) पृथिवी का (पुरीषम्) पालन करने वाला (अप्सः नाम) उत्तम स्वरूप है। (तां त्वा) उस तेरी (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् और राजगण (अभि गृणन्तु) स्तुति करें। तू (स्तोमपृष्ठा)

वीर्य, बल को अपनी 'पृष्ठ' या पालन सामर्थ्य में धारण करने वाली, (घृतवती) जल के समान तेज को धारण करने वाली होकर (सीद) विराजमान हो। और (अस्मे) हमें (प्रजावत् द्रविणा) उत्तम प्रजाओं के समान ही नाना ऐश्वर्यों को भी (आयजस्व) प्रदान कर। अथात् राष्ट्र-शक्ति, समृद्धि, ऐश्वर्य के साथ उत्तम हृष्ट पुष्ट प्रजा की भी वृद्धि कर। (अश्विना अध्वर्यू० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८।२।१७॥

स्त्री के पक्ष में—तू (अप्सः नाम पृथिव्याः पुरीपम् असि) तू उत्तम रूपवती होकर निश्चय से पृथिवी के ऊपर पालक होकर या श्रीसमृद्ध होकर (असि) विद्यमान है। समस्त विद्वान् तेरी कीर्त्ति गावें। तू (स्तोमपृष्ठा) वीर्यवान् पुरुष को अपने आश्रय किये हुए तेजस्विनी या अन्न, घृत और स्नेह से युक्त होकर विराज और हम सब को उत्तम प्रजायुक्त ऐश्वर्य प्रदान कर।

अदि॑त्यास्त्वा पृ॒ष्ठे सा॑दयाम्य॒न्तरि॑क्षस्य ध॒र्त्रीं वि॒ष्टम्भ॑नीं दि॒शामधि॑पत्नीं॒ भुव॑नानाम्। ऊ॒र्मिर्द्र॒प्सोऽअ॒पाम॑सि वि॒श्वक॑र्मा त॒ऽऋषि॑र॒श्विना॑ध्व॒र्यू सा॑दयतामि॒ह त्वा॑ ॥ ५ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत्।

भा०—हे राजशक्ते! राजपुरोहित ! (अदित्याः पृष्ठे) अखण्ड पृथिवी के पीठ पर (अन्तरिक्षस्य) प्रजा के भीतर दानशील या पूजनीय पुरुष, राजा के या भीतरी अक्षय कोश या ऐश्वर्य, बल और विज्ञान की (धर्त्रीम्) धारण करने वाली और (दिशाम्) दिशाओं और उनमें निवास करने वाली प्रजाओं को (विष्टम्भनीम्) विविध उपायों से अपने वश करने वाली और (भुवनानाम् अधिपत्नीम्) लोकों को अधिष्ठाता रूप से पालन करने वाली (त्वा) तुझको (सादयामि) स्थापित करता हूँ। (अपाम्) जलों के बीच में जिस प्रकार वेग या रस विद्यमान रहता है उसी प्रकार तू भी (अपाम्) प्रजाओं के बीच (द्रप्सः) रस

रूप से सारवान् एवं वेगवान्, बलवान् या उनको हर्षदायक हो और जलों के बीच में (ऊर्मिः) ऊपर उठने वाले तरङ्ग के समान उदय को प्राप्त होने वाला है। (ते ऋषिः) तेरा द्रष्टा, अधिष्ठाता, साक्षात् करने वाला, तुझे वश करने वाला जिस प्रकार (विश्वकर्मा) समस्त शिल्प के उत्तम कार्यों का कर्त्ता, महाशिल्पी, 'एञ्जीनियर' हो उसी प्रकार समस्त कार्यों का कर्त्ता राजा (ते ऋषिः) तेरा सञ्चालक द्रष्टा है। (अश्विना अध्वर्यू० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० २। २। १। १० ॥

स्त्री के पक्ष में—हे स्त्रि! तुझको पृथिवी के ऊपर स्थापित करता हूँ। तू (अन्तरिक्षस्य) भीतर उपास्य, पतिदेव या अक्षय उत्साह के धरने वाली, सब दिशाओं को थामने वाली और उत्पन्न पुत्रों की पालक है। तू जलोंके तरंग के समान हर्षकारिणी है। तेरा द्रष्टा पति ही तेरा 'विश्वकर्मा', सर्व शुभ कर्मों का करने वाला कर्त्ता-धर्त्ता है। जगत्पालक परमेश्वरी शक्ति के पक्ष में भी मन्त्र स्पष्ट है।

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू ऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेताम् द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये ऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी ऽइमे ग्रैष्मावृतू ऽअभिकल्पमाना ऽ इन्द्रमिव देवा ऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ६ ॥

ग्रीष्म ऋतुर्देवता। निचृद् उत्कृतिः। षड्जः ॥

भा०—(शुक्रः च शुचिः च) शुक्र और शुचि ये दोनों (ग्रैष्मौ ऋतू) ग्रीष्म काल के अंगस्वरूप दो मास हैं। (अग्नेः अन्तः श्लेषः असि०) इत्यादि व्याख्या देखो अ० १३। म० २५ ॥ शत० ८। २। १। ७६ ॥

[१] **सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा। सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा**

वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा [2]सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजू रुद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा [3]सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ७ ॥

विश्वेदेवा ऋषयः । मन्त्रोक्ता वस्वादयो विश्वेदेवा देवताः । (१) भुरिक् प्रकृतिः । धैवतः ॥ (२) स्वराट् पंक्तिः । (३) निचृदाकृतिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (ऋतुभिः) संवत्सर के घटक ऋतुओं के समान राष्ट्र के घटक या राजसभा के बनाने वाले सदस्यों, राज्य-कर्त्ता नेताओं के साथ (सजूः) समान रूप से प्रीतिपूर्वक हो । (विधाभिः) जल जिस प्रकार प्राणों और जीवित शरीर के निर्माता एवं प्राणप्रद हैं उसी प्रकार तू राष्ट्र शरीर के विधाता आप्त पुरुषों के साथ (सजूः) समान रूप से प्रीति युक्त हो कर रह (देवैः सजूः) दानशील और विजीगीपु, वीर पुरुषों से प्रेमयुक्त हो । और (वयोनाधैः) जीवन को देह के साथ बांधने वाले प्राणों के समान राष्ट्र में जीवन, जागृति एवं विज्ञानों द्वारा सब को जीवन-प्रद और अन्न-आजीविका द्वारा व्यवस्थाओं में बांधने वाले (देवैः) विद्वानों के साथ (सजूः) प्रीतियुक्त बर्ताव करने वाला हो । इसी प्रकार (वसुभिः सजूः, रुद्रैः सजूः, आदित्यैः सजूः, विश्वैः देवैः सजूः) तू वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वेदेव इन सब विद्वान्, शत्रुतापक, प्रजा के पालक, व्यवस्थापक, आदान-प्रतिग्रह करनेवाले ज्ञानी, तेजस्वी पुरुषों के साथ प्रेम युक्त होकर रह । (अश्विनौ) विद्याओं में व्यापक (अध्वर्यू) राष्ट्र यज्ञ के सम्पादक विद्वान् (त्वा) तुझको (इह) इस राष्ट्राधिकार के पद पर (सादयताम्) स्थापित करें ।

स्त्री और पुरुष के पक्ष में—हे स्त्री और हे पुरुष ! तुम ऋतुओं, प्राणों, विद्वानों, और जीवनोपयोगी पदार्थों से युक्त हो । (अश्विना अध्वर्यू) प्रजा तन्तु के इच्छुक माता पिता दोनों तुझको (वैश्वानराय अग्नये) सर्वहित कारी अग्नि, अग्रणी नेता पद के लिये (इह त्वा सादताम्) इस सद्गृहस्थ में स्थापित करें । इसी प्रकार तू वसु, रूद्र और आदित्य नामक विद्वान् जितेन्द्रिय पुरुषों के साथ (सजूः) प्रेमपूर्वक सत्संग लाभ कर ॥ शत० ८ । २ । २ । ८–९ ॥

प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे उर्व्या विभाहि श्रोत्रं मे श्लोकय । अपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात् पाहि दिवो वृष्टिमेरय ॥ ८ ॥

पूर्वार्धस्य प्राणाः उत्तरार्धस्य च आपो देवताः । दम्पती देवते । भुरिगति जगती । निषादः ॥

भा०—हे प्रभो ! (मे प्राणं पाहि) मुझ प्रजागण के प्राण को रक्षा कर । (मे अपानं पाहि) मेरे अपान की रक्षा कर । (मे व्यानं पाहि) मेरे शरीर के त्रिविध संधियों में चलने वाले व्यान की रक्षा कर । (मे चक्षुः) मेरे चक्षु को (उर्व्या) विशाल, विस्तृत दर्शन शक्ति से (विभाहि) प्रकाशित कर । (मे श्रोत्रम्) मेरे श्रोत्र को (श्लोकय) श्रवण समर्थ कर । (अपः पिन्व) जलों के समान प्राणों को सेचन कर, उनको पुष्ट कर । (ओषधीः) ओषधियों को (जिन्व) पुष्ट कर, (द्विपात्) दो पांव के मनुष्यों की रक्षा कर । (चतुष्पात् पाहि) चौपायों की रक्षा कर । (दिवः) द्यौलक से (वृष्टिम् ईरय) वृष्टि को प्रेरित कर, । अथवा जैसे आकाश से वृष्टि होती है उसी प्रकार तेरी तरफ़ से मेरे प्रति सुखों की वर्षा हो ।

स्त्री के पक्ष में—हे पते ! तू (उर्व्या) विशाल शक्ति से मेरे प्राण, अपान और व्यान की रक्षा कर । चक्षु को प्रकाशित कर । श्रोत्र को उत्तम शास्त्र-श्रवण से युक्त कर । प्राणों को पुष्ट कर । ओषधियों को प्राप्त कर । भृत्य

और चौपायों की रक्षा कर। सूर्य जैसे पृथ्वी पर वर्षा करता है ऐसे तू मुझ अपनी भूमि रूप स्त्री पर सन्तानादि के निमित्त वीर्यादि का प्रदान कर॥ शत० ८।२।३।३॥

[1]मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दो विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो वस्तो वयो विवलं छन्दो वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः [2]पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो व्याघ्रो वयोऽनाधृष्टं छन्दः सिंहो वयश्छदिश्छन्दः पष्ठवाड्वयो बृहती छन्द उक्षा वयः ककुप् छन्द ऋषभो वयः सतोबृहती छन्दः॥ ९॥

[3]अनड्वान्वयः पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगती छन्दस्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दो दित्यवाड्वयो विराट् छन्दः पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्दस्त्रिवत्सो वय उष्णिक् छन्दस्तुर्यवाड्वयोऽनुष्टुप् छन्दः॥ १०॥

प्रजापत्यादयो देवताः (१) निचृद् ब्राह्मी पंक्तिः। (२) स्वराड् ब्राह्मी पंक्तिः। पञ्चमः॥ (३) विद्वांसो देवताः। निचृदष्टिर्मध्यमः॥

भा०—१. (मूर्धा) 'मूर्धा', शिर (वयः) बल, पद या स्थिति है तो (प्रजापतिः छन्दः) 'प्रजापति' उसका 'छन्द' अर्थात् स्वरूप है। अर्थात् शिर जिस प्रकार शरीर में सब के ऊपर विराजमान है उसी प्रकार समाज में जो सब से ऊंचे पद पर स्थित हो उसका कर्त्तव्य प्रजापति का है। वह प्रजापति के समान समस्त प्रजाओं का पालन करे।

२. (क्षत्रं वयः मयन्दं छन्दः) 'क्षत्र' वय है और 'मयन्द' छन्द है। अर्थात् जो 'क्षत्र' या वीर्यवान् पद पर स्थित है उसका कर्त्तव्य प्रजा को सुखप्रदान करना है।

३. (विष्टम्भः वयः अधिपतिः छन्दः) 'विष्टम्भ' वय है और 'अधिपति'

१—'वस्तो वयो विवलं छन्दः' इति दयानन्दसम्मतः पाठः।

छन्द है। अर्थात् जो विविध प्रजाओं को विविध प्रकारों और उपायों से स्तम्भन कर सके, पाल सके वह वैश्य या जो शत्रुओं को विविध दिशाओं से थाम या रोकने में समर्थ हो उसका कर्त्तव्य 'अधिपति' होने का है। वह सबका अधिपति हो कर रहे।

४. (विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दः) 'विश्वकर्मा' वय है और 'परमेष्ठी' छन्द है। अर्थात् जो पुरुष 'विश्वकर्मा' राज्य के समस्त उत्तम कार्यों का प्रवर्त्तक, श्रम विभाग के मुख्य पदपर स्थित है वह 'परमेष्ठी' नामक परम उच्च स्वामी पद पर स्थित होने योग्य है।

५. (वस्तः वयः विबलं छन्दः) वस्त 'वयः' है और 'विबल' छन्द है। अर्थात् सबको आच्छादित करने वाले पदाधिकारी का कर्त्तव्य है कि वह विविध प्रकार के बल वा शरीर-गोपन के पदार्थों को प्राप्त करे।

६. (वृष्णिः वयः विशालं छन्दः) वृष्णि 'वय' है और 'विशाल' छन्द है। अर्थात् जो पुरुष बलवान् सब सुखों को प्रदान करने में समर्थ हैं उसका कर्त्तव्य है कि वह विविध ऐश्वर्यों से शोभायमान हो। और अन्यों को भी विविध ऐश्वर्य प्रदान करे।

७. (पुरुषः वयः तन्द्रं छन्दः) 'पुरुष' वय है 'तन्द्र' छन्द है। अर्थात् जिसमें समर्थ पुरुष होने का सामार्थ्य है उसका 'तन्द्र' अर्थात् तन्त्र, कुटुम्ब को धारण पोषण करना ही कर्त्तव्य है।

८. (व्याघ्रं वयः अनाधृष्टं छन्दः) 'व्याघ्र' वय है और 'अनाधृष्ट' छन्द है। जो पुरुष व्याघ्र के समान शूरवीर है उसका कर्त्तव्य है कि वह शत्रु से कभी पराजित न हो।

९. (सिंहः वयः छदिः छन्दः) 'सिंह' वय है और 'छदि' छन्द है। अर्थात् सिंह के समान बड़े २ बलवान् शत्रुओं को भी जो हनन करने में समर्थ है वह प्रजा पर 'छदि' अर्थात् गृह के छत के समान सब को आश्रय देने वाला होकर अपनी छत्रच्छाया में रक्खे।

१०. (पष्ठवाड् वयः बृहती छन्दः) 'पष्ठवाड्' वय है और 'बृहती' छन्द है। अर्थात् जो पीठ से बोझा लादने वाले पशु के समान राष्ट्र के कार्य-भर को स्वयं वहन करने में समर्थ है वह 'बृहती' पृथ्वी के समान बड़े कार्य भर को अपने ऊपर ले।

११. (उक्षा वयः ककुप् छन्दः) 'उक्षा' वय है और 'ककुप्' छन्द है। वीर्य सेचन में समर्थ वृषभ के समान वीर्यवान् पुरुष का कर्त्तव्य 'ककुप्' अर्थात् अपने अधीन प्रजाओं को आच्छादन करना और सब से अपने सरल सत्य व्यवहार से वर्त्तना है।

१२. (ऋषभः वयः सतोबृहती छन्दः) 'ऋषभ' वयः है और 'सतो-बृहती' छन्द है। अर्थात् जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान-मान से प्रकाशित है उसका कर्त्तव्य 'सतः बृहती' अर्थात् प्राप्त हुए बड़े २ कार्यों का उठाना है।

भा०—१३. (अनड्वान् वयः पंक्तिः च्छन्दः) 'अनड्वान्' वयः है और 'पंक्ति' छन्द है। अर्थात् शकट वहन करने में समर्थ बैल के समान बलवान् पुरुष अपने वीर्य को परिपक्व रक्खे और गृहस्थ के भार को उठावे।

१४. (धेनुर्वयः जगती छन्दः) 'धेनु' वय है 'जगती' छन्द है। अर्थात् जो जीव दुधार गौ के समान दूसरों का पालन व पोषण करने में समर्थ हैं वे जगत् को पालन कर सकते हैं।

१५. (त्र्यविः वयः त्रिष्टुप् छन्दः) 'त्र्यवि' वय है और त्रिष्टुप् छन्द है। अर्थात् तीनों वेदों की रक्षा करने में समर्थ पुरुष कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों से स्तुति करे।

१६. (दित्यवाड् वयः विराट् छन्दः) 'दित्यवाट्' वय है और 'विराट्' छन्द है। आदित्य के समान तेज को धारण करने वाला पुरुष विविध ऐश्वर्यों और ज्ञानों से स्वयं प्रकाशित हो और अन्यों को प्रकाशित करे।

१७. (पञ्चाविर्वयः गायत्री छन्दः) 'पञ्चावि' वय है, 'गायत्री' छन्द है। अर्थात् जो पुरुष पाचों प्राण, पाचों इन्द्रियों पर वश करने में समर्थ है

वह पुरुष अपने प्राणों की रक्षा करने में सफल हो ।

१८. (त्रिवत्सः वयः उष्णिक छन्दः) 'त्रिवत्स' वय है और 'उष्णिक्' छन्द है । अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान में, या वेदत्रयी में ही निवास करने वाला अथवा तृतीयाश्रमी पुरुष अपने समस्त पापों का दाह करने में सफल हो ।

१९. (तुर्यवाट् वयः अनुष्टुप् छन्दः) 'तुर्यवाट्' वय और 'अनुष्टुप्' छन्द है । अर्थात् तुर्य अर्थात् तुरीय, चतुर्थ आश्रमवासी पुरुष होकर पुरुष (अनुष्टुप्) निरन्तर परमेश्वर की स्तुति करे ।

(लोकं०, ता०, इन्द्रम्०) ये १२ वें अध्याय के ५४, ५५, ५६ इन तीन मन्त्रों की प्रतीक हैं ।

प्रकारान्तर से प्रजापति, मयन्द, अधिपति, परमेष्ठी, विबल, विशाल, तन्द्र, अनाधृष्ट, छदि, बृहती, ककुप्, सतोबृहती, पंक्ति, जगती, त्रिष्टुप्, विराट्, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् ये १९ छन्द हैं ये भी प्रजापति के ही १९ स्वरूप हैं । और मूर्धा, क्षत्र, विष्टम्भ, विश्वकर्मा ये चार वर्णभेद से प्रजापति के नाम हैं । वस्त, वृष्णि, सिंह और व्याघ्र ये चार पशु नाम हैं । पुरुष पांचवां । पष्ठवाट्, उक्षा, ऋषभ, अनड्वान् ये ४ पुमान् गौ के स्वरूप हैं । धेनु, मातृ गौ का रूप है । त्र्यवि, दित्यवाट्, पञ्चावि, त्रिवत्स, तुर्यवाट् ये अवस्था भेद से बछड़े के नाम हैं । परन्तु श्लेष से मनुष्यों की ये 'छन्दः' अर्थात् प्रवृत्ति और प्रगति भेद से १९ प्रकार किये हैं जिनको १९ पदों या अवस्थाओं में १९ प्रकार के मानवगण करते हैं यह वेद ने बतलाया । दूसरे प्रजापति आदि १९ छन्दों के मूर्धा आदि १९ नाम या स्वरूप भी समझने चाहियें । १९ प्रकार के 'वयस्' और १९ प्रकार के 'छन्द' दोनों ही प्रजापति के स्वरूप हैं । एक एक छन्द से क्रम से प्रजापति अर्थात् प्रजा के पालन करने वाला पुरुष एक २ 'वयस्' अर्थात् विशेष २ पद, बल वा अधिकार प्राप्त करता है अर्थात् विशेष २

पद को प्राप्त कर पुरुष विशेष १ कर्म करें ॥शत० ८। २। ३। १०-१४॥

इन्द्राग्नी ऽअव्यथमानामिष्टकां दृꣳहतं युवम्।
पृष्ठेन द्यावापृथिवी ऽअन्तरिक्षं च विबाधसे ॥ ११ ॥

विश्वकर्मा ऋषिः। इन्द्राग्नी देवता। भुरिगनुष्टुप्। गाधारः॥

भा०—हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि, सेनापति और राजा या राजा और पुरोहित ! (युवम्) तुम दोनों (अव्यथमानाम्) पीड़ा को प्राप्त न होती हुई (इष्टकाम्) ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली प्रजा को (दृंहतम्) दृढ़ करो। हे प्रजे! तू (पृष्ठेन) अपनी पृष्ठ से (द्यावापृथिवी) द्यौ, पृथिवी और (अन्तरिक्षं च) अन्तरिक्ष तीनों लोकों को, (विबाधसे) प्राप्त होती है। सब स्थानों के भोग्य पदार्थों को प्राप्त होती है ॥ शत ८। ३। १। ८॥

अथवा—हे इन्द्र और अग्नि के समान तेजस्वी स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों अपीड़ित, इष्ट बुद्धि को प्राप्त होकर गृहस्थाश्रम को दृढ़ करो। वह गृहस्थाश्रम के आकाश, पृथिवी, और अन्तरिक्ष, माता पिता और पति तीनों की सेवा करती है।

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीः। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। वायुष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १२ ॥

विश्वकर्मा ऋषिः। वायुर्देवता। भुरिग् विकृतिः। मध्यमः॥

भा०—हे राजशक्ते! (व्यचस्वतीम्) विविध रूपों से विस्तृत और (प्रथस्वतीम्) विस्तृत ऐश्वर्य वाली (त्वा) तुझको (विश्वकर्मा) समस्त उत्तम कार्यों के करने हारा पुरुष राजा (अन्तरिक्षस्य पृष्ठे) अन्तरिक्ष के समान

११—१ बाधृ विलोडने भ्वादिः। अथ तृतीया चितिः।

सब के बीच पूजनीय पुरुष के पृष्ठ पर अर्थात् उसके बल या आश्रय पर स्थापित करे। तू स्वयं (अन्तरिक्षम्) अपने भीतर विद्यमान पूज्य पुरुष या अन्तरिक्ष के समान प्रजा के रक्षक राजा को (यच्छ) बल प्रदान कर। (अन्तरिक्षं दृंह) उसी 'अन्तरिक्ष' नाम राजा को दृढ़कर, बढ़ा। (अन्तरिक्षं) उस अन्तरिक्ष पदपर विद्यमान सर्वरक्षक राजा को (मा हिंसीः) मत विनाश कर। (विश्वस्मै) सब के (प्राणाय) प्राण, (अपानाय) अपान, (व्यानाय) व्यान, (उदानाय) उदान (प्रतिष्ठात्रे) प्रतिष्ठा और (चरित्राय) उत्तम चरित्र या आश्रय की रक्षा के लिये (वायुः) वीर्यवान्, वायु के समान बलशाली पुरुष (मह्या स्वस्त्या) बड़े भारी कल्याणकारी सम्पत्ति या शक्ति से (शंतमेन) अति शान्तिदायक (छर्दिषा) तेज और पराक्रम से (त्वा अभि पातु) तेरी रक्षा करे। (तया देवतया) उस देवस्वरूप पुरुष के साथ तू (अङ्गिरस्वत्) अग्नि के समान तेजस्विनी होकर (ध्रुवा सीद) स्थिर होकर रह। शत० ८। ३। १। ९–१०॥

स्त्री के पक्ष में—हे स्त्री (विश्वकर्मा) तेरा पति (व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं) विविध गुणों से प्रकाशित और प्रसिद्ध कीर्ति वाली तुझको अन्तरिक्ष के पृष्ठ अर्थात् हृदय में स्थापित करे। तू उसको अपने आप को सौंप, उसको बढ़ा और उसको पीड़ा मत दे। सबके प्राण, अपान, व्यान, उदान और सच्चारित्र की रक्षा के लिये वायु के समान प्राणेश्वर पति तेरी रक्षा करे। तू उस हृदय-देवता से तेजस्विनी होकर रह॥

राज्ञ्य॑सि प्राची दिग्वि॒राड॑सि दक्षि॒णा दिक् स॒म्राड॑सि प्रतीची॒ दिक् स्व॒राड॒स्युदी॑ची दिगधि॑पत्न्यसि बृह॒ती दिक् ॥ १३ ॥

विश्वेदेवा ऋषयः। दिशो देवताः। विराट् पंक्तिः। पंचमः॥

भा०—(प्राची दिग्) प्राची पूर्वदिशा जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से देदीप्यमान होती है उसी प्रकार हे राजशक्ते! तू (राज्ञी असि) अपने तेज से प्रकाशमान राजा की शक्ति है। तू (दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा से

जिस प्रकार सूर्य के विशेप प्रखर ताप और तीव्र प्रकाश से विशेष तेजस्विनी होती है उसी प्रकार तू भी (विराड् असि) राजा के विशेष तेज से प्रकाशमान हो। (प्रतीची दिक् सम्राड् असि) पूर्व से पश्चिम को जाने वाले सूर्य से जिस प्रकार उत्तरोत्तर पश्चिम दिशा प्रकाशमान होती जाती है उसी प्रकार तू भी 'सम्राट्' सब प्रकार के ऐश्वर्यों से उत्तरोत्तर तेजस्विनी हो। (उदीची दिक् स्वराड् असि) उत्तर दिशा जिस प्रकार ध्रुवीय प्रकाश से या उत्तरायण गत सूर्य से स्वतः प्रकाशमान होती है उसी प्रकार तू राजशक्ति भी स्वराट् अर्थात् स्वयं अपने स्वरूप से तेजस्विनी हो। (बृहती दिक् अधिपत्नी असि) बृहती दिशा ऊपर की जिस प्रकार मध्याह्न काल के सूर्य से प्रकाशित और सब पर विराजमान हो उसी प्रकार राजशक्ति सब पर अधिकार करके सबकी पालन करने वाली हो शत० ८। ३। १। १४॥

स्त्री के पक्ष में—स्त्री भी विविध गुणों से विराट्, सुख में विद्यमान होने से सम्राट्, स्वयं तेजस्विनी होने से स्वराट्, गृहपत्नी होने से अधिपत्नी और रानी हो। ये पांच पदवी पांच दिशाओं के समान तुझे प्राप्त हों।

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ। वायुष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १४ ॥

विश्वेदेवा ऋषयः। वायुर्देवता। स्वराड् ब्राह्मी बृहती। मध्यमः॥

भा०—(विश्वकर्मा) प्रजापालक राजा (अन्तरिक्षस्य पृष्ठे) समस्त प्रजा के पूज्य पुरुष के आधार पर (ज्योतिष्मतीम् त्वा) ज्योतिः अर्थात् सूर्य के समान तेजस्वी पुरुषों से युक्त तुझको (सादयतु) स्थापित करे। तू (विश्वस्मै) सबको (प्राणाय अपानाय व्यानाय) शरीर में प्राण, अपान और व्यान के समान राष्ट्र के सब प्रकार के बल सम्पादन के लिये (ज्योतिः यच्छ) ज्योति को प्रदान कर। (वायुः ते अधिपतिः) शरीर

में जिस प्रकार प्राण समस्त शरीर की चेतना का स्वामी है उसी प्रकार वायु के शत्रु रूप वृक्षों को उखाड़ फेंकने में समर्थ, बलवान् पुरुष तुझ राजशक्ति का (अधिपतिः) अधिपति है । तू (तया देवतया) इस देवस्वरूप अधिपति के साथ (अंगिरस्वत्) तेजस्विनी होकर (ध्रुवा सीद) ध्रुव स्थिर होकर रह । शत० ८ । ३ । १ । ३ । ४ ॥

स्त्री के पक्ष में—विश्वकर्मा तेरा पति, जलों के ऊपर सूर्य प्रभा के समान तुझ को अपने हृदय में प्राणादि की उन्नति के लिये स्थापित करता है । तू सब को ज्योति प्रदान कर। प्राण के समान प्रिय पति तेरा अधिपति है । तू उसके संग स्थिर होकर रह ।

नभ॑श्च नभ॒स्य॑श्च॒ वार्षि॑कावृ॒तू ऽअ॒ग्नेर॑न्तःश्ले॒षो॑ऽसि॒ कल्पे॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्ता॒माप॒ ऽओष॑धयः । कल्प॑न्ताम॒ग्नय॒ः पृथ॒ङ् मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ताः । ये ऽअ॒ग्नय॒ः सम॑नसोऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी ऽइ॒मे वार्षि॑कावृ॒तू ऽअ॑भि॒कल्प॑माना॒ ऽइन्द्र॑मिव दे॒वा ऽअ॑भि॒सं॑विश॑न्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् ॥ १५ ॥

इ॒षश्चो॒र्जश्च॑ शा॒र॒दावृ॒तू ऽअ॒ग्नेर॑न्तः श्ले॒षो॑ऽसि॒ कल्पे॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्ता॒माप॒ ऽओष॑धय॒ः कल्प॑न्ताम॒ग्नय॒ः पृथ॒ङ् मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ताः । ये ऽअ॒ग्नय॒ः सम॑नसो ऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी ऽइ॒मे शा॒र॒दावृ॒तू ऽअ॑भि॒कल्प॑माना॒ ऽइन्द्र॑मिव दे॒वा ऽअ॑भि॒सं॑विश॑न्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् ॥ १६ ॥

विश्वदेवाः ऋषयः । ऋतवो देवताः । १५ स्वराड् उत्कृतिः । १६ भुरिगुत्कृतिः । षड्जः ॥

भा०—(नभः नभस्यः च) नभस् और नभस्य ये दोनों (वार्षिकौ ऋतू) वर्षा ऋतु के दो भाग हैं । (अग्नेः० सीदतम्) इत्यादि अ० १२ । २५ ॥

भा०—(इषः च ऊर्जः च शारदौ ऋतू) इष् और ऊर्ज् ये दोनों शरद् ऋतु के दो मास हैं । (अग्नेः० सीदतम् इत्यादि) देखो अ० १२ । २५ ॥ शत० ८ । ३ । २ । ५-१२ ॥

आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ ॥ १७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! प्रभो ! हे स्वामिन् ! (मे आयुः पाहि) मेरी आयु की रक्षा कर । (मे प्राणं प्राहि) मेरे प्राण का पालन कर । (मे अपानं पाहि) मेरे अपान की रक्षा कर । (मे व्यानं पाहि) मेरे व्यान की रक्षा कर । (मे चक्षुः पाहि) मेरी आंखों का पालन कर । (मे श्रोत्रं पाहि) मेरे कानों का पालन कर । (मे वाचं पिन्व) मेरी वाणी को तृप्त कर । (मे मनः जिन्व) मेरे मन को प्रसन्न कर । (मे आत्मानं पाहि) मेरे आत्मा या देह की रक्षा कर । (मे) मुझे (ज्योतिः) ज्ञान ज्योति (यच्छ) प्रदान कर ॥ शत० ८ । ३ । २ । १४ : १५ ॥

मा छन्दः प्रमा छन्दः प्रतिमा छन्दो ऽअस्त्रीवयश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्द ऽउष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः ॥ १८ ॥ पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षञ्छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक् छन्दो मनश्छन्दः । कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजा छन्दोऽश्वश्छन्दः ॥ १९ ॥

छन्दांसि देवताः १८ । भुरिगतिजगती १९-आर्जी अति जगती । निषादः ।

भा०—(मा) ज्ञान कराने वाली, यथार्थ प्रज्ञा, (प्रमा) उत्कृष्ट ज्ञान कराने वाली प्रमाणवती बुद्धि, (प्रतिमा) प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान करने वाली बुद्धि, (अस्त्रीवयः) कामना योग्य अन्न, (पंक्ति) पञ्च अवयवों से युक्त योग अथवा परिपक्क शक्ति, (उष्णिक्) उत्तम (बृहती) बड़ी शक्ति या प्रकृति, (अनुष्टुप्) अनुकूल स्तुति, (विराट्) विविध पदार्थ विज्ञान, (गायत्री) स्तुतिकर्त्ता ज्ञानी को रक्षा करने वाली शक्ति, (त्रिष्टुप्) त्रिविध सुखों का वर्णन करने वाली विद्या, (जगती) सब जगत् व्यापिनी

शक्ति में सभी (छन्दः) सुख देने वाले साधन और बल के स्थान हैं।

इसी प्रकार—(पृथिवी) पृथिवी और (द्यौः) द्यौ, आकाश (समाः) वर्ष, (नक्षत्राणि) नक्षत्र, (वाक्) वाणी, (मनः) मन, (कृषिः) कृषि (हिरण्यम्) सुवर्ण, (गौः) गौ आदि पशु, (अजा) अजा आदि पशु, (अश्वः) अश्व आदि एक खुर के पशु ये सब भी (छन्दः) शक्ति के स्थान, और कार्यों के साधन करने में सहायक, अथवा मानव प्रजा को अपने भीतर आच्छादित या सुरक्षित रखते हैं। शत० २। ३। ३। १-१२॥

अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा दे॒वता॑दि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑ दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑ ॥ २० ॥

विश्वेदेवा ऋषयः। अग्न्यादयो देवताः। भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः।

भा०—(अग्निः) अग्नि, (वातः) वात, (सूर्यः) सूर्य, (चन्द्रमा) चन्द्रमा, (वसवः) आठ वसु, (रुद्राः) ११ रुद्र, ११ प्राण, (आदित्याः) १२ आदित्य, १२ मास, (मरुतः) मरुत् गण, विद्वान्गण (विश्वेदेवाः) विश्वेदेव गण समस्त दिव्य पदार्थ, (बृहस्पतिः) बृहस्पति, ब्रह्माण्ड और वेद वाणी का पालक (इन्द्रः) इन्द्र, ईश्वर और (वरुणः) वरुण ये सब (देवता) देवता अर्थात् दिव्य शक्तियां हैं, राष्ट्र में ये ही सब अधिकारी लोग देवता अर्थात् राजशक्ति के अंश हैं। ब्रह्माण्ड में ये ही परमेश्वरी शक्ति के स्वरूप हैं॥ शत० ८। ३। ३। १-१२॥

मू॒र्धासि॒ राड् ध्रु॒वासि॑ ध॒रुणा॑ ध॒र्त्र्य॑सि॒ धर॑णी।
आयु॑षे त्वा॒ वर्च॑से त्वा कृ॒ष्यै त्वा॒ क्षेमा॑य त्वा ॥ २१ ॥

विश्वे देवा ऋषयः। विदुषी देवता। निचृद् अनुष्टुप्। ऋषभः॥

भा०—हे राजशक्ते! तू (मूर्धा राड् असि) द्यौ या सूर्य के समान सब से उच्च शिरोभाग पर स्थित है। तू 'राड्' अर्थात् सूर्य के समान ही तेजस्विनी है। (ध्रुवा धरुणा असि) ध्रुवा दिशा में पृथिवी जिस प्रकार सब का

आश्रय है उसी प्रकार तू स्थिर होकर राष्ट्र को धारण करने वाली है। (धर्त्री धरणी असि) तू समस्त प्रजा को धारण करने वाली और, धरणी, भूमि के समान सबका आधार है। इसी प्रकार घर में स्त्री सब के ऊपर सूर्यप्रभा के समान गुणों से प्रकाशित, आश्रयस्तम्भ के समान स्थिर और पृथ्वी के समान सब गृहस्थ का धारण करने वाली है, मैं (आयुषे) आयु, जीवनवृद्धि के लिये (वर्चसे) तेज की वृद्धि के लिये। (कृष्यै) खेती, अन्न आदि की उत्पत्ति के लिये और (क्षेमाय) प्रजा की वृद्धि के लिये (त्वा ४) तुझ को ही स्वीकार करता हूं ॥ शत० ८ । ३ । ४ । १-८ ॥

यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री ।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥ २२ ॥

विश्वे देवा ऋषयः । विदुषी देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे राज्यशक्ते ! तू (मन्त्री) समस्त राष्ट्र को नियम में रखने वाली, (राष्ट्र) राजवैभव से प्रकाशमान होने से, तू (यन्त्री असि) यन्त्री, नियमकारिणी शक्ति कहाती है। तू (यमनी) नियम-व्यवस्था करने वाली और (धरित्री) प्रजा को धारण करने वाली पृथ्वी के समान (ध्रुवा असि) ध्रुव, स्थिर है। (त्वा) तुझ राज-शक्ति को पृथ्वी के समान जान कर मैं (इषे) अन्न-सम्पदा की वृद्धि के लिये, (ऊर्जे) पराक्रम के लिये, (रय्यै) प्राणशक्ति या ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये और (पोषाय) पशु आदि समृद्धि के लिये या शरीरों की पुष्टि के लिये स्वीकार करता हूं शत० ८ । । ४ । १० ॥

आशुस्त्रिवृद्भान्तः पञ्चदशो व्योमा सप्तदशो धरुणऽएकविंशः प्रतूर्त्तिरष्टादशस्तपो नवदशोऽभीवर्त्तः सविंशो वर्चो द्वाविंशः सम्भरणस्त्रयोविंशो योनिश्चतुर्विंशो गर्भाः पञ्चविंशऽओजस्त्रिणवः क्रतुरेकत्रिंशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशं

शो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳशो नाकः षट्त्रिꣳशो विवर्त्तो ऽष्टाचत्वारिꣳशो धर्त्रं चतुष्टोमः ॥ २३ ॥

ऋषयो ऋषयः । यज्ञो देवता (१) भुरिग् अतिजगती । निषादः । (२) भुरिग् ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—१. (आशुः त्रिवृत्) आशु, शीघ्रकारी, वायु के समान बलवान् पुरुष वायु के समान तीनों लोकों में व्याप्त और तीनों बलों से युक्त होता है। और जिस प्रकार (त्रिवृत्) शीत, उष्ण और शीतोष्ण तीन प्रकार की ऋतुओं से युक्त संवत्सर होता है उसी प्रकार प्रजापति राजा भी शीत, उष्ण और सम इन तीन स्वभाव वाला होता है उसको 'आशु' कहते हैं। अथवा जिसके अधीन तीन शक्तियां हो, या जिसके अमात्य तीन हों वह अपने नियमों को शीघ्र कर लेने वाला होने से 'आशु' नाम प्रजापति कहाता है। वह प्राण वायु के समान त्रिवृत्-वीर्य होता है।

२. (भान्तः पञ्चदशः) १५ गुण, वीर्य या वीर सहायक पुरुषों से युक्त राजा 'भान्त' नामक है। अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा प्रतिपक्ष में बढ़ती १५ कलाओं से युक्त होता है उसी प्रकार १५ राज्यांगों से युक्त प्रजापालक राजा १५ गुणा वीर्यवान् होने से चन्द्रमा के समान 'भान्त' कहाता है।

३. (व्योमा सप्तदशः) जिस प्रकार संवत्सर में १५ मास और ५ ऋतु होने से १७ विभाग होते हैं, इसी प्रकार वह प्रजापालक राजा जो इसी प्रकार अपने राज्य के १७ विभाग बना कर रखता है वह (व्योमा) विशेष रक्षाकारिणी शक्ति से सम्पन्न होने से 'व्योम' प्रजापति कहाता है।

४. (धरुणः एकविंशः) जिस प्रकार सूर्य १२ मास, ५ ऋतु तीन लोक, इन २१ वीर्यों सहित सबका आश्रय होकर अकेला विराजता है और 'धरुण' कहाता है। उसी प्रकार जो प्रजापालक राजा अपने राष्ट्र में २१ वीर्यों या प्रबल विभागों या वीर सहायक अधिकारियों सहित

२३—चतुर्थी चितिः।

प्रजा का पालन करता, सबका आश्रय रहता है वह भी 'एकविंश धरुण' कहाता है।

५. (प्रतूर्त्तिः अष्टादशः) जिस प्रकार संवत्सर रूप प्रजापति के १२ मास, ६ ऋतु या १२ मास, ५ ऋतु और १८ वां स्वयं होकर समस्त जन्तुओं को खूब बढ़ाता है उसी प्रकार जो राजा स्वयं अपने राज्य के १८ विभाग करके प्रजाओं की वृद्धि और उनको हृष्ट पुष्ट करता है वह 'प्रतूर्त्ति' कहाता है।

६. (तपः नवदशः) जिस प्रकार १२ मास, ६ ऋतु और आप स्वयं मिलकर १९ वां होकर समस्त प्राणियों को संतप्त करने से आदित्य रूप संवत्सर 'तपः' है उसी प्रकार राजा भी १८ विभागों वा सचिवों के राज्य पर स्वयं १९ वां अधिपति होकर शासन करता हुआ शत्रुओं को संतापित करे, वह भी 'तपः' कहाता है।

७. (अभीवर्तः सविंशः) जिस प्रकार १२ मास, ७ ऋतुओं से आदित्य रूप संवत्सर समस्त प्राणियों को पुनः प्राप्त होने से 'अभीवर्त' कहोता है उसी प्रकार राज्य के १९ विभागाध्यक्षों पर स्वयं २० वां होकर शासन करने वाला प्रजापति राजा उस सूर्य के समान समस्त राष्ट्र में व्यापक प्रभाव वाला होकर 'अभीवर्त्त' पद को प्राप्त करता है।

८. (वर्चः द्वाविंशः) जिस प्रकार १२ मास, ७ ऋतु, दिन और रात्रि उनका प्रवर्त्तक स्वयं २२ वां आदित्य रूप संवत्सर वर्चस्वी होने से 'वर्चः' कहाता है, उसी प्रकार जो राजा १२ मास, ७ ऋतु, दिन और रात्रि के लक्षणों से युक्त २१ विभागाध्यक्षों पर स्वयं २२ वां होकर विराजता है वह भी वर्चस्वी होने से 'वर्चः' पद का भागी होता है।

९. (सम्भरणः त्रयोविंशः) जिस प्रकार १३ मास, ७ ऋतु, २ रात, दिन, इन २२ का विधाता स्वयं २३ वां आदित्य रूप संवत्सर समस्त प्राणियों का भरण पोषण कर्ता होने से 'सम्भरण' कहाता है उसी प्रकार

२२ विभागाध्यक्षों का प्रवर्त्तक २३ वां स्वयं समस्त प्रजाओं का भरण पोषण करने वाला राजा 'सम्भरण' पद का अधिकारी है।

१०. (योनिः चतुर्विंशः) १२ मास, २४ अर्धमासों से युक्त आदित्य-रूप संवत्सर समस्त प्राणियों का आश्रय होने से 'योनि' कहाता है उसी प्रकार २४ विभागाध्यक्षों का प्रवर्त्तक राजा भी सबका आश्रय होने से 'योनि' कहाता है।

११. (गर्भाः पञ्चविंशः) २४ अर्धमासों का प्रवर्त्तक स्वयं २५ वां आदित्य-रूप संवत्सर जिस प्रकार १३ वें मास का रूप धर कर समस्त अन्य ऋतुओं में अंशांशि भाव से प्रविष्ट होता है और गर्भ नाम से कहाता है उसी प्रकार २४ विभागाध्यक्षों का प्रवर्तक राजा पृथक् स्वरूप रह कर भी सब पर अपना वश करके 'गर्भ नाम' से कहता है।

१२. (ओजःत्रिनवः) २४ अर्धमास और २ रात्रि दिन, इन २६ सों पर स्वयं २७ वां प्रवर्तक होकर विराजने वाला आदित्य संवत्सर ओजस्वी होने से 'ओजः' कहाता है उसी प्रकार २६ अध्यक्षों का स्वयं प्रवर्त्तक २७ वां राजा ओजस्वी वज्र के समान पराक्रमी होकर 'ओजः' कहाता है।

१३. (क्रतुः एकत्रिंशः) २४ अर्धमास और ६ ऋतु सब मिलकर जिस प्रकार ३० का समष्टि विभागों-रूप संवत्सर आदित्य स्वयं सबका कर्त्ता होकर 'क्रतु' कहाता है उसी प्रकार ३० विभागों का शासक राजा राज्यकर्त्ता होने से 'क्रतु' कहाता है।

१४. (प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशः) २४ अर्धमास, ६ ऋतु, २ दिन-रात्रि, उन का प्रवर्त्तक ३३ वां स्वयं आदित्य संवत्सर सबकी प्रतिष्ठा या स्थिति का कारण होने से 'प्रतिष्ठा' कहाता है, उसी प्रकार ३२ विभागों पर स्वयं ३३ वां प्रवर्त्तक राजा सबका प्रतिष्ठापक होने से 'प्रतिष्ठा' पद को प्राप्त होता है।

१५. (ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशः) २४ अर्धमास, सात ऋतु, २ रात दिन इन का प्रवर्त्तक संवत्सर आदित्य जिस प्रकार स्वयं ३४ वां है और वह 'ब्रध्न' का विष्टप' अर्थात् सर्वाधार सूर्य का लोक या पद इस नाम से कहाता है, उसी प्रकार ३३ विभागों का प्रवर्त्तक शासक स्वयं ३४ वां होकर 'ब्रध्न का विष्टप' 'सूर्य का पद, सम्राट्' कहाता है।

१६. (नाकः षट्त्रिंशः) २४ अर्धमास, १२ मास इनका प्रवर्त्तक संवत्सर सब के दुःखों का नाशक होने से 'नाक' कहाता है इसी प्रकार ३६ विभागों का राजतन्त्र सुखप्रद होने से 'नाक' कहाता है।

१७. (विवर्त्तः अष्टाचत्वारिंशः) २६ अर्धमास और २३ मास, २ अहोरात्र, ७ ऋतु इनका प्रवर्त्तक सूर्य स्वयं इनका स्वरूप होकर 'विवर्त्त' कहाता है उसी प्रकार ४८ विभागों का प्रवर्त्तक राजा समस्त प्रजाओं को विविध मार्गों में चलाने हारा होने से 'विवर्त्त' कहाता है।

१८. (धर्त्रं चतुःस्तोमः) चारों दिशाओं में अपने बल, वेग से गमन करने वाले वायु के समान अपने संहारक पराक्रम से चारों दिशों का विजय करने में समर्थ अपनी राज्य प्रतिष्ठा करने वाला विजेता राजा 'धर्त्र' कहाता है। शत० ८।४।१।१-१८॥

वीर्यं वै स्तोमाः। ता० २।५।४। प्राणा वै स्तोमाः। शत० ८।१।३॥

इस आधार पर स्तोम त्रिवृद आदि वीर्य अर्थात् अधिकारों और उनके सञ्चालक और धारक अधिकारी अध्यक्षों का वाचक हैं।

अ॒ग्नेर्भा॒गो॒ऽसि दी॒क्षाया॒ ऽआधि॑पत्यं॒ ब्रह्म॑ स्पृ॒तं त्रि॒वृत्स्तोमः॑। इन्द्र॑स्य भा॒गो॒ऽसि विष्णो॒राधि॑पत्यं क्ष॒त्रꣳ स्पृ॒तं प॑ञ्चद॒श स्तोमः॑। नृ॒चक्ष॑सां भा॒गो॒ऽसि धा॒तुराधि॑पत्यं ज॒नित्रꣳ॑ स्पृ॒तꣳ स॑प्तद॒श स्तोमः॑। मि॒त्रस्य॑ भा॒गो॒ऽसि वरु॑णस्याधि॑पत्यं दि॒वो वृ॒ष्टिर्वात॑ स्पृ॒त ए॑कवि॒ꣳश स्तोमः॑ ॥ २४ ॥
वसू॑नां भा॒गो॒ऽसि रु॒द्राणा॒माधि॑पत्यं॒ चतु॑ष्पात् स्पृ॒तं च॑तुर्वि॒ꣳश

स्तोमः। आदित्यानां भागोसि मरुतामाधिपत्यं गर्भाः स्पृताः पञ्चविꣳशः स्तोमः। अदित्यै भागोऽसि पूष्ण आधिपत्यमोजं स्पृतं त्रिणव स्तोमः। देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेराधिपत्यꣳ समीचीर्दिशं स्पृताश्चतुष्टोम स्तोमः ॥ २५ ॥

यवानां भागोऽस्ययवानामाधिपत्यं प्रजा स्पृताश्चतुश्चत्वारिꣳश स्तोमः। ऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां देवानामाधिपत्यं भूतꣳ स्पृतं त्रयस्त्रिꣳश स्तोमः ॥ २६ ॥

(२४) लिंगोक्ता मेधाविनो देवताः। भुरिग् विकृतिः। मध्यमः। (२५) वस्वादयो लिंगोक्ताः, संकृतिः। गान्धारः। (२६) ऋभवो देवताः। भुरिग् जगती। निषादः॥

भा०—१. हे विज्ञान राशे ! (अग्नेः भागः असि) तू अग्नि, ज्ञानवान् पुरुष के सेवन करने योग्य है। तुझ पर (दीक्षायाः) दीक्षा, व्रतग्रहण और वाणी का (आधिपत्यम्) आधिपत्य, स्वामित्व है। इससे ही (ब्रह्म स्पृतम्) ब्रह्म अर्थात् वेदज्ञान सुरक्षित रहता है। (त्रिवृत् स्तोमः) उपासना, ज्ञान और कर्म ये तीन प्रकार का वीर्य प्राप्त होता है।

२- (इन्द्रस्य भागः असि) हे क्षात्रबल ! तू (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् या शत्रुओं के नाशकारी वीर पुरुष का (भागः असि) सेवन करने योग्य अंश है। उस पर (विष्णोः आधिपत्यम्) व्यापक या विस्तृत सामर्थ्यवान् पुरुष का आधिपत्य या स्वामित्व है। उसके अधीन (क्षत्रं स्पृतम्) क्षात्र-बल की रक्षा होती है। (पञ्चदशः स्तोमः) उसका अधिकारी बल चन्द्र के समान १५ तिथियों या कलाओं से युक्त है। या उसका पद १२ मास ३ ऋतु वाले आदित्य संवत्सर के समान है।

३. (नृचक्षसां भागः असि) हे राष्ट्र में बसे प्रजाजन ! तुम लोग (नृचक्षसां भागः असि) प्रजाओं के कार्यों के निरीक्षक अधिकारी पुरुषों के भाग हो। तुम पर (धातुः) प्रजा का पालन करने और ऐश्वर्य या

पौष्टिक अन्नादि पदार्थों से पुष्ट करने हारे 'धाता' नामक अधिकारी का (आधिपत्यम्) स्वामित्व है। (जनित्रम् स्पृतम्) इस प्रकार प्रजाओं की उत्पत्ति और उनके जीवन की रक्षा होती है। (सप्तदश स्तोमः) इस अधिकारी के अधीन १७ अन्य अधिकारी जन हो।

४. (मित्रस्य भागः असि) मित्र, सर्व प्रजा के प्रति स्नेही निष्पक्षपात, न्यायकारी, सूर्य के समान तेजस्वी, पुरुष का यह भाग है। इस पर (वरुणस्य आधिपत्यम्) वरुण, दुष्टों को वारण करने वाले, दमनकर्त्ता अधिकारी का अधिकार है। (दिवः वृष्टिः) आकाश से जैसे जलवृष्टि सब को समान रूप से प्राप्त होती है और (वातः) वायु जिस प्रकार सब को समान रूप से प्राप्त है उसी प्रकार सर्व साधरण के अन्न, जल, वायु के समान जन्मसिद्ध अधिकार भी (स्पृतः) सुरक्षित हों। (एकविंशः स्तोमः) उसमें २१ अधिकारीगण हों ॥ २४ ॥

५. (वसूनां भागः असि) हे पशु सम्पत्ते ! तू राष्ट्र में बसने वालों का सेवन करने योग्य पदार्थ है। तुझ पर (रुद्राणाम् आधिपत्यम्) तेरे रोधन करने वाले, रुद्र, गोपालक लोगों का स्वामित्व है। इस प्रकार(चतुष्पात् स्पृतम्) चौपायों की रक्षा हो। (चतुर्विंशः स्तोमः) इसमें २४ अधिकारीगण नियुक्त हों।

६ (आदित्यानां भागः असि) हे गर्भगत जीवो ! तुम आदित्यों या तेजस्वी पुरुषों के भाग हों। तुम पर (मरुताम् आधिपत्यम्) शरीरवर्त्ती प्राणों का स्वामित्व है। इस प्रकार प्रजाओं के गर्भ सुरक्षित होते हैं। (पञ्चविंशः स्तोमः) उसमें २५ अधिकारीगण हैं।

७. हे ओजः ! (आदित्यै भागः असि) तू अखण्ड राजशक्ति का भाग है। तुझ पर (पूष्णः आधिपत्यम्) राष्ट्र को पुष्ट करने वाले पुरुष का स्वामित्व है। इस पर राष्ट्र का (ओजः स्पृतम्)ओज, तेज सुरक्षित हो। (त्रि-नवः स्तोमः) इसमें २७ अधिकारी गण हैं।

८. (देवस्य सवितुः भागः असि) हे समस्त दिशाओं के सर्व प्रेरक देव! तू राजा का भाग हो। तुझ पर (बृहस्पतेः आधिपत्यम्) तुझ पर महान् राष्ट्र के पालक का स्वामित्व है । इस प्रकार (समीचीः दिशः) समान रूप से फैली दिशाएं (स्पृताः) सुरक्षित होती हैं। (चतुस्तोमः स्तोमः) इसमें ४ मुख्य अधिकारी होते हैं ॥ २५ ॥

९. हे प्रजाजनो ! तुम (यवानां भागः असि) पूर्व पक्ष के लोगों या शत्रुनाशक वीर भटों के भाग अर्थात् सेवन करने योग्य हो और तुम पर (अयवानाम्) सौम्य अधिकारी जो सेना में शत्रु का नाश न कर शान्ति से शासन करते हैं उनका (आधिपत्यम्) स्वामित्व है। इसमें (चतुश्चत्वारिंशः स्तोमः) ४४ अधिकारी जन होते हैं।

१०. (ऋभूणां भागः असि) हे पञ्च भूतगण तुम सत्य से शोभा देने वा न्यायकारी पुरुषों का भाग हो। उनपर (विश्वेषां देवानाम्) समस्त विद्वानों का (आधिपत्यम्) स्वामित्व है। (भूतम् स्पृतम्) यथार्थ सत्य पदार्थ की रक्षा होती है। अथवा (ऋभूणां) तुम शिल्पि जनों का भाग हो। (विश्वेषां देवानाम् आधिपत्यम्) समस्त विजयी पुरुषों का उनपर स्वामित्व हो। (भूतम्) इससे समस्त उत्पादक शिल्प की रक्षा होती है। (त्रयस्त्रिंशः स्तोमः) उसमें ३३ अधिकारीगण हैं ॥ ८॥ । ४ । २ । १-४ ॥

सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। [२] ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे। हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ २७ ॥

ऋभवो देवताः। (१) भुरिगातिजगती। निषादः। (२) भुरिग्ब्राह्मीबृहती। मध्यमः॥

भा०—(सहः सहस्यः च) सहस् और सहस्य ये दोनों (हेमन्तिका

ऋतू) हेमन्त ऋतु के दो भाग हैं। (अग्नेः अन्तः सीदतम्०) इत्यादि व्याख्या देखो १२। २५॥ शत० ८। ४। १। १४॥

एकयास्तुवत प्रजा ऽअधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत्। तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत्। पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत्। सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत्॥ २८॥

[1]नवभिरास्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत्। एकादशभिरस्तुवत ऽऋतवोऽसृज्यन्तार्तवाऽअधिपतय ऽआसन्। [2]त्रयोदशभिरस्तुवत मासा ऽअसृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत्। पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्। सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत्॥ २९॥

[1] नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे ऽअधिपत्नी ऽआस्ताम्। एकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत्। त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत्। [2] पञ्चविंशत्यास्तुवतारण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत्। सप्तविंशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा ऽआदित्या ऽअनुव्यायँस्त ऽएवाधिपतय ऽआसन्॥ ३०॥

नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत्। एकत्रिंशतास्तुवत प्रजा ऽअसृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय ऽआसन्। त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्॥ ३१॥

ईश्वरो देवता। (२८) निचृद्विकृतिः। मध्यमः। (२९) ईश्वरो देवता १—आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः। २—ब्राह्मी जगती। निषादः॥ (३०)

जगदीश्वरो देवता १—स्वराड् ब्राह्मी जगती । निषादः । (२)निचृद् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥ (३१) प्रजापति र्देवता । स्वराड् ब्राह्मी जगती । निषादः ॥

भा०—१. (एकया अस्तुवत) विद्वान् लोग उस प्रजापति परमेश्वर की एक वाणी द्वारा गुण स्तुति करते हैं । उसी परमेश्वर ने (प्रजाः अधि इयन्त) प्रजाओं को उत्पन्न किया और (प्रजापतिः अधिपतिः आसीत्) प्रजापति ही सदा से सबका स्वामी रहा ।

२ (तिसृभिः) शरीर में प्राण, उदान, और व्यान ये तीन प्रकार की प्राणशक्तियां विद्यमान हैं । इन तीनों महान् समष्टि शक्तियों से ही (ब्रह्म असृज्यत) यह ब्रह्माण्ड बनाया गया है । उन तीनों के द्वारा ही उस परमेश्वर की हम (अस्तुवत) स्तुति करते हैं। उस ब्राह्माण्ड हिरण्यगर्भ का (ब्रह्मणस्पतिः अधिपतिः आसीत्) ब्रह्मणस्पति (ब्रह्माण्ड का स्वामी या ब्रह्म अर्थात् वेद का स्वामी परमेश्वर ही अधिपति है ।

३ (पञ्चभिः) शरीर में जिस प्रकार पांच मुख्य प्राण हैं । उन पांच के बल से यह देह चल रहा है । उसी प्रकार इस जगत् में उसी प्रकार की पांच महान् शक्तियों के द्वारा (पञ्च भूतानि असृज्यन्त) पांच भूत पृथ्वी, वायु, जल, तेज, आकाश को बनाया । उन शक्तियों के द्वारा ही (अस्तुवत) विद्वान् पुरुष उस परमेश्वर और उसकी शक्तियों का वर्णन करते हैं कि वह (भूतानां पतिः) इन पांचों महाभूतोः का स्वामी (अधिपतिआसीत्) सबका स्वामी है ।

४. (सप्तभिः) देह में २ श्रोत्र, २ चक्षु, २ नासा और १ वाणी इन सात शिरोगत प्राणों या मांस आदि सात धातुओं से यह देह स्थिर है । उसी प्रकार विश्व में (सप्त ऋषयः) सात महान् द्रष्टा या प्रवर्त्तक ऋषि, ५ सूक्ष्म मात्राएं और महत् तत्व और अहंकार भी (असृज्यन्त) बनाए गये हैं । विद्वान् पुरुष इस परमेश्वर की उन (सप्तभिः) सातों प्रकट महाशक्तियों द्वारा

(अस्तुवत) स्तुति करते हैं। उन सबका भी वह (धाता अधिपतिः आसीत्) विधाता सर्वस्रष्टा ही अधिपति है ॥ २८ ॥

५. (नवभिः) शरीर में नव प्राण हैं पूर्वोक्त सात शिरोगत और दो नीचे के भाग में मूलेन्द्रिय और गुदा। ये शरीर को धारण करते हैं उसी प्रकार (पितरः) विश्व में अग्नि आदि ९ पालक शक्तियां 'पितृ' रूप से प्रकट होती हैं। विद्वान् लोग (नवभिः अस्तुवत) उन नौ शक्तियों के द्वारा उस प्रभु की स्तुति करते हैं। उन नवों पर। अदितिः अधिपत्नी आसीत्) उस परमेश्वर की अखण्ड शक्ति रूप से पालक है।

६ (एकादशभिः) शरीर में १० प्राण, ५ कर्मेन्द्रिय और ६ ज्ञाने- न्द्रियें और ११ वां आत्मा है। विश्व में भी (ऋतवः असृज्यन्त) ११ ऋतु अर्थात् प्राण रचे गये हैं। विद्वान् लोग उन (एकादशभिः अस्तुवत) ११मुख्य प्राणों के द्वारा ही इस प्रकार इस परमेश्वर या विधाता की स्तुति करते हैं। उनके (आर्तवाः) ऋतुओं के भीतर विद्यमान विशेष दिव्य शक्तियां ही (अधिपतयः) पालक (आसन्) हैं।

७. (त्रयोदशभिः) शरीर में जैसे दश प्राण, दो चरण और एक आत्मा ये १३ प्रधान बल हैं उसी प्रकार विश्व में (मासाः असृज्य- न्त) एक संवत्सर रूप प्रजापति के १३ मास अंग रूप से बने हैं। उन मासों का (अधिपतिः संवत्सरः आसीत्) अधिपति जिस प्रकार 'संवत्सर' है, उसी प्रकार उक्त १३ हों का अध्यक्ष परमेश्वर 'संवत्सर' नाम से कहाने योग्य है। उसकी १३ अंगों द्वारा (अस्तुवत) विद्वान् लोग स्तुति करते हैं।

८. (पञ्चदशभिः) इस शरीर में जिस प्रकार दश हाथ की अंगुलियां, दो बाहुएं और टांगे और १५ वां नाभि से ऊपर का शरीर भाग है। उसी प्रकार विश्व-ब्रह्माण्ड में १५ महती शक्तियां विश्व की ३ प्रकार से रक्षा करती हैं, जैसे हाथ शरीर की। विश्व की रक्षा के लिये ही (क्षत्रम् असृज्यत) क्षत्र, शत्रु को खदेड़ने वाला और प्रजा को शत्रु द्वारा पहुंचने

वाली क्षति से बचाने वाला बल बना है। उक्त १५ हों शक्तियों से विद्वान् उस विधाता प्रजापति की (अस्तुवत) स्तुति करते हैं अर्थात् उसके बनाये शरीर को देख कर उसके भीतर विद्यमान बलवान् हाथों की अंगुलियों की रचना को देख कर स्वयं भी उसके अनुकरण में समाज में प्रजा के रक्षक अनेक भागों में विभक्त ऐसे क्षत्रिय-बल की रचना में उसके भी अंग-प्रत्यंग रहें।

९. (सप्तदशभिः अस्तुवत) शरीर में जिस प्रकार १० हाथ की अंगुलियां, दो टांगें, दो गोड़े, दो पैर और नाभि का अधोभाग ये १७ अंग हैं उसी प्रकार (इन्द्रः अधिपतिः आसीत्) उनका अधिपति 'इन्द्र' है। विश्व के समस्त जीव सर्ग में सर्वत्र ये शक्तियां विद्यमान हैं और विश्व के जीव सर्ग को चला रही हैं। विद्वान्गण उन द्वारा परमेश्वर विधाता की ही स्तुति करते हैं। उन शक्तियों से ही (ग्राम्याः) ग्रामवासी नाना (पशवः) पशु गण (असृज्यन्त) पैदा किये गये हैं। उन सब का (बृहस्पतिः) महान् विश्व और महती ज्ञानमयी वेदवाणी का स्वामी परमेश्वर ही (अधिपतिः) मालिक है।

१०. (नव दशभिः अस्तुवत) दश हाथों की अंगुलियां और शरीर गत ९ प्राण ये १९ जिस प्रकार शरीर की रक्षा करते हैं और उसको चेतन बनाये रखते हैं उसी प्रकार १९ धारक और पालक बल विश्व को थामे हैं, उन १९ शक्तियों के वर्णन द्वारा उसी परमेश्वर की रचना-कौशल की विद्वान् गण स्तुति करते हैं, उन १९ अभ्यन्तर और बाह्य अंगों के समान ही (शूद्रार्यौ असृज्येताम्) शूद्र और आर्य, श्रमजीवी और स्वामी लोगों के परस्पर संघों की रचना हुई है। शूद्र बाहर के हाथों की अंगुलियों के समान और आर्य या श्रेष्ठ स्वामी गण समाज के भीतरी प्राणों के समान रहते हैं। उनके (अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्) दिन, रात ये दो ही अधिपति या पालक हैं अर्थात् दिन, प्रकाशमान और रात्रि

अन्धकारमय है। इसी प्रकार शूद्र कर्मकर, ज्ञान रहित और आर्य ज्ञानवान् हैं। अहोरात्र का सम्मिलित स्वरूप दोनों प्रकार का ज्ञानमय और कर्ममय प्रजापति ही शूद्र और आर्य दोनों का पालक है।

११. (एकविंशत्या अस्तुवत) १० हाथ की और १० पैर की अंगुलियां हैं और आत्मा २१ वां हैं। उसी प्रकार विश्व में उत्तर और अधर लोकों की १०, १० कार्यकारिणी और पालनकारिणी शक्तियां काम कर रहीं है। उनको देखकर उन द्वारा भी विद्वान्‌जन प्रजापति की स्तुति करते और उसके अनुकूल (एकशफाः पशवः असृज्यन्त) एक खुर वाले पशुओं की रचना हुई। अर्थात् हाथ की दशों अंगुलियों के समान १० दिशागामी १० दिशाओं में दश सेनाएं और उनके सहायतार्थ घोड़े, खच्चर आदि उपयोगी पशु पैदा किये जाते हैं। उनका (अधिपतिः वरुणः आसीत्) अधिपति 'वरुण' और सर्वश्रेष्ठ सब शत्रुओं को वारक सेनापति पुरुष है।

१२. (त्रयोविंशत्या अस्तुवत) १० हाथ की ओर १० पैर की अंगुलियां, दो पैर और २३ वां आत्मा देह में विद्यमान है। उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में २३ महान् शक्तियां कार्य कर रही हैं। उन २३ स्वरूपों से ही विद्वान् गण परमेश्वर की स्तुति करते हैं। (क्षुद्राः पशवः असृज्यन्त) उक्त अंगों की शक्तियों द्वारा क्षुद्र पशुओं की रचना हुई है। उन सब का (पूषा अधिपतिः) अधिपति, पूषा अर्थात् अन्नमय अन्नदात्री पृथिवी ही है।

१३. (पञ्चविंशत्या अस्तुवत) हाथों, पैरों की दश दश अंगुलियां, दो बाहु, दो पैर और २५ वां आत्मा ये देह के घटक हैं। इसी प्रकार सृष्टि रचना के भी घटक ये पदार्थ हैं, उनके द्वारा विद्वान् विधाता की स्तुति करते हैं। उनके घटक अवयवों से ही (आरण्याः पशवः असृज्यन्त) जंगली पशु रचे गये हैं। (वायुः अधिपतिः आसीत्) तीव्र गतिशील वायु के समान, वेगवान् पालक ही उनका अधिपति है।

१४. (सप्तविंशत्या अस्तुवत) हाथों पैरों की दस २ अंगुलियां, १ बाहु और २ टांगे, दो चरण एक आत्मा ये सत्ताईस शरीर के घटक हैं। इन सत्ताईस घटक अंगों के सञ्चालक महती शक्तियों के द्वारा ही विद्वान् पुरुष विधाता की स्तुति करते हैं। उनके द्वारा ही (द्यावापृथिवी व्यैताम्) द्यौ और पृथिवी दोनों व्याप्त होते हैं और उनमें ही (वसवः) आठ वसु, (रुद्राः) ११ प्राण और (आदित्याः) १२ मास (अनु-वि-आयन्) उनके भीतर व्याप्त हैं। (ते एव) वे ही उन दोनों आकाश और पृथिवी के (अधिपतयः आसन्) अधिपति या पालक हैं।

१५ (नवविंशत्या अस्तुवत) देह में हाथों पैरों की दस २ अंगुलियां, ९ प्राण हैं उसी प्रकार २९ घटक शक्तियां विश्व को रच रही हैं। उन द्वारा विद्वान् जन विधाता प्रजापति की स्तुति करते हैं। (वनस्पतयः असृज्यन्त) उन घटक शक्तियों से ही वनस्पतियों का बनाया गया है। उनका (सोमः अधिपतिः आसीत्) सोम अधिपति है।

१६. (एकत्रिंशता अस्तुवत) हाथों पैरों की दस २ अंगुलियां, १० प्राण और ३१ वां आत्मा उन घटकों से समस्त शरीर बने हैं। उन शक्तियों द्वारा ही विद्वान् जन विधाता के कौशल का वर्णन करते हैं। इनसे ही (प्रजाः असृज्यन्त) समस्त प्रजा सृजी गयी है। उनके (यवाः च अयवाः च (अधिपतयः आसन्) उनके पूर्व पक्ष और अपर पक्ष अथवा मिथुन भूत जोड़े, अमैथुनी अथवा जन्तु शरीरों में होने वाले ऋतु धर्म सम्बन्धी पूर्वोत्तर पक्ष या (यवाः) पुरुष और (अयवाः) स्त्रियें ही उनके अधिपति हैं।

१७. (त्रयः त्रिंशता अस्तुवन्) हाथों पैरों की दस २ अंगुलियां, दश प्राण, २ चरण और ३३ वां आत्मा ये सब पूर्ण शरीर के मुख्य मुख्य घटक हैं, और उस प्रकार ३३ ही ब्रह्माण्ड के भी घटक हैं, उनके द्वारा ही परम विधाता की विद्वान् स्तुति करते हैं। उनसे ही (भूतानि) समस्त

प्राणी गण (अशाम्यन्) सुखी होते हैं। उन सबका (परमेष्ठी प्रजापतिः अधिपतिः आसीत्) परमेष्ठी सर्वोच्च पद पर प्रजापति परमात्मा ही सबका अधिपति है। ८। ४। ३। १—१९॥

राष्ट्र पक्ष में—१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७, १९, २१, २३, २५, २७, २९, ३१, और ३३ इन भिन्न २ घटक अङ्गों से बने राज्यों एवं राज्य के अंगों को परमेश्वर के बनाये देह के मुख्यांगों की रचना के अनुसार बनाना चाहिये और उनके अधिपति भी भिन्न २ योग्यता के पुरुषों को रखना चाहिये। और विद्वान् लोग उनके घटक अवयवों का ही उत्तम रीति से (अस्तुवत) उपदेश करें और तदनुसार राज्यों की कल्पना करें। उन राष्ट्र के भिन्न २ भागों में प्रजापति ब्रह्मणस्पति, धाता, अदिति, आर्तव आदि नामधारी मुख्य पदाधिकारियों को नियत करें।

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥

अथ पंचदशोऽध्यायः

१—६८ आध्याय परिसमाप्तः परमेष्ठी ऋषिः ॥

॥ओ३म्॥ अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान्नुद जातवेदः
अधि नो ब्रूहि सुमनाऽअहेडँस्तव स्याम शर्मँस्त्रिवरूथ ऽउद्भौ॥१॥

परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी सेनापते ! राजन् ! तू ! (नः) हमारे (जातान् सपत्नान्) प्रकट हुए शत्रुओं को (प्र नुद) दूर भगा। और हे (जातवेदः) ऐश्वर्यवान् और शक्तिशालिन् ! तू (अजातान् सपत्नान्) अभी तक न प्रकट हुए शत्रुओं को भी (प्रति नुद) मुकाबला करके परास्त कर। और (नः) हमारा (अहेडन्) अनादर न करता हुआ (सुमनाः) उत्तम शुभ प्रसन्न चित्त होकर (नः अधि ब्रूहि) हमें अधिष्ठाता होकर आज्ञा कर, सन्मार्ग का उपदेश कर। हम (तव) तेरे (त्रिवरूथे) त्रिविध तापों का वारण करने वाले (उद्भौ) उत्तम सुखों के उत्पादक वा उच्च (शर्मन्) गृह में या आश्रय में (स्याम) रहें।

सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयँस्याम प्रणुदा नः सपत्नान् ॥२॥

अग्निर्ऋषिः। भुरिक् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (जातवेदः) बल और ऐश्वर्य और प्रजा से सम्पन्न राजन्! सेनापते ! तू (जातान् सपत्नान्) उत्पन्न हुए विरोधी शत्रुओं को (सहसा) पराजय करने में समर्थ बल से (प्र नुद) परे मार भगा। और (अजातान्

१—अथ पञ्चमी चितिः परमेष्ठिनः।

प्रति नुदस्व) अप्रकट शत्रुओं को भी परास्त कर। (सुमनस्यमानः) शुभ चित्त वाला, उत्तम मन वाला होकर (नः अधि ब्रूहि) हमें उपदेश कर। जिससे (वयम्) हम लोग तेरे सहायक (स्याम) हों। तू (नः सपत्नान् प्रनुद) हमारे शत्रुओं को दूर भगा।

षो॒ड॒शी स्तोम॒ ओजो॒ द्रवि॑णं चतु॒श्च॒त्वा॒रि॒ꣳश स्तोमो॒ वर्चो॒ द्रवि॑णम् अ॒ग्नेः पुरी॑षम॒स्यप्सो॒ नाम॒ तां त्वा॒ विश्वे॑ अ॒भि गृ॑णन्तु दे॒वाः। स्तोम॑पृष्ठा घृ॒तव॑ती॒ह सी॑द प्र॒जाव॑द॒स्मे द्रवि॒णाय॑जस्व ॥ ३ ॥

दम्पती देवते। ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः।

भा०—(षोडषी स्तोमः) षोडषी स्तोम अर्थात् १६ कलाओं या वीर्य, बल या अधिकारों से युक्त 'स्तोम' पद (ओजः द्रविणम्) पराक्रम और धनैश्वर्य प्रदान करता है। हे राष्ट्रशक्ते! वह तेरा एक स्वरूप है। दूसरा (चत्वारिंशः स्तोमः) ४४ वीर्यों या अधिकारों या अधिकारियों से युक्त स्तोम पद भी (वर्चः) तेज और (द्रविणम्) ऐश्वर्य प्रदान करता है वह तेरा दूसरा स्वरूप है। हे राज्यशक्ते! तू (अग्नेः) अग्रणी शत्रु-संतापक राजा के बल को (पुरीषम्) पूर्ण करने वाला समृद्ध ऐश्वर्य है। तेरा (नाम) स्वरूप (अप्सः) 'अप्सः' है अर्थात् तेरे भीतर रहकर एक आदमी दूसरे के जान माल और अधिकार को नहीं खाता है। (त्वा) तेरी ही (विश्वेदेवाः) समस्त विद्वान् (अभि गृणन्तु) स्तुति करें। हे पृथिवि! तू (स्तोमपृष्ठा) समस्त अधिकारों, बलों और वीर्यवान् पुरुषों का आश्रय होकर (घृतवती) तेजस्विनी होकर (इह सीद) इस जगत् में विराज, स्थिर हो। (अस्मे) हमें (प्रजावद् द्रविणा) प्रजाओं से युक्त ऐश्वर्यों का (यजस्व) प्रदान कर।

एव॒श्छन्दो॒ वरि॑व॒श्छन्दः॑ श॒म्भूश्छन्दः॑ परि॒भूश्छन्द॑ऽआ॒च्छच्छन्दो॒ मन॒श्छन्दो॒ व्यच॒श्छन्दः॒ सिन्धु॒श्छन्दः॑ समु॒द्रश्छन्दः॑ सरि॒रं छन्दः॑ क॒कुप् छन्द॑स्त्रिक॒कुप्छन्दः॑ का॒व्यं छन्दो॑ऽअङ्कु॒पं छन्दो॒ऽक्षरप-

ङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरोभ्रज-श्छन्दः ॥ ४ ॥

आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दस्संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो-रथन्तरञ्छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः सꣳस्तुप् छन्दोऽनुष्टुप् छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो-वयस्कृतश्छन्दो विष्पर्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरो-हणं छन्दस्तन्द्रञ्छन्दोऽअङ्काङ्कं छन्दः ॥ ५ ॥

(४, ५) विद्वांसो देवताः । स्वराड्आकृतिः । पञ्चमः ॥

निचृद् अभिकृतिः । ऋषभः ॥

भा०—१. (एवः) सब प्राणियों को प्राप्ति स्थान, भूलोक, सब से ज्ञान द्वारा गम्य प्रभु (छन्दः) सबका आच्छादक या रक्षक है।

२. (वरिवः) सबको आवरण करने वाला अन्तरिक्ष 'वरिवस्' है। वह छन्द, सुखकारी हो।

३. (शंभूः) शान्ति का उत्पत्ति स्थान, परमेश्वर, द्यौः के समान शान्ति-कारक जलादि पदार्थों का दाता और स्वयं द्यौलोक (छन्दः) सुखप्रद हो।

४ (परिभूः छन्दः) सर्वत्र सामर्थ्यवान् दिशा के समान व्यापक, परमेश्वर (छन्दः) सुखप्रद हो।

५. (आच्छत् छन्दः) समस्त शरीरों को आच्छादन करने वाला प्राण के समान जीवनप्रद और वायु के समान सर्व दोषों का वारक प्रभु हमें सुख प्रदान करे।

६. (मनः छन्दः) 'मन', ज्ञानमय मन के समान या सत्यसंकल्प-मय परमेश्वर हमें सुख प्रदान करे।

७. (व्यचः छन्दः) सब जगत् को व्याप्त करने वाले, आदित्य के समान तेजस्वी प्रभु हमारी रक्षा करे।

(४, ५ एवश्चत्वारिंशद् यजूंषि ।

८. (सिन्धुः छन्दः) नदी के समान आनन्द-रस बहाने वाला, प्राण वायु के समान 'सिन्धु' रूप परमेश्वर हमें सुख दे ।

९. (समुद्रः छन्दः) नाना संकल्प-विकल्प को उत्पन्न करने वाला, नाना आशाओं का आश्रय, समुद्र के समान गम्भीर, अथाह परमेश्वर हमारी रक्षा करे ।

१०. (सरिरं छन्दः) स्रोत से निकलने वाले जल के समान हृदय या मुख से निकलने वाली वाणी रूप परमेश्वर हमारी रक्षा करे ।

११. (ककुप् छन्दः) सुख का एकमात्र धारण करने वाला सुख स्वरूप, सबका प्राणरूप परमेश्वर सुख प्रदान करे ।

१२. (त्रि-ककुप् छन्दः) तीनों प्रकार के सुखों का दाता, उदान के समान प्रभु हमें सुख दे ।

१३. (काव्यम् छन्दः) परम प्रभु रूप कवि का बनाया वेद-त्रय-रूप ज्ञानमय काव्य हमें सुख दे ।

१४. (अङ्कुपं छन्दः) कुटिल मार्गों से जाने वाले जल के समान विषम स्थानों में भी जाकर पालन करने में समर्थ प्रभु हमें सुख प्रदान करे ।

१५. (अक्षरपंक्तिः छन्दः) स्थिर नक्षत्र पंक्तियों के समान अविनाशी गुणों से संसार को परिपाक करने में समर्थ प्रभु हमें सुख दे ।

१६. (पदपंक्तिः छन्दः) चरणों के समान समस्त वाक्-पदों या ज्ञानोवलियों का आश्रय प्रभु हमें सुख दे ।

१७. (विष्टारपंक्तिः छन्दः) विस्तृत पदार्थों को धारण करने वाली दिशाओं के समान अनन्त प्रभु हमें सुख दे ।

१८. (क्षुरोभ्रजः छन्दः) छुरे के समान अज्ञान-वासनाओं का छेदक और सूर्य के समान अन्धकार में ज्योतिः-प्रकाशक प्रदीप्त तेजस्वी (छन्दः) प्रभु हमें सुख दे ।

१९. (आच्छत् छन्दः) शरीर के समस्त अंगों को प्राण शक्ति से सुरक्षित करने वाले अन्न के समान, ब्रह्माण्ड के अंग प्रत्यंग में व्याप्त प्रभु हमारी रक्षा करे।

२०. (प्रच्छत् छन्दः) उत्कृष्ट रीति से शरीर की रक्षा करने वाले अन्न के समान प्रभु हमें सुख दे।

२१. (संयत् छन्दः) समस्त कार्य-व्यवहारों से संयमन करने वाली रात्रि के समान समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य व्यवहारों को संयमन करने वाला प्रभु या राज्यव्यवस्था (छन्दः) हमारी रक्षा करे।

२२. (वियत् छन्दः) विविध कार्य-व्यवहारों को नियमित करने वाला, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर हमें सुख दे।

२३. (बृहत् छन्दः) बृहत्, महान् द्यौलोक के समान विशाल प्रभु हमें सुख दे।

२४. (रथन्तरं छन्दः) रथों से गमन करने योग्य इस भूमण्डल के समान रथों, रमण योग्य रसों में सब से श्रेष्ठ परमेश्वर हमें सुख दे।

२५. (निकायः छन्दः) नित्य ज्ञानोपदेश करने वाले गुरु के समान या वाद्यों में शब्द करने वाले वायु के समान सर्वत्र ध्वनिजनक या ज्ञानोपदेशप्रद प्रभु हमें सुख दे।

२६. (विवधः छन्दः) विविध रूपों से बांधने या दण्ड देने वाले अन्तरिक्ष के समान विविध कर्मफलों द्वारा जीवों को बांधने वाला प्रभु हमें सुख दे।

२७. (गिरः छन्दः) निगलने योग्य, जन्न के समान सुखकारी परम आस्वाद्य प्रभु हमें सुख शरण दे।

२८. (भ्रजः छन्दः) अग्नि के समान देदीप्यमान प्रभु हमें सुख दे।

२९. (संस्तुप् छन्दः) उत्तम रीति से शब्द और अर्थों को प्रकट करने वाली वाणी के समान सकल पदार्थों का प्रकाशक प्रभु हमें सुख दे।

३०. (अनुष्टुप् छन्दः) श्रवण करने के बाद अर्थ का प्रकाशन करने वाली वाणी के समान जगत् को रचकर अपने वेद-विज्ञान को दर्शाने वाला प्रभु हमें सुख दे।

३१. (एवः छन्दः) समस्त सुख प्राप्त कराने वाले और ज्ञान प्रापक साधन के समान प्रभु हमें सुख दे।

३२. (वरिवः छन्दः) और देवोपासना द्वारा परिचर्या योग्य प्रभु हमें सुख दे।

३३. (वयः छन्दः) जीवनों का अन्न के समान मूल कारण प्रभु हमें सुख दे।

३४. (वयस्कृत् छन्दः) जठराग्नि के समान सब प्राणियों को दीर्घायु करने वाला प्रभु हमें सुख दे।

३५ (विष्पर्धाः छन्दः) विविध प्रजाओं में स्पर्धापूर्वक ग्रहण करने योग्य परम लोक रूप प्रभु हमें सुख दे।

३६. (विशालं छन्दः) विविध पदार्थों से शोभा देने वाली भूमि के समान विविध गुणों से सुन्दर प्रभु हमें सुख दे।

३७ (छदिः छन्दः) भूतल को आच्छादित करने वाले अन्तरिक्ष के समान सब पर करुणा रूप छाया करने वाला प्रभु हमें सुख दे।

३ . (दूरोहणं छन्दः) बड़े कष्टों और तपस्याओं से प्राप्त होने योग्य सूर्य के समान तेजोमय मोक्ष रूप प्रभु हमें सुख दे।

३९. (तन्द्रं छन्दः) कुटुम्ब भरण करने वाले परिपक्व वीर्यवान् युवा पुरुष के समान समस्त जीवलोक का भरण पोषण करने हारा प्रभु हमें सुख दे।

४०. (अङ्काङ्कं छन्दः) अङ्क अङ्क द्वारा प्रकट हुई विस्तृत गणित विद्या के समान सत्य नियमों का व्यवस्थापक प्रभु हमें सुख दे। यह परमात्मा पक्ष में नियोजना है।

राष्ट्र पक्ष में—(छन्दः) राष्ट्र के भिन्न भिन्न विभागों और कार्यों द्वारा राष्ट्र के धन, प्रजा और अधिकारों की रक्षा करने वाला बल, प्रयोग, कार्य व्यवहार, व्यापार और शिल्प छन्द हैं जो प्रजा के सुख का साधन हो और मनुष्यों की प्रवृत्ति उसमें हो सके, इस प्रकार निम्नलिखित कार्य-विभाग राष्ट्र में होने आवश्यक हैं।

१. (एवः) ज्ञान, प्रजाओं का शिक्षण अथवा पृथिवी में गमनागमन के साधन रथादि। २. (वरिवः) गुरु, देव, पितृजन आदि की सेवा ३. (शंभूः) प्रजाओं को शान्ति सुख देने के उपाय, औषधालय, उद्यान, तड़ाग आदि निर्माण। ४. (परिभूः) चारों ओर से प्रजा की परकोट आदि से रक्षा। ५. (आच्छत्) आच्छादन योग्य वस्त्र। ६. (मनः) मनन, शास्त्रमनन, उत्तम शास्त्रचिन्तन। ७. (व्यचः) सूर्य के समान राजा की कीर्त्ति और राष्ट्र का प्रसार अथवा विविध शिल्प। ८. (सिन्धुः) नदियों, नहरों का निर्माण, निरोध एवं उन द्वारा गमन-आगमन। ९. (समुद्र) समुद्र से व्यापार और मुक्ता रत्न आदि की प्राप्ति। १०. (सरिरं) सलिल, जल। ११. (ककुप्) प्रजा के सुखवर्धक उपाय। १२. (त्रिककुप्) त्रिविध सुखों का सम्पादन। १३ (काव्यम्) कवियों की कृति काव्य, सुन्दर वाग्विलास, साहित्य। १४. (अङ्कुपं) प्रजा की कुटिल कूट नीतियों, व्यवहारों से और कुटिलाचारों से रक्षा। १५. (अक्षरपंक्तिः) अक्षय ब्रह्म का ज्ञान या अक्षर अखण्ड ब्रह्मचर्य की या वीर्य की परिपक्वता का साधन। १६. (पदपंक्तिः) गृहस्थ का पालन। १७. (विष्टारपंक्तिः) प्रजोत्पादन, प्रजापालन। १८. (क्षुरः) क्षुर, छूरा कर्म। १९. (भ्रजः) दीप्ति, प्रकाश आदि का करना अथवा (क्षुरोभ्रजः) छुरे की धार के समान कठिन आदित्य व्रत की साधना। २०. (आच्छत्) प्रजा की सब ओर से रक्षा। २१. (प्रच्छत्) अच्छी प्रकार रक्षा। २२ (संयत्) दुष्टों का संयमन २३ (वियत्) विविध व्यवहारों का नियमन। (बृहत्) बड़े राष्ट्र का

प्रबन्ध । २४. (रथन्तरम्) रथों के मार्गों का निर्माण और प्रबन्ध । २५. (निकामः) शरीर की प्राण वायु की साधना, अथवा समस्त प्रजा के शरीरों की रक्षा अथवा विशेष खाद्य पदार्थों का संग्रह । २६. (विवध) विविध हनन साधनों, हथियारों का संग्रह । २७. (गिरः) अन्नों का संग्रह २८. (अजः) अग्नि, विद्या या विद्युत् द्वारा प्रकाश उत्पादन । २९. (संस्तुप्) उत्तम विद्याओं का पठन पाठन । ३० (अनुष्टुप्) सामान्य विद्याओं का अध्ययन । ३१. (एवः वरिवः) ज्ञान और उपासना एवं गुरु सेवा । ३२. (वयः) जीवन वृद्धि या अन्न । ३३. (वयस्कृत्) अन्न के उत्पादक प्रयोग । ३४. (विष्पर्धाः) संग्राम । ३५. (विशालं) विविध वास्तु भवन निर्माण । ३६. (छदिः) छतें या वस्त्र, तम्बू आदि बनाना (दूरोहणं) दुर्गम स्थानों पर चढ़ने के साधन । ३७. (तन्द्रं) मोहन विद्या । ३८. (अङ्काङ्कं) गणित विद्या । इन सब शिल्पों का सरहस्य ज्ञान प्राप्त किया जाय । इसी प्रकार अध्यात्म में इन सब छन्दों से आत्मा की इतनी शक्तियों, प्रवृत्तिया, स्वभावों, भोक्तव्य पदार्थों और साधनीय कार्यों का वर्णन किया गया है । प्रजनन संहिता में इन शब्दों के तदनुसार भिन्न २ अर्थ होंगे ।

शतपथ के अनुसार एवः आदि के अर्थ नीचे लिखे जाते हैं ।

१ एवः	अयं लोक.	२१ संयत्	रात्रिः
२ वरिवः	अन्तरिक्ष	२२ वियत्	अहः
३ शंभू	द्यौः	२३ बृहत्	असौ लोकः
४ परिभूः	दिशः	२४ रथन्तरं	अयं लोकः
५ आच्छत्	अन्नं	२५ निकायः	वायुः
६ मनः	प्रजापतिः (आत्मा)	२६ विवधः	अन्तरिक्षं
७ व्यचः	आदित्यः	२७ गिरः	अन्नम्
८ सिन्धुः	प्राणः	२८ अजः	अग्निः

९ समुद्रं	मनः	२९ संस्तुप्	वाग्
१० सरिरं	वाग्	३० अनुष्टुप्	
११ ककुप्	प्राणः	३१ एवः	अयं लोकः
१२ त्रिककुप्	उदानः	३२ वरिवः	अन्तरिक्षं
१३ काव्यं	त्रयी विद्या	३३ वयः	अन्नं
१४ अङकुपं	आपः	३४ वयस्कृतः	अग्निः
१५ अक्षरपंक्तिः	असौ लोकः	३५ विष्पर्धाः	असौ लोकः
१६ पदपंक्तिः	अयं लोकः	३६ विशालं	अयं लोकः
१७ विष्टारपंक्तिः	दिशः	३७ छदिः	अन्तरिक्षम्
१८ क्षुरोभ्रजः	आदित्यः	३८ दूरोहणम्	आदित्यः
१९ आच्छत्	अन्नं	३९ तन्द्रं	पंक्तिः
२० प्रच्छत्		४० अङ्काङ्कं	आपः

'एवः' आदि के अयं लोकः' आदि साक्षात् अर्थ नहीं, प्रत्युत उपमान होने से साधारण धर्मों के द्योतक पदार्थ हैं। शतपथ इन पदार्थों को 'बन्धु' अर्थात् उपमान मात्र ही बताता है। शरीर में और ब्रह्माण्ड में विस्तृत घटक तत्त्वों का आध्यात्मिक आधिभौतिक भेद से भी यहां निरूपण किया गया है।

रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्वान्वित्या दिवा दिवं जिन्व सन्धिनान्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्व प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीं जिन्व विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व प्रवयाऽह्नाहर्जिन्वानुया रात्र्या रात्रीं जिन्वोशिजा वसुभ्यो वसूञ्जिन्व प्रकेतेनादित्येभ्य आदित्याञ्जिन्व ॥ ६ ॥

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व सꣳसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥ ७ ॥

सोमाः विद्वांसो देवताः । (६) विराडभिकृतिः । ऋषभः ।
(७) ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—१. (सत्याय) सत्य व्यवहार की वृद्धि के लिये नियुक्त (रश्मिना) सूर्य की किरणों के समान विवेक द्वारा छिपी बातों को भी प्रकाशित करने में समर्थ विवेकी पुरुष द्वारा (सत्यं जिन्व) सत्य व्यवहार की राष्ट्र में वृद्धि कर । अर्थात् उत्तम विवेकी न्यायकर्त्ता पुरुष को नियुक्त कर ।

२. (धर्मणा[1]) धर्म, प्रजा को व्यवस्थित करने वाले कानून के निमित्त (प्रेतिना) उत्तम विज्ञान युक्त, पुरुष द्वारा (धर्म जिन्व) धर्म या व्यवस्था, कानून को उन्नत कर ।

३. (दिवा) धर्म, या ज्ञान के प्रकाश के लिये नियुक्त (अन्वित्या) अन्वेषण करने वाली समिति द्वारा (दिवं जिन्व) विज्ञान और सत्य तत्वों की वृद्धि कर, ।

४ (अन्तरिक्षेण) पृथ्वी और आकाश के बीच जिस प्रकार अन्तरिक्ष दोनों लोकों को मिलाता है उसी प्रकार दो राजाओं के बीच स्थित मध्यस्थ रूप से विद्यमान 'अन्तरिक्ष' पद के कार्य के लिये नियुक्त (सन्धिना) परस्पर के 'सन्धि' कराने वाले 'सन्धि' नामक अधिकारी से तू (अन्तरिक्षं जिन्व) उक्त अन्तरिक्ष पद को पुष्ट कर ।

५ (पृथिव्या) पृथिवी के शासन के लिये नियुक्त (प्रतिधिना) अपने स्थान पर स्थापित प्रतिनिधि द्वारा अथवा (पृथिव्या) पृथिवी के शासनार्थ लोकवृत्त जानने के लिये नियुक्त (प्रतिधिना) प्रत्येक बात के पता लगाने वाले गुप्तचर द्वारा (पृथिवीं जिन्व) तू पृथिवी अर्थात् पृथिवी निवासी प्रजाजन या अपने राष्ट्र भूमि की वृद्धि कर, उसको पुष्ट कर ।

१—सर्वत्र निमित्ते तृतीया

६. (वृष्ट्या) प्रजापर जलों की वर्षा करने के लिये जिस प्रकार जलों का स्तम्भन करने में समर्थ वायु अपने भीतर जल थाम लेता है उसी प्रकार प्रजापर पुनः अपने ऐश्वर्यों की वृष्टि करने के लिये (विष्टम्भेन) विविध उपायों से धनों को स्तम्भन या संग्रह करने वाले विभाग को नियुक्त करके उससे तू (वृष्टिं जिन्व) सुखों के वर्षण की वृद्धि कर।

७. (अन्हा) सूर्य के समान तेजस्वी होकर राष्ट्र के कार्यों को चलाने के लिये (प्र-वयाः) उत्कृष्ट तेजस्वी पुरुष को नियुक्त करके उससे (अहः जिन्व) सूर्य पद की वृद्धि कर।

८. (राभ्या) समस्त प्रजाओं के रमण करने, उनको विश्राम देने एवं रात्रि को समस्त शत्रुओं को भूमि पर सुला देने के लिये (अनुया) चारों और डाकुओं के पीछा करने वाले विभाग द्वारा (रात्रीं जिन्व) तेजस्विनी रात्री, या रात्रि अर्थात् राष्ट्र की रक्षा करने वाली संस्था को (जिन्व) पुष्ट कर।

९. (वसुभ्यः) ऐश्वर्यों के प्राप्त करने के लिये और राष्ट्र में बसने वाले जनों के हित के लिये (उशिजा) धनादि के अभिलाषा करने वाले वणिग् विभाग द्वारा (वसून्) प्रजा के सुखकारी अग्नि आदि शक्ति और समस्त पदार्थों को और प्रजा जनों को पुष्ट कर, अथवा 'वसु' ब्रह्मचारियों के लिये कामना प्रकट करने वाले स्त्री-वर्ग द्वारा (वसून्) वसु ब्रह्मचारी युवकों को (जिन्व) संतुष्ट कर। उनके विवाह आदि की उत्तम व्यवस्था कर।

१०. (आदित्येभ्यः) आदित्य ब्रह्मचारियों के स्थापित (प्रकेतेन) उत्कृष्ट ज्ञान के साधन, पुस्तकालय, विद्यालय आदि द्वारा (आदित्यान्) आदित्य, ज्ञाननिष्ठ पुरुषों को भी (जिन्व) पुष्ट कर।

११. (रायः पोषेण) धनैश्वर्य और गवादि पशु सम्पत्ति की वृद्धि के निमित्त (तन्तुना) और भी अधिक प्रजा-परम्परा रूप तन्तु से (रायः पोषम्) उस ऐश्वर्य समृद्धि की (जिन्व) वृद्धि कर।

१२. (श्रुताय) लोक वृत्तों के श्रवण के लिये (प्रसर्पण) दूर तक जाने वाले गुप्त चरों द्वारा (श्रुतं जिन्व) लोक वृत्त श्रवण के विभाग को पुष्ट कर।

१३. (ओषधीभिः) ओषधियों के संग्रह के लिये (ऐडेन) इड़ा, अन्न, ओषधि या पृथ्वी के गुणों के जानने वाले विभाग द्वारा (ओषधीः जिन्व) अन्नादि रोगहर और पुष्टिकर ओषधियों को वृद्धि कर।

१४. (तनूभिः) शरीरों की उन्नति के लिये (उत्तमेन) सब से उत्कृष्ट शरीर वाले पुरुष द्वारा (तनूः जिन्व) प्रजा के शरीरों की वृद्धि कर।

१५. (अधीतेन) विद्याभ्यास, शिक्षा की वृद्धि के लिये (वयोधसा) ज्ञानवान् और दीर्घायु पुरुषों से (अधीतं) अपने स्वाध्याय और शिक्षा की (जिन्व) वृद्धि कर।

१६. (तेजसा) तेज और पराक्रम की वृद्धि के लिये (अभिजिता) शत्रुओं को सब प्रकार से विजय करने में समर्थ पुरुष द्वारा (तेजः जिन्व) अपने तेज और पराक्रम की वृद्धि कर।

सत्य, धर्म, दिव्, अन्तरिक्ष, पृथिवी, वृष्टि, अहः, रात्रि, वसु और आदित्य, रायःपोष, श्रुत, ओषधि, तनु, अधीत, और तेज इन १६ अभ्युदयकारी लक्ष्मियों की वृद्धि के लिये क्रम से रश्मि, प्रेति, संधि, प्रतिधि, विष्टम्भ, प्रवया अनुया, उष्णिग्, प्रकेत, तन्तु, संसर्प, ऐड, उत्तम, वयोधा, अभिजित् ये १६ पदाधिकारी या अध्यक्ष हों उनके उतने ही विभाग राष्ट्र में हों।

इन मन्त्रों की योजना शतपथ ने तीन प्रकार से दर्शाई है। प्रथम जैसे 'रश्मिः असि सत्याय त्वाम् उपदधामि।' द्वितीय जैसे—रश्मिना अधिपतिना सती सत्यं जिन्वः।' तृतीय जैसे—'रश्मिना अधिपतिना सत्येन सत्यं जिन्व।' इत्यादि। सर्वत्र ऐसे ही कल्पना कर लेनी चाहिये अर्थात प्रत्येक मनुष्य में तीन आकांक्षाएं हैं जैसे—

१. योग्य अधिकारों को उसके कर्त्तव्य के लिये नियुक्त करना।

२. अधिकारी को नियुक्त करके कर्त्तव्य पालन द्वारा उस विभाग की वृद्धि करना। ३. अध्यक्ष के द्वारा कर्त्तव्य कर्म की वृद्धि करना। इसी प्रकार शरीर में और ब्रह्माण्ड में भी ये १६ घटक विद्यमान हैं। जिनपर आत्मा और परमात्मा अपने भिन्न २ सामर्थ्यों से वश करते हैं।

प्र॒ति॒पद॑सि प्रति॒पदे॑ त्वानु॒पद॑स्यनु॒पदे॑ त्वा स॒म्पद॑सि स॒म्पदे॑ त्वा॒ तेजो॑ऽसि॒ तेज॑से त्वा ॥ ८ ॥

त्रि॒वृद॑सि त्रि॒वृते॑ त्वा प्र॒वृद॑सि प्र॒वृते॑ त्वा वि॒वृद॑सि वि॒वृते॑ त्वा स॒वृद॑सि स॒वृते॑ त्वा क्र॒मो॑ऽस्याक्र॒माय॑ त्वा संक्र॒मो॑ऽसि संक्र॒माय॑ त्वोत्क्र॒मो॑ऽस्युत्क्र॒माय॒ त्वोत्क्रा॑न्तिर॒स्युत्क्रा॑न्त्यै॒ त्वाधि॑पतिनो॒र्जो॑र्जं जिन्व ॥ ९ ॥

प्रजापतिर्देवता। भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। गान्धारः। (९) विराड् ब्राह्मी जगती। निषादः॥

भा०—१. तू (प्रतिपत् असि) प्रत्येक पदार्थों को प्राप्त करने और ज्ञान करने में समर्थ होने से 'प्रतिपत्' नाम का अधिकारी है। तुझको (प्रतिपदे) 'प्रतिपत्' अर्थात् उत्तम, प्राप्त होने योग्य पद के लिये नियुक्त करता हूं।

२. (अनुपत् असि अनुपदे त्वा) अनुरूप या अनुकूल हितकारी पदार्थों को प्राप्त करने में समर्थ होने से तू 'अनुपद' है। तुझको 'अनुपद' पद पर नियुक्त करता हूं।

३. (सम्पत् असि सम्पदे त्वा) अच्छी प्रकार से समस्त पदार्थों को ज्ञान करने और प्राप्त करने वाला होने से तू 'सम्पत्' है। तुझ को 'सम्पद्' वृद्धि के लिये नियुक्त करता हूं।

४. (तेजः असि तेजसे त्वा) तेजःस्वरूप पराक्रमशील होने से 'तेजस्' है। तुझको तेज की वृद्धि के लिये उसी पद पर नियुक्त करता हूं।

९—जिन्व वेषश्रीः क्षत्राय क्षत्रं जिन्व' इति काण्व०।

५. (त्रिवृत् असि त्रिवृते त्वा) तू त्रिगुण शक्तियों से वर्त्तमान होने से, या तीनों वेदों में, ज्ञानी 'तीनों लोकों में यशस्वी' एवं तीन कालों में तत्त्वदर्शी होने से 'त्रिवृत्' है। तुझ को 'त्रिवृत्' पद के लिये ही नियुक्त करता हूं।

६. (प्रवृत् असि प्रवृते त्वा) तू प्रकृष्ट, दूर देश में भी उत्तम व्यवहार करने में समर्थ होने से 'प्रवृत्' है। तुझे 'प्रवृत्' पद के लिये नियुक्त करता हूं।

७. (सवृत् असि सवृते त्वा) समस्त प्रजाओं में समान रूप से व्यवहार करने में समर्थ है अतः तुझे 'सवृत्' पद पर नियुक्त करता हूं।

८ (विवृत् असि विवृते त्वा) तू विविध दशाओं और प्रजाओं और कार्यों में व्यवहार करने में समर्थ होने से 'विवृत्' है अतः तुझे 'विवृत्' पद के लिये नियुक्त करता हूं।

९. तू (आक्रमः असि आक्रमाय त्वा) सब तरफ आक्रमण करने में समर्थ है। अतः तुझे 'आक्रम' अर्थात् आक्रमण करने के पद पर नियुक्त करता हूं।

१०. (संक्रमः असि संक्रमाय त्वा) तू सब तरफ फैल जाने में समर्थ होने से 'संक्रम है। तुझे 'संक्रम' नाम पद पर नियुक्त करता हूं।

११. (उत्क्रमः असि उत्क्रमाय त्वा) तू उन्नत पद या स्थानों पर क्रमण करने में समर्थ होने से 'उत्क्रम' है तुझे 'उत्क्रम' पद पर नियुक्त करता हूं।

१२. (उत्क्रान्तिः असि उत्क्रान्त्यै त्वा) तू ऊंचे प्रदेशों में क्रमण करने से समर्थ होने से 'उत्क्रान्ति' है। तुझे में उत्क्रान्ति पद पर ऊंचे स्थानों में चढ़ जाने के कार्य पर ही नियुक्त करता हूं।

हे राजन्! इस प्रकार योग्य २ कार्यों के लिये योग्य २ पद पर, योग्य २ पुरुषों को नियुक्त करके तू (अधिपतिना) अधिपति, अध्यक्ष रूप अपने ही (ऊर्जा) बल वीर्य या पराक्रम से (ऊर्जम्) अपने पराक्रम, बल वीर्य की (जिन्व) वृद्धि कर, उसे पुष्ट कर।

इस प्रकार प्रतिपत्, अनुपत्, सम्पत्, तेजस् त्रिवृत्, प्रवृत्, विवृत्, संवृत्, आक्रम, संक्रम, उत्क्रम, और उत्क्रान्ति। इन बारह कार्यों के लिये १२ पदाधिकारियों को नियुक्त किया जाता है। १६ पहली और १२ ये मिलकर २८ राष्ट्र की सम्पदाओं या विभागों का वर्णन हो गया।

[1] राज्ञ्य॑सि प्राची दिग्वस॑वस्ते दे॒वा ऽअधि॑पतयो॒ऽग्निर्हे॑ती॒नां प्र॑तिध॒र्त्ता त्रि॒वृत् त्वा॒ स्तोम॑: पृथि॒व्या॑ᳬ श्र॑य॒त्वाज्य॑मु॒क्थमव्य॑थायै स्तभ्नातु रथन्त॒रᳬ साम॒ प्रति॑ष्ठित्या ऽअ॒न्तरि॑क्ष॒ ऽऋष॑यस्त्वा। [2] प्रथम॒जा दे॒वेषु॑ दि॒वो मात्र॑या वरि॒म्णा प्र॑थन्तु विध॒र्त्ता चा॒यमधि॑पतिश्च ते त्वा॒ सर्वे॑ संविदा॒ना नाक॑स्य पृ॒ष्ठे स्व॒र्गे लो॒के यज॑मानं च सादयन्तु ॥ १० ॥

वस्वादयो देवताः। (१) विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः। (२) ब्राह्मी। मध्यमः॥

भा०—(प्राची दिग्) प्राची, पूर्व दिशा जिस प्रकार सूर्य के उदय से प्रकाशमान है उसी प्रकार राजा के तेज और पराक्रम से तेजस्विनी हे राजशक्ते! तू भी (राज्ञी असि) रानी के समान सर्वत्र तेजस्विनी है। (वसवः देवाः) वसुगण, विद्वान् पदाधिकारी लोग (ते अधिपतयः) तेरे पालन करने वाले अधिकारी पुरुष हैं। (अग्निः) अग्नि, सूर्य के समान तेजस्वी, संतापकारी अग्रणी, सेनापति (हेतीनां) समस्त-शस्त्र अस्त्रों और अस्त्रधारी सेनाओं का (प्रतिधर्ता) धारण करने वाला है। (त्वा) तुझको (त्रिवृत् स्तोमः) त्रिवृत् नामक स्तोम अर्थात् पदाधिकारी (पृथिव्यां) इस पृथिवी पर (श्रयतु) मन्त्र, प्रज्ञा, सेना इन तीनों शक्तियों सहित वर्तमान आश्रय करे, स्थापित करे या तेरा उपभोग करे। (आज्यम्) आज्य, संग्रामोपयोगी (उक्थम्) युद्ध विद्या या शासन (त्वा) तुझको (स्तभ्नातु) तुझे स्तम्भ के समान आश्रय देकर स्थिर करे। (रथन्तरं साम) रथों से तरण करने वाला क्षात्रबल (प्रतिष्ठित्यै) तेरी प्रतिष्ठा के लिये हो।

(प्रथमजाः ऋषयः) श्रेष्ठ, मन्त्रद्रष्टा लोग (त्वा) तुझको (देवेषु) विद्वानों, या विजयी राजाओं, या पदाधिकारियों के बीच (दिवः मात्रया) ज्ञान प्रकाश के बड़े परिमाण से और (वरिम्णा) विशाल सामर्थ्य से (प्रथन्तु) विस्तृत करें । (विधर्त्ता) विशेष पदों के धारक जन और (अधिपतिः च) अधिपति, अध्यक्ष लोग (ते सर्वे) वे सब मिल कर (संविदानाः) परस्पर सहयोग और सहमति करते हुए (त्वा) तुझको (नाकस्य) दुखों से सर्वथा रहित सुख (पृष्ठे) आश्रय (स्वर्गे लोके) सुखमय प्रदेश में (सादयन्तु) स्थापित करें । और (यजमानं च) उसी उत्तम सुखमय लोक में इस राष्ट्रयज्ञ के विधाता राजा को भी स्थापित करें । शत० ८ । ६ । ५ ॥

१ विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवा अधिपतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्त्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳ श्रयतु प्रउगमुक्थम व्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्ष ऽऋषयस्त्वा २ प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ ११ ॥

रुद्रा देवताः । (१) स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥ (२) ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(दक्षिणा दिग्) दक्षिण दिशा जिस प्रकार सूर्य के प्रखर ताप से बहुत अधिक उज्ज्वल होती है उसी प्रकार हे राजशक्ते ! तू (विराड् असि) विराट् है, तु विशेष तेज और विविध ऐश्वर्यों से शोभा युक्त है । (रुद्राः देवाः ते अधिपतयः) रुद्र, शत्रुओं को रुलाने में समर्थ, एवं शरीर में प्राणों के समान जीवनोपयोगी द्रव्यों को और बलकारी पदार्थों को रोक लेने में समर्थ रुद्रगण तेरे अधिपति हैं। (इन्द्रः हेतीनां प्रतिधर्त्ता) इन्द्र शस्त्रास्त्रों का धारक है । (पञ्चदशः स्तोमः त्वा पृथिव्यां श्रयतु) शरीर में जिस प्रकार दश इन्द्रिय, पञ्च प्राण, अथवा हाथों की दश अंगुलियें और

२ पैर और २ बाहु, और आत्मा या शिर १५ वां, ये शरीर को धारण करते हैं उसी प्रकार राष्ट्र के रक्षक और धारक १५ विभाग तुमको पृथिवी पर स्थिर रखें (अव्यथायै) पीड़ा, कष्ट न होने देने के लिये (प्रउगम् उक्थम्) नाना अधिकारियों की उत्कृष्ट योजना या उत्तम २ पुरुषों की उत्तम २ पदों पर स्थापना रूप उक्थ अर्थात् अभ्युदय का कार्य या बल राष्ट्र को (स्तभ्नातु) थामे रहे। (प्रतिष्ठित्या) प्रतिष्ठा के लिये (बृहत्साम) बृहत्साम या महान् बल सामर्थ्य हो (अन्तरिक्ष ऋषयः) इत्यादि पूर्ववत्। शत० ८। ६। १। ६॥

सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा अधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳪ श्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपᳪ साम प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १२ ॥

आदित्या देवताः। (१) भुरिग् ब्राह्मी जगती। निषादः। (२) ब्राह्मी बृहती। मध्यमः॥

भा०—(प्रतीची दिग्) पश्चिम दिशा जिस प्रकार मध्यान्ह के बाद भी प्रखर सूर्य से सब प्रकार से दीप्त, उज्ज्वल होती है उसी प्रकार हे राजशक्ते ! तू भी अपने पूर्ण वैभव को प्राप्त कर लेने के बाद (सम्राट् असि) 'सम्राट्' की शक्ति बन जाता है। (ते अधिपतयः आदित्याः) आदित्य के समान तेजस्वी, पदाधिकारी अथवा आदान-प्रतिदान करने वाले वैश्यगण तेरे अधिपति, स्वामी होते हैं। (वरुणः हेतीनां प्रतिधर्त्ता) शत्रुओं को वारण करने में समर्थ पुरुष शस्त्रों को धारण करने वाला होता है। (सप्तदशः स्तोमः त्वा पृथिव्यां श्रयतु) शरीर में दश हाथ की अंगुलियों, बाहु, टांगें ४, शिर, उदर, और आत्मा इन १७ अंगों के समान राष्ट्र को धारण करने वाले १७ घटक विभागों से सम्पन्न वीर्यवान् अधिकारीगण

तुझको पृथिवी पर स्थित रखें। (मरुत्वतीयम् उक्थम् अव्यथायै स्तभ्नातु) वायु के समान वेगवान् वीर भटों के नायक इन्द्र, सेनानायक का सेना बल ही राष्ट्र-व्यवस्था को पीड़ा न पहुंचाने के लिये दृढ़ करे। और (वैरूपं साम प्रतिष्ठित्या) उसके प्रतिष्ठा या आश्रय के लिये 'वैरूप' अर्थात् विविध प्रकार की प्रजा का विविध बल ही रहे। (अन्तरिक्ष ऋषयः० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८। ६। १। ७॥

'प्रउगम्- उक्थम्'—तद् यत् अभिप्रायुञ्जत तत् प्रउगस्य प्रउगत्वम् ॥ प्राणाः प्रउगम्। तस्माद् बहवो देवता प्रउगे शस्यन्ते। कौ० १४। ५॥ ग्रहोक्थं वा एतद् यत् प्रउगम्। ऐ० ३। १॥ सब तरफ उत्तम अधिकारियों को नियोजन करना या ग्रहों की या राज्याङ्गों की स्थापना 'प्रउग' कहाता है। इसमें बहुत से 'देव' राजपदाधिकारी पुरुषों का वर्णन होता है। प्राण एव उक् तस्य अन्नमेव थम् शत०। १०। ४। १। २३॥ अग्निर्वा उक् तस्याहुतय एव थम्। १०। ६। २। १०। अतो हि सर्वाणि नामानि उत्तिष्ठन्ति। विड् उक्थानि। ता० १८। ८। ६॥ जिस प्रकार शरीर में प्राण और वेदि में अग्नि है उसी प्रकार राष्ट्र में वह पद जिस पर मुख्य पदाधिकारी नियुक्त है 'उक्थ' कहाता है। इसमें पदाधिकार और उसका भोग्य वेतन और ऐश्वर्य दोनों सम्मिलित हैं। इसी का दूसरा नाम 'शस्त्र' है। इसे सामान्यतः 'धारा' कह सकते हैं।

मरुत्वतीयम् उक्थम्। एतद् वार्त्रघ्नमेवोक्थं यन्मरुत्वतीयम् एतेन हीन्द्रः पृतना अजयत् ॥ कौ० १५। २॥ तदेतत् पृतनाजिदेव सूक्तम्। एतेन हीन्द्रो वृत्रमहन् ॥ कौ० १५। ३॥

१ स्वराडस्युदीची दिङ् मरुतस्ते देवा ऽअधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्त्तैकविंशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳪ श्रयतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु। वैराजᳪ साम प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा २ प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा

प्रथन्तु विधुर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १३ ॥

मरुतो देवताः । भुरिग् अत्यष्टिः । गांधारः । (२) बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(उदीची दिग्) उत्तर दिशा जिस प्रकार ध्रुव प्रदेश में स्वयं उत्पन्न विद्युत् धाराओं से स्वतः प्रकाशमान है, उसी प्रकार हे राजशक्ते ! तू (स्वराड् असि) स्वयं दीप्तिमती होने से 'स्वराट्' है । (ते अधिपतयः) तेरे स्वामी (मरुतः देवाः) वायुओं के समान तीव्र गतिशील, शरीर में प्राणों के समान जीवनप्रद विद्वान् हैं । (सोमः हेतीनां प्रतिधर्त्ता) शस्त्रों का धारणकर्त्ता, वशयिता 'सोम' है । (एकविंशः त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु) शरीरगत २१ अंगों के समान २१ विभागों के अधिकारीगण तुझको पृथ्वी पर स्थिर रक्खें (निष्केवल्यम् उक्थम् अव्यथायै स्तभ्नातु) पीड़ा, कष्ट न होने देने के लिये 'निष्केवल्य उक्थ' अर्थात् एकमात्र राजा का ही बल उसको पुष्ट करे । (वैराजं साम प्रतिष्ठित्यै) 'वैराज साम' अर्थात् सर्वोपरि राजा की आज्ञा का बल ही उसकी प्रतिष्ठा के लिये पर्याप्त है । (अन्तरिक्षे ऋषयः ० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । ६ । १ । ८ ॥

निष्केवल्यम् उक्थम्—अथैतदिन्द्रस्यैव निष्केवल्यम् । तन्निष्केवल्यस्य निष्केवल्यत्वम् ॥ कौ० १५ । ४ ॥ आत्मा यजमानस्य निष्केवल्यम् ॥ ऐ० ८ । २ ॥ राजा का अपना ही सर्वोपरि प्रधान पदाधिकार 'निष्केवल्य' है । उसके अधिकारों का विधान 'निष्केवल्य उक्थ' है ।

'वैराजं साम'—स वैराजमसृजत तदग्नेर्घोषोऽन्वसृज्यत । तां० ७।८।१। प्रजापतिर्वैराजम् । तां० १६ । ५ । १७ ॥

[१] आधिपत्न्यासि बृहती दिग्विश्वे ते देवा ऽअधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधुर्त्ता त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याꣳ श्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुते ऽउक्थे ऽअव्यथायै स्तभ्नीताꣳ शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्ष ऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु

दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १४ ॥

(१) विश्वेदेवाः देवताः । प्रकृतिः । धैवतः । (२) ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ।

भा०—(बृहती दिग्) बृहती या सबसे ऊपर की दिशा जिस प्रकार सबसे ऊपर विराजमान है उसी प्रकार हे राज-शक्ते ! तू भी (अधिपत्नी असि) समस्त राष्ट्र में सर्वोपरि रहकर प्रजा का पालन करती है । (विश्वेदेवाः ते अधिपतयः) तेरे समस्त देव, विद्वान् गण अधिपति हैं । (हेतीनां प्रतिधर्त्ता बृहस्पतिः) शस्त्रों का धारणकर्त्ता 'बृहस्पति' है । (त्रिनव-त्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ त्वा पृथिव्यां श्रयताम्) २७ या ३३ अंगों के समान २७ और ३३ विभागों के अधिकारीगण तुझे पृथ्वी पर स्थिर करें । (वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथायै स्तभ्नीताम्) वैश्वदेव और आग्निमारुत दोनों 'पद' राज्य कार्य में पीड़ा न पहुंचने देने के लिये स्तोम के समान सम्भालें, उसकी रक्षा करें (शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्या) शाक्वर और रैवत दोनों बल उसके आश्रय के लिये हों । (अन्तरिक्षे ऋषयः त्वा० इत्यादि पूर्ववत् । शत० ८ । ६ । १ १६ ॥

'वैश्वदेव उक्थ'—पाञ्चजन्यं वा एतद् उक्थं यद्वैश्वदेवम् । ऐ० ३।३१॥ शाक्वरं मैत्रावरुणस्य । कौ० २५।११॥ रेवत्यः सर्वाः देवताः । ऐ० २।१।१३॥ वाग् वा रेवती । शत० १ । ३ ।८। १ । १२॥

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ । पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ । दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १५ ॥

परमेष्ठी ऋषिः । हरिकेशो वसन्त ऋतुर्देवता । विकृतिः । मध्यमः ॥

भा०—संवत्सर में ऋतुओं के समान प्रजापालक राजा के आधीन ५ मुख्य सरदारों का वर्णन करते हैं। (अयम्) यह (पुरः) सब के आगे पूर्व की ओर (सूर्यरश्मिः) सूर्य की किरणों के समान तेजों से प्रकाशमान वसन्त ऋतु के समान (हरिकेशः) नये २ कोमल हरे पीले पत्रों रूप केशों से युक्त, सूर्यवत् तेजस्वी प्रजा के क्लेशों को हरण करनेवाला है। (तस्य) उसके अधीन वसन्त ऋतु के 'मधु' और 'माधव' दो मासों के समान (रथगृत्सः च) रथों के सञ्चालन में परम बुद्धिमान् 'रथगृत्स' और (रथौजाः च) रथों के द्वारा पराक्रम करने में कुशल 'रथौजाः' ये दोनों क्रमशः (सेनानी-ग्रामण्यौ) सेनानायक और ग्रामनायक या सैनिक दलों के नायक हैं। इनके अधीन (पुञ्जिकस्थला च) पुञ्ज रूप होकर स्थान या देश में विद्यमान, अथवा पुंजिक, पुरुषों को विजय करने का आश्रय रूप 'सेना' और (क्रतुस्थला) क्रतु अथात् प्रज्ञा, बुद्धि का एकमात्र आश्रय 'समिति' ये दोनों (अप्सरसौ) पुंजीभूत रूप लावण्य की आश्रय और क्रतु = काम की आश्रय रूप होकर स्त्रियों के समान साथ रहती हैं और वे (अप्सरसौ) अप्-आप्त पुरुषों द्वारा या अप्–प्रजाओं में व्याप्त या आगे बढ़ने वाली होने से 'अप्सरा' कहाती हैं।

इनके अधीन (दंक्ष्णवः पशवः) दाढ़ों से कांटने वाले पशु सिंह, व्याघ्र, कुत्ते चीते आदि के समान मार काट करने वाले भट लोग (हेतिः) शस्त्रों के समान अथवा सिंह, व्याघ्रादिक पशुओं के समान उनके घोर रुधिरपायी शस्त्र और (पौरुषेयः वधः) पुरुषों का, पुरुषों के द्वारा वध करना (प्रहेतिः) उत्तम श्रेणी के अस्त्रादि हैं (तेभ्यः नमः अस्तु) उनका हम आदर करें। (ते नः अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें। (ते नः मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें। (यं ते द्विष्मः) वे और हम जिसको द्वेष करें और (यः च नः द्वेष्टि) जो हमारे से प्रेम का वर्ताव न करके

हम से द्वेष करता है (तम्) उसको (एषाम्) इनके (जम्भे) हिंसाकारी जम्भ अर्थात् मुख में या कष्टदायी हवालात में (दध्मः) डालें ॥ शत० ८।६।१।१६ ॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ । मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षांसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमो ऽअस्तु ते नो ऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१६॥

परमेष्ठी ऋषिः । विश्वकर्मा ग्रीष्मर्तुर्देवता । निचृत् प्रकृतिः । धैवतः ॥

भा०—(दक्षिणा) दक्षिण दिशा में, दायें ओर (अयं) यह साक्षात् (विश्वकर्मा) विश्वकर्मा वायु के समान बलशाली, शरीर में प्राण वायु या मन के समान राष्ट्र शरीर का आधार, राज्य के समस्त कार्यों का विधायक 'विश्वकर्मा' नाम पदाधिकारी है । (तस्य रथस्वनः च रथेचित्रः च) उसके 'रथस्वन' और 'रथेचित्र' नामक दो ग्रीष्म ऋतु के प्रखर दो मास 'शुक्र' और 'शुचि' के समान तेजस्वी प्रतापी हैं । जिसके रथ में अद्भुत शत्रु-भयकारी शब्द निकलता हो वह 'रथस्वन' और जिसके रथ में चित्र विचित्र रचना और युद्धार्थ विचित्र उपकरण हों वह 'रथेचित्र' कहाता है । उनकी (मेनका सहजन्या च अप्सरसौ) मेनका और सहजन्या दोनों स्त्रियों के समान सहयोगिनी हैं । जिसका सब मान करें, जिसको सब मानें वह द्यौ के समान ज्ञान प्रकाश वाली विज्ञान की प्रबल शक्ति या विद्वानों की सभा 'मेनका' है। और पृथिवी या राष्ट्र के समान जनों से पूर्ण युद्ध की शक्ति या जनसमुदाय की संघ शक्ति 'सहजन्या' है । (यातुधानाः हेतिः) पीड़ा प्रदान करने वाले शस्त्रधर और गुप्त घातक लोग उसके सामान्य खड्ग के समान हैं । (रक्षांसि प्रहेतिः) राक्षस स्वभाव के क्रूर वधक लोग उसके उत्कृष्ट शस्त्र के समान हैं । (तेभ्यः नमः अस्तु० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । ६ । १ । १७ ॥

अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ । प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो ऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १७ ॥

वर्षर्तुर्विश्वव्यचा देवता । कृतिः । निषादः ॥

भा०—(पश्चात्) पीछे की ओर यह (विश्वव्यचाः) समस्त विश्व में फैलने वाला वर्षा ऋतु के सूर्य के समान शत्रुओं पर शस्त्रास्त्र वर्षण करने में समर्थ या शरीर में चक्षु के समान सर्वत्र व्यापक अधिकारी है जिसके (रथप्रोतः च असमरथः च सेनानी ग्रामण्यौ) 'रथप्रोत' और 'असमरथ' ये दो सेनानायक और ग्राम नायक हैं । जो सदा रथ पर ही चढ़े रह कर युद्ध करे वह 'रथप्रोत' और जिसके मुक़ाबले में दूसरा कोई रथ न लड़ सके वह 'असमरथ' है । उन दोनों की (प्रम्लोचन्ती च अनुम्लोचन्ती च अप्सरसौ) 'प्रम्लोचन्ती' और 'अनुम्लोचन्ती' ये दोनों असप्सराएं हैं । दिन के समान् प्रकाश करने वाली विद्युत् आदि पदार्थ विज्ञान की शक्ति 'प्रम्लोचन्ती' और रात्रि के समान अन्धकार करने वाली या सबको सुला देने वाली या वश करने वाली शक्ति 'अनुम्लोचन्ती' है । (व्याघ्राः हेतिः) व्याघ्र के समान शूर पुरुष 'हेति' अर्थात् उसके साधारण शस्त्र हैं और (सर्पाः) सांपों के समान कुटिलाचारी एवं विषादि द्वारा प्रस्वापन करने वाले लोग (प्रहेतिः) उत्कृष्ट अस्त्र हैं (तेभ्यः नमः इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । ६ । १ । १८ ॥

अयमुत्तरात्संयद्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ । विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो ऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १८ ॥

संयद्वसुः शरदृतुर्देवता । भुरिगतिधृतिः । षड्जः ॥

भा० —(उत्तरात्) उत्तर की ओर, बायें, (अयम् संयद्वसुः) यह धन्नार्थी पुरुष जिसके पास बराबर आते हैं अथवा वसु, वासशील प्रजाओं का संयमन करने वाला जिसके पास बड़ाभारी खजाना एकत्र हो वह है। उसके (तार्क्ष्यः च अरिष्टनेमिः च सेनानीग्रामण्यौ) 'तार्क्ष्य' और 'अरिष्टनेमि' ये दोनों सेनानायक और ग्रामनायक हैं। शरद् ऋतु के दो मास 'इष्' और 'ऊर्ज्' के समान अन्तरिक्ष में तीक्ष्ण बाणों को फेंकने वाला 'तार्क्ष्य' और अहिंसित नियमन शक्ति वाला 'अरिष्टनेमि' कहाता है। उन दोनों की (विश्वाची च घृताची च अप्सरसौ) 'विश्वाची' और 'घृताची' ये दोनों अप्सराएं हैं। समस्त जनों को व्यवस्था में बांधने और समस्त पदार्थ प्राप्त कराने वाली विद्युत के समान व्यवस्था 'विश्वाची' है और सर्वत्र पुष्टिकारक पदार्थों को प्राप्त करने वाली या अग्निज्वाला के समान राजा के मान गौरव प्रतिष्ठा को उभाड़ने वाली शक्ति 'घृताची' है। उनके (अपः हेतिः वातः प्रहेतिः) जल सामान्यशस्त्र और वायु उत्कृष्ट शस्त्र हैं। (तेभ्यः नमः० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । ६ । १ । १९ ॥

अयमुपर्य्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ । उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १६ ॥

हेमन्तर्त्तुरर्वाग्वसुर्देवता । निचृत् कृतिः । निषादः ॥

भा०—(उपरि) सबके ऊपर (अयम्) यह (अर्वाग्-वसुः) हेमन्त ऋतु के समान वृष्टि के बाद अन्न-समृद्धि के देने वाला एवं प्रजा के ऊपर निरन्तर ऐश्वर्य बरसाने वाला, अथवा समस्त राष्ट्रवासी जिसके अधीन हैं वह राजा हेमन्त के समान अति शीत एव युद्धादि में समृद्ध शत्रु राष्ट्रों का भी पतझड़ के समान ऐश्वर्य रहित कर देने में समर्थ है।

(तस्य) उसके (सेनजित् च सुषेणः च सेनानी-ग्रामण्यौ) सेना द्वारा परसेना को विजय करने वाला 'सेनजित्' और उत्तम सेना वाला 'सुषेण' ये दो सेना नायक और ग्रामनायक हेमन्त के दो मास 'सहः' और 'सहस्य' के समान हैं। (उर्वशी च पूर्वचित्तिश्च अप्सरसौ) 'उर्वशी' और 'पूर्वचित्ति' ये दोनों अप्सराएं हैं, अर्थात् विशाल राष्ट्र को वश करने वाली शक्ति 'उर्वशी' और पूर्व प्राप्त देशों से धन संग्रह करने वाली या पूर्व ही समस्त कर्त्तव्य का निर्धारण करने वाली 'पूर्वचित्ति' कहाती है। (अवस्फूर्जन् हेतिः) उसका घोर गर्जन करने वाला 'शस्त्र' है। विद्युत् के समान तीव्र दीप्ति से पड़ने वाला उत्कृष्ट अस्त्र है (तेभ्यः नमः० इत्यादि) पूर्ववत्। शत० ८।६।१।२०॥

अ॒ग्निर्मू॒र्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः॑ पृथि॒व्या ऽअ॒यम्।
अ॒पाᳬं रेताᳬंसि जिन्वति॥ २०॥ ऋ० ८।४४।१६॥

अग्निर्ऋषिः। निचृद् गायत्री। षड्जः॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान प्रतापी पुरुष (दिवः) सूर्य के समान द्यौलोक, आकाश एवं ज्ञान विज्ञान का और विद्वान् उत्कृष्ट प्रजा का (पृथिव्याः) पृथिवी अर्थात् पृथिवी पर के समस्त प्राणियों का (ककुत् पतिः) महान् स्वामी, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ पालक है। वह ही (अपां) आप्त प्रजाओं के (रेतांसि) वीर्यों, बलों को (जिन्वति) बढ़ाता है।

आत्मा प्राणों का नेता होने से अग्नि है। वह सब का (मूर्धा) शिरोमणि, (दिवः) मस्तक से लेकर और (पृथिव्याः) चरणों तक का महान् स्वामी है। वह (अपांसि) प्राणों के बलों की वृद्धि करता है। इसी प्रकार परमेश्वर सब का शिरोमणि आकाश और पृथिवी का स्वामी है। वह (अपां) मूलकारण प्रकृति के परमाणुओं में उत्पादक शक्ति को अधीन करता है। (व्याख्या देखो अ० ३। १२)

अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः ।
मूर्धा कवी रयीणाम् ॥ २१ ॥ ऋ० ८ । ६४ । ४ ॥

विरूप ऋषिः अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री । षड्जः ।

भा०—(अयम्) यह साक्षात् (अग्निः) अग्रणी, परसंतापक, परंतप राजा (कविः) क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी और सूक्ष्मदर्शी है। वह (सहस्रिणः) सहस्रों सुखों से युक्त और (शतिनः) सैकड़ों ऐश्वर्यों वाले (वाजस्य) बल और ऐश्वर्य का (पतिः) पालक और सब के (मूर्धा) शिर के समान उच्च पद पर विराजमान है। वही (रयीणाम् पतिः) समस्त ऐश्वर्यों का भी स्वामी है।

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ २२ ॥ ऋ० ६ । १६ । १३ ॥

भा०—व्याख्या देखो (अ० ११ । ३२ उत्तरार्ध)

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ २३ ॥
ऋ० १० । ८ । ६ ॥

भा०—व्याख्या देखो (१३ । १५)

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वाऽइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥२४॥
ऋ० ५ । १ । १ ॥

बुधगविष्ठिरावृषी । अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(धेनुम् इव) दुधार कपिला गाय के समान (आयतीम्) आनेवाली (प्रति उषासम्) प्रत्येक प्रातःकाल को 'राजा के पक्ष में' (जनानां समिधा) जनों, प्रजाओं के उपकार के लिये (समिधा) समिधा से (अग्निः अबोधि) जिस प्रकार होमाग्नि प्रदीप्त होता है और

जिस प्रकार (जनानां) मनुष्यों के उपकार के लिये (समिधा) तेज से (प्रतिउषासम्) प्रति प्रातःकाल (अग्निः अबोधि) सूर्य प्रकाशित होता है उसी प्रकार (जनानां) राष्ट्र के प्रजाजनों के (सम्-इधा) सूर्य के समान तेज से ही (धेनुम् इव) कपिला गाय के समान (आयतीम्) प्राप्त होने वाला (प्रति उषासम्) प्रत्येक दुष्टों के संताप देने के अवसर में (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी अग्रणी नेता रूप परंतप राजा को (अबोधि) प्रज्वलित, उत्तेजित किया जाता है । (उज्जिहानाः यह्वाः) ऊपर उड़ने वाले बड़े २ पक्षी जिस प्रकार (वयाम् प्रसिस्रते) शाखा की ओर आश्रय लेने के लिये बढ़ते हैं और (भानवः) सूर्य की उज्ज्वल किरणें (नाकम् प्रसिस्रते) जिस प्रकार आकाश की ओर बढ़ती हैं उसी प्रकार (यह्वाः) बड़े २ पदाधिकारी लोग (वयाम्) व्यापक उदार नीति को या कीर्त्ति को प्राप्त करते हैं और (भानवः) तेजस्वी पुरुष लोग (नाकम्) सुखमय राष्ट्र को (अच्छ) भली प्रकार प्राप्त करते हैं ।

अध्यात्म में देखो सामवेद द्वितीय संस्क० मन्त्र सं० ७३ ॥ और अथर्व० १३ । २ । ४६ ॥

अवो॑चाम क॒वये॒ मेध्या॑य॒ वचो॑ व॒न्दारु॑ वृ॒ष॒भाय॒ वृष्णे॑ ।
गवि॑ष्ठिरो॒ नम॑सा॒ स्तोम॑म॒ग्नौ दि॒वीव॑ रु॒क्मम॑रु॒व्यञ्च॑मश्रेत् ॥२५॥

ऋ० ५ । १ । १२ ॥

अग्निर्देवता । निचृत् । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(मेध्याय) उत्तम गुणों आचरणों से युक्त पवित्र, (कवये) क्रान्तदर्शी, प्रज्ञावान्, मेधावी, बुद्धिमान्, (वृष्णे) बलवान् (वृषभाय) श्रेष्ठ पुरुष के लिये (वन्दारु) हम बन्दना योग्य, स्तुति और आदर के (वचः) वचन का (अवोचाम) प्रयोग करें । (गविष्ठिरः) गौ

वेद वाणी में स्थिर प्रवचन करने वाला विद्वान् (नमसा) विनय भाव से (अग्नौ) प्रकाशमय परमेश्वर के विषय में (स्तोमम्) स्तुति समूह को ऐसे (अश्रेत्) प्रदान करे जैसे (गविष्ठिरः) किरणों में स्थित सूर्य (दिवि) अकाश में (उरुव्यञ्चम्) बहुत से लोकों में फैलने वाले (रुक्मम्) प्रकाश को (अश्रेत्) प्रदान करता है।

अथवा-(गविष्ठिरः) पृथिवी पर स्थिर रूप से रहने वाला प्रजाजन (नमसा) नमन या दमनकारी बल से प्रभावित होकर (अग्नौ) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष में (स्तोमम्) अधिकार, वीर्य और सामर्थ्य (अश्रेत्) ऐसे प्रदान करती है जैसे परमेश्वर (दिवि) आकाश में (उरुव्यञ्चम् रुक्मम् इव) बहुत से लोको में व्यापक प्रकाशमान् सूर्य को स्थापित करता है।

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो ऽअध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥२६॥

ऋ० ४ । ७ । १ ॥

भा०—(अयम्) यह (प्रथमः) सर्व श्रेष्ठ पुरुष (अध्वरेषु यजिष्ठः होता) यज्ञों में, यज्ञ करने वालों में सबसे उत्तम यज्ञ करने वाले होता के समान, (अध्वरेषु) हिंसा रहित राष्ट्र के पालन के कार्यों में या युद्धों में (यजिष्ठः) सबसे उत्तम संगति या व्यवस्था करने हारा, (होता) दानशील होकर (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है। वही (धातृभिः) राष्ट्र के धारण करने वाले पुरुषों द्वारा (इह) इस राष्ट्र-शासन के मुख्य पद पर (धायि) स्थापित किया जाता है। (अप्नवानः भृगवः) ज्ञानी विद्वान् जिस प्रकार (वनेषु) वनों में (विभ्वं) व्यापक अग्नि को (विरुरुचुः) विविध उपायों से प्रकाशित करते हैं, प्रज्वलित करते हैं उसी प्रकार (वनेषु) रश्मियों में (चित्रम्) अद्भुत तेजस्वी, (विभ्वम्) विविध सामर्थ्यों से सम्पन्न (यम्) जिस प्रधान पुरुष को आश्रय ले

(विशे-विशे) प्रजा के हित के लिये (अप्नवानः भृगवः) रूप, विज्ञान शाली तेजस्वी पुरुष (विरुरुचुः) विविध प्रकार से प्रकाशित करते हैं। उसके लिये अपने २ गुण और शिल्प प्रकट करते हैं।

जनस्य गोपा ऽअंजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे। घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः॥२७॥

ऋ० ५ । ११ । १ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—(अग्निः) अग्रणी, नेता, राजा (नव्यसे) अभी नये २ प्राप्त किये (सुविताय) राष्ट्र के शासन-कार्य के संचालन के लिये (सुदक्षः) उत्तम बल, कर्म और ज्ञानवाला होकर (जागृविः) सदा जागरणशील, सावधान होकर (जनस्य गोपाः) समस्त प्रजाजन का पालक, रक्षक (अजनिष्ट) रहे। और वह (घृतप्रतीकः) मुखपर घृत लगाये ब्रह्मचारी के समान तेजस्वी स्वरूप होकर (दिविस्पृशा) आकाश में व्यापक (द्युमत्) कान्तिमान् तेजस्वी, ऐश्वर्य युक्त (बृहता) बड़े भारी राष्ट्र से सूर्य के समान तेज से (शुचिः) कान्तिमान्, निष्कपट, दोषरहित, शुद्ध होकर (भरतेभ्यः) प्रजा के भरण पोषण करने हारे विद्वान् पुरुषों से (द्युमत्) तेजस्वी होकर (विभाति) विविध ऐश्वर्यों से और तेजों गुणों से प्रकाशित होता है।

त्वामग्ने ऽअङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने। स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः २८

ऋ० ५ । ११ । ६ ॥

अग्निर्देवता । विराडार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान प्रकाशमान तेजस्विन् ! (गुहाहितम्) अपने हृदय के गुह्य स्थान में स्थित और (वने-वने शिश्रिया-

णम्) वन २, प्रत्येक आत्मा आत्मा में विद्यमान (त्वाम्) तुझ परमेश्वर का (अंगिरसः) ज्ञानी योगाभ्यासी पुरुष जिस प्रकार (अनु अविन्दन्) साक्षात् दर्शन करते हैं या प्रथम अपने आत्मा का और फिर उसमें भी व्यापक तेरा साक्षात् करते हैं और जिस प्रकार (वने-वने शिश्रियाणम्) प्रति पदार्थ या प्रत्येक काष्ठ में या प्रत्येक जल के परमाणु में विद्यमान (गुहा हितम्) गुप्त रूप से स्थित अग्नि तत्त्व को (अङ्गिरसः) विज्ञान वेत्ता (अनु अविन्दन्) प्राप्त करते हैं और जिस प्रकार (सः) वह तू (मथ्यमानः) प्राणायाम, ज्ञान, ध्यानाभ्यास से मथित होकर परमेश्वर प्रकट होता है और जिस प्रकार अरणियों से मथा जाकर अग्नि प्रकट होता है उसी प्रकार (मथ्यमानः) अपनी और शत्रु सेना के बीच में युद्धादि द्वारा मथा जाकर (महत् सहः) बड़े भारी बल रूप में (जायसे) प्रकट होता है। हे (अंगिरः) सूर्य के समान या अंगारों के समान तेजस्विन् ! या शरीर में प्राण के समान राष्ट्र के प्राणरूप ! (त्वाम्) तुझको (सहसः पुत्रम्) बल का पुञ्ज, शक्ति का पुतला शक्ति से उत्पन्न हुआ (आहुः) कहते हैं।

सखा॑यः॒ सं वः॑ स॒म्यञ्च॒मिषँ॒ स्तोमं॑ चा॒ग्नये॑ ।
वर्षि॑ष्ठाय क्षि॒ती॒नामू॒र्जो नप्त्रे॒ सह॑स्वते ॥ २६ ॥

ऋ० ५ । ७ । १ ॥

इष ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड्नुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रजनो ! (वः) आप लोग (क्षितीनां वर्षिष्ठाय) भूमियों पर प्रचुर जल वर्षाने हारे मेघ के समान (क्षितीनां) राष्ट्र निवासी प्रजाजनों पर (वर्षिष्ठाय) समस्त कामना योग्य सुखों को वर्षण करने हारे और (वर्षिष्ठाय) सब निवासियों से सबसे ऐश्वर्य, ज्ञान और बल में बढ़े हुए और (ऊर्जः नप्त्रे) बल पराक्रम के बांधने, उसको नियम व्यवस्था में रखने वाले (सहस्वते) शत्रु विजयकारी बल से युक्त (अग्नये) अग्नि स्वरूप तेजस्वी पुरुष को (सम्यञ्चम् इषम्) सर्वो-

त्तम अन्न या अभिलाषा योग्य पदार्थ और (स्तोमं च) स्तुतियों या पदाधिकारों का (सं-भरत) अच्छी प्रकार प्रदान करो।

सꣳसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य ऽआ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ ३० ॥

ऋ० १० । १९ । १ ॥

संवनन ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! तेजस्विन् ! राजन् हे (वृषन्) प्रजाओं पर सुखों के वर्षक ! बलवन् ! तू (अर्यः) स्वामी होकर ही (सं युवसे) समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है। और (ईडः पदे) पृथ्वी के पृष्ठ पर (आ समिध्य से) सब तरह से प्रकाशित होता है। और (विश्वानि) समस्त (वसूनि) ऐश्वर्यों को (सः) वह तू (नः) हमें, (सम् सम् आभर) निरन्तर प्राप्त कर।

त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः।
शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे ॥ ३१ ॥

ऋ० १ । ४५ ६ ॥

प्रस्कण्वः ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् ॥

भा० – हे (चित्रश्रवस्तम) अद्भुत, आश्चर्यकारी नाना अन्न आदि ऐश्वर्यों और यशों के सबसे बड़े स्वामिन् ! हे (पुरुप्रिय) बहुत प्रजाओं के प्रिय ! अथवा राष्ट्र वासी प्रजाओं को प्रेम करने हारे ! हे (अग्ने) तेजस्विन् ! अग्रणी पुरुष ! (हव्याय) स्वीकार करने योग्य राष्ट्र के भार को (वोढवे) अपने ऊपर उठाने के लिये (विक्षु) प्रजाओं में से (जन्तवः) समस्त जन (शोचिष्केशम्) दीप्ति युक्त किरणों वाले सूर्य के समान दीप्तिमान् (त्वाम्) तुझको (हवन्ते) बुलाते हैं। तुझे चाहते हैं।

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिꣳ स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥ ३२॥
ऋ० ७ । १६ । १ ॥

वशिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! (वः) तुम्हारे (एना नमसा) इस आदर सत्कार के भाव एवं अन्न द्वारा या तुम्हारे नमन, वशीकरण के अधिकार के साथ २ (प्रियं) तुम्हारे प्रिय, (चेतिष्ठम्) तुम सबको खूब चेताने वाले धर्म मार्ग को उत्तम रीति से बतलाने वाले (अरतिम्) अत्यन्त बुद्धिमान्, (स्वध्वरम्) उत्तम यज्ञशील, अहिंसक (विश्वस्य दूतम्) सबके आदर योग्य सर्वत्र व्यापक (अमृतम्) स्वयं अविनाशी, स्थिर अथवा (अमृतम्) सब कार्यों के मूल आश्रयरूप (ऊर्जः नपातम्) बल को विनष्ट न होने देने हारे । अग्रणी राजा को (आ हुवे) मैं बुलाता हूं । आप सबके सामने प्रस्तुत करता हूं ।

विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम् ।
स योजते ऽअरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः ।३३।
ऋ० ७ । १६ । १ । २ ॥

अग्निर्देवता । निचृद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(विश्वस्य दूतम्) संघ के पूजनीय या सब के समान रूप से प्रतिनिधि (अमृतम्) अविनष्ट, दीर्घायु पुरुष को मैं प्रस्तुत करता हूं । (विश्वस्य दूतम् अमृतम्) सब दुष्टों के तापक राष्ट्र के लिये अमृतस्वरूप पुरुष को मैं प्रस्तुत करता हूं । (सः) वह (अरुषा) रोष रहित, सौम्य स्वभाव के (विश्वभोजसा) समस्त विश्व के पालक, सबके अन्न देने वाले सामर्थ्य से युक्त होकर (योजते) सबको सन्मार्ग में लगाता है । (स्वाहुतः) उत्तम रीति से बुलाया जाकर ही (सः दुद्रवत्)

रथादि से गमन करता है। अथवा (अरुपा = अरुपौ) वह दोष रहित सौम्य स्वभाव के (विश्वभोजसौ) समस्त जगत् के पालक, उसको भोग करने में समर्थ दो प्रधान पुरुषों को राष्ट्र कार्य में रथ में दो अश्वों के समान (योजते) नियुक्त करे। इस प्रकार (सु-अ हुतः) उत्तम रीति से अधिकार प्राप्त करके (सः) यह (दुद्रवत्) राज्य कार्य का संचालन करे।

स दुद्रवत् स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवꣳ राधो जनानाम् ॥ ३४ ॥

ऋ० ७ । १६ । २ ॥

अग्निर्देवता । आर्ष्यनुष्टुप । गांधारः ॥

भा०—(सः स्वाहुतः दुद्रवत्) वह अच्छी प्रकार अधिकार प्राप्त करके राष्ट्र के कार्य को रथ के समान चलाता है। और (सः स्वाहुतः दुद्रवत्) वह उत्तम आदर से बुलाया जकर आता है। वह (सुब्रह्मा) राजा, उत्तम ब्रह्मा, विद्वान् ब्रह्मवेत्ता से युक्त, (यज्ञः) यज्ञ के समान उत्तम विद्वानों से युक्त होकर (वसूनां) राष्ट्र में बसने वाले (जनानाम्) मनुष्यों के लिये (सुशमी) उत्तम कर्मवान् होकर (देवं) रमण करने, भोगने योग्य (राध्यः) ऐश्वर्य को (दधाति) प्रदान करतो है।

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो।
अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः ॥ ३५ ॥ ऋ० १ । ७१ । ४ ॥

गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (सहसः यहो) बल के कारण उच्च पद को प्राप्त और आदर पूर्वक सम्बोधन करने योग्य राजन्! हे (अग्ने) अग्रणी नेतः। तू (गोमतः) गौ आदि पशु सम्पत्ति से युक्त (वाजस्य) ऐश्वर्य का (ईशानः) स्वामी है। हे (जातवेदः) ऐश्वर्यवान्! राजन्! (अस्मे) हमें तू (महि श्रवः) बड़ा भारी अन्न आदि ऐश्वर्य, कीर्त्ति (धेहि) प्रदान कर।

'यहुः'—यातेर्ह्वातेश्चौणादिके मृगय्वादित्वात् कुप्रत्यये निपातनाद्रूप-सिद्धिः । यातः प्राप्तः पुण्यवशेन हूयते च स्वनाम्ना, इति यहुरिति देवराजः । यहुर्यातश्चाहूतश्चेति माधवः ॥

स ऽइधानो वसुष्कविरग्निरीडेन्यो गिरा ।
रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥ ३६ ॥ ऋ० १ । ७९ । ५ ॥

गोतमो राहूगण ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—राजन् ! (सः) वह तू हे (इधानः) अपने तेज से देदीप्यमान (वसुः) सब प्रजा का बसाने हारा, (कविः) दूरदर्शी, क्रान्तदर्शी, विद्वान्, मेधावी (गिरा) वाणियों से (ईडेन्यः) सदा स्तुति योग्य होकर हे (पुर्वणीक) बहुत से सेना-बल से युक्त राजन् ! तू (अस्मभ्यं) हमारे (रेवत्) धनैश्वर्य से युक्त राष्ट्र में (दीदिहि) निरन्तर तेजस्वी होकर रह ।

क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः ।
स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ ३७ ॥ ऋ० १ । ९ । ६ ॥

गोतमो राहूगण ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (राजन्) राजन् ! तेजस्विन् ! हे (अग्ने) अग्ने ! हे (तिग्मजम्भ) तीक्ष्ण होकर शत्रुओं के अंग भंग करने वाले ! (तिग्मजम्भ) वज्र के समान या वज्र या खड्ग रूप दंष्ट्रा वाले, खड्गों से शत्रु को खा जाने वाले राजन् ! (क्षपः) रात्रि के अवसरों में (वस्तोः उत उषसः) दिन और प्रातः कालों के अवसरों में भी और सदा सब काल में (सः) वह तू (रक्षसः) प्रजा के नाशक राक्षसों को (प्रति दह) एक २ करके भस्म कर डाल ।

भद्रो नोऽअग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रोऽअध्वरः ।
भद्राऽउत प्रशस्तयः ॥ ३८ ॥ ऋ० ८ । १९ । १९ ॥

सोभरिः काण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । उष्णिक् ककुब्वा । ऋषभः । तृचः प्रगाथः ॥

भा०—(नः) हमारे लिये (आहुतः) अग्निहोत्र द्वारा आहुतियों से प्रदीप्त अग्नि के समान (आहुतः) सब प्रकार से आदर पूर्वक, नाना ऐश्वर्यों से पुरस्कृत, शत्रुसंतापक, अग्रणी पुरुष (भद्रः) हमें कल्याणकारक हो । (रातिः भद्रा) उसका दान भी हमें सुखदायी हो । हे (सुभग) उत्तम ऐश्वर्यवन् ! (अध्वरः) तेरा हिंसारहित राज्य पालन का कार्य (भद्रः) सबको सुखप्रद हो । (उत) और (प्रशस्तयः) उत्तम प्रशंसाएं और प्रशंसा योग्य कार्य भी (भद्रा) सुखदायी हों ।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥ स्फुटम् ॥

समस्त ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान, वैराग्य ये छः पदार्थ 'भग' कहाते हैं ।

भ॒द्रा ऽउ॒त प्रश॑स्तयो भ॒द्रं मनः॑ कृणुष्व वृत्र॒तूर्य्ये॑ ।
येना॑ स॒मत्सु॑ सा॒सहः॑ ॥ ३९ ॥ ऋ० १ । ९ २० ॥

सोभरिः काण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(भद्रा उत प्रशस्तयः) और समस्त स्तुतियां सुखकारी हों और तू (वृत्रतूर्ये) नगर को घेरने वाले, सन्मर्यादा के लोप करने वाले दुष्ट पुरुषों के नाशक, संग्राम कार्यों में अपना (भद्रं मनः) कल्याण युक्त चित्त (कृणुष्व) प्रदान कर । (येन) जिससे (समत्सु) संग्रामों में तू उनका (सासहः) पराजय करने में समर्थ हो ।

येना॑ स॒मत्सु॑ सा॒सहो॒ऽव॑ स्थि॒रा त॑नुहि॒ भूरि॒ शर्ध॑ताम् ।
व॒नेमा॑ ते ऽअ॒भिष्टि॑भिः ॥ ४० ॥ ऋ० ८ । ९ । १० ॥

सोभरिः काण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(येन) क्योंकि (समत्सु) संग्रामों में तू (सासहः) शत्रुओं को पराजय करने में समर्थ रहे । अतः ((शर्धताम्) बल पराक्रमशील

पुरुषों के (स्थिरा) स्थिर सैन्यों को (अव तनुहि) अपने अधीन विस्तृत रूप से रख । और हम (अभिष्टिभिः) अभीष्ट कामनाओं और अभिलाषाओं के सहित (ते) तेरे अधीन (वनेम) ऐश्वर्य का भोग करें ।

अ॒ग्निं तं म॑न्ये॒ यो वसु॒रस्तं॒ यं यन्ति॑ धे॒नव॑: ।
अस्त॒मर्व॑न्त ऽआ॒शवो॒ऽस्तं॒ नित्या॑सो वा॒जिन॒ ऽइष॑ᳬ स्तो॒तृभ्य॒
आ भ॑र ॥ ४१ ॥ ऋ० ५ । ६ । १ ॥

कुमारवृषावृषी । अग्निर्देवता । निचृत् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यः) जो (वसुः) गृहस्थ के समान व प्रजाओं का बसाने हारा है और (यं) जिसके पास (धेनवः) दुधार गौवें और उनके समान समृद्ध प्रजाएं (अस्तम् यन्ति) घर के समान शरण समझ कर प्राप्त हों और (आशवः) शीघ्र गमनकारी (अर्वन्तः) अश्व और अश्वारोही गण (अस्तं यन्ति) जिसको अपना गृह सा समझ कर शरण होते हैं । और (वाजिनः) वेगवान् या ऐश्वर्यवान् (नित्यासः) नित्य, सदा स्थायी रूप से रहने वाले गृहस्थ पुरुष (यं अस्तं यन्ति) जिसको अपना घर सा शरण जान कर प्राप्त होते हैं मैं तो (तं अग्निम् मन्ये) उस सब के अग्रणी, नेता, बलवान् पुरुष को 'अग्नि' शब्द से कहाने योग्य मानता और जानता हूं । ऐसे गुणों से युक्त सर्वाश्रय हे अग्ने ! राजन् ! तू (स्तोतृभ्यः) सत्य गुणों के प्रकाशक विद्वानों को (इषम्) अन्न आदि ऐश्वर्य (आभर) प्राप्त करा, प्रदान कर ।

सो ऽअ॒ग्निर्यो वसु॑र्गृ॒णे सं यमा॒यन्ति॑ धे॒नव॑: ।
सम॑र्व॑न्तो रघु॒द्रुव॒: सꣳ सु॑जा॒तास॑: सू॒रय॒ ऽइष॑ᳬ स्तो॒तृभ्य॒
आ भ॑र ॥ ४२ ॥ ऋ० ५ । ६ । २ ॥

वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः । पांक्तिः । पञ्चमः ॥

४१-४३-ऋग्वेदे सुश्रुत आत्रेय ऋषिः ॥

भा०—(यः वसुः) जो सबको बसाने वाला है और (यं धेनवः सम् आयन्ति) जिसके पास दुधार गौवों के समान समृद्ध प्रजाएं शरण आती हैं। और (रघुद्रुवः अर्वन्तः) तीव्रवेग से जाने वाले अश्व और अश्वारोही पुरुष (यं सम् आयन्ति) जिसके पास शरण आते हैं। और (यम्) जिसके पास (सुजातासः सूरयः) उत्तम रूप से विद्या आदि में कुशल विद्वान् पुरुष पहुंचते हैं (सः अग्निः) वह 'अग्नि' प्रकाशमान् तेजस्वी नेता कहाने योग्य हैं। (गृणे) ऐसा मैं कहताहूं या उसकी मैं स्तुति करता हूं। हे राजन् ! (स्तोतृभ्यः) उत्तम गुणों के वक्ता विद्वानों को तू (इषं आ भर) अन्न आदि भोग्य पदार्थ प्रदान कर।

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष ऽआसनि।
उतो न ऽउत्पुपूर्या ऽउक्थेषु शवसस्पत ऽइषंᳪ स्तोतृभ्य ऽआ-भर॥ ४३॥ ऋ० । ५ । ६ । ९॥

वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृत् पङ्क्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे (सुश्चन्द्र) शोभन आचारवान् और प्रजा के आह्लादक ! अथवा प्रजा को उत्तम गुणों से रंजन करने हारे ! अथवा उत्तम ऐश्वर्यवान् ! तू (उभे दर्वी) चमसों के समान फैलने वाले दोनों हाथों को जिस प्रकार पान करने वाला पुरुष अपने (आसनि) मुख पर धर लेता है उसी प्रकार तू भी (उभे दर्वी) शत्रु-सेनाओं को विदारण करने में समर्थ दोनों तरफ विस्तृत दोनों पक्षों या बाहुओं (Wings) को अपने (आसनि) मुख्य भाग पर (श्रीणीषे) आश्रित रखता, उनको नियुक्त करता है, उनको अपनी सेवा में लगाता है। हे (शवसः पते) बल के स्वामिन् ! तू (नः) हमें (उक्थेषु) ज्ञानों और उत्तम स्तुति योग्य व्यवहारों में (उत्पुपूर्याः) ऊपर तक भर दे, या उत्तम पद तक पालन पोषण कर। (इषं स्तोतृभ्यः आ भर) विद्वानों को अन्नादि भोग्य पदार्थ प्राप्त करा।

गुरु के पक्ष में—हे गुरो ! अल्हादक (उभे दर्वी) अज्ञान के नाशक ज्ञान और क्रियायोग दोनों को (आसनि श्रीणीषे) मुख्य रूप से, परिपक्व करा और (उक्थेपु) विद्याओं में हमें पूर्ण कर ।

अग्ने॒ तम॒द्याश्वं॒ न स्तोमैः॒ क्रतुं॒ न भ॒द्रꣳ हृ॑दि॒स्पृश॑म् ।
ऋ॒ध्यामा॑ त॒ ऽओहैः॑ ॥ ४४ ॥ ऋ० ४ । १० । १ ॥

अग्निर्देवता । आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नेतः ! (अश्वं न) जिस प्रकार वेगवान् अश्व को शीघ्रता से पहुंचा देने के कारण उत्तम साधु-वादों और अन्नों से समृद्ध करते हैं और (स्तोमैः क्रतुं न) जिस प्रकार स्तुति समूहों और वेद मन्त्रों से यज्ञ कर्म को समृद्ध करते हैं। उसी प्रकार (भद्रं) कल्याणकारी (हृदिस्पृशम्) हृदय में स्पर्श करने वाले, अतिप्रिय (तम्) उस परम उपकारी तुझ को भी (ते) तेरे योग्य (ओहैः) नाना पुरस्कार योग्य पदार्थों से (ऋध्याम) समृद्ध करें ।

अधा॒ ह्य॑ग्ने॒ क्रतो॑र्भ॒द्रस्य॒ दक्ष॑स्य सा॒धोः ।
र॒थीर्ऋ॒तस्य॑ बृह॒तो ब॒भूथ॑ ॥ ४५ ॥ ऋ० ४ । १० । २ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! (अध हि) और निश्चय से (भद्रस्य) सुखकारी कल्याणकारी, (दक्षस्य) बलवान् (साधोः) कार्यसाधक उत्तम (बृहतः) महान् (ऋतस्य) सत्य यज्ञ, या राष्ट्र-सञ्चालन के कार्य का (रथीः) रथ के स्वामी के समान नेता (बभूथ) हो कर रह ।

ए॒भिर्नो॑ऽअ॒र्कैर्भवा॑ नो ऽअ॒र्वाङ् स्व॒र्ण ज्योतिः॑ ।
अग्ने॒ विश्वे॑भिः सु॒मना॒ ऽअनी॑कैः ॥ ४६ ॥ ऋ० ४ । १० । ३ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) हे अग्रणी राजन् ! विद्वन् ! (एभिः अर्कैः) इन अर्चना

४४-४६—ऋग्वेदः वामदेवो गौतम ऋषिः ।

योग्य पूजनीय विद्वानों के साथ और (विश्वेभिः) समस्त (अनीकैः) सैन्य-बलों के साथ रहकर भी (अर्वाङ्) साक्षात् (स्वः ज्योतिः न) सुखकारी तेजस्वी, सूर्य के समान (सुमनाः) शुभ चित वाला होकर (भव) रह।

अ॒ग्निथं॒ होता॑रं मन्ये॒ दास्व॑न्तं॒ वसु॑थं॒ सू॒नुथं॒ सह॑सो जा॒तवे॑दसं॒ विप्रं॒ न जा॒तवे॑दसम्। य ऽऊ॒र्ध्वया॑ स्वध्व॒रो दे॒वो दे॒वाच्या॑ कृ॒पा। घृ॒तस्य॒ विभ्रा॑ष्टि॒मनु॑वष्टि शो॒चिषा॒जुह्वा॑नस्य स॒र्पिषः॥ ४७॥ ऋ० १। १२७। १॥

अग्निर्देवता। विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—मैं (होतारम्) ऐश्वर्य के ग्रहण करने वाले, (दास्वन्तं) ऐश्वर्य के दान करने वाले, (वसुम्) प्रजा के बसाने हारे, (सहसः सूनुम्) शत्रु को पराजय करने में समर्थ, सेना बल के संचालक, (जातवेदसम्) अग्नि के समान तेजस्वी, (विप्रम्) ज्ञानवान् पुरुष को (अग्निं मन्ये) 'अग्नि' अग्रणी नेता होने योग्य जानता हूं। (यः) जो (ऊर्ध्वया) अपने सर्वोच्च (देवाच्या) देव, विजिगीषु पुरुषों को वश करने वाली (कृपा) सामर्थ्य या शक्ति से स्वयं (सु-अध्वरः) सुरक्षित, उत्तम राष्ट्र का स्वामी, अहिंसित (देवः) राजा विजिगीषु होकर (आजुह्वानस्य सर्पिषः) आहुति दिये गये घृत की (शोचिषा) कान्ति से जिस प्रकार अग्नि जाज्वल्यमान होता है उसी प्रकार (आजुह्वानस्य) चारों तरफ से युद्ध में आ आकर टूट पड़ने वाले (सर्पिषः) सर्पणशील, विविध पैंतरों से चलने वाले सेना-बल के (शोचिषा) तेज से, लपटों से (घृतस्य) तेज की (विभ्राष्टिम्) विविध प्रकार की दीप्ति की (अनुवष्टि) कामना करता है।

अग्ने॒ त्वन्नो॒ ऽअन्त॑म ऽउ॒त त्रा॒ता शि॒वो भ॑वा वरू॒थ्यः। वसु॑र॒ग्निर्वसु॑श्रवा॒ ऽअच्छा॑ नक्षि द्यु॒मत्त॑मꣳ र॒यिन्दाः।

४७—ऋग्वेदे परुच्छेपो दैवोदासि ऋषिः॥

तं त्वा॑ शोचिष्ठ दीदिवः सु॒म्नाय॑ नू॒नमी॑महे॒ सखि॑भ्यः
॥ ४८ ॥ ऋ० ५ । २४ । १ ॥

भा०—व्याख्या देखो (अ० ३ । २५, २६) ।

येन॒ ऋष॑य॒स्तप॑सा स॒त्रमाय॒न्निन्धा॑ना ऽअ॒ग्निꣳ स्व॑रा॒भर॑न्तः ।
तस्मि॑न्न॒हं नि द॑धे॒ नाके॑ ऽअ॒ग्निं यमा॒हुर्मन॑व स्ती॒र्णब॑र्हिषम् ॥४९॥

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(येन) जिस (तपसा) तप, सत्य धर्म के अनुष्ठान और तपश्चर्या के बल से (ऋषयः) दीर्घदर्शी, वेदमन्त्रार्थ के ज्ञाता (सत्रम् आयन्) सत्य ज्ञान को प्राप्त होते हैं । और (यम्) जिस (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ज्योति को (इन्धानाः) प्रज्वलित करते हुए (स्वः) सुखमय लोक और आत्मप्रकाश को (आभरन्तः) प्राप्त करते हुए (सत्रम्) सत्य सुख को प्राप्त करते हैं । (तस्मिन्) उसी (लोके) सुखमय लोक या पद पर मैं (अग्निम्) अग्रणी और अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को (नि दधे) स्थापित करता हूँ । (यम्) जिसको (मनवः) मनुष्य लोग (स्तीर्णबर्हिषम्) विस्तृत एवं महान् आकाश को लांघ कर विराजमान सूर्य के समान समस्त प्रजाओं से ऊपर या इस लोक पर अधिष्ठाता रूप से विराजमान बतलाते हैं ॥ शत० ८ । ६ । ३ । ११ ॥

'स्तीर्णबर्हिषम्'—प्रजा वै बर्हिः । कौ० ५ । ७ ॥ पशवो वै बर्हिः । ऐ० २ । ४ ॥ अयं लोको बर्हिः श० १ । ४ ॥ २४ । क्षत्रं वै प्रस्तरो विश इतरं बाहः । श० १ । ३ । ४ । १६ ॥

तं पत्नी॑भि॒रनु॑ गच्छेम देवाः पु॒त्रैर्भ्रातृ॑भिरु॒त वा॒ हिर॑ण्यैः ।
नाकं॑ गृभ्णा॒नाः सु॑कृ॒तस्य॑ लो॒के तृ॒तीये॑ पृ॒ष्ठे ऽअधि॑ रोच॒ने दि॒वः ॥५०॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वानो ! विजिगीषु पुरुषो ! (तम्) उस पूर्व

कहे अग्रणी नेता और विद्वान् की हम लोग (पुत्रैः) पुत्रों, (भ्रातृभिः) भाइयों, (पत्नीभिः) धर्मपत्नियों, (उत वा) और (हिरण्यैः) सुवर्ण आदि धातुओं सहित (नाकम्) परम सुख का (गृभ्णानाः) ग्रहण करते हुए अर्थात् सुख प्राप्ति के साधनों का उपार्जन करते हुए (सुकृतस्य) उत्तम धर्माचरण के (लोके) लोक में और (तृतीये) उत्कृष्टतम (पृष्ठे आश्रय में (दिवः) सूर्य के प्रकाश से (रोचने) प्रकाशित,अन्धकार रहित स्थान में (अनु गच्छेम) अनुसरण करें । शत० ८ । ६ । ३ । १९ ॥

आ वाचो मध्यमरुहद् भुरण्युरयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः ।
पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥५१॥

अग्निर्देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम्) यह (भुरण्युः) प्रजा का भरण पोषण करने में समर्थ, (सत्पतिः) सत्य का, सत् जनों का पालक (चेकितानः) विद्वान् (अग्निः) अग्रणी, राजा (वाचः) वाणी, वेदत्रयी के, अथवा राज्य की व्यवस्थाओं के (मध्यम्) मध्य स्थान, मध्यस्थ न्यायकर्त्ता पद को (अरुहत्) प्राप्त करे । और (पृथिव्याः पृष्ठे) पृथिवी, भूमि की पीठ पर (निहितः) स्थापित होकर सूर्य के समान (दविद्युतत्) सत्य का प्रकाश करे । और (ये पृतन्यवः) जो सेना द्वारा संग्राम या कलह करना चाहते हैं उनको (अधः पदम् कृणुताम्) नीचे स्थान पर गिरा दे । शत० ८ । ६ । ३ । २० ॥

अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन् ।
विभ्राजमानः सरिरस्य मध्य ऽउप प्र याहि दिव्यानि धाम ॥५२॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह अग्रणी, नेता, राजा (वीरतमः) वीरों में सबसे अधिक वीर, (वयोधाः) सबसे अधिक दीर्घायु अथवा अधीनों

के जीवनों का पोषक या अन्नादि ऐश्वर्यों का धारक, (सहस्रियः) हजारों योद्धाओं के बराबर बलवान्, और (अप्रयुच्छन्) प्रमाद न करता हुआ (द्योतताम्) प्रकाशित हो। (सरिरस्य मध्ये) अन्तरिक्ष के बीच में सूर्य के समान (सरिरस्य मध्ये) इस लोक समूह के बीच (विभ्राजमानः) विशेष तेज से प्रकाशमान होकर हे राजन् ! तू (दिव्यानि धामा) दिव्य अधिकारों, तेजों और पदों को (उप प्रयाहि) भली प्रकार प्राप्त कर। शत० ८। १। ३ २१॥

सम्प्रच्यवध्वमुप संप्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम्।
पुनः कृण्वाना पितरा युवानान्वाताꣳसीत् त्वयि तन्तुमेतम् ॥५३॥

अग्निर्देवता। भुरिगार्षी पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! प्रजाजनो ! आप लोग (सम् प्रच्यध्वम्) अच्छी प्रकार मिलकर आओ और (सं प्रयात) साथ मिलकर प्रयाण करो। हे (अग्ने) अग्रणी नेता और विद्वान् पुरुषो ! आप सब मिलकर (देव-यानान् पथः) देवों, विद्वानों के जाने योग्य मार्गों को, धर्माचरण की व्यवस्थाओं को और देव, राजा के जाने योग्य विशाल मार्गों को या विजयार्थी सेनाओं के जाने योग्य मार्गों को (कृणुध्वम्) बनाओ। और हे (अग्ने) नेतः राजन् ! (युवाना पितरा) युवा माता पिता, (पुनः) वार २ (त्वयि) तेरे आश्रय पर, तेरी रक्षामें रहते हुए (कृण्वाना) ब्रह्म-चर्य का पालन एवं गृहस्थ धर्म का आचरण करते हुए (एतम्) इस (तन्तुम्) विस्तृत राष्ट्र रूप यज्ञ को या प्रजोत्पालन रूप सन्तति कार्य को (अनु आतांसीत्) बराबर बनाये रक्खें।

०'कृण्वानाः' 'पितरा' ऐसा महीधर और उव्वटाभिमत पाठ है। तदनुसार—प्रजाजन ही (युवाना पितरौ कृण्वानाः) युवा युवतियों को ही अगली सन्तान के निमित्त पिता माता बनाते हुए (त्वयि) तुझ राजा

के आश्रय में (पुनः एतम् तन्तुम् अनु-आतांसीत्) फिर भी इस प्रजातन्तु को बनाये रक्खे। शत० ८ । ६ । ३ । २१ ॥

पूर्व पक्ष में 'अन्वातांसीत्' यहां व्यत्यय से द्विवचन के स्थान में एक वचन है। और दूसरे पक्ष में बहु वचन के स्थान में एक वचन है। परन्तु यह शपथाभिमत पाठ के विरुद्ध होने से उपेक्षा योग्य है।

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥५४॥

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी, गृहपति के समान प्रजापालक राजन् ! तू (उद्बुध्यस्व) उठ, जाग, उत्कृष्ट धर्माचरण को जान। (त्वम्) तू (प्रति जागृहि) प्रत्येक कार्य के लिये जागृत रह, प्रत्येक प्रजा के लिये सावधान होकर रह। (त्वम् अयम्) तू और यह प्रजाजन दोनों मिलकर (इष्टापूर्ते) इष्ट, अभिलषित सुख के देने वाले उत्तम कर्म, दान, यज्ञ, तप आदि और 'पूर्त' शरीर और गृह को पूर्ण करने वाले ब्रह्मचर्य और कृषि कूप आदि कर्म, इनका (संसृजेथाम्) पालन करो और (अस्मिन्) इस (उत्तरस्मिन्) सर्वोत्कृष्ट (सधस्थे) एकत्र होने के समान, गृहस्थ और राष्ट्र में (विश्वेदेवाः) समस्त देवगण, विद्वान् और राजा लोग और (यजमानः च) यजमान, दाता, गृहपति और राष्ट्रपति भी (अधिसीदत) आकर विराजें। वे राष्ट्र पर अधिकार पदों को प्राप्त करें ॥ शत० ८ । ६ । ३ । २३ ॥

येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम्।
तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥५५॥ अथर्व० ९।५।१७॥

अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! राजन् ! गृहपते ! राष्ट्रपते !

(येन) जिस बल से तू (सहस्रं) हजारों अपरिमित प्रजाओं को (वहसि) धारण करता है। और (येन) जिस बल से (सर्ववेदसम्) समस्त ऐश्वर्यों और समस्त वेदोक्त ज्ञानों और कर्मों को (वहसि) धारण करता है (तेन) उस बल सामर्थ्य से (नः) हमारे (इमं यज्ञं) इस यज्ञ, गृहाश्रम, राष्ट्र पालनस्वरूप परस्पर संगत कर्त्तव्य को (देवेषु) विजयी और विद्वान् पुरुषों के आश्रय पर (स्वः गन्तवे) सुख प्राप्त करने के लिये (नय) सन्मार्ग पर ले चल। अर्थात् तू हमारे राज्य और गृह के कार्यों को विद्वानों के दिखाये मार्ग पर चला। ८ । ६ । ३ । २५ ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो ऽअरोचथाः ।
तञ्जानन्नग्न ऽआ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ ५६ ॥

व्याख्या देखो (अ० ३ । १४) और (अ० १२ । ५२) । शत० ८ । ६ । ३ । २४ ॥

तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू ऽअग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये ऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी ऽइमे शैशिरावृतू ऽअभिकल्पमाना ऽइन्द्रमिव देवा ऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ५७ ॥

शिशिरर्त्तुर्देवता । स्वराडुत्कृतिः । षड्जः ॥

भा०—(तपः तपस्यः च) 'तप और तपस्य' माघ और फाल्गुन दोनों (शैशिरौ ऋतू) शिशिर ऋतु के दो मास हैं। दोनों शिशिर कहाते हैं। अग्नेः अन्तः० इत्यादि (१६ । २५) के समान जानो। शत० ८।७।१।५॥

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ।
सूर्यस्तेऽधिपतिस्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ ५८ ॥

विदुषी देवता । भुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(परमेष्ठी) परम, सर्वोच्च स्थान पर स्थित सूर्य के समान, विद्वान् तेजस्वी राजा (त्वा) तुझ (ज्योतिष्मतीम्) सूर्य से प्रकाशित पृथ्वी के समान आश्रयभूत सकल ऐश्वर्य से युक्त पृथ्वी को (दिवः पृष्ठे) ज्ञान और प्रकाश के आश्रय में (सादयतु) स्थापित करे। शेष की व्याख्या देखो (अ० १४ । १४ ।) शत० ८ । ७ । २१, २२ ॥

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥५९॥
ता ऽअस्य सूददोहसः सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ ६० ॥
इन्द्रं विश्वा ऽअवीवृधन् समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम् ॥ ६१ ॥

भा०—व्याख्या देखो (अ० १२ मं० ५४, ५५, ५६ ॥) शत० ८ । ७ । २ । १-१९ ॥ ८ । ७ । ३ । ८ ॥

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थात् ।
आदस्य वातो अनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥६२॥
ऋ० ७ । ३ । २ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अश्वः) अश्व जिस प्रकार (यवसे अविष्यन्) घास के लिये जाना चाहता हुआ (प्रोथत्) अपने नाक, नथुने फड़ फड़ा कर शब्द करता है और (यदा) जब वह (महः संवरणात्) बड़े भारी अपने 'संवरण', बन्द रहने के स्थान, अस्तबल से (वि अस्थात्) विविशेष रूप से जाता है तब भी हिनहिनाता है । उसके अनुकूल वायु बहता है । तब

५८—परमेष्ठी सौरम् । सर्वा० ॥

उसका (व्रजनं) चाल (कृष्णम् अस्ति) बडा आकर्षक होता है। और जिस प्रकार वह (अग्नि) लौकिक अग्नि भी (यवसे) अपने भक्ष्य काष्ठ आदि में लगना चाहता हुआ (प्रोथत्) शब्द करता है। और जब (महः संवरणात्) अपने बड़े भारी आच्छादक काष्ठ आदि से (प्र वि अस्थात्) प्रकट होता है तब भी शब्द करता है। (आत्) और उसके पश्चात् अग्नि के प्रकट हो जाने पर (वातः वायु अस्य शोचिः अनुयाति) वायु इसकी ज्वाला के अनुकूल बहता है उसकी ज्वाला को बढ़ाता है, तब (ते व्रजनं कृष्णम् अस्ति) हे अग्ने ! तेरा व्रजन, गमन का स्थान, काला कोयला बन जाता है। इसी प्रकार हे राजन् ! तू भी (अवसे अश्वः नः) घास चारे के लिये लालायित अश्व के समान (अविष्यन्) राष्ट्र को प्राप्त करना अथवा शत्रु पर चढ़ाई के लिये जाना चाहता है तब और जब (महः संवरणात्) बड़े संवरण राजमहल आदि से निकल कर (वि अस्थात्) प्रस्थान करता है तब तू (प्रोथत्) शब्दों को करता हुआ, अपनी आज्ञाएं देता हुआ, गाजे बाजे के साथ आगे बढ़ता हुआ जाता है। (आत्) तब (अस्य शोचिः अनु) उस तेरे ज्वाला या तेज के अनुकूल (वातः) वायु के समान प्रबल वेगवान्, शत्रु को तोड़ फोड़ डालने वाला वीर सैन्य (अनुवाति) तेरे पीछे पीछे जाता है । (अध) और तब (ते व्रजनं) तेरा ऐसा प्रयाण करना (कृष्णम्) सब के चित्तों को आकर्षण करने वाला और शत्रुओं के राज्य-समृद्धि को खैंच लाने वाला या शत्रुओं को उखाड़ देने वाला (अस्ति) होता है। शत० ८।७।१।९-१२॥

आयोष्ट्वा सद॑ने सादयाम्यव॑तश्छायायां॒ समुद्रस्य॒ हृद॑ये ।
र॒श्मीवतीं भास्व॑तीमा या द्यां भास्या पृ॑थि॒वीमोर्व॒न्तरि॑क्षम् ॥६३॥

विदुषी देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राज्यशक्ते ! (रश्मिवतीम्) किरणों से युक्त, प्रभा के समान तेजस्विनी, (भास्वतीम्) सूर्य की दीप्ति के समान प्रकाशवाली (त्वा)

तुझ को (आयोः) न्याय मार्ग पर चलने वाले दीर्घायु, (अवतः) प्रजा के रक्षक राजा के (सदने) आश्रय पर और (छायायाम्) उसके आश्रय में और (समुद्रस्य हृदये) समुद्र के समान गम्भीर अक्षय कोशवान् राजा के (हृदये) हृदय में, उसके चित्त में (सादयामि) स्थापित करता हूं। तू (या) जो (द्याम्, पृथिवीम्, उरु अन्तरिक्षम्) आकाश, पृथिवी और विशाल अन्तरिक्ष तीनों को अपने तेज से (आभासि) प्रकाशित करती है ॥ शत० ८।७।३।१३ ॥

स्त्री पक्ष में—(आयोः) आयुष्मान्, पूर्णायु (अवतः) पालक (समुद्रस्य) गम्भीर, अक्षय वीर्यवान् पुरुष के (सदने) गृह में, उसकी (छायायाम्) छाया में, उसके गहरे हृदय में स्थापित करता हूं। तू प्रभा के समान रश्मिवती और भास्वती, तेजस्विनी हो। तू अपने सद्गुणों से तीनों लोकों को प्रकाशित कर।

प॒र॒मे॒ष्ठी त्वा॑ सादयतु दि॒वस्पृ॒ष्ठे व्यच॑स्वतीं॒ प्रथ॑स्वतीं॒ दिवं॑ यच्छ दिवं॑ दृꣳह दि॒वं मा हिꣳसीः। विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒ना-यो॑दा॒नाय॑ प्रति॒ष्ठायै॑ च॒रित्रा॑य। सूर्य॑स्त्वा॒भिपा॑तु म॒ह्या स्व॒स्त्या छ॒र्दिषा॒ शन्त॑मेन॒ तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद्ध्रु॒वे सी॑दतम् ॥ ६४॥

परमात्मा देवता। आकृतिः। पंचमः॥

भा०—व्याख्या देखो (१४ । १२) (१४ । १४) (१५ । ५८) शत० ८ । ७ । १ । २२ ॥ शत० ८ । ७ । ३ । १८ । १९ ॥

स॒ह॒स्र॑स्य प्र॒मासि॑ स॒ह॒स्र॑स्य प्रति॒मासि॑।
स॒ह॒स्र॑स्यो॒न्मासि॑ सा॒ह॒स्रोऽसि स॒ह॒स्रा॑य त्वा ॥ ६५ ॥

विद्वान्देवता। विराड् अनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—हे राजन्! हे राष्ट्रशक्ते! स्त्रि! और हे पुरुष! तू (सहस्रस्य प्रमा असि) हजारों पदार्थों से युक्त इस विश्व का यथार्थ

ज्ञान करने वाला है। तू (सहस्रस्य प्रतिमा असि) सहस्रों ऐश्वर्यों का मापक अर्थात् सहस्रों के बल के तुल्य बलवान् है। (सहस्रस्य उन्मा) असि) हजारों से अधिक ऊंचे पद मान, प्रतिष्ठा और बल से युक्त है। इसी से तू (साहस्रः असि) सहस्रों के ऊपर अधिष्ठाता होने योग्य है। (सहस्राय त्वा) तुझे मैं 'सहस्र' नाम उच्च पद के लिये नियुक्त करता हूँ। शत० ८। ७। ४। ११॥

॥ इति पञ्चदशोऽध्यायः ॥

[तत्र पञ्चषष्टिर्ऋचः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः॥

॥ अथ षोडशोऽध्यायः ॥

अध्यायस्य परमेष्ठी देवाः प्रजापतिर्वा ऋषिः । रुद्रो देवता ।

॥ ओ३म् ॥ नमस्ते रुद्र मन्यवऽउतो तऽइषवे नमः ।
बाहुभ्यामुत ते नमः ॥ १ ॥

आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (रुद्र) दुष्टों के रुलाने वाले राजन् ! (ते मन्यवे) तेरे मन्यु को अर्थात् मन्युस्वरूप तेरे अधीन रहने वाले तीक्ष्ण वीर पुरुषों को (नमः) नमस्कार या उनका भोग्य अन्न और वस्त्र, शस्त्र और वीर्योचित कर्म या वीर्य, शक्ति प्राप्त हो । (उतो) और (ते) तेरे (इषवे) इषु, शत्रुओं के मारने वाले बाण अर्थात् बाणधारी सैन्य को (नमः) अन्न प्राप्त हो । (ते बाहुभ्याम्) तेरी बाहुओं को, बाहु रूप सेना के दस्तों को (नमः) शत्रु को नमाने वाला वीर्य प्राप्त हो ।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि ॥ २ ॥

स्वराड् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (रुद्र) शत्रुओं के रुलाने और सज्जनों को सुख देने हारे ! राजन् ! (या) जो (ते) तेरी (शिवा) कल्याणकारिणी (अघोरा) अघोर, उपद्रवरहित, शान्त, सौम्य रूप वाली (अपापकाशिनी) पाप से अतिरिक्त पुण्य का ही प्रकाश करने वाली (तनूः) विस्तृत कानून आदि की व्यवस्था या आज्ञा रूप वाणी है (तया) उस (तन्वा शन्तमया) अति अधिक विस्तृत कल्याण और शान्तिदायिनी वाणी, राज्यव्यवस्था से, हे

१—अथातः शतरुद्रियो होमः ॥ १-३ परमेष्ठी कुत्स ऋषिः । द० ।

(गिरिशन्त) आज्ञारूप, व्यवस्था या वाणी से ही सब को शान्ति देने वाले ! तू (अभि चाकशीहि) सब को देख, सब पर दृष्टि रख या तू राज्य का शासन कर ।

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥ ३ ॥

रुद्रो देवता । विराड् आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (गिरिशन्त) आज्ञारूप या वाणी में सब को शान्ति-दायक या मेघ के समान सुखों को सब पर बर्षानेवाले स्वरूप में सब को शान्तिदायक ! (याम् इषुम्) जिस इषु अर्थात् बाण आदि शस्त्र गण को तू (अस्तवे) शत्रुओं पर फेंकने के लिये (हस्ते) अपने हनन-कारी हाथ में (बिभर्षि) धारण करता है । हे (गिरित्र) विद्वानों के रक्षक या अपनी आज्ञा, व्यवस्था में सब के रक्षक ! (ताम्) उसको (शिवाम्) शिव, मंगलकारक (कुरु) बनाये रख । (पुरुषम्) पुरुषों, मनुष्यों और अन्य (जगत्) जंगम गौ आदि पशुओं को (मा हिंसीः) मत मार ।

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि ।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मथं सुमना असत् ॥ ४ ॥

रुद्रो देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा० — हे (गिरिश) समस्त वाणियों या आज्ञाओं में स्वयं आज्ञा-पक और व्यवस्थापक रूप से विद्यमान राजन् ! (त्वा) तुझको हम (शिवेन वचसा) कल्याणकारी, सुन्दर वचन से (अच्छ वदामसि) भली प्रकार निवेदन करते हैं । (यथा) जिससे (नः) हमारा (सर्वम् इत् जगत्) समस्त जगत् प्राणि वर्ग और राज्यव्यवहार (अयक्ष्मम्) राजयक्ष्मा आदि रोगों से रहित निर्विघ्न (सुमनाः) और परस्पर शुभ चित्त वाला (असत्) हो ।

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव ॥५॥

एकरुद्रो देवता । भुरिगार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ (दैव्यः) देवों, राजाओं और विद्वानों और शासकों का हितकारी, (भिषक्) शरीर-गत और राष्ट्र-गत रोगों और पीड़ाओं को दूर करने में समर्थ पुरुष (अधिवक्ता) सबसे ऊपर अधिष्टाता रूप से आज्ञापक होकर (अधि अवोचत्) आज्ञा दे । हे ऐसे समर्थ विद्वान्, राजन् ! तू (सर्वान् च अहीन्) समस्त प्रकार के सापों को जिस प्रकार विषवैद्य और गारुडिक वश करता है उसी प्रकार तू भी (अहीन् सर्वान्) सब प्रकार के सर्पों के समान कुटिलाचारी पुरुषों को (जम्भयन्) उपायों से विनाश करता हुआ और (सर्वाः च) सब प्रकार की (यातुधानीः) प्रजाओं को पीड़ा, रोग, कष्ट, बाधा देने वाली, (अधराचीः) नीचमार्ग में लगी हुई, दुराचारिणी, व्यभिचारिणी स्त्रियें वा नीच शक्तियां हैं, उन सबको (परा सुव) राष्ट्र से दूर कर ।

असौ यस्ताम्रो ऽअरुण ऽउत बभ्रुः सुमङ्गलः । ये चैनꣳ रुद्रा ऽअभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाꣳहेड ऽईमहे ॥ ६ ॥

रुद्रोदेवता निचृदार्षी पंक्ति । पञ्चमः ॥

भा०—(असौ यः) यह जो (ताम्रः) ताम्बे के समान रक्त, कठिन, शरीर एवं तेजस्वी (अरुणः) अग्नि के समान तेजस्वी, (बभ्रुः) सूर्य के समान पीले-लाल रंग का (सु-मङ्गलः) शुभ मंगल चिन्हों से अलंकृत हैं । अथवा यह जो (ताम्रः) सूर्य के समान लाल सुर्ख, तेजस्वी और शत्रुओं को क्लेशित कर देने में समर्थ और (अरुण) सूर्योदय के समय के सूर्य के समान गुलाबी प्रभा वाला, अथवा शत्रु से कभी न रोके

जाने वाला, अथवा सबका शरण्य (उत बभ्रुः) पीले धूम्र वर्ण का, कपिल, पाटल रंग का अथवा अन्न के समान सब प्रजा और भृत्य वर्गों का भरण, पोषण, पालन, करने में समर्थ (सु-मंगलः) सुखपूर्वक सर्वत्र विचरने में समर्थ है। और (ये च) जो भी (रुद्राः) शत्रु को रुलाने, रोकने वाले, या गभीर गर्जना करने वाले वीर गण (एनम् अभितः) इसके इर्द गिर्द (दिक्षु) समस्त दिशाओं में (सहस्रशः श्रिताः) हजारों की संख्या में विराजमान हैं (एषाम्) इनके (हेडः) रोष, क्रोध या अनादर भाव को हम (अव ईमहे) दूर करें शमन करें।

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः ।
उतैनं गोपाऽअदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः ।७।

७—१६ विराड् आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यः) जो (असौ) वह (नीलग्रीवः) गले में नीलमणि बांधे और (विलोहितः) विशेष रूप से लाल पोशाक पहने अथवा विविध गुणों और अधिकारों से उच्च पद को प्राप्त कर (अवसर्पति) निरन्तर आगे बढ़ा चला जाता है (एम्) उसको तो (गोपाः) गौवों के पालक गोपाल और (उदहार्यः) जल लाने वाली कहारियों तक भी (अदृश्रन्) देख लेती हैं और पहचानती हैं (सः) वह (दृष्टः) आखों से देखा जाकर (नः मृडयाति) हम प्रजाजनों को सुखी करे।

(६,७)—ब्रह्मध्यान में समाधि के अवसर के पूर्व ताम्र, अरुण, बभ्रु, नील, व रक्त आदि वर्णों का साक्षात् होता है। उस आत्मा के ही आधार पर (रुद्रः) रोदन शील सहस्रों प्राणी अश्रित हैं। हम उनका अनादर न करें। क्योंकि उनमें वही चेतनांश हैं जो हम में हैं। उसी आत्मा को नीलमणि के समान स्वच्छ कान्तिमान् अथवा लालमणि के समान विशुद्ध लोहित रूप से (गोपाः) इन्द्रिय-विजयी अभ्यासी जन और

(उदहार्यः) ब्रह्मामृत रस का आस्वादन करनेवाली चित्तभूमियें साक्षात् करती हैं, वह हमें सुखी करें ।

ईश्वर-क्षत्र में—वह पापियों को पीड़ित करने से 'ताम्र', शरण देने से 'अरुण', पालन पोषण करने से 'बभ्रु', सुखमय रूप से व्यापक होने से 'सुमङ्गल' है । समस्त (रुद्राः) बड़ी शक्तियां, उसी पर अश्रित हैं । हम उनका अनादर न करें । वह प्रलयकाल में या भूतकाल में जगत् को लीन करने वाला होने से 'नीलग्रीव' है, भविष्य में विविध पदार्थों का निरन्तर उत्पादक होने से 'विलोहित' है । उसको संयमी जन और ब्रह्मरसपायिनी ऋतंभरा आदि चित्त वृत्तियां साक्षात् करती हैं । वह ईश्वर हमें सुखी करें ।

नीवग्रीवाः = नीलास्यः—यथा चूलिकोपनिषदि नीलास्यः ब्रह्म शायिने । अत्र दीपिका—लीनमास्यम् मुखं प्रवृत्तिद्वारं रागादि येषां तथोक्तः । तत्र नलयोर्वर्णविपर्ययश्छान्दसः—

यस्मिन् सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजंगमम् ।
तस्मिन्नेव लयं यान्ति बुद्बुदाः सागरे यथा ॥ १७॥ चू० आ० ॥

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।
अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः ॥ ८ ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—पूर्वोक्त (नील-ग्रीवाय) शुद्ध सुन्दर कण्ठ स्वर वाले, नील मणि से भूषित कण्ठ के तुल्य विद्या से भूषित कण्ठ वाले विद्वान् (सहस्राक्षाय) सभासद् और प्रणिधि, चरों आदि द्वारा सहस्रों आंखों वाले सहस्रों पर दृष्टि रखने पर, (मीढुषे) प्रजा पर सुखों और शत्रु पर वाणों की वर्षा करने वाले सूर्य या मेघ के समान उदार, तेजस्वी राजा और सेनापति को (नमः अस्तु) शत्रुओं को नमाने का वज्र, बल, प्रजा पालन का सामर्थ्य, अन्न और आदर भाव प्राप्त हो । (अथो) और (ये) जो (अस्य)

इसके अधीन (सत्वानः) और भी सत्ववान्, सामर्थ्यवान्, बलवान् वीर पुरुष हैं (अहम्) मैं प्रजाजन (तेभ्यः) उनके लिये भी (नमः) अन्न आदि भोग्य पदार्थ, शस्त्रास्त्र बल और आदर (अकरम्) करूं, उनको दूं ।

प्र मुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरात्न्योर्ज्याम् ।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ॥ ६ ॥

भुरिगार्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे सेनापते ! अग्रणी नेतः ! वीर राजन् ! (धन्वनः) धनुष की (उभयोः आत्न्योः) दोनों कोटियों में (ज्याम्) ज्या, विजयशालिनी या शत्रुक्षयकारिणी, जयदायिनी डोरी को (प्रमुञ्च = प्रतिमुञ्च) जोड़ और (याः च) और जो (इषवः) बाण (ते हस्ते) तेरे हाथ में हैं (ताः) उनको तू हे (भगवः) ऐश्वर्यवन् ! (परा वप) दूर तक शत्रुओं पर फेंक ।

अथवा—(आत्न्योः ज्याम् प्र मुञ्च) हे भगवान् ! तू अपनी धनुष कोटियों की डोरी उतार ले । (हस्ते इषवः ताः परा वप) और जो हाथ में बाण हैं उनको दूर रख । हमें उनसे न मार (उव्वट)

अथवा—(याः ते हस्ते इषवः ताः उभयोः आत्न्योः ज्याम् उपरि नियोज्य परा वप) हाथ के बाणों को कोटियों पर लगी डोरी पर लगा कर उनके ऊपर फेंक, शत्रुओं से अपने पर फेंके बाणों को परे ही काट ।

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ२ऽ उत ।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः ॥ १० ॥

भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(कपर्दिनः) सुन्दर जटावान्, शुभ केशकलाप वाले, केशवान्, शिर पर शुभ फुनगी या मौर को धारण करने वाले वीर पुरुष का क्या

(धनुः विज्यम्) धनुष डोरी से रहित हो सकता है ? नहीं । (उत बाणवान् विशल्यः) तो क्या बाणों से भरा तर्कस बाणरहित हो सकता है ? नहीं । (अस्य याः इषवः) इसके जो इषु, बाण हैं क्या वे (अनशन्) नष्ट हो सकते हैं ? नहीं ! तो क्या (अस्य निषङ्गधिः) इसकी तलवार का कोश (आभुः) खाली रह सकता है ? कभी नहीं । प्रत्युत, सदा उसके धनुष पर डोरी, तर्कस में बाण, और हाथ में धनुष और कोष में तलवार रहनी आवश्यक हैं ।

या ते हेतिर्मीढुष्टम् हस्ते बभूव ते धनुः ।
तयास्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परि भुज ॥ ११ ॥

निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (मीढुस्तम) अति अधिक वीर्यशालिन् नरर्षभ ! या शत्रुओं पर मेघ के समान शरवर्षक ! (या ते) जो तेरे (हस्ते) हाथ में (हेतिः) वज्र और (ते धनुः बभ्रव) और तेरे हाथ में धनुष है (तया) उस (अयक्ष्मया) रोगादि रहित, विशुद्ध बाण से (त्वम्) तू (विश्वतः) सब प्रकार से (अस्मान्) हमें (परि भुज) सब तरफ से रक्षा कर ।

सेना के शस्त्रों और अस्त्रों में रोगकारी, विष आदि का प्रयोग नहीं होना चाहिये ।

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः ।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्निधेहि तम् ॥ १२ ॥

निचृवार्ष्यनुष्टुप् । गन्धारः ॥

भा०—(ते धन्वनः हेतिः) हे रुद्र ! तेरे धनुष का बाण (अस्मान्) हमें सदा (विश्वतः) सब ओर से (परि वृणक्तु) रक्षा करे, शत्रुओं से बचावे । वा तेरे बाण आदि शस्त्र हमसे सदा दूर रहें । उससे हम पीड़ित

१२, ११. मन्त्रक्रमविपर्ययः । काण्व० ।

न हों। (अथो) और (यः तव इषुधिः) जो तेरे बाण आदि शस्त्र हैं उनको (आरे निधेहि) दूर रख। शस्त्रागार और तोपखाना नगर से पर्याप्त दूर हो जिससे फटने पर नगर की हानि न हो! शस्त्रों तोपों को नगर के चारों ओर रक्षार्थ लगावें।

अवतत्य धनुष्ट्वᳪं सहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव ॥ १३ ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप्। गान्धारः

भा०—हे (सहस्राक्ष) चर आदि प्रणिधि और सभा के विद्वान् सभासदों रूप हजारों आखों वाले, सहस्रों कार्यों पर आंख रखने वाले! राजन्! हे (शतेषुधे) सैकड़ों बाणों के रखने के तूणीर और शस्त्रागारों वाले! तू (धनुः अवतत्य) धनुष को तान कर और (शल्यानाम् मुखा) बाणों के फलों के मुखों को खूब तेज़ करके भी (नः) हमारे लिये (शिवः) कल्याणकारी और (सुमनाः भव) हमारे प्रति शुभ चित्त वाला होकर रह।

नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे।
उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने ॥ १४ ॥

स्वराडार्ष्युष्णिक्। ऋषभः॥

भा०—(ते) तेरे (अनातताय) अविस्तृत, संक्षिप्त परन्तु (धृष्णवे) शत्रु का धर्षण करने, मानभङ्ग करने वाले (आयुधाय) आयुध, हथियार शस्त्र का (नमः) बल वीर्य प्रकट हो। अथवा (आ-युधाय) सब ओर लड़ने वाले (अनातताय) न अति विस्तृत, अपितु स्वल्पकाय होकर भी (धृष्णवे) शत्रु का पराजय करने में समर्थ (ते) तुझको (नमः) हम प्रजागण आदर दें, एवं अन्न आदि पदार्थ दें, या तुझे वीर्य प्राप्त हो। तुझ में शत्रु को नमा देने का सामर्थ्य प्राप्त हो। (उत) और (ते) तेरे (उभाभ्याम् बाहुभ्याम्) शत्रुओं को बाधा करने वाले दोनों बाहुओं के

समान, स्थिर अस्थिर, या दायें, बायें विद्यमान या पदाति और सवार दोनों प्रकार की सेनाओं को (नमः) बल और अन्न प्राप्त हो और (तव धन्वने नमः) तेरे धनुष अर्थात् धनुर्धर सेना बल को भी अन्न या वीर्य प्राप्त हो ।

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् । मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः १५

कुत्स ऋषिः । निचृदार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! सेनापते ! तू (नः) हमारे (महान्तम्) बड़े वृद्ध, आदरणीय, पूजनीय (उत) और (नः) हमारे (अर्भकम्) छोटे बालक अथवा छोटे पद के पुरुष को भी (मा वधीः) मत मार । (नः उक्षन्तम्) वीर्यसेचन में समर्थ हमारे तरुण पुरुष को भी (मा) मत मार । (उत) और (नः) हमारे (उक्षितम्) गर्भाशय में निषिक्त, वीर्य अर्थात् गर्भस्थ डिम्ब को (मा वधीः) विनष्ट मत कर । (नः पितरम्) हमारे पालक, पिता को (मा वधीः) मत मार, (उत मातरम् मा वधीः) और माता को भी मत मार । हे (रुद्र) दुष्टों के रुलाने हारे शत्रु के दुर्गों को रोधन करने हारे रुद्र ! (नः) हमारे (प्रियाः तन्वः) प्रिय शरीरों को भी (मा रीरिषः) मत पीड़ित कर । या (तन्वः) हमारे कुल के विस्तारक पुत्र पौत्र आदि प्रजाओं को भी मत मार ।

तन्वः शरीराणि (द०) । शरीराणि पुत्रपौत्रादिलक्षणानि इत्युवटः ।

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः । मा नो वीरान्रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे १६

कुत्स ऋषिः । निचृदार्षी जगती निषादः ॥

भा०—हे (रुद्र) दुष्टों के रुलाने हारे राजन् ! (नः) हमारे (तोके)

१६—भामतीवधीः ऋग्वेदादयः पाठः ।

नवजात शिशु पर और (तनये) पांच वर्ष से ऊपर के पुत्र पर (मा मा रीरिषः) हिंसा का प्रयोग मत कर। और (नः आयुषि) हमारे आयु पर (मा रीरिषः) आघात मत कर। (नः) हमारे (भामिनः वीरान्) क्रोधयुक्त वीर पुरुषों का (मा वधीः) घात मत कर और हम लोग (सदम्) सदा (हविष्मन्तः) अन्न आदि भेंट योग्य पदार्थों को लिये हुए (त्वा इत् हवामहे) तेरा ही आदर करते हैं।

नमो हिर॑ण्यबाहवे सेना॒न्ये॒ दि॒शां च॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ वृ॒क्षेभ्यो॒ हरि॑केशेभ्यः पशू॒नां पत॑ये॒ नमो॒ नमः॑ शष्पिञ्ज॑राय॒ त्विषी॑मते पथी॒नां पत॑ये॒ नमो॒ नमो॒ हरि॑केशायोपवी॒तिने॑ पु॒ष्टा॒नां पत॑ये॒ नमः॑ १७

(१७–४६) त्र्यशीती रुद्राः देवताः। निचृदतिधृतिः। षड्जः॥

भा० —१. (हिरण्यबाहवे सेनान्ये नमः) बाहु पर सुवर्ण पदक या विशेष आभूषण या नाम या संख्या चिन्ह को धारण करने वाले अथवा ज्योति या सूर्य के समान प्रखर वीर्यवान् बाहुओं या सेनारूप तेजस्वी बाहुओं वाले, सेना नायक को वज्र का बल प्राप्त हो। २. (दिशां च पतये नमः) दिशाओं के पालक को अन्न आदि प्राप्त हो। ३. (हरिकेशेभ्यः) पीले या नीले पत्तों के समान पीले या नीले मनोहारी केशों को धारण करने वाले, (वृक्षेभ्यः) वृक्षों के समान सब के आश्रयदाता पुरुषों को (नमः) नमस्कार है। अथवा (हरिकेशेभ्यः) क्लेशों को हरण करने वाले, (वृक्षेभ्यः) शत्रुओं को काट देने वाले रुद्ररूप वीर पुरुषों को (नमः) अन्न बल प्राप्त हों। अथवा हरे पत्तोंवाले वृक्षों को (नमः) परशु से काटो। ४. (पशूनां पतये नमः) पशुओं के पालक को (नमः) अन्न और और बल पदाधिकार प्राप्त हो। ५. (शष्पिञ्जराय) सूखे घास के समान पीत, कान्तिमान् वर्ण वाले (त्विषीमते) दीप्ति से युक्त तेजस्वी पुरुष को अथवा–'शष्पि' = घास आदि को 'जर' = जलाने वाले, अग्नि वालों को, अथवा--(शष्पिञ्जराय नमः) छहों, आंख,

नाक, रसना, कान, त्वचा और मन से ग्रहण करने योग्य विषय बन्धन को त्यागने हारे, (त्विषीमते) कान्तिमान् को (नमः) अन्न आदि बल और आदर प्राप्त हो। (पथीनाम्) मार्गों के और मार्गगामी यात्रियों के (पतये) पालक मार्गाध्यक्ष को भी (नमः) राष्ट्र के अन्न में भाग एवं पदाधिकार या बल प्राप्त हो। (हरिकेशाय) हरित अर्थात् नील केशवाले अति युवक (उपवीतिने) यज्ञोपवीत के धारण करने वाले बालब्रह्मचारी को (नमः) अन्न भाग और आदर, वीर्य सब प्राप्त हो। (पुष्टानां पतये) हृष्ट पुष्ट बालकों के पालक माता पिता को अधिकार एवं अन्नादि पदार्थ और आदर प्राप्त हो।

अथवा—सेनानी दिशाम्पति, वृक्षपति, पशुपति, शष्पिंजर, पथीनां पति, हरिकेश, उपवीती, ये राष्ट्र के भिन्न २ विभागों के अधिकारी हैं उनके हिरण्यबाहु, हरिकेश, त्विषीमान्, आदि ये मानवाचक पद हैं। उनको (नमः) राष्ट्र के अन्न के भाग प्राप्त हों।

अथवा—१. सुवर्ण आदि धन के बलपर शासन करने वाला, पुरुष 'हिरण्यबाहु'। २. सेना का नायक 'सेनानी'। ३. दिशाओं का पालक दिक्पाल, 'दिशाम्पाल'। ४. वृक्षों के समान शरणप्रद, बड़े धनाढ्य लोग, सब शरण योग्य 'वृक्ष' नामक अधिकारी। ५ क्लेशों के हरण करने वाले स्वयंसेवक लोग 'हरिकेश'। ६. पशुओं के पालक 'पशुपति'। ७. शष्प अथवा घास वा चराने का प्रबन्ध कर्त्ता 'शपिञ्जर'। नगर में प्रकाश का प्रबन्धकर्त्ता 'त्विषीमान्'। ८ मार्गों का स्वामी 'पथीनांपति'। ९ क्लेशों का हर्त्ता वैद्य 'हरिकेश'। १० यज्ञोपवीत धारण करने कराने वाले गुरुशिष्य 'उपवीति' ११ पुष्ट पशुओं का पालक 'पुष्टपति' ये सब भिन्न २ नाम के रुद्र 'जातसंज्ञ' अर्थात् नाम-पदधारी 'रुद्र' कहाते हैं उनके (नमः) राष्ट्र में भाग अधिकार प्राप्त हो।

नमो॑ बभ्लुशाय॑ व्याधिनेऽन्ना॑नां पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ भ॒वस्य॑ हे॒त्यै

जग॑तां पत॑ये नमो नमो॑ रुद्राया॑तता॒यिने॒ क्षेत्रा॑णां पत॑ये॒ नमो॒ नम॑ः सूतायाह॑न्त्यै॒ वना॑नां पत॑ये॒ नम॑ः ॥ १८ ॥

निचृदष्टिः । मध्यमः ॥

भा०—(बभ्लुशाय) बभ्रुवर्ण, खाकी रंग की पोषाक पहनने वाले या राज्य के भरण पोषण करने वाले (व्याधिने) शिकारी पुरुष को (नमः) अन्न प्राप्त हो । (अन्नानां पतये नमः) अन्नों के पालक खेतों, पर पड़ने वाले मृग, हाथी और साम्भर आदि वनैले पशुओं से खेतों के बचाने वाले को (नमः) राष्ट्रान्न में से भाग, पद, अधिकार आदि प्राप्त हो । (भवस्य हेत्यै) 'भव' उत्पन्न होने वाले प्राणियों के 'हेति' धारण पोषण करने वाले, उनकी वृद्धि करने के लिये और (जगतां पतये नमः) जंगम प्राणियों के पालन कर्त्ता को (नमः) बलवीर्य, अधिकार प्राप्त हो। (रुद्राय आततायिने नमः) चारों तरफ विस्तृत शत्रु दलपर आक्रमण करने वाले अथवा धनुष चढ़ाकर चढाई करने वाले को (नमः) बल, वीर्य, अधिकार प्राप्त हो । (क्षेत्राणां पतये नमः) क्षेत्रों की रक्षा करने वाले को अधिकार मिले । (सूताय) घोड़ों को हांकने में समर्थ और (अहन्त्यै) युद्ध में किसी को स्वयं न मारने वाले को (नमः) अन्न, वस्त्र या खड्ग प्राप्त हो । (वनानां पतये नमः) वनों के पालक को शस्त्र प्राप्त हो ।

'सूताय'—क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां जाताय वीराय प्रेरकाय इति दयानन्दः । तच्चिन्त्यम् ।

नमो॒ रोहि॑ताय स्थ॒पत॑ये वृ॒क्षाणां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ भुव॒न्तये॑ वारि॒वस्कृ॒तायौष॑धीनां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ म॒न्त्रिणे॑ वाणि॒जाय॒ कक्षा॑णां॒ पत॑ये॒ नमो नम॑ उ॒च्चैर्घो॑षायाक्र॒न्दय॑ते पत्ती॒नां पत॑ये॒ नम॑ः ॥१६॥

१८—'नमो बभ्रुशायाव्या०' इति काण्व० ।

विराडति धृतिः । षड्जः ॥

भा०—(रोहिताय नमः) लाल वर्ण की पोशाक पहनने वाले अधिकारी को (नमः) शस्त्र बल प्राप्त हो । (स्थपतये नमः) स्थानों के पालक के लिये अथवा गृहादि निर्माण करने वाले तक्षक, राज आदि शिल्पी लोगों को (नमः) शस्त्र प्राप्त हों । (वृक्षाणां पतये नमः) वृक्षों के पालक को शस्त्र प्राप्त हो । (भुवन्तये नमः) भूमियों के विस्तार करने वाले अर्थात् जंगल पहाड़ी आदि की भूमि को ठीक करके खेत बनाने वाले अथवा आचारवान् पुरुष को (नमः) शस्त्र और अन्न प्राप्त हो । (वारिवस्कृताय नमः) सेवा करने वाले अथवा धन ऐश्वर्य पैदा करने वाले पुरुष को बल और आदर प्राप्त हो । (मन्त्रिणे नमः) राजा के मन्त्री को बल, आदर, और पद प्राप्त हो । (वाणिजाय) वणिग्-व्यापार-कुशल पुरुष को (नमः) अन्न, आदर, अधिकार प्राप्त हो । (कक्षाणां पतये नमः) वन के झाड़ी, लता, घास आदि के पालन करने वाले अधिकारी पुरुष को अथवा राज-गृह के प्रान्तों के रक्षक को (नमः) शस्त्र प्राप्त हों । (उच्चैर्घोषाय) राष्ट्रों में राजा की आज्ञा को ऊंचे स्वर से आघोषित करने वाले अधिकारी को, (आक्रन्दयते) शत्रुओं को रुलाने वाले या पीछे के की ओर से आक्रमण से बचाने वाले को (नमः) बल आदि प्राप्त हो । (पत्तीनां पतये नमः) पैदल सेना के पति को शस्त्र बल प्राप्त हो ।

नमः कृत्स्नायतया धावते सत्वनां पतये नमो नमः सहमानाय निव्याधिन ऽआव्याधिनीनां पतये नमो नमो निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः॥२०॥

अतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(कृत्स्नायतया धावते) पूर्ण विजय लाभ के निमित्त शत्रु

२०—'नमः कृत्स्नायताय०' १ककुभाय निषाङ्गण सेनाना०' इति काण्व० ।

पर आक्रमण करने वाले, अथवा धनुष को पूर्ण रूप से तान कर शत्रु पर वेग से अक्रमण करने में समर्थ पुरुष को (नमः) बल, शस्त्र और अन्न आदर प्राप्त हो। (सत्वनां पतये) वीर्यवान् प्राणी या सैनिकों के पति को (नमः) आदर या शस्त्र-बल प्राप्त हो। (सहमानाय) शत्रु को पराजय करने वाले को और (निव्याधिने) नियत लक्ष्य पर ठीक २ निशाना लगाने वाले को और (आव्याधिनीनां पतये नमः) सब तरफ से शस्त्रों का प्रहार करने वाली सेनाओं के पति को (नमः) आदर, शस्त्र बल और अधिकार प्राप्त हो। (निषङ्गिणे) शस्त्रसागर में अस्त्र शस्त्रों के पालक को (नमः) अधिकार, सत्कार प्राप्त हो। (ककुभाय) बड़े भारी (स्तेनानां पतये) चोरों के पति सर्दार, चोरों को वश में रखनेवाले पालक, कारागार के अध्यक्ष को भी (नमः) आदर पद प्राप्त हो। (नि-चेरवे) गुप्तरूप से राजा के कार्य से सर्वत्र विचरने वाले को और (परिचराय) भृत्य, सेवक को (अरण्यानां पतये) जंगलों के पति, पालक, वनाध्यक्ष को (नमः) अधिकार प्राप्त हो

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥ २१ ॥

निचृदतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(वञ्चते) ठगने वाले को, (परिवञ्चते) सर्वत्र कपट से रहने वाले को और (स्तायूनां पतये नमः) चोरों के सर्दार को (नमः) वज्र प्रहार की पीड़ा प्राप्त हो। अथवा शत्रुसेना को छल कर उनका पदार्थ प्राप्त करने वाले, उनमें कपट से रहने वाले और उनके माल को चुराने और डाका डाल कर हर लेने वालों के सर्दार, उनके वश करने वाले को (नमः) आदर प्राप्त हो। (निषुङ्गिणे इषुधिमते) खड्ग धारण करने में समर्थ और

बाणों का तर्कस उठाने वाले वीर पुरुष का (नमः) आदर हो। (तस्कराणां पतये) शत्रुओं पर नाना क्रूर कर्म और चौर्यादि का कार्य करने वालों के सर्दार को पदाधिकार प्राप्त हो। अथवा चोरों के सर्दार को वज्र से दण्ड दिया जाय। (सृकायिभ्यः जिघांसद्भ्यः) शत्रुओं का हनन करने की इच्छा वालों खाण्डा को धारण कर चलने वालों को (नमः) शस्त्र बल प्राप्त हो। (मुष्णतां पतये नमः) घरों से धन को और खेतों से अन्न आदि पदार्थों को हर लेने वाले पुरुषों के पति, अर्थात् उनपर नियुक्त दण्डाधिकारी को (नमः) अधिकार बल प्राप्त हो। (असिमद्भ्यः नक्तंचरद्भ्यः) तलवार लेकर रात को विचरण करने वा पहरा देने वालों को (नमः) अन्न आदि पदार्थ और शस्त्र-अधिकार प्राप्त हो। (विकृन्तानां पतये नमः) प्रजा के नाक कान हाथ पैर काट कर आभूषण, धन आदि लूट लेने वाले दुष्ट पुरुषों के (पतये) पति अर्थात् उनपर शासन करने के लिये नियुक्त अधिकारी पुरुष को (नमः) शस्त्राधिकार, बल और अन्न प्राप्त हो।

नम॑ऽउष्णीषिणे॑ गिरिच॒राय॑ कुलु॒ञ्चानां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नम॑ऽइषु॒मद्भ्यो॑ धन्वा॒यिभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नम॑ आतन्वा॒नेभ्यः॑ प्रति॒दधा॑नेभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॑ऽआ॒यच्छ॒द्भ्यो॒ऽस्य॑द्भ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥ २२ ॥

निचृदष्टिः। मध्यमः ॥

भा०—(उष्णीषिणे) ऊंची पगड़ी पहनने वाले ग्रामपति या अध्यक्ष को (नमः) आदर प्राप्त हो। (गिरिचराय) पर्वतों पर विचरण करने वाले (कुलुञ्चानां पतये) कुत्सित उपायों से लूट लेने वालों के पति, पालक उनपर नियुक्त शासक को (नमः) आदर प्राप्त हो। (इषुमद्भ्यः) बाण वालों और (धन्वायिभ्यश्च नमः) धनुष लेकर विचरने वालों को अन्नादि प्राप्त हो। (आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यः च नमः नमः) धनुष पर डोरी तानने वालों और बाण लगा कर छोड़ने

वालों को भी आदर प्राप्त हो। (आयच्छद्भ्यः अस्यद्भ्यः च वः नमः नमः) धनुषों को खेंचने वाले या शत्रुओं का निग्रह करने वाले, और बाण आदि शस्त्रास्त्रों को फेंकने वाले तुम वीरों को भी (नमः) आदर प्राप्त हो।

नमो॑ विसृ॒जद्भ्यो॒ विद्ध्य॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॑ स्व॒पद्भ्यो॒ जाग्र॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॑: शया॑नेभ्य॒ ऽआसी॑नेभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒स्तिष्ठ॑द्भ्यो॒ धाव॑द्भ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥ २३ ॥

निचृदति जगती । निषादः ।

भा०—(विसृजद्भ्यः) शत्रुओं पर बाण छोड़ने वाले, (विद्ध्यद्भ्यः शत्रुओं को वेधने वालों को (नमः नमः) नमस्कार हो। (स्वपद्भ्यः जाग्रद्भ्यः च वः नमः नमः) युद्ध के डेरों में सोने वाले में या युद्ध में आहत होकर लेट जाने वाले, जाग कर पहरा देने वालों को भी तुमको (नमः) आदर प्राप्त हो। (शयानेभ्यः) सोने वाले, लेटने वाले, बैठे हुए, (तिष्ठद्भ्यः) खड़े हुए और (धावद्भ्यः च वः) दौड़ने वाले आप लोगों को भी (नमः नमः नमः नमः) आदर योग्य पद प्राप्त हो।

नमः॑ स॒भाभ्य॑: स॒भाप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमोऽश्वे॒भ्योऽश्व॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॑ ऽआव्या॒धिनी॑भ्यो वि॒विध्य॑न्तीभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒ उग॑णाभ्यस्तृꣳह॒तीभ्य॑श्च वो॒ नमः॑ ॥ २४ ॥

शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—समूह या संघ बना कर काम करने वालों की गणना करते हैं ॥ (वः) आप में से (सभाभ्यः) सभाओं को, (सभापतिभ्यः) सभाओं के संञ्चालक पतियों को (अश्वेभ्यः) घुड़सवारों को, (अश्वप-

२४—४६ एते जातरुद्राः ॥

तिभ्यः) घुड़सवारों के प्रमुख नेता पतियों को, (आव्याधिनीभ्यः) सब ओर व्यूह बनाकर शस्त्र फेंकने में कुशल सेनाओं को, (विविध्यन्तीभ्यः) विविध उपायों से शत्रुओं को बेंधने वाली 'विविध्यन्ती' नाम सेनाओं को, (उगणाभ्यः) उच्चकोटि के सैनिकों की सेनाओं को । (स्तृंहतीभ्यः च वः) आप लोगों की नाशकारिणी तृहंती नाम सेनाओं को भी (नमः) राष्ट्र में उत्तम अन्न, पद, अधिकार और आदर और साधुवाद प्राप्त हो ।

नमो॑ ग॒णेभ्यो॑ ग॒णप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ व्राते॑भ्यो॒ व्रात॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ गृत्से॑भ्यो॒ गृत्स॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ वि॒रूपे॑भ्यो वि॒श्वरू॑पेभ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥ २५ ॥

भुरिक् शक्वरी । धैवतः ।

भा०—(गणेभ्यः) गण या दस्ता या संघ बन कर सेना का कार्य करने वाले, (गणपतिभ्यः) उन गणों के सरदार, (व्रातेभ्यः) समूह या कुल बना कर रहने वाले और (व्रातपतिभ्यः च) उन संघों के पालक विद्वान् कुल पतियों को और (गृत्सेभ्यः) नाना पदार्थों को चाहने वाले या पदार्थों के गुण वर्णन करने वाले मेधावी विद्वान् पुरुषों और (गृत्स-पतिभ्यः) उन मेधावी पुरुषों के प्रमुख नेताओं को और (विरूपेभ्यः विश्व-रूपेभ्यः च) अपने विविध प्रकार के रूप धारण करने वालों को और सब प्रकार स्वरूप बना लेने में सिद्धहस्त बहुरूपिया आदि कुशल करनाटकी पुरुषों आदि (वः नमः) आप लोगों को उचित आदर और यथायोग्य अन्न, बल, पदाधिकार प्राप्त हो ।

नमः॒ सेना॑भ्यः सेना॒निभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ र॒थिभ्यो॑ अर॒थेभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमः॑ क्ष॒त्तृभ्यः॑ संग्रही॒तृभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ म॒हद्भ्यो॑ ऽर्भ॒-केभ्य॑श्च वो॒ नमः॑ ॥ २६ ॥

भुरिगति जगती । निषादः ॥

भा०—(सेनाभ्यः सेनानिभ्यः च) सेनाएं, सेनाओं के नायक, (रथिभ्यः अरथेभ्यः च) रथी और विना रथ के, (क्षत्तृभ्यः) क्षत्ता अर्थात् रथी योद्धा के अंगरक्षक, सारथि या द्वारपाल और (संग्रहीतृभ्यः च) कर आदि संग्रह करने वाले अथवा घोड़ों का रास पकड़ने वाले (महद्भ्यः) बड़े और (अर्भकेभ्यः) छोटे (वः नमः) आप सबको यथा योग्य पद, आदर, अन्नादि ऐश्वर्य प्राप्त हो ।

'क्षत्तृभ्यः'—शूद्रात् क्षत्रियाया जातेभ्यः इति भाष्ये श्री दया० । तच्चिन्त्यम् ॥ क्षत्ता सारथिर्द्वारपालो वैश्यायां शूद्राज्जातो वेति उणादिव्याख्यायां दया० । तच्चोभयं विभिद्यते । 'क्षियन्ति निवसन्ति रथेष्विति क्षत्तारः । यद्वा क्षियन्ति प्रेरयन्ति सारथीनीति क्षत्तारो रथाधिष्ठारः' इति महीधरः । रथनामधिष्ठातारः क्षत्तारः इति उवटः ।

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः ॥ २७ ॥

निचृत् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(तक्षभ्यः) तक्षा, बढ़ई, (रथकारेभ्यः रथों के) बनाने वाले शिल्पी, (कुलालेभ्यः) कुम्हार, मट्टी के बर्तन बनाने वाले, (कर्मारेभ्यः) लोहार, लोहे के अस्त्र शस्त्र बनाने वाले (निषादेभ्यः) वनों, पर्वतों में रहने वाले नीच जीवन स्थिति में रहने वाले (पुञ्जिष्ठेभ्यः) पुल्कस, डोम आदि मुर्दार के कामों में लगे हुए या नाना रंगों या भाषाओं में प्रवीण, (श्वनिभ्यः) कुत्तों के पालक और सधाने वाले (मृगयुभ्यः) मृगों के शिकारी, इन सब (वः नमः) आप लोगों को यथोचित वेतनादि द्रव्य प्राप्त हो ।

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च ॥ २८ ॥

आर्षीजगती । निषादः ।

भा०—(श्वभ्यः) कुत्ते अथवा कुत्तों के समान चोरों का पता लगाने वाले, (श्वपतिभ्यः) कुत्तों के पालक इन (वः नमः) आप सबको पालन योग्य वेतन, अन्नादि प्राप्त हो । (भवाय) गुणों में श्रेष्ठ, या पुत्रोत्पादन में समर्थ, (रुद्राय) शत्रुओं को रुलाने वाले (पशुपतये) पशुओं के पालक (नीलग्रीवाय) गले में नील चिन्ह के धारक, (शितिकण्ठाय) श्वेत वर्ण या चिन्ह को कण्ठ में धारण करने वाले, इन सबको (नमः) उचित चिन्ह आदर, भोग्य अन्नादि प्राप्त हो ।

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च

भुरिग् जगती । निषादः ॥

भा०—(कपर्दिने) कपर्द अर्थात् जटावाले, जटिल ब्रह्मचारी, अथवा जटा से सुशोभित वीर पुरुष, (व्युप्त केशाय) विशेष रूप से केश कटा कर रखने वाले, संन्यासी या गृहस्थ, (सहस्राक्षाय) सर्वत्र हजारों शास्त्रीय विषयों में चक्षु रखने वाले विद्वान् (शतधन्वने) सैकड़ों धनुष के प्रयोगों को जानने वाले,(गिरिशयाय) वाणी में रमण करने वाले कवि, (शिपिविष्टाय) पशुओं में लगे हुए, अथवा अनादि ऐश्वर्यों में निमग्न, धनाढ्य वैश्य, (मीढुस्तमाय) वीर्यसेचन में समर्थ,'तरुण' अथवा वृक्षों के उद्यान आदि सेचन में समर्थ आदि और (इषुमते च) उत्तम वाणों वाले वीर, इन सबको (च) और अन्यान्य इनके भृत्य आदि को भी (नमः) योग्य पद, वेतनादि सत्कार प्राप्त हो ।

नमो ह्रस्वाय वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च ॥ ३० ॥

विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(ह्रस्वाय च) आयु में छोटे, (वामनाय च) शरीर के कद में

छोटे अथवा रूप आदि गुणों में सुन्दर, (बृहते च) शरीर में बड़े, और (वर्षीयसे) आयु में बड़े, (वृद्धाय च) पद में बड़े (सवृधे च) समान वयस् के मित्रों में बड़े, (अग्र्याय च) या अधिकार में बड़े और (प्रथमाय च) योग्यता में बड़े, इन सब के लिये (नमः नमः) उचित आदर और पद प्राप्त हो ।

नम॑ऽआ॒शवे॑ चाजि॒राय॑ च॒ नमः॒ शीघ्र्या॑य च॒ शीभ्या॑य च॒ नम॒ऽऊ॒र्म्या॑य चावस्व॒न्या॒य च॒ नमो॑ नादे॒याय॑ च द्वी॒प्या॑य च ।। ३१ ।।

स्वराड् आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(आशवे च) शीघ्र गति करने वाले अश्व के समान तीव्र-गामी, (अजिराय च) निरन्तर बहुत देर तक अनथक चलने वाले, (शीघ्र्याय च) शीघ्र कार्य करने में चतुर, (शीभ्याय च) चुस्ती से करने योग्य कार्यों में कुशल, (ऊर्म्याय च) तरङ्ग या उमङ्ग में आकर काम करने वाला, (अवस्वन्याय च) शब्द न करते हुए चुप-चाप रीति से काम करने वाला, (नादेयाय च) नाद, ऊंचे शब्द, गर्जना के साथ कार्य करने वाले और (द्वीप्याय च) जलादि से चारों ओर घिरे द्वीप के समान शत्रु द्वारा घिर जाने पर भी उन अवसरों और ऐसे स्थानों पर कार्य करने में कुशल इन सब प्रकार के पुरुषों को (नमः ४) उचित कार्य, आदर और वेतन प्राप्त हों ।

नमो॑ ज्ये॒ष्ठाय॑ च कनि॒ष्ठाय॑ च॒ नमः॑ पूर्व॒जाय॑ चापर॒जाय॑ च॒ नमो॑ मध्य॒माय॑ चापग॒ल्भाय॑ च॒ नमो॑ जघ॒न्या॒य च बु॒ध्न्याय च ॥ ३२॥

स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(ज्येष्ठाय च) अपने से पूर्व उत्पन्न, आयु और बल में बड़े, (कनिष्ठाय च) आयु और मान में छोटे, (पूर्वजाय च) पूर्व उत्पन्न, (अपरजाय च) पीछे उत्पन्न, (मध्यमाय च) बड़ों छोटों के बीच के भाई, (अप-गल्भाय च) धृष्टतारहित, अथवा एक का अन्तर छोड़ कर पैदा हुए तीसरे भाई, (जघन्याय च) नीच या छोटे कर्म में लगे, या नीचे के पद पर स्थित

और (बुध्न्याय च) सब से नीचे के आश्रय रूप पुरुष इन सब को (नमः) यथायोग्य आदर सत्कार ऐश्वर्य, मान, पद प्राप्त हो ।

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्य्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नम उर्वर्याय च खल्याय च ॥३३॥

आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सोभ्याय) उभय पाप और पुण्य अथवा उभय, इह लोक और परलोक, अथवा उभय, अपना राष्ट्र और परराष्ट्र दोनों में रहनेवाला उभयवेतन प्रणिधि, 'सोभ्य' अथवा ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों में वर्त्तमान पुरुष, सोभ्य, (प्रतिसर्याय च) प्रतिसरण, शत्रु पर चढ़ाई करने और उसके पीछा करने में समर्थ, (याम्याय च) शत्रुओं को बांधने और राष्ट्र के नियमन करने में कुशल, (क्षेम्याय च) प्रजाओं का क्षेम करने में कुशल, (श्लोक्याय च) वेदमन्त्रों द्वारा स्तुति करने अथवा उनके व्याख्यान करने में कुशल, (अवसान्याय च) अवसान, कार्यों की समाप्ति करने या वेद के अन्तिम भाग उपनिषदों के उपदेश करने में कुशल, (उर्वर्याय च) 'उरु-अर्य' अर्थात् बड़े २ ऐश्वर्यों के स्वामी अथवा उर्वर्य, उर्वरा भूमियों को क्षेत्र उद्यान बनाने में कुशल और (खल्याय च) 'खल' कटे धान्यों को एकत्र करने के स्थान, खलिहान में धान्य अन्न आदि को स्वच्छ करने में कुशल, या उन स्थानों के वृद्धि करने में कुशल अधिकारी लोगों को भी (नमः ४) योग्य मान, पद एवं वेतन आदि प्राप्त हो ।

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नम ऽआशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च ॥ ३४ ॥

स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(वन्याय च) वनों के रक्षण में कुशल वनाध्यक्ष, 'वन्य' (कक्ष्याय च) पर्वतों और नादियों के तटों के अध्यक्ष 'कक्ष्य', (श्रवाय च)

शब्द करने वाले, बाजा आदि बजाने वाले और (प्रतिश्रवाय च) प्रति शब्द करने वाले, (आशुषेणाय) शीघ्रगामिनी सेना के स्वामी, (आशु-रथाय च) शीघ्रगामी रथसेना वाले (शूराय च) शूरवीर (अवभेदिने च) शत्रु के व्यूह और गढ़ों को तोड़ने वाले इन समर्थ राष्ट्र और युद्धोपयोगी पुरुषों को (नमः) उचित अन्न, मान, पद, अधिकार आदि दिया जाय ।

नमो॑ बि॒ल्मिने॑ च कव॒चिने॑ च॒ नमो॑ व॒र्मिणे॑ च वरू॒थिने॑ च॒ नमः॑ श्रु॒ताय॑ च श्रुतसे॒नाय॑ च नमो॑ दुन्दु॒भ्या॒य चाहन॒न्या॒य च ॥३५॥

स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(बिल्मिने) उत्तम बिल्म, शिरस्त्राण को धारण करने वाले या उजले वस्त्र धारण करने वाले या शत्रु के गढ़ तोड़ने के हथियार धरने वाले, (कवचिने च) कवचधारी, (वर्मिणे) लोह के कवच धारने वाले, (वरूथिने) गृह, प्रासाद आदि के स्वामी अथवा हाथी पर रखने के हौदावाले या छत वाले रथ पर सवार (श्रुताय) शौर्य आदि से प्रसिद्ध, (श्रुतसेनाय) विजय कार्य और शूरता में विख्यात सेना वाले, (दुन्दु-भ्याय च) दुन्दुभि के उठाने वाले और (आहनन्याय च) सेना में जोश डालने के लिये नगाड़ों पर दण्डादि से आघात करके बजाने वाले इन सबको भी (नमः ४) उचित अन्न, पद, कार्य, वेतन आदि प्राप्त हो ।

नमो॑ धृ॒ष्णवे॑ च प्रमृ॒शाय॑ च॒ नमो॑ निष॒ङ्गिणे॑ चेषुधि॒मते॑ च॒ नमस्ती॒-क्ष्णेष॑वे चायु॒धिने॑ च॒ नमः॑ स्वायु॒धाय॑ च सु॒धन्व॑ने च ॥ ३६ ॥

स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(धृष्णवे च) शत्रु का धर्षण करने में समर्थ, प्रगल्भ, दृढ़, निर्भय पुरुष, (प्रमृशाय च) उत्तम विचारशील, शास्त्रज्ञ, (नि-षङ्गिणे च) खड्ग आदि नाना शस्त्रधारी, (इषुधिमते च) उत्तम शस्त्रास्त्र, बाण आदि के तर्कस वाले (तीक्ष्णेषवे च) तीक्ष्ण बाण वाले, (आयुधिने

च) हथियारबन्द, (स्वायुधाय च) उत्तम हथियारों से सजे, (सुधन्वने च) उत्तम धनुषधारी, इनको भी (नमः ४) योग्य वेतन, पद और आदर प्राप्त हो ।

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ॥३७॥

निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(स्रुत्याय च) स्रुति, छोटे २ मार्गों या नालों के अध्यक्ष, (पथ्याय च) बड़े मार्ग, पथों के अध्यक्ष, (काट्याय च) काट, अर्थात् बुरे या विषम मार्ग या कूप या नहर या पुलों के अध्यक्ष, (नीप्याय च) बहुत गहरे जल के स्थानों के अध्यक्ष, (कुल्याय च) नहरों के प्रबन्ध में, या बनाने में लगा पुरुष, (सरस्याय) तालाबों के बनाने या प्रबन्ध में लगा पुरुष, (नादेयाय) नद नालों पर का अध्यक्ष (वैशन्ताय च) वेशन्त ताल, तलैय्याओं का अध्यक्ष इनको भी यथोचित वेतन और अधिकार प्राप्त हो ।

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥ ३८ ॥

भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(कूप्याय च) कूपों पर नियत पुरुष, (अवट्याय च) अवट अर्थात् गढ़ों पर नियत पुरुष, (वीध्र्याय च) विविध प्रकाशों के विज्ञान में कुशल, (आतप्याय च) सूर्य के ताप का उत्तम उपयोग या विज्ञान जानने वाले, अथवा आतप, धूप में कार्य करने वाले, (मेघ्याय च) मेघों का विज्ञान जानने वाले, (विद्युत्याय च) विद्युत् के विज्ञान में कुशल, (वर्ष्याय च) वृष्टि के विज्ञान में कुशल और (अवर्ष्याय च) अवर्ष अर्थात् वर्षाओं के न होने

३८—'नम ईध्र्याय' इति काण्व० ।

पर जल का उचित प्रबन्ध करने में, वा अतिवृष्टि को दूर करने में समर्थ इन समस्त पुरुषों को राष्ट्र में उचित आदर, पद, अन्न, वेतन आदि प्राप्त हो।

नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च ॥ ३९ ॥

स्वराडार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(वात्याय च) वायु विद्या के ज्ञाता, (रेष्म्याय च) हिंसाकारी प्रबल आन्धड़ के समय उचित उपाय जानने वाले, (वास्तव्याय च) वास्तु विद्या, गृह-निर्माण के ज्ञाता, (वास्तुपाय च) गृहों, महलों, राज-प्रासादों की रक्षा के विज्ञान को जानने वाले, (सोमाय च) सोम आदि ओषधियों के विद्वान् या ऐश्वर्यवान्, (रुद्राय च) रुत् = दुःखों के नाशक वैद्य या शल्य-चिकित्सक या दुष्टों के रुलाने वाले और (ताम्राय च) शत्रुओं को पराजित करने वाले इन सब पुरुषों को (नमः ४) योग्य पदाधिकार, मान और वेतन आदि प्राप्त हो।

नमः शङ्गवे च पशुपतये च नम उग्राय च भीमाय च नमोऽग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय ॥ ४० ॥

अतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—गौओं के लिये कल्याणकारी अथवा कल्याण और सुख को प्राप्त करने वाला, (पशुपतये च) पशुओं का पालक, (उग्राय च) उग्र, तेजस्वी, (भीमाय) भयानक, शत्रुओं में भय उत्पन्न करने में समर्थ, (अग्रेवधाय च) आगे आये शत्रुओं को मारनेवाला, (दूरेवधाय च) दूरस्थ शत्रुओं को मारने वाला, (हन्त्रे च) मारने वाला, (हनीयसे च) बहुत अधिक मारने वाला, (वृक्षेभ्यः) शत्रुओं को काट डालने वाले शूरवीर या वृक्ष के समान आश्रय-प्रद और वृक्ष, (हरि-

केशेभ्यः) नीले बालों वाले अथवा क्लेशों को दूर करने वाले इन समस्त पुरुषों को (नमः) उचित आदर, पदाधिकार और वेतन अन्न आदि प्राप्त हो। (ताराय) दुःख से या जल, समुद्रादि से तराने वाले को (नमः ४) अन्नादि प्राप्त हो।

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ ४१ ॥

स्वराडार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(शम्भवाय च) प्रजाओं को शान्ति प्राप्त कराने वाले, (मयोभवाय च) सुख के साधन उपस्थित करने वाले, (शङ्कराय च) कल्याण करने वाले, (मयः-कराय च) सुखप्रद, (शिवाय च) स्वतः कल्याणमय (शिवतराय च) और भी अधिक शिव, मङ्गलकारी पुरुषों को (नमः ४) आदर प्राप्त हो।

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च ॥ ४२ ॥

निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(पार्याय च) पार, परले तट के अध्यक्ष, (अवार्याय च) उरले तट के अध्यक्ष, (प्र तरणाय) परले तट से इस तट को पहुंचाने वाली नौका के अध्यक्ष, (उत्तरणाय) इस तट से उस परले तट तक पहुंचाने वाली नौका के अध्यक्ष, (तीर्थ्याय) तीर्थ, घाट आदि के अधिष्ठाता (कूल्याय च) तट पर के अध्यक्ष, (शष्प्याय च) घास, तृण, गुल्मादि के अध्यक्ष या शुल्कग्राही और (फेन्याय च) फेन, दूध, आदि के पदार्थों पर नियत शुल्कग्राही अथवा जहां नदी, धारापात से क्षगयाती गिरे ऐसे प्रपातों के अध्यक्ष इन सब को (नमः) उचित वेतन आदि प्राप्त हो।

४१—'नमः शम्भवे च मयोभवे च' इति काण्व० ॥

नमः सिकृत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नमऽइरिण्याय च प्रपथ्याय च ४३

जगती । निषादः ॥

भा०—(सिकत्याय च) बालू के विज्ञान जाननेवाले, (प्र-वाह्याय च) 'प्रवाह', जलधारा के प्रयोगज्ञ अथवा भारी पदार्थ को अच्छी प्रकार दूर ले जाने के साधनों के जानकार, (किंशिलाय च) छोटी बजरी के प्रयोगज्ञ या क्षुद्र २ पेशों के अध्यक्ष, (क्षयणाय च) जलों से भरे गढ़ों के अध्यक्ष अथवा गृह बना कर रहने वाले, (कपर्दिने च) कपर्द अर्थात् कौड़ी, सींप, शंख आदि के व्यापार के अध्यक्ष या जटाजूट वाले जन (पुलस्तये च) बड़े २ भारी पदार्थों को उठाने वाले यन्त्रों का निर्माता, (इरिण्याय च) ऊषर भूमियों का अधिकारी और (प्रपथ्याय च) उत्तम २ मार्गों का अधिकारी इन सब को (नमः ४) उचित मान, पद, वेतन आदि प्राप्त हो ।

नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्प्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च ॥४४॥

आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(व्रज्याय) व्रज अर्थात् गौओं की शालाओं के अध्यक्ष,(गोष्ठ्याय) सरकारी गोशालाओं के अध्यक्ष, (तल्प्याय) विस्तरयोग्य पदार्थों पर निपुक्त सेवक, (गेह्याय) गृह, मकान पर भृत्य अधिकारी, (हृदय्याय च) हृदय को सदा प्रसन्न करनेवाले खिलौने और खेल करने वाले, (हृदय के प्रेमी) निवेष्प्याय च) उत्तम वेष पहनाने और बनाने वाले अथवा (निवेष्प्याय च) आवर्त या नीहार या कोहरा को दूर करने वाले, (काट्याय च) कट, चटाई आदि बनाने में प्रवीण या उचित रूप से बिछाने वाला, वा कूप बनाने वाले

४३—'पुलस्तिने च' इति काण्व० ॥

(गह्वरेष्ठाय च) पर्वतों के गह्वरों, गहरे जल और विषम स्थानों के उत्तम परिचित इन सबको (नमः) उचित आदर और अन्नादि वृत्ति प्राप्त हो।

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च ॥४५॥

निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(शुष्क्याय च) शुष्क पदार्थों से व्यवहार करने वाले, (हरित्याय च) शाक आदि हरे पदार्थों के अधिकारी, (पांसव्याय च) पांसु, मिट्टी डोने वालों पर के अधिकारी, (रजस्याय) रजस् अर्थात् सूक्ष्म धूल का व्यापार करने वाले, (लोप्याय च) पदार्थों का लोप या विनाश करने वाले, (उलप्याय च) उलप, तृण राशि के ऊपर के अधिकारी, (ऊर्व्याय च) 'ऊर्वी' भूमि या विस्तृत खेतों पर के शासक अथवा (सूर्व्याय च) उत्तम भूमियों के स्वामी अथवा उत्कृष्ट हिंसा कार्य में कुशल, इन सब को भी उत्तम वेतन आदि दिया जाय।

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नम उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नम ऽआखिदते च प्रखिदते च नम ऽइषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवाना हृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नम ऽआनिर्हतेभ्यः ॥ ४६ ॥

स्वराड् प्रकृतिः । धैवतः ॥

भा०—(पर्णाय) वृक्षों के नीचे गिरे पत्तों के ठेकेदार, (पर्णशदाय च) पत्तों के काटने वाले, (उद्गुरमाणाय च) भार उठा कर लाने वाले, श्रमी, (अभिघ्नते) कुठार चला कर वृक्ष काटने वाले, (आखिदते च) दीनों पर नियुक्त पुरुष, (प्रखिदते च) बहुत ही पतित दीनों पर नियुक्त पुरुष अथवा (आखिदते) पशुओं को हांकने वाले और (प्रखिदते) बहुत दीन, परिश्र (इषुकृद्भ्यः धनुष्कृद्भ्यः च) बाण और धनुष बनाने वा लेइन

छोटे मोटे पेशों वाले सबको यथोचित रूप से वृत्ति और अन्न प्राप्त हो। (किरिकेभ्यः) नाना प्रकार के काम करने वाले या नाना पदार्थों को कारीगरी से पैदा करने वाले और (देवानां हृदयेभ्यः) देव, दिव्य-शक्तियों के हृदय अर्थात् मुख्य केन्द्रों के संस्थापक, अग्नि वायु और आदित्य इन की विद्या में कुशल, (विचिन्वत्केभ्यः) नये २ पदार्थों, तत्त्वों और पुराने उपयोगी पदार्थों, शत्रुओं और चोरों की खोज लगाने वाले, अविष्कारक लोग, (विक्षिणत्केभ्यः) और विविध उपायों से शत्रुओं का विनाश करने में कुशल और (आनिर्हतेभ्यः) गुप्त रूप से सब तरफ़ शत्रु देश में व्याप जाने वाले इन सब को भी (नमः) उचित वृत्ति प्राप्त हो। शत० ९। १। १। २३ ॥

द्रापे ऽअन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित।
आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ् मो च नः किंचनाममत्॥४७॥

एको रुद्रो देवता। भुरिगार्षी बृहती। मध्यमः॥

भा०—हे (द्रापे) शत्रुओं को कुत्सित गति अर्थात् दुर्दशा में पहुंचा देने और हमें उससे बचाने हारे! हे (अन्धसः पते) अन्न आदि भोग्य पदार्थ एवं जीवनप्रद पदार्थों के पालक! स्वामिन्! हे (दरिद्र) शत्रुओं को दुर्गति में डालने वाले! अथवा दुर्गत—दुष्प्राप्य! एकाकी अधिकारिन्! हे (नीललोहित) कण्ठ देश में नीले और शेष देह पर लाल वर्ण के वस्त्र पहनने हारे राजन्! वीर! तू इन प्रजाओं में से और (एषाम् पशूनाम्) (आसाम्) इन पशुओं में से किसी को (मा भेः) भयभीत मत कर, (मा रोङ्) रोग से पीड़ित मत कर, (मो च) और न (नः किंचन) हमारे किसी प्राणी को किसी प्रकार से भी (आममत्) पीड़ा, कष्ट दे। शत० ९। १। १। २४ ॥

४७—'मा भेर्मो रोङ् मो' इति काण्व०।

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः ।
यथा शमसद्द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे ऽअस्मिन्ननातुरम् ४८

ऋ० १ । ११४ । १ ॥

आर्षी जगती निषादः ॥

भा०—(तवसे) बड़े भारी, बलवान्, (कपर्दिने) शिर पर जटाजूट को धारण करने वाले अथवा जटा के स्थान में केशों पर मुकुट धारण करने वाले, (क्षयद्-वीराय) अपने आश्रय में वीरों को बसाने वाले,(रुद्राय) प्रजा के दुखों के नाशक एवं शत्रुओं को रुलाने वाले, (महे) बड़े भारी राजा के लिये हम (इमाः मतीः) उन उत्तम स्तुतियों को या यथार्थ गुण-वर्णनों को अथवा (मतीः) मनन द्वारा प्राप्त नाना साधनों को (प्रभरा-महे) अच्छी प्रकार प्रयोग करें । अथवा, (इमाः मतीः प्र भरामहे) इन मतिमान् विद्वानों को अच्छी प्रकार पालें, पोषण करें (यथा) जिससे (द्विपदे) दो पाये मनुष्यों और (चतुष्पदे) चौपायों को (शम्) शान्ति (असत्) प्राप्त हो । और (विश्वम्) समस्त प्रजा और पशु आदि प्राण-गण (अस्मिन् ग्रामे) इस ग्राम में (अनातुरम्) नीरोग, व्याकुलता रहित अभय रहकर (पुष्टम् असत्) हृष्ट पुष्ट होकर रहें ।

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी ।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥ ४९ ॥

आर्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (रुद्र) 'रुत्' अर्थात् प्राणियों की चीख पुकारवाली पीड़ा को दूर करने हारे ! (या) जो (ते) तेरी (शिवा) मङ्गलमय (तनूः) विस्तृत राजशक्ति है वह (विश्वाहा) सब दिनों (शिवा) मङ्गलमय, सुखकारिणी और (भेषजी) ओषधि के समान कष्ट-पीड़ाओं को दूर करने

४९—'शिवमृतस्व', 'मृळ' इति काण्व० ।

वाली हो। वह (शिवा) शिव, कल्याणकारिणी (रुतस्य) देह की व्याधि को (भेषजी) दूर करने वाली हो। (तया) उससे ही तू (नः) हमें (जीवसे) दीर्घ जीवन तक (मृड) सुखी कर।

परि॑ नो रु॒द्रस्य॑ हे॒तिर्वृ॑णक्तु॒ परि॑ त्वे॒षस्य॑ दुर्म॒तिर॑घा॒योः ॥
अव॑ स्थि॒रा म॒घव॑द्भ्यस्तनुष्व॒ मीढ्व॑स्तो॒काय॒ तन॑याय मृड ।५०।

ऋ० २ । ३३ । ३४ ॥

आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (मीढ्वः) समस्त प्रजापर सुखों की वर्षा करने हारे पर्जन्य के समान राजन् ! (रुद्रस्य) दुष्टों के रुलाने वाले वीर पुरुषों के (हेतीः) शस्त्र (नः) हमें परिवृणक्तु दूर से ही छोड़ दें, हम पर वे प्रहार न करें। और (अघायोः) हम पर पाप और अत्याचार करने की इच्छा वाले (त्वेषस्य) क्रोध से जले हुए पुरुष की (दुर्मतिः) दुष्ट बुद्धि भी (नः परि वृणक्तु) हमसे दूर रहे। (मघवद्भ्यः) धन-सम्पन्न प्रजाओं की रक्षा के लिये (स्थिरा) स्थिर शस्त्रों को (अव तनुष्व) स्थापित कर। और हमारे (तोकाय तनयाय) पुत्र और पौत्रों के लिये या छोटे और बड़े बालकों को (मृड) सुखी कर।

मीढु॑ष्टम॒ शिव॑तम शि॒वो नः॑ सु॒मना॑ भव ।
प॒र॒मे वृ॒क्ष ऽआयु॑धं नि॒धाय॒ कृत्तिं॒ वसा॑न॒ ऽआच॑र॒ पिना॑कं॒ बिभ्र॒दा-ग॑हि ॥ ५१ ॥

निचृदार्षी यवमध्या त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—हे (मीढुस्तम) अतिशय वीर्यसम्पन्न एवं प्रजा पर अति अधिक सुखों और शत्रुओं पर अति अधिक शरों की वर्षा करने में समर्थ ! हे (शिवतम) अतिशय कल्याणकारिन् ! तू (नः) हमारे

५०—'परि णो हेती रुद्रस्य वृज्यात् परित्वेषस्य दुर्मतिर्महीगात्' 'मृळ' इति काण्व०।
५१—'मीळ्हुस्तम' इति काण्व०।

प्रति (शिवः) कल्याणकारी और (सुमनाः) शुभ चित्त वाला (भव) हो। तू (परमे वृक्षे) अति अधिक काटने योग्य शत्रु सेना पर अपने (आयुधं निधाय) शस्त्र को रख कर और (कृत्तिम्) चर्म को (वसानः) धारण करके (पिनाकं बिभ्रत्) प्रजा के पालन और त्राण साधन शस्त्र अस्त्र, धनुष आदि (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (आ चर) चारों ओर विचर और (आ गहि) हमें प्राप्त हो।

विकिरिद्र विलोहित नमस्ते ऽअस्तु भगवः।
यास्ते सहस्रꣳ हेतयोऽन्यमस्मन्निवपन्तु ताः ॥ ५२ ॥

आर्ष्यनुष्टुप्। गांधारः ॥

भा०—हे (विकिरिद्र) शरों को बौछारों से शत्रुओं को भगा देने हारे! अथवा विविध प्रकार के घात, हत्या, चोरी, बटमारी आदि उपद्रवों को दूर करने हारे याविशेष बलशाली शूकर के समान सोने या बलशाली शूकर को भी बल में तुच्छ समझने वाले! हे (विलोहित) विशेष रूप से रक्त वर्ण की पोषाक पहनने हारे अथवा पाप के भावों से रहित, विविध पदार्थों के स्वामिन्! हे (भगवः) ऐश्वर्यवन्! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये हमारा आदर भाव प्रकट हो। और (याः) जो (ते) तेरे (सहस्रम्) हज़ारों (हेतयः) शस्त्र अस्त्र हैं (ताः) वे (अस्मत्) हमसे दूर होकर (निवपन्तु) शत्रु पर पड़ें।

विकिरिद्र—विकिरीन् इषून् द्रावयति इति विकिरिद्रः इति उवटः। विविधं किरिं घाताद्युपद्रवं द्रायति नाशयति इति महीधरः। विशेषेण किरिः सूकर इव द्रायति शेते विशिष्टं किरिं द्राति निन्दति वा तत्सम्बुद्धौ विकिरिद्र इति दया०।

उवट और महीधरकृत व्युत्पत्तियों के अनुसार अर्थ उपर किया गया है। दयानन्दकृत व्युत्पत्ति के अनुसार उनके बनाये भाषाभाष्य में किये अर्थ का तात्पर्य नहीं पता लगता। कदाचित् उनका अभिप्राय है, (विकिरिद्र)

विशेष रूप से बलवान् ! शूकर के समान निश्चिंत होकर शयन करने हारे ! या विशेष बलवान् ! शूकर को भी बल में पराजित करने वाले ! अर्थात् निर्भीक आक्रामक !

'विलोहितः'—विगतकल्मषभावः इति उवटः ।

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः ।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥ ५३ ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (भगवः) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! (तव बाह्वोः) तेरी बाहुओं में (सहस्राणि सहस्रशः) हजारहों, लाखों, (हेतयः) शस्त्रास्त्र हैं । तू (तासां) उनका (ईशानः) स्वामी है । (पराचीना मुखा) उनके मुख परली तरफ़ को (कृधि) कर ।

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा ऽअधि भूम्याम् ।
तेषांᳬ सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५४ ॥

शत० ९ । १ । १ । ३० ॥

विराड् आर्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(भूम्याम् अधि) भूमि पर अधिष्ठाता रूप से या शासक रूप से (ये) जो (असंख्याताः सहस्राणि) असंख्य, हजारों (रुद्राः) प्राणियों को रुलाने वाले पदार्थ और प्राणी हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) धनुषों को हम (सहस्रयोजने) हजारों कोसों तक (अव तन्मसि) विस्तृत करें या शान्त करें ।

अस्मिन्महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवा ऽअधि ।
तेषांᳬ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५५ ॥

भुरिगार्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

५४—५३ अतोऽवतानसंज्ञा दश मन्त्राः । सर्वा० ।

भा०—(अस्मिन्) इस (महति) बड़े भारी (अर्णवे) समुद्र के समान विस्तृत (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष के समान सर्वाच्छादक, सर्वरक्षक राजा के अधीन (भवाः अधि) उत्पादक सामर्थ्य से युक्त 'भव' नामक अधिकारी रूप से सहस्रों पुरुष विद्यमान हैं। (तेषां सहस्र० इत्यादि) पूर्ववत्।

नील॑ग्रीवाः शिति॒कण्ठा॒ दिव॑ꣳ रुद्रा ऽउप॑श्रिताः ।
तेषा॑ꣳ सहस्रयोज॒ने ऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥ ५६ ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(नीलग्रीवाः) गर्दनों में नील वर्ण के और (शिति-कण्ठाः) कण्ठ पर श्वेत चिन्ह धारण करने वाले (रुद्राः) प्राणियों के दुःखहर (दिवि) सूर्य के आश्रय में चन्द्र आदि लोक के समान आल्हादक राजा के (उपश्रिताः) आश्रित बहुत से अधिकारी विद्यमान हैं। (तेषां सहस्र० इत्यादि) पूर्ववत्।

नील॑ग्रीवाः शिति॒कण्ठा॑ः श॒र्वा॑ऽअ॒धः क्ष॑मा॒च॒राः ।
तेषा॑ꣳ सहस्रयोज॒ने ऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥ ५७ ॥

निचृद् आर्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ।

भा०—(नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः) गर्दन पर नील वर्ण के और कण्ठ में श्वेत वर्ण के चिन्ह को धारण करने वाले (शर्वाः) हिंसाकारी (अधः) नीचे (क्षमाचराः) पृथ्वी पर विचरने वाले अथवा नीचे की श्रेणियों में विचरने वाले हैं (तेषां सहस्र० इत्यादि) पूर्ववत्।

चन्द्रादि लोक जो स्वयं प्रकाशमान नहीं हैं वे सूर्य के आश्रित होकर उसके प्रकाश से कण्ठ अर्थात् आगे की ओर से तो चमकीले और पीछे की ओर से अन्धकारमय, नीले होते हैं। उसी प्रकार जो राजा के आश्रित भृत्य हैं वे भी आगे से चमकते राज शासन का कार्य करते हैं और उनके काले गुण अर्थात् लोभ रोग द्वेशआदि पीछे रहते हैं। वे उनका प्रयोग नहीं कर सकते।

ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५८ ॥

आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो (नीलग्रीवाः) गर्दन पर नीले वर्ण के (शष्पिञ्जराः) हिंसक व्याघ्रादि के समान पीले वर्ण वाले, पीली वर्दी पहने और (विलोहिताः) शेष में लाल रंग के वर्ण के रह कर (वृक्षेषु) वृक्षों पर या काटने योग्य शत्रुओं पर जा पड़ते हैं (तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५९ ॥

आर्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(ये) जो (भूतानाम्) प्राणियों के (अधिपतयः) अधिपति, पालक (विशिखासः) शिखा केश आदि रहित, संन्यासी गण और (कपर्दिनः) जटिल ब्रह्मचारी लोग अथवा (विशिखासः) विना शिखा के, विना तुर्रे वाले और जो (कपर्दिनः) शिर पर मुकुट धारण करने वाले हैं (तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ये पथां पथिरक्षय ऐलबृदा आयुर्युधः ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६० ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो (पथाम्) मार्ग के रक्षक और (पथिरक्षयः) मार्ग में चलने वाले यात्रियों की भी रक्षा करने हारे, (ऐलबृदाः) पृथ्वी पर के अन्न आदि पदार्थों को बढ़ाने वाले या पृथ्वी पर उत्पन्न अन्नों से सबके पालन में समर्थ अथवा अन्नादि द्वारा भरण पोषण

६०—'पथिरक्षिणः ऐल'० इति काण्व० ।

किये गये, (आयुयुधः) जान तोड़ कर शत्रु से लड़ने वाले हैं (तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् ॥

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः ।
तेषाᳬं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६१ ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो (सृकाहस्ताः) भाला हाथ में लिये, (निषङ्गिणः) तलवार बांधे, (तीर्थानि) विद्यालयों, जहाजों और घाटों की रक्षा के लिये उन स्थानों पर (प्रचरन्ति) घूमते हैं (तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् ।

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् ।
तेषाᳬं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६२ ॥

निराडार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो दुष्ट पुरुष (अन्नेषु) अन्नादि भोजनों और (पात्रेषु) पात्रों में अर्थात् जल दुग्ध आदि के पात्रों पर (पिबतः) पान करने वाले (जनान्) जनों पर (विविध्यन्ति) शस्त्र का प्रहार करते या उनको बाण के तुल्य घायल करते हैं । (तेषां सहस्र०) उनको दूर करने के लिये हजारों योजनों तक फैले देश में हम धनुषों को विस्तृत करें ।

अथवा—जो अन्न दुग्धादि पदार्थों को खाते पीते अपराधी पुरुषों पर प्रहार करते हों उनके धनुषों को हजारों योजन तक विस्तृत करें ।

य एतावन्तश्च भूयाᳬंसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ।
तेषाᳬंसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६३ ॥

भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो (एतावन्तः च) इतने पूर्व कहे और (भूयांसः च) इनसे भी अधिक (रुद्राः) प्राणियों को दण्ड देने वाले राज-पुरुष (दिशः) समस्त दिशों से (वितस्थिरे) विविध पदों पर स्थित हैं (तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् । पक्षान्तर में रुद्र प्राण और जीव भी 'रुद्र' संज्ञक होते हैं ।

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥ ६४॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातऽइषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥ ६५॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥ ६६॥

(६४) निचृद्धृतिः (६५—६६) धृतिः। ऋषभः॥

भा०—(ये) जो (दिवि) सूर्य के आश्रित या द्यौलोक में विद्यमान सूर्यादि के समान (दिवि) तेजस्वी राजा के आश्रित (रुद्राः) रुद्र गण हैं (येषाम्) जिनका (वर्षम्) जल-वर्षण के समान शस्त्र-वर्षण ही (इषवः) बाण हैं उन (रुद्रेभ्यः) दुष्टों को रुलाने हारों के लिये (नमः अस्तु) आदर प्राप्त हो॥

इसी प्रकार (ये अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्ष में वायु, मेघ आदि के समान हैं और जो अन्तरिक्ष के समान सब को आवरण करने वाले रक्षक राजा पर आश्रित रुद्र गण हैं (येषां वातः इषवः) जिनके वायु या वायु के समान तीव्र वेगवान् बाण हैं (तेभ्यः नमः अस्तु) उनको हमारा नमस्कार है।

इसी प्रकार (ये पृथिव्याम्) जो रुद्र गण पृथिवी पर हैं और जो

६४—६६—प्रवरोहसंज्ञा मन्त्राः। सर्वा०। 'ते नो मृळयन्तु'० इति काण्व०।

पृथिवी के समान सर्वाश्रय राजा के आश्रय पर रहते हैं (येषाम् अन्नम् इषवः) जिनके अन्न आदि भोग्य पदार्थ ही प्रेरक द्रव्य या बाण के समान वशकारी साधन हैं उन (रुद्रेभ्यः नमः अस्तु) रुद्रों को नमस्कार हो। (तेभ्यः) उनको (दश प्राचीः, दश प्रतीचीः, दश दक्षिणाः, दश उदीचीः दश ऊर्ध्वाः) दश दश प्रकार की पूर्व, पश्चिम उत्तर दक्षिण और उर्ध्व दिशाएं प्राप्त हों। अर्थात् सब दिशाओं में उनको दशों दिशाओं के सुख प्राप्त हों। अथवा दशों दिशों में उनको दोनों हाथों को जोड़ कर दश अगुलियें आदरार्थ निवेदित हों।

(तेभ्यः नमः अस्तु) उनको हमारा आदरपूर्वक नमस्कार हो। (ते नः अवस्तु) वे हमारी रक्षा करें। (ते नः मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें और (ते) वे हम (यं द्विष्मः) जिसको द्वेष करते हैं (यः च नः द्वेष्टि) और जो हमसे द्वेष करता है (तम्) उसको हम लोग मिलकर (एषाम्) उनके (जम्भे) बिल्ली के मुख में जिस प्रकार मूसा पीड़ा पाता है उसी प्रकार कष्ट पाने के लिये उनकी अधीनता में (दध्मः) धर दें। वे उनको दण्ड दें। ६४, ६५, ६६ ॥ शत० ९। १। ३५–३९ ॥

॥ इति षोडशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये षोडशोऽध्यायः॥
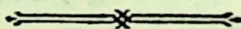
॥ अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥

॥ओ३म्॥ अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्य ऽओषधीभ्यो वनस्पतिभ्यो ऽअधि सम्भृतं पयः। तां न इषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणाऽअश्मँस्ते क्षुन्मयि त ऽऊर्ग्यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥१॥

मरुतो देवताः । अति शक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्-गण ! वैश्यगण ! प्रजागण ! और किसान लोगो ! आप लोग (संरराणाः) अन्न आदि समृद्धि को भरपूर देने वाले होकर (अश्मन्) राष्ट्र के भोग करने में समर्थ एवं अपने पराक्रम से उस में राजशक्ति से व्यापक, (पर्वते) पालनकारी सामर्थ्य से युक्त राजा में, मेघ में विद्यमान रस के समान (शिश्रियाणाम्) आश्रित, विद्यमान, (ऊर्जम्) अन्नादि समृद्धि को और (अद्भ्यः) जलों से (ओषधिभ्यः) ओषधियों से और (वनस्पतिभ्यः) वट आदि वनस्पति बड़े वृक्षों से, जो (पयः) पुष्टिकारक रस (अधि संभृतम्) प्राप्त किया जाता है (ताम्) उस (इषम्) अभिलाषा के योग्य अन्न, (ऊर्जम्) बल-कारी रस को (नः धत्त) हमें प्रदान करो। हे (अश्मन्) राजन्! भोक्तः! (ते क्षुत्) तुझे भूख है, परन्तु हे राजन् ! (ते ऊर्ग्) तेरा बलकारी अन्नादि रस भी (मयि) मुझ प्रजा के आधार पर है तो भी (ते शुग्) तेरा शुक्, क्रोध और भूख, ज्वाला (यं द्विष्मः) हम जिससे द्वेष करते हैं उस शत्रु को (ऋच्छतु) प्राप्त हो। राजा धनतृष्णा से प्रेरित होकर भी प्रजा को न रुलावे, प्रत्युत शत्रु राजा को विजय करे। वायुगण जिस प्रकार समुद्र के जलों को ढोकर लाते हैं और वे पर्वत पर बरसा देते हैं और वह सब जल नदियों, ओषधियों, वनस्पतियों और पशुओंको प्राप्त

१—मेधातिथिर्ऋषिः । द० ।

होकर अन्न दूध आदि के रूप में प्रजा को मिलता है उसी प्रकार प्रजा लोग, व्यापारी लोग और सैनिक लोग जितनी भी धन-सम्पत्ति,व्यापार,कृषि आदि से उत्पन्न करते हैं वे सब राजा के साथ मिलकर मानो उसी पर बरसाते हैं, उसी को दे देते हैं। उसके पास से फिर सब को देशभर के वासियों को प्राप्त होता है। सबकी भूख पीड़ा की शान्ति राजा के आधार पर है। राजा को अन्न आदि की प्राप्ति प्रजा के आधार पर है। राजा यदि क्रोध भी करे तो अपनी प्रजा को पीड़ित न करके उसको पीड़ित करे जो प्रजा का शत्रु होकर प्रजा को कष्ट दे। चोर, डाकू, लोभी शासक, राजा के लोभी भृत्य, राजा का अपना लोभ और बाह्य शत्रु ये प्रजा के शत्रु हैं, वह उनका दमन करे। शत० ९। १। २ ५-१२ ॥

मरुतः—ये ते मारुताः पुरोडाशा रश्मयस्ते। श० ९। ३। १। २५॥ गणशो ही मरुतः १९। १४। २ ॥ मरुतो गणनां पतयः। तै० ३। ११। ४। २ ॥ विशो वै मरुतो देवविशः। २। ५। १। १२ ॥ विड् वै मरुतः। त० १। ८। ३। ३ ॥ विशो मरुतः। श० २। ५। २६ ॥ कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ तै० २। ४। ८। ७ ॥ पशवो वै मरुतः। तै० १। ७। ३। ५। इन्द्रस्य वै मरुतः। कौ० ५। ४ ॥ अथैनमूर्ध्वायां दिशि मरुतश्चाङ्गिरसश्च देवा अभ्यषिञ्चन् पारमेष्ठ्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठाय। ऐ० ८। १४ ॥ हेमन्तेन ऋतुना देवा मरुतस्त्रिणवे स्तुतं बलेन शक्वरीः सहः हविरिन्द्रे वयो दधुः। तै० २। ६। १९ २॥

मरुत् सम्बन्धी पुरोडाश रश्मिएं हैं। अर्थात् सूर्य की जिस प्रकार रश्मियें 'मरुत्' कहाती हैं उसी प्रकार राजा की सेनाएं और अधीन गण 'मरुत' हैं। गण २, दस्ते २ बनाकर 'मरुत्' लोग रहते हैं। गणों के पति भी 'मरुत्' हैं। प्रजाएं जो राजा की प्रजाएं हैं वे 'मरुत' हैं। प्रजा सामान्य या वैश्यगण 'मरुत्' हैं। कीनाश अर्थात् किसान लोग भी 'सुदानु' उत्तम अन्नादि के दाता 'मरुत्' कहाते हैं। पशुगण भी 'मरुत्' हैं। इन्द्र आत्मा

के अधीन प्राणों के समान इन्द्र राजा के अधीन लोग 'मरुत्' हैं। सर्वोच्च स्थान में मरुत् गण और अङ्गिरस्, अर्थात् वीर सैनिक पुरुषों और विद्वान् पुरुष राजा को परम स्थान के अधिपति पद, महाराज पद, राष्ट्र को अपने वश में करने वाले 'स्वावश्य' पद और सबसे ऊंचे स्थित 'आतिष्ठ' पदपर अभिषिक्त करते हैं। हेमन्त ऋतु जिस प्रकार सब वृक्षों के पत्ते झाड़ देता हैं उसी प्रकार युद्ध-विजयी राजा शत्रु और मित्र सबकी समृद्धि हर लेता है, हेमन्त की तीव्र वायुओं के समान वीर जन ही २७ पदाधिकारियों से शासित राष्ट्र में बलपूर्वक शक्तिमती सेना और शत्रुपराजयकारी बल और अन्न और शासन-शक्ति को स्थापित करते हैं।

१५ वें अध्याय में 'हेमन्त' पद पर राजा की स्थापना हो चुकी। १६ वें में रुद्र का अभिषेक, उसको समृद्धि और राजपद प्राप्त हुआ। समस्त छोटे मोटे, बड़े ऊंचे नीचे राजपदाधिकारियों की असंख्यात रुद्रों के रूप में स्थापना, अधिकार, मान, पद वेतन आदि पर नियुक्ति की जा चुकी। सबको नमस्कार हो गया। अब प्रजा-पालक और शत्रु-कर्षण, दुष्ट-दमन का इस अध्याय में वर्णन किया जायगा।

अश्मा—पर्वतः—ग्रावा—स्थिरो वा अश्मा। श० ९।१।२।५॥ असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निः। श० ९।२।३।१४॥ वज्रो वै ग्रावा। श० ११।५।९।७॥ मारुता वै ग्रावाणः (तां० ९।१।१४) चकमक पत्थर के शस्त्र और बाण के फले बनते थे, इससे वज्र या शस्त्र का प्रतिनिधि 'अश्म' कहा गया है। वही राजा, प्रतिनिधि अथवा स्थिर पर्वत के समान दृढ़ राजा भी 'अश्मा' है। पालन सामर्थ्य होने से राजा ही पर्ववान् 'पर्वत' है। इसी से आदित्य भी 'अश्मा पृश्नि' है। उसके समान तेजस्वी राजा भी कररूप रस ग्रहण करने वाला 'अश्मा' है।

इमा मे॑ऽअग्न॒ऽइष्ट॑का धे॒नव॑: स॒न्त्वेका॑ च॒ दश॑ च॒ श॒तं च॑ श॒तं च॑ स॒हस्रं॑ च स॒हस्रं॑ चा॒युतं॑ चा॒युतं॑ च नि॒युतं॑ च नि॒युतं॑ च

प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मे ऽअग्न ऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके ॥ २ ॥

अग्निर्देवता । निचृद् विकृतिः । मध्यमः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! विद्वान् ! पुरोहित ! (मे) मेरी ये (इष्टकाः) मकान में चुनी गयी ईंटों के समान राज्यरूप महल में लगी, राज्य के नाना विभागों में नियुक्त शासक वर्ग, भृत्य वर्ग रूप ईंटें, सेनाएं और प्रजाएं अथवा इष्ट अर्थात् वेतन रूप से दिये गये अन्न या पिण्ड पर नियुक्त अमात्य भृत्यआदि, सब, अथवा मेरे अभिलषित राज्याङ्गरूप प्रजा-गण (मे) मेरे लिये (धेनवः) दुधार गौओं के समान समृद्ध और ऐश्वर्य को बढ़ाने वाली और पुष्टिकारक बलप्रद, कर आदि देने वाली हों । और वे (एका च दश च) एक, एक, एक करके दश हों । (दश च शतं च) वे दस, दस दस करके सौ तक बढ़ जांय । (शतं च सहस्रं च) वे सौ, सौ, करके हजार तक बढ़ जांय । (सहस्रं च अयुतं च) इसी प्रकार वे हजार २, दस हजार हो जांय । (अयुतं च नियुतं च) वे दस २ हजार बढ़कर एक हजार हो जांय (नियुतं च प्रयुतं च) वे एक २ लाख बढ़कर दस लाख हो जांय । इसी प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वे (अर्बुदं च) १० करोड़, (न्यर्बुदं च) अर्ब खर्ब, निखर्ब महापद्म, शंख (समुद्रः च) समुद्र (मध्यं च) मध्य (अन्तः च) अन्त, (परार्धश्च) और परार्ध हो जांय । और (एताः) ये सब (मे) मेरी (इष्टकाः) दान किये वेतन आदि पर बद्ध एवं प्रिय, एवं सुसंगठित राज्य की ईंटों के समान प्रजा गण (धेनवः सन्तु) दुधार गौओं के समान ऐश्वर्य रस के देने वाली हों और (अमुष्मिन् लोके) परलोक में वा (अमुत्र) परदेश में भी सुखकारी हों । शत० ९ । १ । २ । १३–१७ ॥

ऋतवः स्थ ऋतावृधं ऋतुष्ठाः स्थ ऽऋतावृधः । घृतश्च्युतो मधुश्च्युतो विराजो नाम कामदुघा ऽअक्षीयमाणाः ॥ ३

अग्निर्देवता । विराडार्षी पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—पूर्व कही राज्य को बनाने वाली इष्टकाओं का स्वरूप दर्शाते हैं— हे राज्य के विशेष २ मुख्य अंगों के नेता पुरुषो ! तुम (ऋतवः स्थ) वर्ष, संवत्सर रूप प्रजापति के अंशभूत जिस प्रकार ६ या ५ ऋतु होते हैं और नाना प्राणियों का उपकार करते हैं उसी प्रकार तुम लोग भी 'ऋतु' हो, अर्थात् (ऋतावृधः) ऋत अर्थात् सत्य व्यवहार और न्याययुक्त राज्य-तन्त्र की वृद्धि करने वाले हो । और हे उन अधिकारियों के आश्रय प्रजा लोगो ! (ऋतुष्ठाः स्थ) जिस प्रकार ऋतुओं में आश्रित मास पक्ष दिन आदि हैं उसी प्रकार तुम राष्ट्र के संचालकों पर आश्रित लोग भी 'ऋतुस्थ' हैं क्योंकि तुम भी (ऋतावृधः स्थ) सत्य व्यवहार की वृद्धि करने वाले हो । आप लोग ही (घृतश्च्युतः) घृत, दूध, तेज और पुष्टिप्रद पदार्थों को देने वाले हो, (मधुश्च्युतः) अन्न और मधुर पदार्थों और सुखकारी पदार्थों और ज्ञानों को भी उत्पन्न करने वाले हो, तुम लोग (विराजः) विविध गुणों और ऐश्वर्यों से युक्त होकर (अक्षीय-माणाः) कभी क्षीण न होने वाले, अक्षय (कामदुघाः) यथेष्ट प्रकार से प्रजा की आकांक्षाओं को भरपूर करने वाले, काम-धेनु गौओं के समान सब अभिलाषाओं के पूरक हो । शत० ९ । १ । २ । १८-१९ ॥

समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परि व्ययामसि ।
पावको ऽअस्मभ्यᳪ शिवो भव ॥ ४ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रु को भस्म करने हारे तेजस्विन् ! राजन् ! (समुद्रस्य अवकया) समुद्र के भीतर 'अवका' अर्थात् शैवाल से जिस प्रकार मेंडक आदि जलजन्तु सुरक्षित रहते हैं उसी प्रकार समुद्र के समान गम्भीर जल के बीच में (अवकया) प्रजा के रक्षण करने की सैन्य शक्ति से तुझे (परि) सब ओर से (व्ययामसि) विविध प्रकारों

से हम प्रजाजन हो घेर लें। तू (पावकः) पवित्रकारक अग्नि के समान राष्ट्र को पवित्र करने वाला होकर (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (शिवः भव) कल्याणकारी हो। शत० ९ । १ । २ । २०—२५ ॥

हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परि॑व्ययामसि ।
पावको अस्मभ्यंꣳ शिवो भव ॥ ५ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(हिमस्य जरायुणा) हिम, शीतल जल की जरायु, शैवाल जिस प्रकार तालाब को घेर लेती है और मंडूक आदि जन्तु उसमें सुख से रहते हैं उसी प्रकार हे (अग्ने) अग्ने ! संतापकारिन् (त्वा) तुझको (हिमस्य) हिम, पाला जिस प्रकार वनस्पतियों का नाश करता, जन्तुओं को कष्ट देता है, उसी प्रकार प्रजाओं के नाशकारी शत्रु के (जरायुणा) अन्त करने वाले बल से (परि व्ययामसि) हम तुझे चारों ओर से घेर लेते हैं । (पावकः) अग्नि के समान राज्य-कण्टकों को शोधन करनेहारा तू (अस्मभ्यं शिवः भव) हमारे लिये कल्याणकारी हो। शत० ९ । १ । २ । २६॥

उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा । अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णꣳ शिवं कृधि ॥ ६ ॥

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (मण्डूकि) आनन्द करने, तृप्त करने और भूमि को सुभूषित करने वाली विशेष कलाकौशल समृद्धे ! तू (ज्मन् उप) पृथ्वी पर (अवतर) उतर और (वेतसे) विस्तृत या अपने नाना सूत्रों से फैलने वाले राज्य में (अवतर) प्राप्त हो और (नदीषु) नदियों के समान प्रभूत समृद्ध प्रजाओं में (आ अवतर) प्राप्त हो । हे (अग्ने) राजन् ! अग्रणी नेतः ! (अपाम्) समस्त कर्मों, प्रज्ञानों और प्राप्त प्रजाओं का (पित्तम्) तेजःस्वरूप बल या पालक (असि) है । हे

(मण्डूकि) आनन्द-आमोदकारिणि, विद्वत्सभे ! सेने ! तू (ताभिः) उन प्रजाओं के साथ, (आगहि) प्राप्त हो । (इमं) इस (नः यज्ञं) हमारे सुव्यवस्थित यज्ञ, संगति करने वाले, व्यवस्थित (पावकवर्णम्) पावक, पवित्रकारक अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को अपने नेता रूप से वरण करने वाले राष्ट्र को (शिवं) मङ्गलकारी, सुखदायी (कृधि) बना । शत० ९ । १ । २ । २७ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे (मण्डूकि) सुभूषिते, आनन्दकारिणि, पुत्रैषणा की तृप्तिकारिणी स्त्रि ! तू (ज्मन्) पृथिवी पर (वेतसे) प्रजातन्तु सन्तान को फैलाने वाले पुरुष के आश्रय पर और (नदीषु) समृद्धि कारिणी लक्ष्मियों में आकर रह । हे (अग्ने) पुरुष ! तू (अपां) प्रजाओं या प्राणों का पालक है । हे स्त्रि ! तू उक्त सब पदार्थों सहित और इस अग्नि के समक्ष स्वीकार किये गये या गार्हपत्याग्नि से प्रकाशमान गृहस्थ यज्ञ को मंगलमय बना ।

'वेतसे'—वयति तन्तून् संतनोति इति वेतसः । द० उ० भा० ॥ वैतसः पुंप्रजननाङ्गम् । वेतस एव वैतसः । वेतसस्यायमिति वा । वैतसो वितस्तो भवति । नि० ।

मण्डूकि—मंडूका मज्जूका, मज्जनात् मन्दतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः मण्डयतेरिति वैयाकरणाः मण्ड एषामोकमिति वा मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा । इति निरु० ९ । १५ ॥

अपामिदं न्ययनꣳ समुद्रस्य निवेशनम् ।
अन्याँस्ते ऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावको ऽअस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥७॥

अग्निर्देवता । आर्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा० —(इदम्) यह अन्तरिक्ष या भूतल जिस प्रकार जलों का आश्रय है और (समुद्रस्य) समुद्र का भी (निवेशनम्) आधार है । उसी प्रकार यह राष्ट्र (अपाम्) आप्त प्रजाओं का (निः अयनम्) आश्रय-

स्थान है और (समुद्रस्य) समुद्र के समान भूमि के घेरने वाले, उनके रक्षक गम्भीर, भूमि पर अन्तरिक्ष के समान प्रजा के आच्छादक राजा का भी (निवेशनम्) सेना सहित छावनी बना कर रहने का स्थान है। हे राजन् ! (ते हेतयः) तेरे शस्त्र (अस्मत् अन्यान् तपन्तु) हम से अतिरिक्त दूसरे शत्रुओं को पीड़ित करें और तू (पावकः) आहुति योग्य अग्नि के समान (अस्मभ्यं शिवः भव) हमारे लिये कल्याणकारी, सुखदायी हो। शत० ९ । १ । २ । २८ ॥

गृहस्थ पक्ष में—(इदं) यह गृहस्थ (अपाम्) समस्त प्रजाओं का आश्रय और (समुद्रस्य) उठती कामनाओं का भी आश्रय है। हे विद्वान् गृहस्थ! (ते हेतयः) तेरी लक्ष्मी को बढ़ी सम्पत्तियां हम से दूसरे शत्रुओं को सतावें। तू अग्नि के समान सबको आचार से पवित्र करने वाला होकर सुखकारी हो।

अग्ने॑ पावक रो॒चिषा॑ म॒न्द्रया॑ देव जि॒ह्वया॑ ।
आ दे॒वान्व॑क्षि॒ यक्षि॑ च ॥ ८ ॥ ऋ० ५ । २६ । १ ॥

वसूयव ऋषयः । अग्निर्देवता । आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! अग्नि के समान तेजस्वी (पावक) हृदयों को, एक राज्यतन्त्र को पवित्रकरने हारे ! हे (देव) राजन् ! तू (रोचिषा) तेज से और (मन्द्रया) हर्षित करनेवाली, तृप्तिकारी, सुखद, गम्भीर (जिह्वया) जिह्वा, वाणी से (देवान्) अन्य विद्वानों और राजाओं के प्रति (वक्षि) उपदेश करता और आज्ञा प्रदान करता और (यक्षि च) सत्संग करता और अन्य राजाओं को मित्र बनाता है। शत० ९ । १ । २ । ३० ॥

स नः॑ पावक दीदि॒वोऽग्ने॑ दे॒वाँ२ऽ इ॒हाव॑ह ।
उप॑ य॒ज्ञꣳ ह॒विश्च॑ नः ॥ ॥ ९ ॥ ऋ० १ । १२ । १० ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (पावक) पवित्रकारक, कण्टकशोधक ! हे (अग्ने) अग्रणी नायक ! एवं अग्नि के समान तेजस्विन् ! हे (दीदिवः) शत्रु-दाहक ! अग्नि के समान जाज्वल्यमान ! (सः) वह तू ही (नः) हमारे हित के लिये (देवान्) विद्वान् पुरुषों को (इह) इस राष्ट्र में (आ वह) प्राप्त करा, लाकर बसा। और (नः यज्ञं) हमारे यज्ञरूप परस्पर की संगति से बने राष्ट्र को (उप वह) अपने ऊपर ले और (नः हविः च उपवह) और हमें अन्न भी प्राप्त करा शत० ९ । १ । २ । ३० ॥

पा॒व॒कया॒ यश्चि॒तय॑न्त्या कृ॒पा क्षाम॑न् रुरु॒च ऽउ॒षसो॒ न भा॒नुना॑ ।
तूर्व॒न्न याम॒न्नेत॑शस्य॒ नू रण॒ ऽआ यो घृ॒णे न त॑तृषा॒णो अ॒जरः॑ ॥१०॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—(भानुना उषसः न) उषा के प्रकाश से जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमान होता, वह सबको निद्रा से जगाता, पृथ्वी पर प्रकाश डालता और भूतल को पवित्र करता है उसी प्रकार (यः) जो राजा (पावकया) पवित्र करने वाली, (चितयन्त्या) प्रजा को ज्ञानवान् करने वाली, चेतानेवाली, या संगृहीत या सुव्यवस्थित करनेवाली (कृपा) राष्ट्र निर्माण शक्ति से युक्त होकर (क्षामन्) इस पृथ्वी पर (रुरुचे) शोभा देता है। और (यः) जो (रणे) रण में (एतशस्य) अश्वमेध में छोड़े अश्व के (यामन्) मार्ग में आनेवाले विपक्षियों को (तूर्वन् न) मारता हुआ ही (घृणे न) प्रदीप्त, संग्राम में भी सूर्य के समान (ततृषाणः) राज्य लक्ष्मी का सदा पिपासित रहकर भी (अजरः न) अजर, जरारहित, अमर, वीर के समान राज्यवृद्धि में लगा रहता है, वह तू हमें प्राप्त हो। शत० ९ । १ । २ । ३० ॥

नम॑स्ते॒ हर॑से शो॒चिषे॒ नम॑स्ते ऽअस्त्व॒र्चिषे॑ ।
अ॒न्याँस्ते॑ ऽअ॒स्मत्त॑पन्तु हे॒तयः॑ पाव॒को ऽअ॒स्मभ्य॑ꣳ शि॒वो भ॑व ११

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! (ते हरसे नमः) जलाहरण करनेवाले, प्रखर तेज वाले सूर्य के समान तेरे शत्रुओं की राज-लक्ष्मी को पाकर, हरण करने वाले क्रोध, या प्रजा के दुखहारी का हम आदर करते हैं। (ते शोचिषे) तेरे पवित्र तेजः स्वरूप और (अर्चिषे) सत्कार योग्य शस्त्र ज्वाला का भी (नमः) आदर करते हैं। (ते हेतयः) तेरी शस्त्र ज्वालाएं (अस्मत् अन्यान्) हम से भिन्न दूसरे शत्रुओं को (तपन्तु) पीड़ित करें। तू (पावकः) रोग नाशक अग्नि के समान (अस्मभ्यं शिवः भव) हमारे लिये कल्याणकारी हो। शत० ९ । १ १ २॥

नृषदे वेडप्सुषदे वेड् बर्हिषदे वेड् वनसदे वेट् स्वर्विदे वेट् ॥१२

अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे राजन् ! (नृषदे) मनुष्यों के बीच में जिस प्रकार प्राण विराजता है, उसी प्रकार प्रिय होकर (नृषदे) सब मनुष्यों के बीच में बैठने वाले तुझको (वेट्) यह मान आदर प्राप्त हो। (अप्सुषदे) समुद्रों में और्वानल के समान प्रजाओं के बीच ग्लानि रहित होकर विराजने वाले तुझको (वेट्) उच्च आसन प्राप्त हो। (बर्हिषदे) यज्ञ में प्रचलित अग्नि के समान अथवा ओषधियों में विद्यमान रस रूप अग्नि के समान प्रजा या राष्ट्र-शरीर के दोषों को नाश करने वाले तुझको (वेट्) अधिष्ठातृपद प्राप्त हो। (वनसदे) वनों, जंगलों में लगने वाली दावाग्नि के समान सर्वस्व भस्म कर देने वाले तुझको (वेट्) उग्र पद का अधिकार प्राप्त हो। (स्वर्विदे) आकाश में विद्यमान सूर्य के समान सबको सुख पहुंचाने वाले तुझको (वेट्) उच्च तेजस्वी पद प्राप्त हो। शत० ९ । २ । १ । ८ ॥

ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानांᳪं संवत्सरीणमुप भागमासते । अहुतादो हविषो यज्ञेऽअस्मिन्त्स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्य ॥१३॥

लोपामुद्रा ऋषिका । प्राणा देवताः । निचृद् आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०—(ये) जो (देवानां) दानशील, राजाओं में भी (देवाः) विद्या और ज्ञान के देने वाले उत्कृष्ट विद्वान् हैं और (यज्ञियानां) यज्ञ करने वालों के भी (यज्ञियाः) पूजनीय ज्ञानयोगी और राष्ट्र संगति करने वाले व्यवस्थापकों में भी (यज्ञियाः) प्राणों के समान स्वयं संगति बनाने वाले महात्मा विद्वान् लोग हैं जो (संवत्सरीणम्) एक वर्ष के बाद प्राप्त होने वाले वार्षिक भेंट (भागम्) अन्न आदि ऐश्वर्य को अथवा वर्ष भर अपने भीतर पुष्ट किये अभ्यस्त (भागम्) सेवनोपासनायोग्य ब्रह्म-ज्ञान या ब्रह्मचर्य की उपसना करते हैं वे (अहुतादः) राजा से दिये वेतन को भोग न करने वाले होकर (अस्मिन् यज्ञे) इस राष्ट्र रूप यज्ञ में (मधुमतः) अन्न और (घृतस्य) तेजोदायक पुष्टिकारक पदार्थों का (स्वयं पिबन्तु) स्वयं यथेच्छ उपभोग करें । शत० ९ । २ । १ । १४ ॥

ये दे॒वा दे॒वेष्वधि॑ देव॒त्वमाय॒न् ये ब्रह्म॑णः पुर ऽए॒तारो॑ ऽअ॒स्य येभ्यो॒ न ऽऋ॒ते पव॑ते॒ धाम॒ किं च॒न न ते दि॒वो न पृ॑थि॒व्या ऽअधि॒ स्नुषु॑ १४

प्राणा देवताः । आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०—और (ये देवाः) जो ज्ञानप्रद, लोकप्रकाशक विद्वान् लोग (देवेषु अधि) राजाओं के भी ऊपर (देवत्वम्) आदर योग्य देवत्व, राजत्व को (आयन्) प्राप्त हो जाते हैं, (ये) और जो (अस्य-ब्रह्मणः) इस ब्रह्मरूप ज्ञानसागर के (पुरः) सबसे प्रथम या पूर्ण (एतारः) ज्ञाता होते हैं और (येभ्यः ऋते) जिनके विना (किंचन धाम) कोई स्थान, कोई गृह (न पवते) पवित्र नहीं होता (ते) वे (न दिवः) न द्यौलोक और (न पृथिव्याः) न पृथिवी के किसी स्थान पर रमकर (स्नुषु) पर्वतों के शिखरों पर विचरते हैं । अथवा क्षरण शील प्राणों में ही रमते हुए सर्वत्र विचरते हैं । या (स्नुषु) मार्गों में ही परि-व्राट् होकर विचरते हैं । शत० ९ । २ । १ । १५ ॥

प्राणदा ऽअपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः ।
अन्याँस्ते ऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावको ऽअस्मभ्यꣳ शिवो भव१५

आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! जिस प्रकार शरीर में जाठर अग्नि प्राण, अपान व्यान, वर्चस् और जीवन धन को देने वाला होता है उसी प्रकार तू राष्ट्र में (प्राणदाः) प्राणों को देने वाला, (अपानदाः) राष्ट्र में अपान, के तुल्य मल आदि को और हानिकर पदार्थों को दूर करने वाला, (व्यानदाः) व्यान के समान व्यापक बल रखने वाला, (वर्चोदाः) वर्चस् या तेज के समान पराक्रम को स्थिर रखने हारा और (वरिवोदाः) प्रजा को धन ऐश्वर्य देने हारा है । (अस्मत् अन्यान्) हमसे अन्य, शत्रुओं को (ते) तेरे (हेतयः) शस्त्रास्त्र (तपन्तु) पीड़ित करें । राजन् ! तू (पावकः) राष्ट्र को पवित्राचारवान् करने हारा होकर (अस्मभ्यं शिवः भव) हमारे लिये शुभ कल्याणकारी हो । शत० ९ । २ । १ ।१७ ॥

अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यासद्विश्वं न्युत्रिणम् ।
अग्निर्नो वनते रयिम् ॥ १६ ॥ ऋ० ६ । १६ ८८ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अग्निः) आग जिस प्रकार (तिग्मेन शोचिषा) अपनी तीक्ष्ण ज्वाला से (विश्वं) समस्त (अत्रिणम्) अपने खाने योग्य सूखे, गीले सब पदार्थों को (नि यासत्) विनष्ट कर डालता है उसी प्रकार तेजस्वी, परंतप राजा (अत्रिणम्) प्रजा के माल प्राण को खा जाने वाले राक्षस स्वभाव के पुरुषों को और सिंह व्याघ्र आदि को अपने (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) दीप्ति वाले आग्नेय अस्त्र से धन जन, सर्वथा विनष्ट कर डाले । और वही (अग्निः) तेजस्वी शत्रुतापक राजा (नः) हम में (रयिम्) ऐश्वर्य को (वनते) विभक्त करे ॥ शत० ९ । २ । २ । ५ ॥

य ऽइमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः ।
स ऽआशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ२ऽ आविवेश ॥ १७ ॥

(१७-१३) ऋ० १० । ८१ ॥ १ ।

१७-३१ विश्वकर्मा भौवन ऋषिः । विश्वकर्मा देवता ॥
निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(यः) जो (नः) हमारा (पिता) पिता के समान पालक (ऋषिः) ज्ञानवान् होकर (इमा) इन (विश्वा भुवनानि) समस्त उत्पन्न मनुष्य पशु पक्षी आदि प्राणियों को (जुह्वत्) अपने अधीन स्वीकार करता है और (होता) सबका स्वीकर्त्ता, और गृहीता, स्वामी होकर (नि असीदत्) निश्चय करके सिंहासन पर विराजता है (सः) वह (आशिषा) इच्छा पूर्वक (द्रविणम्) ऐश्वर्य की (इच्छमानः) कामना करता हुआ स्वयं (प्रथमच्छत्) प्रथम्, सर्वश्रेष्ठ पदपर अधिष्ठित होकर (अवरान्) अपने से छोटे, अपने अधीन लोगों को (आविवेश) ऐश्वर्य प्रदान करता हैं ।

परमेश्वर-पक्ष में—(यः) जो (नः पिता) हमरा पालक परमेश्वर (इमा विश्वा भुवनानि) इन समस्त भुवनों, लोकों को (जुह्वत्) प्रलय काल में आहित करके अथवा अपने वश में लेकर (ऋषिः) स्वयं ज्ञानवान् और (होता) सबका आदानकर्त्ता, वशयिता रूप से (नि असीदत्) व्यापक रूप में विराजता है । (सः) वह अपने (आशिषा) व्यापक, शासनसामर्थ्य से (द्रविणम्) द्रुतगति से चलने वाले संसार को (इच्छमानः) अपनी कामना या संकल्प मात्र से चलता हुआ स्वयं (प्रथमच्छत्) सर्वोत्तम सबसे विशाल लोकों को भी आच्छादित करके (अवरान्) वाद में उत्पन्न आकाशादि भूतों और समस्त लोकों को (आववेश) गति देता और उनमें व्यापक होकर रहता है ।

किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमस्वित्कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः १८

ऋ० १० । ८१ ॥

विश्वकर्मा देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—जब राजा प्रथम महान् राज्य की स्थापना करना प्रारम्भ करता है उसके विषय में प्रश्न करते हैं—[प्र० १] उस समय उसका (अधिष्ठानम्) आश्रयस्थान (किं स्वित्) क्या (आसीत्) होता है ? और [प्र० २] कतमस्वित्) कौनसा पदार्थ (आरम्भणम्) महान् साम्राज्य को आरम्भ करने के लिये मूल रूपसे है ? और (कथा आसीत्) वह किस प्रकार होता है (यतः) जिससे (विश्वकर्मा) राज्य के समस्त कर्मों को सम्पादन करने में कुशल राजा (भूमिं जनयन्) अपने आश्रय भूमि को पैदा करके, अपनी बनाकर, द्रष्टा होकर (द्याम्) सूर्य के समान तेजस्वी पद को (वि और्णोत्) विशेष रूप से या विविध प्रकार से आच्छादित करता या प्राप्त करता है ।

परमेश्वर के पक्ष में—सृष्टि के उत्पन्न करने के पूर्व [१] (किं स्वित्) कौनसा (अधिष्ठानम्) आश्रय (आसीत्) था ? और [२] जगत् को (आरम्भणम्) बनाने के लिये प्रारम्भक मूल द्रव्य (कतमत् स्वित्) दृश्यमाण आकाशादि तत्वों में कौनसा था ? और [३] वह (कथा आसीत्) किश दशा में था ? (यतः) जिससे वह (विश्वकर्मा) समस्त संसार का कर्त्ता (भूमिम्) सबको उत्पन्न करने वाली भूमि या प्रकृति को (जनयन्) अव्यक्त से व्यक्त रूप में प्रकट करता हुआ (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से (विश्वचक्षाः) विश्व भर को साक्षात् करने हारा होकर (द्याम्) समस्त आकाश को (वि और्णोत्) विविध प्रकार के लोकों, ब्रह्माण्डों से आच्छादित कर देता है ।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ १९ ॥
ऋ० १० । ८१ । ३ ॥

विश्वकर्मा देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—वह राजा विजिगीषु स्वयं (विश्वतः-चक्षुः) चरों और मन्त्रियों द्वारा सब ओर अपनी आंख रखता है। वह (विश्वतः-मुखः) सब ओर अपना मुख रखता है । (विश्वत -बाहुः) वह सब ओर अपने शत्रुओं को पीड़न करने वाली बाहुएं रखता है और (विश्वतः-पात्) सब ओर शत्रु पर आक्रमण करने को कदम बढ़ाता रहता है । वह (बाहुभ्याम्) बाहुओं के समान सेना के दोनों पक्षों से संग्रामभूमि में (संधमति) आगे बढ़ता है और (पतत्रैः) अपने सेना दल रूप पक्षों या आगे बढ़ने वाले दस्तों सहित (सं धमति) शत्रु पर जा चढ़ता है। (द्यावाभूमी) योग्य भूमि और भूमिस्थ प्रजाओं और द्यौ = सूर्य के समान भोक्ता राजा दोनों को (जनयन्) स्वयं पैदा करता हुआ (एकः देवः) एकमात्र विजयी होकर विराजता है ।

ईश्वर के पक्ष में—वह परमेश्वर (विश्वतः चक्षुः) सर्वत्र आंख वाला, सर्वत्र द्रष्टा, (विश्वतः-मुखः) सर्वत्र ज्ञानोपदेशक मुख वाला, (विश्वतः-बाहुः) सर्वत्र वीर्यरूप बाहुमान् और (विश्वतः-पात्) सर्वत्र चरण वाला है। अर्थात् वह सब प्रकार की शक्तियों से सर्वत्र व्याप्त है वह (बाहुभ्याम्) अनन्त बल वीर्यों द्वारा (एकः देवः) अकेला देव (द्यावाभूमी जनयन्) आकाशस्थ और भूमि और भूमिस्थ पदार्थों को रचता हुआ (पतत्रैः) व्यापनशील या प्रगतिशील प्रकृति के परमाणुओं से (सं धमति) संसार को सुव्यवस्थित करता और रचता है ।

किꣳस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥२०॥
ऋ० १० । ८१ । ४ ॥

विश्वकर्मा भौवन ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । स्वराड्डार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—जिस प्रकार काठ के नाना पदार्थों को बनाने के लिये लकड़ी आवश्यक होती है और उसको किसी वृक्ष में से काटा जाता है और जंगल से लाया जाता है और दृढ़, उत्तम पदार्थ को बनाने के लिये उत्तम काष्ठ का ही संग्रह किया जाता है इसी प्रकार गृह, राज्य और समस्त रचनायुक्त कार्यों के लिये पहले मूल द्रव्य की अपेक्षा होती है। उसी के विषय में प्रश्न है कि—(१)(यतः) जिसमें से (द्यावापृथिवी) द्यौः सूर्य और पृथिवी दोनों के समान भोक्ता और भोग्य, राजा और प्रजा दोनों को (निः ततक्षुः) विद्वान् लोग गढ़कर तैया करते हैं वह (वनं किं स्वित्) कौन सा 'वन' है । अर्थात जैसे किसी वन से काष्ठ लाकर काठ के पदार्थ बनाये जाते हैं ऐसे राजा प्रजाओं को बनाने के लिये किस जगह से मूल द्रव्य लाया जाता है । और (२) (कः उ सः वृक्षः आस) वह वृक्ष कौनसा है ? अर्थात् जिस प्रकार कुर्सी आदि बनाने के लिये किसी वृक्ष को काट कर उसमें से कुर्सी बनाई जाती है उसी प्रकार यह राजा प्रजा युक्त राष्ट्र को किस मूल, स्थिर पदार्थ में से गढ़कर निकाला गया है । हे (मनीषिणः) मनीषी, मतिमान् विद्वान् पुरुषो ! (मनसा) अपने मन से समझ बूझकर तुम भी क्या इसपर कभी (पृच्छत इत् उ) प्रश्न या तर्क-वितर्क या जिज्ञासा किया करते हो कि (तत् किंस्वित्) वह महान् बल कौनसा है (यत्) जो (भुवनानि धारयन्) समस्त उत्पन्न प्राणियों को पालन करता हुआ उनपर (अधि अतिष्ठत्) अधिष्ठाता, शासक रूप से विराजता है ?

परमेश्वर-पक्ष में—(किं स्विद् वनं) वह कौनसा मूलकारण. सबके भजन करने योग्य परम पदार्थ है और (कः उ स वृक्षः आस) वह कौन-सा वृक्ष अर्थात् मूल 'स्कम्भ' या तना है (यतः द्यावापृथिवी) जिसमें सेद्यौ और भूमि, आकाश और ज़मीन इनको परमेश्वर ने (निः ततक्षुः)

गाड़ कर निकाला है। हे (मनीषिणः) ज्ञानशाली, संकल्प-विकल्प और ऊहापोह करने में कुशल विवेकी पुरुषो! आप लोग भी (तत्) उस मूल-कारण के सम्बन्ध में (पृच्छत) प्रश्न, तर्क-वितर्क, जिज्ञासा करो (यत्) जो (भुवनानि धारयन्) समस्त उत्पन्न हुए असंख्य ब्रह्माण्डों और उत्पन्न लोकों और सूर्यादि पदार्थों को धारण, पालन-पोषण और स्तम्भन करता हुआ उनपर (अधि अतिष्ठत्) अध्यक्ष रूप से शासन कर रहा है।

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः २१

ऋ० १० । ८१ । ५ ॥

विश्वकर्मा भौवन ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे (विश्वकर्मन्) समस्त राष्ट्र के कार्यों के करने वाले या उनको बनाने वाले ! हे (स्वधावः) अपने राष्ट्र को धारण करने के बल से युक्त ! अथवा 'स्व', शरीर के पालक पोषक अन्नादि ऐश्वर्य के स्वामिन् ! (या) जो (ते) तेरे (परमाणि) सबसे श्रेष्ठ, (या) जो (अवमा) सबसे निकृष्ट, (या मध्यमा) जो मध्यम श्रेणी के (उत इमानि) और ये साधारण (धामानि) कर्म और धारण करने योग्य पदाधिकार और तेज हैं उनको (सखिभ्यः) अपने मित्र वर्गों को (हविषि) अपने गृहीत राष्ट्र में (शिक्ष) प्रदान कर और (स्वयं) अपने आप (तन्वं) अपने विस्तृत राष्ट्र को बढ़ाता हुआ (यजस्व) सबको सुसंगत, सुव्यवस्थित, दृढ़ता से सम्बद्ध कर।

परमेश्वर के पक्ष में—हे (विश्वकर्मन्) विश्व के कर्त्ता! हे (स्वधावः) विना किसी की अपेक्षा किये स्वयं समस्त संसार को धारण करने के अनन्त बल वाले ! (या) जो (ते) तेरे (परमाणि) परम, सर्वोच्च, (अवमा) सूक्ष्म, बहुत छोटे २, (मध्यमा) बीच के (उत इमा) और ये सभी आखों से दीखने वाले (धामानि) कर्म वा लोक हैं उन सबको (सखिभ्यः) हम

मित्र रूप जीवों को (शिक्षाः) तू प्रदान करता है, तू ही (तन्वः वृधानः) हम जीवों के शरीरों की वृद्धि करता हुआ (हविषि) आदान करने योग्य अन्नादि में (स्वयं) आप से आप हमें (यजस्व) संयुक्त करता है। अथवा (हविषि तन्वं वृधानः स्वयं यजस्व) अन्न के आधार पर शरीरों की वृद्धि करता हुआ आप से आप सब सुसंगत करता या समस्त भोग्य अन्न आदि सुख प्रदान करता है।

विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये ऽअभितः सपत्ना ऽइहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥२२॥
ऋ० १० । ८ । १ । ६ ॥

विश्वकर्मा ऋषिः । विश्वकर्मादेवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे (विश्वकर्मन्) समस्त राष्ट्र के विधातः! या राष्ट्र के समस्त उत्तम कर्मों के कर्त्तः ! तू (हविषा) कर के आदान और राष्ट्रों के विजय के कार्यों से (वावृधानः) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (स्वयं) अपने आप सामर्थ्य से (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और सूर्य के समान प्रजा और तेजस्वी राजा दोनों के विभागों को (यजस्व) सुसंगत, संगठित कर । पर उनको ऐसे मित्र भाव में बांधे रख जिससे (अभितः) चारों ओर के (अन्ये सपत्नाः) और दूसरे शत्रु गण (मुह्यन्तु) मोह में पड़े रहें । वे किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जायं और फोड़-फाड़ करने में असमर्थ होकर लाचार बने रहें । और (इह) इस राष्ट्र में (अस्माकं) हमारे बीच में (मघवा) धन ऐश्वर्य से सम्पन्न पुरुष (सूरिः) विद्वान् (अस्तु) हो, वह मूर्ख न रहे जिससे शत्रु के बहकावे में न आ जावे ।

परमेश्वर के पक्ष में—(हविषा) समस्त संसार को अपने वश करने वाले सामर्थ्य से (वावृधानः) बढ़ता हुआ हे (विश्वकर्मन्) विश्व के कर्त्तः! परमेश्वर ! तू (पृथिवीम् द्याम् उत स्वयं यजस्व) द्यौ और पृथिवी को परस्पर सुसंगत करता, दोनों को एक दूसरे के आश्रित करता है । (अन्ये सपत्नाः)

अन्य समान पतित्व या ईश्वरत्व चाहने वाले बड़े ऐश्वर्यवान्, विभूतिमान् जीव भी तेरे इस महान् सामर्थ्य को देख कर मुग्ध होते हैं। कहते हैं कि तू ही (इह) यहां, इस संसार में हमारा (मघवा) एकमात्र ईश्वर और (सूरिः) एकमात्र ज्ञानप्रद विद्वान् (अस्तु) है।

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे ऽअद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशंभूरवसे साधुकर्मा ॥२३॥

ऋ० १० । ८१ । ७ ॥

विश्वकर्मा देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(वाचस्पतिम्) वाक्, वाणी, आज्ञा वचनों, शासनों के स्वामी (विश्वकर्माणम्) राष्ट्र के समस्त कार्यों के प्रवर्त्तक, (मनोजुवम्) मन के समान गति करनेवाले अर्थात् जिस प्रकार इन्द्रियों में और शरीर में मन चेष्टा और चेतना का सञ्चार करता है उनको व्यवस्था में रखता और सब का भोग भी करता है, उसी प्रकार राष्ट्र के शासक अधिकारियों को सञ्चालन करने और उनको सचेत रखने और राष्ट्र शरीर से नाना भोग प्राप्त करने वाले राजा को हम (अद्य) आज, सदा (ऊतये) रक्षा के लिये (हुवेम) बुलाते हैं। (सः) वह (नः) हमारे (विश्वा) समस्त (हवनानि) आह्वानों और पुकारों को (जोषत्) प्रेम से श्रवण करे। क्योंकि वह (अवसे) रक्षा करने के लिये ही (विश्व-शम्भूः) समस्त राष्ट्र का कल्याण करने वाला और (साधु-कर्मा) उत्तम कर्मों का करनेवाला है। वह रक्षा-कार्य से 'विश्वशम्भू' और साधुकर्मा होने से ही 'विश्वकर्मा' है।

ईश्वर-पक्ष में—ईश्वर-वाणी, वेदवाणी, समस्त ज्ञान का स्वामी, विश्व का कर्त्ता और विश्व के समस्त कार्यों का भी कर्त्ता मनोगम्य है, उसको हम अपनी रक्षा के लिये पुकारते हैं। वह हमारे आत्मा को पापों से बचावे। वह हमारी सब पुकारों को प्रेम से सुनता है। वह सब का

कल्याणकारी और श्रेष्ठ कर्म करने हारा, उपकारी है । विशेष व्याख्या देखो अ० ८ । ४५ ॥

विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम् ।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत् ॥ २४ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ८ । ४५ ॥ ऋग्वेदे नास्ति ।

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने ऽअजनन्नम्नमाने ।
यदेदन्ता ऽअददृहन्त पूर्व ऽआदिद्द्यावापृथिवी ऽअप्रथेताम् ॥२५

[२५–३१] ऋ० १० । ८२ ॥ १ ॥

२५–३१ विश्वकर्मा भौवन ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में–(यदा इत्) जब ही (पूर्वे) पूर्व के विद्वान् लोग (अन्ता) सीमा भागों को (अददृहन्त) विस्तृत करके स्थिर कर लेते हैं (आत् इत्) उसके बाद ही (द्यावापृथिवी) सूर्य पृथिवी के समान एक दूसरे के उपकारक राजा और प्रजा भी दोनों (अप्रथेताम्) विस्तार को प्राप्त होते हैं । और (चक्षुषः पिता) सब प्रजा पर निरीक्षण करने वाले राजा का (पिता) पालक, विद्वान् पुरोहित ही (धीरः) बुद्धिमान् होकर (मनसा) अपने ज्ञान से (घृतम्) तेज और ज्ञान-बल को (अजनत्) उत्पन्न या प्रकट करता है और (एने) इन दोनों को (नम्नमाने) एक दूसरे के प्रति आदर से झुकने वाले विनयशील बनाता है । विद्वान् लोग ही राजा प्रजा को परस्पर मिलाते हैं और दोनों को एक दूसरे के प्रति विनीत बनाते और वे ही राज्य की सीमाओं और व्यवस्थाओं को बनाते हैं ।

ईश्वर के पक्ष में—(यदा इत्) जब ही (अन्ता) सीमाएं अर्थात् प्रकृति के विरल परमाणु (अददृहन्त) कुछ घनीभूत होकर दृढ़ हो गये तो (आत् इत्) तभी (द्यावापृथिवी अप्रथेताम्) आकाश और भूमि दोनों पृथक् २ हो गये । बीच का अवकाश प्रकट हो गया । (धीरः) जगत् को

धारण करने हारा (मनसः) अपने मन, संकल्प के बल से ही (नम्न-माने एने) एक दूसरे के प्रति झुकने वाले इन दोनों के प्रति (घृतम् अज-नत्) जल को प्रकट करता अर्थात् पृथ्वी से जल ही ऊपर को सूक्ष्म होकर उठता है। सूर्य से किरणें पृथिवी पर पड़ती हैं। पुनः भूमि उत्तम होती है। फिर जल ही आकाश से नीचे आता है अर्थात् दोनों का परस्पर सम्बन्ध विधायक जल ही है।

स्त्री पुरुष के पक्ष में—जब विद्वान् लोग दोनों स्त्री पुरुषों के (अन्ता) विवाह द्वारा अंचरे बांध देते हैं तभी वे (द्यावापृथिवी अप्रथेताम्) नरनारी सूर्य और पृथिवी के से सम्बन्ध से मिले दीखते हैं। पुरुष सूर्य के समान तेजस्वी तेजोरूप वीर्यका प्रक्षेपक होता है और पृथिवी रूप स्त्री बीज को भीतर धारण करने हारी होती है। तब (चक्षुषः पिता) आंख का पालक, स्नेहमय चक्षु का पालक, प्राण (एने नम्नमाने प्रति) इनको एक दूसरे के प्रति झुकते हुए या परस्पर संगत होते हुए इनके बीच में (घृतम्) स्नेह या 'तेज', वीर्य को (अजनत्) उत्पन्न कर देता है।

विश्वकर्मा विमना ऽआद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऽऋषीन् पर ऽएकमाहुः॥२६॥

ऋ० १०। ८२। २॥

विश्वकर्मा देवता। भुरिगार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—राजा के पक्ष में-(विश्वकर्मा) पूर्वोक्त राष्ट्र के समस्त कर्मों का सम्पादक राजा (विमनाः) विविध विज्ञानों से युक्त अथवा विशेष रूप से मननशील होकर (आत् विहायाः) फिर स्वयं विविध कार्यों, व्यवहारों में ज्ञानपूर्वक प्राप्त होता है और पुनः (धाता) सबका पोषण करने वाला, (विधाता) राष्ट्र के विविध अंगों का निर्माता, (परमा) सर्वोच्च पदपर विराजमान और (संदृक्) समस्त राष्ट्र के कार्यों और प्रजा के व्यवहारों को देखने हारा होता है। (तेषाम्) उन प्रजा जनों के

(इष्टानि) समस्त अभिलषित सुख के पदार्थ, (इषा) अन्न के सहित उसी के आश्रय पर (सम् मदन्ति) हर्ष और आनन्दप्रद होते हैं, वृद्धि को प्राप्त होते हैं (यत्र) जहां (सप्त ऋषीन्) शरीर गत सातों प्राणों के समान राष्ट्र के मुख्य मन्त्रद्रष्टा सात प्रधान अमात्यों को (परः) अपने से भी उत्कृष्ट राजा में (एकम्) एक हुआ (आहुः) बतलाते हैं।

ईश्वरपक्ष में–वह विश्वस्रष्टा, विज्ञानवान्, व्यापक, पालक पोषक, कर्त्ता परम द्रष्टा है। जिसमें समस्त जीवों के (इष्टानि) प्राप्य कर्मफल आश्रित हैं। और जिसके आश्रय पर सर्व जीव (इषा) अन्न तथा कर्म फल द्वारा खूब हर्षित होते हैं। और जहां सातों (ऋषीन्) गतिशील प्रकृति के मुख्य विकारों को भी परब्रह्म में एकाकार हुआ बतलाते हैं। अथवा-(यत्र तेषाम् इष्टानि) जिसके वश में जीवों के इष्ट कर्मफल हैं। (यत्र सप्त ऋषीन् प्राप्य जीवाः इषा सम्मदन्ति) और जिसके आधार पर सात इन्द्रियों को प्राप्त करके जीव अपने अन्नादि, कर्म फल से तृप्त होते हैं। और (यः परः) जो सब से उत्कृष्ट है (यत् एकम् आहुः) जिसको एक, अद्वितीय बतलाते हैं।

अध्यात्मपक्ष में–आत्मा विश्वकर्मा है। वह विशेष मन रूप उपकरण वाला, सब में व्यापक, सब प्राणों का पोषक, कर्त्ता, परम द्रष्टा है प्राणों की वाञ्छित चेष्टाएं उसी में आश्रित हैं। और (इषा) इसी की इच्छा या प्रेरणा से (सम्मदन्ति) भली प्रकार तृप्त होते हैं। जिसमें सातों शिरोगत प्राणों को एकाकार मानते हैं। वही सब से पर, उत्कृष्ट है।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा ऽएकं ऽएव तꣳ सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या २७

ऋ० १० । ८ २ । ३ ॥

विश्वकर्मा देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०–राजा के पक्ष में–(यः) जो राजा (नः पिता) हमारा

पालक है, (जनिता) सब राष्ट्र के कार्यों का प्रकट करने वाला, या उत्पादक पिता के समान हमारी स्थिति का कारण, (यः विधाता) जो विशेष नियम व्यवस्थाओं का कर्त्ता धर्त्ता, होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों और (धामानि) धारक सामर्थ्यों, तेजों और अधिकार पदों को (वेद) जानता और प्राप्त करता है। (यः) जो (देवानाम्) सब विद्वान् शासकों या अधीन विजिगीषु नायकों के (नामधा) नामों को स्वयं धारण करने वाला, (एकः एव) एक ही है (तम्) उस (सम्प्रश्नम्) सबके प्रश्न करने योग्य अर्थात् आज्ञा प्राप्त करने योग्य को आश्रय करके (अन्या भुवना यन्ति) और सबलोग और राष्ट्र के अंग विभाग चलरहे हैं। सभी अधीन लोग राजा से पूछकर ही काम करते हैं इसलिये राजा 'सम्प्रश्न' है।

ईश्वर के पक्ष में—जो हमारा पालक, उत्पादक, विशेष धारक पोषक, है। जो समस्त भुवनों, लोकों और (धामानि) तेजों और विश्व के धारक सामर्थ्यों को प्राप्त कर रहा है। जो समस्त (देवानां) देवों, दिव्य पदार्थों के नामों को स्वयं धारण करता है। अर्थात् सूर्य, चन्द्र आदि भी जिस के नाम हैं वह (एकः एव)अद्वितीय ही है(तम् सम्प्रश्नं)उस सम्यग् रीति से सभी से जिज्ञासा करने योग्य परमपद का आश्रय करके (अन्या भुवना) और सब लोक (यन्ति) गति करते हैं। सभी परमेश्वर के विषय में तर्क-वितर्क से जिज्ञासा करते हैं इसलिये वह 'सम्प्रश्न' हैं।

अध्यात्म में—वह आत्मा (नः)हम प्राणों का पालक धारक है, वह सब के (धामानि) तेजों को धारण करता है। सब(देवानां) प्राणों का नाम या स्वरूप वह स्वयं धारण करता है। वह सर्वजिज्ञास्य है उसके आश्रय पर (भुवना) उससे उत्पन्न समस्त प्राण चेष्टा कर रहे हैं।

तऽआयजन्त द्रविणꣳ समस्मा ऽऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्त्ते सूर्त्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥२८॥

ऋ० १० । ८ । २ । ४ ॥

विश्वकर्मा देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में --(ते ऋषयः) वे राजनीति के मन्त्रद्रष्टा लोग, मुख्य महामात्य लोग (अस्मै) इस राष्ट्रवासी प्रजाजन को (पूर्वे जरितारः न) अपने से पूर्व के विद्वान् नीतिशास्त्र के प्रवक्ताओं के समान ही (भूना) बहुत अधिक (द्रविणम्) धन ऐश्वर्य (सम् आयजन्त) प्रदान करते हैं । और (ये) जो (असूर्त्ते) अप्रत्यक्ष, परोक्ष अर्थात् दूर के और (सूर्त्ते) प्रत्यक्ष, समीप के, (निषत्ते) अपने अधीन स्थिरता से प्राप्त (रजसि) प्रदेश में (इमानि भूतानि) इन समस्त प्रजास्थ प्राणियों को (सम्-अकृण्वन्) उत्तम रीति से संस्कृत करते, शिक्षित करते एवं सुसभ्य बनाने का यत्न करते हैं ।

राजा के मन्त्रद्रष्टा विद्वान् अपने अधीन दूर समीप सभी देशों की प्रजाओं को शिक्षित सभ्य बनाने का उद्योग करें ।

ईश्वर के पक्ष में—(ते ऋषयः) वे पूर्व के ऋषि, प्रकृति के सातों विकार रूप महान् शक्तियां (जरितारः) विद्वान् उपदेशकों के समान (अस्मै) इस जीव सर्ग को (भूना द्रविणं आयजन्त) बहुत २ ऐश्वर्य प्रदान करते हैं अर्थात् पांचों भूत, अहंकार और महत्तत्व प्राणादि पांच, सूत्रात्मा और धनञ्जय ये सातों जीवों को बहुत २ विभूति प्रदान करते हैं । प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रजोगुण में विराजमान प्राणियों को ये ही विशेष २ रूप से उत्पन्न करते हैं ।

परो दिवा पर ऽएना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कथंस्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे २६

ऋ० १० । ८२ । ५ ॥

विश्वकर्मा देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

२६—(च) 'समपश्यन्त विश्वे' इति ऋ० पाठः ॥

भा०—राजा के पक्ष में-[प्र०] (दिवा परः) सूर्य से भी गुणों में पर अर्थात् उत्कृष्ट (एना पृथिव्या परः) इस पृथिवी से भी गुणों में उत्कृष्ट, (देवेभिः) विद्वानों से और (असुरैः) अविद्वान्, केवल प्राणधारी बलवान् पुरुषों से भी (परः) ऊंचा (यत् अस्ति) जो पदाधिकारी है वह कौन है ? और (आपः) आप्त प्रजाएं (कं स्वित्) किस (प्रथमम्) सर्वश्रेष्ठ को (गर्भम्) राष्ट्र के ग्रहण में समर्थ जानकर अपने बीच में (दध्रे) धारण करती हैं। (यत्र) जिसके आश्रय पर (पूर्वे) शक्तियों में पूर्ण (देवाः) समस्त विद्वान् और राजा गण (सम् अपश्यन्त) राष्ट्र के कार्यों का भली प्रकार आलोचन या विचार करते हैं। वह कौन है ? (उत्तर) राजा।

ईश्वर के पक्ष में-(दिवा परः) आकाश और सूर्य से भी परे, पृथिवी से भी परे, (देवेभिः) दिव्य पदार्थों और प्राणों से भी परे, (असुरैः) काल रूप पल, घड़ी, दिन, मास, वर्ष आदि से भी परे कौन है ? (आपः) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु किस शक्ति को प्रथम अपने भीतर धारण करते हैं ? और (यत्र) किसमें (पूर्वे देवाः) पूर्ण शक्तियुक्त दिव्य पदार्थ भी (सम् अपश्यन्त) अपने को एकत्र हुआ पाते हैं। या किसके आश्रय पर (पूर्वे देवाः) पूर्ण विद्वान् पुरुष (सम् अपश्यन्त) सम्यग् दर्शन करते हैं ? (उत्तर) ब्रह्म।

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्रऽआपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥३०॥

ऋ० १० । ८२ । ६ ॥

विश्वकर्मा देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—पूर्व प्रश्न का उत्तर। राजा के पक्ष में—(तम्) उस (प्रथमम्) सर्वश्रेष्ठ (गर्भम्) राष्ट्र को ग्रहण करने में समर्थ या प्रजा द्वारा राजा स्वीकार करने और आश्रय रूप से ग्रहण करने योग्य पुरुष को (आपः) आप्त प्रजाएं (दध्रे) धारण करती हैं (यत्र) जिसका आश्रय लेकर (देवाः)

समस्त विद्वान् गण और शासक (सम् अगच्छन्त) एकत्र होते और व्यवस्था में संगठित हो जाते हैं। (अजस्य) अनुत्पन्न, अप्रकट रूप में विद्यमान राज्य के (नाभौ) नाभि, या केन्द्र भाग में (अधि) सबके ऊपर अधिष्ठाता रूप से (एकम्) उस एक पद को (आपतम्) स्थापित किया जाता है (यस्मिन्) जिस पर आश्रित होकर (विश्वानि भुवनानि) समस्त चर अचर प्राणी और प्रजाएं (तस्थुः) राष्ट्र में स्थिर होकर रहते हैं।

परमेश्वर के पक्ष में—(तम् इत् प्रथमम्) उस ही सर्वश्रेष्ठ सबसे प्रथम विद्यमान परमेश्वर को (आपः) प्रकृति के सूक्ष्म परिमाणु भी अपने (गर्भं दध्रे) गर्भ में धारण करते हैं (यत्र) जिसके आश्रित (विश्वे देवाः सम् अगच्छन्त) समस्त दिव्य शक्तियां, पांचों भूत आदि वैकारिक पदार्थ एकत्र होकर एक काल में व्यवस्थित हैं। वस्तुतः (अजस्य) अव्यक्त रूप से विद्यमान संसार के (नाभौ) नाभि, केन्द्र अथवा उसको बांधने वाले तत्त्व के रूप में (एकम्) एक परम तत्त्व (अधि अर्पितम्) सर्वोपरि विद्यमान है (यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः) जिसमें समस्त भुवन, उत्पन्न लोक आश्रय पाकर स्थिर हैं।

न तं विदाथ य ऽइमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप ऽउक्थशासश्चरन्ति ॥३१॥

ऋ० १० । ८२ । ७ ॥

विश्वकर्मा देवता भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे प्रजाजनो ! (तं न विदाथ) तुम लोग उसको नहीं जानते, नहीं देखते (यः इमा जजान) जो इन समस्त राज्य-कार्यों को प्रकट करता है। (अन्यत्) और वह (युष्माकम्) तुम लोगों के ही (अन्तरं) बीच में (बभूव) रहता है। (असुतृपः) प्राणमात्र लेकर सन्तुष्ट रहने वाले (उक्थशासः) राजाज्ञा के अनुसार शासन

करने वाले लोग भी (नीहारेण जल्प्या च प्रावृताः) कुहरे में छिपे हुए के समान वाग्जाल से भ्रान्त होकर विचरते हैं। वे भी राजा के परम पद को भली प्रकार नहीं जानते हैं। वे केवल अपने वेतन या प्राण-वृत्ति से ही तृप्त रहते हैं।

ईश्वर के पक्ष में—हे मनुष्यो ! (यः इमा जजान) जो इन समस्त लोकों को पैदा करता है (तं न विदाथ) तुम लोग उसको नहीं जानते। (अन्यत्) वह और ही तत्त्व है जो सब से भिन्न होकर भी (युष्माकम् अन्तरं) तुम लोगों के भी बीच में (बभूव) व्यापक है। (नीहारेण प्रावृताः) कोहरे या धुन्ध से घिरे हुए पुरुषों के समान दूर तक न देखने वाले लघुदृष्टि होकर (जल्प्या च प्रावृताः) केवल मौखिक वार्त्तालाप या वाद-विवाद में मुग्ध हो कर केवल (असुतृपः) प्राण लेकर ही तृप्त होने वाले, (उक्थशासः) ज्ञान के योग्य तत्त्व का अनुशासन करने वाले बन कर (चरन्ति) विचरते हैं। अर्थात् लोग उसके विषय में शास्त्रों की बातें बहुत करते हैं, परन्तु उसका यथार्थ साक्षात् नहीं करते।

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव ऽआदिद् गन्धर्वो ऽअभवद् द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुत्रा ॥ ३२॥

विश्वकर्मा देवता। स्वराडार्षी पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—राजा के पक्ष में—(विश्व-कर्मा) राष्ट्र के समस्त उत्तम कार्यों का सञ्चालक, प्रवर्त्तक (हि) निश्चय से (देवः) वह सर्वप्रद, सर्वविजयी राजा सबसे प्रथम (अजनिष्ट) प्रकट होता है। (आत् इत्) उसके बाद (गन्धर्वः) गौ अर्थात् पृथिवी का धारण करने वाला भूमिपति, गौ वाणी शासन-आज्ञा का धारक (अभवत्) होता है। और फिर (तृतीयः) तीसरे वह (ओषधीनाम्) 'ओष' अर्थात् शत्रु के दाह करने वाले वीर्य को

३२—ऋग्वेदेऽथर्वणि च नास्ति। इति वैश्वकर्मणहोमः॥

धारण करने वाली सेनाओं का पालक और उत्पादक है। वह ही (पुरुत्रा) बहुतों को रक्षा करने में समर्थ होकर (अपाम्) आप्त प्रजाजनों का (गर्भम्) गर्भ अर्थात् ग्रहण करने वाले, उनको वश करने वाले राष्ट्र को (व्यदधात्) विविध प्रकार से विधान करता है। विविध व्यवस्थाओं से उनको व्यवस्थित करता है। राजा के क्रम से चार रूप हुए प्रथम 'देव' विजिगीषु, दूसरा 'गन्धर्व' विजित भूमि का स्वामी, तृतीय सेनाओं का पालक और उत्पादक, चतुर्थ प्रजाओं का वशकर्त्ता।

ईश्वरपक्ष में—सब से प्रथम (विश्वकर्मा देवः हि अजनिष्ट) विश्व का कर्त्ता प्रकाशस्वरूप प्रभु विद्यमान था। (आत् इत् द्वितीयः गन्धर्वः अभवत्) फिर उससे गौ, वाणी, वेद, और पृथिवी का धारक सूर्य प्रकट हुआ यह ईश्वरीय शक्ति का दूसरा रूप था। (तृतीयः ओषधीनां जनिता पिता च) तीसरा, ओषधियों,-घास लता वृक्षादि का पालक और उत्पादक मेघरूप है। वह (अपां गर्भम् पुरुत्रा व्यदधात्) मेघ होकर प्रजापति अर्थात् बहुत से जीव सर्गों के पालने में समर्थ होकर जलों को अपने गर्भ में धारण करता है।

अध्यात्म में—विश्वकर्मा आत्मा है। वह वाणी का प्राण द्वारा धारक होने से गन्धर्व है। ओषधि = ज्ञानधारक इन्द्रियगण का पालक और उत्पादक है वह (अपां गभम्) ज्ञानों और कर्मों को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

आशुः शिशा॑नो वृष॒भो न भी॒मो घ॑नाघ॒नः क्षोभ॑णश्चर्षणी॒नाम् । संक्रन्द॑नोऽनिमि॒षऽए॑कवी॒रः श॒तꣳ सेना॑ऽअजयत्सा॒कमिन्द्रः॑ ॥ ३३ ॥

[३३-४४] ऋ० १० । १०३ । १ ॥

३३—४४ अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अप्रतिरथं सूक्तम् ॥

भा० —सेनापति रूप से इन्द्र का वर्णन। (आशुः) अति वेगवान्,

शीघ्रगामी, बड़े वेग से शत्रु पर आक्रमण करने वाला, (शिशानः) अपने हथियारों को खूब तीक्ष्ण करके रखने वाला अथवा (शिशानः) शत्रु-सेनाओं को काटता, फाटता, (वृषभः न भीमः) मदमत्त वृषभ के समान भयंकर अथवा मेघ के समान शत्रुओं पर शर वर्षण करने वाला होकर अति भयंकर, (घनाघनः) शत्रुओं को निरन्तर या वार-वार हनन करने वाला, अथवा 'मारो मारो' इस प्रकार सेनाओं को आज्ञा देने वाला, (चर्षणीनाम् क्षोभणः) समस्त मनुष्यों को विक्षुब्ध कर देने वाला, (सं-क्रन्दनः) शत्रुओं को अच्छी प्रकार रुलाने या ललकारने वाला, (अनिमिषः) कभी न झपकने वाला, सदा सावधान एवं निर्भय, प्रमाद रहित, (एक वीरः) एक मात्र वीर्यवान्, शूरवीर, (इन्द्रः) शत्रुओं का विदारण करने में समर्थ पुरुष ही (शतं सेनाः) सैकड़ों नायकों सहित दलों या सेनाओं को (साकम्) एकही साथ (अजयत्) विजय करता है। जो पुरुष ऐसा शूरवीर हो वही सेनापति 'इन्द्र' पद पर विराजे । शत० ९।२।३।६॥

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥ ३४॥

ऋ० १० । १०३ । २ ॥

इन्द्रो देवता । स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (युधः नरः) योद्धा नायक वीर पुरुषो ! तुम लोग (संक्रन्दनेन) दुष्ट शत्रुओं को रुलाने वाले या उनको ललकारने वाले, (अनिमिषेण) निरन्तर सावधान, न चूकने वाले, (जिष्णुना) सदा जयशील, (युत्कारेण) युद्ध करने वाले, अतिवीर, (दुश्च्यवनेन) शत्रुओं से कभी पराजित न होने वाले, मैदान छोड़ कर कभी न भागने वाले, दृढ़, (धृष्णुना) शत्रुओं का मान भङ्ग करने में समर्थ, (इषु-हस्तेन) वाणों को अपने हाथ में लेने वाले अथवा वाणों से मारने वाले, (वृष्णा) बलवान्, (इन्द्रेण) शत्रु-गढ़ों को तोड़ने वाले, 'इन्द्र' नाम मुख्य सेनापति के

साथ (तत् जयत) उस लक्ष्यभूत युद्ध का विजय करो, (तत्) उस दूरस्थ शत्रु-गण को (सहध्वम्) पराजित करो ।

स ऽइषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी स छंस्रष्टा स युध ऽइन्द्रो गणेन ।
सछंसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥३५॥

ऋ० १० । १०३ । ३ ॥

इन्द्रो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा० —(सः) वह (वशी) अपने भीतर काम, क्रोध, लोभ, मोह मद, मात्सर्य इन छः शत्रुओं पर वशकर्त्ता या राष्ट्र का वशयिता अथवा कान्तिमान्, प्रजाओं का प्रिय, होकर (इषुहस्तैः) बाण आदि को दूर फेंकने वाले अस्त्रों को हाथ में लिये (निषङ्गिभिः) खड्गधारी वीरों के साथ (संस्रष्टा) मेल करे, उनके बीच उत्तम कर्त्ता-धर्त्ता एवं व्यवस्थापक होकर (गणेन) अपने गण, सैन्यदल सहित (युधः) युद्ध करने वाला होता है । (सः) वह ही (सोमपाः) सोम-रस का पान करने वाला अथवा 'सोम' राजा और राष्ट्र का पालन करने हारा, (बाहुशर्धी) बाहुबल, क्षात्रबल से युक्त होकर (संसृष्टजित्) खूब परस्पर मिलकर आये, सुव्यवस्थित शत्रु-सेनादल का विजेता होता है । (सः) और वह ही (उग्रधन्वा) भयंकर धनुर्धर होकर (प्रतिहिताभिः) प्रतिपक्षी पर फेंके गये बाणों से (अस्ता) शत्रुओं का नाशक अथवा (प्रतिहिताभिः) साक्षात् धारण की, वशीकृत या मुकाबले पर खड़ी की गयी, अपनी सेनाओं से (अस्ता) शत्रु दलपर शस्त्रास्त्रों का फेंकने वाला होता है ।

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ२ अपबाधमानः ।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम् ॥३६॥

ऋ० १० । १०३ । ४ ॥

इन्द्रो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् धैवतः ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बड़ी भारी विशाल सेना के पालक मुख्य सेनापते ! तू (रक्षोहा) दुष्ट पुरुषों का घातक है । तू (रथेन) रथ से, अर्थात् 'रथ' नामक सेना के अंग से, रथों के दल से, (अमित्रान्) शत्रुओं को (अपबाधमानः) दूर से ही मारता हुआ, उनको पीड़ित करता हुआ (परिदीयाः) युद्ध में आगे बढ़ और शत्रु का नाश कर और (युधा) योद्धा दल, पदाति सेना दल से (प्रमृणः) हमारा नाश करने वाली (सेनाः) शत्रुसेनाओं को (प्रभञ्जन्) खूब छिन्न भिन्न करके उनको (जयन्) जीतता हुआ (अस्माकं रथानाम्) हमारे रथों का (अविता एधि) रक्षक बना रह ।

बलविज्ञाय स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः । अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोवित् ॥३७॥

ऋ० १० । १०३ । ५ ॥

इन्द्रो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र) शत्रुओं का घात करने और उनके गढ़ों और व्यूहों को तोड़ने-फोड़ने में समर्थ इन्द्र ! तू (बल-विज्ञायः) सेना-विज्ञान में चतुर अर्थात् सेनाओं के व्यूह बनाने और उनके प्रयोग और संचालन में कुशल, एवं शत्रु के बलों को भी जानने वाला और सेना के द्वारा ही उत्तम नायक रूप से जाना गया, (स्थविरः) स्वयं ज्ञानवृद्ध, अनुभव-वृद्ध या युद्ध में स्थिर, (प्रवीरः) स्वयं उत्तम शूरवीर, और उत्तम वीर्य-वान् पुरुषों से सम्पन्न, (सहस्वान्) शत्रुविजयी बल से युक्त, (वाजी) वेगवान्, (उग्रः) भयानक, (अभिवीरः) प्रिय, वीरों से घिरा हुआ या वीरों का पराजय करने वाला, (अभिसत्वा) बलवान् पुरुषों से सम्पन्न, (सहोजाः) बल के कारण ही विख्यात और (गोवित्) पृथिवी को विजय से प्राप्त करने वाला अथवा आज्ञा, वाणी का स्वामी होकर (जैत्रम्)

विजयशील योधाओं से युक्त (रथम्) रथ पर (आतिष्ठ) सवार हो और विजय को निकल ।

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा । इमᳬं सजाता ऽअनु वीरयध्वमिन्द्रᳬं सखायो ऽअनु सᳬंरभध्वम् ॥३८॥

ऋ० १० । १०३ । ६ ॥

इन्द्रो देवता । भुरिग् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (सजाताः) बल, कीर्त्ति, वंश आदि से समान रूप से विख्यात वीर पुरुषो ! आपलोग (गोत्र भिदम्) शत्रुओं के गोत्रों को तोड़ने वाले, शत्रु-वंशों के नाशक, (गो-विदम्) पृथ्वी को प्राप्त करनेवाले, (वज्र-बाहुम्) बाहु में वीर्यवान्, खड्गधर, (अज्म जयन्तम्) संग्राम का विजय करने वाले और (ओजसा) बल पराक्रम से (प्रमृणन्तम्) शत्रुओं को खूब विनाश करने वाले (इमम् इन्द्रम्) इस इन्द्र, सेनापति को (अनु वीरयध्वम्) अनुसरण करके उसके अधीन रहकर, वीरता के कार्य करो, विक्रम पूर्वक युद्ध करो । हे (सखायः) मित्र लोगो ! आप लोग उसके ही (अनु) अनुकूल रहकर (सम् रभध्वम्) अच्छी प्रकार युद्ध आरम्भ करो ।

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानो ऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः । दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्यो ऽस्माकᳬं सेना ऽअवतु प्र युत्सु ॥३९॥

ऋ० १० । १०३ । ७ ॥

इन्द्रो देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सहसा) अपने शत्रुपराजयकारी बल से (गोत्राणि) शत्रुओं के कुलों पर (अभि गाहमानः) आक्रमण करता हुआ, (अदयः) दयारहित, (वीरः) शूरवीर, (शतमन्युः) अनेक प्रकार के कोप करने में समर्थ, (दुश्च्यवनः) शत्रु से विचलित न होने वाला, (पृतनाषाड्) शत्रु-सेनाओं को विजय करने में समर्थ, (अयुध्यः) युद्ध में शत्रुओं से

अजेय, (इन्द्रः) इन्द्र, सेनापति, (युत्सु) संग्रामों में और योद्धाओं के बीच में (अस्माकं सेना प्र अवतु) हमारी सेनाओं की उत्तम रीति से रक्षा करे ।

इन्द्रं आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥ ४० ॥

ऋ० १० । १०२ । ८ ॥

इन्द्रो देवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र, परम ऐश्वर्ययुक्त, सेनापति जो शत्रु के व्यूहों को तोड़ने में समर्थ हो वह (आसाम्) इन सेनाओं का (नेता) नायक होकर पीछे से सेना को मार्ग पर चलावे । (बृहस्पतिः) बड़े २ अधिकारों का अध्यक्ष, या बड़े २ दलों का स्वामी 'बृहस्पतिः' (दक्षिणा) अपनी सेना के दायें भाग में होकर चले । (यज्ञः) व्यूहादि में दलों को संगत या व्यवस्थित करने में कुशल पुरुष (पुरः एतु) आगे २ चले । (सोमः) सेना का प्रेरक या उत्साहवर्धक पुरुष बायें ओर रहकर चले । और (जयन्तीनाम्) विजय करनेवाली (अभिभञ्जतीनाम्) शत्रुओं के बलों, दलों और गढ़ों को तोड़ती फोड़ती हुई (देवसेनानाम्) विजयी पुरुषों की सेनाओं के (अग्रम्) अग्र भाग में (मरुतः) शत्रुओं को मारने में समर्थ एवं वायु के समान बलवान् शूरवीर पुरुष (यन्तु) चलें ।

उवट के मत में–इन्द्र सेनानायक हो और बृहस्पति उसका मन्त्री उसके साथ हो । यज्ञ दक्षिण भाग में और सोम आगे हो । अथवा यज्ञ और सोम दोनों सेना के दायीं ओर, आगे के भाग में हों ।

ऋ० १० । १०३ । ९ ॥

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम् ।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥४१॥

ऋ० १० । १ । ३९ ॥

इन्द्रो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(वृष्णः) बलवान्, (इन्द्रस्य) इन्द्र, सेनापति के और (वरुणस्य) प्रजा द्वारा स्वयं वरण किये गये राजा का और (आदित्यानाम् मरुताम्) आदित्य के समान पूर्ण ब्रह्मचारी, तेजस्वी और वायु के समान तीव्र वेगवान् शत्रुओं के बलों के नाशक योद्धाओं का (उग्रम् शर्धः) बढ़ा उग्र, भयंकर बल और (महामनसाम्) बड़े मनस्वी, विज्ञानवान् (भुवनच्यवानाम्) भुवन को कंपा देने वाले, समस्त भूलोक को विचलित कर देने वाले (जयताम्) विजय करते हुए (देवानां) विजिगीषु राजाओं का (घोषः) नाद (उत् अस्थात्) उठे और फैले ।

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांᳬसि ।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥४२॥

ऋ० १० । १०३ । १० ॥

इन्द्रो देवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (मघवन्) प्रशस्त धनैश्वर्य सम्पन्न ! तू (सत्वनाम्) बलवान् (मामकानाम्) मेरे पक्ष के वीर पुरुषों के (आयुधानि) शस्त्र अस्त्रों को (उद् हर्षय) चमकवा, आवेश में ऊपर खड़े करवा । और उनके (मनांसि उत्) मनों को भी बढ़ावा दे । हे (वृत्रहन्) घेरने या बढ़ने वाले शत्रु के नाशक सेनापते ! तू (वाजिनाम्) घुड़सवार सेनाओं के (वाजिनानि) शीघ्र गतियों, चालों को (उद् हर्षय) चला । (जयतां) विजय करने हारे (रथानाम्) रथों के (घोषाः) घोष, घोर शब्द (उद् यन्तु) ऊपर उठें ।

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ२ऽ उं देवा ऽअवता हवेषु॥४३॥

ऋ० १० । १०३ । ११ ॥

इन्द्रो देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(ध्वजेषु) रथों पर लगे झण्डों के (समृतेषु) उत्तम रीति से प्राप्त हो जाने पर (अस्माकम् इन्द्रः) हमारा शत्रुहन्ता नायक और (याः अस्माकं इषवः) जो हमारे बाण अर्थात् बाण आदि अस्त्र-धारी योद्धा हैं (ताः) वे (जयन्तु) जीतें । (अस्माकं वीराः) हमारे वीर पुरुष युद्ध में (उत्तरे भवन्तु) ऊंचे होकर रहें । और (देवाः) विजयी पुरुष (हवेषु) संग्रामों में (अस्मान् उ अवत) हमारी ही रक्षा करें ।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ४४

ऋ० १० । १०३ । १२ ॥

इन्द्रो देवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अप्वे) शत्रुओं को दूर भगा लेजाने वाली भय की प्रवृत्ति अथवा शरीर की उत्पन्न पीड़े ! अथवा भयंकर सेने ! तू (अमीषां) उन शत्रुओं के (चित्तम्) चित्त को (प्रतिलोभयन्ती) साक्षात् मोहित करती हुई (अङ्गानि गृहाण) शत्रुओं के अंगों को जकड़ ले । और (परा इहि) स्वयं दूर भाग जा । (अभि प्र इहि) आगे २ बढ़ी चली जा । (शोकैः) ज्वाला की लपटों से शत्रुओं के (हृत्सु) हृदयों में (निर्दह) जलन पैदा कर । और (अमित्राः) शत्रु गण (अन्धेन तमसा) गहरे अन्धकार, या अन्धकार देने वाले तम, शोक और पीड़ा दुःख से (सचन्ताम्) युक्त हो जांय ।

अप्वा–या अपवाति शत्रुप्राणान् हिनस्ति तत् सम्बुद्धौ 'शूरवीरे राजर्षि' ! इति दया० । यदेनया विद्धो अपवीयते । क्षत्रिये व्यधिर्वा भयं वा इति यास्कः । नि० ६ । २ । ३ ॥

४४—अप्वा देवता ऋग्वेदे ।

अवसृष्टा परापत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
गच्छामित्रान् प्रपद्यस्व मामीषां कञ्चनोच्छिषः ॥ ४५ ॥

ऋ० ६ । ७४ । १७ ॥

४५–४९ अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः । प्रजापतिर्विवस्वान् वेत्येके । इषुर्देवता ॥
आर्ष्यनुष्टुप् गांधारः ॥

भा०—हे (शरव्ये) हिंसक या प्राणघातक साधनों की बनी हुई शरव्ये ! शर वर्षाने वाली यन्त्र कले ! हे (ब्रह्मसंशिते) बड़े भारी बल वीर्य से अति तीक्ष्ण, वेग वाली की गयी तू (अवसृष्टा) छोड़ी या चलाई जाकर (परापत) दूर तक जा और (गच्छ) इधर भी जा और (अमित्रान्) शत्रुओं तक (प्र पद्यस्व) आगे बढ़ी चली जा और उनतक पहुंच। (अमीषां) उन शत्रुओं में से (कंचन) किसी को भी (मा उत् शिषः) जीता बचा न छोड़ ।

अनेक बाणों या गोलियों को एकही साथ छोड़ने वाली तोप के समान कोई यन्त्र कला 'शरव्या' कहाती प्रतीत होती है । शरमयी इषुः शरव्या इति उवटः । 'शरमयी हेतिः शरव्या' इति महीधरः । 'इषु' या 'हेति' जो किसी घताक साधन को दूर फेंके वह कला 'इषु' या 'हेति' कहाती है ।

अथवा—हे (ब्रह्मसंशिते शरव्ये) विद्वानों से प्रशंसित बाणविद्याकी विदुषि स्त्रि ! तू प्रेरित होकर जा, शत्रुओं को मार, उनमें से किसी को न छोड़ ॥

प्रेता जयता नर ऽइन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥४६॥ ऋ०१०।१०३।७३॥

४५—ऋग्वेदे पायुर्भारद्वाज ऋषिः । एतदन्तानामप्रतिरथः संहिताभाष्ये । असौ विनियोगाभावात् प्रजापतिः । सर्वसधारणे विवस्वानेव ऋषि,रियपरे इति अनन्तः।

४६—ऋग्वेदे ऽप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः । इन्द्रो मरुतो देवताः । योद्धन्स्तीति सर्वा० ।

भा०—हे (नरः) वीर नेता पुरुषो ! (प्र इत) आगे बढ़ो। (जयत) विजय करो। (इन्द्रः) शत्रुओं का नाशक सेनापति (वः) तुमको (शर्म) गृह या रक्षा का साधन (यच्छतु) दे। (वः) तुम्हारे (बाहवः) बाहुएं या शत्रुओं को पीड़ा देने वाले हथियार (उग्राः) उग्र, बड़े बलवान, भयकारी हों। (यथा) जिससे तुम लोग (अधृष्याः) शत्रु से कभी पछाड़ न खाने वाले (असथ) बने रहो।

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति नः ऽओजसा स्पर्धमाना।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथामीऽअन्यो अन्यं न जानन्॥४७॥

अथ० ३। २। ६।

मरुतो देवता निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (मरुतः) वायु के समान तीव्र वेग से शत्रु रूप वृक्षों के अंगों को तोड़ते फोड़ते युद्ध में आक्रमण करने हारे वीर पुरुषो! (असौ या) यह जो (परेषां सेना) शत्रुओं की सेना (ओजसा) बल पराक्रम से (स्पर्धमाना) हमसे स्पर्द्धा करती हुई, हमारा मुकाबला करती हुई (नः अभि एति) हमारी तरफ ही बढ़ी चली आरही है (ताम्) उसको (अप व्रतेन) सब कर्मों या इन्द्रिय व्यापारों को नाश कर देने वाले, (तमसा) अन्धकार, धूमादि से या शोक और भय से (गूहत) घेर दो (यथा) जिससे (अमी) ये लोग (अन्यः अन्यम्) एक दूसरे को भी (न जानन्) न जान पावें। आखों को भ्रमा देने या नाश कर देने वाले, धूम या कृत्रिम अन्धकार का प्रयोग करने का उपदेश वेद ने किया है।

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव। तन्न ऽइन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु॥४८॥

४७—अथर्वऋषिरथर्ववेदे। सेनासंमोहनम्। अशास्यदत्रियो देवता। इति अनन्त०। 'परेषाभस्मानैत्यभ्योजसा'०, 'तां विध्यत', 'यथैषामन्यो०' इति अथर्वपाठः।

४८—''तवानोब्रह्मणस्पतिरदितिः'' इति ऋग्वेदपाठः। पायुर्भारद्वाज ऋषिः॥

इन्द्रादयो लिंगोक्ताः । देवताः । पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यत्र) जिस संग्राम भूमि में (विशिखाः) शिखारहित या विविध शिखाओं वाले, (कुमाराः) कुमारों बालकों के समान चपल, (कुमाराः) कड़ी, दुःखदायी, बुरी मार करने हारे, (विशिखाः) विविध तीक्ष्ण शिखा या तेज़ धार वाले, (बाणाः) घनघोर गर्जन करने वाले शस्त्रास्त्र (सम्पतन्ति) निरन्तर गिरते हैं (तत्) वहां (इन्द्रः) शत्रुघातक इन्द्र, सेनापति (बृहस्पतिः) बड़ी भारी सेना या सभा का पालक स्वामी (अदितिः) अखण्डित बल पराक्रम वाला राजा या तेजस्विनी सभा या अनथक परिश्रम करने वाली स्वयंसेवक-समिति (शर्म यच्छतु) हताहतों को सुख दे । और (विश्वाहा) सदा, सब दिनों (शर्म यच्छतु) सबको सुख दिया करे । (४८-४९) ऋ० ६ । ७५ । १७ १८ ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ ४६ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १८ ॥

सोमो वरुणो देवाश्च लिंगोक्ता देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे वीर योद्धा, क्षत्रिय ! इन्द्र ! पुरुष ! (ते) तेरे (मर्माणि) आघात लगने से मृत्युजनक कोमल मर्मस्थानों को (वर्मणा) आघात से बचने वाले कवच से (छादयामि) ढकता हूं । (राजा सोमः) सोम्य गुण, दया आदि से युक्त अथवा ऐश्वर्यवान् राजा (त्वा) तुझको (अमृतेन) सर्व निवारक ओषधि और अन्न से (अनु वस्ताम्) ढके, तेरी रक्षा करे । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ राजा ही (ते) तुझे (उरोः वरीयः) बहुतसे बहुत, अधिक धन (कृणोतु) प्रदान करे और (जयन्तं त्वा)

४६—१. अथवा क्षत्रिय एव देवता । तस्य सम्बोध्यत्वेनात्र प्रधानत्वान्न सोमादय इति याज्ञिकोऽनन्तदेवः ॥

विजय करते हुए तुझे देख कर (देवाः) विजयशील सैनिक भी (अनु मदन्तु) तेरे साथ हर्षित हों या धनादि विजय-लक्ष्मी से तृप्त हों ।

उदे॑नमुत्त॒रां न॑याग्ने घृ॒तेना॑हुत ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ सꣳसृ॑ज प्र॒जया॑ च ब॒हुं कृ॑धि ॥ ५० ॥

अग्निर्देवता । विराडार्ष्यनुष्टुप् । गांधरः ॥

भा०—हे (घृतेन) तेज से या शस्त्रों के सञ्चालन रूप पराक्रम से (आहुत) प्रदीप्त ! (अग्ने) अग्रणी ! सेना नायक ! (एनम्) इस राष्ट्र और राष्ट्रपति को तू (उत् नय) ऊंचे पदपर बैठा और (उत्तराम् नय) और अन्यों से भी अधिक उच्चपद या प्रतिष्ठा पर प्राप्त करा । इसको (रायः पोषेण) ऐश्वर्य की वृद्धि से (संसृज) युक्त कर । (प्रजया च) और प्रजा से (बहुं कृधि) बहुत, बहुतसे वीर पुरुषों से युक्त बड़े समुदाय का स्वामी बना दे ।

इन्द्रे॒मं प्र॑त॒रां न॑य सजा॒ताना॑मसद्व॒शी ।
समे॑नं॒ वर्च॑सा सृज दे॒वानां॑ भाग॒दा ऽअ॑सत् ॥ ५१ ॥

इन्द्रो देवता आर्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! सेनापते ! (इमं) इस राष्ट्रपति को (प्र-तराम्) बहुत उत्कृष्ट मार्ग से (नय) ले चल । जिससे वह (सजातानाम्) अपने समान वंश और पद वालों को भी (वशी असत्) वश करने में समर्थ हो । (एनं) इसको (वर्चसा) ऐसे तेज और बल से (संसृज) युक्त कर जिससे यह (देवानां) समस्त विजयशील योद्धाओं, विद्वानों और शासक वर्गों को (भागदाः) अंश, उनके उचित वेतन आदि देने में समर्थ (असत्) हो ।

यस्य॑ कु॒र्मो गृ॒हे ह॒विस्तम॑ग्ने व॒र्धया॒ त्वम् ।
तस्मै॑ दे॒वा ऽअधि॑ब्रुवन्न॒यं च॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॑ ॥ ५२ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(वयम्) हम लोग (यस्य गृहे) जिसके घर में या जिसके शासन में रह कर (हविः कुर्मः) 'हवि' अन्न आदि पदार्थों के आदान-प्रदान योग्य कर्मों को उत्पन्न करते हैं, हे (अग्ने) अग्रणी नायक ! (त्वम्) तू (तम्) उसको (वर्धय) बढ़ा । (देवाः) विद्वान् और विजिगीषु जन भी (तस्य) उसको ही (अधिब्रुवन्) कहें कि (अयं च) यह ही (ब्रह्मणः पतिः) महान् बल, वीर्य या वेद या ब्रह्म, अन्न का पालक स्वामी अन्नदाता है, अथवा—(देवाः ब्रह्मणस्पतिः च तस्मै अधि-ब्रुवन्) विद्वान् पुरुष विद्वानों का भी पालक, वेदवित् पुरुष (तस्मै अधि-ब्रुवन्) उसको सर्वोच्च होने का उपदेश करें ।

उदु॑ त्वा॒ विश्वे॑ दे॒वा ऽअग्ने॒ भर॑न्तु॒ चित्ति॑भिः ।
स नो॑ भव शि॒वस्त्वꣳ सु॒प्रती॑को वि॒भाव॑सुः ॥ ५३ ॥

अग्निर्देवता । विराडार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—व्याख्या देखो (अ० १२ । मं० १३)

पञ्च॒ दिशो॒ दैवी॑र्य॒ज्ञम॑वन्तु दे॒वीरपाम॑तिं दु॑र्म॒तिं बाध॑मानाः ।
रा॒यस्पोषे॑ य॒ज्ञप॑तिमा॒भज॑न्ती रा॒यस्पोषे॒ ऽअधि॑ य॒ज्ञो ऽअ॑स्थात् ५४

दिशो देवताः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(दैवीः) देव, अर्थात् राजा या विजयशील प्रजाओं के अधीन (पञ्च) पांचों (दिशः) दिशाएं अर्थात् पाचों दिशाओं में रहने वाली प्रजाएं, अथवा पांच राजसभाएं (यज्ञम्) सत्कार करने और संगति करने योग्य राजा और राष्ट्र को (अवन्तु) रक्षा करें । (देवीः) और उत्तम विदुषी स्त्रियां और विदुषी प्रजाएं, राजसभाएं (अमतिम्) अज्ञान और (दुर्मतिम्) दुष्ट विचारों को (बाधमानाः) दूर करती

५४—(५४–४५) पञ्च यज्ञाग्निसाधनवादिन्यः । सर्वा०

हुई और (यज्ञपतिम्) यज्ञपति को (रायः पोषे) ऐश्वर्य के निमित्त (आभजन्ती) आश्रय करती हुईं, यज्ञ की रक्षा करें। जिससे (यज्ञः) समस्त राष्ट्र रूप यज्ञ वा राष्ट्रपति (रायः पोषे) ऐश्वर्य पशु की सम्पत्ति पर (अधि अस्थात्) सर्वोपरि स्थित रहे। शत० ९। २। ३। ८॥

गृहस्थ पक्ष में—पांच दिशाओं के समान (देवीः) विद्वान् स्त्रियां सब के अज्ञान और दुष्ट बुद्धि का नाश करती हुईं (यज्ञपतिम्) गृहस्थ यज्ञ के स्वामी पतियों को सेवन करती एवं ऐश्वर्य का भागी बनाती हुईं यज्ञ की रक्षा करें। गृहाश्रम ऐश्वर्य की वृद्धि में लगा रहे।

समिद्धे अग्नावधि मामहान ऽउक्थपत्र ऽईड्यो गृभीतः।
तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवाः॥ ५५॥

अग्निर्देवता। भुरिगार्षी पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—(देवाः) जिस प्रकार विद्वान् ऋत्विग् लोग (यत्) जब (तप्तम्) प्रतप्त (घर्मम्) सेचन योग्य घृत को (परि गृह्य) लेकर (अयजन्त) आहुति देते हैं और (यज्ञम्) उस पूजनीय परमेश्वर को लक्ष्य करके (ऊर्जा) अन्न द्वारा (समिद्धे अग्नौ) प्रदीप्त अग्नि में (अयजन्त) आहुति देते और यज्ञ करते हैं तब (अधि मामहानः) अति अधिक पूजनीय (उक्थपत्रः) वेद वचनों द्वारा ज्ञान करने योग्य, (ईड्यः) सर्वस्तुति योग्य परमेश्वर ही (गृभीतः) ग्रहण किया जाता है अर्थात् यज्ञ में उसी की पूजा की जाती है। उसी प्रकार (देवाः) विजिगीषु वीर पुरुष (यत्) जब (तप्तम्) अति प्रतप्त, क्रुद्ध या शत्रुओं को तपाने में समर्थ (घर्मम्) तेजस्वी राजा को (परिगृह्य) आश्रय करके (अयजन्त) उसका सत्कार करते और उसके आश्रय पर परस्पर मिल जाते हैं और (अग्नौ समिद्धे) अग्रणी नेता के अति प्रदीप्त, तेजस्वी हो जाने पर (यत्) जब (यज्ञम्) परस्पर संगति वा संग्राम (अयजन्त) करते हैं तब भी (ईड्यः) वह सब के स्तुति योग्य (उक्थपत्रः) शासन-आज्ञाओं से प्रजाओं को ज्ञापन या

घोषणा करने वाला राजा ही (अधि मामहानः) सर्वोपरि पूजनीय रूप से (गृभीतः) स्वीकार किया जाता है । शत० ९ । २ । ३ ९ ॥

दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः ।
परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्यो ऽअध्वर्यन्तो ऽअस्थुः ॥ ५६ ॥

अग्निर्देवता । विराडार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(देवाः) देव, विद्वान् पुरुष, (देवेभ्यः) विद्वानों के हित के लिये ही (अध्वर्यन्तः) अपने हिंसा रहित आचरण एवं यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों की कामना करते (अस्थुः) रहते हैं । वे विद्वान लोग जो (देवश्रीः) राजा के समान लक्ष्मी से युक्त, अथवा देवों, विद्वानों के निमित्त अपने धन वैभव को व्यय करने हारा, उदार, (श्रीमनाः) अपने चित्त में सेवनीय शुभ वृत्ति या पूज्य प्रभु को धारण करने वाला या लक्ष्मी शोभा को चाहने वाला, और (शतपयाः) सैकड़ों दूध या दुधार गौवों वाला, या सैकड़ों पुष्टि कारक अन्न आदि से सम्पन्न होता है उस सम्पन्न पुरुष को (दैव्याय) दिव्य गुणों से सम्पन्न (धर्त्रे) जगत् के धारक, पोषक और (जोष्ट्रे) सबको प्रेम करने वाले परमेश्वर की स्तुति के लिये ही (परिगृह्य) आश्रय करके (यज्ञम् आयन्) यज्ञ करने के लिये आते हैं । शत० ९ । २ । ३ । १० ॥

उसी प्रकार राष्ट्र पक्ष में—जो (देवश्रीः) राजा के समान वैभव वाला, (श्रीमनाः) राज्य वैभव को चाहने वाला, और (शतपयाः) सैकड़ों पोषण पदार्थों और बलों से युक्त होता है उसका (परिगृह्य) आश्रय लेकर (देवाः) विजिगीषु वीर जन (दैव्याय) देवों के हितकारी, (धर्त्रे) सब के धारक, (जोष्ट्रे) सब के प्रेमी पुरुष की वृद्धि या ऐसी राष्ट्र की वृद्धि के लिये (यज्ञम् आयन्) संग्राम में आते हैं । (देवाः देवेभ्यः) विजयी लोग विजेताओं की उन्नति के लिये ही (अध्वर्यन्तः अस्थुः) संग्राम चाहते रहते हैं ।

वी॒तꣳ ह॒विः श॑मि॒तꣳ श॑मि॒ता य॒जध्यै॑ तु॒रीयो॑ य॒ज्ञो यत्र॑ ह॒व्यमेति॑ । ततो॑ वा॒का ऽआ॒शिषो॑ नो जुषन्ताम् ॥ ५७ ॥

यज्ञो देवता । निचृदार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(यत्र) जिसमें (वीतं) सर्वत्र व्याप्त होने योग्य, (शमिता शमितम्) शान्ति दायक पुरुष द्वारा शान्ति सुख देने योग्य बनाया गया, (हविः) आहुति योग्य चरु (यजध्यै) अग्नि में आहुति करने के लिये (एति) प्राप्त होता है वह (तुरीयः) चतुर्थ या सर्वश्रेष्ठ (यज्ञः) यज्ञ कहा जाता है । (ततः) उससे (वाकाः) प्रार्थनाएं, (आशिषः) उत्तम कामनायें नः (जुषन्ताम्) हमें प्राप्त हों । शत० ९ । २ । ३ : ११ ॥

तुरीयः यज्ञः = चौथा यज्ञ-"अध्वर्युः पुरस्तात् यजूंषि जपति । होता पश्चादृचोऽन्वाह, ब्रह्मा दक्षिणतोऽप्रतिरथं जपति एष तुरीयश्चतुर्थो यज्ञः" ॥ प्रथम अध्वर्यु यजुषों का कहता है । फिर होता ऋचा पढ़ता है । फिर ब्रह्मा अप्रतिरथ सूक्त का पाठ करता है । यह चतुर्थ यज्ञ है । शत० ९।२।३।११ अथवा प्रथम अध्वर्यु का श्रावण, फिर अग्नीध्र का प्रत्याश्रवण, फिर अध्वर्यु का प्रैष, फिर होता का स्वाहाकार । अथवा—अध्यात्म में (यत्र) जिस आत्मा में (शमिता) शम दम की साधना द्वारा (शमितं) शान्त किया गया (वीतम्) ज्ञान से युक्त (हविः) ग्राह्य, आत्मा (यजध्यै) परमेश्वर के प्रति समर्पण कर देने के लिये ही (हव्यम् एति) स्तुति योग्य या आदान योग्य परम वेद्य परमात्मा को (एति) प्राप्त हो जाता है वह (तुरीयः यज्ञः) 'तुरीय' अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति रूप, भवसागर-तरण रूप 'यज्ञ' कहाता है । (ततः) उस तुरीय पद को प्राप्त ब्रह्मज्ञानी से (वाकाः) वाणी से बोलने योग्य आशीर्वाद (नः जुषन्ताम्) हमें प्राप्त हों ।

राष्ट्रपक्ष में—(शमिता) प्रजा में शान्ति फैलाने में समर्थ पुरुष द्वारा (शम्-इतम्) शान्त गुण युक्त किये (वीतम्) व्यापक (हविः) उपाय, या आदान योग्य कर टैक्स जहां (यजध्यै) राजा को देने के लिये (हव्यम्)

पूजनीय प्रभु, राजा को प्राप्त होता है वह तुरीय सर्वश्रेष्ठ (यज्ञः) व्यवस्थित राज्य है। (ततः) उस राज्य से (वाकाः) गुरुपदेश योग्य विद्याएं और (आशिषः) उत्तम इच्छाएं (नः) हमें (जुषन्ताम्) प्राप्त हों।

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ२ऽ अजस्रम्। तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः ५८

अग्निर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—जो (सूर्यरश्मिः) सूर्य की किरणों के समान किरणों, विद्या आदि गुणों को धारण करता है, (हरिकेशः) जो क्लेशों को हरण करने वाला, अथवा पीली ज्वाला, दीप्ति के समान उज्ज्वल एवं क्लेशकारी शस्त्रास्त्रों को धारण करने वाला, जो (सविता) सूर्य के समान समस्त प्रजा का प्रेरक होकर (अजस्रम्) अविनाशी, निरन्तर (ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश रूप में (उद् अयान्) ऊपर उठता है, (तस्य प्रसवे) उसके उत्कृष्ट शासन में रहकर (पूषा विद्वान्) पोषक विद्वान् (गोपाः) जितेन्द्रिय, विद्या-वाणी का पालक होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन, उत्पन्न पदार्थों को (सम् पश्यन्) अच्छी प्रकार देखता हुआ, उनका ज्ञान प्राप्त करता हुआ (याति) आगे बढ़ता है। ऋ० १०।१।१३९।१॥ शत० ९।२।३।१२॥

परमेश्वर पक्ष में—(सूर्य-रश्मिः) सूर्य आदि लोक भी जिसकी किरण के समान हैं, अतः वह परमेश्वर 'सूर्यरश्मि' है। क्लेश हरण करने वाला होने से वह 'हरिकेश' है। सर्वोत्पादक होने से 'सविता' है। वह अविनाशी ज्योति रूप से हृदय में उदित हो। उसके (प्रसवे) उत्कृष्ट शासन या जगत् में (पूषा) अपने बल और ज्ञान का पोषक विद्वान् ज्ञानी, जितेन्द्रिय पुरुष (विश्वा भुवनानि सम्पश्यन्) समस्त भुवनों को देखता, ज्ञान करता हुआ सूर्य के समान अध्यक्ष रूप से (याति) सर्वत्र आगे बढ़ता है।

विमानऽएष दिवो मध्यऽआस्तऽआपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्। स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ ५९ ॥

विश्वावसुर्ऋषिः । आदित्यो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—सूर्य के पक्ष में-(एषः) यह सूर्य (विमानः) पक्षी के समान या विमान, व्योमयान के समान (दिवः मध्ये) आकाश के बीच (आस्ते) स्थिर है । वह (रोदसी अन्तरिक्षम्) द्यौ और पृथिवी और अन्तरिक्ष तीनों को (आपप्रिवान्) अपने तेज से पूर्ण करता है । (सः) वह (विश्वाचीः) समस्त विश्व को अपने में रखने वाला और (घृताचीः) मेघवत् वा सूर्यवत् जलों को धारण करने वाला, भूमियों, प्रजाओं और दिशाओं को (अभिचष्टे) देखता है । और (पूर्वम् अपरं च केतुम् अन्तरा) पूर्व और पश्चिम के ज्ञापक लिंग को भी देखता है । ऋ० १०।१३९।२॥ शत९।२।३।१७॥

अथवा —(सः) वह (विश्वाचीः घृताचीः) सर्वत्र फैलाने वाली, जलाहरण करने वाली कान्तियों को और (पूर्वम् अपरं च) पूर्व दिन, और अपर रात्रि दोनों के बीच के काल को भी (अभिचष्टे) प्रकाशित करता है ।

राजा के पक्ष में—(एषः) महाराजा (दिवः मध्ये) तेज और प्रकाश के बीच, या ज्ञानी पुरुषों के बीच में (विमानः) विशेष मान, आदर-वान् होकर (आस्ते) विजराता है वह (रोदसी) शासक और शास्य, राजा प्रजा दोनों को और (अन्तरिक्षम्) सबके रक्षक सर्वपूज्य अन्तरिक्ष पद को भी पूर्ण करता है । वह विश्व को धारण करने वाली (घृताची) अन्न जल की धारक भूमियों और प्रजाओं को (पूर्वम् अपरं च केतुम्) पूर्व और पश्चिम के ज्ञापक ध्वजादि को भी (अभिचष्टे) सूर्य के समान देखता है ।

इसी प्रकार आदित्य योगी विशेष ज्ञानवान् होने से 'वि-मान' है । वह प्रकाश स्वरूप परमेश्वर के बीच ब्रह्मस्थ होकर विराजता है । वह प्राण, अपान और अन्तरिक्ष, हृदयाकाश सब को पूर्ण करता है । वह देह में व्याप्त और तेजोव्याप्त नाड़ियों को और पूर्व आर अपर केतु अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों के ज्ञानमय स्वरूप को साक्षात् करता है ।

उक्षा समुद्रो ऽअरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश ।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥६०॥

अप्रतिरथ ऋषिः । आदित्यो देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(उक्षा) राष्ट्र के कार्य्य-भार को वहन करने वाला, (समुद्रः) नाना ऐश्वर्यों और बलयुक्त कार्यों का उत्पादक, अथवा (समुद्रः) अपनी मुद्रा आदि का उत्पादक, या समुद्र के समान गंभीर अनन्त कोश रत्नों का स्वामी, (अरुणः) उगते सूर्य के समान रक्त वर्ण के वस्त्र पहने, रोहित स्वरूप, (सुपर्णः) उत्तम रूप से पालन करने वाला होकर ही (पूर्वस्य) अपने पूर्व विद्यमान (पितुः) पालक पिता, राजा के (योनिम्) स्थान को (आविवेश) ले, पूर्व के राजा के पद पर स्वयं विराजे। यदि राजा का पुत्र उतना समर्थ न हो तो उसको पिता की राज-गद्दी प्राप्त न हो । क्योंकि (दिवः मध्ये) द्यौलोक के बीच में (निहितः) स्थित सूर्य के समान तेजस्वी राजा ही (दिवः मध्ये) तेजस्वी राष्ट्र और राजचक्र के बीच में (निहितः) स्थापित होकर (पृश्निः) सूर्य जिस प्रकार पृथिवी आदि लोकों से रस को ग्रहण करता है उसी प्रकार कर आदि लेने एवं प्रजा पालन और (अश्मा) चक्की या शिला के समान शत्रु गणों को चकनाचूर कर देने में समर्थ होकर ही (विचक्रमे) विविध प्रकार के विक्रम कर सकता है और (रजसः) नाना ऐश्वर्यों से रंजित राष्ट्र रूप लोक के (अन्तौ) दोनों छोरों को (पाति) पालन कर सकता है । ऋ० ५।४७।३॥ शत० ९।२।३।१८॥

इसी प्रकार गृहपति के विषय में—गृहस्थ माता पिता का पुत्र जब वीर्य सेचन में या गृहस्थ का भार उठाने में समर्थ अर्थात् 'उक्षा', उत्तम पालन, और उत्तम साधनों, रोजगारों से युक्त अर्थात् 'सुपर्ण' हो तो उसको अपने पूर्वपिता की गादी प्राप्त हो । वह ही (अश्मा) शिला के समान वा आदित्य वा मेघ के समान पालन, होकर (रजसः) राग से प्राप्त काम्य, गृहस्थ

सुख के दोनों अन्तों अर्थात् वर वधू दोनों के गृह्य-बन्धनों का पालन कर सकता है।

अथवा योगी–(उक्षा) धर्म मेघ द्वारा आत्मा में ब्रह्म रसका वर्षक होकर तेजस्वी, उत्तम ज्ञानवान् होकर पूर्व पिता अर्थात् पूर्ण पालक परमेश्वर के धाम को प्राप्त होता है। वह (दिवः) तेजोमय मोक्ष के बीच में स्थित होकर (पृश्निः) समस्त ब्रह्मानन्द का भोक्ता, (अश्मा) राजस, तामस उद्योगों का नाशक, 'अश्माखण' होकर (विचक्रमे) विविध लोकों में स्वच्छन्द गति करता है और (रजसः) समस्त ब्रह्माण्ड या रजोमय प्राकृतिक विकृत विभूति के दो छोर उत्पत्ति और प्रलय दोनों को (पाति) व्याप लेता, ज्ञान कर लेता है। शत० ९। २। ३। १८॥

इन्द्रं विश्वा॑ऽअवीवृधन्त्समुद्रव्य॑चसं गिरः।
र॒थीत॑मꣳ र॒थीना॒ꣳ वाजा॑नाꣳ सत्प॑तिं॒ पति॑म् ॥६१॥ ऋ० १।११।१॥

जेता माधुच्छंदस ऋषिः। इंद्रो देवता। निचृदार्ष्यनुष्टुप्। गांधारः॥

भा०—(समुद्र-व्यचसम्) समुद्र या आकाश जिस प्रकार अनन्त जल-कोश या विविध सस्य और रत्न सम्पत्ति के देने वाले हैं उसी प्रकार विविध ऐश्वर्यों का दाता और (रथीनां रथीतमम्) समस्त रथियों में सब से बड़े महारथी, (सत्पतिम्) सत्-मर्यादाओं और सज्जनों के प्रतिपालक और (वाजानाम्) संग्रामों और ऐश्वर्यों के (पतिम्) पालक (इन्द्रं) शत्रुओं के विनाशक इन्द्र, सेनापति या राजा को (विश्वाः गिरः) समस्त स्तुति-वाणियां (अवीवृधन्) बढ़ाती हैं, वे उसके गौरव को बढ़ाती हैं।

ईश्वर के पक्ष में—आकाश भूमि समुद्र में व्यापक (रथीनां रथीतमम्) समस्त देह-धारियों में विराट् ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले अथवा रसयुक्त पदार्थों में सब से उत्कृष्ट रस वाले, आनन्दमय, समस्त ऐश्वर्य के पालक प्रभु को सब वेदवाणियां बढ़ाती हैं, उसका गौरव गान करती हैं। व्याख्या देखो। १२६॥ शत० ९। २। ३। २०॥

**देवहूर्यज्ञ ऽआ च वक्षत्सुम्नहूर्यज्ञ ऽआ च वक्षत् ।
यक्षदग्निर्देवो देवाँ२ऽ आ च वक्षत् ॥ ६२ ॥**

विधृतिर्ऋषिः । यज्ञो देवता । विराडार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(देवहूः) देव-विद्वानों और विद्या आदि शुभ गुणों को स्वयं धारण करने वाला, विद्वानों का आह्वाता, (यज्ञः) सबका संगतिकारक, व्यवस्थापक, प्रजापति राजा (च) ही राष्ट्र का (आवक्षत्) सब प्रकार से कार्य-भार वहन करे । (सुम्नहूः) सुखों, ऐश्वर्यों का प्रदाता (यज्ञः) यज्ञ, सर्वोपरि आदर योग्य प्रजापति ही राष्ट्र को (आ वक्षत्) धारण करे । (देवः) सबका द्रष्टा और दाता (अग्निः) अग्रणी, नायक, तेजस्वी राजा ही (आ यक्षत्) सबको संगत करे और (आ वक्षत् च) राष्ट्र के भार को धारण भी करे । शत० ९ । २ । ३ । २० ॥

ईश्वरपक्ष में—(यज्ञः) सर्वोपास्य यज्ञ, परमेश्वर दिव्य शक्तियों का धारक विद्वान् ज्ञानी पुरुषों को अपने पास बुलाने से 'देवहू' है । सुख-प्रद एवं सुषुम्ना द्वारा भीतर सुखद होने 'सुम्नहू' है । वही सर्वप्रकाशक अग्नि सबको ज्ञान देता और धारण करता है ।

**वाजस्य मा प्रसव ऽउद्ग्राभेणोदग्रभीत् ।
अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२ऽ अकः ॥ ६३ ॥**

इन्द्रोदेवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा और ईश्वर (मा) मुझको (वाजस्य प्रसवः) विज्ञान, अन्न और ऐश्वर्य का उत्पादक होकर (उद्-ग्राभेण) ऊपर ले जाने वाले उपाय या सामर्थ्य से (उत् अग्र-भीत्) उत्तम पद पर या उत्तम स्थिति में रक्खे । (अध) और (निग्राभेण) निग्रह या दण्ड देकर वह (मे सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को (अधरान् अकः) नीचे करे । शत० ९ । २ । ३ । २१ ।

उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवा ऽअवीवृधन् ।
अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यताम् ॥ ६४ ॥

इन्द्राग्नी देवते । आर्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् पुरुष (उद्ग्राभम्) उत्कृष्ट पद को प्राप्त करने के सामर्थ्य और (निग्राभम् च) शत्रुओं को नीचे गिरानेऔर दण्डित करने के सामर्थ्य को और (ब्रह्म च) बड़े भारी धन और राष्ट्र को भी (आवीवृधन्) नित्य बढ़ावें । (अध) और (इन्द्राग्नी) सेनापति इन्द्र और राष्ट्र का अग्रणी नायक तेजस्वी अग्नि दोनों (मे) मेरे (विषूचीनान्) विरुद्धाचारी (सपत्नान्) शत्रुओं को (वि अस्यताम्) विविध उपायों से विनष्ट करें । शत० ९।२।३।२२ ॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यꣳ हस्तेषु बिभ्रतः ।
दिवस्पृष्ठꣳ स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ ६५ ॥

अग्निर्देवता । विराडार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे वीर पुरुषो ! तुम लोग (अग्निना) अपने अग्रणी तेजस्वी, ज्ञानवान् नेता राजा और आचार्य के साथ (नाकम्) सुखप्रद, (उख्यम्) उखा नाम पृथ्वी के हितकारी भोग्य राष्ट्रसुख को (हस्तेषु) अपने शत्रु और हनन करने वाले शस्त्रास्त्रों के बल पर (बिभ्रतः) धारण करते हुए (क्रमध्वम्) आगे बढ़ो । (दिवः पृष्ठं) न्याय, विद्या आदि से प्रकाशित सूर्य के समान तेजस्वी, (पृष्ठम्) पालन करनेवाले (स्वः) सुखमय राज्य को (गत्वा) प्राप्त करके(देवेभिः) विद्वान् विजयी पुरुषों के साथ (मिश्राः) मिलकर (आध्वम्) विराजो । शत० ९।२।३।२४ ॥

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरो ऽअग्निर्भवेह ।
विश्वा ऽआशा दीद्यानो विभाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ।६६।

अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नायक, राजन् ! सभापते ! तू (प्राचीम् प्रदिशम्) सूर्य जिस प्रकार प्राची दिशा को प्राप्त होकर समस्त दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ सब दो पाये, चौपायों के लिये प्रकाश करता और उनको बल, जीवन प्रदान करता है उसी प्रकार तू भी (प्राचीम् प्रदिशम् अनु) प्रकृष्ट, उन्नत पद को प्राप्त कराने वाली उन्नति की दिशा की ओर (प्र इहि) आगे बढ़, प्रयाण कर । तू (अग्नेः) सूर्य के पराक्रम से स्वयं (पुरः अग्निः) आगे चलने वाला मुख्य अग्रणी (इह) इस राज्य में (भव) होकर रह । तू (विश्वाः आशाः) समस्त दिशाओं को (दीद्यानः) अपने तेज से सूर्य के समान प्रकाशित करता हुआ (वि भाहि) प्रकाशित हो और (नः) हमारे (द्विपदे चतुष्पदे) दो पाये, भृत्य आदि और चौपाये गौ आदि पशुओं को (ऊर्जं धेहि) उत्तम अन्न और बल, पराक्रम प्रदान कर । शत० ९ । २ । ३ । २५ ॥

पृथिव्या ऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥६७॥अथ० ४।१४।३॥

अग्निर्देवता । पिपीलिकामध्या बृहती । मध्यमः ॥

भा०—मैं अधिकार प्राप्त राजा (पृथिव्याः) पृथिवी से अर्थात् पृथिवी निवासी प्रजागण से ऊपर (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष के समान सर्वाच्छादक, सब सुखों के वर्षक पद को वायु के समीप (आरुहम्) प्राप्त होऊं और मैं (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष पद से (दिवम्) सूर्य के समान तेजस्वी, सर्वप्रकाशक सर्वद्रष्टा, तेजस्वी विराट् पद पर (आरुहम्) चढूं । (नाकस्य) सर्व सुखमय (दिवः) उस तेजोमय (पृष्ठात्) सर्वपालक, सर्वोपरि पद से भी ऊपर (स्वः) सुखमय (ज्योतिः) परम प्रकाश, ज्ञानमय ब्रह्मपद को भी (अहम्) मैं (अगाम्) प्राप्त करूं । शत० ९ । २ । ३ । २६ ॥

अध्यात्म में—योगी स्वयं मूलाधार से अन्तरिक्ष = नाभि देश को

और फिर शिरोदेश को जागृत कर वहां से सुखमय परमब्रह्म ज्योति को प्राप्त करता है ।

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त ऽआ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारꣳ सुविद्वाꣳसो वितेनिरे ॥ ६८ ॥

अथ० ४ । १४ । ४ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(ये) जो (सुविद्वांसः) उत्तम विद्वान् पुरुष (विश्वतः-धारम्) सब तरफ बसने वाले प्रजाजनों को धारण करने वाले (यज्ञं) राष्ट्र-व्यवस्थापक रूप सुसंगठित साम्राज्य को (वितेनिरे) विविध उपायों से विस्तृत करते हैं वे (स्वः यन्तः) सुखकारी साम्राज्य को प्राप्त करते हुए (न अपेक्षन्ते) नीचे की तरफ़ नहीं देखते । अथवा (स्वः यन्तः) परम मोक्ष को प्राप्त होते हुए योगियों के समान संसार के भोगों की (न अपेक्षन्ते) अपेक्षा नहीं करते, प्रत्युत (रोदसी) समस्त पृथिवी के ऐश्वर्य और शत्रु बल को रोक लेने में समर्थ (द्याम्) सर्वोपरि विजय-कारिणी शक्ति को (आरोहन्ति) प्राप्त हो जाते हैं । शत० ९।२।३।२७॥

योगी के पक्ष में—(ये विद्वांसः) जो विज्ञानी, योगीजन (विश्वतो धारं यज्ञं) समस्त जगत् के धारक, परम उपास्य परमेश्वर को (वितेनिरे) प्राप्त हो जाते हैं वे (स्वर्यन्तः) सुखमय परम मोक्ष को जाते हुए संसार-भोगों की (न अपेक्षन्ते) अपेक्षा नहीं करते, उनपर नीचे दृष्टि नहीं डालते । प्रत्युत (रोदसी) जन्म मृत्यु के रोकने में समर्थ (द्याम्) प्रकाशमयी मोक्ष पदवी को (आरोहन्ति) प्राप्त करते हैं ।

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम् ।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥६९॥

अथ० ४ । १४ । ५ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन्! राजन्! विद्वन्! (देवानाम् ज्ञान प्रदान करने वाली इन्द्रियों के बीच में (चक्षुः) चक्षु के समान समस्त पदार्थों के दिखलाने हारा होकर (देवयताम्) कामना करने वाले, काम्य-सुखों को चाहने वाले (मर्त्यानाम्) मनुष्यों के बीच में तू (प्रथमः) सब से मुख्य होकर (प्र इहि) आगे बढ़। (यजमानाः) यज्ञ करने वाले, दानशील अथवा राष्ट्रों का संगठन करने वाले राजगण भी (भृगुभिः) परिपक्व विज्ञान वाले विद्वानों के साथ (इयक्षमाणाः) अपना यज्ञ, प्रजा पालन का कार्य करते हुए (सजोषाः) परस्पर प्रेम सहित (स्वस्ति) कल्याण पूर्वक (स्वः यन्तु) सुख धाम को प्राप्त हों।

इसी प्रकार (यजमानाः) दानशील गृहस्थ लोग (भृगुभिः) पापों को भून डालने वाले, परिपक्व ज्ञानी, तपस्वी विद्वानों के साथ (इयक्षमाणाः) अपने अध्यात्म यज्ञ को सम्पादन करते हुए (स्वस्ति) सुखपूर्वक (स्वः यन्तु) मोक्ष सुख को प्राप्त करें। शत० ९। २। ३। २८॥

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳ समीची। द्यावाक्षामा रुक्मोऽअन्तर्विभाति देवाऽअग्निं धारयन् द्रविणोदाः॥७०॥

भा०—व्याख्या देखो (अ० १२। २) ऋ० १। ९६। ५॥

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः। त्वꣳ साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा॥७१॥

अग्निर्देवता। भुरिगार्षी पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! तेजस्विन्! राजन्! हे (सहस्राक्ष) गुप्त चरों, दूतों और सभासदों रूप हजारों आखों वाले! हे (शतमूर्धन्) सैकड़ों राजसभासदों रूप विचार करने वाले मस्तकों से युक्त! (ते) तेरे (शतं प्राणाः) सैकड़ों अधीन शासन रूप प्राण हैं जिनसे राष्ट्र शरीर में चेतनता जागृत रहती है इसी प्रकार (सहस्रं व्यानाः) हजारों व्यान

के समान भीतरी व्यवहारों केकर्त्ता/अधिकारी हैं। (त्वम्) तू (सहस्रस्य रायः) सहस्रों ऐश्वर्यों का (ईशिषे) स्वामी है। (तस्मै ते) उस तुझ (वाजाय) वीर्यवान्, ऐश्वर्यवान् प्रभु को हम (स्वाहा) उत्तम यश कीर्ति के लिये (विधेम) अन्न, कर आदि प्रदान करें। परमेश्वर पक्ष में-हे परमेश्वर तेरे हजारों आंख, सिर, प्राण व्यान आदि हैं, तू सहस्रों ऐश्वर्यों का स्वामी है, हम तेरा आदर सत्कार करें। योगी के पक्ष में —योगी भी अपनी साधना से अनेक शरीर में प्रविष्ट होकर आंख, नाक, कान, सिर आदि विभूति दिखाने में समर्थ होता है, हम ऐसे सिद्ध का आदर करें। शत० ९।२।३।३२-३३॥

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद। भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश ऽउद्दृꣳह ॥७२॥

अग्निर्देवता। निचृदार्षी पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे राजन्! तू (सुपर्णः असि) सुख से पालन करने में समर्थ, उत्तम पालन साधनों से सम्पन्न और उत्तम लक्षणों वाला है। तू (गरुत्मान्) महान् गौरवपूर्ण आत्मा वाला होकर (पृथिव्याः पृष्ठे) पृथिवी के ऊपर (सीद) विराजमान हो। और (भासा) अपनी कान्ति, तेज और पराक्रम से (अन्तरिक्षम्) वायु के समान अन्तरिक्ष को भी पूर्ण कर, अन्तरिक्ष के समान समस्त प्रजा को घेर कर उनपर अपनी छत्र-छाया रख। और (ज्योतिषा) सूर्य से जिस प्रकार आकाश मण्डित है उसी प्रकार (ज्योतिषा) अपने तेज से (दिवम्) अपने विजय से प्राप्त भूमि, समृद्ध, कामना योग्य राज्य वा राजसभा को (उत्तभान) उन्नत कर और ऊपर उठाये रख। और (तेजसा) पराक्रम से (दिशः) समस्त दिशाओं, दिशावासी प्रजाओं को (उद् दृंह) उन्नत कर। शत० ९।२।३।३४॥

आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वं योनिमासीद साधुया। अस्मिन्त्सधस्थे ऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ७३

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने सूर्य के समान तेजस्विन् ! राजन् ! तू (आजुह्वानः) आदर सत्कार से सम्बोधन किया जाकर (सु-प्रतीकः) शुभ लक्षण और रूप बनाकर, सौम्य होकर (पुरस्तात्) आगे, सबसे मुख्य, पूर्व की ओर (साधुया) उत्तम रीति से (स्वं योनिम्) अपने स्थान, मुख्य आसन पर (आसीद) विराज । (अस्मिन् सधस्थे) इस एकत्र होकर बैठने के (उत्तरस्मिन्) उत्कृष्ट सभाभवन में तू (अधि) सबसे ऊपर विराज और (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्, ज्ञानी पुरुष और (यजमानः च) सबका सत्कार करने में कुशल राजा महामात्य और राज-सभासद् गण भी (सीदत) विराजें । शत० ९ । २ । ३ ३५ ॥

ताँ᳖ स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यस्य चि॒त्रामाहं वृ॑णे सुम॒तिं वि॒श्वज॑न्याम् ।
याम॑स्य॒ कण्वो॒ ऽअदु॑ह॒त्प्रपी॑नाँ᳖ स॒हस्र॑धारां॒ पय॑सा म॒हीं गाम् ७४

कण्वऋषिः । सविता देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अहम्) मैं (वरेण्यस्य) सर्वश्रेष्ठ, सबों द्वारा वरण करने योग्य, उत्तम वरणयोग्य पद पर लेजाने हारे (सवितुः) सूर्य के समान सबके प्रेरक, ऐश्वर्यवान् राजा के (ताम्) उस (चित्राम्) अद्भुत (सुमतिम्) शुभ ज्ञानवाली (विश्वजन्याम्) समस्त प्रजाजनों में से बनाई गई, उनके हितकारी सभापति को (वृणे) स्वीकार करता हूं । (याम्) जिस (प्रपीनाम्) अति पुष्ट, (सहस्रधाराम्) सहस्रों ज्ञानवाणियों या नियमधाराओं से युक्त अथवा सहस्रों ज्ञानों को धारण करने वाली (पयसा) दूध से जिस प्रकार गौ, और अन्न से जिस प्रकार पृथिवी आदर योग्य होती है उसी प्रकार (पयसा) वृद्धिकारी राष्ट्र के पुष्टिजनक उपायों से (महीम् गाम्) बड़ी भारी ज्ञानमयी, (याम्) जिस विद्वत् सभा को (कण्वः) मेधावी जन (अदुहन्) दोहते हैं, उससे वादविवाद द्वारा सारतत्व को प्राप्त करते हैं । श० ९।२।३।२८ ॥

राजा रूप प्रजापति की यही अपनी 'दुहिता' गौ, राजसभा है जिसे वह अपनी पत्नी के समान अपने आप उसका सभापति होकर उसको अपने अधीन रखता है। जिसके लिये ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा है—'प्रजापतिः स्वां दुहितरमभ्यधावत्।' इत्यादि उसी को 'दिव' या 'उषा' रूप से भी कहा है, वस्तुतः यह राजसभा है।

परमेश्वर के पक्ष में—सबसे श्रेष्ठ सर्वोत्पादक परमेश्वर की अद्भुत (विश्वजन्या) विश्व को उत्पन्न करने वाली (सुमतिं) उत्तम ज्ञानवती (गाम्) वाणी को मैं (वृणे) सेवन करूं (याम् महीम् गाम्) जिस पूजनीय वाणी को सहस्रों धार वाली हृष्ट पुष्ट गाय के समान (सहस्र-धाराम्) सहस्रों 'धारा', धारण सामर्थ्य या व्यवस्था-नियमों वाली को (कण्वः अदुहत्) ज्ञानी पुरुष दोहन करता है, उससे ज्ञान प्राप्त करता है।

विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे।
यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवींषि जुहुरे समिद्धे ॥७५॥

ऋ० ७।१।३॥

गृत्समद ऋषिः। त्रिस्थानोऽग्निर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (अग्ने) अपने तेज से दुष्टों को भस्म करने हारे राजन्! हम (परमे जन्मनि) सर्वोत्कृष्ट पद पर स्थापित करके (ते) तेरा (विधेम) विशेष सत्कार करें। और (अवरे सधस्थे) उससे उतर कर 'सधस्थ' अर्थात् सब विद्वान् सभासदों के एकत्र होने के सभा भवन में भी (स्तोमैः) स्तुति वचनों या अधिकार पदों से (विधेम) तेरा आदर सत्कार करें। तू (यस्मात् योनेः) जिस स्थान से भी (उत् आरिथाः) उन्नत पद को प्राप्त हो (तम् यजे) उसको भी मैं तुझे प्रदान करूं। (समिद्धे) प्रदीप्त अग्नि में जिस प्रकार (हवींषि जुहुरे) नाना हवियों को आहुति करते हैं उसी प्रकार हम लोग (त्वे) तुझपर (हवींषि) आदान अर्थात् ग्रहण करने और स्वीकार करने योग्य यथार्थ वचनों को प्रदान करें। शत० ९।२।३।३९॥

योगी के पक्ष में —हे योगिन् ! परम जन्म अर्थात् योग द्वारा प्राप्त उत्कृष्ट पद में स्थित तेरी हम सेवा करें। जिस मूल आश्रय से तू उन्नति को प्राप्त है (तम् यजे) उस परमेश्वर की हम भी उपासना करें। प्रदीप्त अग्नि के समान तुम्हें हम श्रेष्ठ अन्न प्रदान करें।

प्रेद्धो ऽअग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ ।
त्वाᳬं शश्वन्त ऽउपयन्ति वाजाः ॥ ७६ ॥ ऋ० ७ । १ । ३ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् ! तू (नः पुरः) हमारे आगे (अजस्रया) अविनाशी, नित्य (सूर्म्या) काष्ठ से जिस प्रकार आग जलती हैं उसी प्रकार उत्तम उत्साह और तेजः- साधनों से (दीदिहि) प्रकाशित हो। हे (यविष्ठ) सदा बलवान् ! (त्वाम्) तुझे (शश्वन्तः) सदा के लिये स्थिर (वाजाः) अन्नादि ऐश्वर्य और ज्ञानवान् पुरुष (उपयन्ति) प्राप्त हों। शत० ९।२।३।४० ॥

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रᳬं हृदिस्पृशम् ।
ऋध्यामा त ऽओहैः ॥ ७७ ॥ ऋ० ७ । १० १ ।

भा०—व्याख्या देखो अ० १४ । १४ ॥ शत० ९।२।३।४१ ॥

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा इहागमन्वीतिहोत्रा ऋतावृधः । पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहादाभ्यᳬं हविः ॥ ७८ ॥

विश्वकर्मा देवता । विराड् अतिजगती । निषादः ॥

भा०—मैं (घृतेन) घी के द्वारा जैसे अग्नि में आहुति दी जाती है उसी प्रकार (मनसा) मनन पूर्वक, चित्त से (चित्तिम्) तत्त्व जिज्ञासा के लिये चिन्तन या विवेक को (जुहोमि) प्राप्त करता हूं अर्थात् निर्णय करना चाहता हूं (यथा) जिससे (इह) इस विचार-भवन में (वीति-

होत्राः) उज्वल, ज्ञान की आहुति देने वाले, (ऋतावृधः) सत्य को बढ़ाने हारे, (देवाः) विद्वान् लोग (आगमन्) आयें। (भूमनः विश्वस्य पत्ये) बड़े भारी विश्व के स्वामी. (विश्व-कर्मणे) समस्त राष्ट्र के साधु कर्मों के प्रवर्त्तक राजा के निमित्त मैं (अदाभ्यं) अखण्ड, अविनाशी बेचूक, कभी न कटने वाले, दृढ़ (हविः) ज्ञान और अन्न को (विश्वहा) सदा दिनों (जुहोमि) प्रदान करूं। शत० ९। २। ३ ४२॥

प्रत्येक विद्वान् सभासद् का कर्त्तव्य है कि जब विद्वान् सत्यशील लोग एकत्र हों तो मन लगा कर 'चिति' अर्थात् विषय के 'चिन्तन' या विचार में ध्यान दें। और राजा को अखण्डनीय, निश्चित सत्य तत्त्व का निर्णय प्रदान करे।

योगी के पक्ष में—प्रकाशित यज्ञ वाले सत्यवर्धक (देवाः) देवगण, प्राण या विद्वान् मुझे प्राप्त हों इस रीति से मैं सत्यासत्य विवेचन करूं। और महान् विश्व के स्वामी परमेश्वर के लिये इस (अदाभ्यं हविः) अखण्ड, अविनाशी, नित्य हवि रूप आत्मा को समर्पित करूं।

सप्त ते॑ऽअग्ने स॒मिध॑: स॒प्त जि॒ह्वाः स॒प्त ऋष॑यः स॒प्त धाम॑ प्रि॒याणि॑। स॒प्त होत्राः सप्त॒धा त्वा यजन्ति स॒प्त योनी॒रा पृ॑णस्व घृ॒तेन॒ स्वाहा

सप्त ऋषयो ऋषयः। अग्निर्देवता। आर्षी जगती। निषादः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान उज्ज्वल तेजस्विन्! (ते) तेरे (सप्त समिधः) अग्नि के समान सात समिधाएं हैं अर्थात् अमात्य आदि सात प्रकृतियां तेरी तेजोवृद्धि का कारण हैं। (सप्त ऋषयः) राष्ट्र के कार्यों का निरीक्षण करने वाले वे सात ही 'ऋषि' हैं, वे मन्त्रद्रष्टा, गुप्त मन्त्रणार्थ अमात्य हैं। (सप्त प्रियाणि धाम) सात ही प्रिय तेज या धारण सामर्थ्य हैं। वही तेरे (सप्त होत्राः) सात होत्र, यज्ञ के ७ होताओं के समान राष्ट्र के सात अंग हैं। वे सातों (त्वा) तुझ को (सप्तधा) सात तरह से

(यजन्ति) प्राप्त होते हैं। तू उन (सप्त योनीः) सातों स्थानों या पदाधिकारों को (घृतेन) अपने तेज से (स्वाहा) उत्तम रीति से (आपृणस्व) पूर्ण कर। शत० ९। १। ३। ४५॥

होत्राः—ऋतवो वा होत्राः। रश्मयो वाव होत्राः। अङ्गानि वा होत्राः गो० उ० ६। ६॥

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च।
शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यंᳬहाः ॥ ८० ॥

मरुतो देवताः। आर्ष्युष्णिक्। ऋषभः॥

भा०—(शुक्रज्योतिः च) शुक्रज्योति, और (चित्रज्योतिः च) चित्रज्योति, (सत्यजोतिः च) सत्यज्योति (शुक्रः च) शुक्र, (ऋतपाः च) ऋतपा और (अत्यंहाः) अत्यंहा ये ७ 'मरुत अर्थात् शरीर में ७ प्राणों के समान राष्ट्र में मुख्य अमात्य नियत किये जांय। शत० ९।३।१।२६॥

अति कान्तिमान्, शुद्ध ज्योति से ज्ञानवान् पुरुष 'शुक्रज्योति' है। चित्र अर्थात् अद्भुत ज्योति वाला पुरुष 'चित्रज्योति' है। सत्य निर्णय देने वाला 'सत्यज्योति' और ज्ञान-ज्योति वाला पुरुष 'ज्योतिष्मान्' और शीघ्रकारी या शुद्ध रूप 'शुक्र' है। (ऋतपाः) सत्य या कानून ग्रन्थ का पालक 'ऋतप' है। अंहस् अर्थात् पापों को अतिक्रमण करनेवाला 'अत्यंहाः है।

ये सब ईश्वर के नाम भी हैं।

ईदङ् चान्यादङ् च सदङ् च प्रतिसदङ् च।
मितश्च सम्मितश्च सभराः ॥ ८१ ॥

मरुतो देवताः। आर्षी गायत्री। षड्जः॥

भा०—(ईदङ्) यह ऐसा है, (अन्यादङ् च) यह अन्य के समान है अर्थात इसके समान और भी है, (सदङ् च) यह और यह समान है। (प्रतिसदङ् च) प्रत्येक पदार्थ इस अंश में समान है (मितः च)

यह इतने परिणाम का है, (संमितः च) अच्छी प्रकार यह अमुक पदार्थ के बराबर ही परिमाण वाला है। (सभराः) ये सब पदार्थ समान भार वाले या समान वस्तु को धारण करते हैं। इस प्रकार सातों प्रकार से देखने वाले विद्वान् राजा के राज्य-विभागों में कार्य करें। और उनके 'इदङ्' आदि ही नाम हों।

इसी प्रकार सात प्रकार से विवेचना करने वाला होने से उनका मुख्य पुरुष और परमेश्वर भी इन सात नामों से कहाता है ।

ऋतश्च॑ स॒त्यश्च॑ ध्रु॒वश्च॑ ध॒रुण॑श्च ध॒र्त्ता च॑ विध॒र्त्ता च॑ विधार॒यः ८२

मरुतो देवताः। आर्षी गायत्री। षड्जः ॥

भा०—(ऋतः च सत्य च ध्रुवः च) ऋत, सत्य, ध्रुव, (धरुणः च) धरुण, (धर्त्ता च विधर्त्ता च) धर्त्ता और विधर्त्ता और (विधारयः च) विधारय ये ७ व्यवहार निर्णय के लिये अधिकारी हों। इनके भिन्न २ कार्य हैं। जैसे 'ऋत' जो व्यवस्थापुस्तक (Law) का प्रमाणग्राही, (सत्यः) घटना का सत्य रूप रखने वाला, (ध्रुवः) स्थिर निर्णयदाता (धरुणः) दोषों का पकड़ने वाला, (धर्त्ता) उसका वश करने वाला और (विधारयः) उसको विविध कार्यों में नियोजक।

इसी प्रकार इनके मुख्य पुरुष के भी कार्यभेद से ये सात नाम हैं, ईश्वर के भी ये सात नाम हैं।

ऋ॒तजि॑च्च स॒त्यजि॑च्च सेन॒जिच्च॑ सु॒षेण॑श्च ।
अन्ति॑मित्रश्च दू॒रेऽअ॑मित्रश्च ग॒णः ॥ ८३ ॥

मरुतो देवताः। निचृदार्षी जगती। निषादः ॥

भा०—(ऋतजित् च सत्यजित् च, सेनजित् च सुषेणः च) ऋतजित्, सत्यजित् सेनजित् और सुषेण, (अन्तिमित्रः च, दूरे-अमित्रः च गणः) अन्तिमित्र और दूरे-अमित्र और गण ये सेना-विभाग के अध्यक्ष हैं।

ईदृक्षास एतादृक्षास ऊ षु णः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षास एतन। मितासश्च सम्मितासो नो अद्य सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन्

मरुतो देवताः । निचृदार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे (ईदृक्षासः एतादृक्षासः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षासः मितासः संमितासः सभरसः) ईदृक्ष, एतादृक्ष, सदृक्ष प्रति सदृक्ष मित, और संमित और सभर ये सातों पूर्वोक्त (मरुतः) मरुद्गण अर्थात् प्रजाओं के गण, पालक लोगो ! आप लोग (अस्मिन्) इस राष्ट्र के यज्ञ में (एतन) आओ ।

स्वतवाँश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च ।
क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ॥ ८५ ॥

मरुतो देवताः । स्वराडार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—और इसी प्रकार (स्वतवान्) स्वयं बलशाली, (प्रघासी च) उत्कृष्ट पदार्थ को भोजन करने वाला, (सांतपनः च) उत्तम रूप से तप करने वाला या प्रजा के धर्म-कर्म संस्कार करनेहारा, (गृहमेधी च) गृहस्थ, (क्रीड़ी च) क्रीड़ाशील, युद्धविजयी, (शाकी) शक्तिमान्, (उज्जेषी च) और उत्तम पदों का जय करने हारा ये लोग भी प्रजा के मुख्य अंग है ।

८५—इतः परं क्वचित् पुस्तकेष्वयं मन्त्रः पठ्यते ।

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च ।
सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा ॥

अर्थ—(उग्रः) बलवान् (भीमः) भयानक, (ध्वान्तः) अन्धकार के समान शत्रुओं को अन्धा, भ्रान्तियुक्त करनेहारा, (धुनिः च) कंपा देनेवाला, (सासह्वान्) पराजित करने वाला, (अभियुग्वा च) आक्रमण करनेवाला और (विक्षिपः) विविध दिशाओं से शत्रु पर शस्त्र फेंकने वाला । ये भी विजय कार्य के निमित्त वीर नेता पुरुष आवश्यक हैं । इस प्रकार ये मरुद्-गण ४९ गिने जाते हैं ।

इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन् । एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु ॥ ८६ ॥

मरुतो देवताः । निचृत् शक्वरी । धैवतः ॥

भा० —(दैवीः विशः) विद्वान् लोगों की प्रजाएं (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् धार्मिक राजा को और (मरुतः) शत्रुओं को मारने वाली सेनाएं (इन्द्रम्) शत्रुओं के गढ़विदारक इन्द्र सेनापति के (अनुवर्त्मानः) पीछे २ रास्ता चलने वाले होते हैं । (यथा) जिस प्रकार से (दैवीः विशः) देव, दर्शनशील आत्मा के भीतर प्रविष्ट प्राण आदि प्रजाएं (मरुतः) और प्राण गण (इन्द्रम् अनु वर्त्मानः) 'इन्द्र' आत्मा के पीछे चलने वाले होते हैं (एवम्) इसीप्रकार (इमं यजमानम्) इस अन्न, आजीविका, वेतन और मान आदि के देने वाले राजा के (दैवीः च) विद्वानों और (मानुषीः च) साधारण मनुष्यों की प्रजाएं भी (अनुवर्त्मानो भवन्तु) पीछे २ रास्ता चलने वाली हों ।

इम्ꣳस्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये ।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳ सदनमा विशस्व ॥८७॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी नायक ! तेजस्विन् ! तू (सरिरस्यमध्ये) आकाश के बीच में (अपां प्रपीनम्) जलों से परिपूर्ण (इमं) इस (ऊर्जस्वन्तम्) अन्न और बलकारी (स्तनम्) स्तन के समान रसों को बहाने वाले एवं घोर गर्जनाकारी (उत्सं) कूप के समान अनन्त जल देने वाले, (मधुमन्तम्) परिमाण में अन्नादि मधुर पदार्थों के देने वाले (समुद्रियम्) समुद्र से उत्पन्न मेघ के समान (सरिरस्य) बड़े भारी व्यापक राष्ट्र के बीच में (अपां प्रपीनम्) आप्त प्रजाओं से पुष्ट, (ऊर्जस्वन्तम्) बल, पराक्रम और अन्नादि से सम्पन्न (उत्सम्) उत्तम फलों के

दाता (मधुमन्तम्) अन्नादि मधुर पदार्थों से युक्त, (समुद्रियम्) समुद्र से घिरे अथवा नाना सम्पत्तियों के उत्पादक-(स्तनम्) स्तन के समान मधुर आनन्द रसदायक अथवा सब सुखों के आधार रूप इस उत्तम राष्ट्र को (धय) बालक के समान शान्ति से भोग कर । हे (अर्वत्) अश्व के समान वेगवान् साधनों से सम्पन्न तू (समुद्रियं सदनम्) समुद्र के समान गंभीर इस सम्राट् पद को (आ विशस्व) प्राप्त कर ।

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम ।
अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥८८ ॥

ऋ० २ । ३ । ११ ॥

गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा० —पूर्वोक्त 'पर्जन्य' पद की मेघ से और भी तुलना करते हैं । वह उक्त मेघ (घृतम् मिमिक्षे) जल का सेचन करता है । और (अस्य) उसका (घृतम् योनिः) जल ही मूलकारण है । वह (घृते श्रितः) जल में ही आश्रित है (अस्य धाम घृतम् उ) उसका जन्म, वर्षण कर्म और स्वरूप ये तीनों भी जल ही है । और हे पर्जन्य! रसों को प्रजा पर बरसा देने वाले ! तू (अनु-स्वधम्) जल के ही साथ बहुत सी अन्नादि सम्पत्ति को (आवह) प्राप्त करता है और (मादयस्व) सबको तृप्त करता है । हे (वृषभ) जलों के वर्षण करने हारे! तू (स्वाहा-कृतम्) यज्ञाग्नि में आहुति किये या अपने में उत्तम रीति से धारण किये जल से उत्पादित (हव्यम्) अन्न को (वक्षि) प्रजा को प्रदान करता है । इसी प्रकार हे राजन् ! तू मेघ के समान उच्च पद पर विराजमान होकर (घृतं मिमक्षे) अग्नि के समान तेज और मेघ के समान सुख और स्नेह का वर्षण कर । (अस्य) इस अग्नि का जिस प्रकार घृत ही आश्रय है उसी प्रकार तेरा भी आश्रय स्थान 'घृत', तेज ही है । तू (घृते श्रितः) अपने तेज में आश्रित होकर रह । (घृतम् अस्य धाम) इस राजपद का धाम तेज या धारण सामर्थ्य या

स्वरूप भी 'तेज', पराक्रम ही है। (अनुष्वधम्) अपनी धारण शक्ति के अनुसार ही इस राष्ट्र के कार्य-भार को (आवह) उठा। (मादयस्व) स्वयं समस्त प्रजाओं को तृप्त कर। (स्वाहा-कृतम्) सुखपूर्वक प्रदान किये (हव्यम्) कर आदि पदार्थों को हे (वृषभ) प्रजा पर सुखों के वर्षक राजन् ! (वक्षि) तू स्वयं प्राप्त कर और अपने अधीन भृत्यों को दे।

स॒मु॒द्रादू॒र्मिर्मधु॑माँ॒ ऽउदा॑र॒दुपा॒ᳪ॑शुना॒ सम॑मृत॒त्वमा॑नट् ।
घृ॒तस्य॒ नाम॒ गुह्यं॒ यदस्ति॑ जि॒ह्वा दे॒वाना॑म॒मृत॑स्य॒ नाभि॑ः ॥८६॥

[९८-९९] ऋ० ४ । ५८ १ ॥

[८९-९९] वामदेवो गौतम ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(समुद्रात्) समुद्र के समान गंभीर राजा से (मधुमान्) शत्रुओं को कंपा देने वाले सामर्थ्य से युक्त (ऊर्मिः) प्रबल तरंग के समान पराक्रम (उत् आरत्) ऊपर उठता है और (अंशुना) व्यापक सैनिक-बल या राष्ट्र के वल के साथ (अमृतत्वम्) अमृतत्वम् अर्थात् अमर यश को (उत् सम् आनट्) प्राप्त करता है। (घृतस्य) तेज का (यद्) जो (गुह्यं नाम अस्ति) गुह्य, सुगुप्त स्वरूप है वह (देवानाम्) तेजस्वी विजयी पुरुषों की (जिह्वा) आहुतिरूप क्रोधशिखा है जो (अमृतस्य नाभिः) उस अमर, अविनाशी, स्थायी राष्ट्र को बांधने वाली है।

मेघ के पक्ष में—समुद्र का एक (मधुमान्) जल से पूर्ण (ऊर्मिः) तरंग उठता है। जो (अंशुना) वायु वा सूर्य के द्वारा (अमृतत्वम् आनट्) सूक्ष्म जल भाव को प्राप्त होता है। (घृतस्य) मेघ द्वारा भूमि पर सेचन करने योग्य जल का (यत्) जो (गुह्यं) गुहा, अर्थात् अन्तरिक्ष में स्थित (नाम) स्वरूप या परिवर्त्तित, परिपक्व, रूप है वह (देवानां) सूर्य की रश्मियों की (जिह्वा) तापकारी शिखा या जल सेंचने वाली शक्ति के

[९८-९८]ऋग्वेदे ऽग्निः सूर्यो वाऽऽपो वा गावो वा घृतस्तुतिर्वा देवता।

कारण है। और वही उस (अमृतस्य) सूक्ष्म जल को (नाभिः) बांधने, आकाश में थामे रहने का कारण है।

जीवनपक्ष में—अन्न रूप अक्षय समुद्र से (मनुमान् ऊर्मिः) मधुर रस की एक तरंग या उत्कृष्ट रूप उत्पन्न होता है। वह (अंशुना) प्राण वायु के साथ मिलकर (अमृतत्वम्) जीवन या चेतना के रूप में बदलता है। (घृतस्य) दीप्ति या ओज का, या स्त्रीयोनि में निषेक करने योग्य वीर्य का (यत् गुह्यं नाम अस्ति) जो गुह्य अर्थात् प्रजननेन्द्रिय या शरीर में गुप्त रूप से विद्यमान परिपक्व रूप है वह (देवानां जिह्वा) देवों, इन्द्रियों की दीप्ति या शक्ति का कारण है और (अमृतस्य नाभिः) अमृत, दीर्घ जीवन और अगली प्रजा का मूल कारण है।

परमेश्वरपक्ष में—(समुद्रात्) उस परम परमेश्वर, अनन्त, अक्षय, आनन्दसागर से (मधुमान्) ज्ञानमय तरंग या प्रजोत्पादक कामनारूप तरंग उत्पन्न होती है। वह (अंशुना) विषयों के भोक्ता जीव के साथ मिलकर (अमृतत्वम्) चित् शक्ति को (उप समानट्) जागृत करती है। (घृतस्य) प्रकृति के गर्भ में सेचन करने योग्य परमेश्वरीय तेज का जो (गुह्यं) परम विचारणीय (नाम) स्वरूप है वह (देवानाम्) समस्त दिव्य, वैकारिक महत् आदि पदार्थों की (जिह्वा) वशकारिणी शक्ति है, वही (अमृतस्य) समस्त अमृत, अविनाशी, चिन्मय जगत् का (नाभिः) बांधने वाला केन्द्र है।

गृहपति-प्रजापक्ष में—कामरूप अनन्त समुद्र से (मधुमान् ऊर्मिः) मधुर स्नेहमय एक तरंग उठता है। और वह (अंशुना) प्राण के साथ मिलकर (अमृतत्वम् उप सम् आनट्) अमृत रूप प्रजाभाव को प्राप्त होता है। (घृतस्य नाम यत् गुह्यम् अस्ति) निषेक योग्य वीर्य का जो परिपक्व रूप है वही (देवानाम्) रति क्रीड़ा करने वाले पुरुषों की (जिह्वा) अर्थात् काम्यसुख प्राप्त करने का साधन है और वही (अमृतस्य नाभिः)

आगामी प्रजारूप अमर तन्तु प्राप्त करने का मूल कारण है। वीर्य से ही रति उत्पन्न होती है और उसी से सन्तान।

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्॥९०॥

अग्निर्देवता। विराडार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—राजा के पक्ष में—(वयम्) हम लोग (घृतस्य) बल, ऐश्वर्य से प्रजा का सेवन करने हारे और स्वयं तेजस्वी राजा के (नाम) शत्रुओं को नमाने वाले बल या दण्ड विधान, शासन का (प्र ब्रवाम) अच्छी प्रकार वर्णन, या उपदेश करें और (अस्मिन् यज्ञे) इस प्रजापालन, एवं राज्य कार्य में हम लोग उस शासन को (नमोभिः) दण्ड आदि शत्रुओं को दबाने वाले विविध साधनों से (धारयाम) धारण करें और पुष्ट करें। (ब्रह्मा) ब्रह्मा अर्थात् वेद का जानने वाला चतुर्वेदवित् विद्वान् (शस्यमानम्) विधान किये जाते हुए इसको (उप शृणवत्) स्वयं श्रवण करे। और (चतुःशृङ्गः) पदाति, रथ, अश्व और हस्ती आदि चारों प्रकार के हिंसासाधनों से सम्पन्न (गौरः) गौ = पृथिवी में रमण करने हारा राजा (एतत्) उस दण्ड-विधान को (अवमीत्) विद्वानों से श्रवण करके पुनः प्रजा को आज्ञा रूप से कहे।

ज्ञान के पक्ष में—ब्रह्म, वेदवित् विद्वान् चार वेदों रूप चार शृङ्गवाला और (गौरः) वेदवाणी में रमण शील होकर वमन करे अर्थात् वेदों का उपदेश करे और लोग श्रवण करें (घृतस्य) ज्ञान प्रकाश के परिपक्व स्वरूप का हम प्रवचन करें और (यज्ञे) श्रेष्ठ कर्म या उपास्य परमेश्वर में उसको (नमोभिः) आदर वचनों सहित (धारयाम) धारण और प्रयोग करें।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ२ऽ आविवेश॥९१॥

वृषभो यज्ञपुरुषो देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—इस राजा रूप प्रजापति या राष्ट्र-रूप यज्ञ के (चत्वारि शृङ्गा) चार शृङ्ग अर्थात् शत्रुओं के हनन करने वाले साधन चतुंरग सेना है । (अस्य) इसके (त्रयः) तीन (पादाः) पैर अर्थात् चलने के साधन हैं राजा, प्रजा और शासक । (द्वे शीर्षे) दो शिर हैं राजा और आमात्य या राजा और पुरोहित । (अस्य) इसके (सप्त हस्तासः) सात हाथ, सात प्रकृतियें हैं । वह (त्रिधा बद्धः) तीन शक्तियां, प्रजा, सेना और कोष इन तीन शक्तियों से राष्ट्र बंधा या सुव्यवस्थित होता है । वह (वृषभः) सर्वश्रेष्ठ, वर्णशील मेघ या बलीवर्द के समान (रोरवीति) गर्जना करता है और (महः देवः) वह बड़ा पूजनीय देव, दानशील, प्रजा को सुखप्रद, राजा (मर्त्यान्) मनुष्यों को (आविवेश) प्राप्त हो ।

यज्ञ-पक्ष में—यज्ञ के ४ सींग, ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु । तीन पाद ऋग्, यजुः, साम । दो शिर हविर्धान और प्रवर्ग्य । सात हाथ सप्त होता या सात छन्द । तीन स्थान प्रातःसवन, माध्यंदिन सवन और सायं सवन से बंधा है । अथवा—४ सींग ४ वेद । तीन पद तीन सवन । दो शिर प्रायणीय और उदयनीय दो इष्टियां । सात हाथ ७ छन्द । तीन प्रकार से बद्ध मन्त्र, छन्द, ब्राह्मण और कल्प से । यास्क० निरु० १३ । ७ ॥

अथवा, शब्द के पक्ष में—४ सींग-नाम, आख्यात (क्रियापद) उपसर्ग और निपात । तीन पद—भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, दो शिर—शब्द नित्य और अनित्य । सात हाथ—सात विभक्तियां । यह शब्द तीन स्थान पर बद्ध है छाती में, कण्ठ में और शिर में । सुनने से सुख का वर्षण करता है वह शब्द करता, उपदेश देता है और ध्वनि रूप होकर समस्त मरणधर्मा प्राणियों में विद्यमान है । (पतञ्जलि मुनि । व्याकरण महाभाष्य आ० १ ॥)

आत्मा के पक्ष में—४ सींग धर्म, अर्थ काम और मोक्ष । तीन पाद अर्थात् तीन ज्ञानसाधन तीन वेद, या मनन क्रिया और उच्चारण या ज्ञान, कर्म और गान । दो शिर प्राण, अपान । सात हाथ शिरोगत सप्त प्राण-२ नाक, २ आंख, २ कान, एकमुख, अथवा सात धातु त्वग्, मांस रुधिर मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र । त्रिधा बद्ध, मन, कर्म और वाणी, अथवा त्रिगुण सत्व, रजस् तमस् द्वारा बद्ध है । वह भीतरी सब सुखों का वर्षक होने से, वृषभ' महाप्राण आत्मा (देवः) साक्षात् ज्ञानद्रष्टा होकर (मर्त्यान् आविवेश०) मरणधर्मा देहों मे आश्रित है ।

परमात्मा के पक्ष में—चार सींग चारों दिशाएं अथवा अ, उ, म् और अमात्र । तीन चरण, तीन काल, अथवा तीन भुवन । दो शिर द्यौ और पृथिवी । सात हाथ सात मरुद् गण, अथवा सात समष्टि प्राण, अथवा महत्, अहंकार और ५ भूत । त्रिधा बद्ध सत्, चित् और आनन्दरूप में । वह महान् परमेश्वर (वृषभः) समस्त सुखों का वर्षक एवं जगत् को उठाने वाला, (रोरवीति) परम वेदज्ञान का उपदेश करता है वह महान् देव उपास्य परमेश्वर (मर्त्यान् आविशेष) समस्त नश्वर पदार्थों में भी व्यापक है ।

त्रिधा॑ हि॒तं प॒णिभि॑र्गु॒ह्यमा॑नं॒ गवि॑ दे॒वासो॑ घृ॒तमन्व॑विन्दन् ।
इन्द्र॒ ऽएक॒ꣳ सूर्य॒ ऽएकं॑ जजान वे॒नादेक॑ꣳ स्व॒धया॒ निष्ट॑तक्षुः ॥९२॥

यज्ञपुरुषो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में-(पणिभिः) व्यवहार-कुशल पुरुषों द्वारा (गवि) गौ अर्थात् इस पृथिवी या प्रजा में (गुह्यमानं) गुप्त रूप से (त्रिधा हितम्) तीन प्रकार से रक्खे, या बंधे हुए (घृतम्) सेचन योग्य बल को (देवासः) विद्वान् विजेता पुरुष (अनु अविन्दन्) प्राप्त करते हैं । (इन्द्रः) शत्रु-नाशक सेनापति (एकं) एक सेना-जल को (जजान) उत्पन्न करता है । (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष (एकं) एक, कर आदि द्वारा धन-कोश रूप बल को उत्पन्न करता है । और (वेनाद्) मेधावी पुरुष से ज्ञान

रूप घृत को तपस्वी लोग (स्वधया) अपने ज्ञान को धारण करने वाली तपस्या द्वारा (निः ततक्षुः) प्राप्त करते हैं।

विद्वत्-पक्ष में—(पणिभिः) स्तुति करने वाले या व्यवहारज्ञ कुशल पुरुषों द्वारा या प्राणों द्वारा (गवि) गो-दुग्ध में छुपे (घृतम्) घी के समान (गवि) गौ में अर्थात् समस्त लोकों, पृथिवी, अन्तरिक्ष, वाणी और अन्न में (गुह्यमानं) छुपाये गये और उसी में (त्रिधा हितम्) तीन प्रकार से रक्खे गये मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प, इन तीन प्रकार से विद्यमान (घृतम्) ज्ञान को (देवासः) विद्वान् लोक (अविन्दन्) मनन द्वारा प्राप्त करते, (इन्द्रः) इन्द्र, वायु, (एकम्) एक प्रकार के 'घृत' को (जजान) प्रकट करता या जानता है। और (सूर्यः) सूर्य एक प्रकार के घृत को (जजान) ज्ञान करता या प्रकट करता है। और विद्वान् पुरुष (स्वधया) अपनी धारित आत्म-शक्ति से (वेनात्) कान्तिमान् अग्नि से (निस्ततक्षुः) शिल्प द्वारा उत्पन्न करते हैं।

'गौ':—इमे वै लोकाः । यद्धि किंच गच्छति इमांस्तल्लोकान् गच्छति । श० ६ । १ । २ । ३५ ॥ अयम्मध्यमो लोको गौः । तां० ४ । १ । ७ ॥ गौर्वा सार्पराज्ञी । कौ० २७ । ४ ॥ प्राणो हि गौः श० ४ । ३ । ४ । २५ ॥ इडा हि गौः । श० २ । ३ । ४ । ३४ ॥ सरस्वती गौः । श० १४ । २ । १ । १७ ॥ या गौः सा सिनीवाली सो एव जगती । ऐ० ३ । ४८ ॥ इन्द्रियं वै वीर्यं गावः ।

ये तीनों लोक 'गौ' कहाते हैं। अन्तरिक्ष और पृथिवी, ये दोनों भी 'गौ' कहाते हैं। प्राण–'गौ' है। इडा 'गौ' है। सरस्वती या वाणी 'गौ' है। इन्द्रिय गौवें हैं, अन्न गौ है। विद्वानों ने इन सब पदार्थों में घृत या रस के दर्शन किये।

घृतम्—अन्नस्य घृतमेव रसस्तेजः । मं० २ । ६ । १५ ॥ तेजो वै एतत् पशूनां यद् घृतम् । ऐ० ८ । २० ॥ देवव्रतं वै घृतम् । तां० १८ ।

२ । ६ ॥ रेतःसिक्तिर्वै घृतम् । कौ० १६ । ५ ॥ उल्वं घृतम् । श० ६ । ६ । ६ । २ १५ ॥ घृतमन्तरिक्षस्य रूपम् । श० ९ । २ । ३ । ४४ ॥

अन्न का परम रस घृत है । वीर्य घृत है । अन्तरिक्ष, तेज घृत है ।

पणिभिः—सुरैः इति उवटः । असुरैः इति महीधरः । व्यवहारज्ञैः स्तावकैरिति दयानन्दः ।

तीनों लोकों में घृत विद्यमान है । सर्गव्यापार करने वाली शक्तियें उस ब्रह्म-बीज रूप तेजस् को फैलाती हैं । परन्तु उसके एक तेज को आकाश में सूर्य ने प्रकट किया, एक को विद्युत् रूप से वायु में और तीसरे को हम अग्नि रूप से अथवा अपने देह में जाठर रूप से प्राप्त करते हैं ।

वाणी रूप गौ में ईश्वर के स्वरूप के स्तुतिकर्त्ता मन्त्रों ने तीन प्रकार के ज्ञान रूप घृत को धारण किया । जिसको वायु, सूर्य और अग्नि ने प्रकट किया ।

एता ऽअर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे । घृतस्य धारा ऽअभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य ऽआसाम् ॥९३॥

निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः

भा० —राजा के पक्ष में—(एताः घृतस्य धाराः) ये तेज की धाराएं बल और शक्ति पूर्वक कही गई आज्ञाएं या सेनाएं (हृद्यात्) प्रजा के हृदय में उत्पन्न, उनके चित्तों को रमाने वाले (समुद्रात्) समुद्र के समान गम्भीर राजा से (अर्षन्ति) निकलती हैं । और (शत-व्रजाः) सैंकड़ों मार्गों में जाने वाली या सेंकड़ों कार्यों को चलाने वाली होकर (रिपुणा) बाधक शत्रु द्वारा भी (न अवचक्षे) रोकी या विरोध नहीं की जा सकतीं । उन (घृतस्य) तेज की या बल, वीर्य या अधिकार की बनी (धाराः) राष्ट्र के धारण या व्यवस्थापन में समर्थ धाराओं या राज्य-व्यवस्थाओं को मैं (अभि चाकशीमि) सर्वत्र व्यापक देखता हूं और (आसाम् मध्ये) इनके

बीच में (हिरण्ययः वेतसः) घृत-धाराओं के बीच अग्नि के समान सुवर्ण रूप कोषसम्पत्ति का बना अति कमनीय आधार रूप स्तम्भ है।

अध्यात्म में—(घृतस्य धाराः अभि चाकशीमि) मैं द्रष्टा जिस प्रकार घृत की धाराओं को प्रवाहित होता देखूं और (आसाम्) इनके (मध्ये) बीच में जिस प्रकार (हिरण्ययः वेतसः) सुवर्ण के समान कान्तिमान् अग्नि हो उसी प्रकार (एताः) ये (घृतस्य) स्वयं क्षरण होने वाले, अनायास बहने वाले या स्वयं प्रस्फुटित होने वाले झरनों के समान फूट निकलने वाली वाणियों का मैं (अभि) साक्षात् (चाकशीमि) दर्शन करता हूं। और (आसाम् मध्ये) इनके बीच में व्यापक (हिरण्ययः) अति सुन्दर, तेजस्वी (वेतसः) अति कमनीय पुरुष, या ब्रह्म-तत्व है। (एताः) ये वाणियें (हृद्यात् समुद्रात्) हृदय के समुद्र से, अथवा हृदय से जानने और अनुभव करने योग्य, हृदय में बसे, (समुद्रात्) समस्त ज्ञान-जलों के बहाने वाले परम अक्षय ज्ञानभंडार से (अर्षन्ति) निकलती हैं। वे (शत-व्रजाः) सैकड़ों मार्गों में जाने वाली, सैकड़ों अर्थों वाली, बहुत से पक्षों में लगने वाली, श्लेष से बहुत से अभिप्राय बतलाने वाली होकर भी (रिपुणा) पापी शत्रु द्वारा भी (न अवचक्षे) खण्डित नहीं की जा सकतीं। अर्थात् वे सब सत्य वाणियें सत्य ज्ञान की धाराएं हैं। इसमें संदेह नहीं।

'हृद्यात् समुद्रात्' श्रद्धोदकप्लुताद् देवतायाथात्म्यचिन्तनसन्तानरूपात् समुद्रात्, इति महीधरः।

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना ऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एते ऽअर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा ऽइव क्षिपणोरीषमाणाः ॥९४॥

ऋष्यादि पूर्ववत्। निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(धेनाः) राजाज्ञाएं (हृदा मनसा अन्तः पूयमानाः) हृदय और चित्त में खूब मननपूर्वक विचारी जाकर (सरितः न)

नदियों के समान गम्भीर और अदृश्य वेग से (अर्षन्ति) बहती हैं। राष्ट्र में फैलती हैं (घृतस्य ऊर्मयः एताः) तेजस्वी राजकीय उन्नत आज्ञाएं या आज्ञाओं को धारण करने वाले राजदूत (क्षिपणोः) व्याध के भय से (ईषमाणाः) व्याकुल (मृगाः) हरिणों के समान (अर्षन्ति) वेग से गति करती हैं।

ज्ञानी के पक्षमें-(हृदा) हृदय द्वारा और (मनसा) मन से (अन्तः पूयमानाः) भीतर ही भीतर निगम, निघण्टु, व्याकरण, शिक्षा, छन्द आदि से पवित्र, सुविचारित होकर दोषरहित हुई हुई (धेनाः) ज्ञानरस पान कराने वाली वाणियां (सरितः न) नदियों के समान (सम्यक्) भली प्रकार (स्रवन्ति) निकलती हैं, बहती हैं, फूट रही हैं। (क्षिपणोः) हिंसक व्याध के भय से (ईषमाणाः) भागते हुए (मृगाः इव) मृगों के समान (एते) ये (घृतस्य) परम रस, ब्रह्म तेज, ब्रह्मज्ञान की (ऊर्मयः) तरंगें उद्गार (अर्षन्ति) उठी चली आ रही हैं।

सिन्धो॑रिव प्राध्व॒ने शू॑घ॒नासो॒ वात॑प्रमियः पतयन्ति य॒ह्वाः।
घृ॒तस्य॒ धारा॑ऽअरु॒षो न वा॒जी काष्ठा॑ भि॒न्दन्नू॒र्मिभिः॒ पिन्व॑मानः ९५

ऋष्यादि पूर्ववत्। आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०— (प्राध्वने) मार्ग रहित प्रदेश में, मार्ग न मिलने पर (सिन्धोः) समुद्र, या महानदी के (शूघनासः) शीघ्र वेग से बनने वाले (यह्वा) बड़े २ (वात-प्रमियः) वायु के समान तीव्र गति से जाने वाले प्रवाह जिस प्रकार वेग से (पतयन्ति) फूट पड़ते हैं उसी प्रकार (घृतस्य धाराः) ज्ञान की वाणियें, अग्नि के प्रति घृत की धाराओं के समान वेग से बढ़ती हैं। (वाजी न) जिस प्रकार अश्व (काष्ठाः भिन्दन्) वेग से सीमाओं को भी तोड़ता फोड़ता हुआ और (ऊर्मिभिः) स्वेद-धाराओं से (पिन्वमानः) सींचता हुआ जाता है। और जिस प्रकार (अरुषः)

दीप्तिमान् (वाजी) तेजस्वी अग्नि (काष्ठाः भिन्दन्) काष्ठा, समिधाओं को अपनी ज्वालाओं से भेदता हुआ, चटकाता हुआ, और (ऊर्मिभिः) तेज की ऊर्ध्वगामिनी धाराओं से (पिन्वमानः) सींचता हुआ जलता है उसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् भी (अरुषः) रोषरहित, सुशील और तेजस्वी, कान्तिमान् होकर (काष्ठाः भिन्दन्) 'क' परम सुख की विशेष आस्था, या स्थिति, मर्यादा या बाधाओं को तोड़ता हुआ (ऊर्मिभिः) ऊपर को जाने वाले प्राणों से (पिन्वमानः) स्वयं तृप्त, आनन्द प्रसन्न होता है और वाणी के उद्‌गार रूप तरंगों से श्रोताओं को भी तृप्त करता है।

अध्यात्म में—(घृतस्य धाराः) साधक तेज की धाराएं उनके बीच तीव्र तरंगों या नालों के समान बहती हैं।

राजा के पक्ष में —(यह्वाः) बड़े २ (वात-प्रमियः) वायु के समान तीव्र गति वाले (घृतस्य) तेज के धारण करने वाली वीर सेनाएं (सिन्धोः शूघनासः धाराः इव) सिन्धु की तीव्रगति वाली धाराओं के समान (पतयन्ति) आगे बढ़ती हैं। और वह स्वयं वेगवान् अश्व के समान (काष्ठाः भिन्दन्) संग्रामों को पार करता हुआ (ऊर्मिभिः पिन्वमानः) तरंगों से सेंचते हुए उत्ताल समुद्र के समान विराजता है।

अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो ऽअग्निम्। घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः॥९६॥

ऋष्यादि पूर्ववत्। निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(समना) समान रूप से अभिलषित पुरुष को मन से विचारती हुई (कल्याण्यः) कल्याण, या शुभ आचरण और लक्षण वाली (योषाः इव) स्त्रियें, कन्याएं जिस प्रकार (स्मयमानासः) ईषत् कोमल हास करती हुई (अग्निम् अभि) तेजस्वी विद्वान् को वरण करने के उद्देश्य से (प्र-वन्ते) प्राप्त होतीं। और (ताः जुषाणः)

उनको प्रसन्न चित्त से प्राप्त करता हुआ (जातवेदाः) विद्वान् वर उन्हें (हर्यति) चाहता है और जिस प्रकार (घृतस्य धाराः) घी की धाराएं (समिधः) अच्छी प्रकार उज्ज्वल होकर (अग्निम् नसन्त) अग्नि को प्राप्त होती हैं और (जातवेदाः ता हर्यति) अग्नि उन धाराओं को चाहता है उसी प्रकार (घृतस्य धाराः) ज्ञान की धाराएं (समिधः) अच्छी प्रकार शब्दार्थ सम्बन्ध से उज्ज्वल होकर (अग्निम्) ज्ञानवान् पुरुष को प्राप्त होती हैं और वह (ताः जुषाणाः) उनका सेवन करता हुआ (जात-वेदाः) स्वयं विज्ञानवान् होकर (हर्यति) उनको चाहता है ।

राजा के पक्ष में—तेज और बल को धारणकरनेवाली सेनाएं, (समिधः) क्रोध और वीरता से उज्ज्वल होकर (अग्निम्) तेजस्वी, अग्रणी सेना-नायक राजा को प्राप्त होता और वह उनको चाहता है ।

क॒न्या॑ इव वह॒तुमेत॒वा उ॑ अ॒ञ्ज्य॑ञ्जा॒ना अ॒भि चा॑कशीमि ।
यत्र॒ सोमः॑ सू॒यते॒ यत्र॑ य॒ज्ञो घृ॒तस्य॒ धारा॑ अ॒भि तत्प॑वन्ते ॥९७॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यत्र) जहां (सोमः सूयते) सोम का सवन होता है और (यत्र) जहां (यज्ञः) यज्ञ होता है (तत्) वहां (घृतस्य धाराः) घृत की धाराएं (पवन्ते) बहती हैं । इसी प्रकार (यत्र) जहां (सोमः) राष्ट्र प्रेरक राजा का सवन अर्थात् अभिषेक होता है और (यत्र) जहां (यज्ञः) परस्पर संगति, व्यवस्था से युक्त राजा प्रजा का पालन रूप यज्ञ या कर-आदान और ऐश्वर्यदान रूप यज्ञ होता है । वहां (घृतस्य) वीर्य या बल को धारण करने वाली सेनाएं या अधिकार वाली राज्यव्यवस्थाएं, नियम-धाराएं (पवन्ते) प्रकट होती हैं । मैं घृत की धारा और बल धारक सेनाओं को, (वहतुम्) विवाह योग्य पति के प्रति (एतवै) आने के लिये उत्सुक (अञ्जि) अपने कमनीय स्वरूप, सौभाग्य या पूर्ण यौवन

के प्रकट करने वाले सुरूप को (अञ्जानाः) प्रकट करती हुई (कन्याः इव) कन्याओं के समान अति उत्सुक (अभि चाकशीमि) देखता हूँ।

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते ॥ ९८ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत्। आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो! आप लोग (सु-स्तुतिम्) उत्तम स्तुति, कीर्त्ति, अथवा ईश्वरोपासना के लिये उत्तम स्तुति करने वाली वेदवाणी, (गव्यम्) गोदुग्ध के समान हृदय को उत्तम, पुष्टिप्रद, गौ = वाणी में स्थित उत्तम ज्ञान और (आजिम्) संग्राम और यज्ञ अथवा समस्त उत्तम साधनों से प्राप्त करने योग्य राज्य और तपःसाधनों से प्राप्य परम पद को (अभि अर्षत) विजय करने के लिये लक्ष्य करके आगे बढ़ो। और (अस्मासु) हम में (भद्रा द्रविणानि) सुखकारी सुवर्णादि ऐश्वर्यों का (धत्त) प्रदान करो। और (अस्माकं) हमारे इस (यज्ञम्) परस्पर संगति से प्राप्त इस गृहस्थ रूप यज्ञ को (देवता) विद्वानों के बीच में उनके अभिमत रूप से (नयत) प्राप्त कराओ। अथवा हे (देवता) देवो! विद्वान् पुरुषो! आप लोग (इमं यज्ञं नयत) इस यज्ञ को सन्मार्ग पर ले चलो। और (नः) हमें (घृतस्य) हृदय में रस सेचन करने वाले ज्ञान की (धाराः) वाणिएं (मधुमत्) ज्ञानमय, आनन्दप्रद होकर (पवन्ते) प्राप्त हों।

राजा के पक्ष में—हे (देवता) वीर विजगीषु पुरुषो! आप लोग (सु-स्तुतिम्) उत्तम यश, (गव्यम्) पृथिवी में उत्पन्न समस्त उत्तम पदार्थ और (आजिम्) विजय करने योग्य संग्राम को (अभि) लक्ष्य करके (अर्षत) आगे बढ़ो। और (अस्मासु) हम में (भद्रा) सुखकारी (द्रविणानि) ऐश्वर्य (धत्त) धारण कराओ। हमारे (इमं यज्ञं नयत) इस

राष्ट्र को संचालित करो और (नः) हमें (घृतस्य धारा) तेज के धारण करने वाली वीरसेनाएं (मधुमत्) अन्न आदि ऐश्वर्य और शत्रु के पीड़ाकारी बल सहित (पवन्ते) प्राप्त हों ।

धाम॑न्ते॒ विश्वं॒ भुव॑न॒मधि॑ श्रि॒तम॒न्तः स॑मु॒द्रे हृ॒द्य॑न्तरायु॑षि ।
अ॒पामनी॑के समि॒थे य आभृ॑त॒स्तम॑श्याम॒ मधु॑मन्तं त ऊ॒र्मिम् ॥६६॥

स्वराड् आर्षी । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे राजन् ! (ते धामन्) तेरे धारण करने वाले सामर्थ्य के आश्रय पर यह (विश्वं भुवनम्) समस्त राष्ट्र (समुद्रे अन्तः) जो समुद्र के बीच, उससे घिरा है, उसमें (श्रितम्) आश्रित है । इसी प्रकार (हृदि) हृदय में और (आयुषि अन्तः) जीवन भर में और (अपाम् अनीके) प्रजाओं के सैन्य में और (समिथे) संग्राम के अवसर पर (यः) भी नाना पदार्थ समूह (आभृतः) एकत्रित किया जाता है वह (तम्) उस (मधुमन्तम्) मधुर फल से युक्त, या शत्रु-पीड़नकारी सामर्थ्य से युक्त (ते ऊर्मिम्) तेरे उस उर्ध्वगामी सामर्थ्य का (अश्याम) हम भोग करें ।

परमेश्वर के पक्ष में—हे परमेश्वर (ते धामन् विश्वं भुवनम् अधिश्रितम्) तेरे धारण-सामर्थ्य के आश्रय पर यह समस्त विश्व आश्रित है । (समुद्रे) समुद्र के (अन्तः) बीच में, (हृदि) हृदय में (आयुषि अन्तः) जीवन में, (अपाम् अनीके) ज्ञानों और कार्य्यों में या आप्त जनों के सत्संग में और (समिथे) यज्ञ में (यः) जो (ते) तेरा (ऊर्मिः) उत्कृष्ट रूप (आभृतः) प्राप्त है उस (मधुमन्तम्) ज्ञानमय मधुर, आल्हादकारी (ऊर्मिम्) रस स्वरूप तरंग को हम (अश्याम) प्राप्त करें ।

ईश्वरीय बल की भिन्न २ स्थान में ऊर्मि कैसी २ है ? समुद्र अर्थात् आकाश में सूर्य रूप, हृदय में जाठराग्नि रूप, जीवन में अन्न रूप, जलों

के संघात में विद्युत् रूप, संग्राम में शौर्य रूप, यज्ञ में अग्नि रूप य
तेरा तेजोरूप या धाम रूप 'ऊर्मि' है। (महीधर)

राजा के पक्ष में—राजा का तेज समुद्र में राष्ट्ररूप, हृदय में विज
भिलाषा रूप, आयु में पराक्रमरूप, सैन्य में बलरूप और संग्राम
शौर्यरूप है।

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥